धन्वन्तरि



शिशु रोगाङ्क

बालकों की सम्पूर्ण विशेष व्याधियों का
विस्तृत सचित्र क्रमबद्ध साहित्य,
अनुभवपूर्ण चिकित्साविधि एवं
सफल-प्रयोग संग्रह

डॉ० [illegible]प्रसाद व्यास
एल. एम. एस. बी. (बायो)

सम्पादक

वैद्य देवीशरण गर्ग आयुर्वेदोपाध्याय
ज्वालाप्रसाद अग्रवाल बी. एस्-सी.
दाऊदयाल गर्ग ए., एम. बी. एम.

वर्ष ३६
अङ्क २-३

फरवरी-मार्च
१९६२

वार्षिक मूल्य ५.५०
इस अङ्क का मूल्य ८.५०

आवश्यक



१. बहुत से ग्राहकों के ग्राहक नम्बर बदल गए हैं विशेषांक के ऊपर के रेपर पर लिखा ग्राहक नम्बर नोट कर लीजियगा।

२. भविष्य में पत्र व्यवहार करते समय यह नम्बर अवश्य-अवश्य लिख दिया करें।

३. वी पी. छुटाने वाले सज्जन विशेषांक के ऊपर के रेपर को सम्भाल कर रखें, वी पी का रुपया किसी कारण हमको न मिलने पर उसकी आवश्यकता पड़ सकती है।

४. कोई भी अङ्क मिलने पर देखें कि उससे पहिला अंक मिला है या नहीं। यदि नहीं मिला तो पोस्ट आफिस में तलाश करें, पोस्टमैन से पूछें। उनके उत्तर के साथ हमको लिखकर अंक मंगालें। वर्ष के अन्त में एक साथ कई अंकों के न मिलने की शिकायत करना अनुचित होगा और हम उसकी पूर्ति करने में असमर्थ रहेंगे।

५. जनवरी का अंक सभी ग्राहकों को भेज चुके हैं। शिशुरोगाङ्क फरवरी+मार्च १९६२ का अंक है नोट करलें। अप्रैल का अंक साथ भेजा जा रहा है। आगामी अंक भी इसी माह में भेजने का भरसक प्रयत्न किया जायगा।



अङ्गादऽङ्गात्सम्भवसि हृदयादऽभिजायसे ।
आत्मा वै पुत्र नामासि सञ्जीव शरदः शतम् ॥
शतायुः शतवर्षोऽसि दीर्घमायुरऽवाप्नुहि ।
नक्षत्राणि दिशो रात्रिरऽहश्च त्वाभिरक्षतु ॥
शरच्छतं जीव शिशो ! त्वं देवैरऽभिरक्षित ।
द्विजैरप्या शिषापूतो गुरुभिश्चाभिनन्दितः ॥

हे शिशो ! तुम माता के प्रत्यङ्गभूत, सारभूत, उसके अन्तःकरण से उत्पन्न, हृदय के टुकड़े हो। पिता की ही प्रत्यात्मा होने से ही पुत्र नाम धारी तुम चिरायु होवो।

तुम शतायु, दीर्घायु प्राप्त करो। सम्पूर्ण नक्षत्र, दिशाएँ तथा दिन और रात्रि तुम्हारी रक्षा करें।

हे शिशो ! तुम देवताओं के द्वारा रक्षित, ब्राह्मणों के आशीर्वादों से पवित्र तथा गुरुओं के द्वारा प्रशंसित हुए सौ वर्ष तक जीओ।

हजार बिजली की मशीन

३१ जुलाई १९६२ तक

रियायती मूल्य में

●

इस सुअवसर से अवश्य लाभ उठायें

३१ जुलाई १९६२ तक केवल १००० बिजली की मशीन (४ सैल से चलने वाली) रियायती मूल्य से प्रचारार्थ नीचे लिखे नियमों के अनुसार दे रहे हैं। आप भी शीघ्र मंगावें अन्यथा निराश होना पड़ेगा।
रियायती मूल्य ३२.०० मात्र पोस्ट-व्यय सहित।

नियम

१. केवल १००० मशीन रियायती मूल्य से दी जांयगी। ३१ जुलाई से पहले ही यदि एक हजार आर्डर प्राप्त हो जाते हैं तो फिर रियायती मूल्य से आर्डर स्वीकार नहीं करेंगे।

२. ३१ जुलाई के बाद उक्त रियायती मूल्य से मशीन नहीं दी जांयगी। बाद मे आग्रह करना उचित नहीं होगा।

३. मशीन का रियायती मूल्य पोस्टेज-पैकिंग आदि सभी मिला कर केवल ३२.०० रखा गया है। जो कम से कम लागत मात्र है तथा इसके व्यापक प्रचारार्थ ही रखा जा रहा है।

४. रियायती मूल्य ३२.०० मनियार्डर से—
—"दाऊ मैडिकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)" के पते से भेजना होगा। मशीन वी. पी. से नहीं भेजी जायगी। ध्यान रहे, मनियार्डर स्टोर्स के पते से ही भेजें।

५. दो या दो से अधिक मशीन मगाने पर रियायती मूल्य प्रति मशीन ३०.०० होगा। तथा मशीनें सुरक्षित पैक करके सवारी गाड़ी से आपके स्टेशन पहुंचती भेजी जांयगी। केवल १०.०० मनियार्डर से एडवांस रूप भेजना होगा, शेष रुपया वी. पी. से प्राप्त किया जा सकेगा। ... या अधिक मशीन का आर्डर देते समय अपने पास का रेलवे स्टेशन अवश्य लिखें।

निराशा से बचने के लिए शीघ्रता करें।

पता

दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ)

अनेक रोगों में—

बिजली द्वारा चमत्कारिक लाभ

[मशीन व्यवहार करने वालों के अनुभव]

आपकी मशीन बहुत अच्छी तरह सफलता प्राप्त कर रही है। बहुत से पुराने रोगी जो डाक्टर वैद्य हकीमों ने त्याग दिये थे और जो निराश होकर घर पड़े थे, वह आपके आविष्कृत यंत्र से ठीक किए हैं। और रोजाना गठिया, वायु का दर्द, शोथ, निमोनियां इत्यादि रोगों से पीड़ित रोगियों को ठीक कर रहे हैं।

—श्री पं० मिश्रीराम, ज्योतिष-रत्न, भृगुशास्त्री, रजिष्टर्ड वैद्य, जेवर (बुलन्दशहर) यू० पी०

मैंने कई मरीजों पर आपकी निर्मित बिजली की मशीन का प्रयोग किया है। इससे काफी लाभ हुआ। प्रैक्टिस बढ़ गई है, केवल बिजली की मशीन के कारण। इससे मैंने मीवरसेन पुर का एक रोगी, उम्र लगभग ४-५ वर्ष घुटने में १० वर्ष से दर्द, बैलगाड़ी में लाया गया था ठीक किया। मैंने बिजली लगाई, एक-दो सप्ताह में वह स्वयं चलने लगा और फिर २॥ मील से रोजाना पैदल चलकर बिजली लगवाता था। अब वह हल जोतता है।

श्री रघुवीर पांडेय, जो तिलौथू विद्यालय होस्टल के रसोइया थे, उनकी कमर में दर्द था। दो सप्ताह बिजली लगाई तथा औषध दी। अब वह एकदम ठीक हैं। यह बड़ा उपयोगी यन्त्र है।

—श्री मथुरामणि पाटेश्वरी H. M. B., महाराज गंज, तिलौथू बाजार (शाहाबाद आरा) बिहार

एक रोगी जिसको उदरशूल की शिकायत १५ साल से थी, उसको इस मशीन के ४ दिन प्रयोग करने से आराम हो गया।

एक बाई हमारी बस्ती की है। उसका पूरा शरीर ढोल की तरह सूज गया था। उसको मैंने औषध सेवन कराने के साथ साथ बिजली की मशीन का भी प्रयोग कराया। तीन दिन में ही उसको आराम हो गया।

—श्री वैद्य लहुदास वासनीक, घोरा पो० परसवाड़ा (गोंदिया) म० प्र०

मांग्या चमार के ३ वर्ष से दोनों पैर वात व्याधि के कारण रह गए थे और चलने की कौन कहे खड़ा भी नहीं हो सकता था। काफी चिकित्सा के बाद भी सफलता नहीं मिली। इस पर मैंने बिजली की मशीन का प्रयोग किया। १० दिन बाद में एक पैर सीधा हो गया और कुछ दिन बाद में दूसरा पैर भी अच्छा हो गया। बीमार की आयु ३१ वर्ष थी। अब पूर्णतः स्वस्थ है।

शंकरसिंह आयु ३४ वर्ष को अकस्मात् पार्श्वशूल हो गया था। उन्होंने कई दवाओं का प्रयोग किया, लेकिन कोई भी फायदा नहीं हुआ। मेरे पास आये। मैंने बिजली की मशीन का प्रयोग किया और सिर्फ एक बार के प्रयोग से आराम हो गया।

—श्री प्रभुदयाल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद रत्न, किशोरपुरा (सवाई माधोपुर) राजस्थान

सर्व प्रथम हमने एक बुढ़िया जिसकी उम्र करीबन ६० साल, जिसके दाहिने पैर के टकने के पास एक गांठ और पैर की सूजन करीबन २० साल से थी उसने अनेकों डाक्टरों को दिखाया। डाक्टरों ने एक्सरे लेकर ओप्रेशन की सलाह दी। ओप्रेशन के लिए उसके घर वालों ने मना किया और वे मेरे पास लाये, मैंने उसके बिजली का प्रयोग करके देखा। बिजली के प्रयोग से उसे कुछ फायदा मालूम हुआ तो फिर दवाई योगराज गुग्गुल दिया गया और महानारायण तैल की मालिश करवाई, कुछ ही समय में उसका पैर बिलकुल ठीक हो गया और अब ६० वर्ष की डोकरी पानी लाती है, घर का तमाम कार्य करती है। यह आश्चर्यजनक प्रयोग आपकी बिजली की मशीन द्वारा हुआ हम आपको धन्यवाद देते हैं।

हमने अपनी लड़की के गले में एक आश्चर्यजनक गांठ आम की गुठली के आकार की देखी। हाथ लगाने से बहुत कड़ी मालूम देती थी। मैंने सर्व प्रथम दशांग लेप का प्रयोग किया फिर मैंने बिजली का प्रयोग करना शुरू कर दिया तो गांठ १० दिन के अन्दर अन्दर बिलकुल ठीक हो गई है। अब उसका पता भी नहीं चलता है कि गांठ थी भी या नहीं थी।

एक व्यक्ति जिसकी डाढ मे दर्द व सूजन थी, दर्द के मारे रोटी पानी बिलकुल छूट गया था और बहुत ही विकल हो रहा था उसने मेरे पास आकर विकल होकर हाल कहा। मैंने उसकी डाढ में लौंग का तैल लगाया और बिजली का सेक करना शुरू किया तो तीन दिन के अन्दर अन्दर उसकी डाढ में आराम हो गया। अब उसका दर्द बिलकुल ठीक हो गया है। तथा उसने सब जगह बिना कहे मेरा प्रचार करना शुरू कर दिया है।

—श्री डा० मोहनलाल चौमाल एम. एस-सी., एम. डी. एच., बखतावरपुर (झुंझनूं) राज

हमारे सफल सैट

निम्नांकित औषधियों के सैट सैकड़ो-हजारों रोगियों पर सफल प्रमाणित होने के बाद वैद्य समाज के समक्ष प्रस्तुत किए गए थे और अब तो इनकी पर्याप्त प्रसिद्धि है। अनेक चिकित्सक मंगाकर अपने रोगियों को व्यवहार कराते है। यदि आपकी चिकित्सा में इन रोगों से पीड़ित रोगी हो तो उन्हें निःसंकोच अवश्य सेवन करावें। अवश्य लाभ होगा।

१ श्वेतकुष्ठ हर सैट—सफेद दाग को नष्ट करने की सुपरीक्षित तीन दवायें। समय कुछ अधिक लगेगा लेकिन सफेद दाग अवश्य नष्ट होंगे। आंतरिक्त रक्त विकृति को दूर करती हुई स्थाई लाभ करने वाली औषधिया हैं। तीन औषधियां १५ दिन सेवन करने योग्य का मूल्य ५.००, पोस्टव्यय २ ०६

२ स्त्री रोग हर सैट—इसमें दो औषधियां हैं-१ स्त्री सुधा २. मधुकाद्यवलेह इनके सेवन करने से स्त्रियों के सभी विशेष रोग नष्ट होते हैं। निर्बलता, आलस एवं अनियमितता नष्ट होकर उत्साह, स्फूर्ति एवं नीरोगता शीघ्र मिलती है। १५ दिन सेवन योग्य दोनों औषधियो का म. ६.००, पोस्ट व्यय ३.५६

३ हिस्टेरिया हर सैट—स्त्रियों के दौरे से होने वाले इस रोग के लिये आशुलाभप्रद तीन औषधियों का व्यवहार अवश्य करावे। १५ दिन की दवा का मूल्य ७ ००, पोस्ट व्यय ३ ५६

४. निर्बलतानाशक सैट—अनुत्साह एव निर्बलता से जीवन का आनन्द ही चला जाता है। गृहस्थी भारस्वरूप हो जाती है। निम्न तीन औषधियो का व्यवहार कर अपनी खोई जवानी को फिर से प्राप्त करें—

मकरध्वज वटी—४१ गोलियों की शीशी २.६२

धन्वन्तरि तैल—मुरदार नसों पर मालिश के लिये १ शीशी २.५०

धन्वन्तरि पोटली—सिकाई करने के लिये १ डिब्बा २.००

तीनों औषधियो का एक सैट—मूल्य ६.००, पोस्टव्यय १.५६

५. रक्तदोष हर सैट—इसमे धन्वन्तरि आयुर्वेदीय सालसा परेला, तालकेश्वर रस, इन्द्रवारुणादि क्वाथ तीन औषधियां है। इनके विधिवत् व्यवहार करने से सर्व प्रकार के रक्त विकार अवश्य दूर होते हैं। फोड़े-फुंसी, चकत्ते, कुष्ठ आदि सभी नष्ट होकर शरीर का रङ्ग रूप निखर जाता है। १५ दिन की औषधियो का मूल्य ६.००, पोस्ट व्यय ४.५०

६ अर्शान्तक सैट—वटी मलहम—चूर्ण यह तीन औषधियां दोनो प्रकार के अर्श नष्ट करने के लिये सफल प्रमाणित हुई हैं। १५ दिन की दवाओं का मूल्य ३.००, पोस्टव्यय १.५६

७. वात रोग हर सैट—वातरोग हर तेल, रस एवं अवलेह-इन तीनो औषधियों के सेवन करने से जोड़ों का दर्द, सूजन, अङ्ग विशेष की पीड़ा, पक्षाघात तथा सभी वात व्याधियों मे अवश्य लाभ होता है। १५ दिन सेवन करने योग्य दवा का मूल्य १० ००, पोस्टव्यय १ ५६

नोट—वातरोगी यदि साथ में बिजली की मशीन का व्यवहार भी करें तो शीघ्र लाभ होगा इसमें संशय नहीं। बिजली की मशीन का मूल्य ३५ ०० है पोस्ट व्यय ४ ००

पता—धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

शारीरिक चित्र

ये चित्र अनेक रङ्गों में आफसैट प्रेस से बहुत ही आकर्षक तैयार कराये गये हैं। इन चित्रों का साइज
एक समान २० इन्च चौडाई तथा ३० इन्च लम्बाई है। ऊपर नीचे लकड़ी लगी है, कपडे पर मढे हैं तथ
चिकित्सालय में टांगने पर उसकी शोभा बढ़ाने वाले हैं। सभी विवरण हिन्दी मे लिखा गया है—

नं० १—अस्थि पञ्जर—इस चित्र मे सिर से लेकर पैर तक की सभी अस्थियो को वड़े सुन्दर ढङ्ग
से दर्शाया गया है। हाथ, अंगुली, रीढ़, छाती की सभी अस्थियां स्पष्ट समझ सकते हैं। मू० ५.००

नं० २—रक्त परिभ्रमण—इस चित्र में शुद्ध-अशुद्ध रक्त की धमनी एवं शिरायें अपने प्राकृतिक
रङ्गों में दर्शाई हैं। भ्रूण में रक्तभ्रमण का प्रथक् चित्रण किया गया है। एक हाथ और एक पैर में
शिरायें दर्शाई गई हैं। मूल्य ५.००

नं० ३—वात नाड़ी संस्थान—इस चित्र मे सम्पूर्ण वातनाड़ी मंडल (Nervous System) का सुन्दर
व स्पष्ट चित्रण किया गया है। ऊर्ध्वगं-वात नाड़ी तथा सुषुम्ना और मस्तिष्क सम्बन्ध का चित्रण
प्रथक् किया गया है। चित्र अपने ढङ्ग का निराला है। मूल्य ५.००

नं० ४—नेत्र रचना एव विकृति—इसमें प्रथक-प्रथक् ६ चित्र है। १—दक्षिण चक्षु-इसमें चक्षु के वाह्य
अवयव दर्शाये गये है। २—पटलों और कोष्ठों को दिखाने के लिये चक्षु का क्षितिज काट ३-चक्षु से सम्ब-
न्धित नाड़ी ४-नेत्र चालनी पेशियां ५-दृष्टिभेद (दर्शन-सामर्थ्य) ६-साधारण स्वस्थ नेत्र एवं दृष्टि
विकृति। इन चित्रों से नेत्र विषयक सम्पूर्ण विवरण स्पष्ट समझ मे आएगा। मूल्य ५.००

चारों चित्र एक साथ मंगाने पर मूल्य केवल १६.००

नोट—सादा विना कपडा-लकड़ी लगे चित्र शीशा में मढ़ने के लिये १ चित्र ४ ००, चारों मंगाने पर १२.००

वैद्यों के लिये आवश्यक

रोगी रजिष्टर—हर वैद्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने रोगियों का विवरण नियमित रूप
से लिखे यह चिकित्सक की अपनी सुविधा तथा कानूनी दृष्टि दोनों प्रकार से आवश्यक है। २०० पृष्ठों
के ग्लेज कागज के सजिल्द 'रोगीरजिष्टर' हमने तैयार किए हैं जिनमे आवश्यक कालम दिये हैं। मू. ३.५०

रोगी प्रमाणपत्र पुस्तिका—रोगियों को अवकाश प्राप्ति के लिये प्रमाणपत्र देने के फार्म ग्लेज कागज
पर दो रङ्गों मे तैयार किये हैं। प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मू० १.०० मात्र। अंग्रेजी अथवा हिन्दी
में बढ़िया कागज पर बड़े साइज मे दो रङ्गों में छपे ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.२५

स्वस्थ प्रमाणपत्र पुस्तिका—सरकारी कर्मचारी बीमार होने के कारण अवकाश लेते हैं। स्वस्थ होने
पर कार्य पर पहुंचने पर उन्हें वे स्वस्थ हैं, इस विषय का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करना होता है। वैद्य इस पुस्तिका
को मंगाकर स्वस्थ-प्रमाणपत्र आसानी से दे सकेंगे। ५० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मू० १.००, अंग्रेजी
अथवा हिन्दी मे बढ़िया कागज पर बड़े साइज में छपे ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.७५

रोगी व्यवस्थापत्र—रोगी के लक्षण, तारीख, औषधि आदि इन फार्मों पर लिखकर रोगी को दे
दीजिये। वे रोगी रोजाना या जब औषधि लेने आयेंगे आपको यह फार्म दिखा देंगे। इससे उनका
पहिला पूरा हाल आपके सामने आ जायगा। साइज २०×३०=३२ पेजी। मूल्य ०.३७ प्रति सैकड़ा।

आघात प्रमाणपत्र—चोट लग जाने पर चिकित्सक को प्रमाणपत्र देना होता है। इस फार्म पर
आप यह प्रमाणपत्र सुगमता से दे सकेंगे। फुलस्केप साइज के २४ प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मूल्य १.००

तापमान चार्ट-(टेम्परेचर चार्ट)—इससे रोगियों का तापमान अंकित करने में बड़ी सुविधा रहती
है। इस चार्ट पर दिन मे समय का तापमान १२ दिन तक अंकित किया जा सकेगा। अन्य निदान
विषयक आंकड़े भी लिखे जा सकते है। मूल्य २५ चार्ट का १ ०० मात्र

पता—धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

पठनीय एवं संग्रहणीय

उपयोगी पुस्तकें

निम्नांकित पुस्तके विद्वान एवं अनुभवी लेखकों द्वारा लिखी हुई एवं बहु प्रचलित हैं । इन पुस्तको को आयुर्वेद-चिकित्सकों को अपने यहा रखना चाहिये तथा पढ़ कर लाभ उठाना चाहिये ।

रसतंत्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह--इस पुस्तक में आयुर्वेद की प्रचलित प्रायः सभी औषधियों के प्रयोग, निर्माण विधि, मात्रा, अनुपान, प्रयोग विधि तथा गुणावगुण विवेचन. विस्तार से दिया है । पुस्तक के अनेक संस्करण हुये हैं तथा इसका प्रचार भी अत्यधिक हुआ है । पुस्तक सभी दृष्टि से उपयोगी और संग्रहणीय है । २ भाग हैं मू०--प्रथम भाग सजिल्द ११.०० अजिल्द ९.००, द्वितीय भाग सजिल्द ७.५० अजिल्द ६.००

चिकित्सा तत्वप्रदीप-इस ग्रंथ में आयुर्वेदिक और एलोपैथिक रोग निदान, रोग सम्प्राप्ति, लक्षण, अवस्था, उपद्रव, चिकित्सोपयोगी सूचना, आयुर्वेदिक चिकित्सा, एलोपैथिक प्रयोग, पथ्यापथ्य का वर्णन किया है । चिकित्सोपयोगी अन्य विषय भी विस्तार से समझाये है । यह विशाल ग्रंथ चिकित्सकों के लिये अवश्य पठनीय है। अनेक चित्र भी दिये हैं। इसके भी २ भाग हैं मूल्य प्रथम भाग सजिल्द १०.५० अजिल्द ९.०० द्वितीय भाग सजिल्द ९.५० अजिल्द ८.००

नेत्र रोग विज्ञान--अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है । वयोवृद्ध लेखक ने अपने जीवन के ४० वर्षों के अनुभव एवं अपने उच्च ज्ञान भण्डार को इसमें संजोया है । लगभग २५० चित्र हैं। सजिल्द पुस्तक मूल्य १५.०० ।

सिद्ध परीक्षा पद्धति--इस ग्रंथ में क्रियात्मक रोग निदान का सविस्तार वर्णन है । लगभग १२० चित्र हैं । मूल्य ६.००

गांवों में औषधि रत्न--तीन भाग-इस पुस्तक में सरलता से मिलने वाली बनस्पतियों का विस्तृत वर्णन, विभिन्न रोगों पर सैकड़ों उपयोगी सरल प्रयोगों का संग्रह दिया है । ग्रामीण चिकित्सकों एवं पठित ग्रहस्थियों के लिये उपयोगी पुस्तक है । प्रथम भाग में ८८, द्वितीय भाग में १२८ तथा तृतीय भाग में १४० बनस्पतियों का वर्णन है । मूल्य-प्रथम भाग २.००, द्वितीय भाग ३.५०, तृतीय भाग ४.५०

ज्वर विज्ञान-सभी प्रकार के ज्वर तथा उनसे होने वाले विविध उपद्रवों का विस्तृत वर्णन तथा सफल चिकित्सा विधि जानने के लिए इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये । मूल्य ३.००

अन्य उपयोगी पुस्तकें

नित्योपयोगी चूर्ण संग्रह	१.२५	स्वास्थ्य विज्ञान	१.२५
नित्योपयोगी गुटिका संग्रह	२.००	रसोपनिषत्	५.००
नित्योपयोगी क्वाथ संग्रह	१.२५	संक्षिप्त औषधि परिचय	०.६२
रस हृदय तन्त्रम्	५.००	श्रीधन्वन्तरि पूजा कथादर्श	०.७५
प्रताप कण्ठाभरण	१.२५	रस शास्त्र प्रवेशिका	२.००
भूलोक मे अमृत गाय का दूध	०.५०		
भारतीय जनता का स्वास्थ्य	०.५०		
माधव निदान (मूल मात्र)	१.५०		

स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विषयक पुस्तकों का विशाल संग्रह हमारे यहां है । सूचीपत्र मंगावे ।

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

सर्जरी बक्स

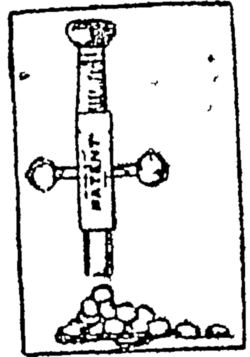
यह सर्जरी बक्स इस उद्देश्य से बनाया गया है कि चिकित्सक बाहर जाते समय इसे अपने साथ ले जा सकें। इसका साइज ७॥ इंच, चौड़ाई ४॥ इंच तथा ऊंचाई १ इंच है। इसमें निम्न उपकरण हैं–

चीमटी ४ इंची, चीमटी ५ इंची, चाकू सीधा ५ इंची, चाकू टेढ़े ब्लेड वाला ५ इंची, गला व जबान देखने की जीबी, कैथीटर रबड़ का, कैंची ४ इंची, कैंची ५ इंची–प्रत्येक एक एक, घाव में डालने की सलाई (एषणी शलाका) दो।

इस प्रकार उपरोक्त दस यंत्र शस्त्र इस बक्स में हैं। बक्स पर ऊपर सुन्दर मजबूत आइल क्लाथ चढ़ाया गया है। हरेक चिकित्सक के लिये उपयोगी है। मूल्य उपरोक्त यन्त्र शस्त्र सहित केवल १४.००, पोस्ट–पैकिङ्ग व्यय लगभग २.००

पता–दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ [अलीगढ़]

टिकियां बनाने की मशीन



निकल पोलिस की हुई बहुत उत्तम, टिकाऊ एवं सुन्दर मशीन निर्माण कराई हैं। इससे तीन साइज की टिकिया (२ रत्ती, ४ रत्ती, ६ रत्ती की) बनाई जा सकती हैं। सामान्य व्यक्ति भी बड़ी आसानी से टिकिया सकते हैं। बड़ी मांग है। आप भी एक मशीन मंगा लीजियेगा मूल्य ११.००, पोस्ट एवं पैकिंग व्यय लगभग १.२५ प्रथक्।

पता-दाऊ मैडिकल स्टोर्स, विजयगढ़ [अलीगढ़]

पत्थर के खरल

साधारण मुलायम औषधियां घोटने के लिये कसौटी पत्थर के खरल उत्तम तथा सस्ते रहते हैं।
मोतिया पत्थर के खरल कड़े तथा साधारण दवा घोटने के लिये उपयोगी हैं।
मोतिया से अधिक कड़ा तथा कम घिसने वाला पत्थर तामड़ा होता है। विविध पिष्टी घोटने के लिये इनका उपयोग करे।
तामड़ा पत्थर से भी अधिक उत्तम व न घिसने वाला हंसराज पत्थर सर्वोत्तम है।

—मूल्य तथा साइज का विवरण—

	हंसराज	तामड़ा	मोतिया	कसौटी
३ इंची	×	×	×	१.००
४ इंची	१२.००	८.००	×	१.२५
५ इंची	१४.००	९.००	×	२.२५
६ इंची	१९.००	११.५०	४.००	३.२५
७ इंची	२३.००	१४.००	५.००	४.५०
८ इंची	२९.००	१७.००	६.५०	६.२५
९ इंची	३३.००	२०.००	८.५०	७.७५
१० इंची	३८.००	२४.००	११.००	१०.००
११ इंची	४४.००	२८.००	१५.००	१४.००
१२ इंची	५०.००	३२.००	१९.००	१८.००
१३ इंची	५६.००	३६.००	२४.५०	२४.००
१४ इंची	६४.००	४२.००	२८.५०	२८.००
१५ इंची	७६.००	४९.००	३५.५०	३५.००

हंसराज पत्थर के खरल १२ इंच तक के बना कर तैयार रखे जाते हैं। बड़े खरल का आडर आने पर १॥-२ माह में तैयार किया जाता है। १५ इंची से बड़े किसी भी पत्थर के खरल के मूल्य पत्र डालकर मालूम करलें। खरलों का आर्डर देते समय अपने पास के रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखे तथा चौथाई रकम मनियार्डर से पेशगी भेजे।

पता–दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

एजेन्सी लीजियेगा



धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा निर्मित अत्युत्तम आयुर्वेदिक और पेटेन्ट औषधियो की एजेन्सी लेकर लाभ उठावे। थोडा रुपया लगाकर जीविका उपार्जन का उत्तम एवं निरापद साधन है।

- विश्वस्त उपयोगी औषधियां
- सुन्दर पैकिङ्ग
- उचित मूल्य
- लाभप्रद एजेंसी नियम

शीघ्र ही पत्र डालकर नियमादि मंगावें।

पता—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]

धन्वन्तरि के विशेषांक



धन्वन्तरि के अब तक लगभग ६० विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। अपनी उपयोगिता के कारण विशेषांक शीघ्र समाप्त हो जाते है। जो विशेषांक अभी शेष हैं उनका विवरण इसी विशेषाक के अन्त मे दिया गया है। उसे पढ़ें तथा जो विशेषांक आपके पास न हों शीघ्र मंगाले। इनके भी शीघ्र समाप्त हो जाने की सम्भावना है। अन्त मे लगी सूची मे प्रकाशित मूल्य पर धन्वन्तरि के ग्राहकों को (विशेषांकों पर) २५ % कमीशन दिया जाता है।

पोस्ट व्यय पृथक् लगाया जायगा।

शीध्रता करें

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]

पूर्ण विश्वस्त

सर्वोत्तम शिलाजीत नं० १

सूर्यतापी



शिलाजीत पत्थर मंगाकर हम अपनी देख-रेख मे अत्युत्तम शिलाजीत निर्माण करते हैं। किसी भी प्रकार की शंका न करते हुए आवश्यकतानुसार शिलाजीत हमारे यहा से मगाइयेगा।

मूल्य १ सेर ६५.०० ५ तोला ४.२५

वैद्यों के लिये रियायती मूल्य पत्र डालकर मालूम करें।

पता-धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

दो उपयोगी पुस्तकें



१ वैज्ञानिक प्राणायाम रहस्य—लेखक श्री प्रो. अशोककुमार सिंह वेदालंकार प्रभाकर एम० ए०। पृष्ठ संख्या १०८, चित्र संख्या २३ सजिल्द मूल्य २.२५, रियायती मूल्य १.५०

२. स्वप्नदोष और वीर्य—लेखक श्री अमरचंद्र पाण्डेय। स्वप्नदोष और वीर्य का विशद विवेचन और चिकित्सा, पृष्ठ संख्या १३१, चित्र ६, सजिल्द मू० २.००, रियायती मू० १.२५

पता-

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

कास रोगांक (लघु विशेषांक)

आगामी वर्ष का लघु विशेषांक 'कास रोगांक' होगा। इसमें कास के विभिन्न प्रकार, रोगों में लक्षण रूप में कास—इन सभी का वर्णन, सफल चिकित्सा विधि एवं उत्तमोत्तम प्रयोगों का वर्णन किया जायगा। विद्वान लेखकों और अनुभवी चिकित्सकों से साग्रह प्रार्थना है कि अपने अनुभवपूर्ण एवं विवेचनापूर्ण लेख भेज कर सदैव की भांति हमको सहयोग देकर आभारी करें।



आयुर्वेद के उत्तमोत्तम पठनीय ग्रन्थ

प्रत्येक ग्रन्थ उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा संपादित है। वैद्यों तथा चिकित्सक-समुदाय को चाहिए कि इन ग्रन्थों की एक-एक प्रति मँगवा कर अवकाश के समय उनका अध्ययन कर अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए अपने चिकित्सा-व्यवसाय में भी पूर्ण उन्नति कर यश के भागी बनें।

प्रत्येक ग्रन्थ पर भारत के मर्मज्ञ विशिष्ट विद्वानों, पत्र-पत्रिकाओं तथा शिक्षण-संस्थाओं द्वारा अनेकानेक उत्तम उत्तम सम्मतियाँ प्राप्त हुई हैं।

—सम्पादक

१ **अगदतंत्र**—डा० रमानाथ द्विवेदी एम. ए., ए. एम. एस.। इस छोटी-सी पुस्तिका में लेखक ने विस्तृत ज्ञान भर दिया है। वैद्यों तथा विद्यार्थियों के लिए पठनीय पुस्तक है। सब कालेजों के कोर्स में है ०–७५

२ **अञ्जन निदानम्**—सान्वय विद्योतिनी हिन्दी टीका सहित। आयुर्वेद शास्त्र में निदान के लिए श्रेष्ठ ग्रन्थ १–००

३ **अभिनव बूटी दर्पण**—(सचित्र) सम्पादक—वनस्पति-विशेषज्ञ श्री रूपलालजी वैश्य। सहज में पहचानने योग्य अनेकानेक चित्रों से विभूषित। वनस्पतियों से चिकित्सा का सर्वोत्तम ग्रन्थ। १०–००

४ **अभिनव विकृति विज्ञान**—(सचित्र) आयुर्वेदाचार्य श्रीरघुवीर प्रसाद त्रिवेदी। २२–००

५ **अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान**—(सचित्र) आचार्य प्रियव्रत शर्मा। इस ग्रन्थ में आधुनिक शरीर-क्रियाविज्ञान के सम्पूर्ण विषयों का वैज्ञानिक शैली से संकलन किया गया है। परिष्कृत संस्करण १०–००

६ **अष्टाङ्गसंग्रह**—आयुर्वेद बृहस्पति श्री गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी कृत 'अर्थप्रकाशिका' हिन्दी टीका विशेष वक्तव्य सहित। छांगाणी जी ने वक्तव्य में स्वानुभूत योगों का भी उल्लेख कर दिया है। सूत्रस्थान। ८–००

७ **अष्टाङ्गहृदयम्**—(गुटका) भागीरथी टिप्पणी सहित। ४–००

८ **अष्टाङ्गहृदयम्**—विद्योतिनी हिन्दी व्याख्या विमर्श सहित। व्याख्याकार—श्री अत्रिदेवगुप्त विद्यालङ्कार। आचार्य वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय, द्वारा संशोधित परिवर्द्धित सटिप्पण द्वितीय संस्करण। १५–००

९ **आयुर्वेद प्रकाश**—आचार्य गुलराज शर्मा कृत संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या सहित। परिवर्द्धित संस्करण यन्त्रस्थ

१० **आयुर्वेद विज्ञान**—विद्योतिनी हिन्दी टीका परिशिष्ट सहित। २–००

११ **आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना**। (अंग्रेजी) डा० घाणेकर। ०–१५

१२ **आयुर्वेदीय परिभाषा**—गिरिजादयालु शुक्ल विरचित अभिनव प्रकाशिका हिन्दी टीका परिशिष्ट सहित १–२५

१३ **आयुर्वेदीय यन्त्र शस्त्र परिचय**—(Ayurvedic Surgical Instruments) ८५ चित्रों से विभूषित। आयुर्वेदाचार्य सुरेन्द्रमोहन बी. ए। १–७५

१४ **आसवारिष्टसंग्रहः**—आसव-अरिष्ट की सर्वोत्तम पुस्तक। १–७५

१५ **औपसर्गिक रोग**—डा० घाणेकर। इस आवृत्ति में अनेक नये रोग समाविष्ट किये गये हैं। प्रथम भाग १०–००

१६ **काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्रम्**—हिन्दी टीका सहित। यन्त्रस्थ

१७ **कामसूत्रम्**—जयमंगला संस्कृत टीका तथा हिन्दी टीका सहित। यन्त्रस्थ

१८ **काय चिकित्सा**—आयुर्वेदाचार्य गङ्गासहाय पाण्डेय ए. एम. एस.। शीघ्र प्रकाशित होगी।

१९ **काय चिकित्सा**—आयुर्वेद बृहस्पति श्रीरामरक्ष पाठक। शीघ्र प्रकाशित होगी।

२० **काश्यपसंहिता**—श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार कृत विद्योतिनी हिन्दी टीका, एवं राजगुरु हेमराज कृत संस्कृत-हिन्दी विस्तृत उपोद्घात सहित। विद्वानों एवं चिकित्सकों के लिए संग्रहणीय है। १६–००

२१ **कौमारभृत्य (नव्य बालरोग सहित)**—आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस.। समस्त बाल-रोगों पर प्राच्य-पाश्चात्यचिकित्सा विज्ञान पर आधारित सर्वाङ्गपूर्ण पाठ्य-स्वीकृत ग्रन्थ। ८–००

२२ **क्लिनिकल पैथौलोजी**—(बृहत् मल-मूत्र-कफ-रक्तादि परीक्षा)। डा० शिवनाथ खन्ना। १०–००

५० प्लीहा के रोग और उनकी चिकित्सा—कविराज ब्रह्मानन्द चन्द्रवंशी। आयुर्वेदिक, एलोपैथी (५-) यूनानी मतानुसार रोग का निदान, लक्षण तथा चिकित्सा का सुन्दर वर्णन किया गया है। ०-२१

५१ फलसंरक्षण विज्ञान (Fruit Preservation)—डा० युगलकिशोर गुप्त। फलों से संरक्षण-क्रिया के अतिरिक्त फलों की चटनी, अचार, मुरब्बा आदि बनाने की विधि भी समझाई गई है। १-०८

५२ बस्तिशलाकाप्रवेश (एनिमा और केथेटर)—पुस्तक छात्रों, वैद्यों तथा इस विषय के अभ्यासियों के लिए बहुत ही उपयोगी है। ०-४०

५३ बीसवीं शताब्दी की ओषधियाँ—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा। शीघ्र प्राप्त होगी

५४ भारतीय रसपद्धति—कविराज अत्रिदेव गुप्त। भारतीय रसशास्त्र में धातुओं आदि का शोधन मारण एक महत्त्व का विषय है। इस छोटी-सी पुस्तिका में यह सरलता से समझाया गया है १-५०

५५ भावप्रकाश—मूल मात्र। पूर्वार्द्ध ३-०० मध्यमोत्तर खण्ड ७-०० संपूर्ण १०-००

५६ भावप्रकाश ज्वराधिकार—नवीन वैज्ञानिक विद्योतिनी भाषा टीका परिशिष्ट सहित। ४-००

५७ भावप्रकाश निघण्टु—(नवीन संस्करण) सम्पादक–डा० गंगासहाय पाण्डेय ए. एम. एस.। आयुर्वेदिक कालेजों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर इस निघंटु भाग की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ९-००

५८ भिषक् कर्मसिद्धि—डा० रमानाथ द्विवेदी यन्त्रस्थ

५९ भेल संहिता—श्री गिरिजा दयालु शुक्ल कृत टिप्पणी सहित। शोधपूर्ण संस्करण। १०-००

६० मदनपाल निघण्टु—मूल। टिप्पणी सहित। १-००

६१ मर्म-विज्ञान (सचित्र) आचार्य रामरक्ष पाठक। आयुर्वेद में वर्णित १०७ मर्मों की सचित्र विस्तृत व्याख्या की गयी है। ३-५०

६२ माधव निदान—वैद्य उमेशानन्द शास्त्री कृत सुधालहरी संस्कृत टीका सहित। यन्त्रस्थ

६३ माधव निदान—सर्वाङ्गसुन्दरी हिन्दी टीका सहित ४-५०

६४ माधव निदान—मधुकोष संस्कृत व्याख्या, मनोरमा हिन्दी टीका सहित। ६-००

६५ मूत्र के रोग—डा० घाणेकर। (Diseases of urine, urinary system and allied diseases) मूत्रविज्ञान सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ नवीन प्रकाशन। ६-००

६६ यकृत के रोग और उनकी चिकित्सा—वैद्य श्री सभाकान्त झा। इसमें यकृत, उसकी रचना, क्रिया, उसके विकार, निदान, पूर्वरूप, संप्राप्ति, चिकित्सा, पित्ताशय और उसके विकारों का वर्णन है। २-००

६७ योग-चिकित्सा—अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार। रोग की, कौन सी अवस्था में, कौन-कौन सी ओषधियाँ किस अनुपान से किस समय व्यवहार की जा सकती हैं यह इस पुस्तक का विषय है। ३-५०

६८ योगरत्नाकर—मूल। गुटका संस्करण। ६-००

६९ योगरत्नाकर—विद्योतिनी हिन्दी टीका सहित। कायचिकित्सा में जिन-जिन बातों का ज्ञान आवश्यक है उन विषयों की आश्रय निधि इस ग्रन्थ में भरी पड़ी है। १८-००

७० रतिमञ्जरी—गद्य-पद्यात्मक हिन्दी अनुवाद सहित ०-४०

७१ रक्त के रोग—डा० घाणेकर। नवीन आवृत्ति। १०-००

७२ रसरत्नसमुच्चय—सुरत्नोज्ज्वला हिन्दी टीका सहित। अभिनव संस्करण। १०-००

७३ रसरत्नसमुच्चय—मूल। टिप्पणी सहित। मूल्य सुलभ संस्करण ३-०० उत्तम संस्करण ३-७५

७४ रसादि परिज्ञान—वयोवृद्ध एवं अनुभवी लेखक आयुर्वेद बृहस्पति पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ने इस पुस्तक में षट् रसों के संबन्ध में पूर्ण विवेचन तथा उसके क्रमिक विकास का सरल भाषा में प्रतिपादन किया है २-००

साध्याय—संस्कृत टीका सहित। यह रसशास्त्र का अतिप्राचीन छोटा किन्तु उपयोगी अद्भुत ग्रंथ है १–००

रसायन खण्ड (रसरत्नाकर का चतुर्थ खण्ड)—इसके रसायन तथा वाजीकरण तन्त्रों में बहुत से उपयोगी नूतन योगों का वर्णन किया गया है। ०–७५

७७ **रसार्णव नाम रसतन्त्रम्**—भागीरथी बृहद् टिप्पणी एवं विशेष विवरण से युक्त। कीमियागीरी, पारद के बंधन प्रयोग, यंत्र मूषाओं का वर्णन, पारद के संस्कार, रसादि शोधन-मारण आदि बताने वाली प्राचीनतम यह पुस्तक चिकित्सकों तथा छात्रों के लिए अत्यन्त महत्व की है ३–००

७८ **रसेन्द्रसारसंग्रह**—बालबोधिनी–भागीरथी टिप्पणी सहित। यन्त्रस्थ

७९ **रसेन्द्रसारसंग्रह**—(सचित्र) नवीन वैज्ञानिक रसचन्द्रिका हिन्दी टीका विमर्श परिशिष्ट सहित। ६–००

८० **रसेन्द्रसारसंग्रह**—(सचित्र) गूढार्थसंदीपिका संस्कृत व्याख्या सहित। व्याख्याकार-अम्बिकादत्त शास्त्री ५–००

८१ **राजकीय ओषधियोग संग्रह**—आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस. ७–००

८२ **राष्ट्रिय चिकित्सा सिद्ध योग संग्रह**—आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस.। इसमें सिद्ध कषाय, चूर्ण, तैल, घृत, अवलेह, गुटिका, रस आदि के गुण, अनुपान और निर्माण का पूर्ण विवरण है १–५०

८३ **रोगनामावली कोष**—वैद्य दलजीतसिंह। इस ग्रन्थ में आयुर्वेदीय, यूनानी, डाक्टरी रोगों के नाम और परिचय—संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में संग्रह हैं ३–५०

८४ **रोगनिवारण**—(Treatment) डा० शिवनाथ खन्ना ए. एम. बी. बी. एस.। १४–००

८५ **रोग परिचय** (Clinical Medicine)—डा० शिवनाथ खन्ना। इसमें रोगों की व्याख्या, वर्णन, कारक, मरक-विज्ञान, निदान, चिकित्सा आदि का वर्णन किया गया है। १२–७५

८६ **रोगी परीक्षा** (Physical Examinations)—डा० शिवनाथ खन्ना। पुस्तक में नवीन वैज्ञानिक-पद्धति के आधार पर रोगीपरीक्षा की विधियों का चित्रों तथा तालिकाओं द्वारा वर्णन है। ६–००

८७ **वनौषधि चन्द्रोदय**—इस विशाल निघण्टु ग्रंथ में भारतवर्ष में पैदा होने वाली समस्त वनस्पतियों, खनिज-द्रव्यों, विष-उपविषों के गुण-धर्मों का सर्वाङ्गीण विवेचन है। प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न भाषाओं में नाम, उत्पत्तिस्थान, आयुर्वेद, यूनानी और आधुनिक चिकित्साविज्ञान की दृष्टि से उनके गुण-धर्मों का वर्णन, भिन्न-भिन्न रोगों पर उसके उपयोग, उस वस्तु के मेल से बनने वाले सिद्ध प्रयोगों का विवेचन बहुत ही सुन्दर तथा विस्तार से किया गया है। अपने विषय का अद्वितीय ग्रंथ है। पृथक्-पृथक् प्रत्येक भाग का मूल्य ५–०० तथा संपूर्ण ग्रंथ १–१० भाग का मूल्य ४०–००

८८ **वनौषधि दर्शिका**—वनस्पति विशेषज्ञ प्रोफेसर बलवन्त सिंह एम. एस्-सी.। इसमें लगभग ३०० वनौषधियों का वैज्ञानिक विवरण संक्षिप्त रूप में दिया गया है। २–५०

८९ **विषविज्ञान और अगदतन्त्र**—डा० युगलकिशोर गुप्त एवं डा० रमानाथ द्विवेदी। इसमें उन विषैले द्रव्यों का वर्णन है जिनसे प्रायः दुर्घटनायें होती हैं और जिनका आत्महत्या या परहत्या के लिए व्यवहार किया जाता है। पुस्तक हर वैद्य के लिए पठनीय है। १–७५

९० **वैद्यक परिभाषाप्रदीप**—आयुर्वेदाचार्य प्रयागदत्त जोशी कृत प्रदीपिका हिन्दी टीका सहित द्वितीय संस्करण १–५०

९१ **वैद्यकीय सुभाषितावली**—डा० प्राणजीवन माणेकचन्द मेहता। वेद से लेकर वैद्यजीवन ग्रंथ तक में आये हुए आयुर्वेदिक सुभाषितों का संग्रह। मूल संस्कृत, अंग्रेजी अनुवाद सहित। २–००

९२ **वैद्यजीवन**—अभिनव सुधा हिन्दी टीका टिप्पणी सहित। टीकाकार—श्री कालिकाचरणशास्त्री ए. एम. एस. १–२५

९३ **वैद्यसहचर**—आयुर्वेदाचार्य श्री विश्वनाथ द्विवेदी। लेखक के ४० वर्षों के लाभप्रद सिद्धयोगों का संग्रह ३–००

९४ **व्यवहारायुर्वेद-विषविज्ञान-अगदतन्त्र**—डा० युगल किशोर गुप्त एवं डा० रमानाथ द्विवेदी। ४–५०

९५ **शल्य प्रदीपिका**—(सचित्र) डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा। शल्यविज्ञान की उत्तम पुस्तक। १२–५०

शल्य तन्त्र में रोगी परीक्षा (Clinical Methods in Surgery)—डा० पी. जे. देशपाण्डे ७–००

९७ **शार्ङ्गधर संहिता**—नवीन वैज्ञानिक विमर्शोपेत सुबोधिनी हिन्दी टीका सहित । परिष्कृत नवीन संस्करण

९८ **शालाक्य तन्त्र (निमितन्त्र)**—इस पुस्तक के ५ भागों में क्रमशः नासिका, शिर, कान, मुख एवं आँखों के रोगों के हेतु, निदान, सम्प्राप्ति आदि की विस्तृत विवेचना की गई है । ९-००

९९ **शिलाजीत विज्ञान**—इसमें शिलाजीत का परिचय, शोधन, मारण, परीक्षण, प्रयोग तथा महत्त्वपूर्ण अनुभूत योगों का विशद् वर्णन है । ०-७५

१०० **सिद्धभेषज संग्रह**—आचार्य युगल किशोर गुप्त तथा डा० गंगासहाय पाण्डेय ए. एम. एस. । राजसंस्करण ९-००
उत्तम संस्करण ८-०० सुलभ संस्करण ७-००

१०१ **सुश्रुतसंहिता**—आयुर्वेदतत्त्वसंदीपिका हिन्दी टीका वैज्ञानिक विमर्श सहित । टीकाकार-कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री ए. एम. एस. । टीकाकार ने मूल संहिता के भावों को सरल भाषा में नवीन विज्ञान के साथ तुलना कर विषयों को अधिक स्पष्ट एवं बुद्धिग्राह्य बना दिया है । संपूर्ण ग्रंथ २४-००

१०२ **सुश्रुतसंहिता शरीर स्थान**—नवीन वैज्ञानिक 'प्रभा'-'दर्पण' हिन्दी व्याख्या सहित ३-५०

१०३ **सूचीवेध विज्ञान**—डा० राजकुमार द्विवेदी । परिष्कृत द्वितीय संस्करण । १-५०

१०४ **सौश्रुती**—डा० रमानाथ द्विवेदी । प्राचीन शल्यतन्त्र पर लिखा हुआ यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इस विषय की यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को क्रमबद्ध एवं आधुनिक विज्ञान से आलोकित सरल भाषा में प्रस्तुत किया है । द्वितीय संस्करण ८-५०

१०५ **स्टेथिस्कोप** तथा **नाडी परीक्षा**—(सचित्र) इस पुस्तक में स्टेथिस्कोप की बनावट, परीक्षा, ध्वनिवर्णन आदि तथा नाडीपरीक्षा संबन्धी सभी ज्ञातव्य विषयों का वर्णन है ०-७५

१०६ **स्वस्थवृत्त समुच्चय**—चरकाचार्य श्री राजेश्वरदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीका सहित । ६-५०

१०७ **स्वास्थ्य संहिता**—हिन्दी टीका सहित । लेखक-कविराज नानकचन्द वैद्य शास्त्री । स्वास्थ्य विज्ञान के सभी सम्भावित प्रश्नों का विवेचन इस पुस्तक में किया गया है । २-५०

१०८ **स्वास्थ्यस्थान (स्वास्थ्यशिक्षापाठावली)**—डा० घाणेकर यन्त्रस्थ

१०९ **हैजा (विसूचिका) चिकित्सा**—इसमें हैजा का इतिहास, लक्षण, निदान, चिकित्सा और उससे बचने के उपाय तथा कुछ अनुभूत नवीन पेटेंट औषधियों का भी वर्णन किया गया है । ०-७५

आयुर्वेद-प्रदीप

(आयुर्वेदिक-एलोपैथिक गाइड)

(संशोधित, परिवर्धित, नवीन संस्करण)

डा० राजकुमार द्विवेदी, डा० गंगासहाय पाण्डेय

पृ० सं० लगभग ९००, उत्तम कागज, नया टाइप, मनोरम आवरण । परिष्कृत संस्करण मूल्य १०-००

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राच्य तथा पश्चात्य विषयों का समन्वय, इतिहास, प्रसार अंग तथा धातूपधातुओं की रचना एवं कार्य, विभिन्न परीक्षाएँ, विटामिन, नाना प्रकार के पथ्य एलोपैथिक-आयुर्वेदिक सम्पूर्ण औषधों के निर्माण प्रयोग एवं गुणधर्म-विज्ञान, हिन्दी-अंगरेजी नामावली, रोगों की उभयविध चिकित्सा आदि अनेक विषय वर्णित हैं ।

आयुर्वेद तथा एलोपैथी से संबंधित कोई विषय छूटा नहीं है । सहस्रशोनुभूत योगों की प्रधानता है । हम-आप इसे 'गागर में सागर कह सकते हैं ।

द्रव्यगुण-विज्ञान

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

इसके प्रथम भाग के द्रव्यखण्ड, कर्मखण्ड एवं कल्पखण्ड में तत्तद्विषयों का प्राचीन एवं नवीन दृष्टियों से अतिसूक्ष्म विवेचन है । द्वितीय भाग में औद्भिद और जांगम तथा तृतीय भाग में पार्थिव द्रव्यों का समावेश है । प्रत्येक द्रव्य के परिचय (शास्त्रीय गण, वानस्पतिक कुल, वैज्ञानिक नाम, विभिन्न प्रादेशिक नाम, स्वरूप, जातियाँ, उत्पत्तिस्थान, रासायनिक सङ्घटन), गुण (गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव), कर्म (विभिन्न शरीर-दोषों एवं शरीर-संस्थानों पर होने वाले की व्याख्या) तथा प्रयोग (विधि, प्रयोज्य अङ्ग, मात्रा, विशिष्ट योग, अहित प्रभाव, निवारण एवं प्रतिनिधि) विस्तार के साथ वर्णित हैं । यथास्थल आधुनिक एवं यूनानी विचारों का भी समावेश है ।

१-३ भाग, दो जिल्दों में मूल्य १८-००

चरकसंहिता—विद्योतिनी

'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या 'विमर्श' परिशिष्टसहित

इसमें पाठान्तर सहित मूलपाठ को छात्रों की सुविधानुसार विभाजित कर उसका अनुवाद तथा 'विमर्श' नामक विशद व्याख्या दी गई है जिसमें चक्रपाणि की 'आयुर्वेद-दीपिका' संस्कृत टीका के अधिकांश भाग एवं आधुनिक चिकित्सा सिद्धान्तों का समावेश तथा समन्वय किया गया है। स्पष्टीकरण के लिए सारणियाँ तथा अंग्रेजी पर्याय भी दिए गए हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सभी आयुर्वेदमहारथियों के सम्पादकत्व में इसका प्रकाशन हुआ है तथा कविराज श्री सत्यनारायण शास्त्री जी ने तो अपनी भूमिका देकर मानों इसे सप्राण बना दिया है।

पूर्वार्द्ध (इन्द्रियस्थानपर्यन्त) मूल्य १६—००

उत्तरार्ध भी शीघ्र प्राप्त होगा।

सचित्र इन्जेक्शन

डा० शिवनाथ खन्ना

विषय-विभाग के अनुसार पुस्तक ३ खण्डों में है—

प्रथम खण्ड में इन्जेक्शन देने की सब विधियों का तथा साधारण इन्जेक्शन के अतिरिक्त एनिमा (Enema) लगाना, प्लूरा (Plura) से पीप निकालना, आदि चिकित्सक के प्रतिदिन की आवश्यक क्रियाओं का विस्तार पूर्वक चित्रों सहित वर्णन किया गया है।

द्वितीय खण्ड में इन्जेक्शन देने की ओषधियों का तथा पेटेन्ट (Patent) ओषधियों की प्रकृति, प्रयोग, योग, विषाक्तता, विषाक्तता की चिकित्सा, मात्रा आदि का वर्णन है।

तृतीय खण्ड में प्राय. १०० प्रमुख रोगों की चिकित्सा का आधुनिक विधि (Allopathy) से संक्षेप में वर्णन है।

प्रत्येक छात्र तथा सामान्य चिकित्सक (General Practioner) के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं अवश्य संग्रहणीय है। आजकल सूचीवेध का ही अधिक प्रयोग होने लगा है। किन्तु इसमें जितनी सावधानी, विज्ञता और कुशलता की अपेक्षा है वह सभी चिकित्सकों में नहीं पाई जाती हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत पुस्तक का विषय है। मूल्य १०—००

रोगि-परीक्षा-विधि (सचित्र)

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

इस ग्रन्थ में आयुर्वेदिक और एलोपैथिक दोनों पद्धतियों से रोगी-परीक्षा का पूर्ण विवरण किया गया है जिससे दुरूह विषय भी करामलकवत् स्पष्ट हो गया है। प्रायः सभी स्थलों पर चित्रों को देकर विषय को और भी सरल तथा स्पष्ट रूप से समझाया गया है। मूल्य ६—००

एलोपैथिक मिक्श्चर्स

डा० राजकुमार द्विवेदी

प्रस्तुत पुस्तक में रोग-विवरण के आरम्भ में सामान्य लक्षण एवं मिश्रणों को विशिष्ट क्रम से रखा गया है। इन्जेक्शन के प्रयोग, मात्रा आदि का स्पष्ट निर्देश है। मिश्रण-निर्माण की विधि, स्थान, उपकरण तथा कम्पाउण्डर के जानने योग्य बातों का समावेश स्वतन्त्र अध्याय में ही किया गया है। मूल्य २—००

भैषज्य-कल्पना-विज्ञान

डा० अवधविहारी अग्निहोत्री

इस पुस्तक में आयुर्वेदीय तथा आधुनिक मान (माप, भार व तौल), यन्त्रोपकरण, मूषा, पुट, कोष्ठी, मुद्रा, पञ्चविध कषाय कल्पना (स्वरस, कल्क, क्वाथ, हिम, फाण्ट आदि), रसक्रिया (अवलेह), गुटिका, वटी, वर्ति, स्नेहपाक, आसवारिष्ट, उपनाह, लेप, मलहम, क्षार आदि की कल्पना से सम्बन्धित विषयों को आधुनिक तथा प्राचीन चिकित्सा-प्रणालियों के समन्वयात्मक सिद्धान्तों के अनुसार लिखा गया है। मूल्य ५—००

गर्भरक्षा तथा शिशु-परिपालन

डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

गर्भ-रक्षा का उपाय गर्भवती स्त्री की दिनचर्या, भोजन, निद्रा, व्यायाम, मानसिक कृत्य आदि पर लेखक ने पूर्ण प्रकाश डाला है। गर्भकाल में उत्पन्न होने वाले रोग, प्रसव की कठिनाइयाँ उनको दूर करने के उपाय, नवजात शिशु, की देख-रेख, उसका पोषण, शारीरिक वृद्धि, अवस्था के अनुसार शिशु के आहार में परिवर्तन, उपरी दूध बनाना और पिलाना, शिशु के वस्त्र, उसका स्नान, व्यायाम आदि का विवेचन पुस्तक में पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। मूल्य ४—५०



हम केवल अपने मासिक पत्र धन्वन्तरि में ही अपनी औषधियों का विज्ञापन प्रकाशित करते हैं। लम्बे-चौड़े पंचाङ्ग, खर्चीले आकर्षक कलैंडर-डायरियो पर भी हम अधिक व्यय नहीं करते। अतएव औषधियों के प्रचार पर अंधाधुंध खर्च न करते हुये हम औषधियों की उत्तमता पर ध्यान देते हैं। उत्तम द्रव्यों से विधिवत् औषधि निर्माण करके और उचित मूल्य पर चिकित्सकों को सप्लाई करते हैं। प्रचार पर अंधाधुंध व्यय करने वाले औषधियों का मूल्य अधिक लेकर या उनको घटिया बना कर उसका दुगना-तिगुना आप से ही वसूल करते है।

इस विषय पर थोड़ा विचार करे, और उत्तम गुणप्रद औषधियां आडम्बर रहित पैकिंग मे उचित मूल्य पर प्राप्त करने के लिये हमारी सेवायें स्वीकार कीजिये।

धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

शिशु रोगाङ्क

की

विषयानुक्रमणिका

[सम्पूर्ण शिशुरोगांक विषयानुक्रमानुसार-छापा गया है। उसी प्रकार क्रमशः प्रकरण देते हुये विस्तृत विषय सूची यहां प्रकाशित कर रहे हैं जिससे कि पाठकों को इच्छित लेख प्राप्त करने में सुविधा रहेगी। लेखकों के पूरे पते प्रत्येक लेख के अन्त में दिए हैं यहां केवल नाम ही प्रकाशित कर रहे हैं। —सम्पादक]

२४. नेत्र रोग प्रकरण — पृष्ठ ४७४ से ४८३ तक

२५. प्रकीर्ण — पृष्ठ ४८४ से ५२० तक



धन्वन्तरि शिशुरोगांक के

सम्माननीय-लेखक

(अकारादि क्रम से)



*** पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें ***

इस विशेषांक

में

लेख-संख्या	१२२ तथा अनेक उपयोगी प्रयोग
लेखक-संख्या	११२
चित्र-संख्या	१३६
पृष्ठ-संख्या	५७२•
मूल्य (विशेषांक का)	८.५०

विशेषांक-सम्पादन में आठ माह का कठिन परिश्रम

इस विशेषांक के सभी विषयों पर विद्वान एवं अनुभवी व्यक्तियों के अधिकार पूर्ण लेख प्राप्त करने, उनसे सम्बन्धित चित्रों का निर्माण कराने तथा उन लेखों को विषयानुसार क्रम-बद्ध लगाने में बहुत परिश्रम किया गया है। आप उपर्युक्त आंकड़ों से तथा इस विशेषांक को पढ़ने से निश्चय ही यह अनुभव करेंगे कि धन्वन्तरि के संचालक धन्वन्तरि द्वारा वैद्य समाज को कितने अल्प मूल्य में कितना विशाल एवं उपयोगी साहित्य दे रहे हैं और इस कार्य में कितना घाटा उठा रहे हैं। अतएव

धन्वन्तरि के प्रत्येक ग्राहक से

हमारी कर-बद्ध प्रार्थना है कि वे धन्वन्तरि के २-२, ४-४ नवीन ग्राहक बनाने का प्रयत्न अवश्य करें। इस विशेषांक को देखकर शायद ही कोई ऐसा वैद्य होगा जो धन्वन्तरि का ग्राहक बनने की इच्छा न करे। आपको थोड़ा उत्साहित करने की आवश्यकता है।

• विशेषांक का मैटर, सूची के पृष्ठ, प्रारम्भिक विज्ञापन एवं सूची विषय कुल मिलाकर।

धन्वन्तरि के ग्राहकों की सेवा में



धन्वन्तरि के विशेषांक विशेष महत्वपूर्ण, विशाल एवं परिश्रम साध्य होते हैं। हमारा प्रेस और कार्या- लय ऐसे स्थान पर स्थित है जहां से ६-६ मील ,तक कोई सड़क या समुचित यातायात का साधन नहीं है, अतएव बहुत प्रयत्न करने पर भी विशेषांक के प्रकाशन मे विलम्ब हो जाता है और इसलिये आगामी अंक भी कुछ देर से प्रकाशित हो पाते हैं। इस वर्ष हमने विशेषांक जल्दी ही प्रकाशित करने का पूर्ण प्रयत्न किया है तथा आगामी अंक भी शीघ्र प्रकाशित करने की कोशिश कर रहे हैं। फिर भी थोड़ा धैर्य रखने की प्रार्थना है तथा निवेदन है कि—

१. कोई भी अंक मिलने पर यह देखले कि उससे पहिला अंक मिला है या नहीं। यदि न मिला हो तो उसी समय पत्र लिखकर मंगालें।

२. वर्ष के अन्त में एक साथ अधिक अंकों के न मिलने की शिकायत लिखना असुविधाजनक एवं अनुचित है और उस समय आपकी फाइल पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ रहेंगे।

३ थोड़े समय के लिये स्थान परिवर्तन करना हो तो अपने पोस्ट आफिस में प्रबन्ध करलें। स्थायी रूप से स्थान परिवर्तन करते समय ग्राहक नम्बर, पहिला पता और नवीन पता स्पष्ट लिखते हुए सूचित करें।

४. धन्वन्तरि के विषय में पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक नम्बर अवश्य लिखे तथा उत्तर के लिए कार्ड भेजे।

५. अंक बड़ी सावधानी से हरेक ग्राहक को भेजे जाते हैं। अत. अंक न मिलने की शिकायत पहिले पोस्ट आफिस मे करें, उसके उत्तर के साथ यहां पत्र लिखें।

धन्वन्तरि के मान्य लेखकों

के लिये लेख सम्बन्धी आवश्यक संकेत



१—लेख कागज की एक ओर थोड़ा मार्जन छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखियेगा।

२—लेख ऐसे विषय पर लिखें जो चिकित्सकों के लिये ज्ञानवर्धक एवं ज्ञातव्य हो। खोज एवं अनुभवपूर्ण लेख, सफल प्रयोग, वनस्पति विशेष पर अनुभव, रोग विशेष पर अनुभवपूर्ण चिकित्सा, कष्टसाध्य रोग से पीड़ित रोगी की सफल चिकित्सा विवरण आदि चिकित्सकों के लिये उपयोगी लेखों को प्राथमिकता दी जाती है।

३—धन्वन्तरि के अधिकांश पाठक अंग्रेजी भाषा नहीं जानते, अतएव लेख मे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग यथासम्भव न करें।

४—लेख संक्षिप्त एवं सारपूर्ण बनावें। अनावश्यक विस्तार न करें तथा आवश्यक बातों को लिखने में संकोच भी न करें।

५—लेख मे आयुर्वेद ग्रन्थो के उद्धरण लिखते समय उनका संदर्भ अवश्य दें तथा उद्धरण ध्यानपूर्वक शुद्ध व स्पष्ट लिखें।

६—प्रयोग लिखते समय प्रयोग के घटक, तोल, निर्माण विधि, अनुपान, मात्रा, प्रयोग विधि समझा कर लिखें। प्रयोग के वास्तविक गुण ही लिखें, बढ़ा चढ़ा कर न लिखें।

७—समाचार, विविध सम्मेलन समाचार, चुनाव समाचार, धन्वन्तरि जयन्ती समाचार आदि संक्षेप में लिखकर भेजें। यदि सम्मेलनादि के फोटो भेज सकें तो अवश्य भेजें।

८—व्यक्तिगत आक्षेपयुक्त या विवादास्पद समाचार एवं लेख धन्वन्तरि मे प्रकाशित नहीं किये जाते हैं।

९—अपने लेख से सम्बन्धित कोई चित्र भी यदि आप भेज सकते हों तो अवश्य भेजें। हम ब्लाक बनवाकर आपके लेख के साथ प्रकाशित करेंगे।



धन्वन्तरि

आयुर्वेद का सर्वोत्तम सचित्र मासिक।

ॐ आहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि धाता त्वां
दधातु विधाता त्वां दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेति ।
ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम् ॥
—अष्टांग हृदय शा. १-३३

भाग ३६ अङ्क २-३ | सचित्र शिशु-रोगाङ्क | फरवरी-मार्च सन् १९६२

सम्पादकीय प्राक्कथन

इस मानव सृष्टि का वास्तविक सुख बहुभाग्यशाली परिवार ही अनुभव करता है, जिसके गृह में सुन्दर, बलिष्ठ एवं निरोग शिशु क्रीड़ा करते हैं। इस संसार के रत्नों में संतान रूपी रत्न अन्य जड़ रत्नों से अत्यधिक महत्व का है। कारण इसके अभाव में गृह के अन्य रत्न व्यर्थ भाररूप ही प्रतीत होते हैं। इस रत्न की प्राप्ति से जो आनन्द का अनुभव होता है वह अन्य रत्नों की प्राप्ति से नहीं होता। शिशु रत्न के प्राप्त होते ही समस्त परिवार एवं बन्धु बान्धवों में अपूर्व उत्साह तथा नवीन आशाओं का संचार एवं नूतन इच्छा, कल्पनाओं का उदय होता है। अतः शिशु ही आत्म-विनोद एवं दाम्पत्य जीवन की परिपूर्णता का मुख्य साधन है। शिशु की चंचलता से भरी हुई नाना क्रीड़ाओं को देख, चिन्ता एवं अपार व्याधि की पीड़ा भी किंचित काल के लिये दूर हो जाती है।



उत्तम शिशु एवं सुसन्तान के जन्म और कर्म से केवल माता पिता ही नहीं प्रत्युत् समाज, जाति और राष्ट्र भी कृतकृत्य होते हैं। किन्तु खेद से कहना पड़ता है कि वर्तमानकाल में विशेषकर भारत में उक्त प्रकार का सुसन्तान-रत्न प्राप्ति रूप अपूर्व सुख बिरले परिवार एवं किसी किसी युगल दम्पतियों को ही प्राप्त होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि शिशु के सुयोग्य रीति से पालन पोषण एवं शिक्षण का मुख्य भार जिन माताओं पर निर्भर है वही आजकल धात्रीविज्ञान विरहित हैं। भारत की ललनायें अविद्या एवं अज्ञानता के कारण, न गर्भाधान की रीति, न गर्भ रक्षा की क्रिया, न प्रसूत समय के उपचार और न शिशु रक्षा की विधि को ही जानती हैं। इसी कारण सैंकड़ों बच्चे अल्पकाल में काल के कलेवा बन माता के हृदय एवं अन्य परिवार को शोकदग्ध कर जाते हैं तो कहीं संतान मुख देखने का सौभाग्य की प्राप्ति न होना तथा ऐसा न होने पर अज्ञानता की मारी कुल महिलायें सुयोग्य वैद्यों के उपचार के स्थान पर मूर्ख ओझा, पुजारी, बने हुए साधु, फकीर और वैरागियों की थोथी बातों में आकर उन पर विश्वासकर अपने धन, धर्म को गंवाती हैं। ऐसी स्त्रियां न तो सन्तान का भरण पोषण कर सकती हैं और न अपने ही स्वास्थ्य की रक्षा कर सकती हैं। इसीसे उनकी सन्तानें मेधावी, निरोगी एवं आयुष्मान नहीं होतीं। अतः अपनी सन्तान और अपनी स्वतः की भलाई के विभिन्न भारतीय नारियों का धात्री वा बालरोग विज्ञान की शिक्षा में व्युत्पन्न होना नितान्त आवश्यक है।

इसका और भी एक प्रबल कारण यह है कि जहां के नर नारी ब्रह्मचर्य पालन करना अपना मुख्य कर्म, धर्म और व्रत समझते थे आज उसी देश के निवासी इसके नाम और महत्व को भूल गये हैं। रात दिन विषय वासना में लिप्त रहने के कारण सन्तानोत्पत्ति के बीजांकुरों की शक्ति को कमजोर कर देते हैं। अथवा व्यर्थ के कीड़े मकोड़े जैसी सन्तानों को अधिक प्रमाण में पैदा कर देश का भार बढ़ा देते हैं। जिसके कारण सन्तान निग्रह विषयक अनेक अनैसर्गिक साधनों और उपकरणों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है तथा इन अप्राकृतिक साधनों के परिणाम में अपने स्वास्थ्य एवं अमूल्य जीवन को बरबाद कर देना पड़ता है। इस प्रकार प्राकृतिक ब्रह्मचर्य और यथोचित आहार बिहार, स्थान, पान रहन सहन तथा उचित औषधि व्यवस्था के अभाव से आजकल भारत रोगों का घर बना हुआ है।

उक्त अनर्थ परम्परा के निवारणार्थ ही हमने दो बार नारी रोगांक तथा एक बार सन् १६३६ में बालरोगांक निकाला था। जिनको पाठकों एवं अभिभावकों ने बहुत ही पसन्द किया है। शायद हमें तीसरी बार और भी नारीरोगांक निकालना पड़ेगा कारण उसकी बहुत ही कम प्रतियां हमारे पास शेष बची हैं। बालरोगांक की पुरानी सब प्रतियां तो कई वर्ष पहले ही समाप्त होगईं थीं। पाठकों की मांग एवं तीव्र अनुरोध उसके प्रकाशनार्थ होने से हम इस बार यह शिशुरोगांक सेवा में उपस्थित कर रहे हैं। इस अंक में पिछले बालरोगांक की अपेक्षा भी उत्तमोत्तम लेखों का चयन किया गया है। यहां हम अपनी ओर से शिशुरोग विषयक एक दो बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं—

भारत में आज मातृरक्षक केन्द्र एवं शिशु रक्षक केन्द्रों (*Maternity centres and Baby Clinics*) की जैसी चाहिये तैसी व्यवस्था नहीं है। रेडक्रास सोसाइटियां आदि जो कुछ इस विषय में कार्य कर रही हैं वह नहीं के बराबर है। ये केन्द्र जो बड़े बड़े शहरों में स्थापित हैं, वहां का उपचार आदि वैदेशिक प्रणाली के ढङ्ग से होने के कारण जनसाधारण की पहुंच के बाहर हैं। वे उन्हें नहीं



अपनाते। या यों कहिये कि वैदेशिक चिकित्सा प्रणाली बहुत ही खरचीली होने से उससे जनसाधारण लाभ नहीं उठा सकते। क्या ही उत्तम हो कि यहां के धनी मानी उदार चेता सज्जन वृन्द जनसाधारण के लाभार्थ ऐसे मातृमन्दिरों एवं शिशु केन्द्रों की स्थापना करें जिसमें आयुर्वेदिक रीति से उपचार किया जाय।

उचित शिक्षा के अभाव से घरों में जो बच्चों का पालन पोषण होता है, वह प्रायः दोषपूर्ण होता है। माताएं यह नहीं जानतीं कि बच्चे को खिलाने पिलाने का एक निर्दिष्ट समय होता है। वे अधिकतर प्यार ही करना जानती हैं। बच्चा चाहे किसी कारण से भी रोने लग जाय तो वह उसे भूखा समझ कर दूध पिलाने में लग जाती हैं। कुसमय दूध पीकर बच्चे की पाचनशक्ति बिगड़ जाती है, तथा वह दिन पर दिन सूख कर कांटा बन जाता है (इसे मसाना या सूखा रोग कहते हैं)। माता का दूध यथोचित समय पर न मिलने से तथा अखाद्य, कुखाद्य भोजन से, जैसे दो मास के बच्चे को बार्लीवाटर (विलायती जौ का पानी), ग्राईप वाटर आदि पिलाना, ताजा दूध को छोड़कर या उसके अभाव में पाउडर का या पेटेन्ट डिब्बों का दूध पिलाने से भी ऐसे रोग बालकों को हो जाते हैं। फिर मूर्ख माताएँ अपनी गलती नहीं समझ कर उसका इलाज टोना, ताबीज, यन्त्र, मंत्र एवं झाड़ फूंक आदि कराती रहती हैं।

हमारी वृद्धा माताओं को तो शिशुपालन एवं शिशुओं की व्याधि सम्बन्धी कुछ परम्परागत प्राचीन ज्ञान भी है, किन्तु परम खेद की बात है कि आधुनिक लड़कियां इस विषय में एकदम कोरी हैं। स्कूल या कालेज में पढ़ाई गई ज्योमिट्री, बीजगणित, केमिस्ट्री आदि की बातें इन्हें भले ही अच्छी तरह ज्ञात हों, किन्तु नारी जाति की जीवन मरण रूपी मातृत्व एवं शिशु पालन तथा व्याधि ज्ञान प्राप्त करने का इन्हें कोई साधन ही नहीं है। और न इस विषय की ज्ञानकारी पुस्तकें ही हिन्दी भाषा में विशेष प्रचलित एवं प्रकाशित हुई हैं। ऐसी दशा में धन्वन्तरि का यह प्रकाशन अवश्य ही कुछ कार्य करेगा, तथा साधारण जनता इसे अवश्य ही अपनाकर अपने गृहस्थी के आधारस्तम्भ गृहणी एवं शिशुओं की सर्वाङ्गीण श्रेय साधन करेगी ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

ध्यान रहे, जन्म के बाद ही नहीं प्रत्युत गर्भस्थ होने के दिन से ही शिशु की प्रकृति पालन पर पूर्ण ध्यान देने की आवश्यकता है। स्वस्थ माता पिता की सन्तान ही स्वस्थ होती है। पितृरोग जिसमें फिरङ्ग रोग (Syphilis) सर्व प्रधान है प्रधानतः यौवनावस्था के अत्याचार का फल है। इस रोग में सुजाक की भांति लोग निःसन्तान नहीं बनते, अपितु अधिक सन्तान और विशेषतः रोग दूषित विकृत सन्तान उत्पन्न होती है। इस रोग से ग्रस्त पिता की सन्तान बलवान एवं स्वस्थ होनी प्रायः असम्भव है। पितृगत् तथा वंशगत तपैदिक आदि रोगों को छोड़कर गर्भावस्था में भी माता के आहार विहार एवं स्वास्थ्य के अनुसार सन्तान रोगी, निरोगी, अल्पायु, दीर्घायु, बलिष्ठ या निर्बल हो सकती है। अतः गर्भवती को इस ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिये। हमारे वैद्यक ग्रन्थों में गर्भोपचार सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियम, संयम तथा खानपान की व्यवस्था दर्शायी गई है। आवश्यकता है उस वैद्यक ज्ञान के सुलभ प्रचार की तथा महिलाओं को इस ओर ध्यान देने की। जमीन की शक्ति लेकर ही तो बीज पैदा होकर शक्तिशाली वृक्ष बनता है। क्षेत्र ठीक न हो तो वृक्ष कैसे ठीक होगा? माता का शरीर ही असली क्षेत्र है। अतः मातृ धर्म पालन करना सुमाता का कर्त्तव्य है।

गर्भकालीन, शिशु कालीन (Infant life) और बालकालीन या बाल्यावस्था (Childhood) तीन भागों में शिशु जीवन विभक्त है। गर्भकालीन जीवन तो ६ मास १० दिन का होता है। इन दिनो में माता के शरीर की रक्तशुद्धि पर ही सन्तान का भावी समस्त जीवन निर्भर है। गर्भकालीन माता की हरेक पीड़ा का प्रभाव शिशु के ऊपर होता है। अतः यथासंभव जहा तक बने माता को नीरोग, शुद्ध वायुयुक्त स्थानों में, आनन्दपूर्वक संयमी जीवन बिताना चाहिये। गर्भावस्था में मैथुन अथवा परिश्रम, शोक, चिंता, क्रोध, गर्मी आदि से सन्तान रोगी एवं विकलांग होती है। यदि शारीरिक वैकल्य न हो तो मानसिक विकृति, कुस्वभावी होना अधिक सम्भव है।

प्रसव के बाद लगभग ३ साल तक शिशुकालीन जीवन होता है। प्रसव होते ही प्रसव स्थान की स्वच्छता की ओर ध्यान न देने से मोतीझरा, चेचक, हैजा आदि कई छूत की बीमारिया हो सकती हैं। प्रायः प्रसव स्थान तो एक कैदखाने से भी अधिक कष्टप्रद होता है। फिर धनुष्टकार रोग से जो कि प्राय. आंवल नाल को मैली कैंची या छुरी के काटनें से होता है, उसका कारण भूतो का ही उपद्रव माना जाता है। वैसे ही सूखा (बालशोष) जो कि शरीर के अन्दर उपयुक्त खाद्याभाव के कारण होता है, उसे भी कोई बाहर की भूत व्याधि समझा जाता है। फिर आगे शिशुओं को उदर रोग और दन्तोद्भेद कालीन पीड़ायें होती हैं। माता के दूध में शुद्धि एवं प्रचुर परिमाण मे जीवनशक्ति का होना आवश्यक है। संक्षेप मे देखा जाय तो शिशुसंवर्धन मे माता के खाद्य, आहार विहार, नियमपूर्वक समय पर दूध पिलाना, विश्राम, वस्त्रों की सफाई आदि की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। शिशु को प्रारंभ से ही जो आदते डाल दी जाती हैं, वह उन्हें ही अपना लेता है। जिन बच्चों को समय पर दूध पीना, नहाना, धोना, सोना इत्यादि की आदत पड़ जाती है वह नीरोग और शात स्वभाव का होता है। किसी को सताता नहीं है। वे ही आदर्श भविष्य में अच्छी, आदर्श आदतों की नींव बन जाती हैं।

शिशुओं के रोगों में प्रायः दांत निकलते समय की व्याधियां प्रधान हैं। दांत निकलना शिशु जीवन का एक संकटकाल है। किन्तु है यह प्राकृतिक। प्रारम्भ से ही आहार विहार के नियमों के ठीक तरह पालन करने से दात निकलने में तकलीफें कम होती हैं। दूध के दात जिनमें कीले (श्वदन्त) निकलते समय सबसे अधिक कष्टों का सामना करना पड़ता है। इन दांतों के निकल आने के बाद शिशुत्व समाप्त होकर बाल्य जीवन प्रारंभ होता है। प्रसव के बाद से लेकर तीन वर्ष तक का काल ही यह समय है। इस तीन वर्ष के बीच में ही यदि माता के एक और संतति हो जाय तो दोनों के लिये तथा विशेषत. माता के लिये अत्यधिक कष्टमय स्थिति प्राप्त होती है। अतः उक्त तीन वर्षों तक संयम एवं पूर्ण ब्रह्मचर्य की परमावश्यकता है। कमजोर दस बच्चों की अपेक्षा स्वास्थ्य सम्पन्न दो ही सन्तान अच्छी है।

तीन से पाच वर्ष की आयु तक बच्चे के शिशुकाल का शेष भाग और बाल्यजीवन आरंभ होता है। पाच वर्ष के बाद बच्चे विद्यारंभ करने योग्य हो जाते हैं। शिशु जीवन के रोगो मे माता (चेचक), मसूरिका, खसरा, बालशोष, रोहिणी, मांसतान, कंठशालूक (Diphtheria), कफ विकार (सर्दी, जुकाम), उदररोग, पूतनादि ग्रह पीड़ा, आक्षेपवात आदि प्रधान हैं। इनके विषय मे इस अंक में अधिकारी लेखकों के विस्तृत लेख पाठक मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे।

यहां हम संक्षेप में हमारे अनुभव में आए हुए शिशु सम्बन्धी कुछ विशेष रोगों की चिकित्सा का निर्देश मात्र किए देते हैं—

(१) वालापस्मार—दूध पीने वाले शिशु को यदि दिन रात में ३-४ बार पतले-पतले दस्त ठीक प्रकार से ही जाया करें तो वह कई विकारों से बचे रहते हैं। यदि दस्तों मे विकृति हो तो समझना होगा कि उसे दूध बराबर नहीं पचता। ऐसी हालत में शीघ्र ही उसकी माता की या जिसका वह दूध पीता हो उसे दुग्ध शुद्धिकर औषधियां या अनन्तमूल, कुटकी, कुड़ा, चिरायता आदि जड़ी बूटियों (बनौषधि विशेषांक में ऐसी कई स्तन्यशोधक बूटियों का वर्णन देखिये) का सेवन करना आवश्यक है तथा उस शिशु को भी थोड़ा सा शुद्ध अरंड तैल मे असली शुद्ध शहद मिला दिन में ३-४ बार चटाना चाहिये। यदि इस तरह समय पर ही यथायोग्य उपचार न किया जाय तो आगे चलकर शिशु का पेट फूलने लगता है, कंठ में खुरखुर शब्द होने लगता है तथा आक्षेपक (शरीर के अङ्गों में खेचातानी) होने लगती ,है नेत्र विकृत, आंखों की पुतलियां ऊपर को चढ़ी हुई आदि लक्षण होने लगते हैं। इस तरह बार बार रह रहकर यह दशा होती है। जब रोग का इस प्रकार दौरा होता है तब बालक एकदम कांपकर हाथों की मुट्ठियां भींचकर हाथ पैर कड़े कर, कभी कभी धनुषाकार तानता है, चेहरे का रंग एकदम बदल जाता है, बेहोशी आती है, दांत किटकिटाते हैं, कण्ठ से कराहता है, मुख से फेंस निकलता है, नाड़ी मन्द होती है, श्वास बड़े कष्ट से लेता है। कुछ ही देर में दौरा समाप्त होने पर पुनः पूर्ववत् स्वस्थ स्थिति होती है। किन्तु शक्ति क्षीण होती चली जाती है तथा यदि योग्य उपचार न किया जाय तो वह काल के गाल में चला जाता है। इस रोग को स्कन्दापस्मार, स्कन्दग्रह तथा दक्षिण की ओर 'आंकड़ी' कहते है।

इसके उपचार में हम पुन. सावधान किये देते हैं कि रोग प्रायः बालक की माता या उसके पालकों की असावधानी से होता है। जिस शिशु के खानपान मे ठीक ठीक निगरानी नहीं की जाती उसे ही प्रायः यह मारक रोग कष्ट देता है। अतः प्रथम रोगोत्पादक कारणों को दूर करना एवं रोगी बालक की मल शुद्धि कराना आवश्यक है।

थोड़ा सा रीठा का फेंस गुदामार्ग में प्रवेश कराने से उसका दस्त खुल जाता है। साथ ही साथ हरड़, बहेड़ा, अतिविषा, काकड़ासिंगी, बायबिडङ्ग, कुड़ाछाल और भारंगी मूल समभाग का महीन चूर्ण १ माशा तक, रेंडी तैल और शहद में मिला बार बार चटायें। इससे मल शुद्ध होता है। यदि ज्वर आदि कोई अन्य उपद्रव हों तथा रोग का दौरा हो जाय तो शीतल जल के छींटे मुख पर मारने पर तथा उसके कुछ होश मे आने पर प्याज को काटकर उसकी नाक के पास ले जाकर, फिर दूर कर लेवे, इसी प्रकार बार बार करे तथा बीच बीच में शीतल जल या गुलाब जल के छींटे मुख पर देते जावे। रोग का दौरा निकल जाने पर उसे कुछ खिला पिलाकर शांति से सोने देवे। एतदर्थ यदि शिशु ६ मास के अन्दर का हो तो—

१. एक छोटे से महीन कपडे के टुकड़े की आठ तह कर रेंडी तैल में भिगो (तैल टपकने न पावे इसलिये उसे थोड़ा निचोड़) कर बालक के तालू पर बांध दें। जब तक यह रेंडी के तैल से तर किया हुआ कपड़ा उसके सिर पर रहेगा, रोग का दौरा न होने पावेगा। अथवा—

२. बच का महीन चूर्ण घृत में मिला बालक के सिर एवं समस्त शरीर पर धीरे धीरे मर्दन करना चाहिये।



उक्त उपचार के साथ ही साथ बालक की माता थोड़ी अजवायन अपने मुख में चबाकर उसकी लार दूध में मिला बालक को पिलावे जिससे पेट साफ होकर रोग का दौरा बन्द हो जाता है। तथा गूगल, अगरु, रार और सरसों समभाग जौकुट कर इसका धूपन करें जिससे कमरे की वायु स्वच्छ होकर बालग्रह की शांति होती है तथा रोग का दौरा नहीं होता अथवा केवल बच की ही धूप देने से भी लाभ होता है।

यदि बालक की उमर ६ मास से ऊपर हो तो (१) नित्य प्रातः सायं ब्राह्मी का स्वरस ६ माशे से १ तोले तक थोड़ा शहद मिलाकर पिलावे और उपरोक्त उपचार करते रहे।

(२) इस अवस्था में अपचन के कारण शिशु के पेट में प्रायः कृमि हो जाते हैं; तथा इस रोग का सम्बन्ध इन कृमियों से भी हो जाता है। अवश्य निम्न क्वाथ का सेवन कराना लाभदायक है—

वायबिडंग, अजवायन, नीम की अन्तर छाल प्रत्येक ६-६ तोला लेकर जौकुट कर १ पाव (२० तोला) जल में अष्टमांश क्वाथ सिद्ध कर तथा छान कर उसमें डीकामाली १ माशा मिला थोड़ा थोड़ा पिलावे। जिससे पेट साफ होकर कृमि की बाधा दूर हो, उसे फिर यह रोग कष्ट नहीं पहुंचाता।

(३) बच का महीन चूर्ण १ से २ रत्ती तक शहद के साथ प्रात. सायं चटावें।

एक वर्ष से ऊपर के शिशु को उपर्युक्त सब क्रियायें यथायोग्य प्रमाण में की जावें। इतना सब कार्य करने पर भी यदि रोग का जोर न घटे, तो निम्न रीति से उसे शंखभस्म का सेवन करावें—

एक छोटा सजीवशंख (जिसमें कीड़ा हो ऐसा) लेकर यशद (जस्ता) की डिब्बी में बन्द कर उस डिब्बी को चूल्हे की कण्डों या कोयलों की आग में दबा दें। डिब्बी खूब लाल हो जाय तब बाहर निकाल स्वांगशीतल हो जाने पर अन्दर का शंख निकाल महीन चूर्ण कर रक्खे। इसे १-२ रत्ती की मात्रा में दुग्ध के साथ प्रातः सायं सेवन कराने से तत्काल लाभ होता है।

इस पर हल्दी का दाग भी दिया जाता है। हल्दी का एक लम्बा सा टुकड़ा लेकर आग पर उसका एक सिरा रख कर जला दें। तथा मस्तक पर भौं के पास, नस के ऊपर कुशलतापूर्वक दाग (लाछ) देते हैं। इससे भी बहुत लाभ होता है।

इत्यादि कई उपचार हैं। यहां मुख्य मुख्य अपने अनुभूत उपचार प्रकट कर दिये हैं। यह रोग न होने पावे, इसके प्रतिबन्धार्थ निम्न बातों पर पूर्ण ध्यान देना अत्यावश्यक है—

(१) जब तक बालक माता का दुग्ध पीता है, तब तक पूर्ण संयम या ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इतना भी यदि न हो सके तो प्रसूति हो जाने के पश्चात् पुन. ऋतु प्राप्त होने तक पुरुष संग (मैथुन) कदापि नहीं करना चाहिये। (२) शिशु को अधिक रुदन नहीं करने देना चाहिये। उसके रुदन का कारण शोध कर तुरंत ही यथोचित उपचार करे। उसका पेट साफ है या नहीं, इस बात की ओर अवश्य ध्यान देते रहना चाहिए। (३) बालक को विशुद्ध दूध ही पिलाना चाहिये। (४) रोग निवारणार्थ उपचार अनुभवयुक्त तज्ज्ञ चिकित्सकों के द्वारा ही कराना चाहिये। अपढ़, अनुभवहीन मनुष्य या स्त्री के द्वारा उपचार कराना मानों बालक को काल के गाल में झोंक देना है।

नोट—ध्यान रहे इस रोग पर जो आधुनिक पाश्चात्य औषधियों का प्रचार हो रहा है, उनमें प्राय ब्रोमाईड या तत् सदृश ही मस्तिष्क शक्ति को न्यून या क्षीण करने वाले एवं सुस्ती या निद्रा लाने वाले द्रव्यों का मिश्रण हुआ करता है। ऐसी औषधियों का सेवन कराने से बालक आगे चल कर कुछ बड़ा होने पर निर्बुद्धि या पागल सा हो जाया करता है अत बहुत ही समझबूझ कर औषधोपचार करना चाहिये।



डब्बा (उत्फुल्लिका) रोग—दूध के न पचने से, बालक का कफदोष विकृत होकर उसे तीव्र ज्वर
मलावरोध, मूत्र की कमी या मूत्रावरोध, कास, श्वास, आदि विकार होकर उसका उदर जोर से हिलता
है तथा ऊपर उड़ता है, वह कुछ ऊपर को उठकर फड़कन सी मालूम देती है। यदि ठीक उपचार न
हो तो यही विकार बढ़कर कफविशिष्ट सन्निपात, वातश्वसनक ज्वर, ब्रांको निमोनियां (*Broncho-pneumonia infantile*) का विकराल रूप धारण कर लेता है एवं मृत्यु का कारण हो जाता है।
अन्तिम अवस्था मे आक्षेपक आदि असाध्य लक्षण होते है ।

उपचार—प्रारंभिक अवस्था में कटु इन्द्रायन के फल के बीजों का चूर्ण २ से ४ रत्ती या
१ माशा तक लेकर ५ तोला जल मे पका कर पिलाने से इस रोग का जाल नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

अथवा—गिलोय, नीम की छाल, मुलैठी, बायबिडङ्ग, सनाय, सौंफ और काकडासिंगी
१-१ मासा लेकर कूटकर २० तोले जल में क्वाथ करे। २॥ तोले शेष रहने पर उसमें ६ माशा मिश्री
मिलाकर पिलावे। प्रातः सायं इसी प्रकार ८ या १० दिन के प्रयोग से पूर्ण लाभ होता है।

यदि उक्त सन्निपात (निमोनिया) होकर फुफ्फुस में सदाह शोफ होगया हो, तो छाती पर
अलसी की पुल्टिस से सेक कर बांध दे। एसी अवस्था मे तीव्र रेचक औषधि न देते हुए उक्त
गिलोय, नीम छाल आदि के क्वाथ में त्रिभुवनकीर्ति रस की मात्रा देनी चाहिये।

नोट—ध्यान रहे, उपर्युक्त दोनों रोगों (बालापस्मार और डब्बा) में बालक की माता का दुग्ध
परीक्षण कर लेना चाहिए। यदि दूध घना, चीकटा या विकृत रूप का हो तो उस माता को हल्दी, दारूहल्दी,
मुलेठी, कुडाछाल और गिलोय का क्वाथ प्रातः साय ७ दिन तक पिलाने से दूध शुद्ध, निर्मल होकर बालक
के लिए स्वास्थ्यप्रद होता है। माता को तथा शिशु को घृत, दही, मावा आदि के कफवर्धक पदार्थों का सेवन
नहीं करना चाहिए।

पारिगर्भिक विकार—गर्भवती माता का दूध पीने से, बालक कृश होता है, उसे क्षुधा
बहुत लगती है, पेट सामने बढ़ जाता है, हाथ पैर सूख जाते है। ध्यान रहे पेट मे ४ मास का गर्भ
हो जाने पर माता को अपना दूध बालक को कदापि नहीं पिलाना चाहिए। अन्यथा उसे सूखा रोग
होजाता है (सूखा या बाल शोष रोग के और भी कई कारण है जिन्हे विस्तारसहित आगे विद्वानों के
लेखों में देखिये)।

उक्त प्रकार के पारिगर्भिक विकारों मे बालक को अग्निदीपक औषधिया देनी चाहिये।
द्राक्षासव, करंजासव आदि अथवा सजीवनी बटी का सेवन गो दुग्ध के या शहद के साथ दिन मे
३ वार करावे।

इस विशेषाक को अपने विषय का सर्वाङ्गीण बनाने के लिये हमने यथाशक्ति प्रयत्न किया
है। यथा स्थान विषय को सरलतापूर्वक हृदयङ्गम बनाने के लिये सुन्दर चित्रों की भी योजना
की है। (कुल १३६ चित्र दिये गये है)—तथा कृपालु लेखक महर्षियों ने हमे उदार हृदय से अपने
अनुभव पूर्व लेखों से सहायता की है। हम उनके हृदय से कृतज्ञ एवं आभारी है। विद्वान लेखकों के
सहयोग के सहारे ही हम धन्वन्तरि के इतने विशाल एवं सर्वाङ्गपूर्ण विशेपाक प्रकाशित करने का
साहस कर पाते हैं तथा भविष्य के लिये भी हम विद्वान वर्ग से साग्रह निवेदन करते हैं कि वे अपना
सहयोग धन्वन्तरि को अधिकाधिक देते रहें जिससे कि हम उत्तम से उत्तम साहित्य धन्वन्तरि के
द्वारा आयुर्वेद समाज के समक्ष रखते हुए आयुर्वेद प्रचार में अग्रसर होते रहें।

—वैद्य देवीशरण गर्ग

बालकों के बौद्धिक विकास के उपाय

श्री वैद्य तारकेश्वर नाथ मिश्र

यह विज्ञान का युग है, मनुष्य की विकसित बुद्धि ने मानवीय सुरक्षा एवं सुख के साधनों पर अपना महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है। जिस राष्ट्र का बौद्धिक स्तर आज जितना ऊंचा है वह उतना ही महान है। हमारा महान देश कभी उन्नति के शिखर पर था। सैकड़ों वर्ष की दासता मे हम अपना सर्वस्व गौरव लुटा चुके, आज हम स्वतंत्र हैं, देश का नव निर्माण हो रहा है, राष्ट्र के नव निर्माण में बच्चों का प्रमुख स्थान है, हमारा उज्ज्वल भविष्य उन्हीं पर निर्भर करता है। हमें कुशाग्र, प्रखर एवं तीव्र बुद्धि वाले बालकों की आवश्यकता है। राष्ट्रीय कल्याण के लिये बालको का बौद्धिक विकास अनिवार्य है।

मानव जीवन मे बचपन को क्या महत्व है? जीवन पर बाल्यकाल का क्या प्रभाव पड़ता है? जीवन के प्रारम्भिक विकास के इस अमूल्य काल का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। महान लेखक रूसो और प्रकृति कवि वर्डसवर्थ ने बच्चों को स्वभावतः पवित्र माना है और उनकी धारणा है कि मनुष्य के घृणित सम्पर्क मे ही आकर वह अपवित्र होता है। बाल्यकाल मे मन और शरीर दोनों लचीले होते हैं। जैसी उन्हे शिक्षा-दीक्षा मिलती है उसके अनुकूल ही बच्चों के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रारम्भ मे ही बच्चो की परिचर्या यदि पौधे की तरह सावधानी से की जाय तो उनके आचार विचार, व्यवहार तथा विकास की पूर्ण संभावना है।

बच्चे ज्यों ज्यों बढ़ते हैं उनकी अनुभूतियां दृढ़ होती जाती हैं, विचार शक्ति बढ़ती है और चौथे वर्ष मे उनके निर्णयात्मक बुद्धि का प्रारंभ हो जाता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एडलर के मतानुसार बालक जब ५ या ६ वर्ष का रहता है तभी उसकी जीवन शैली (Style of life) बनती है। ७ वर्ष के उपरांत विचार विकास की गति द्रुततर हो जाती है। क्रमानुसार बारह साल की उम्र तक उनमें निर्णयात्मक तथा तार्किक बुद्धि बढ़ती है और उनकी अनुभूतियों के अनुसार उनकी विचार वृत्तियां विकसित होती हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार मानवजीवन का उत्थान पतन मनुष्य के विचारो पर ही निर्भर करता है। योग वाशिष्ठ मे मनुष्य को उसके विचारों का पुतला माना गया है। "मानसं विद्धि मानवम्" अतएव बाल्यकाल (६ से १२ वर्ष) के विचारों, अनुभूतियो का मानव जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान है। बालकों के विकासात्मक संरक्षण की यह उपयुक्त अवस्था है।

देश, जलवायु, माता-पिता, आहार-बिहार एवं सामाजिक वातावरणों मे प्रायः भिन्नता होती है और प्रत्येक बालक भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे जन्म लेता है। हरेक बालक को अपने माता पिता से पृथक् जेनस (Genes मूलक) प्राप्त होते है और उनकी विशेषताओं के अनुरूप ही उनके व्यवहार वृत्तियों और प्रतिक्रियाओं का रूप होता है। अतएव उनके शरीर, मन, बुद्धि तथा अभिरुचियों मे समानता संभव नहीं किन्तु कुछ स्वभाविक प्रवृत्तियां तथा क्षुधा, भय, क्रोध, आश्चर्य, आनन्द, आमोद, इत्यादि मानव प्रवृत्तियां प्राय' समान रूप से पाई जाती हैं। बौद्धिक दृष्टिकोण से हम बच्चों को ३ श्रेणियों मे बांट सकते है। उनका अधिक वर्गीकरण भी संभव है–

१. प्रखर (Superior), २. औसत सामान्य (Normal) और ३ मन्दबुद्धि (Dull)

(१) प्रखर बुद्धि वाले बालकों मे एक विशेष तरह की प्रतिभा होती है। अल्पावस्था में ही उनकी बुद्धि आयु सीमा का उल्लघन कर देती है। उनके

संरक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं होती। इनकी संख्या कम होती है।

(२) सामान्य बुद्धि वाले बालकों की संख्या अधिक होती है। साधारण संरक्षण से ये कार्य-कुशल हो जाते हैं।

(३) मन्दबुद्धि वाले बालकों का बौद्धिक विकास देर से होता है, बड़ी कठिनाई से इनका सुधार होता है। इनके अधिक संरक्षण तथा विशेष देखभाल की आवश्यकता होती है।

बुद्धि का वास्तविक अर्थ क्या है? इसके परिभाषा के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में गहरा मत-भेद है। सभी ने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप इसकी परिभाषायें दी है। कोई इसे सीखने की समर्थता कहते हैं, कुछ लोग बुद्धि का अर्थ जानना (ज्ञान) मानते हैं, कुछ लोगों के विचार में बुद्धि सजीव प्राणियों की एक प्रक्रिया मात्र है। विचारों मे भिन्नता है जो भी हो बुद्धि एक स्वभाविक वृत्ति है, एक महत्वपूर्ण तत्व है, बुद्धिबल मनुष्य का महाबल है। मनुष्य बुद्धिबल के सहारे ही लौकिक विभूतियों को प्राप्त करता है। आजतक जितने भी महान् आविष्कार हुए हैं, मानवता के कल्याण के लिये जितने भी कार्य हुए हैं उसमे मनुष्य के बुद्धिबल का प्रमुख हाथ रहा है। बुद्धि के माध्यम से हम उचित अनुचित का निर्णय करते हैं और अपने विकास का पथ निश्चित करते हैं। इसके अभाव में मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार तत्काल आवश्यक समाधान नहीं कर सकता। मानसिक हीनता रहने पर व्यक्ति तर्क विचार नहीं कर पाता इसलिये वह मनोवृत्तियों का दास बन जाता है और उसके मानसिक विकास में कठिनाई होती है।

बालकों के मानसिक विकास और हीनता के कारणों में मनोवैज्ञानिकों के अलग अलग विचार हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने मूल प्रवृत्तियों (Instinct) में विश्वास किया है और उनकी धारणा है कि बच्चा मूल प्रवृत्तियों और सवेगों का पुतला है और इन्हीं से प्रेरित होता है जिससे उसके विकास की प्रक्रियाओं उभर जाती हैं। कुछ लोग मानसिक-हीनता को वंशागत दोष (Hereditary factor) मानते हैं। उनकी धारणा है आजीवन इसमें कोई सुधार संभव नहीं। आनुवंशिकता (Hereditarians) सिद्धान्त वालों के विचार मे बुद्धि एक स्वभाविक तत्व है जो जन्म के समय से ही निश्चित रहती है और समय से विकास पाती है। इसके ठीक विपरीत है Environmentalist. उनका कहना है, सब कुछ वातावरण है। वातावरण के प्रभाव ही संगठित होकर बुद्धि के स्वरूप का निर्माण करते हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार शारीरिक व्यवस्थाओं (Constitutional factor) का नियमित होना मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है, स्वस्थ शरीर में सुन्दर मन का निवास रहता है।

बच्चे जन्म से ही मूर्ख (Idiot) नहीं होते, चिंता, भ्रम, असामाजिक वृत्ति लेकर कोई बालक पैदा नहीं होता। बच्चों मे स्वभाविक जिज्ञासा की एक प्रवृति होती है जो उनमे स्थित बुद्धि का प्रतीक है, सस्कारो और वातावरणो से बच्चे अनजाने प्रभावित होवे हैं। उनके बोलचाल, रहन सहन, आदान प्रदान, व्यवहार, आदत, नीति अनीति के भावों पर उनके परिवार का गहरा प्रभाव पड़ता है। अंग्रेजी मे एक कहावत है "Home is the first school of life" मातापिता के सामाजिक, लौकिक, पारिवारिक व्यवहारों पर बच्चो का संवेदात्मक विकास (Emotional developement) निर्भर करता है। यदि माता पिता के व्यवहार सुन्दर, शिष्ट, सभ्य और स्नेहपूर्ण होते है तो बच्चों की संवेदनाये आदर्श और संतुलित होती हैं। इसके विपरीत यदि उनके व्यवहार अश्लील, असभ्य और उद्दंडतापूर्ण होते है तो बच्चे अनुशासनहीन, ईर्ष्यालु और अयोग्य बनते हैं। बच्चों के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व उनके संरक्षकों पर है और वातावरण का प्रभाव भी निश्चित रूप से



उन पर पड़ता है।

बच्चों के बौद्धिक विकास मे आर्थिक विषमता भी एक प्रबल बाधा है, अभाव, दरिद्रता, गरीबी से बच्चों मे आत्महीनता की भावना (*Inferiorty complex*) की उत्पत्ति होती है, जो अनेक विकास मे बाधक होती है। अत निर्धन परिवार के संरक्षकों के लिए अधिक गम्भीर विवेक की आवश्यकता होती है। अगर उचित ढङ्ग से उनका संरक्षण हुआ तो वे स्वावलम्वी, आशावादी और पराक्रमी बनजाते है अन्यथा उनकी कुशाग्र बुद्धि का भी उपयोग नहीं हो पाता और मानवता की एक बड़ी क्षति हो जाती है। सम वयस्कों मे एक स्वाभाविक आर्कषण होता है, परस्पर वे एक दूसरे का अनुशरण करते हैं और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं और इसके प्रतिक्रियास्वरूप वे अपने आचरण व्यक्त करते हैं इसी अवसर पर उनकी उचित देखभाल की आवश्यकता होती है। शिक्षा का प्रभाव भी बच्चों के बौद्धिक विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी अभिरुचियों के अनुसार उन्हे शिक्षा देने से उनकी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है और मनोनुकूल कार्यों मे वे विशेष दक्ष और कार्यकुशल होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिये प्रखर बुद्धि की आवश्यकता नहीं और किसी भी कार्य का महत्व कम नहीं। जिन वालकों मे मानसिकहीनता हो उन्हे इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए और ऐसे कार्यों में लगाना चाहिये जो उनके बौद्धिक स्तर के अनुकूल हों।

आधुनिक शोधों ने इतना कर दिया है कि कुन्दजहन (*Idiots*) बच्चों की बुद्धि सम्मोहन क्रिया द्वारा बढाई जा सकती है और सोलह वर्ष की अवस्था तक मानव बुद्धि को पूर्ण विकसित किया जा सकता है। बुद्धि का विकास बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है। बच्चों के बौद्धिक विकास के लिये वाल मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित नियमों को मान्यतायें प्रदान की हैं। हम इन्हे व्यवहार में लाकर लाभान्वित हो सकते हैं।

[१] बच्चों मे प्यार की कामना होती है, वे प्यार के भूखे होते है, स्नेहपूर्ण व्यवहारों से उनके संवेदात्मक विकासों को वल मिलता है और उनमे सहृदयता उत्पन्न होती है।

[२] बच्चो को एक सामान्य व्यक्ति की तरह आदर करे, इससे उनका नैतिक विकास होगा।

[३] उनके अपराधो के लिये आप उद्दण्डता, क्रोध और आवेश के स्थान पर संयम, धैर्य और विवेक से काम लें।

[४] उनकी अवस्था से अधिक ऊंचे बौद्धिक स्तर के व्यवहार की आकांक्षा नहीं रक्खे।

[५] उनके प्रश्न के उत्तर बुद्धिपूर्ण ढङ्ग से देने चाहिए।

[६] बच्चों के सामने उसी तरह के आचरण व्यक्त करें जिसे आप निंसंकोच समाज में कर सके।

[७] बच्चो को डराना, धमकाना नहीं चाहिए। उन्हे ऐसी बातों का आश्वासन नहीं देना चाहिये जिसकी पूर्ति की सम्भावना नहीं हो।

[८] बच्चों मे सामाजिक रुचि उत्पन्न करे, इससे उनका नैतिक विकास होता है वे व्यवहार कुशल बनते हैं।

[९] उनकी अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं को व्यक्त करने के लिये प्रोत्साहित करे।

[१०] उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न करे, मनोरंजन का अवसर दें, उनकी सफलताओं के लिये आप अपनी प्रसन्नता व्यक्त करें।

[११] बच्चों के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व आप अपने ऊपर ले।

आयुर्वेद मे मानसिक स्वास्थ्य के लिये सद्विचार, पवित्रता, आस्तिकता, सात्विकता, संयमित आहार विहार इत्यादि गुणों का प्रमुख स्थान है। आवश्यकतानुसार बुद्धिवर्द्धक दिव्य औषधियों की व्यवस्था है जैसे स्वर्ण, मुक्ता, बच, ब्राह्मी, असगंध इत्यादि। ताजे फलों का सेवन भी मानसिक स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद है। वाह्य प्रयोगों मे आवश्य-

. शेषाश पृष्ठ २४ पर ..

बाल-ताड़न उचित नहीं

श्री हरिनारायण शर्मा आयुर्वेदाचार्य

बालकों की रक्षा—

खाने-पीने व्यवहार बोलने आदि कार्यों में बालकों को मनमानी न करने देना चाहिए, किन्तु माता पिता को इन कामों में बालकों को उचित शिक्षा देनी चाहिये। राजा रघु के विषय में महाकवि कालिदास ने लिखा है—"अभूच्च नम्रः प्रतिपात शिक्षया" यदि आवश्यकता हो तो भय-मात्र दिखलावे। बालकों को मारे पीटे नहीं और न किसी काम के लिये उन्हे बाधित करे। सदा उनको प्यार करे, उनकी इच्छा पूरी करता रहे, इच्छा पूरी होने से वे सन्तोष प्राप्त करते है खुश रहते हैं। उन्हे खिलौने वगैरह के देने से खुश रखे, जिससे हंसमुख रहे और हृष्ट-पुष्ट रहें ऐसा व्यवहार न करे कि वे बराबर रोना मुंह रहे।

जो लोग अज्ञानवश बालकों का मन तोड़ते रहते हैं उनके घर से लक्ष्मी (शोभा), यश, भाग्य, ओज, तेज, कान्ति, समझदारी-ये सब पलायन कर जाते हैं और खानदान डूब जाता है।

बालक अज्ञानी तो होते ही हैं। चाहे अपना बालक हो, पौत्र-नाती हो या किसी का हो उसके पोषण का भार अपने ऊपर हो या न हो किसी चीज की प्राप्ति के लिये किसी चीज के खोने पर आशा मिलने पर उस वस्तु के न मिलने पर उन चीजों के प्राप्त करने के वास्ते यदि बालक 'दो दो' कह कर रोवें मारें कुवाच्य कहे तो बहुत सी स्त्रिया अपने अज्ञान के आधीन होकर बालकों को मारने लग जाती हैं। ऐसा करने से अपनी हानि होती है उसका सौन्दर्य-प्रारब्ध-पति, बुद्धि, लक्ष्मी, मनोरथ, धनधान्यादि संपत्ति शीघ्र ही बेकार हो जाती हैं। बालक मार खाने पर जब दुःखी होकर जोर जोर से चिल्लाकर रोने लग जाता है तो वह आवाज ब्रह्मलोक तक पहुचती है तो उसके पुरखा लोगों का आत्मीय के ताडन, अपमान और लघुता से वह असह्य दुःख हजार गुना होजाता है जिससे वे उस माता पिता को श्राप दे देते हैं कि तू वन्ध्या हो या तेरी सन्तान नष्ट हो या तेरी आयु समाप्त हो, भग्नमनोरथ हो, दरिद्र होजा। तेरा निवास स्थान नाश को प्राप्त हो, तेरी कोई सहायता न करे, तू पापिनी है इत्यादि। अतः बालकों को न मारे क्योंकि उन्हे ज्ञान नहीं रहता। दूसरों के सुखदुःख का विवेक उन्हे नहीं रहता। बालकों से ऐसी बात करे जिससे फुसल जाय तथा प्रसन्न रहें।

बालकों को न मारे, न उन पर गुस्सा करे न झिडके, न डरपावे। समय समय पर बालकों के मन को खुश रखने, उत्तम-उत्तम खाद्य पदार्थ देने से देवर्षि, योगीश्वर, द्विजदेव इन्द्र, तेतीस करोड़ देवता, आठ लोकपाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, सब अप्सरायें, पितर लोग उस पर प्रसन्न रहते हैं और आशीर्वाद देते रहते हैं—

कामचार' कामभक्षः कामवादश्च निन्दिताः।
पितृभ्या शिक्षणीयाश्च भीसदर्शन मात्रतः॥
न सताड्या बाधनीया लालनीयाश्च सततम्।
भग्नकामा न कार्याश्च प्राप्त कामाः प्रतोषिताः॥
पुष्टांगाश्चापि कर्तव्या तत्क्रीडनक दानतः।
हसन्मुखा. प्रकर्तव्या न कार्या' प्ररुदन्मखा॥
अज्ञानिनो ये पृथुकान् मनोभङ्गान् प्रकुर्वते।
तेषां लक्ष्मीर्यशो भाग्यमाजस्तेजो द्युतिर्मति॥
क्षणान्निमू'लता यान्ति क्षय वंश समश्नुते।
मार्कण्डेय स्मृति बालताडननिषेध प्र०

इस प्रकार के अनेक श्लोक है जो यहां उद्धृत करने से अधिक स्थान घेर लेने के हेतु से नही लिखे गये हैं।

पूजा अथवा श्राद्ध के लिये यदि कोई वस्तु बनाई जाय और उसे देखकर बालक उसकी प्राप्ति के लिये

रोने लगे तो उनकी प्रसन्नता के लिये अलग से वे चीजे खिला पिला दी जांय तो किसी प्रकार का दोष नहीं होता, किन्तु बालक नाखुश न हो यही ध्यान रखने से देवपितर सब प्रसन्न रहते हैं। यह मत मुनिश्रेष्ट व्यास जी का है।

पाक काले प्ररुदत' पाकान् जातांस्तथा विधान्।
पाययेदेव तत्प्रीत्यै, तेन वैगुण्य नामकः॥
प्रायवायो नैव भवेदिति व्यासोऽब्रवीत् पुरा।
—मार्कण्डेय स्मृति।

उत्तम सन्तान होने का उपाय–

गर्भाशय, मासिक, योनि, शुक्र, शरीर की गरमी, सर्दी एवं इन दोनों को गतिदायक (वात-पित्त, कफ) के शुद्ध रहने पर पूर्ण यौवन प्राप्त (२० वर्ष) पुरुष तथा पूर्णयुवती (१६ वर्ष) के परस्पर प्रेमपूर्वक सम्पर्क से ही शक्तिशाली, दीर्घजीवी, बुद्धिमान, हृष्ट पुष्ट, नीरोग संतान की उत्पत्ति होती है। इनमें एकाध चीज की बिगाड़ से संतान में भी बिगाड़ आ जाती है। अपनी कामवासना जैसे तैसे तृप्त करना ही उचित नहीं। उत्तम सन्तान ही संभोग का फल होता है। अतः उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है।

—श्री हरिनारायण शर्मा वैद्य आयुर्वेदाचार्य
श्री पूर्णचन्द्र औषधालय,
भदैनी–लोलार्ककुण्ड (वाराणसी)



:: पृष्ठ २२ का शेषांश ::

कतानुसार स्वतन्त्र अथवा औषधि सिद्ध स्नेहों का अभ्यङ्ग (*massage*) का आदेश है जिसका प्रभाव मानसिक स्वास्थ्य के विकास मे सहायक होता है। बच्चों के बौद्धिक विकास के लिये उनकी शारीरिक सुरक्षा, नैतिक उत्थान, आध्यात्मिक विकास, उचित शिक्षण, संरक्षण की परम आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के बाद सरकारी और गैर सरकारी शिशु कल्याण केन्द्रों, संस्थाओं एवं गृहों की स्थापना हुई है, हममे राष्ट्रीय चेतना जगी है, धन्वन्तरि के चरण पड़े हैं। ईश्वर हमें सफलता दें यही हमारी कामना है।

—वैद्य श्री तारकेश्वर नाथ मिश्र "नूनूजी"
डुमरांव (आरा) विहार



पंचकर्म अन्वेषण पर अङ्क

धन्वन्तरि के पाठकों की सेवा मे इस वर्ष कास-रोगांक के अतिरिक्त एक और भी लघु विशेषांक भेंट किया जायगा जिसमे आयुर्वेद चिकित्सा के आधारभूत पंचकर्म पर आयुर्वेद एव यूनानी तिब्बिया कालेज चिकित्सालय दिल्ली में हो रहे कार्य के आधार पर पचकर्म क्रियाओं का सचित्र वर्णन होगा। इसमे रोगानुसारी पचकर्म का विधान सरलतम रीति से प्रतिपादित होगा, जिसकी सहायता मे पंचकर्म का आश्रय लेकर आर्ष-ग्रन्थों के सिद्धान्तों के आधार पर चिकित्सा करना सरल हो जायगा।

विविध क्रियाओं को कराते समय शरीर मे होने वाले परिवर्तनों के आधुनिक उपकरणों की सहायता से संग्रह किये गए परिणामों से युक्त धन्वन्तरि के ६० पृष्ठों का यह ठोस साहित्य अक्टूबर या नवम्बर के अंक में प्रकाशित करेंगे। जिसका प्रणयन धन्वन्तरि परिवार के चिर परिचित लेखक 'पंचकर्म विज्ञान' प्रणेता आयुर्वेदाचार्य श्री पं० शिवकुमार 'व्यास' B. I. M. S. कर रहे है।

शिशु की परिभाषा

आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री एम० ए० विद्याभास्कर



शिशु कौन है ? इस शब्द से किसका बोध होता है ? और शिशु की अवस्थानुसार औषधादि-मात्राएँ क्या है ? यही विचारणीय विषय है। इसके ऊपर संक्षिप्त विवेचन उपयोगी एवं न्यायसंगत होगा। प्रस्तुत "धन्वन्तरि शिशुरोगाङ्क" महत्वपूर्ण उपादेय बालोपयोगी सामग्री का अपूर्व संग्रह बन कर चिकित्सकों एवं गृहस्थियों के लिए मार्गदर्शक है और यह विषय इस विशेषाङ्क से पूर्णतया सम्बन्धित है अतएव सर्व प्रथम शिशु-शब्द और इससे बोध्यमान वस्तु का अवगम आवश्यक है।

शास्त्रीय दृष्टि से यदि "शिशु" शब्द पर विचार करे तो शब्द शास्त्र मे "शोतनू करणे" दिवादि धातु से "शःकित् सन्वच्च" इस उणादि सूत्र के द्वारा "शिशु" शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ (श्यति तनूकरोति मातुरङ्गानि स्वाङ्गानि शरीरं त्वचं वा स शिशुः) जो उत्पन्न होने के पश्चात् अपनी माता के अङ्गों को कृश करे या स्वयं अपने शरीर अङ्ग अथवा त्वचा को हाथ पैरों के आकुञ्चन के साथ छोटा बनावे उसे शिशु कहते है, यह नाम योगरूढि है। अतएव अन्वर्थ होता हुआ छोटे बालकों के लिए प्रयुक्त होता है, इसीलिए शिशु जीवन का नाम शैशव, शिशुता व शिशुत्व है।

शिशु के पर्यायवाचक शब्द–

उत्तानशया, स्तनपा, माणवक्–

स्तनन्धय, शिशु, बाल, किशोर, कुमार, पोत, पाक, अर्भक, डिम्भ, पृथुक, शावक आदि विविध शब्द कोषग्रन्थों मे शिशु के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि इन शब्दों का अभिप्राय एवं इतिहास भिन्न भिन्न है, अवस्था भेद से भी इन पर्याय शब्दो का प्रयोग शिशु की विभिन्न शारीरिक अवस्थाओं के लिये होता है। कुमार व किशोर शब्द एक विशेष आयुः सीमा सम्पन्न बालको के लिए प्रयुक्त होते है।

आयुर्वेदीय शास्त्रों में—

सद्योजात बालक के लिए भी कुमार शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रमाण—

"तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि भवन्ति"
"ततोऽनन्तर जातकर्म कुमारस्य कार्यम्।"
"जातमात्रेऽस्यैव कुमारस्य कार्याणी—"
—चरक संहिता शरीर अ० ८

'अथ बालोपचारेण बालं योषिदुपाचरेत्।
—वाग्भट

इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्रो मे "शिशु" शब्द के पर्याय बहुत से लिखे हुए है, शास्त्रकारो ने एक अथवा एक से अधिक शिशु पर्यायों का स्थल स्थल पर प्रयोग किया है। "शिशुरोगांक" मे भी शिशु शब्द से जैसा शिशु (बालक) अभिप्रेत है उसके लिये थोड़ी मीमांसा उचित है। बालक आदि शब्द शिशु बोधक सभी ग्रन्थकारो ने माने हैं–

शास्त्रीय परम्परा में शिशु—

सभी शास्त्रकारोंने अपने गहन विषय वाले शास्त्रों का निर्माण बालकों के लिए किया है, ये बालक स्तनन्धय नहीं। अपितु बाल वृद्ध स्त्री पुरुष सभी बालक हो सकते है। जिस विषय में जिस शास्त्र में गति नहीं, विद्यार्थी उसके अध्ययन के लिए बालक (शिशु) है इस विषय को प्रतिपादित करते हुए कई स्थानों पर स्पष्ट कर दिया है–

'अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः॥'

अर्थात् अनजान ही बालक होता है, मन्त्र देने वाला ही पिता होता है।

"अनधीत तत्तच्छास्त्रो बाल" अर्थात् जिस जिस शास्त्र को जिसने नहीं पढ़ा, उसके अध्ययन के लिए वह बालक (शिशु) है।

आयुर्वेद मे शिशु—

ऐसे शास्त्र प्रतिपादित शिशु इस आयुर्वेद मे



अभिप्रेत नहीं, इससे तो विशिष्ट प्रकार के शिशु का ही ग्रहण अपेक्षित है। जैसे—

सद्योजातः स्तनन्धय आपञ्चवार्षिको वा शिशुः

अथवा—

शरीरात्म संपदुपेतः समये प्रसूत स्तन्यपायी वा शिशु

भावार्थ यह है कि शीघ्र उत्पन्न हुआ, माता के स्तनो का दूध पीने वाला अथवा पाच वर्ष तक का बालक शिशु कहाता है। अथवा लक्षण की कल्पना से—शरीरादि संपत्ति से युक्त ठीक समय उत्पन्न व दुग्ध पीने वाला बालक भी शिशु है।

स्तनन्धय ही शिशु है—

मिथ्याहार विहारिण्या दुष्टावातादयस्त्रयः।
दूषयन्ति पयस्तेन, जायन्ते व्याधयः शिशो ॥

माता के दूध के दूषित आहार विहार से ही स्तनपायी बालक (शिशु) को बहुत से रोग हो जाते हैं। इस कथन से माता का दुग्ध पीने वाला बालक शिशु है।

शिशुओं के भेद—

त्रिविध कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तकः।
स्वास्थ्य ताभ्यामदुष्टाभ्या दुष्टाभ्या रोग सभवः॥

—भैषज्य

तीन प्रकार के बालक कहे हैं। क्षीरपायी, क्षीरान्नसेवी तथा अन्नसेवी। यदि दूध और अन्न निर्दुष्ट है तो शिशु को कोई रोग नहीं होगा।

क्षीरपस्यौषध धात्र्या, क्षीरान्नादस्य चोभयोः।
अन्नेनवा शिशो देय, भेषज भिषजा सदा ॥ १ ॥
मात्रया लंघयेद्धात्रीं, शिशोर्नेष्ट विशोषणम्।
सर्व निवार्यते बाले, स्तन्य नैव निवार्यते ॥ २ ॥

वैद्य को चाहिए कि सदा दुग्धपायी को दूध से, क्षीरान्नासेवी को दोनो से तथा अन्नसेवी को अन्न के साथ औषधि सेवन करावे। यदि लङ्घन ही आवश्यक हो तो माता को कराना चाहिए बालक का शोषण ठीक नहीं. बच्चे के लिए माता का दूध कभी भी बन्द नहीं करना चाहिए। वह सर्वदा पथ्य है।

विडङ्ग फल मात्र तु जातमात्रस्य भेषजम्।
अनेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्धयेत् ॥ विश्वामित्र ॥
प्रथमे मासि बालाय, देया भैषज्यरक्तिका।
एकैकां वर्धयेत्तावत्, यावत्सम्वत्सरोभवेत् ॥
तदुर्ध्वं माषवृद्धिः स्याद् यावत् षोडषवत्सरा।
तदेव कार्यं बालानां किन्तु दाहादिक विना ॥
अग्निदाह क्षार वमन विरेचन शिराव्यधादिक विना ॥

—योग०

उक्त श्लोको में शिशु की भैषज्य मात्रा का वर्णन है तथा उसके लिए कौन सी क्रियायें अहितकर हैं इनका भी उक्त पद्यों मे निर्देश है।

उत्पन्न हुए शिशु की भेषज मात्रा वायविडङ्ग के फल के समान है। इसी क्रम से प्रतिमास बढ़ानी चाहिए।

दूसरा मत—पहिले मास में बालक को १ रत्ती दवा देनी चाहिए, दूसरे मास से क्रमश. १-१ रत्ती की वर्ष तक वृद्धि करे।

बालको के लिए वही दवा, उपाय व पथ्य होना चाहिए जो बड़ो के लिए है केवल मात्रा न्यून होती है। अग्निदाह, क्षार प्रयोग, वमन, विरेचन, शिराव्याध आदि कार्य बालको के लिए हानिकर है अतः नहीं करना चाहिए।

उपसंहार—

शिशु शब्द सद्योजात बालक से लेकर स्तनन्धय, स्तन्यपायी, उभयसेवी और अन्नसेवी बालकों के लिए आयुर्वेद शास्त्रो मे प्रयुक्त हुआ है। उक्त श्लोकों मे भी शिशु शब्द का प्रयोग छोटे बच्चों के लिए हुआ है और एक वर्ष तक के शिशुओं की औषधि मात्रा की क्रमश. वृद्धि भी बताई है। इस प्रकार बालकों के भेद शिशु के पर्यायवाचक शब्द एवं शिशु शब्द का प्रयोग जहां हुआ है उन प्रयोगों द्वारा शिशु शब्द पर प्रकाश डाला गया है। आशा है इस संक्षिप्त मीमासा से 'शिशुरोगाङ्क' पढ़ने वालों का अकिञ्चन मार्गदर्शन होगा।

—आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री एम. ए.
विद्याभास्कर आयुर्वेदा., वेद व्याकरण, साहित्याचार्य
इन्द्र औषधालय, नाई की मण्डी आगरा।

बालक

श्रीमती इन्दु एम० ए०

किसी ने बहुत ठीक कहा है कि 'अपुत्रस्य गृह शून्यम' वास्तव से बालक के बिना घर सूना ही रहता है एवं श्मशान सा लगता है। किसी उर्दू कवि ने भी मौके की बात लिखी है—

वह घर कम से बदतर है जो फरजिन्द नहीं है,
किस तरह खुले दिल कि जिगरबन्द नहीं है।
बरबाद वह गजर है कि जिसके समर नहीं,
गुम नाम वह बसर है कि जिसके पिसर नहीं॥

बच्चा वास्तव में विद्वानों के अनुसार 'आदमी का पिता है (A child is the father of the man)। यदि आदमियों के विषय में कुछ जानना है तो बच्चों के विषय में कुछ नहीं-सब कुछ जानना ही पडेगा। गर्भाधान हमारे यहां का प्रथम संस्कार है और बालक की नींव यहीं से लगती है।

इस नींव के ठीक से लगाने के लिए मनु के अनुसार—

क्षेत्र भूता स्मृता नारी, बीज भूत स्मृतः प्रमान्।
क्षेत्र बीज समा योगात्सम्भवः सर्व देहिनाम्॥
तथा—दृश्यंतु सम यत्र सा प्रसति प्रशस्यते।

अर्थात् उत्तम सन्तान के लिए स्त्री पुरुष दोनों का नीरोग व सर्व विधि ठीक होना आवश्यक है यथा बीज तथा फल होगा। सुश्रुत का कथन है कि—पच्चीस वर्ष का पुरुष व सोलह वर्ष की स्त्री हो तब दोनों की वय योग्य वय (गर्भाधान के लिये) मानी जायगी। इससे कम होने पर गर्भ बिगडेगा। फल यह होगा कि बच्चा या तो अकाल मृत्यु प्राप्त होगा या दुर्बलेन्द्रिय रहेगा व जन्म भर अपने माता-पिता को कोसता रहेगा। हमारे देश में बाल मृत्युओं का यह भी एक मुख्य कारण है।

वय के अतिरिक्त उनका स्वास्थ्य व साधन सम्पन्नता भी आवश्यक है। यदि वे तन्दुरुस्त नहीं हैं तो सन्तान भी स्वस्थ नहीं हो सकती। यहां तक कि यदि दो में एक तन्दुरुस्त है व दूसरा अस्वस्थ तो उन्हें इस कर्म से दूर ही रहना चाहिए। उन्हें एक राष्ट्र जन का भविष्य नहीं बिगाडना चाहिये। साधन सम्पन्न हुये बिना पोषण व शिक्षा में बाधा रहेगी।

मासिक स्राव के पश्चात् का पक्ष स्त्री के लिये गर्भवती होने का समय है। इस पक्ष में उस मास के शेष दिनों की अपेक्षा गर्भाधान की अधिक संभावना रहती है। प्रथम चार दिन तो एकदम निषिद्ध हैं। पांचवीं से सोलहवीं रात्रि तक ही उत्तम गर्भाधान का समय है। इनमें उत्तरोत्तर रात्रियें अधिकाधिक श्रेष्ठ हैं। युग्म रात्रियें पुत्रोत्पत्ति के लिये व अयुग्म रात्रियें कन्या के लिये प्रशस्त हैं। डिम्ब का ठीक समय पर शुक्र से संयोग हो जाय तो गर्भाधान निश्चित है। गर्भाधान से जो वस्तु बनती है वही गर्भ है और बाहर निकलने पर वही बालक कहलाता है। मैथुन के कई दिन बाद तक भी गर्भाधान सम्भव है।





यदि गर्भाधान उत्तम (शास्त्रीय) तरीके से हुआ है एवं आगे भी गर्भ रक्षा के लिये अनुकूल आहार विहार, उत्तम आचार व चेष्टायें तथा सुन्दर व श्रेष्ठ भावनाये हो तो निश्चित ही बालक (संतान) भी इच्छानुकूल ही उत्तम होगा। सुश्रुत ने भी इसका समर्थन किया है—

आहाराचार चेष्टाभिर्यादृशिभिः समन्वितौ।
स्त्री पुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोपि तादृशः॥

एक पाश्चात्य पंडित डा० निकोलस भी इसके समर्थन मे कहता है कि—An impression upon the mother, of any kind, acts upon the child. Children are born happy or miserable, according to the shape of their mothers during pregnancy, just they are born healthy or diseased. The most extraordinary pecularities are inflicted upon the children of the mother and this may extend to the body as well as mind.

सार यह है कि यहीं से बालक की नींव लगती है और यहीं से भारी सावधानी की आवश्यकता है। यह वह समय है जब हम सन्तान को इच्छानुसार बना सकते हैं-राष्ट्रोद्धारक भी और राष्ट्र घाती भी, शूरवीर भी और निराकार भी, परम चतुर और बुद्धिमान भी व महामूर्ख भी, मृत्यु तक स्वस्थ रहने रहने वाला भी व सदा रोगी भी, सुन्दर भी और असुन्दर भी, देवतुल्य भी व कंस रावण सा दानव भी। सार यह है कि जैसे भी आचार, विचार, भावनायें, कार्य व आहार विहार माता पिता के होंगे, वैसी ही सन्तान होगी। आदि मानव मनु की भी यही राय है कि—यादृश्यं भजते ही स्त्री, सुतं सूते तथा विधम्।

गर्भ स्थिति के बाद स्त्री का मासिक श्राव बन्द हो जाता है और गर्भ धीरे धीरे बढ़ता है। जितने दिनों के अन्तर से स्त्री रजस्वला होती है उससे दश गुने दिनों में बच्चा पैदा हो जाता है। बहुत सी स्त्रियों का आर्तव कालान्तर २८ दिवस का होता है। इसीलिए बालक २८×१०=२८० दिन में पैदा हो जाता है। यदि यह कालान्तर २७ या २९ या पूरा ३० दिनों का होता है तो बच्चा २७०, २९० या ३०० दिनो में पैदा होता है। किसी किसी समय रोग के कारण गर्भ की पहिचान कठिन हो जाती है।

गर्भकाल मे कई एक गड़बड़ियों की वजह से गर्भस्राव व पात का भी डर रहता है। इसीलिये ऐसी स्थिति से बचने के लिए शास्त्र वचन का पालन करते हुये हर प्रकार की सावधानी बरतनी चाहिए। कभी कभी गर्भ सूख भी जाता है। ऐसा होने पर अन्य सावधानियों के साथ कुछ फलप्रद चिकित्सा भी करानी चाहिए। कभी कभी कुपित वायु गर्भाशय द्वार को रोककर गर्भ का श्वास बन्द कर गर्भगत जीव को मार भी देता है। ऐसा हो जाय तो अविलम्ब उसे बाहिर निकाल दे वर्ना गर्भिणी की जान पर आ बनेगी।

प्रसव के समय भी सावधानी की पर्याप्त आवश्यकता है वर्ना प्रसव विलम्ब होकर गर्भ व गर्भिणी दोनों के लिए खतरनाक होगा। प्रसव के वक्त होशियार धाय या नर्स व सम्पूर्ण आवश्यक सामान, शास्त्रीय ढङ्ग का सूतिकागार व चतुर स्त्री वैद्या की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए ताकि प्रसव सुरक्षित हो। प्रसव के समय कुछ आवश्यक ऐसे कार्य हैं जिनका प्रभाव बालक के समस्त जीवन पर पड़ता है। जिन्हे ध्यान से अवश्य कर लेना चाहिए क्योंकि साधनो, संस्कारो एवं समुचित परिचर्या व सावधानियों का प्रभाव उसके आगामी जीवन पर बहुत जबरदस्त पड़ता है। उदाहरण के तौर पर एक दो उपायों पर प्रकाश डाला जाता है।

—शेषांश पृष्ठ ३१ पर।

सृष्टि और मानव

कविराज श्री हरिकृष्ण सहगल

हम यह विचार कर रहे हैं कि शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन क्या है ? और संसार के अन्य वैज्ञानिक यह निश्चय करने में संलग्न है कि सृष्टि का विकास कैसे हुआ ? सर्व प्रथम प्राणों का सञ्चार कब और किस में हुआ।

इसमें संशय नहीं कि हमारे शास्त्र कहते हैं कि सर्व प्रथम ब्रह्मा के दायें भाग से स्वयम्भू मनु और बायें भाग से शतपुष्पा का निर्माण हुआ और उसके बाद योनि द्वारा मानव जन्म होने लगा परन्तु इस विषय के साथ अमृत मंथन की कथा का बहुत गहरा सम्बध है। जन्म देने वाली अप्सरायें तथा लक्ष्मी समुद्र से आई थीं। धन्वन्तरि सा देव पुरुष समुद्र जल से निकला था।

इस भू मण्डल का ¼ भाग स्थल और ¾ भाग जल है, समुद्र कहीं कहीं पर पाच छै मील तक गहरा है।

जापानी लोग अपनी उत्पत्ति मछलिओं से मानते हैं। मेरीन लैंड फ्लोरिडा में ऐसी मछलियां होती हैं जो बच्चों को दूध पिलाती है। यह मछलियां मनुष्यों के समान सोचती है, आवाज की नकल करती हैं, हमारे समान रोती और हंसती हैं।

जल परियां जिन्हे अंग्रेजी मे (Letrmeria chalumnae) कहते है उनका अर्द्ध ऊपर का शरीर भाग मनुष्यों की तरह का तथा निचला भाग मछली का होता है। इतिहास मे लिखा है कि कामरूप के राजा कुमार भास्कर ने महाराज हर्ष वर्द्धन को जो पुरस्कार भेजे थे उनमें एक जल परी भी थी।

पाठक आप सोचते होंगे कि शिशु रोगांक मे विषय तो शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन है और सहगल ने यह क्या समुद्रों की चर्चा चला दी है। यह ठीक है कि हमने जो भूमिका बांधी है उसका विषय से स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई नहीं देता परन्तु हम जो कुछ बताने जा रहे हैं उस विषय को समझने मे इससे आपको सहायता मिलेगी।

शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन तो हम प्रसूति विज्ञानांक में भ्रूण की आत्मकथा में लिख चुके हैं। आज हमें उससे पूर्व के जीवन पर कुछ कहना है।

इस संसार में जीवन का आरम्भ कैसे हुआ यह एक बहुत ही कठिन प्रश्न है। सर्व प्रथम जीवन के चिन्ह समुद्र में उत्पन्न हुए थे। (अलंकारिक भाषा मे अमृत मंथन की कथा में इसका वर्णन है।)

लगभग दस करोड़ वर्ष के पूर्व काल को स्पंज का का काल कहा जाता है। वही स्पंज जिसके टुकड़े से स्कूलों के बच्चे स्लेटें साफ किया करते हैं। समुद्र के नीचे ऐसे प्राणी हैं जिनके शरीर इंच के सौवे भाग के बराबर है और वह समुद्र की नन्हीं सीपियों को भी देव समझते है। यह जीव बाल बराबर पतली नलियों से अपना पेट भरते है। करोड़ो अरबों वर्ष पूर्व यही जीव विद्यमान थे। इनके मिलने से स्पंज की रचना हुई है। इसके बाद सीपियों के कवच बने। आप कह सकते है कि सर्व प्रथम जीवन के चिन्ह इन सीपियो मे उत्पन्न हुए थे।

समुद्र मे सीपी से उन्नति करते करते जल परियो और मानव की उत्पत्ति हुई। इसी बात को अमृत मंथन की कथा मे अलंकारिक भाषा मे लक्ष्मी और भगवान धन्वन्तरि के अवतरण को कह कर दर्शाया गया है।

जल केवल जल जीवों का ही प्राण नहीं, यह जितना जल जीवों का है उतना ही यह मानवों का भी है। मानव जल से आया है। जल दो



भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजन के मिलाप से उत्पन्न होता है। यह मानव का आवश्यक भोजन है। रक्त, श्लेष्मिक स्रावों, पाचक रसों तथा पित्त सब में जल ही तो होता है, पसीना मल तथा मूत्र में जल ही तो शरीर से निकलता है। किसी को ले जाना, कहीं पहुचने देना यह सर्व कार्य जल ही तो करता है। वायु तो जल के बिना ऐसा है जैसे मोटर बिना ड्राइवर। समुद्र से उत्पन्न मानव का सम्बन्ध आज भी जल से पूर्ववत बना हुआ है। यही जल भ्रूण तक भोजन ले जाता है तथा उससे मलों को निकालता है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि कठिन से कठिन पदार्थों में भी बहुत कुछ जल होता है। किशमिश में जल १४.२ प्रतिशत, छुहारों में १५.१ प्रतिशत, अंजीरों मे २२.२ प्रतिशत, सूखे मेवों में २८ प्रतिशत, केलों मे ७५ प्रतिशत, अंगूरों मे ७७.३ प्रतिशत, आलुओं में ७८.२ प्रतिशत, मछली मे ४१ प्रतिशत, सेबों मे ८५ प्रतिशत, गाजरों मे ८८.२ प्रतिशत, संतरों मे ८६.१ प्रतिशत, लीचू मे ८१.२ प्रतिशत, नाशपाती मे ८६.४ प्रतिशत, बन्दगोभी मे ६१.५ प्रतिशत, पालक मे ६२.३ प्रतिशत, कद्दू मे ६३.१ प्रतिशत आदि वनस्पतियां समुद्री घास की सन्तानें हैं। इसीलिए अब भी उनमें जल है और उनका पोषण जल द्वारा होता है।

आओ अब जल की बात को छोड दें और स्थल की बात सोचे।

एक अरब वर्ष पूर्व इस भूमि पर न कोई वनस्पति थी और न कोई जीव था। इसके बाद जो जीव आये उनमें समुद्री कीड़ो के समान कोई अस्थि न थी। उनके शरीर लिचलिचे थे। अब इनका कोई अस्तित्व नही रहा।

करोडों वर्षों के बाद अस्थियों वाले तथा कठोर शरीरों के जीवों की उत्पत्ति हुई, यह जीव भी मर गये। इनके ढांचे और पंजर यूरोप के अजायबघरों में पड़े है। इनमे से जिनके कंकाल दबकर सुरक्षित रह गये उन्हीं से आज से १० करोड़ वर्ष पूर्व के जीवों का परिचय मिलता है।

इन कंकालों से मालूम हुआ कि आठ करोड़ वर्ष पूर्व बहुत बडे देवकाय और भारी जीव रहते थे। इनमें अधिकांश का भार १००० मन से भी अधिक होता था। अगर यह अपनी पिछली टांगों पर खड़े होजायेंतो पार्लियामेंट हाउस दिल्ली जितने ऊंचे होते थे। चलते फिरते रोडरोलर थे, जब यह दौड़ते तो एक भूकम्प प्रतीत होता और गर्जते तो बादलों की गड़गड़ाहट मालुम होती थी। इनका अन्डा १०० फुट परिधि का होता था और इन्हें रैपटाइल्स जाति का कहा जाता था। इनके युग को छिपकली युग कहा जाता है। और इन जीवों को डी-नो-सार के नाम से याद किया जाता है। डी-नो-सार की लगभग ५०० किस्में थीं। डी-नो-सार का छोटा रूप गोह है। अभी जुलाई १९६१ मे दिल्ली के लाजा सिनेमा मे इन्हों पर एक अमेरिकिन फिल्म (जिसे हम भूल चुके है) दिखाई गई थी।

डी-नो-सार में से ऐलुसारस ३० फुट से अधिक लम्बा था। ब्रोनियो सारस ६० फुट लम्बा था। इसका भार १००० मन था, यह ऐलुसारस के समान मांसाहारी न होकर शाकाहारी था। सटगो सारस भी झाड़ियां खाता था। टर्नियो सारस बहुत भयानक था। इन सबके पूर्वज जल से आये थे। और सीपी से उन्नति करते करते इस देवकाय अवस्था तक पहुँचे थे।

आइये अब आपको हम बताते है कि वनस्पतियों का काल कब आरम्भ हुआ? न जाने कब की बात है, किसी समय मे एक छोटा सा गोला समुद्र में जा गिरा, और जल से शक्ति प्राप्त कर उसे जीवन मिल गया। यह गोला एक बीज था। इस एक बीज से असंख्य वनस्पतियों की रचना हुई। अनुमान लगाया गया है कि केवल फूल ही संसार मे ढाई लाख प्रकार के है।

इस समय सब से पुराना पौदा समुद्री घास है। सम्भव है कि यह स्थल की वनस्पतिया इसी की

सन्तानें हों। कुछ समय हुआ भूमि के नीचे चट्टानों से एक दो फुट चौड़ी जड वाले पत्तों का कंधा निकला था। वैज्ञानिकों ने उसकी ३७ करोड़ वर्ष की आयु का अनुमान किया। देखने में यह समुद्री घास जैसा था। दलदलों में से इसके समान प्राचीन और इससे छोटे पौदे मिले हैं।

भूगोल को पढ़ने से आपको मालूम होगा कि यूरोप में एक *Ice sheet* वर्फ का काल हुआ है। उस वर्फ के काल में उत्तरीय यूरोप के पौदे नष्ट हो गये। आज से सात आठ हजार वर्ष पूर्व जब सर्दी कम हुई तो नवीन प्रकार के पौदों की उत्पत्ति हुई। इसके बाद भयानक वर्षा का काल आया और फिर वनस्पतियां नष्ट होगई। इसके बाद जब शुष्कता आई तो बाजरा, मक्का और गेहू का युग आरम्भ हुआ।

पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि वानर से उन्नति करता हुआ मानव अपने आधुनिक रूप में आया है। वीर्य कीट और डिम्ब के मिलाप पर अपने कार्यों से प्रेरित जीवात्मा गर्भ में प्रवेश करता है ऐसा हम शास्त्रों में पढ़ते हैं, परन्तु इसको आधुनिक रूप कब मिला यह एक जटिल प्रश्न है। अनेक धर्मों में इसको अलग अलग ढंग पर बताया गया है।

वेद में आता है कि वह कौनसा महान कारीगर है जिसने इस शरीर की रचना की है। ज्यों-ज्यों इस शरीर को देखें आश्चर्य होता है कि कैसा बना दिया इसको इतने छिद्र हैं इसमें। इस पर भी भीतर का जीव भाग कर कहीं नहीं जाता।

तीसरे उपनिषद में कथा आती है कि जब संसार में सब शरीर बन चुके तो ऋषियों और योगियों के सूक्ष्म शरीर इस संसार में आये, ईश्वर के बनाये सर्व शरीरों को उन्होंने देखा। अन्त में उन्होंने मानव शरीर को देखा। देखते ही बोले यह प्रिय है, सुन्दर है। और तब उसके भीतर प्रविष्ट हो गए। तभी से शरीर को ऋषि भूमि कहा जाता है। —कविराज श्री हरिकृष्ण सहगल,
बगीची अलाउद्दीन, दिल्ली।

:: पृष्ठ २८ का शेषांश ::

(१) नाल काटते (नाल-छेदन) वक्त बालक की नाभि मे कटे हुए नाल पर बादाम के छिलके का कोयला और उत्तम कस्तूरी समभाग बारीक पीसकर अच्छी तरह बुरक देने से नाभिपाक व डिब्बा मर्दी के रोग व उदर सम्बन्धी व्याधियों से बालक हमेशा सुरक्षित रहेगा—

(२) असली खालिश शहद थोडा थोड़ा बच्चे के प्रत्येक अङ्ग को पैदा होने के दिन ही मालिश करवा दे। फिर घण्टे भर बाद रुई से पौछ कर गुनगुने पानी से स्नान करादे। अकाल मृत्यु से बच्चे बचे रहेंगे। यदि प्रसव होते ही बच्चे के मुंह में खालिश शुद्ध शहद एक अंगुली लगादें व ललाट पर सोरपङ्ख से ॐ अङ्कित कर दे तो भी आयु बढ़ेगी व अकालमृत्यु दूर रहेगी।

(३) प्रसव के बाद एक माह के भीतर भीतर एक अबीध मोती बच्चे को निगलवा दिया जावे तो बच्चा माता, सूखा, मोतीझरा आदि आदि से बचा रहेगा। यदि इन रोगों का आक्रमण होगा भी तो बहुत हल्का होगा।

प्रसव के बाद भी माता के आहार बिहार तथा पालन-पोषण व्यवस्था का शिशु पर गम्भीर प्रभाव पडता है। किसी भी देश का गौरव, धनधान्य, प्रगति तथा समृद्धि वहां के स्वस्थ, सुगठित, बुद्धिमान व कर्मठ बालकों पर ही निर्भर है। पर दुःख है कि राष्ट्र के सच्चे कर्णधार एवं उदीयमान नागरिकों के समुचित प्रतिपालन पर हमारे देश में ध्यान नहीं दिया जाता है एवं माताओं के मार्गदर्शनार्थ साहित्य की बड़ी कमी है। शिशु प्राशन की व्यवस्था इसलिए शास्त्र सम्मत होनी चाहिए। ऐसा न होने पर बालक को विभिन्न प्रकार के रोग हो जाते हैं। बडों को होने वाले प्रायः सभी रोग बालकों को हो सकते हैं जिन पर प्रकाश डालना इस लेख का विषय नहीं। —श्रीमती इन्दु एम० ए०
द्वारा श्री डा०ताराचन्द लोढ़ा, किशनगढ (राज०)

शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन

श्री पं० चन्द्रप्रकाश शास्त्री प्रभाकर आयुर्वेदाचार्य

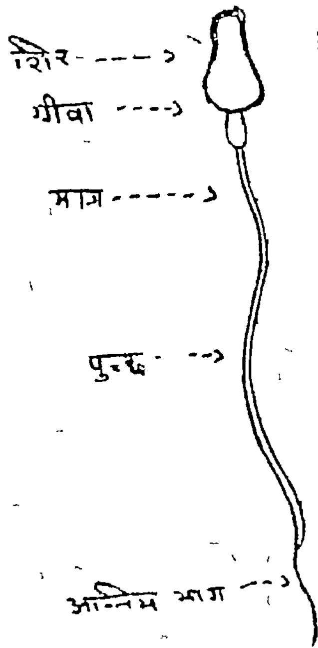


आयुर्वेद मे आयु भर का ज्ञान (सांइस आफ लाइफ) निहित है। मानव की आयु जन्म से मृत्यु तक तो सभी जानते हैं। परन्तु जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् की अवस्था को भी भारतीय ऋषियों ने भली प्रकार बतलाया है।

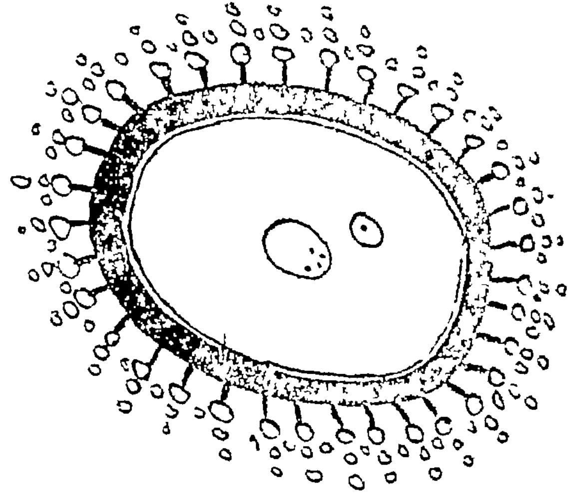
यह सूक्ष्म शरीर का जीवात्मा चौरासी लाख योनियों से चक्कर खाने के बाद अपने कर्मानुसार पुरुष के वीर्य का आश्रय लेकर गर्भाशय मे आता है। इसमे रज और वीर्य के संयोग से पूर्व इनका शुद्ध होना परमावश्यक होता है। क्योकि—

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भ स्याद् विधिपूर्वकः।
ऋतु क्षेत्राम्बु बीजानां सामग्र्याद् अङ्कुरो यथा॥

अर्थात् ऋतु (मासिक धर्म या गर्भस्थिति के योग्य समय), क्षेत्र=गर्भाशय, जल=अन्न रस, बीज=वीर्य और रज के समूह से ही अंकुर उगने के समान विधिपूर्वक गर्भ होता है। इसके लिये कई बार कितने ही प्रयत्न करने पड़ते है। औषधियां रज वीर्य और गर्भाशय की शुद्धि के लिए सेवन करनी पडती हैं। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा मे हरिवंश पुराण की कथा सुनना, शतचडी का विधान करना और भक्ति से शिवजी का पूजन करना होता है। इन उपायों के अनन्तर गर्भाधान सस्कार करके पुत्रोत्पन्न किया जाता है। क्योंकि पुं का अर्थ है नरक सो जो नरको से माता-पिता की त्र=रक्षा करता है। इसलिए इसे पुत्र कहते है। प्रभु की माया विचित्र है। किसी के घर मे पुत्रो की बहुतायत है तो कोई पुत्र तो कोई पुत्री के लिए भी तरसते है। सुश्रुत ने वीर्य की अधिकता मे पुत्र तथा रज की शक्ति की अधिकता मे पुत्री का होना कहा है। मासिक धर्म की युग्म रात्रियों मे गर्भाधान से पुत्र और विषम् रात्रियों मे कन्या की उत्पत्ति होती है। ऋतुधर्म के एक सप्ताह मे पापी या मलिन आशय का जीव आता है। ११ वीं और १३ वीं रात्रि निन्दित है। एक सप्ताह के पश्चात् सोलह रात्रि तक जितना बाद में हो उतना अधिक धार्मिक होता है। इसमे भी चौदहवीं रात्रि के गर्भ से गुण और भाग्य का निधि धर्मात्मा और अलौकिक जीव उत्पन्न होने के लिए आता है। मैथुन के समय मे पिता के तथा गर्भावस्था में माता के विचारो का भी प्रभाव शिशु के जीवन पर पड़ता है। इसके लिए श्री अभिमन्यु का चक्रव्यूह जानना एक सर्वविदित उदाहरण है।



चित्र न १—शुक्रकीट और उसकी रचना


चित्र नं. २—स्त्री बीज की रचना

गर्भावस्था की पहिचान—

गर्भस्थिति हो जाने पर मैथुन के पश्चात्

तत्काल ही स्त्री को श्रम (थकान), ग्लानि, प्यास, हृदफूटन और योनि में फड़कन होती है। आर्तव का आना बन्द हो जाता है। उससे गर्भ के अपराद्रि का पोषण होता है। स्तनो के अग्रभाग पर कालापन छा जाता है। पेट पर बालों की पंक्ति सी उठी दिखाई देती है। नेत्रों की पलके विशेष भिंचती सी हैं। विना कारण के वमन या प्रात. वमन होने लग जाता है। सुगन्धि भी बुरी लगती है। थूक अधिक आता है। रस और वायु के निमित्त से पेट बढ़ने लग जाता है। अमरूद या नाशपाती के आकार वाले गर्भाशय का मुख (अग्र-भाग) गर्भ के धारण किये विना तो नासिका के अग्रभाग जैसा कठोर होता है। परन्तु गर्भ हो जाने पर वह होंठो के समान कोमल हो जाता है।

गर्भावस्था मे मैथुन से बचाव करना और माता को पुष्टिकारक भोजन देना परम आवश्यक होता है। गर्भावस्था मे स्थित शिशु के लिये उप-योगी आहार विहार का ही प्रयोग माता को करना चाहिए।

गर्भ की क्रमशः वृद्धि

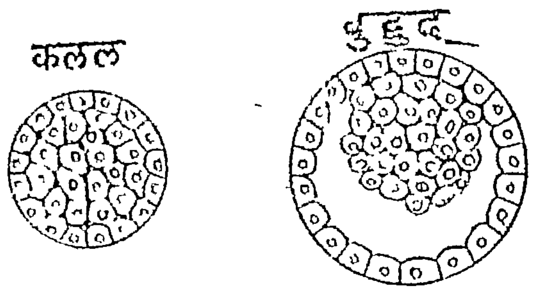
प्रथम रात्रि में —

भ्रूण बनने या गर्भ में आने के लिये सूक्ष्म शरीर के साथ डिम्ब प्रणाली से छोटे गोल या बादाम के आकार के १ इंच के १/१०० भाग वाले पीले और अन्दर से श्वेत आवरणों से युक्त डिम्ब में, लम्बी पूंछ वाले १/६०० इंच लम्बे वीर्यकीट के के रूप मे प्रवेश करके प्रोटोप्लाज्म और मींगी परस्पर मिल जाते है। मींगियां १ से २-४-८ बढ़ती और फटती हुई क्रोमोटीन तथा छोटे छोटे टुकड़े V अक्षर के समान क्रोमोसोम्स बनते जाते है। क्रोमोसोम्स १० की सख्या मे सैंट्रोसोम १ से २ बढ़ते बढते अंगूर के गुच्छे के समान एकत्रित होकर १ रात्रि मे सेल समूह = कलल (कीचड़) के रूप मे हो जाते है।

यदि वीर्य कीट के प्रवेशानन्तर डिम्ब का छिद्र शीघ्र बंद न हो तो अन्य कीटो के आजाने पर वायु की कृपा से जुड़वां बच्चे अथवा अप्राकृतिक शिशु उत्पन्न होने के लिये बन जाते है।

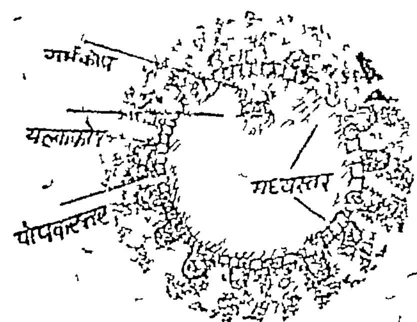
गर्भाशय स्थित शिशु पांच रात्रि में —

गर्भाशय की रक्त वर्ण की श्लैष्मिक दीवार में



चित्र न. ३—भ्रूण की क्रमश उत्पत्ति

पहुँच कर गर्भ चिपक जाता है और इञ्च के १/२०० का रूप धारण करता है। अन्दर से रिक्त स्थान मे तरल भरने लग जाता है और बाहर से सैलें फैलने



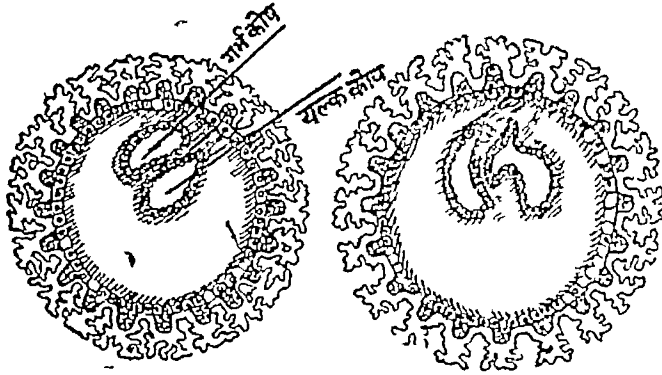
चित्र न. ४—भ्रूण की क्रमश उत्पत्ति

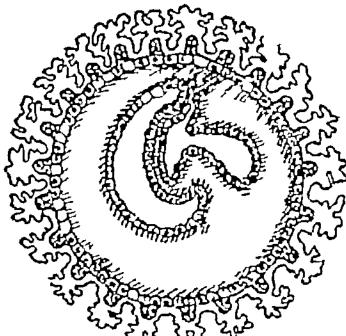
लग जाती है। इस प्रकार ५ या ७ रात्रि मे बुद्बुद (बुलबुले) जैसा हो जाता है। फिर बाह्यकला बढ़ने पर छोटे छोटे बालों जैसे अंकुर उस भ्रूण पर उत्पन्न हो जाते है जो उसके पालन-पोषण, जीवन और वृद्धि के लिये सहायक होते है।

दश दिनों में—

भ्रूण (गर्भ) दश दिन मे बेर जितना बनता है। फिर इसके बाद पुरुष (पुत्र) हो तो अंडाकार पिंड जैसा

होता है। यदि कन्या (स्त्री) हो तो पेशी के आकार का एवं नपुंसक हो तो अर्बुद (आधे कटे अंडे) के





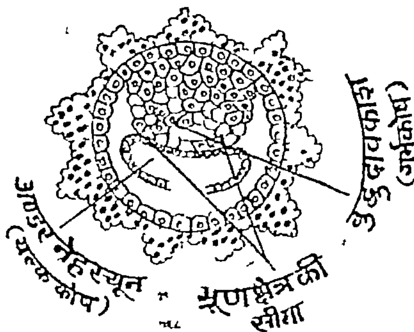
गर्भकोष यल्क कोष के ऊपर धीरे धीरे आवरण बन रहा है। यल्ककोष कुछ लम्बोतरा हो रहा है जो आगे चलकर अन्न प्रणाली और महास्रोत को जन्म देगा ॥

चित्र नं. ५—भ्रूण की क्रमश. उत्पत्ति

समान होता है। लंबाई १/४ इञ्च होती है और हृदय का चिन्ह भी बन जाता है।

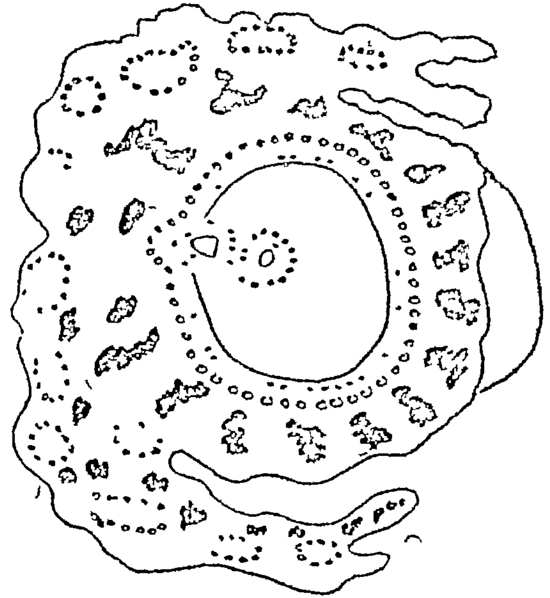
एक मास में—

१ मास मे शिर बन जाता है। तथा उसमे



चित्र न ६—स्त्री बीज गर्भकला के अन्दर

मस्तिष्क, नेत्र, कर्ण भी बन जाते है। फेफड़े, क्लोम एवं हृदय के दो भाग बन जाते है। लंबाई १/१० इञ्च और वजन (भार) १½ माशे हो जाता है। गर्भ वस्ति मे ही स्थिर रहता है। इस चौथे पाचवें सप्ताह मे गर्भोदक भी बनने लग जाता है जो शिशु के उत्पन्न होने तक लगभग २ किलो तक बढ़



चित्र न ७—गर्भकला और भ्रूणावरण (द्वितीय मास)

जाता है। इसी मे गर्भाशय के अन्दर शिशु तैरता सा रहता है।

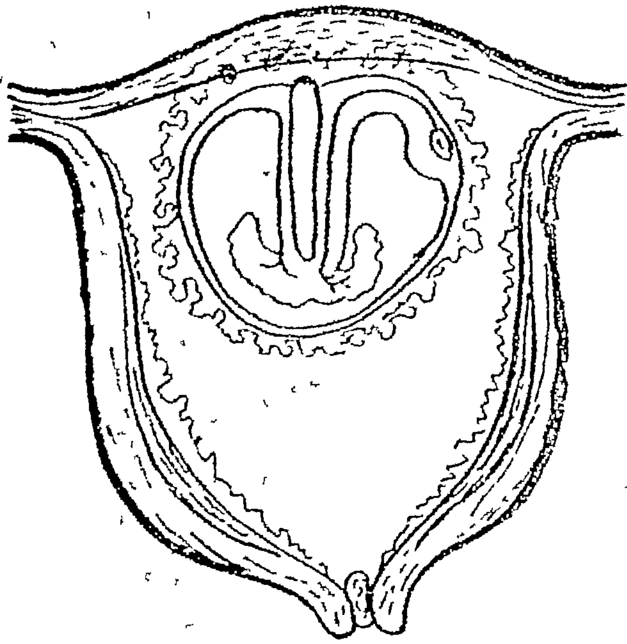
दो मास में—

२ मास मे बाहु आदि अंगो का विभाग बन जाता है। तथा गर्भ पेट की दीवार को छूने लग जाता है। द्वितीय मास मे धमनी, शिरा, जबड़ा, हसली बनने लग जाते है। नेत्र, कर्ण, नासिका, सुषुम्ना. शिर, कपाल, तालु, जिह्वा एवं धड़, पसलिया, तिल्ली, पित्ताशय. वृक्क, उपवृक्क, अण्डकोष और मूत्राशय बनने और बढ़ने लग जाते है। लंबाई ¾ इञ्च और वजन ४ माशे हो जाता है।

तीन मास में—

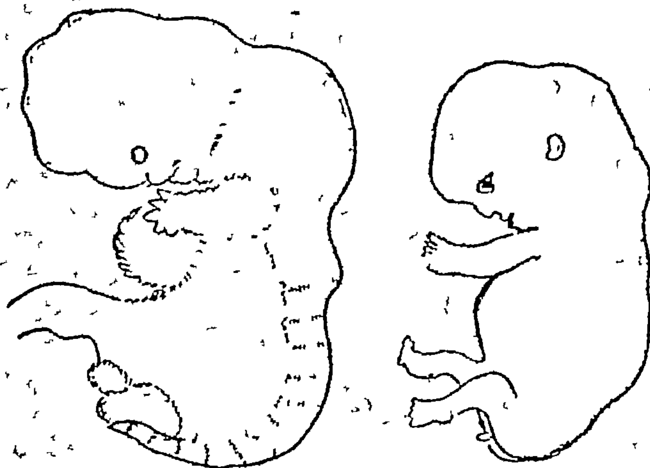
३ मास मे—नख, रोम, अस्थि, चर्म, लिंग-छिद्र

की उत्पत्ति होती है। पुत्र और पुत्री का चिन्ह इसी मास मे उत्पन्न होता है। इसीलिये इस मास में ऋषियों ने पुंसवन संस्कार बतलाया है। जिसमें



चित्र नं. ८—पांचवें सप्ताह का भ्रूण

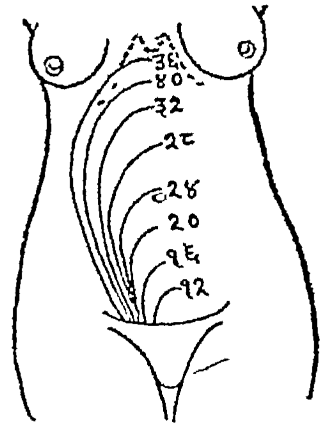
पुत्रोत्पत्ति के लिये स्त्री दक्षिण नासिका में एवं कन्या की इच्छा से वाम नासिका में पूर्व या उत्तर दिशा की ओर की शाखा से वटांकुर, श्वेत सरसों, उड़द, गिलोय, ब्राह्मी आदि का रस निकालकर पुष्य या पुरुष नाम के नक्षत्र में प्रयोग किया जाता है। औषधि



चित्र नं. ९—आठवें सप्ताह का भ्रूण

रूप में सूर्य तत्व को बढ़ाने के लिये मोरपंख के चंदे की भस्म गुड़ में मिलाकर अथवा हजरुलयहूद (पाषाण हृदय), स्वर्णभस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म एवं शिवलिंगी के बीज, पलाशांकुर और लक्ष्मणादि का प्रयोग होता है। फल घृत भी खिलाया जाता है। गर्भ की रक्षा के लिये मुक्ताभस्म, स्वर्णभस्मादि आंवले के मुरब्बे में तथा गर्भपाल रस और गर्भचिन्तामणि

विभिन्न सप्ताहों में
गर्भाशय का गर्भिणी में उत्थान



चित्र नं. १०

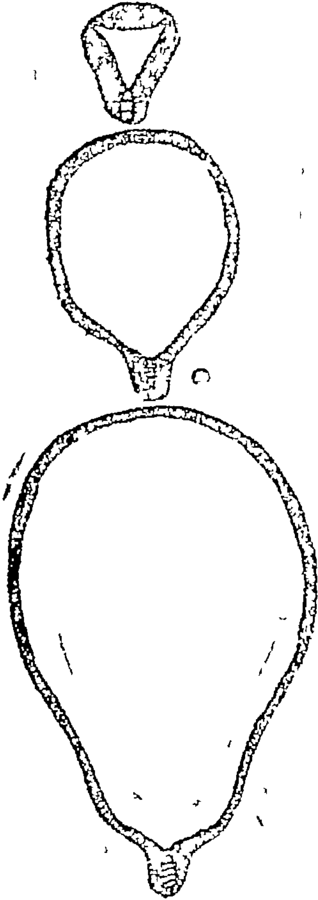
रस देने होते है। चिन्ता, उपवासादि छोड़ने पड़ते हैं। तृतीय मास मे अपरा बन जाती है, जो डेढ़ मास से बननी प्रारम्भ होती है। माता के स्तनों में दूध भी उत्पन्न होजाता है। लबाई ३ इञ्च और वजन डेढ तोला होजाता है। नाल लगभग २२ इञ्च लंबी और आधी इंच मोटी होती है। यदि नाल १५ इंच से छोटी हो तो प्रसव मे देरी होती है। नाल में प्राय. १० चक्कर होते है।

चतुर्थ मास मे—

४ मास मे—रस, रक्तादि सातो धातुओं की क्रमशः उत्पत्ति होती है। त्वचा के नीचे वसा आ जाती है। लम्बाई ५-६ इञ्च और वजन १० तोले होता है। गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा भगसन्धि से नाभि के मध्य तक बढ़ जाता है। चतुर्थ मास



से स्त्री द्वि हृदया होने के कारण दौह्लदिनी कहलाती है। इसमें उसकी इच्छाओं को सम्भवतः अवश्य पूरा करना चाहिए। नहीं तो उन उन अङ्गों की इच्छायें पूरी न होने पर उनमें विकार हो जाते है। गर्भावस्था के ४ मास तक के रक्तस्राव को गर्भस्राव और ४ से ६ या ७ मास तक को गर्भपात कहते हैं। (गर्भस्राव या पात की चिकित्सा के लिए धन्वन्तरि का नारीरोगाङ्क देखिए) गर्भ के चौथे मास मे शिशु जब अपने हाथ-पांव हिलाता है तो माता के पेट मे धक्का सा लगता है। कष्ट और पीडा होती है एवं गर्भ गिरता मालूम पडता है परन्तु गिर नहीं रहा होता।



चित्र न ११—प्रथम, चतुर्थ एव नवम् मास में गर्भाशय के आकार में क्रमशः परिवर्तन

पंचम मास में—

पांचवे मास मे गर्भाशय में स्थित शिशु को भूख-प्यास आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जिसके लिए कमल और नाल उसकी पूर्ति करते है। परन्तु मल मूत्रादि का त्याग अन्दर नहीं होता। शिशु के हृदय स्पन्दन की ध्वनि स्टेथिस्कोप आदि द्वारा स्पष्ट सुनाई देती है। गर्भाशय स्थित शिशु का हृदय एक मिनट मे १२० से १४० तक गति करता है। उसकी हृदय गति सुनाई देना जीवन का चिह्न है। एक्सरे से भी उसके दर्शन हो जाते है। परन्तु गर्भावस्था मे पारदर्शक यन्त्र एक्सरे की किरणों को पार करने मे गर्भाशयस्थ शिशु की जीवनीय नाडियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए गर्भावस्था मे सम्भवतः एक्सरे नहीं कराना चाहिए। पंचम मास मे लम्बाई ८ या १० इञ्च हो जाती है और भार २१ तोले होता है। नाल एक फुट हो जाता है। गर्भ नाभि से २ इञ्च नीचे तक पहुंच जाता है।

षष्ठम मास में—

जरायु से आवृत हुआ माता की दक्षिण कोख मे भ्रमण करता है। बन्द नेत्रो पर पलकें बनने लग जाती है। लम्बाई लगभग १२ इञ्च हो जाती है। गर्भ नाभि तक पहुच जाता है। छठे या आठवे मास मे सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता है। छठे मास का उत्पन्न शिशु कुछ ही घण्टे जीता है।

सप्तम् मास में—

सातवें महीने मे गर्भोदक मे तैरता हुआ एक स्थान पर ऐसे स्थिर नहीं रहता, जैसे विष्टा का कृमि एक स्थान पर स्थिर नहीं होता है। इस प्रकार चेष्टा करता हुआ (पौराणिक आधार पर) वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

हे श्रीपति, जगत् के आधार, मैं आपकी शरण हूं। हे प्रभो आपकी माया से मोहित हुए मैंने शरीर, पुत्र, स्त्री आदि मे मोह किया। अच्छे और बुरे कर्म किये। परन्तु जिनके लिए मैंने सब कुछ किया वे अब मेरे साथ नहीं है। यहा तो मैं अकेला ही दु:ख पा रहा हूं। जठराग्नि मुझे जला रही है। कीड़े सता रहे हैं। अपने अङ्गों को भी नहीं हिला पा रहा हूं। बहुत ही दुखी हू। इस पिंजरे से आप मुझे कब छुडायेगे? भगवन्! अब मैं बाहिर आने पर भक्ति ज्ञान उपासनादि ऐसे उपाय करूंगा जिससे मैं आवागमन के चक्कर से छूट कर मुक्ति प्राप्त करूं।'

गर्भाशय मे स्थित शिशु को उस समय पौराणिक गाथाओं के आधार पर सौ जन्मो का ज्ञान

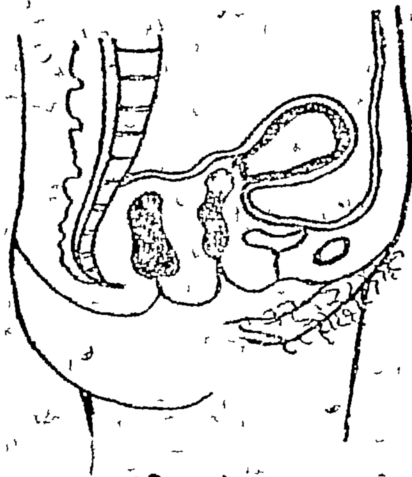


होता है जो बाहिर आने पर नहीं रहता। उसी ज्ञान के चले जाने के कारण ही शिशु उत्पन्न होते ही रोता है। उस समय यदि न रोवे तो पीठ पर हल्की हल्की थपकियां मारी जाती हैं। कृत्रिम श्वास की प्रक्रिया की जाती है। जरायु को गर्म तवे आदि पर तपाया जाता है। पत्थरों के टकराने आदि का शब्द शिशु के कानो के पास किया जाता है। उसे गर्म और ठण्डे जल में डुबोया या नहलाया

है। परन्तु अष्टम मास प्रसव के लिए कष्टदायक ही है। अष्टम मास मे गर्भ बढ़ता हुआ उरोऽस्थि के नीचे तक आ जाता है।

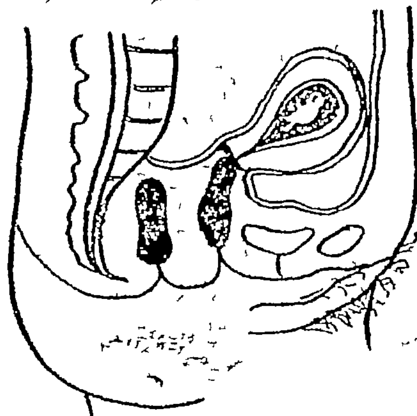
नवम मास में—

नवम मास मे लम्बाई २० इञ्च और वजन लगभग ५ पौंड हो जाता है। गर्भ उरोऽस्थि का स्पर्श कर लेता है। फिर दशम मास मे नीचे को



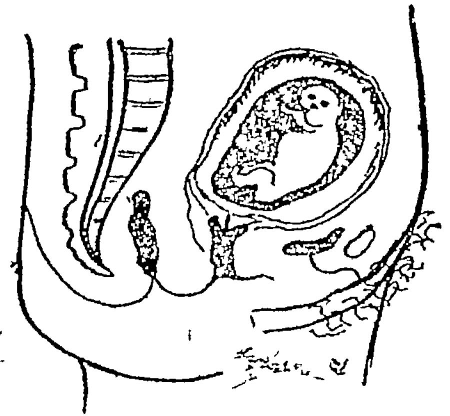
चित्र नं. १२

द्वितीय मास के अन्त की गर्भावस्था,



चित्र नं. १३

तृतीय मास के अन्त की गर्भावस्था,



चित्र नं १४

चतुर्थ मास के अन्त की गर्भावस्था।

जाता है। उस समय शिशु का रोना श्वास प्रक्रिया को चालू करना होता है। नहीं तो शिशु की मृत्यु हो जाती है और श्वास फेफडो मे न जाने के कारण उस मृत शिशु के फेफडे जल मे डूब जाते हैं अन्यथा श्वास लेने के बाद मृत के फेफड़े जल मे तैरते हैं। सप्तम मास मे गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा नाभि से २½ इञ्च ऊपर तक पहुंच जाता है।

अष्टम मास में—

आठवे महीने मे ओज अस्थिर होता है। वह यदि माता की ओर हो तो प्रसव हो जाने पर शिशु की मृत्यु हो जाती है और यदि वह ओज बालक की ओर हो तो माता मर जाती है। इसलिए सातवें मास का कृश, परन्तु भाग्यशाली शिशु अथवा नवम् मासादि का बच्चा तो जीवित रहता

ढलक कर आ जाता है। ९ से १२ मास तक भी गर्भ से शिशु की उत्पत्ति हो सकती है। वैसे गर्भ मासिक धर्म अथवा गर्भ धारण दिवस से प्रायः २६-२८ दिनों के बाद बाहर आता है। उपविष्टक या नागोदर की अवस्था में भी प्रसव मे देरी लगती है। उपविष्टक मे गर्भस्थ शिशु सूखता जाता है और रक्तस्राव भी होता रहता है। परन्तु नागोदर मे रक्तस्राव के विना ही गर्भस्थित शिशु कृश होता हुआ देर से अथवा पौष्टिक आहार विहार औपधि आदि मिलने पर उत्पन्न होता है।

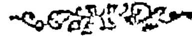
आचार्य सुश्रुत ने गर्भाशय स्थित शिशु के मातृज पितृजादि भाव भी इस प्रकार बतलाए हैं—

पितृज—पिता की ओर से आने वाले केश,

शेषांश पृष्ठ ४१ पर।

गर्भाशयस्थ-शिशुवृत्त

श्री मदनगोपाल वैद्य ए. एम. एस., एम. एल. ए.



अविकृत रज वीर्य के संयोग से गर्भाशय में गर्भ की स्थिति होती है। यह गर्भ चैतन्य तथा पंच महाभूत का एक संघात पिंड होता है। यह पिंड गर्भाशय के अन्दर कहीं संस्थित होकर गर्भाशय को अपनी आधार-भूमि बनाता है और गर्भाशय की श्लेष्मकला में अपरा का निर्माण होने लगता है जिससे यह गर्भाशय से संसक्त हो जाता है। नाभि-नाल द्वारा यह गर्भ अपरा से संलग्न रहता है। सम्पूर्ण गर्भ एक आवरण से ढका रहता है और इस आवरण के अन्दर एक तरल पदार्थ भरा रहता है जिसे गर्भोदक कहते हैं। इस प्रकार भ्रूण इस गर्भोदक रूपी क्षीर सागर में शयन करता रहता है जिसमें नाभिनाल कमलनालवत् तथा अपरा कमल पत्रवत् होती है, गर्भोदक क्षीरसागर के सदृश होता है। इससे सृष्टि का आरम्भ होता है। पुराणों में सृष्टि उत्पत्ति का यही रूप बतलाया है। क्षीरसागर में कमलनाभि से ब्रह्मा का जन्म या विष्णु जन्म होता है जिससे सृष्टि होती है।

गर्भस्थिति होने के बाद उसकी नाभि वृद्धि किस प्रकार से होती है इस सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य आयुर्वेद तथा उपनिषदों से भरा पड़ा है। गर्भस्थिति होने पर आर्तववह स्रोतस बन्द हो जाते हैं। इसी कारण प्राय सगर्भा को आर्तव-दर्शन नहीं होता। इस आर्तव रक्त से अपरा व दुग्ध का निर्माण होता है।

गर्भ की वृद्धि माता के आहार रस तथा वायु की धमन क्रिया द्वारा होती है। गर्भकाल में माता को आहार रस के प्रति विशेषाकांक्षा रहती है जिसको "दौहृद्" कहते हैं।

गर्भस्य खलु रस निमित्ता मारुताध्मान निमित्ता च परिवृद्धिर्भवति। —सु० शा० अ० ४

यह गर्भ की वृद्धि आहार रस से किस प्रकार होती है इस पर अनेक मत हैं। यथा—

(१) क्षीरदधिन्याय = क्रमपरिणामपक्ष
(२) केदारकुल्यान्याय
(३) खले कपोतन्याय
(४) एक कालधातुपोषण पक्ष

इसमें सुश्रुत सम्मत द्वितीय मत केदार कुल्या न्याय पद्धति से गर्भ शरीर का पोषण प्रायः सर्व सम्मत है।

केदार इव च कुल्याभि उपस्निह्यते आकुञ्चन प्रसारणादिभिर्विशेषैः।

खेत में सिंचाई के लिए जिस प्रकार नालियां बनाई जाती हैं और कुंये से या अन्य जलाशय से जब पानी डाला जाता है तो पानी प्रथम निकट की नाली में जाता है और क्रमश. दूर की नालियों में जाता है। इसी प्रकार गर्भ में भी गर्भ नाल से माता के शरीर से आहार रस द्वारा पोषकतत्व आते हैं और गर्भ के प्रत्येक भाग में नालियों के सदृश प्रत्येक स्रोतस में पहुंचकर सम्पूर्ण गर्भ की अभिवृद्धि व पोषण करते हैं।

गर्भ का पोषण आहार रस से होता है परन्तु इसकी वृद्धि में मारुताध्मान या वायु की धमन क्रिया भी बड़ी महत्वपूर्ण है। यह धमन क्रिया (१) आकुंचन (२) प्रसारण इन दो क्रिया का परिणाम होती है।

गर्भनाल अपरा से संसक्त रहता है। अपरा में माता के शरीर से रस व रज प्रवर्तक स्रोतसों के अवरुद्ध होने से इस आर्तव द्वारा भी गर्भ की समृद्धि होती है तथा दुग्ध का निर्माण होता है। गर्भनाल द्वारा गर्भ-पोषण प्रचुर मात्रा में होता है।

गर्भ के किस अङ्ग का कब निर्माण होता है इस सम्बन्ध में ऋषियों में पर्याप्त मतभेद हैं। इस सम्बन्ध में प्राय सर्वमान्य मत यह है कि शरीर के सभी अङ्गों की उत्पत्ति एक साथ होती है।



परन्तु सातवें मास में गर्भ का प्रत्येक अङ्ग सुस्पष्ट हो जाता है। और अष्टम मास मे चेतना का विकास होकर गर्भ सर्वाङ्ग सम्पूर्ण हो जाता है।

नाभि नाड़ी अपरा से संसक्त रहती है अपरा गर्भाशय से। धमनियों द्वारा गर्भ का सम्बन्ध हृदय से रहता है।

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाड़ी प्रतिबद्धा सास्य मातुराहार रस वीर्यमाभिवहति। तेनोपस्नेहेना-स्याभिवृद्धिर्भवति। उपस्नेहो जीवयति।

इस प्रकार माता के आहार रस, आर्तवरक्त तथा हृदयगत रक्त से गर्भ का पोषण होता है परन्तु अष्टाङ्गसंग्रहकार ने गर्भ के पक्वाशयस्थ कायाग्नि परिचित प्रसाद गुण बहुल धातु से भी गर्भ के पोषण की विधि बतलाई है—

अस्यनाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा, तस्यां मातृहृदयं ततोमातृहृदयादाहाररसो धमनीभि स्यन्दमानो ऽपरामुपैति। तत क्रमान्नाभि ततश्च स पुनर्गर्भस्य पक्वाशये स्वकायाग्निना पच्यमान' प्रसाद गुण बाहुल्याद्धात्वादि-पुष्टकर' संवर्धते। —अष्टाङ्गसग्रह

इस प्रकार से गर्भधारण से लेकर सप्तम मास पर्यन्त गर्भवृत्ति गर्भ विकास की वृत्ति होती है। सप्तम अष्टम मास में गर्भ सर्वाङ्गपूर्ण तथा चेतन्य युक्त हो जाने से उसकी वृत्ति एक पृथक जीव की भांति प्रारम्भ हो जाती है। सप्तम मास के पूर्व एक उसकी वृत्ति दौहृद के अनुकूल तथा माता के शरीर के अंग की भांति होती है परन्तु गर्भ में चैतन्यता आने पर उसका एक पृथक् जीव की भांति अस्तित्व होजाता है, और उसकी इन्द्रिय, मन व जीव की वृत्ति पृथक कार्य करने लगती है। भ्रूण का हृदय कार्य करने लगता है, उसके शब्द को श्रवण यन्त्र से सुना जा सकता है। पेट पर कान लगाकर भी यत्न से सुना जा सकता है। उसकी श्वास प्रश्वास, तथा निद्रा की क्रिया माता के श्वास प्रश्वास से जो शुद्ध वायु अन्दर जाती है, उसी से उसको प्राप्त होती है तथा अशुद्ध रक्त व मल माता के निःश्वास के साथ निकलता है। उसके हाथ पैर आदि जरायु तथा गर्भोदक से आच्छादित रहते हैं और वह गर्भोदक में तैरा करता है। आन्त्र की गति होती है परन्तु मलमूत्र का पृथक् निस्सरण न होकर माता के मल मूत्र मार्ग से ही भ्रूण का मल निष्कासित होता है। निश्चय ही भ्रूण शयन व जागरण करता है परन्तु इसका सम्बन्ध बहुत कुछ माता के शयन से होता है।

मलाल्पत्वाद योगाच्च वायो पक्वाशयस्य च।
वातमूत्रपुरीषाणि, न गर्भस्थ' करोति हि॥
जरायुणामुखेच्छन्ने कण्ठेच कफवेष्ठिते।
वायामार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थ प्ररोदिति॥
निःश्वासोच्छ्वास सक्षोभस्वप्नात् गर्भोधिगच्छति।
मातुर्निश्वासितोच्छ्वास सक्षोभ स्वप्न सभवात्॥

भ्रूणावस्था मे जीव व मन की क्रिया होती रहती है इसका प्रमाण अनेक आप्त ग्रन्थो में मिलता है। भ्रूण गर्भ मे अन्तर पुरुष का ध्यान करता है और उसे सुखदुःख का अनुभव होता है ऐसा वर्णन अनेक उपनिषदो मे है तथा अन्यत्र भी गर्भोपनिषद के अनुसार भी आत्मा व मन की वृत्ति चलती रहती है। यह भी कहा जाता है कि गर्भावस्था मे जीव को पूर्व जन्म का ज्ञान रहता है परन्तु प्रसव के बाद गर्भोपनिषद के अनुसार वैष्णव वायु के स्पर्श से उसे पूर्व जन्म की स्मृति भूल जाती है।

भ्रूणावस्था के रक्त संचार व हृदय के कपाटो की रचना में भी अन्तर होता है भ्रूण के नेत्र पलक से आच्छादित रहते है अत. देखने की क्रिया नहीं होती है। मुख बन्द रहता है अत स्वाद भी नहीं लेता है। पोषण गर्भ नाल द्वारा प्राप्त आहार व अपरा से प्राप्त रक्तादि द्वारा होता है। नासिका, कर्ण तथा त्वचा की क्रियाये भी नहीं होती है यद्यपि यह वर्णन पाया [जा]ता है कि भ्रूण श्रवण का कार्य करता है और इसी श्रवण क्रिया के प्रभाव से अभिमन्यु चक्रव्यूह भेदन का ज्ञान प्राप्त कर सका और

—शेष। श पृष्ठ ४१ पर

भ्रूण का रक्त परिभ्रमण

श्री डा० पद्मदेवनारायणसिंह M. B. B. S.

गर्भ के विकास के साथ भ्रूण की ओषजन (प्राणवायु) आवश्यकता में भी वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप प्रकृति कुछ ऐसा उपाय करती है कि न्यूनतम ओषजन द्वारा कार्य सुचारु रूप से चलता रहे और भ्रूण के अन्य अवयवों की अपेक्षा जीवनावश्यक अंगो (जैसे केन्द्रीय नाड़ी संस्थान) को अधिक ओषजन प्राप्त होता रहे। भ्रूण के रक्त परिभ्रमण संस्थान में दो संचार स्रोत होते हैं—

१—हृदय के दक्षिण तथा वाम आलिन्द (ग्राहक कोष्ठ) के मध्यस्थित लम्बगोल विवर (Foramen ovale)

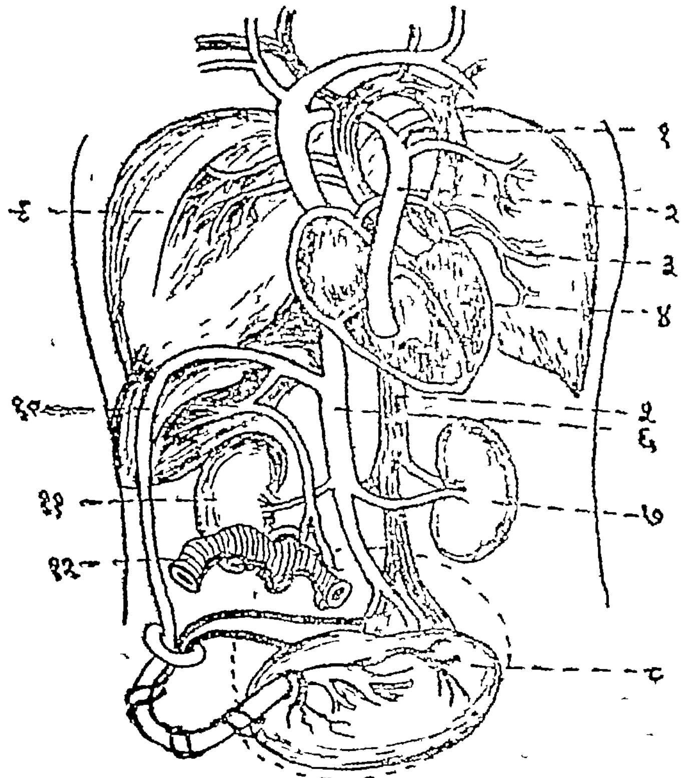
२—फुफ्फुसीय धमनी (Pulmonary artery) और महाधमनी (aorta) के बीच अवस्थित दूसरा संचार स्रोत महाधमनी-युजा (Ductus arteriosus) द्वारा संस्थापित द्विगुणित रक्त परिभ्रमण (double circulation) द्वारा ऐसा सम्भव होता है। भ्रूण रक्त परिभ्रमण का अध्ययन हम लोग अपरा (Placenta) से प्रारम्भ करें जो कि दूषित रक्त को ग्रहण कर और शुद्ध तथा पोषक तत्वों युक्त रक्त देकर परिपोषण तथा मलोत्सर्जन क्रिया पूरी करता है। अपरा से ओषजन युक्त शुद्ध रक्त नाभि-शिराओं द्वारा परिवहित होता है जो नाभिनाल में आकर संयुक्त हो जाती हैं, और वहा से यकृत् में पहुचकर उसके वाम खंड तथा चतुरश्र पिंडिका (Quadrate lobe of liver) में कुछ शाखायें देती है। अनुप्रस्थ यकृत-विवर (Porta hepatis) के निकट इसका संयोजन प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) से होता है। यहीं पर प्रतिहारिणी महासिरा से एक शिरा-शाखा निकल कर यकृत् पृष्ठ से होती हुई वाम-यकृत-सिरा में इसके अधरा महासिरा (Inferior vena cava) में मिलने के पूर्व जा मिलती है जिसे सिरा संयोजक (Ductus venosus) कहते है। इस प्रकार वाम नाभि-सिरा द्वारा प्रवाहित रक्त अधरा महासिरा में तीन स्रोतों द्वारा पहुँचता है—

१—सीधे यकृत और याकृत् सिराओं द्वारा

२—प्रतिहारिणी सिरा द्वारा और

३—सिरा संयोजक द्वारा

इसके अतिरिक्त अधरा महासिरा में मध्य शरीर और निम्नाङ्गों से प्रवाहित होकर दूषित रक्त



चित्र १४

१—धमनी संयोजक
२—फुफ्फुसिया धमनी
३—फुफ्फुस
४—हृदय का वाम निलय
५—महाधमनी
६—ऊर्ध्वगामिनी महाशिरा
७—वाम वृक्क
८—अपरा
९—फुफ्फुस
१०—अपरा से रक्त लाने वाली शिरा
११—दक्षिण वृक्क
१२—आन्त्र का भाग

भी पहुंचता है, अतएव यहां शुद्ध और अशुद्ध दोनों रक्तों का मिश्रण हो जाता है। मिश्रित रक्त अब दक्षिण आलिन्द से होकर लम्बागोलविवर द्वारा वाम अलिन्द में पहुंचता है, जहां फुफ्फुस से वाम फुफ्फुस-सिराओं द्वारा परिवहित रक्त के साथ इसका मिश्रण होता है। वाम आलिन्द से वाम निलय (left ventricle) और वहां से महाधमनी के प्रथम खण्ड और ग्रैवी धमनियों (carotid arteries) द्वारा मुख्यत. उर्ध्वाङ्गो (सिर, ग्रीवा, केन्द्रिय वात संस्थान आदि) में प्रवाहित हो जाता है, परिणाम-स्वरूप अवरोहणी महाधमनी में इस रक्त की मात्रा अत्यल्प होती है।

ऊर्ध्वाङ्गों में संचरित होने के पश्चात् ओषजन-हीन रक्त ऊर्ध्व महासिरा (Superior Vena-cava) द्वारा पुनः दक्षिण आलिन्द में पहुँचता है, जहां से त्रिदलकपाटीय-विवर (Tricuspid valve) और दक्षिण निलय से होकर फुफ्फुसा-भिगाधमनी (Pulmonary artery) में पहुँचता है। यहां से महाधमनी संयोजक (Ductus arteriosus) द्वारा यह (सिरीय) रक्त ग्रैवधमनी उद्गम-स्थल से दूरस्थ महाधमनीतोरण (Arch of aorta) में पहुचता है जहां वाम निलय से प्रवाहित रक्त के साथ इसका मिश्रण होता है। यह मिश्रित रक्त जिसमें औषजन की मात्रा अल्प होती है, अवरोहणी महाधमनी में प्रवाहित होता है जहां से अंशत वस्तिगह्वर तथा उदरिक गह्वर के अवयवो तथा निम्नांगों मे रक्ताभिसरण होता है किन्तु मुख्यतः यह रक्त नाभीय-धमनी द्वारा पुनः अपरा में परिवहित हो जाता है।

—श्री डा० पद्मदेव नारायणसिंह M.B.,B.S.
चिकित्साधिकारी–उर्वरक कारखाना, सिन्दरी

★

पृष्ठ ३७ का शेषांश

श्मश्रु, रोम, नख, दन्त, शिरा, स्नायु, धमनी आदि।

मातृज—मांस, रक्त, मेद (चर्बी), मज्जा, नाभि, हृदय, प्लीहा (तिल्ली), अन्त्र, गुदा आदि कोमल भाग शिशु में माता की ओर से आते हैं।

रसज (रस से उत्पन्न)—शरीर का वढ़ना, बल, वर्ण (रङ्ग), स्थिति, हानि आदि रस के अनु-सार गर्भस्थ शिशु में होते हैं।

आत्मज (अपने)—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, ज्ञान, विज्ञान, आयु (उमर), सुख, दुःख आदि शिशु के अपने भाग्यादि से होते हैं।

—श्री चन्द्रप्रकाश शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
अहाता केदारा, बाड़ा हिन्दुराव, देहली—६

:: पृष्ठ ३६ का शेषांश ::

अष्टावक्र परमज्ञानी हुए।

इस प्रकार संक्षेप में गर्भ अन्तर्मुखी होकर केवल आत्मा व मन से चिन्तन का कार्य करता हुआ अक्षर पुरुष का ध्यान करता है और उसे साधारण तथ बाह्येन्द्रिय के विषय व्याप्त नहीं होते हैं।

२८० दिन पूर्ण होने पर साधारणतया ६ या १० मास में प्रसव हो जाता है। जिस प्रकार काल परि-णाम से वृक्ष में लगा फल अपने वृन्त से पृथक्‌ हो जाता है उसी प्रकार भ्रूण भी काल प्रभाव या स्वभाव से अपरा से पृथक होजाता है। और नाल-च्छेदन करके अपरा व नाल को निकाल दिया जाता है और प्रसव के बाद शिशु विकास वृद्धि के लिए स्वावलम्बी हो जाता है।

—कविराज श्री मदनगोपाल गुप्त ए. एम. एस.
सदस्य विधान सभा उ. प्र., फैजाबाद।

शिशु की तात्कालिक चर्या

आयुर्वेदाचार्या श्रीमती शान्तादेवी वैद्या



कुमारागार—

[चरक संहिता-शारीर स्थान-अध्याय आठ]

जो वास्तु विद्या गुण के विशारद,
निर्माण वे स्वस्तिक सद्म का करे।
गवाक्ष, वातायन पूर्ण स्वच्छ,
ऋत्वानुसारी सब भांति से करे ॥ १ ॥
अजा, गवा, श्वान जहां न होवे,
विडाल दंष्ट्रा पशु मूषकादि।
निर्मक्षिका, निर्मशकादि गेह,
तुष्यादि निर्लिप्त तथा सुधादि ॥ २ ॥
विसर्गि गाह ग्रह चन्द्रशाला,
सूपादि के कोष्ट प्रथक प्रथक हों।
जलादि आवश्यक वस्तुवे जो,
नवीन एकत्र सभी वहां हो ॥ ३ ॥

नाल छेदन

बाल के नाल मे नाभि के बन्ध से,
नाप के अंगुली आठ पै ग्रन्थि बांधे।
अंगुली उच्च दो पै उसी भाति की,
बालके नाल मे दूसरी ग्रन्थि बांधे ॥ ४ ॥
ग्रन्थियों के वहा बीच में शस्त्र की,
तीक्ष्णधारा लगा बाल का नाल काटे।
शस्त्र हो स्वर्ण चांदी तथा लोह का.
आशु ही काट दे पिच्च हो जो न फाटे ॥ ५ ॥
नाल के अग्र मे सूत्र को बांध के,
बालके कण्ठ से नाल को टांग देवे।
पाक हो तो हरिद्रा, मुलैठी, प्रियगु,
तथा लोध्र, दार्व्यादि का तैल सेवे ॥ ६ ॥
न ठीक काटे यदि नाल को कहीं,
आयाम, व्यायाम विनामिका हो।
विजृम्भिका, पिंडलिका च हुण्डिका,
युक्त अपीड़ा वपु बाल का हो ॥ ७ ॥
तो वात पित्त गुरुतादि देख,
वात प्रणाशी घृत तैल आदि।
निर्माण करके शिशु को कराचे,
उद्वर्तन स्नान विलेपनादि ॥ ८ ॥

वस्त्र

कार्पास, ऊर्णी कृमिकोषजन्य,
वल्कादि सन्निर्मित वस्त्र हों नये।
सूच्यादि स्यूत अथवा अनाहतं,
उपस्करा धूमित हों धुले हुये ॥ ९ ॥

धूमोपस्कार

कस्तूरिका, चन्दन, धूप, धूपिता,
वचा, लसी, गुग्गुल, हिंगु, मूर्वा।
पलंकपा, सर्षप. सर्प कञ्चुकी,
अशोक, ब्राह्मी, यव, श्वेत दूर्वा ॥ १० ॥

धात्री

शान्ता, स्वस्था. सत्त्वभावा. वयस्का,
स्नाता, लिप्ता, शुक्ल वस्त्रा प्रबुद्धा।
वत्सेस्निग्धा, शिक्षिता, चारु गात्रा.
धात्री सौम्या स्वादु पर्याप्त दुग्धा ॥ ११ ॥
ब्राह्मी, ऐन्द्री वाटच पुष्पी अरिष्टा,
विष्वक्सेना पूतनाद्य शताह्वा।
निम्बा, मोथा, सोमवल्ली च वीर्या,
धात्री धार्या वत्स कामा सुताह्वा ॥ १२ ॥
धात्र्यंक मे प्राङ्मुख हो कुमार,
दे दक्षिण स्तन्य उसे पिलाये।
पश्चात् सुवाम स्तन भी उसे दे,
पर्याप्त पायी शिशु को सुलाये ॥ १३ ॥
पर्यङ्क दोला अति कोमलस्तरा,
कुमार शैय्या उपधान कौशिकी।
शनै शनै दोलित शान्त चित्त,
गाते सुलावे शुभ वाक्य मौखिकी ॥ १४ ॥

—श्रीमती शान्तादेवी वैद्या
स्त्री चिकित्सालय—हसनगंज, लखनऊ।

प्रसव के बाद की तात्कालिक चर्या

कविराज श्रीमती विमलादेवी M. A. M. S. आयुर्वेदाचार्या

प्रसवोपरान्त शिशु की तात्कालिक चर्या बड़े महत्व की चीज है। प्राचीन समय में इसकी उपेक्षा के कारण ही हमारे यहां जन्मते बालकों की मृत्यु संख्या अधिक होती थी। परन्तु अब इस तरफ ध्यान देने से वह कम हो गई है। यह अति विचारणीय विषय है अतः इसका ध्यान रखना परमावश्यक है।

प्रसवोपरान्त चतुर धात्री (दाई) का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह झटपट शिशु की देख-रेख में लग जाये। अगर धात्री शिशु की उपेक्षा करती है और प्रसूता की ही देखरेख में लगी रहती है तो सम्भव है कि शिशु की जान पर आ बने इसलिए धात्री का परम कर्त्तव्य है कि ज्योंही बालक प्रसव मार्ग से बाहर आये धात्री अपने स्वच्छ हाथों में उसे सम्भाल ले तथा ध्यानपूर्वक तात्कालिक चर्या में दृढ़चित्त हो लग जावे।



चित्र नं. १६

प्रकृति का यह नियम है कि पैदा होते ही बालक जोर से रोता है तथा स्वच्छन्दता से अंग चालित करता है, इससे वह श्वास लेता है और वायु प्रथम बार उसके फेफड़ों में प्रवेश करती है। अत. बालक के बाहर आते ही दाई अपने हाथों में थामले और देखे अगर गर्दन पर नाभि नाल का घेरा पड़ा हो तो तुरन्त निकाल दे। प्रथम तो बालक पैदा होते ही जोर जोर से रोता है परन्तु कभी कभी इसका अपवाद भी हो जाता है। कारण बच्चा कमजोर हो वा प्रसव मे विलम्ब होने के कारण अधिक यातना सहने से पस्त हो जाता है, ऐसी अवस्था मे बालक मरा हुआ सा जान पड़ता है परन्तु यह होता नहीं। उसे कृत्रिम रीति से श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा श्वासोच्छ्वास दिलाया जाता है जो विधि आगे बताई जायगी।

धात्री को चाहिए कि शिशु जन्म के बाद वह शिशु की सावधानीपूर्वक चर्या करे एवं अन्य स्त्री द्वारा प्रसूता का उदर पकड़वाये रखे क्योंकि अभी कमल बाहर नहीं आई है। कमल आने के बाद ही प्रसूति को सम्पूर्ण समझना चाहिए।

नाल छेदन

जन्म लेने के थोड़ी देर बाद नाल मे स्पन्दन बंद हो जाता है। यह स्पन्दन वन्द होना मानों बालक माता का आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छेद है क्योंकि स्पन्दन रक्त संचार से होता है और बाहर आने पर यह क्रिया बंद हो जाती है। गर्भावस्था के बालक का रक्त संचार तीन रक्तवाहिनियो द्वारा नाभिनाल तथा कमल से रहता है। इनमे दो धमनिया तथा एक शिरा होती है। यह नाभि शिरा और नाभि



चित्र नं. १७—नालच्छेदन

प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। यह धारक तथा सारक दोनों कियाये करता है इसलिये यही श्रेष्ठ रहता है परन्तु अधिक मात्रा मे दिया हुआ यह भी हानि करता है सो एक समय मे एक छोटा चम्मच मधु दे। बाद मे दो घन्टे पर जरा सा ग्लूकोज



चित्र नं. १६-सर्व प्रथम बालक को मधु की घुट्टी दें।

उबले हुये पानी मे मिला स्वच्छ रूई की बत्ती बना उससे देनी चाहिए। दूसरे दिन माता को स्नानोपरांत पर्याप्त दूध उतर आता है। सो बीच बीच में माता के स्तनों पर भी बालक को लगा देना चाहिये।

कृत्रिम श्वासोच्छ्वास की अवस्था तथा क्रिया—

जन्म से ही बच्चा जोर जोर से रोता है, इससे उसकी श्वासोच्छ्वास की क्रिया चालित हो जाती है, परन्तु अगर रोये नहीं तो उसके मर जाने का डर रहता है। कभी कभी जन्म से बच्चा बहुत ही कमजोर होता है यहां तक कि मरा हुआ सा दिखाई देता है। हाथ, पांव नहीं हिलाता, गर्दन ढीली रहती है। मुंह विकृत रहता है, कभी कभी तो नाभि की नाड़ी भी नहीं मिलती। ऐसी दशा मे उस बच्चे को मरा हुआ नहीं समझना चाहिए। इसके लिए बच्चे के गले मे अंगुली मे रूमाल लपेट कर डालना चाहिए। बच्चे के मुंह पर यदि नीलिमा मालूम हो तो एकदम नाल काटकर चमचा डेढ़ चमचा रक्त निकाल देना चाहिए, इसके बाद कुल्हे पर धीरे धीरे थपकी मार कर बच्चे को रुलाना चाहिए अथवा थोड़ी सी ब्राण्डी उसकी छाती पर लगायें। इससे श्वासोच्छ्वास आरम्भ न हो तो बालक को बारी बारी से ठण्डे और गर्म पानी के बर्तन मे डुबाना चाहिए वा कुछ सैकिण्डो तक उसके पांव ऊपर और सिर नीचे को करना चाहिए। इस क्रिया द्वारा मस्तिष्क मे रक्त प्रवाह आरम्भ हो जायेगा और श्वास नलिकाये भी खुल जायेगी। यदि उपर्युक्त उपाय से भी श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ न हो तो कृत्रिम रीति से उसे प्रारम्भ करना चाहिए। यह कृत्रिम रीति इस प्रकार है—

एक आदमी बच्चे की गर्दन कुछ नीचे करके मुख खुला रख कर उसे पकड़े। मुख को स्वच्छ करके उस पर एक रूमाल डालें, इसके बाद एक हाथ से बच्चे का पेट दबाकर दूसरे हाथ से नासा-



चित्र नं. २० —कृत्रिम श्वास क्रिया फूंक मारने की विधि

पुट बन्द करे। इसके बाद दाई बच्चे के मुंह में अपना मुंह लगाकर धीरे से थोड़ी हवा रूमाल पर से एक मिनट मे बीस बार फेफड़े मे पहुंचाने का यत्न करे और बीच बीच में छाती को धीरे से दबाये इससे फेफड़े खुल जायगे और श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ हो जायेगा। दूसरी रीति इससे भिन्न है वह इस प्रकार है—



बच्चे को जमीन पर उत्तान लिटाकर उसके कंधे एवं सिर को जरा ऊंचाई में रखे, कुहनी के ऊपर उसके दोनों हाथ पकड़ कर अपने दोनों हाथों से उनको धीरे धीरे बच्चे के सिर के ऊपर लावे और कुछ समय तक वैसे ही लम्बे किये रखे। इससे छाती फूलती है और हवा बैठती है। इसके बाद हाथों को धीरे धीरे नीचे करके उनके योग से फेफड़े की वायु बाहर निकालने के लिए उन हाथों से कोखो पर दाबे और फिर थोडा सा ठहर जाये, उपर्युक्त क्रिया एक मिनट में लगभग बीस बार करे। इस रीति से बच्चा श्वासोच्छ्वास लेने लग जाता है। इस रीति से एक घण्टा और कभी कभी इससे भी अधिक समय कृत्रिम श्वासोच्छ्वास कराने में लग जाता है। क्योंकि जब तक छाती में हृदय की धड़कन होती रहती है तब तक बच्चे की श्वासोच्छ्वास लेने की सम्भावना रहती है। उपर्युक्त कृतियों से अगर बच्चा हिलने डुलने न लगे तो उसके जीने की प्रायः आशा त्याग देनी चाहिए।

सद्योजात शिशु पालन विधि—

सद्योजात शिशु को प्रथम स्नानादि क्रियाओं से निवृत कर उसे मुलायम और ढीले वस्त्र पहना गर्म और सुरक्षित स्थान पर कुछ देर तक विश्राम के लिए छोड़ दिया जाता है। इस समय में धात्री प्रसूता एवं उस कमरे की स्वच्छता आदि कार्यों में संलग्न हो जाती है। इस कार्य निवृत्ति के बाद वह बालक को पुनः संभालती है एवं अब उसकी खुराक का प्रबन्ध करती है। प्रथम खुराक बालक को बाहर से ही देनी पड़ती है, चाहे माता स्वस्थ हो वा रुग्णा हो क्योंकि प्रथम दिन माता के स्तनों में दूध नहीं उतरता, दूसरे दिन स्नान कराने के बाद ही स्तनों में दूध आता है। इसलिए प्रथम खुराक के साथ में बालक को एक छोटा चमचा मधु का दे, साफ वस्त्र वा रूई की बत्ती बनाकर उससे दें, इससे मल त्याग की क्रिया भी ठीक हो जाती है। इसके बाद २-२ घण्टे पर एक चमचा ग्लूकोज को उबले पानी में डालकर बत्ती से देते रहें। फिर बालक को माता के स्तनों पर लगायें, जब तक दूध न उतरे चार घण्टे में एक बार और फिर एक घण्टे पर एक बार बच्चे को पन्द्रह मिनट तक स्तनों पर लगायें। अक्सर दूसरे तीसरे दिन तक दूध नहीं आता ऐसे समय में बच्चे की भूख शांत करने के लिए चमचा भर गरम जल और थोड़ा सा दूध एवं जरा सा ग्लूकोज डालकर २-२ घण्टे पर दें। माता का पहला दूध जो उत्पन्न होता है उसे प्रथम दूध कहते हैं तथा इससे बालक का पाखाना अधिक होता है, इससे मल निकलकर आंतड़ियां साफ हो जाती हैं। यह प्रथम दूध देखने में पानी जैसा ही होता है।

जब दूध ठीक उतर आये तब बालक को प्रति दो घंटे पर ही दूध दें इससे पूर्व नहीं तथा दूध देकर अलग मुलायम गद्दीदार पालने वा चारपाई पर लिटादें। प्रथम दिनों में बालक बीस घण्टे तक सोता रहता है, उसके नेत्र ज्योति सहन नहीं करते सो सीधा प्रकाश उसके नेत्रों पर न पड़े इसका सदैव ध्यान रखे। बालक को आरम्भ से ही अच्छी आदतें डालनी चाहिये। इस समय में उसकी जैसी आदत डालोगे वह शीघ्र ही पड़ जाती है। कम से कम खाने और सोने की आदतें अवश्य डालनी चाहिये। यदि उसे पेट भर खाना मिल जाता है तो वह बहुत जल्द सो जाता है और २-३ घण्टे बाद ही जागता है। नीरोग बालक की भूख लगभग पन्द्रह मिनट लगातार दूध पीने के बाद शान्त हो जाती है। प्रत्येक बार दोनों स्तनों को बारी बारी से पिलाना चाहिये। बच्चे को कन्धे से लगाकर सुलायें पर सोने से पूर्व पालने में लिटा दें। परन्तु अक्सर देखा जाता है, बालक ज्यों ही रोया कि माता उसे दूध पिलाने लगती है यह ठीक नहीं। इससे प्रायः बालक बीमार हो जाता है।

सद्योजात बालक दो चार बार तक भी अगर दिन में मल त्याग करे तो कोई हर्ज नहीं है, उसका

मल धुले हुये मोटे सरसों के चूर्ण सदृश होना चाहिये। उसमे दुर्गन्ध तथा फटे हुये दूध के टुकड़ों का होना बीमारी का द्योतक है। जब बालक १५ दिन का हो जाय तथा वायु अधिक न हो तो उसे थोड़ी देर के लिये, बाहर खुली हवा मे लिटाना चाहिये। बच्चे के पाथ-पांव मार कर खेलने तथा रोने से फुफ्फुसों का व्यायाम होता है, सो थोड़ी देर रोने से कोई नुकसान नहीं लाभ ही होता है उसे रोना भी चाहिये।

बच्चे की माता यदि पेट भर दूध पिलाने में समर्थ है तो बहुत अच्छी बात है। ऐसी दशा में उसे फिर कोई चीज देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अगर माता किसी व्याधि या अन्य कारण से पूरा दूध देने मे असमर्थ है तो उसे ऊपर का दूध देना पड़ता है। अगर घर मे सामर्थ हो तो धात्री रखी जाती है परन्तु ऐसा करने मे असमर्थता हो तो बालक को ऊपर से दूध देना पड़ता है। दूध निम्न प्रकार से तैयार कर देना चाहिये—गौ का ताजा दूध ले उसमें दुगुना पानी डालकर उबाल ले। फिर थोड़ा नितरा हुआ चूने का पानी डाले, उसमे थोडा ग्लूकोज डाल कपड़े से छानकर किसी शीशी मे डाल कर दें। प्रत्येक शीशी में चुटकी भर नमक भी अवश्य डालें, इससे हाजमा ठीक रहता है। हम लोगों में साधारणतौर पर यह ख्याल बना हुआ है कि दूध में पानी नहीं डालते परन्तु बगैर पानी का दूध बालक ठीक तरह नहीं पचा पाता और अपाचन सम्बन्धी विकार हो जाता है। इसलिये आरम्भ से दूध मे दुगुना पानी डाले और १ औंस दूध एक बार मे दे। बाद मे पानी की मात्रा अवस्थानुसार कम करते जाये। दुग्ध पर ठीक उबाल आने पर ही बालक को दे। उबालने मे उसमें इधर उधर से उत्पन्न रोगोत्पादक कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं और उबलने से दुग्ध सुपाच्य हो जाता है और बच्चा सहज मे ही पचा लेता है। परन्तु कच्चा दुग्ध शीघ्र नहीं पचता, इससे पेट बिगड़ जाता है तथा बार बार पाखाना आता है, गरम किये दुग्ध मे यह बात नहीं होती। यदि मलावरोध हो तो चूने के पानी की जगह पर जौ का पानी डालना चाहिये। यह तैयार करने के लिये एक चमचा भर भुना हुआ जौ एक पाइन्ट पानी में उबाले तथा दो तिहाई अंश शेष रहने पर उतार ले। यह रोज ताजा ही पकाना चाहिये।

नोट—जन्म से लेकर एक मास तक बालक तथा माता को हर चौथे दिन एक चमचा अंडी का तैल शुद्ध किया हुआ देना चाहिए। इससे कोष्ठबद्धता नहीं होती, कोष्ठ की वायु शमन हो जाती है एवं आंत्र को स्निग्ध करता है। बालक को छोटा चमचा और माता को बड़ा चमचा देना चाहिये। अगर चौथे दिन न भी दे तो सप्ताह मे एक बार तो देना परम आवश्यकीय है।

अगर बाहर से दूध देना पड़े तो निम्नलिखित कोष्ठकानुसार दे—

बालक की आयु	समय	प्रत्येक बार
पहिले सप्ताह मे	२ घण्टे में	१ औंस
१ से ६ सप्ताह तक	२॥ ,,	१॥ से २ ,,
६ से १२ सप्ताह तक	३ ,,	३ से ४ ,,

अवस्थानुसार समय की मात्रा तथा दूध की मात्रा दोनों बढ़ाते चले। नवजात शिशु का भार लगभग ३ से ३॥ सेर के होता है। बालकों का भार उसी आयु की लड़की से अधिक होता है तथा नाडी गति भी अधिक होती है। यदि शिशु एक सप्ताह या पक्ष के बाद तोला जाय तो इस बात का ठीक पता लग जाना है कि उसका वर्धन ठीक हो रहा है या नहीं। यदि एक सप्ताह तक तोल न बढ़े या कम होता जाये तो इसका कारण मालूम कर योग्य चिकित्सा करनी चाहिये।

कभी कभी हाल के जन्मे छोटे बालक के स्तन भी स्वयं फूल जाते है और सुर्ख तथा मुलायम हो जाते है तथा उनमें कभी कभी दूध के समान पतला पदार्थ भी निकलता है। इनको गरम पानी मे टंकणाम्ल डालकर सेकने से बहुत शीघ्र आराम हो



जाता है। इस विकार के होने पर स्तनों को मलना या निचोड़ना नहीं चाहिये। सेक के बाद टंकणाम्ल रूई रख पट्टी बांध दें।

बालक को अक्सर दूध पीने के बाद पेट में वायु रुकने से दर्द हो जाता है इससे बालक रोने लग जाता है। इस समय उसकी पीठ को थपथपाने से आराम हो जाता है तथा पेट को अलसी की पुल्टिश बनाकर सेक देना चाहिये और सर्जी क्षार १-१ ग्रेन की मात्रा में देना चाहिये। इससे यह विकार शान्त हो जाता है तथा दूध पिलाने से पूर्व सोडा साइट्रास एक एक ग्रेन की मात्रा में दें।

जन्म के समय माता की योनिमार्ग से दुर्गन्ध-युक्त स्राव का सम्बन्ध जब बालक की आंखों से हो जाता है तो उसकी आंख से पूय सदृश तरल पदार्थ निकलता है तथा ठंडक लगने या साबुन का फेन नेत्र में लगने से भी यह विकार हो जाता है, इसलिये बालक के पैदा होते ही उसके नेत्रों का निरीक्षण ध्यानपूर्वक करें और टंकणाम्ल गरम जल में डालकर नेत्रों का प्रक्षालन करें अथवा मरक्यूरिक परक्लोराइड का जल २०० में १ भाग मिलाकर बालक की आंखें अच्छी प्रकार धोयें। यदि समय पर यथोचित उपाय न किये जायंगे तो आंखें खराब हो जायगी। यह विकार एक आंख से दूसरी को भी हो सकता है। इसलिये उपर्युक्त लोसन से कई बार नेत्र प्रक्षालन करें तथा बाद में रूक्षता निवारणार्थ नेत्र में वेसलीन या पेन्सिलीन मरहम डालें। तथा बालक में प्रकाश असह्यता होती है इसलिये उसकी नेत्रों पर तेज प्रकाश न पड़े इसका पूर्ण ध्यान रखें।

अक्सर बालक की नाल—पांचवे सातवे दिन गिर जाती है परन्तु कभी कभी इसका अपवाद भी देखा जाता है सो आरम्भ से ही नाभि नाल का ध्यान रखना चाहिये। नित्य उस पर टंकणाम्ल की बुकनी देकर स्वच्छ पतले एवं मुलायम वस्त्र की पट्टी बांधते रहें तथा नाल गिरने पर भी तीन चार दिन तक जब तक कि ऊपर से वह मार्ग ठोस रूप में नजर न आने लगे तब तक टंकणाम्ल डालकर पट्टी बांधते रहें तथा अन्य बाहरी संक्रमणात्मक कीटाणुओं से पूर्ण रक्षा करें। अगर अभाग्य-वश नाभि पाक हो ही जाये तो पूर्णतया सावधानी से चिकित्सा करायें।

बालक को नित्य प्रति तिल तैल लगाकर निर्वात स्थान पर पानी से स्नान करायें। बाद में सूखे तौलिये से शरीर सुखाकर बोरिक एसिड पाउडर की



नवजात शिशु स्नान

चित्र न २१

बुकनी शरीर पर सर्वत्र देकर मौसमानुसार मुलायम एवं ढीले वस्त्र पहनायें तथा वस्त्र नित्य बदलने चाहिए। अगर बालक कमजोर है तो उसे लाक्षादि तैल वा मछली के तैल की मालिश धीरे धीरे कर कुछ देर धूप सेवन कर नहलाना चाहिए। अगर अधिक कमजोर हो वा वृद्धिक्रम कम होता हो तो उसे कुमारकल्याण रस १ चावल, प्रवाल पिष्टी वा कपर्दिका भस्म २ रत्ती की मात्रायें दिन में दो बार दें। वा एडेक्सोलीन वा विकडेक्स अथवा ओष्टी कैल्सियम की दो दो बूंद दो तीन बार दें। निरोग बच्चे को भी दिन में एक दो बार रोने की आवश्यकता है। रोने से उसके फेफड़ों के व्यायाम होने से वह

मजबूत होजाते है। यदि उसको कोई वास्तविक कष्ट होगा तो वह रोने के बाद तुरन्त ही सो जायेगा।



चित्र नं. २२

अक्सर जब बालक उनींदे होते हैं तब भी रोते हैं। कभी कभी बालक को प्यास भी लगती है सो थोडा थोडा पानी भी देना चाहिए विशेषकर गरमी के दिनो में अवश्य देना चाहिए।

नाभि पक जाना

नाल प्रायः पाचवे सातवे दिन तक गिर जाता है। जब तक वह गिर न पड़े आस पास लपेटे हुए कपड़े को सावधानी से बदलते रहे तो समय पर नाभि नाल गिर जाती है। परन्तु उसमे जरा भी असावधानी होने से बुरे परिणाम देती है जैसे नाल पर झटका लगना वा अन्य बालक द्वारा नाल को खींचना व माता की असावधानी से उठाने आदि में उसमे खिचाव पड़ने आदि कारणों से उसमे रक्तस्राव होकर बाद मे पूयस्राव होने लगता है। नाल का असमय मे गिरना भी नाभिपाक को कर देता है। तथा बाधते समय डोरा व कैंची अशुद्ध होने से कीटाणु प्रवेश होने पर भी नाभि पाक बन जाता है। अशुद्ध वस्त्र की पट्टी द्वारा भी कीटाणु प्रवेश कर जाते है। इससे भी नाभि पाक हो जाता है। परन्तु इन सबसे अधिक भयानक अवस्था वह होती है जब धनुर्वात के कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। इस अवस्था मे बच्चे को झटके आने लगते है। हनु एवं ग्रीवा-स्तम्भ हो जाता है, बालक शीघ्र ही काल कवलित हो जाता है। इस रोग से बहुत कम बालक बच पाते है। इसका कीटाणु बाह्य व्रण द्वारा ही प्रवेश करता है तथा गाय के गोबर एवं घोड़े की लीद मे होता है सो बालक की धूल वाले स्थान तथा जहां पशु बांधने के स्थान हो वहां से भिन्न स्थानो पर सावधानी से रखें।

लक्षण—

प्रथम नाभि पर सूजन मालूम पड़ती है तथा कभी कभी रक्तस्राव भी हो जाता है। बाद मे पानी मिला रक्त बिलकुल धीरे धीरे रिसने के रूप मे आता है। उपर्युक्त कारणों की उपेक्षा करने से तीसरे चौथे दिन तक पूय आना आरम्भ हो जाता है तथा दुर्गंध भी आती है, बालक बार बार रोता है एवं हाथ पावो को मारता है तथा सुस्त हो जाता है। वर्ण पीला पड़ जाता है।

चिकित्सा—

(१) इस विकार का ज्ञान होते ही अति शीघ्र इसकी पूर्णोचित चिकित्सा करे। प्रथम झटका लगने व अन्य कारणो से शोथ मालूम पड़े व नाल असमय मे गिर जाये और शोथ हो जाये तो शोथ को दूर करने का उपाय करे। शोथ के लिये सर्वोत्तम गरम स्निग्ध टकोर देना है। इसके लिए घृत की टकोर देना उत्तम रहता है क्योंकि वह रोपण कार्य भी करता है सो घृत को गरम कर जरासी हल्दी डाल धीरे धीरे रुई से टकोर करे। फिर घृत व वेसलीन मे टंकणाम्ल मिलाकर लगादे।

(२) गरम पानी मे टंकणाम्ल व पोटास परमैंगनेट, डिटौल व मरक्यूरिक परक्लोराइड व जिंकसल्फेट आदि में से किसी एक को डालकर धोयें। तदनन्तर



सुखाकर बोरिक एसिड तथा जिंक ऑक्साइड की वेसलीन में मिला लगायें।

(३) पैन्सलीन मरहम, टैगमाइसिन मलहम, बर्नोल आदि आदि का प्रयोग करें।

(४) खाने के लिये—रसिंदूर, मुक्ताशुक्ति भस्म, प्रवाल पिष्टी, अभ्रक भस्म, प्रवाल पंचामृत, कस्तूरीभैरव आदि दें।

(५) पैन्सलिन इन्जेक्शन, सल्फा डायजीन, सल्फाथायोजोल, सल्फानिलेमाईड, सिवाजोल टेबलेट आदि भूतघ्न औषधि का प्रयोग करें। मात्रा अत्यल्प दें।

नाभि से रक्तस्राव

परिचय और कारण—

पैदा होते ही बालक श्वास लेता है और वायु पहली बार उसके फेफड़ों में जाती है। अब फुफ्फुस रक्त शुद्धि का काम करने लगते हैं, इस कारण जो रक्त फुफ्फुसिया धमनी से महाधमनी में जाया करता था वह अब वहां जाने की अपेक्षा फुफ्फुसों में ही जाता है। धमनी संयोजक सिकुड़ कर तंग होने लगती है और चौथे एवं सातवें दिन के बीच में पूर्णतया बंद हो जाती है और अब वह ठोस हो जाती है। इस बंद अर्थात् अप्रवेश्य धमनी को धमनी बन्धन कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा फुफ्फुसिया धमनी महाधमनी से बंधी रहती है।

जन्म से दूसरे और पांचवे दिनों के बीच में नाभि शिरा और उसकी शाखा भी बंद हो जाती है, नाभि शिरा अब एक गोल रज्जु के समान होजाती है, दूसरे और पांचवे दिनों के बीच नाभि धमनियां भी सूख जाती है। चौथे और सातवें दिन के बीच नाल भी सूख कर गिर जाता है। उपर्युक्त क्रियाएं प्रकृति के नियमानुसार होती हैं परन्तु अगर इन क्रियाओं में कोई अनियमितता आजाये जैसे नाभि शिरा या धमनी का समय पर बंद न होना या फुफ्फुसिया धमनी फुफ्फुसों में जाने की अपेक्षा महाधमनी में ही जाये व इसका बंधन ठोस न होने आदि क्रियाओं के कारण रक्तस्राव होने लगता है। तथा नाभिनाल का स्पन्दन बंद होने से पूर्व नालोच्छेदन करना व माता के शरीर में कैल्सियम की कमी होना व बालकों को उदर पर कोई आघात होने से नाभि शिरा तथा धमनी में दबाव आने आदि से नाभि से रक्तस्राव होने लगता है। नाभि शिरा तथा धमनियों का पूर्ण संकोच न होना भी कारण है। यह रक्तस्राव उसी दिन या बाद में भी कभी हो सकता है।

चिकित्सा—

रक्तस्राव का ज्ञान होते ही तुरन्त रक्त बंद करने का उपाय करना चाहिए। इसके लिए स्तंभक औषधियों को काम में लावें—

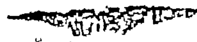
फिटकरी ३ रत्ती व जिंक सल्फेट दो रत्ती ४ औंस पानी में डाल कर नाभि को धोवें। व ५ माशे माजूफल को पाव भर पानी में उबाल कर उसमें फिटकरी और कत्था का चूर्ण डाल कर मोटे कपड़े की गद्दी बना भिगो कई दिन तक उस पर रखें। अथवा पतंग मोचरस, धाय के फूल दो दो माशे डाल उबाल कर प्रयोग करें। इसके बाद व्रण सुखाकर टकंणाम्ल डाल कर पट्टी बांधे। एक घन्टे बाद फिर खोलकर देखें। अगर रक्त जारी हो तो पुनः यही क्रिया करें। बालक का सिर थोड़ा नीचा करें तथा पांव ऊंचे रखें। आन्तरिक प्रयोगनार्थ कैल्सियम बाहुल्य पदार्थ दें जैसे प्रवाल पंचामृत, प्रवालपिष्टी, गोदन्ती, मुक्ताशुक्ती पिष्टी, सौवीराञ्जन भस्म, एलम फूलादि दें।

आधुनिक परिचर्या में बर्फ की पट्टी रखें, विटामिन के १ सी. सी. के एम्पूल पेशी से दें। केपिलिन १ गोली वा १ सी. सी. प्रतिदिन पेशी से दें। क्लोडेन व ओस्टो कैल्सियम दें। व एड्रिनलीन ½ सी सी. पेशी द्वारा दें। चूल्हा पोतने की पीली मिट्टी लेकर बारीक कूट भिगो एक अंगुल मोटी तह बना नाभि से पेडू तक रखने से बहुत लाभ होता है।

कविराज श्रीमती विमलादेवी M. A. M. S.
c/o श्री गंगाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य, भिवानी

नाभिपाक और उसकी चिकित्सा

श्रीमती सावित्रीदेवी 'रावत' साहित्य शास्त्राणी आयुर्वेदरत्न



शिशुओं का नाभिपाक प्रायः नाडी परिकल्पन के पश्चात् होता है। प्रसव के अनन्तर नाल काटने में असावधानी और उसके शोषण के लिए उचित उपचार न करना ही इस रोग को आमन्त्रण देना है, इस रोग के कारणों का विस्तृत विवेचन न करते हुए मुख्य कारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है। साधारणतः नाभि पाक के तीन कारण है—

(१) प्रसाविका की असावधानी
(२) माता या परिचारिका की उपेक्षा
(३) स्नान व तैल मर्दन में आघात

(१) प्रसाविका की असावधानी—

प्रसवोत्तर काल में नाल काटने के समय दूषित, कुण्ठित, जंग खाये या टूटे हुए चाकू व कैंची का प्रयोग, नाल के बन्धन में त्रुटि, नाल को बलात् खींच कर काटना, मैले व दूषित हाथों का प्रयोग, बन्धन सूत्र का मैला या दूषित होना. नाल काटने के पश्चात् अवधूलन (पाउडर) न लगाना, या मात्रा से प्रयोग न करना अथवा पाउडर का गुणहीन व दोषयुक्त होना, प्रसाविका (दाई) द्वारा उसका अकालिक और अमात्रिक प्रयोग ही नाभि पाक में पूर्ण सहायक व प्रधान कारण होते हैं, प्रारम्भिक स्नान ठीक न होने,नाभि स्थल पर गर्भस्थ मल का संचय भी नाभिपाक में सहयोग देता है।

(२) माता या परिचारिका की उपेक्षा—

नाडी परिकल्पन के पश्चात् नाल के बन्धन सूत्र को बालक के गले में ढीला बाध देते हैं। कुछ व्यक्ति नाल काटने के पश्चात् नाभि स्थल पर ही कपड़े की पट्टी द्वारा नाल को दबा कर बांध देते है। प्रथम प्रकार में दूध पिलाते समय या निद्रा में हाथ का आघात या बन्धन के कर्षण से कोमल नाभि स्थल पक जाता है। दूसरे प्रकार में वस्त्र पट्टी के अधिक कठोर होने या कसकर बांधने अथवा अधिक ढीला बांधने पर ऊपर नीचे सरक जाने से नाल विकृत होजाता है और पक जाता है। प्रायः देखा गया है कि उष्ण ऋतु में पट्टी की गर्मी से या अच्छा उत्तम अवधूलन न करने से नाभि पाक हो जाता है। माताएँ व परिचारिकाएँ स्नान कराते समय उपेक्षा करती है और नाल में झटका या दूषित हाथ लग जाते है। साथ ही नाभि स्थल के पानी को शुद्ध तूल (रूई) से नहीं सुखाते और गीले में ही पट्टी बांध देते है। ऐसी उपेक्षाओ से नाभिपाक हो जाता है।

(३) स्नान व तैल मर्दन में आघात—

बालक को दैनिक तैल मर्दन, या घृत मर्दन अथवा अवधूलन करते समय नाखून लग जाना, चोट लग जाना, नाल पर किसी भी प्रकार का आघात लग जाने से नाल असमय में ही बालक के नाभिस्थल से अलग हो जाता है और उस स्थल पर घाव होकर रक्त बहने लगता है तथा पक भी जाता है। इसे नाभिपाक रोग कहते है।

नाभि पाक के उपद्रव—

सर्व प्रथम नाल के विकृत होने या कच्चा उतर जाने पर शिरा व धमनियों का मुख खुल जाता है और उनसे रक्तस्राव या लाल पानी का स्राव होता रहता है और नाभि में व्रण होकर पूय पड़ जाता है। इसमें से स्फोट रूप में पय निर्गम, दुर्गन्ध आना व क्षत तथा स्फोट की आकृति बन जाती है।

बालक को वेदना, अनिद्रा, आध्मान, रक्ताल्पता व अजीर्ण हो जाता है और बाह्य दूषित-विकार रक्त में मिश्रित होकर विविध रोग उत्पन्न कर देते है। साधारणतया पाचन दोष, उदरपीड़ा के समय पैरों के सकोचन व उदर पीड़ा से नाभिस्थली से रक्तबिन्दुओं का निस्सरण होता रहता है।



नाभि पाक की भयंकरता—

रोग की विशेष वृद्धि से टिटनिस होना, स्फोट आदि उपद्रव, कान्तिहीन होना, व्रण से कृमि पडना, उदर मे अन्तर्मुख स्फोट होना, पाचन क्रिया बिगड जाना, रक्त की न्यूनता आदि भयकर व्याधिया बालक को ग्रसित कर लेती है।

नाभिपाक की चिकित्सा—

आयुर्वेदीय ग्रन्थो से इस रोग की चिकित्सा निम्न प्रकार विदित है—

> नाभिपाके निशालोध्र प्रियंगु मधुकैःशृतम्।
> तैलमभ्यञ्जनेशस्तमेभिश्चाप्यवधूलनम् ॥१॥
> दुग्धेन छागशकृता नाभिपाकेऽवचूर्णनम् ।
> त्वक् चूर्णं क्षीरिणां वापि कुर्याच्चन्दन रेणुना ॥२॥

उक्त पद्य 'योगरत्नाकर' ग्रन्थ के है, प्रथम पद्य 'भैषज्य रत्नावली' के बाल रोगाधिकार मे भी है।

इनका अर्थ—बालक के नाभि पाक मे हल्दी, पठानी लोध्र, प्रियंगु व मुलहठी का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर डालना चाहिये तथा इन्हीं औषधियो का तैल बनाकर बार बार लगाना चाहिये ॥१॥ दूध व बकरी की मेंगनी नाभिपाक मे लगानी चाहिये, इनका पाउडर बुरकना चाहिये तथा दूध वाले वृक्षों की छाल और चन्दन का कपड़छन चूर्ण करके नाभि-पाक के ऊपर पुनः पुन बुरकना चाहिये।

चरक सहिता शारीरस्थान अध्याय ८।४६ मे समाम्नत कही है यथा—

> तस्य चेन्नाभि पच्येत, तां लोध्रमधुक प्रियगु देवदारु हरिद्रा कल्क सिद्धेन तैलेनाभ्यञ्ज्यात्। एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत्।

अर्थ—यदि सद्योजात बालक की नाभि कल्पना के पश्चात् किसी विकार से नाभि पक जाय तो पठानी लोध्र, मुलहठी, प्रियंगु, देवदारु व हल्दी इनके कल्क से साधित तैल द्वारा नाभि को बार बार सिंचित करे, इससे नाभिपाक शीघ्र ही अच्छा और शान्त हो जाता है।

मेरा अनुभव—

(१) पठानी लोध्र और हल्दी का समभाग चूर्ण कर घृताप्लुतकर बार बार नाभि पर लगाना चाहिये तथा इसी घृत से शुद्ध रुई से कदुष्ण सेक करना हितावह है।

(२) भृङ्गराज रस को शुद्ध घृत में पकाकर रुई के फाये से लगाकर बांधना चाहिये। इससे व्रण शुद्ध होकर भर जाता है।

(३) तैल कटु हल्दी, अनार का छिलका, मेहदी का प्रयोग भी कई बार किया है।

(४) यदि नाभि मे से रक्त व पूय निकलता रहे, स्राव बन्द न हो तो माजूफल शुद्ध घृत के साथ लगाना चाहिये।

(५) आयुर्वेद चिकित्सा की सफलता—बड़े बड़े योग्य एलोपैथिक डाक्टरों की चिकित्सा करते हुये Ne-ba-Sulf जैसी अच्छी दवा का प्रयोग महिनों करने पर भी जो बालक अच्छे नहीं हुये केवल आपरेशन की शरण शेष रही, ऐसे समय मे उक्त दवाओ ने नाभिपाक रोग मे आशातीत लाभ दिखाकर आरोग्य प्रदान कर दिया।

पथ्य एवं सावधानी—मक्षिका दूषण, धूलि-धूम दोष, व्रण की मलिनता, आघात एवं अधावन आदि से दूर रहना चाहिये। माता को खट्टा, चरपरा, गरिष्ठ, क्लेदी पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये।

पथ्य—स्नान, प्रच्छन, अवधूलन, धूपन, अवलेपन, घृत या तैल का अभ्यञ्जन रोगी बालक के लिये हितावह हैं।

—श्रीमती सावित्री देवी रावत वैद्या
साहित्य शास्त्राणी, आयुर्वेदरत्न, विद्यावाचस्पति,
इन्द्र औषधालय, नाई की मण्डी, आगरा।



शिशु का प्राकृतिक भोजन

आचार्य श्रीहरदयाल जी वैद्य



परमपिता परमेश्वर के वात्सल्य और संरक्षणात्मक वरदहस्त का देदीप्यमान परिचय देखते हुए भी कोई उसके अस्तित्व से आंख मींच ले, ऐसा विरला ही मानव हो सकता है।

प्रभु का यह वरदहस्त मानव समाज के लिए ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक योनि से जन्मग्रहण करने वाले शिशु के लिए सर्वत्र और सर्वदा एकरस रहता है।

शिशु को अपने भोजन के लिए कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। उसका भोजन उसकी जन्मदात्री के पास प्रचुर मात्रा में रहता है। यही उसका प्राकृतिक और सहज खाद्य है।

आज इस विषय पर पर्याप्त ले दे हो रही है। वैज्ञानिकों ने अपने विज्ञानबल और अनुभवों के आधार पर शिशु के लिए माता के दुग्ध के स्थान पर अनेक खाद्यों का निर्माण किया है परन्तु स्वाभाविकता और कृत्रिमता कसौटी पर एक न रह सकीं। कृत्रिमता जहां और जब जब भी अपनाई गई उसने अपने नग्नरूप दिखाने से चूक नहीं की। अंततोगत्वा आधुनिक उन विद्वानों को जो विश्व-हित में सत्य भाषण श्रेष्ठ समझते हैं, शिशु के कृत्रिम खाद्यों के बरखिलाफ अपने विचार निर्भीकता से व्यक्त करने के लिए विवश होना पड़ा। पाठक! उनके विचार अग्रिम पंक्तियों में पढ़ेंगे।

माता का दूध—

यह तो निर्विवाद है कि शिशु के लिए सर्वोत्तम और निरापद भोजन माता का दूध है परन्तु कुछ ऐसी भी दशायें कभी कभी सामने आती हैं जबकि माता के दूध पर भी थोड़ा विचार करने की आवश्यकता हो जाती है यह दशाएं निम्न हैं—

जब माता रुग्णा हो अथवा उसका दूध सुपच न होकर भारी हो। माता के दूध में ऐसे परिवर्तन प्रायः तब ही होते हैं जब आहार विहार में विषमता हो अथवा माता अनेक रोगों से रुग्ण हो। ऐसी दशा में माता के दुग्ध में गुरुत्व (जलीयांश की न्यूनता) पीतप्रभता (पित्ताधिक्य के कारण), पिच्छिलता एवं दुर्गंधादि गुण उपस्थित हों। ऐसा



चित्र नं० २३



विकृत दुग्ध नवजात शिशु को सात्म्य नहीं पड़ता।

सर्व साधारण के लिए नीचे दुग्ध की परीक्षा लिखी जाती है—

दुग्ध परीक्षा विधि—

माता के स्तनों से थोडा दूध लेकर शीशे के स्वच्छ गिलास मे डाल ऊपर से दूध के समान भाग स्वच्छ जल डालकर हिला दे। यदि जल मिश्रण से दूध लस्सी की तरह पतला और स्वच्छ श्वेत वर्ण का रहे तब निर्दोष समझना चाहिए। इससे भिन्नवर्ण व आकृति धारण करने वाला दूध बालक को न देना चाहिए। यदि विकृत दूध शिशु को दिया जाए तो उसे अनेक विकार उत्पन्न करता है। एवं इस आद्यकाल मे ही यदि शिशु के उदर में अपचन का दोष उत्पन्न हो जाये तब बहुत सम्भव है कि नवजात शिशु समग्र आयु ही अपचन विकार, उदरशूल, कब्ज, पेट का फूलना और दस्तों के रोगों से पीडित रहे। अतः सर्वप्रथम माता का दुग्ध देते समय दूध की परीक्षा कर लेना नितांत आवश्यक है।

अज्ञानता के कारण इस प्रकार का दूध यदि कुछ काल तक दिया जाता रहे तब अनेक भयङ्कर रोग उत्पन्न होने की सम्भावना के साथ साथ यह भी सम्भावना है कि शिशु का ही प्राणांत होजाये। ऐसी अनेक घटनाये प्रतिदिन व्यक्त होती रहती है।

स्तनदान विधि—

नवजात शिशु को जन्म के पश्चात् कब स्तनपान कराना चहिए ? शिशु गर्भशय्या से बाहर आकर कुछ घंटों का भोजन नाभिनाल के द्वारा माता से प्राप्त कर लेता है. अतः कई घंटे उसे स्तन देने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रकृति माता के स्तनों मे अष्टममास मे एक श्वेतवर्ण के तरल (*Colostruem*)की उत्पति आरंभ कर देती है। माता शरीर, आत्मा, इन्द्रिय और मन से स्वस्थ है तब यह तरल जो दुग्ध से काफी पतला होता है तरलावस्था मे ही रहता है और यही शिशु का प्रथम भोजन है। इसमे कुछ विरेचन शक्ति प्रभु ने दी है और इसीके प्रभाव से शिशु के उदर मे स्थित प्रथम मल कृष्णवर्ण का निकल जाता है और तत्पश्चात् शिशु के मल का वर्ण पीत हो जाता है।

किन्तु उपर्युक्त लक्षणात्मक स्वास्थ्य के अभाव मे स्तनस्थ तरल (*Colostruem*)शोक, चिंता, भय आदि से संहित होकर गाढ़ा हो जाता है। अतः स्तनदान से प्रथम स्तन दोहन प्रक्रिया से इसकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिए। यह तरलावस्था का ही दिया जाना चाहिए, संहित या गाढ़ा सा कभी न दिया जाए। संहित दूध निकलने पर्यन्त स्तन को बार बार थोड़ी थोडी देर के बाद दोहन क्रिया करते रहना चाहिए। तरल दूध आने पर ही दिया जाता है।

नाल परिकर्तन और स्तन के पश्चात् अर्थात् जन्म से २।३ घण्टा के पीछे शिशु को सर्व प्रथम विशुद्ध मधु २।३ माशा की मात्रा मे शनैः शनैः चटाना चाहिए। एवं १०।१२ घण्टे के बाद विशुद्ध स्तनपान कराने से बालक प्रायः स्वस्थ रहते है।

धातृ दुग्ध—

सम्पन्न परिवारों मे धाय के रखने का प्रचलन सब देशों के इतिहास की पुरानी प्रथा है और कभी कभी कर्महीन शिशु के लिए भी परिवार वालों को ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है। ईश्वरीय नियम के आधीन तो स्वस्थ माता को कदापि अपने दूध से शिशु को वंचित करने का कोई अधिकार नहीं किंतु आज की नयी सभ्यता और विचार परिवर्तन ने एक नूतन मान्यता को जन्म दिया है जिसे आज जोरों से अपनाया जारहा है।

नवजात शिशु को दुग्धदान करने के लिए जो धाय चुनी जाये, उसके स्वास्थ्य, आहार विहार, मानसिक स्थिति आदि के सम्बन्ध में भी पूर्ण विचार कर लेना चाहिए। धाय की नियुक्ति मे यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि उसकी आयु २० और ३० वर्ष के मध्य हो और उसके शिशु की

आयु भी अपने शिशु के समान हो और उसका अपना नन्हा निर्बल न हो, उसके स्तनों से पर्याप्त दूध निकलता हो, धर्मनिष्ट, मतोपी, साधुवृत्ति, सभ्य और सुशील हो। राजयक्ष्मा, अपस्मार अथवा सुजाक, उपदंशादि भयङ्कर और कुलघातक रोगों से जुष्ट न हो। उसके वस्त्र स्वच्छ हो मुखादि से दुर्गन्ध न न आती हो। जिस स्त्री को ऋतु आना आरंभ हो गया हो उसे धाय के लिए नियुक्त न करे।

दुग्धपान—

माता का दुग्ध व धाय का दुग्ध यदि किसी भी आपत्काल मे उपलब्ध न हो सके तब शिशु के लिए गोदुग्ध और अजाक्षीर का व्यवहार किया जा सकता है।

यहां पर स्मरणीय है कि प्रकृति ने नवजात शिशु के लिए माता के दुग्ध मे ८० प्रतिशत जल दिया है एव माता के दुग्ध मे ८० प्रतिशत जल उपस्थित है या नहीं इसके निर्णय के लिए वातपित्त कफादि से जुष्ट दूध निंद्य माना है कारण कि वातादि दोषों से दूषित दुग्ध मे जलीयांश की ८० प्रतिशत मात्रा का अभाव होता है। दोषरहित जिस मातृ दुग्ध का व्यवहार श्रेष्ठ माना गया है उसमे प्रकृति प्रदत्त जलीयांश उपस्थित रहता है।

अब स्वाभाविक ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि नवजात शिशु को गोदुग्ध अथवा अजाक्षीर जलरहित देना चाहिए या सजल। निःसदेह गोदुग्ध और अजादुग्ध मे भी जलीयांश उपस्थित है परन्तु विचारणीय यह है कि मानवीय नवजात शिशुओं के लिये वह उपयुक्त है या नहीं? स्वाभाविक ही उत्तर नकारात्मक होगा कारण कि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी वर्ग मे भिन्नता से कार्य लिया है अतः स्थानापन्न आहार में भी भिन्नता अवश्यम्भावि हो जाती है। इसलिए माता के दुग्ध के स्थान पर यदि विजातीय वर्ग के दुग्ध की आवश्यकता उपस्थित हो तब उसे जननी के दुग्ध की जलीयाश मात्रा मे युक्त होना ही चाहिए। यदि अज्ञानवश व हठ से इस नियम का पालन न किया जाए तब उसके दुष्परिणाम तुरन्त ही शिशु पर प्रकट होने लग जाते है। इस प्रकार की उपेक्षा शिशु को आयु भर रुग्ण रखने का कारण बन जाती है।

जल मिश्रण—

शिशु को दिए जाने वाले दुग्ध में कितना जल दिया जाना चाहिए? इसमे मतभिन्नता हो सकती है परंतु सिद्धांत भिन्नता नहीं। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा इस सम्बन्ध मे जिस सारणी का अनुकरण किया जाता है वह इस प्रकार है—

प्रथम से चतुर्थ सप्ताह तक शिशु के दुग्ध मे चतुर्गुण जल देकर उसे एक उबाल आने तक औटा के रख लेना और यथासमय आवश्यक मात्रानुसार २॥ से ३ घन्टा के पश्चात् देना चाहिए। एक मास के पश्चात् ८ मास तक त्रिगुण जल और तब ९ मास से १२ मास तक द्विगुण जल मिला दूध दिया जाना चाहिये। तत्पश्चात् समानमात्रा जल मिश्रित दूध दिया जा सकता है। इस नियम के अनुसार व्यवहार करने से शिशु बिलकुल स्वस्थ रहता हुआ दिन प्रतिदिन हृष्ट पुष्ट होता जाता है।

अन्नप्रासन—

सम्वत् सरांत मे शिशु के लिए अन्नप्रासन का समय भी आता है और यह संस्कार कहीं कहीं विशेष समारोह से मनाया जाता है। परन्तु इसके लिए अनेक विचारणीय स्थल उपस्थित है। केवल मात्र १ वर्ष के पश्चात् ही इस संस्कार का चालू कर देना न तो उपयुक्त है न युक्ति संगत ही।

जिन परिवारो मे स्तनधय शिशु के स्तन्य की शुद्धता अथवा उपरि दुग्ध मे आवश्यक जलीयांश के मिश्रण के प्रति उपेक्षा से काम लिया जाता है उसमे बच्चे प्राय ही रुग्ण रहते है। ऐसे रुग्ण बच्चों को नियमित रूपेण सम्वत्सरांत पर अन्नप्राशन कराया जाता है तब उनके स्वास्थ्य मे वृद्धि न होकर स्वास्थ्य क्षय आरम्भ हो जाता है। ऐसी दशा में शिशु को ज्वर, अतिसार, कास, प्रतिश्याय, कोष्ठबद्धता, आध्मान, शरीर की कृशता, आदि अनेक



रोगों के साथ साथ शिशु के मुख मण्डल पर विराजमान सहज आकर्षक सौन्दर्य्य भी लुप्त होता जाता है।

अन्न की अधिक भरमार करने पर शिशु का उदर बढ़ जाता है एवं अन्य रोगों में कृशत्व व्यक्त हो जाता है। यकृत एवं प्लीहा में वृद्धि, शोथ और वेदना की अभिव्यक्ति की सम्भावना भी उपस्थित हो जाती है। अतः उन्हीं शिशुओं को नियमित काल पर अन्न प्रशन कराना चाहिए जो सबल स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट हो।

अन्नप्रासन के आरम्भ में उन भोज्य वस्तुओं का चयन उपयुक्त होगा जो सुपच एवं तरल हों। जैसे साबूदाना, पतली खिचड़ी, एवं मुद्गयूष। प्रारम्भ में एक अंगुली से वस्तु प्रलिप्त करके शिशु के मुख में देनी चाहिए। तदनु दूसरे चौथे दिन एक एक चम्मच पेय अन्न का उपयोग सुखावह हो सकता है। निरंतर दोनों काल अन्न आरम्भ न करना चाहिए।

शिशु को नियमित रूपेण १ वर्ष पर्यन्त क्षीराशी रखना उसके स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

द्वितीय वर्ष के अंत तक उसे क्षीरान्नाशी बनाया जाना उपयुक्त होगा। एवं तृतीय वर्ष के अंत में वह केवल अन्नाशी होने के योग्य बन सकता है। परन्तु बच्चों और बड़ों के लिए दुग्धामृत का पान यथाशक्ति निरन्तर ही रहना अत्यत आवश्यक है।

शिशु के कृत्रिम खाद्यों का आविष्कार क्यों हुआ?

प्रकृति ने इस आविष्कार की आवश्यकता को मूलत. ही नष्ट करके रख दिया था किन्तु मानव मस्तिष्क एक अजीब गोरखधधा है, उसने अपनी गलत धारणाओ से शिशु के कृत्रिमखाद्यों का निर्माण करके एक ऐसा अप्रशस्त पग उठाया है जिसके परिणामस्वरूप शिशु और उसकी माता दोनो को ही रोगों का शिकार बना दिया।

इस स्थल पर भारतीय साहित्य की यह उक्ति ठीक बैठती है कि 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' अर्थात् बैठे थे गणपति का चित्र बनाने परन्तु बन गया बन्दर।

शिशु के प्राकृतिक आहार के सम्बन्ध मे डा. कारपेटर अपनी सुविख्यात पुस्तक Chavasse's Advice to a mother में लिखते है कि शिशु की क्षुधातृप्ति सिवाय जननी के दूध के अमृत से भी नहीं हो सकती। माता के दूध में ही बच्चा हृष्ट-पुष्ट और दीर्घजीवी हो सकता है।

डाक्टर E. H. Redak M. D. अपने शिशु चिकित्सा नामक ग्रन्थ मे लिखते हैं कि संसार मे शिशु के लिये जितने खाद्य द्रव्य हैं उन सबमें ईश्वर प्रदत्त माता का दूध ही प्रधान है।

ए० ए० बहादुर डा० चुन्नीलाल बसु M. D. अपनी 'खाद्य' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि— परम कारुणिक परम पिता परमात्मा ने असहाय शिशु के लिये माता के स्तनों में एक पवित्र और पूर्ण खाद्य संग्रह कर रखा है। माता का दूध ही बच्चे का एकमात्र खाद्य है।

कृत्रिम खाद्य—

कृत्रिम खाद्य पदार्थ के सम्बन्ध में डा० फिशियर M. D. लिखते है कि यदि बच्चे को कुछ समय तक 'मेलिन्सफूड' खिलाया जाये तो उसको आमयुक्त हरे दस्त होने लगते है। इसके प्रभाव से पाक यन्त्र उत्तेजित हो उठता है और उससे उदर पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। 'हरलिक्समिल्क' नामक खाद्य पदार्थ से दूध का सारभाग उसी समय लुप्त हो जाता है। जब वह अपनी दूषित प्रणाली द्वारा सुखाया जाता है उसमे सिर्फ कारबेट आफ सोडा रह जाता है जो अत्यन्त हानिकारक वस्तु है।

डा० थामस डलटन M. D. लिखते हैं—अधिकांश पेटेन्ट कृत्रिम खाद्यों में श्वेतसार (मैदा), शर्करा और रंग मिले होते है। ये समस्त पदार्थ

—शेषांश पृष्ठ ६४ पर।

शिशु तथा मातृदुग्ध

वैद्यराज श्री शेषराव जैन आयुर्वेदरत्न

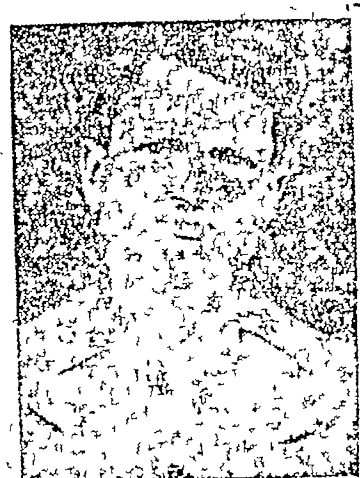


सबल स्वस्थ शिशु ही रहे महादेश का मान।
लालन-पालन में रखें, माता जो अति ध्यान॥
ऐसे बालक ही बनें, गुरुजन भक्त सुजान।
देश जाति गौरव बढ़े, पोषण दुग्ध महान॥

एक कहावत का प्रचलन है कि 'जैसा खावै अन्न, वैसा होवै मन' ठीक यही बात शिशु के लालन पालन के विषय में भी सत्य है। शिशु का मुख्य आहार दुग्ध है और दुग्ध उसे मातृ स्तन्य रूप में ही श्रेष्ठतम प्राप्त हो सकता है। वैसे आजकल पाश्चात्य रङ्ग में रंगी कुछ माताएं शिशु का स्तन-पान कराना अनुचित समझती है। एक वकील साहब जिनकी पत्नी धात्री दुग्ध द्वारा शिशु पोषण की समर्थक थीं प्रश्न करने पर उन्होंने बताया कि इससे यौवन नष्ट हो जाता है, स्तन कठोर नहीं रह पाते वे ढल जाते हैं जिससे पति पत्नी में प्रथम प्रणय का स्वादन न रहने से पति के कुपथगामी होने का भय रहता है। तर्क सुनकर विस्मय भी हुआ और दुःख भी और तब मैंने वकील साहब के भाई साहब के समक्ष ही मातृदुग्ध की वकालत की। न्यायाधीश स्वयं बाई साहब थीं और मुझे इस बात का गौरव के साथ अनुभव हुआ कि ऐसी सुशिक्षित देवियों को यदि उचित ढङ्ग से समझाया जाय तो शीघ्र समझ अपनी भूल का परिमार्जन भी कर लेती हैं। यह हमारी न्याधा-धीश बाई साहब ने सिद्ध कर दिखाया और वे मातृ स्नेह अपने शिशुओं पर न्यौछावर करने लगीं। माना कि धात्री दुग्ध, गौ दुग्ध, अजा दुग्ध आदि शिशु का पोषण भली प्रकार करने में समर्थ हैं। उस दुग्ध से पर्याप्त जीवन सत्व शिशु को प्राप्त हो सकता है। पर वह वस्तु फिर भी शिशु को प्राप्त नहीं हो सकती जो केवल मातृ दुग्ध में विधाता ने सृजित की है। जिस प्रकार रज: वीर्य से शिशु शरीर का निर्माण होता है उसी प्रकार मातृदुग्ध से बालक के हृदय में सात्विक भावों का निर्माण होता है।

मातृ दुग्ध स्नेह का साकार स्रोत है जो अविरल प्रवाहित होकर हृदय में शिशु की ममता तथा उस ममतायुक्त दुग्ध से पोषित शिशुओं में मातृभक्ति वात्सल्य शुद्ध सात्विक भावनाओं का निर्माण करती है। वीर माता ही अपने दुग्ध पीने वाले शिशु को कह सकती थी बेटे मेरे दूध की लाज रखना। वीर शिवाजी अपनी माता के वाक्यों को वेद वाक्य मान स्वातंत्र्य होली खेले क्यों? माता जीजाबाई के दुग्ध में व्यापित उनकी भावनाओं के परिणामस्वरूप ही तो। अत हमारी माताओं को पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करना शोभास्पद नहीं।

मेरे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि धात्री दुग्ध सर्वथा त्याज्य ही है। अवस्था विशेष पर धात्री दुग्ध दिया जा सकता है। शास्त्रकारों ने अत्यन्त गवेषणा कर मातृ दुग्ध की समानता में धात्री दुग्धपान के लिये धात्री में- निम्न गुणों का होना अतीव आवश्यक माना है। अर्थात् धात्री समान जाति, समानवय, विनीत, स्वस्थ, निर्व्य-सनी, अव्यंगी, अविरूपा (जिसका अङ्ग विकृत अथवा कुरूप न हो) जिसे देखने से घृणा उत्पन्न



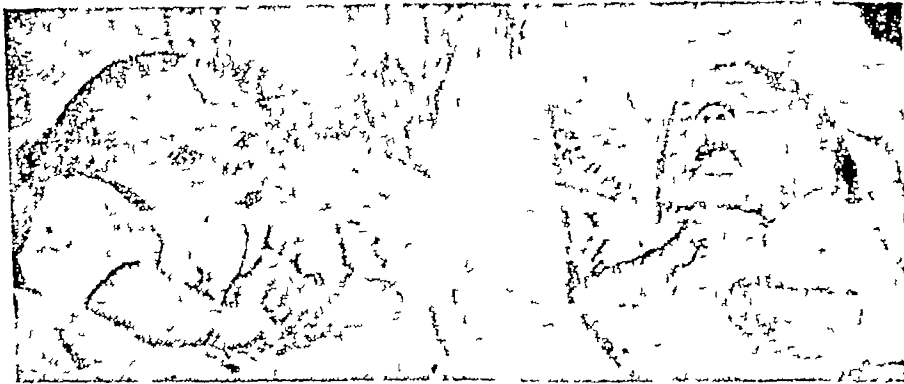


न हो अर्थात् जो स्वयं स्वच्छ रहकर शिशु को भी स्वच्छ रख सके। नीच कर्म करने वाली न होकर उच्च कार्यकर्ता हो, कुलीन हो, वात्सल्यवती, जीवित पुत्र वाली, प्रचुर तथा निर्दोष दुग्ध वाली हो। पागल, देर तक सोने वाली तथा धर्माचरण से पतित न हो, जो शीघ्र जागकर बालसेवा दक्षता-पूर्वक कर सके। जो स्वयं पवित्र रहकर शिशु को भी पवित्र रख सके तथा जिसके स्तन और स्तन्य श्रेष्ठ गुणों से युक्त हो। ऐसी धात्री मातृ दुग्ध समान शिशु को स्तनपान करा सकती है। अब पाठक स्वयं विचार करें कि ऐसी धात्री क्या सुलभ है। और वह पाश्चात्य रंगों में रंगी माताओं के

समर्थ वाऽगमर्थवां, कृशं नान्कृशं तथा।
रक्षत्येव सुतं माता, नान्य पोषण विधानतः॥
—महाभारत शांति पर्व

अतः माताओं से मेरी प्रार्थना है कि विलासितायुक्त आधुनिक फैशन को त्याग शुद्ध भारतीयता को अपना कर अपनी भावी सन्तान को अपने स्नेह का दान कर अपनी त्याग, ममता, मातृ स्नेह के द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास कर आदर्श मातृत्व की गरिमा से शोभित हों।

आपत्तिकाल अर्थात् माता के मृत होने, रुग्णावस्था में होने अथवा स्तन व्यापद् हो जाने पर उपरोक्त गुण-दोषों का गहन विचार कर माता के



चित्र न० २४—दो जुड़वां बच्चे—प्रथम शिशु ने माता का दूध पिया है तथा द्वितीय बच्चे को कृत्रिम पोषण पर रखा गया है।

सुलभ हो सकती है। जब नहीं तो फिर अन्य दुग्ध तो शिशु के लिये प्रगति बाधक हैं अतः शिशु के हितेच्छु माताओं को आधुनिकता का रंग छोड़ स्वयं का स्तन्य ही शिशु को पान कराकर ममत्व का आनन्द लेना चाहिये। उपरोक्त गुणयुक्त धात्री मिलने पर भी शास्त्रकारों ने मातृदुग्ध ही श्रेष्ठ मान कर कहा है—

'मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देह वृद्धये।
स्तन्य धात्र्या क्रमे कार्यं, तदसम्पदि वत्सले॥'
—अ० हृ० उ० अ० १–१९

नास्ति मातृ समाच्छाया, नास्ति मातृ समागतिः।
नास्ति मातृ सम त्राणं, नास्ति मातृ समा प्रिया॥
मातृ लाभे सनाथत्वम, नाथत्वम विपर्यये।

सदृश ही स्तन्य धात्री का दुग्धपान शिशु को कराने की शास्त्र आज्ञा देता है। यदि उपरोक्त गुण वाली धात्री प्राप्य न हो तो जीवित वत्सा गौदुग्ध देना ही श्रेयष्कर है।

धात्री दुग्ध देने की अवस्था में धात्री के कुछ विशेष कर्मों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। धात्री अथवा माता को भी अत्यन्त स्वच्छताप्रिय होना चाहिए। उसे बालक को पूर्णतः स्वच्छ रखना चाहिये। शिशु को गन्दे वस्त्रों में अथवा गन्दे स्थानों में रखना एकदम निषेध है। मल-मूत्र करते ही एकदम बिना आलस्य के तत्काल शुद्ध करना चाहिये। बालक के स्वच्छ रखने के साथ ही उसे

स्वयं के हाथ पैर, केश, नख, वस्त्र, दन्त, स्तन आदि पूर्ण स्वच्छ रखने चाहिये। बाहर कहीं से आने पर स्तनों को उष्णोदक से धोकर ही शिशु को स्तनपान कराना चाहिये। बहुधा धात्री अथवा माता चूल्हे के पास भोजन बनाते समय ही शिशु के रोने की आवाज सुन दौड़ी जाती है एवं बच्चे को वैसे ही लेकर स्तन मुंह में दे चूल्हे के पास ही रोटी बनाया करती हैं। यह एक खतरनाक तरीका है तथा शिशु के लिये रोग का आमंत्रण है। उसी प्रकार मल-मूत्र त्याग से आने के उपरान्त, धूप से आने के एकदम बाद शिशु को दुग्धपान कराना एकदम निषेध है। शिशु को दुग्धपान कराते समय स्तनों को उष्ण शुद्ध जल से धोकर तथा थोड़ा सा दूध बाहर निकालकर पश्चात् स्तन शिशु के मुंह में देना चाहिये। धात्री अथवा माता को संक्रामक रोगों तथा उनसे बचने के प्रतिषेधक उपाय स्वास्थ्य-रक्षा का भी आवश्यक ज्ञान होना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ तथा वसंत ऋतु में शीतला माता, रोमान्तिका, कनफेड़, आंत्रिक ज्वर, वर्षा ऋतु में प्रवाहिका, बालातिसार, विशूचिका, चर्मरोग आदि, शरद् ऋतु में ज्वर, प्रतिश्याय, कास तथा हेमन्त ऋतु में फुफ्फुस, पाकादि रोग होते हैं। यदि धात्री को इतना सामान्य ज्ञान है तो वह बालक को कब कैसा जल पिलाना, आहार देना चाहिये आदि समझ कर बालक का उपकार कर सकती है। रोग ज्ञान का जहा तक शिशु से सम्बन्ध है, वहां धात्री के रुग्ण होने पर शिशु पर भी घातक प्रभाव पड़ता है। अतः यदि दुग्ध प्रदात्री को कुछ भी कष्ट है तो तत्काल उसके शमन पर ध्यान देना चाहिये और कष्ट शमन पर्यन्त बालक को दुग्धपान तथा धात्री सम्पर्क से पृथक रखना चाहिये। उसी प्रकार मासिक धर्म के समय भी बालक को दुग्धपान एवं सम्पर्क से पृथक रखना चाहिये।

धात्री अथवा माता को खानपान तथा साधारण औषधि का विशेष रूप से ज्ञान होना आवश्यक है। गरिष्ठ भोजन, बासा भोजन करने से आध्मान होकर दूध ठीक से नहीं उतरता। इन्द्रायण, जयपाल मिश्रित विरेचक योग लेने से उसका उत्सर्ग दुग्ध पर होकर शिशु को भी वमन विरेचन हो सकते हैं। उसी प्रकार भांग, गांजा, अफीम, तम्बाकू, शराब आदि मादक द्रव्यों का सेवन करने से उसका प्रभाव दुग्ध में मिश्रित होकर शिशु को हानि पहुंचा सकता है। कुछ ऐसे द्रव्य जैसे जीरक, सुपारीपाक, जीरकाद्यरिष्ट, अश्वगन्धा, शतावरी, सिंघाड़े एवं मूत्रल द्रव्य उशीर, कुशमूल आदि के सेवन से दुग्ध वृद्धि होती है। अतः जब मानसिक चिन्ता, क्रोध, भय, अनिद्रा आदि की स्थिति आ पड़े और दुग्ध में न्यूनता प्रतीत हो तो इनका प्रयोग करना चाहिये। धात्रियों को साधारण रोग ज्ञान, बुद्धि चातुर्य एवं धैर्यशाली होना भी आवश्यक है। बहुधा देखा जाता है कि जब बालक को थोड़ा सा भी कष्ट हुआ तो माता घबडा जाती है और अपनी बुद्धि को ताक में रखकर मूर्खा स्त्रियों के समान झाड़फूंक, टोटके आदि में लग जाती है। उसे लाभ तो होता नहीं बल्कि रोग बढ़ जाने से अच्छे चिकित्सक भी उसे ठीक करने में कठिनाई अनुभव करते है। ज्वर, मसूरिका, आंत्रिक ज्वर आदि में बालक शुद्ध वायु से न रख घुप्प अंधेरे कमरे में रखना माता या धात्री की बुद्धिहीनता के उदाहरण हैं।

खान पान के सम्बन्ध में मैंने माताओं को अधिक दोषी देखा है। उनके अमर्यादित शिशु स्नेह ही ने कई बार उनके प्यारे शिशु को उनसे छीन लिया। फिर भी उनका अपने बच्चे को स्वास्थ्य के प्रतिकूल चुपके चुपके मिठाई हल्वा तैलीय बासे पकवान खिलाना चिकित्सक के लंघन या भोजन अथवा दुग्ध न देने का आदेश देने पर भी मेरा बच्चा दुर्बल हो जायगा इससे चोरी चोरी बच्चों को खिलाना माताओं की खास आदतें हैं। इस प्रकार अपने बच्चों को शीघ्र मोटा ताजा बनाने का स्वप्न देखने वाली माताएं अपने बच्चों को अति दुर्बल, भौंड़ी शक्ल के अथवा नागर पेट्ट बना



डालती है। नियमानुमोदित माताओं के बालक अनुशासन प्रिय स्फूर्त्तियुक्त, स्वच्छ एवं स्वस्थ मिलते हैं। अतः माताओं को अपने बालकों को नियमित आहारी बनाना चाहिए। दुग्धपान कराने के समय भी नियमित रहना चाहिए। दुग्धपान की उपयोगिता एवं गुणकारिता तभी है जब शिशु उसे भली भांति पाचन कर सके। जन्म के ६ से ८ घंटे पश्चात् शिशु को स्तनपान प्रति ३-३ घन्टे के अंतर से पहले १ मिनिट फिर क्रम क्रम से बढ़ाते हुए १० मिनट तक स्तन देना चाहिए। प्रातः ६ बजे, ८ बजे, १२ बजे अपरान्ह ३ बजे, साय ६ बजे तथा पूर्ण रात्रि १० बजे। रात्रि में स्वस्थ शिशु को एक बार से अधिक स्तन नहीं देना चाहिए। दूध पिलाने का काम रात्रि में क्रम से १ घन्टा तक बढ़ाया जा सकता है। स्तनपान कराते समय धात्री को स्तन धोकर १ ग्लास जल पी लेना चाहिए। धात्री को खान पान में दूध मक्खन मठ्ठा क्रीम अंडे अधिक सेवन कराने चाहिए। सिरका, खटाई, खट्टे फल, बासा, भारी भोजन का धात्री को त्याग कर देना चाहिए। हरी वनस्पतियों एवं जीवनीय पदार्थ विशेष लेने चाहिए। दुग्ध धात्री को शुद्ध वायु सेवन एवं उचित व्यायाम तथा पूर्ण निद्रायुक्त आराम का समय अवश्य मिलना चाहिए जिससे उसका दुग्ध दूषित न हो सके। दुग्धोत्पत्ति के प्रथम सप्ताह मे दुग्ध की न्यूनता रहती है। अतः इन दिनों दुग्धपान के पश्चात् या पूर्व १ पाइण्ट जल में ½ चम्मच नमक मिलाकर पी लेना चाहिए।

एक विशेष बात धात्री एवं शिशु के पालक पिता को कुमाराभरण की दृष्टि से नोट करने की यह है कि शास्त्रों में धात्री के लिये कुमार के दुग्धपान काल मे मैथुन कर्म से एक दम विरत रहने का आदेश दिया है। इस काल मे धात्री को एकदम ब्रह्मचारिणी रहना चाहिए। शास्त्र वाक्यों की सत्यता से मेरे चिकित्सक भाई तो परिचित हैं ही। मैंने अपने चिकित्साकाल में बहुत से पिताओ तथा माताओं से इसकी प्रतिज्ञा कराने के पश्चात् ही चिकित्सा कर उनके प्राण बचाये हैं। इस कर्म के करने से जिस रज से शुद्ध दूध का निर्माण होता है वह रज मैथुन कर्म से पात होने से दूध दोषी, भारी हो जाता है। इस दूध के पान करने से पारिगर्भिक, पारिगर्भिक से बाल शोष, फक्क, क्षीरालसक, छर्दि, बालातिसार आदि व्याधियां घिर कर बालक का जीवन समाप्त कर देती है। माता पिता इलाज करते हैं कुछ लाभ भी होता है लेकिन फिर वही हालत। एक चिकित्सक से दूसरे, दूसरे से तीसरे के पास इस प्रकार एक को दूसरे से होशियार या कमजोर की विशेषता से विभूषित करते शिशु के माता पिता परेशान होजाते हैं। मगर वे अपनी कमजोरी नहीं समझ पाते। अतः आवश्यक है कि दुग्धपानावस्था में मैथुन त्याग दें। मैंने यहां तक विलासिता की चरम सीमा देखी है कि एक माता का पहला शिशु १ वर्ष का और दूसरा १॥ मास का और दोनों ही शिशु कीड़े मकोड़े के समान बिलबिल करते मातृ-स्तन्य पीते थे। बहुत चिकित्सा के उपरांत भी दोनों में से कोई भी जीवित न रह सका। अतः माताओं और पिताओं को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। साथ ही उन्हें मैथुनी रोगों के परिणामों से भी परिचित रहना चाहिए। सहज फिरंग से पीड़ित बालक स्तनपान से धात्री को भी दूषित कर सकता है। जन्म के समय पूयमेह से पीड़ित माता शिशु को गंभीर नेत्राभिष्यन्द दे सकती है। अत. इस ओर सभी शिक्षित माता पिताओं को लक्ष देकर इन भावी कर्णधार कुमारों के प्रति अपने पावन स्नेह का अविरल स्रोत बहाना चाहिये।

आइये पाठ्यवृंद इतना लिख चुकने के पश्चात् कुमाराभरण के दूसरे पहलू पर भी अति सक्षेप नाति विस्तार से सम्यक् दृष्टिपात करें। इनमे प्रथम है—दुग्धाभाव अथवा दुग्ध का कम आना तथा दूसरा है स्तन्य दुष्टि।

क्रोध शोका वात्सल्यादिभिश्च, स्त्रिया स्तन्य नाशो भवतिः।

—सु. शा. अ. ८६

"शोक क्रोध लंघनाऽऽयासाः स्तन्यं नाशयन्त्येव."
—अ. हृ. उ. अ. १-१७

अवात्सल्याच्छोकाद्भयात्क्रोधादत्यपतर्पणात्।
स्त्रीणां स्तन्य भवेत्स्वल्प, गर्भान्तरविधारणात्॥
—भा प्र पूर्वखंड

इस प्रकार कामक्रीडा, क्रोध, शोक, लंघन, भय, स्तनपाक, संतान के प्रति स्नेहाभाव, आयास, कर्षण, अपतर्पण, पुन. गर्भधारण आदि दुग्धाल्पता के कारण हैं। अतः क्षीरनाशावस्था में चिकित्सा करने के पूर्व क्रोध शोक भय आयास आदि का परित्याग कर माता को शिशु कल्याणार्थ प्रसन्नमना रहना चाहिए। साथ ही उपरोक्त निर्देशानुसार संयम एवं आहार विहार विषयक नियमों का सम्यक् पालन करना चाहिए। आहार में कमल कंद, सिंघाड़ा, विदारीकंद, शतावरी, नाड़ीशाक, कद्दू, चौलाई, रामतोरई, प्याज, यव गेहूँ शालि एवं षष्ठिक (सांठी) चावल, मांसयूष, मुद्गयूष, द्रव पदार्थ तथा मधुर एवं अम्ल रस प्रधान द्रव्यों का विशेष रूप से सेवन करना चाहिए। भूमिकुष्मांड पाक, सौभाग्य शुण्ठी पाक, शतावर्यादिपाक, अश्वगन्धापाक दुग्धवर्धनार्थ विशेष रूप से दिये जा सकते हैं। मात्रा आधे से १ तोला तक प्रातः सायं अवस्थानुसार देनी चाहिए। उशीरमूल, शालिमूल, दर्भमूल, कुशमूल, काशमूल, षष्टिकमूल, इक्षुमूल, गुन्द्रा (जल कर्दम) मूल, शरमूल, एवं इक्षुवालिका (इक्षुभेद) मूल इन दश मूलों को समान भाग लेकर चतुर्गुण क्वाथ माता को दो बार पिलाने से प्रचुर दुग्ध वृद्धि होती है। वन लसुन के बीजों को पान में ७ से ११ की मात्रा में दिन में ३ बार देने पर दुग्ध वृद्धि हो जाती है। अब एक और उपाय वैद्य समाज के सन्मुख अनुभूत रखता हूँ। वह यह कि जिस माता को दुग्धाभाव हो उसी माता का जितना भी प्राप्त हो सके उतना ही दुग्ध निचोड़ कर टैस्ट ट्यूब में ले, स्प्रीट लैम्प पर उबाल कर फिल्टर पेपर से छान ठंडा होने पर २ सी. सी. की मात्रा में नितम्ब की मांसपेशी में सूचीवेध प्रति चौथे दिन करे। साथ में उल्लेखित पाक एवं क्वाथों में से १-२ प्रयोग अवस्थानुसार चालू करें। अवश्य प्रचुर मात्रा में दुग्ध वृद्धि होगी।

अब दूसरा पहलू स्तन्यदुष्टि है। दुष्ट दुग्ध परिचय के पूर्व यह आवश्यक है कि दूध शुद्ध कैसा होता है। उसका भी ज्ञान है। इसके लिये दुग्ध की परीक्षा जल पात्र में डालकर करनी चाहिए। शुद्ध दूध शीतल, पतला, निर्मल, शंख समान दीप्तिवान हो, जल में डालने पर जल में एकीभाव हो जावे। उसमें किसी प्रकार का फेन अथवा तन्तु इत्यादि दृष्टिगत न हो। तथा वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श में प्राकृतिक तो वही शुद्ध कहलाता है। तथा इसी प्रकार के शुद्ध दुग्ध में जीवनीय, बृंहणीय, सात्म्य, स्नेहिक, स्थैर्यकर, शीतल, चक्षुष्य, बलवर्द्धक, लघु, दीपनीय, पथ्यकारी, पाचक एवं रुचिकारी ये त्रयोदश गुण होते हैं जो शिशु के शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के लिये आवश्यक होते हैं। किंतु धात्री अथवा माता के आहार विहार की दुष्टि अर्थात् अजीर्ण भोजन, असात्म्य भोजन, विषम, भोजन, विरुद्ध भोजन, व अतिभोजन, लवणाम्ल, कटुक्षारीय, बासे पदार्थ सेवन, अधिक मधुर अभिष्यन्दी, अति ग्राम्य एवं आनूप मांस तथा मद्य का सेवन, गुरु पदार्थ सेवन, शारीरिक उपाय, वेगावधारण, भोजन के बाद तत्काल शयन, मैथुन, क्रोध, शोक, चिंता, दुःस्वप्न, भय आदि मिथ्याहारों से दुग्ध में विवर्णता, कुष्टगंध, विरसता, पिच्छिलता, फेनाधिक्य, रूक्षता, गुरुता, एवं अति स्निग्धता आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

त्रिदोष विज्ञानानुसार इन अष्ट प्रकार की दुग्ध दुष्टि के प्रमुख हेतु वात, पित्त कफ का दोषानुसार प्रधानता का विचार चिकित्सा सौकर्य्य की दृष्टि से करना चाहिए। यथा—

वात दूषित दुग्ध—

दुग्ध वर्ण श्यावारुण, कषाय अनुरस, विषदगुण प्रधान अपिच्छिल, गंधरहित, रूक्ष, द्रव, फेनयुक्त, लघु, अतृप्तिकर, विरस, एवं सेवन करने से कृशता



लाने वाला होता है।

पित्त दूषित दुग्ध–

वर्ण कृष्ण, नील, पीत अथवा ताम्र आभावत् होता है। कटु या तिक्ताम्ल अनुरस, कुणप (शव) अथवा रुधिर के समान गंध वाला, उष्ण एवं अनेक पैत्तिक विकारों को उत्पन्न करने वाला होता है।

कफ दूषित दुग्ध—

अत्यधिक श्वेत वर्ण, अधिक मधुर, लवण अनुरस, घृत तैल वसा वा मज्जा के समान गंध वाला, पिच्छिल तन्तुयुक्त एवं जल में डालने पर नीचे बैठने वाला होता है।

इसी प्रकार द्वन्द्वज (दो दोषों से युक्त) एवं त्रिदोषज (तीनों दोषों से युक्त) दोषों की कल्पना वैद्य को लक्षणानुसार कर लेनी चाहिए।

चिकित्सा–

सर्व प्रथम दुग्ध धात्री अथवा माता का दुग्ध शिशु के लिये एक दम घातक समझ कर शुद्ध होने तक बंद कर देना चाहिए। तदुपरांत दूषित दुग्धा को रात्रि मे सोते समय शुद्ध एरण्ड तैल (*Caster oil*) ½ से १ औंस तक उष्ण गो दुग्ध में मिलाकर पिलाना चाहिए। प्रात. ८.०० बजे पेया मिलाकर मदनादि वमन चूर्ण ६ माशा से १ तोला अथवा नमक १॥ माशे, फिटकरी ६ रत्ती, नीम पत्र ६ माशे को ४ तोला उष्ण जल में पीस छान कर पिला देवें। आधा घंटे पश्चात् गले तक उंगलिया चलाकर वमन करा देवें। वमन में संपूर्ण पेया निकल जाना चाहिए। इसके पश्चात् सुखोष्ण गो दुग्ध १ पाव मे १ तोला गोघृत, ५ काली मिर्च, शहद ६ माशा मिलाकर पिला देना चाहिए। इसके पश्चात् मूल शोधक चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। आचार्य भावमिश्र ने भावप्रकाश ग्रंथ मे ३ प्रकार के स्तन्यशोधक क्वाथों का वर्णन किया है। मैंने इन तीनों क्वाथों को प्रयोग कर अनुभूत पाया है—

(१) भारङ्गी, देवदारु, बच, और अतीस प्रत्येक ३ माशे जल १६ तोले में क्वाथ औटाकर ४ तोले शेष रहने पर छान कर ठंडा होने पर पिलावे। प्रातः सायं तत्काल निर्माण कर पिलाना अधिक लाभप्रद है।

(२) पाठा, मूर्वा, नागरमोथा, देवदारु, चिरायता, सौंठ, इंद्रायण, सारिवा, तथा कुटकी प्रत्येक १॥-१॥ माशा जल १६ तोले औटाकर अवशेष क्वाथ ४ तोला प्रात. सायं दें।

(३) परवल, नीमपत्र, पीतशाल, देवदारु, पाठा, मूर्वा, गिलोय, कुटकी, सोंठ, प्रत्येक १॥-१॥ माशे जल १६ तोले अवशेष क्वाथ ४ तोले, प्रातः सायं दें।

आहार मे मुद्ग यूप, शालि या साठी चावल, दूध, मांसयूप, कुलथी, अंडे, चौलाई, उदुम्बर, परवल, लहसुन, प्याज, पपीता. कद्दू, मसूर, गेहूँ, जव, सिंघाड़ा आदि पौष्टिक सुपाच्य आहार हैं।

भोजन के पश्चात् जीरकाद्यरिष्ट, अश्वगंधारिष्ट, द्राक्षारिष्ट तीनों का समान भाग मिश्रण २ तोले की मात्रा मे भोजन के पश्चात् दें। आचार्य काश्यप ने कुछ स्तन्यशोधक क्वाथ और भी बताए है जो सुलभ एवं उपादेय हैं। यथा—

(१) अमृता और सप्तपर्ण (सतवन) की छाल का क्वाथ।

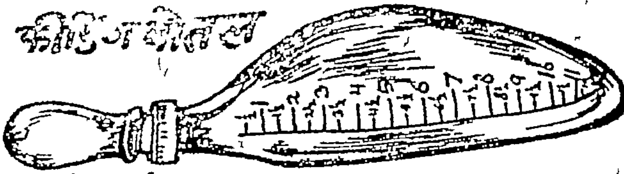
(२) अमृता सप्तपर्ण और मुस्ता क्वाथ।

(३) चिरायता, त्रिफला, वच, दशमूल, मुलहठी, अमृता और द्राक्षा क्वाथ।

स्तन्य शोधक और भी बहुत से द्रव्य एवं औषधियां यथा देश काल विचार से प्रयोग में लाई जाती है तथा ग्रन्थो मे वर्णित भी है। उन सबका उल्लेख कर लेख का कलेवर बढ़ाना अभीष्ट नहीं है। अतः शोधन के पश्चात् बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए जिससे यदि माता मे रक्ताभाव हो तो उसकी पूर्ति हो जावे। उसके लिये मैंने स्तन्यवर्धक उपायों में वर्णन कर दिया है। उन्हीं औष-

धियो को इन्हीं शोधक चिकित्सा द्रव्यों के साथ अथवा पश्चात् जैसी अवस्था हो देना चाहिए तथा आहार विहार में संयम रखना चाहिए। इससे दुग्ध शुद्धि तथा दुग्ध वृद्धि होकर शिशु को शुद्ध सात्विक दुग्ध प्राप्त होकर उसका सर्वांगीण विकास होगा।

किसी कारणवश मातृ किंवा धात्री दुग्ध अप्राप्य होने पर शिशु के लिए अनुकूल दुग्ध की आवश्यकता पड़ती है। मातृ दुग्ध के पश्चात् इस दुग्ध की अधिकतम समानता में अजा तथा गोदुग्ध की गणना की जाती है जो सौम्य, सात्विक, शीतल, कोमल, रक्तपित्त, वायु तथा पित्तजन्य विकारनाशक होता है। इसमें भी प्राथम्य अजा दुग्ध को ही देना शिशु के पोषण हितार्थ उत्तम है। कारण बकरी लघुकाय अनेक प्रकार के कटु तिक्त



चित्र नं. २५

शाक पातों का सेवन करने वाली, अत्यल्प जल पीने वाली, दिनभर व्यायाम करने वाली इन चार सद्-गुण युक्त होने से उसके दुग्ध में सर्व व्याधिविनाश-कता आजाती है। अजा दुग्ध शीतवीर्य, मधुर



चित्र नं० २६

कषाय रस युक्त, लघु, रक्तपित्त, अतिसार, क्षय, श्वास, कास, ज्वर शोषनाशक तथा ग्राही एवं दीपक विशेष गुण युक्त होता है। बकरी दुग्ध गोदुग्ध से अधिक वीर्यवान तथा क्षतक्षीणों के लिये अमृतोपम



चित्र नं० २७

है। इसके अभाव में गो दुग्ध लेना चाहिए। क्योंकि गो दुग्ध मृदु, स्निग्ध, घन, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, मंद, प्रसन्न, जीवनीय, रसायन, अल्पाभिष्यन्दि, पथ्य-कारी, रुचिकारी, कांतिदाता, प्रज्ञाप्रद, मेध्य, पुष्टि-कारी, वीर्यवर्धक, स्तन्यकृत्, दोषधातु मल क्लेदक और जरानाशक होता है। इनमें बाखरी गौ का दुग्ध विशेष अनुभूत है। इस प्रकार दुग्ध में समान भाग जल मिलाकर उसमें शुंठी, पापडी, तुलसीपत्र एवं ८-१० द्राक्षा (मुनक्का) डालकर खूब औटा लेना चाहिए। पानी जल जाने पर छान कर ठंडा होने पर कूपिका द्वारा या रुई के फोहे द्वारा बालक को पिलाना चाहिए।

द्राक्षा के स्थान पर छानकर ठंडा करने पर या पिलाते समय १-२ चम्मच गुलूकोस भी मिला सकते है। कुछ लोग महिषी दुग्ध का भी बालकों को पिलाने में प्रयोग करते हैं। किंतु महिषी दुग्ध अधिक स्नेहांशयुक्त, गरिष्ठ, दुष्पाच्य, असात्म्य, निद्राकारी, अग्निनाशी, अभिष्यन्दि होने के कारण शिशु के लिये हितकारी नहीं है। निम्न तालिका द्वारा दुग्ध संघठन ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

निम्न तालिका से दुग्ध उपयोगिता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।



क्रम	नाम दुग्ध	घन भाग	प्रोभूजिन	शर्करांग	स्नेह	क्षार	गुरुता
१	स्त्री दुग्ध	११.५–१३.५	१.०–१.६५	५.८–६.५	२.०–३.६५	०.१५–०.२५	१०३०–१३४०
२	गो दुग्ध	१२.६–१४.५	३.४–४.०	४.५–५.२	३.०–३.८५	०.४५–०.६५	१०२६–१०३५
३	अजा दुग्ध	१५.५–१६.५	५.८–७.५	४.५–५.०	५.२–८.६	०.६–१.३	१०३५–१०४२
४	महिषीदुग्ध	१८.०–२२.५	५.०–६.१५	५.०–५.४	६.५–८.७५	०.७–०.६५	१०३८–१०४२

इसके अतिरिक्त आजकल बाजार में परिशुष्क दुग्ध, सघनीकृत दुग्ध एवं पौष्टिक आहारयुक्त दुग्ध विक्रयार्थ प्रस्तुत आधुनिक विज्ञान की देन हैं। मातृ या धात्री दुग्ध भी अप्राप्त हो तथा निरोगी गौ या अजा दुग्ध भी प्राप्त न हो सके। अथवा प्रवास में गौ या अजा को पूर्णतया शुद्ध एवं विसंक्रमित न रखा जा सके। जहा तत्काल किसी भी दुग्ध की प्राप्ति संभव न हो अथवा जहां उपसर्ग पीड़ित दुग्ध की संभावना हो वहां इन दुग्धों से लाभ उठाया जा सकता है। परिशुष्क दुग्ध में दोष इतना है कि उसमें जीवनीय द्रव्य और वह भी विशेष कर जीव तिक्ति "स" (*Vitamin C*) नष्ट हो जाता है। अतः अलग से संतरा नारंगी नीबू, टमाटर का रस बालक को देना चाहिए। सघनीकृत दुग्ध बाजार में शर्करायुक्त, एवं शर्करा विरहित दोनो प्रकार का मिलता है। शर्करायुक्त दुग्ध में एक भाग दुग्ध मे ८ भाग जल मिलाने से प्रांगोदीय दृष्ट्या यह मातृ दुग्धवत हो जाता है। किन्तु प्रोभूजिन एवं स्नेहांश कम हो जाता है। यह दूध शीघ्र पाचित हो जाता है। अर्ध प्रगल्भ शिशु पोषणार्थ लाभप्रद माना जा सकता है। किंतु अधिक दिन देते रहने पर बच्चों को सूखा रोग होने का भय भी रहता है। दूसरे उसे उपसर्ग से बचाना भी अनिवार्य है। अन्यथा खराब होने का भी भय रहता है। इस दुग्ध को देते-रहने पर जीवनीय "स" (*Vitamin C*) देते रहना आवश्यक है। शर्करा विरहित दुग्ध एक विशेष स्थान रखता है। तथा इसे सफलतापूर्वक शिशुपोषणार्थ व्यवहार कर सकते हैं। आवश्यकता पर अलग से द्राक्षा शर्करा (*Glucose*) इसमें मिश्रण कर सकते हैं। तीसरे अतिरिक्त आहारयुक्त दुग्ध में स्टार्च अधिक होता है अतः ६ माह से नीचे के बालकों को इसे नहीं देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त यदि शिशु को प्राकृत दुग्ध सुलभ हो तथा उसका स्वास्थ्य उत्तम प्रगतिशील हो तो इन्हें देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

—वैद्यराज श्री शेषराव जैन आयुर्वेदरत्न,
जनपद आयुर्वेदिक औषधालय, अर्जुनी
वाया-तिरोड़ा जिला भण्डारा (महाराष्ट्र)

पृष्ठ ५६ का शेषांश

मिले हुए और बासी होने के कारण अजीर्ण एवं क्षुन्नाश और अग्निमांद्य आदि को उत्पन्न करते हैं। एक रुपये के मूल्य वाले मैलेन्सफूड की अपेक्षा एक आने का अरारोट कहीं अच्छा है। मैलेन्सफूड से सिवाय के दस्त के किसी और की आशा नहीं करनी चाहिये।

कृत्रिम दुग्धपान-

साम्प्रतिक दुग्धपान की विधियों से शिशुओं को दुग्धपान करने मे पर्याप्त सहायता उपलब्ध है। परन्तु बोतल और निपिल्स को प्रतिदिन भली प्रकार स्वच्छ कर लेना चाहिये। उत्तम तो यही है कि प्रति सप्ताह निपलें बदल दी जाएं अन्यथा प्रतिदिन स्वच्छ कर लेने पर भी १५ दिन के पश्चात् निपलें बदल दी जानी चाहिये। ऐसा करने से निपलों के भीतर मल अथवा कृमि संचय का भय नहीं रहता और शिशु भी प्रतिदिन उत्तरोत्तर स्वास्थ्य लाभ करके हृष्ट-पुष्टता प्राप्त करता है।

—आचार्य श्री हरदयाल वैद्य, आयुर्वेदाचार्य
अध्यक्ष श्री मूलचन्द खैरायती राम ट्रस्ट
आयुर्वेदिक चिकित्सालय, लाजपत नगर, नई दिल्ली

स्तन्यजनन-नाशन एवं शोधन

श्री विश्वनाथ द्विवेदी B. A. शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ।



स्तन्यजननम्

(Lactogogue-Galactogogue)

पर्याय–

स्तन्यजननम्, स्तन्यवृद्धिकरम्, स्तन्यवर्धनम् ।

परिभाषा–

जो द्रव्य धात्री या माता के दुग्ध को बढा देते हैं, उन्हें 'स्तन्यजनन' कहते हैं ।

धात्रीणामथवामातु. स्तन्यं संवर्धयन्ति ये ।
ते स्तन्य जननानि स्यु. यथा प्रोक्ता शतावरी ॥ स्व.
स्तन्य जनयतीति स्तन्यजननम् (यो०)

द्रव्य—

"वीरण, शालि, षष्टिक, इक्षुवालिका, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्र, इत्कट, तृणमूलानि इति दशेमानि स्तन्य जननानि । चरक (सू० अ० ४)

सुश्रुत—(१) काकोल्यादि गण (सु० सू० ३८)
(२) विदारिगंधादि गण (,, ,, ,,)

काकोल्यादि गण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुडूची, कर्कटशृङ्गी, वंशलोचन, पद्मक, प्रपौण्डरीक, ऋद्धि, वृद्धि, मृद्वीका, जीवन्ती, मधुयष्टि ।

विदारीगंधादि–शालपर्णी, गोक्षुर, कृष्णसारिवा, मुद्गपर्णी, हंसपदी, विदारी, पृश्निपर्णी, जीवक, वृहतीद्वय, वृश्चिकाली, महाबला, शतावरी, ऋषभक, पुनर्नवा, कपिकच्छू, नागवला, सारिवा, माषपर्णी, एरण्ड ।

इनके अतिरिक्त अन्य द्रव्य—दुग्ध, मधुर रस वाले द्रव्य, रसालमधुरफल, मधुररस, क्षीर के बने आहार द्रव्य, माष, गोधूम, अश्वगंध, कार्पासी बीज, वाताद, नारियल, अखरोट, काजू, क्षीरिणी, क्षीरीवृक्ष कषाय व क्षीर, आदि ।

आवश्यकता—

जब माता के दुग्ध की कमी हो जाती है तो स्तन्यजनन पदार्थों का सेवन उपयोगी होता है । स्तन्यह्रासकर कई हेतु हैं जिनमें प्रधान निम्न हैं—

१–दुग्धग्रन्थियों का असम्यक् विकास ।

२–गर्भावस्था की निर्बलता, ज्वरादि का होना, रक्त की कमी ।

३–अल्पकाल में ही प्रसव हो जाना ।

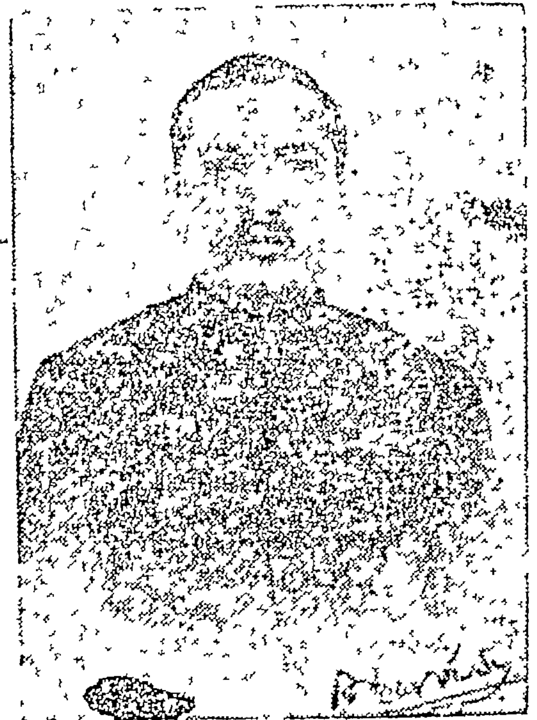
४–माता का रोगी होना ।

५–दुग्धग्रन्थियों के रोग–विद्रधि शोथ आदि ।

६–मानसिक रोग–चिन्ता, शोक, उन्माद, अपस्मारादि ।

औषधियों की क्रिया—

उपर्युक्त औषधियां सेवन करने के पश्चात् स्तन्य निर्मापक दुग्धग्रन्थियों व दुग्धस्रोतसों की सम्यक





स्थिति लाकर उन्हें बढ़ा देती है। अकाल प्रसवादि मे दुग्धग्रंथियों को अपनी स्थिति मे आने मे समय लगता है। वह ग्रन्थियों की स्थिति को सुधार कर दुग्धवर्धक होती हैं।

कुछ औषधियां माता की दुर्बलता दूर करके दुग्धवर्धक होती हैं। मानसिक रोगों की निवृत्ति होने पर दुग्ध स्वतः आने लगता है। रोगों के हेतुओं के दूर होने पर स्वस्थावस्था आकर दुग्ध बनने लगता है।

कई प्रकार के द्रव्य दुग्ध में शीघ्र मिश्रित होकर निकलते हैं। यथा—

शीतलचीनी (*Rhabarb*), सनाय, जैलप, एरण्ड, तैल, पारद के लवण, संखिया तथा आयोडायड व ब्रोमाइड मिश्रित रासायनिक लवण, दुग्ध से मिलकर निकलते हैं।

हींग, तारपीन का तैल, मूली, प्याज यह दूध के गंध स्वाद पर असर डालते हैं। अहिफेन दूध मे जाकर बच्चे पर प्रभाव डालता है। विरेचक औषधियों के माता द्वारा सेवन करने पर दुग्धपायी बच्चों पर भी रेचक प्रभाव पड़ता है। यथा—रेवन्दचीनी, जैलप, सनाय, जयपाल, एरण्ड तैल।

कई सुगंधित द्रव्य क्षार व धातु मिश्रित पदार्थ आसव व सुरा का प्रभाव भी दुग्ध पर पड़ता है।

१—सुगन्धित द्रव्य—इलायची, सौंफ, रसोन, जीरक, मेथिका, धनियां यह दुग्ध मे मिश्रित होते हैं।

२—क्षार—यवक्षार, स्वर्जिकक्षार कदलीक्षार, नरसार, शंख, शुक्ति, प्रवाल, मौक्तिक।

३—धातु—लोह, यशद, मल्ल।

४—आसवसुरा—अरिष्टादि का सेवन भी दुग्धजनक होता है।

आधुनिक विचार—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे भी परिभाषा वही है जो आयुर्वेद मे है यथा—

Galatogogues[1]—Are drugs which increase the secretion of Milk.(Ghosh)

आधुनिक दुग्धवर्धक द्रव्यों में—

(१) प्लेसेंटल एक्सट्रेक्ट—का इन्जेक्शन दुग्धवर्धक है।

(२) पिट्यूट्रीन एक्सट्रेक्ट (पीयूष ग्रन्थि का एक तत्व) का इन्जेक्शन दुग्धवर्धक है।

(३) यूरिया दुग्धवर्धक समझा जाता है।

(४) प्रोलेक्टिन के अन्य योग दुग्धवर्धक माने जाते है। यह विचार घोष ने अपनी मेटेरिया मेडिका मे लिखा है।

अतिदुग्धक्षरण
(Galactorrhaea)

कभी कभी किसी स्त्री को स्वतः ही दुग्ध अधिक बनता है और अपने आप निकलने लगता है। इसे अति दुग्धक्षरण कहते हैं।

अन्य दुग्धवर्धक हेतु—

मां के स्तन का पुत्र द्वारा चूषण, प्रेम, स्मरण, आह्लाद आदि।

दुग्ध के काल—

(१) मा के स्तन से दुग्ध निकलने का काल १-२ वर्ष तक एवं अधिक से अधिक ५ से ७ वर्ष तक का है। इस अवधि में दुग्ध बराबर निकलता रहता है।

(२) सगर्भावस्था मे यह बन्द हो जाता है।

---

[1] Galactogogues—are drugs which increase the secretion of milk.

(I) Injection of placontal Extract

(2) „ Pituitary Extract(Prolactine)

(3) Urea supposed to be a true galactogogue

( ) Other preperations of prolactine are used to increase the secretion of the Milk

—M M by Ghosh



(३) दुग्धज्वर—प्रसव के २-३ दिवस बाद दुग्ध निकलता है और धीरे धीरे बढ़ता है। कभी कभी किसी किसी में यह दुग्ध उतरने के समय ज्वर व अन्य लक्षणों को उत्पन्न करता है। यथा—शीत, रोमहर्ष, मुख का वर्ण रक्त, शिरःशूल, क्षुधामान्द्यता, जिह्वा पर श्वेत प्रलेप, सामान्य ज्वर, नाडी तीव्र होकर ज्वर आता है। इसके बाद मृदु प्रकृति वाली स्त्रियों में ज्वर होकर उतर जाता है और तब दुग्ध उतरता है।

दुग्ध—जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः।
नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षि शूलनुत ॥
—चरक

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम्।
नस्याश्च्योतनयो पथ्यं, जीवनं लघु दीपनम् ॥
—सुश्रुत

दुग्ध के घटक—

शर्करा जातीय ५.६%, वसा २.८, प्रोटीन १.२, लवण ०.२४, जल ८६.०० । आपेक्षिक घनत्व १०२६ से १०३५।

१—प्रसव के पश्चात् द्वितीय मास तक उसमे शर्करा कम, दुग्ध सत्व-श्वेतसार अधिक।

२—पांचवे मास तक—लवणांश की वृद्धि होती है।

३—आठ से दशम—मधुरांश वृद्धि।

४—१० से २४ मास तक—दुग्ध सत्व का अंश अधिक होता है।

दुग्ध की मात्रा व संघटक द्रव्य की वृद्धि—

प्राचीनकाल के चिकित्सक दुग्ध के गुणवर्धनार्थ भिन्न भिन्न प्रकार के उपायों का प्रयोग करते थे।

माषपर्णी भृतीय—रसायन पाद में गौ व महिष को हरित माषपर्णी खिलाकर परिपुष्ट दुग्ध उत्पादन की विधि दी है। इस विधि से दुग्ध गाढ़ा, मीठा और जरा व दुर्बलता दूर करने में सहायक होता है। इसी प्रकार दीर्घायुष परिपुष्ट बच्चों को बनाने के लिये पूर्वोक्त औषधियों का सेवन कराया जाता है। इनसे दुग्ध तो बढ़ता ही है, वह अधिक गुण-प्रद, बल्य व पुष्टिकर होता है।

प्रभाव—

दुग्धवर्धक औषधियां व आहार दो प्रकार से अपना प्रभाव करती हैं।

(१) आशुवर्धक—जो द्रव्य शीघ्र ही दुग्ध की मात्रा स्वस्थ माता के स्तन में बढ़ाते हैं। यथा—दुग्ध, मण्ड, षष्टिक व मधुर रस का सेवन। यह खाने के २-३ घण्टे के बाद पाचन क्रिया से रस बनकर शोषित होकर स्तन्य बढ़ाती है। रस धातु का उपधातु स्तन्य है। अतः इसकी वृद्धि होते ही दुग्ध स्त्रियों में या पशुओं में बनने लगता है। मात्रा अधिक होती है।

(२) चिरकालीन—जो द्रव्य सेवन करने के बाद स्तन की दुग्ध ग्रन्थियां और स्रोतसों की स्थिति ठीक करके अथवा शरीर पुष्ट करके अङ्ग पुष्ट कर स्तन्यवर्धक होते हैं।

यथा—(१) शतावरी चूर्ण—क्षीर के साथ सेवन
(२) अश्वगन्धाचूर्ण ,, ,,
(३) क्षीर विदारी ,, ,,
(४) क्षीर व फाणित का सेवन
(५) तृण जातीय द्रव्य—वीरण, शालि, इक्षुवालिका, दर्भ, कुश, काश, गुन्द्र, उत्कट। यह तथा पर्णीचतुष्टय के पत्र पशुओं का दुग्धवर्धक होता है।

(६) स्त्रियों में गोधूम, शालि, माष, मुद्ग या अन्य द्विदल दुग्धवर्धक होते हैं।

इस मधुर रस वाली औषधियों का सेवन—अखरोट, बादाम, किशमिश, काजू का सेवन दुग्ध को गाढ़ा करता व स्निग्धतावर्धक होता है।

अन्य योग—

(१) क्षीरी वृक्ष कषाय सेवन दुग्धवर्धक होते हैं। यह शुष्क स्तनों को परिपुष्ट कर दुग्धवर्धक होते हैं।



(२) स्वभाव नष्ट–शुष्क व दुष्ट दुग्ध में—

शालिषष्ठिक दर्भाणां कुश गुन्द्रेत्कटस्य च।
सारिवो वीरणेचूणा, मूलानां कुशकासयोः।
पेयानि पूर्व कल्पेन श्रेष्ठ क्षीरविवर्धनम्॥

(३) इसी प्रकार पूर्वोक्त गणों के द्रव्य क्षीर के साथ या क्षीर सिद्ध करके प्रयोग करने पर स्तन्य-वर्धन होते है।

स्तन्यनाशन [Lectifuse]

पर्याय—

स्तन्यनाशन, स्तन्यह्रासकर, स्तन्यावसादक

परिभाषा—

धात्रीणामथवामातुः स्तन्यं ह्रासकराणि ये।
नाशने कृतकर्मा वा स्तन्यनाशनमूच्यते॥
(स्व रचित)

अर्थात्—जो द्रव्य मां के दुग्ध या धातृ के दुग्ध को कम कर देते है या नाश कर देते हैं, सुखा देते है, उन्हे स्तन्यनाशन कहते है।

द्रव्य—

कपूर, धुस्तूर, बेलाडोना, नागवल्ली, हरताल, कुपीलु, अहिफेन आदि।

आवश्यकता—

माता के दुग्ध के हानिकर होने पर अथवा बच्चों की मृत्यु होने पर या मां के दुर्बल होने पर दुग्ध पिलाने से अधिक क्षीण होने की दशा मे जब दुग्ध का उपयोग नहीं होता तो दुग्ध कम करने के लिए इन औषधियों का प्रयोग होता है। माता के उन्माद-अपस्मार आदि रोगों की दशा मे भी दुग्ध-पान कराना उत्तम नहीं होता।

निम्न हेतुओं से दुग्ध हानिकर होता है—

विरुद्धाहार भुक्ताया क्षुधिताया विचेतस·।
प्रदुष्टधातो गर्भिण्या स्तन्यरोगकर शिशो·॥
–अ. हृ उ १

अर्थात्—विरुद्धाहार भुक्ता मां या क्षुधित या बेहोश मां के या प्रदुष्ट रक्तादि धातुवाली या गर्भिणी स्त्री का दुग्ध बच्चे को हानिकर होता है।

प्रयोग विधि— १-कपूर ५ रत्ती की मात्रा में ६-७ बार पिलाने पर दुग्ध कम हो जाता है।

२-हरताल या इसके बने योग १-२ रत्ती की मात्रा में ३-४ बार प्रतिदिन देने से स्तन्य सुखा देते हैं।

३-स्तन पर धत्तूर-बेलाडोना, नागवल्ली के पत्रों को स्तन पर बांधने या लेप करने से दुग्ध बनना कम हो जाता है।

४-मल्लिका पुष्प-पान व कपूर के पत्तो का लेप स्तन्यावसादक होता है।

स्तन्यनाशन हेतवः—

शुक्क्रोधलंघनायासाः स्तन्यनाशस्य हेतवः।
अम्लासकटुकक्षाराः आरनालससीधुकाः॥
—अ. हृ. उ. १—१७

इस प्रकार स्तन्य की कमी या नाश संभव है।

स्तन्यशोधन

पर्याय—स्तन्यशोधन.

परिभाषा—

जो द्रव्य दुष्ट व विकृत स्तन्य को शुद्ध करते हैं, उन्हे स्तन्यशोधन कहते हैं।

द्रव्य—

चरक मे—पाठा, शुंठी, देवदारु, नागर-मुस्तक, मूर्वा, अमृता, इन्द्रयव, चिरायता, कटुकी, अनन्तमूल–यह दश स्तन्यशोधन हैं। –च. सू. अ. ४

सुश्रुत—१-वचादिगण-वचा, अतीस, हरीतकी, देवदारु, नागकेशर।

२–हरिद्रादिगण—हरिद्रा, दार्वी, पृश्निपर्णी, इन्द्रयव, मधुयष्टि।

३–मुस्तादिगण-मुस्ता, हरिद्राद्वय, त्रिफला, कुष्ठ वचा, पाठा, कुटकी, काकाजंघा. अतिविषा, एला, भल्लातक, चित्रकमूल ये १६ द्रव्य हैं।

उपयोग—

स्तन्य शोधन की आवश्यकता तब पड़ती है जब कि मां या धात्री का दुग्ध नष्ट हो जाता है।



क्षीर दुष्टि—[1]

आठ प्रकार के क्षीर दोष होते हैं जोकि दोषों के स्तन मे पहुचने और क्षीरवहा शिराओं की ग्रंथियों को दूषित कर देते है।

[1]—दोषा. क्षीरवहा प्राप्य शिरा स्तन्यं प्रदूष्य च।
कुर्युरष्टविधं भूयो, दोषांस्तान् मे निबोधत ॥
—च. चि. ३०

वैरस्यं फेनसंघातं रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके ।
पित्ताद्वैवर्ण्यं दौर्गन्ध्ये, स्नेह पैच्छिल्य गौरवम्।
कफाद्भवन्ति रुक्षाद्यैः अनिलः स्व प्रकोपणैः ।
क्रुद्धा. क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत् ॥
—च. चि. ३०

वातज—विरसता, फेनसंघातवत्तता, रूक्षता (स्नेहाभाव)।

पित्तज—वैवर्ण्य, दुर्गन्धि यह पित्त दोष से आता है।

श्लेष्मज—स्नेह, गौरव, पैच्छिल्य यह श्लेष्म दोष से आते है।

यह दोषों के प्रकोपक हेतुओं के सेवन करने से क्षीराशय में प्राप्त होकर क्षीर को दूषित करते हैं। तो ऊपर के लक्षण आजाते हैं। इनके सेवन से बालक को विविध (विभिन्न) व्याधियां हो जाती है। यथा—विरस-दुग्ध दूषित होकर स्वादरहित मधुरांशाल्प हो जाता है। इसके पीने से बालक में निम्न रोग होते है—

दोष	विकृति	सेवन से रोग
वातज	वात १—वैरस्य (मधुराल्पता)	कृशता, वर्धन मे कमी, क्षामस्वर
	स्नेहाल्पता { २—फेनसंघात, ३—रूक्षता	{ बद्ध--विण्मूत्र--शकृत--शीर्ष-रोग, बलहानि, पीनस—
पित्तज	४—विवर्णक्षीर—नील—पीत-सित-असित (रंजकतत्ववृद्धि)	स्विन्नः, तृष्णालुः, भिन्नविट्कः, उष्णगात्र, दुग्ध न पीना, पाण्डु-कामला
	५—दौर्गन्ध्य	छर्दनः, कुथनः, स्तंभः लालालुः, निद्रा, क्लमः, श्रमान्वित., कास श्वास, प्रसेक-तमकश्वास
श्लेष्मज	६—अतिस्निग्ध (स्नेहाधिक्य) ७—पिच्छिल (माधुर्याधिक्य) ८—गौरव (गाढ़ापन)	शून वक्र—अक्षिजाड्य हृद्रोग—लालालु.

विकृत दुग्ध पहिचान

१—वात दुष्टे	२—पित्त दुष्टे	३—श्लेष्मदुष्टे
(१) अम्भसि प्लवते	(१) उष्णम्	(१) सलवणम्
(२) कषाय रस	(२) अम्लम्	(२) सान्द्रम्
(३) फेनिलम्—	(३) कटुकम्	(३) जलेमज्जति (गुरू)
(४) रूक्षम—	(४) अप्सुपीतराजि	(४) पिच्छिलम्
(५) वर्चोमूत्र विबंधकृत	(५) दाहकृत	



संसृष्टलिंग ससर्गवि त्रिलिंगं सान्निपातिकम्।
त्रिदोष—स्तन्यमलिन, दुर्गन्ध, श्याम, जलोपसम्।
विबद्धम्, तच्छम्, विच्छिन्नं फेनिलम्॥

इन दोषों से युक्त दुग्ध पीने से बालक रोगी हो जाता है। अतः प्रतिदोषात्मक लक्षण में भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियों का विधान है। यथा—

वातात्मके दोषे—

(१) दशमूलीघृत ३ दिन पीवे।

(२) अग्नि, वचा, पाठा, कटुका, कुष्ठ, दीप्यक, भारंगी, देवदारु, सरल, वृश्चिकाली, कणा, मरिच से सिद्ध घृत पीवे।

बाल रास्नादि घृत—

रास्ना, अजमोद, सरल, देवदारु पक्वघृत मे इसका चूर्ण डाल कर पिलावें।

पित्तात्मज में—

(१) अमृता, शतावरी, पटोल, निम्ब, चन्दन, सारिवा का क्वाथ धात्री व कुमार दोनो पीवें।

(२) त्रिफला, भूनिम्ब, कटुकी साधित पान दोनो करें।

(३) सारिवादिगण, पटोलादिगण, पद्मकादि गण सिद्ध घृत का पान करें।

श्लेष्मज—

(१) मधुयष्टि-सैंधवयुक्त घृतम्।

(२) मदन पुष्प मधु मिश्रित लेप स्तन पर।

त्रिदोषजे—

(१) वचादिगण-हरिद्रादिगण, मुस्तादिगण सिद्ध घृत या इनका क्वाथ लाभप्रद होता है। (सुश्रुत)

(२) कटुरोहिणी [illegible]घृतम्

(३) अमृता सप्तपर्णत्वक् क्वाथ नागर चूर्ण युक्त

(४) किरातातिक्त क्वाथ

(१) विस्रक्षीर-शोधन—

(१) द्राक्षा, मधुक, सारिवा, विदारी कल्क क्षीर सहित पिष्ट का स्तन लेप।

(२) पंचकोल, कुलत्थ का लेप।

(२) [illegible]—

(१) पान—पाठा, नागर, शार्ङ्गेष्ठा, मूर्वा, सुखाम्बुना धात्री सेवन करे।

(२) लेपन-अंजन, नागर, दाल, विल्वमूल, प्रियंगु-लेप।

(३) रुक्षक्षीरा—

पान—(१) जीवनीय सिद्ध क्षीर सेवन।

(२) स्तन्यशोधन गणसाधित क्षीर सेवन

लेपः—पंचमूल का लेप स्तन पर।

(४) वैवर्ण्यनाशन—

पान—कर्कटशृंगी, मेषशृंगी, त्रिफला, रजनी, वचा, शीतानम्बुनापिष्ट्वा पिवेत।

(२) अभयाचूर्ण, सव्योष समाक्षिक

लेप—(१) सारिवा, उशीर, मंजिष्ठा, श्लेष्मान्तक, रक्तचन्दन का लेप

(२) तेजपात, मुस्त, चन्दन, उशीर लेप

(५) स्निग्ध क्षीरा—

पान—दारु, मुस्त, पाठा, सुखाम्बुना-ससैन्धवम्

(६) पिच्छिल क्षीरा—

पान—(१) शार्ङ्गेष्ठा-अभया, वचा चूर्ण सुखाम्बुना

(२) मुस्त-नागर-पाठा- चूर्ण सुखाम्बुना

लेप—विदारी, मधुक, विल्व-सुखाम्बुना

(७) गुरुक्षीरा—

पान— (१) त्रायमाणा, अमृता, निम्ब, पटोल, त्रिफला क्वाथ।

(२) पंचकोल चूर्ण—मधुना

लेप (१) वला, नागर, शार्ङ्गेष्ठ, मूर्वा

(२) पृश्निपर्णी-पयस्या-कल्क

इस प्रकार के लेप व पान के भिन्न-भिन्न योग शास्त्र में मिलते हैं। इनका उपयोग करें और युक्तिपूर्वक पूर्वोक्त औषधियों में से यथा दोषानुकूल चयन कर प्रयोग करने से लाभ होता है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, B. A.,
जामनगर।

बालकों में रोग परीक्षा विधि

श्री वेदमित्र आर्य आयुर्वेद भास्कर ए०, एम० बी० एस०

बालको के रोग निदान मे सफलता प्राप्त करने के हेतु आवश्यक है कि प्रत्येक चिकित्सक निपुण हो क्योंकि युवक तो अपनी वेदना का वर्णन वाणी से कर सकते है किन्तु बालक केवल रोकर ही अपने भाव व्यक्त करता है। परीक्षा करते समय चिकित्सक को अत्यन्त धैर्य रखना चाहिये। धैर्य न रखने पर किसी निश्चित तथ्य पर पहुचना कठिन होता है। दूसरे यदि चिकित्सक रोगी बालक की परीक्षा करने का यत्न करता है तो बालक को बहुत विचित्र सा प्रतीत होता है और वह कुछ भी नहीं करने देता। इस विवाद में वह कई आवश्यक परीक्षाओं को भूल जाता है जिनको भूलना योग्यता नहीं। संसार मे ख्याति प्राप्त करने के लिये बाल चिकित्सक को चाहिये कि निदान करते समय निपुणता और धैर्य पर विश्वास रखे और व्यवहारिक बातों की ओर भी ध्यान रखे। अनेकों सफल बाल चिकित्सक बालको के स्वर (Tune) मे बोलकर बहलाते है और उनको अपना मित्र बनाने का प्रयत्न करते है। कई चिकित्सक तो बालक को प्रसन्न करनें के लिये अपने पास लेमनचूस की गोलिया एवं खिलौने भी अपने पास रखते हैं जिससे कर्ण परीक्षा, तुण्डिका ग्रन्थि (Tonsils), नेत्रादि सुगमता से देखे जा सकते है।

विदेश के प्रसिद्ध बालरोग विशेषज्ञ डाक्टर हचिंसन वार्ट ने बालको की परीक्षा के विषय मे लिखा है कि 'Do not stare at the baby Do not ask the nurse to unclothe the child in your presence and try to be friend of the baby by any device you find necessary.' अर्थात् चिकित्सक को बालक की ओर घूर कर नहीं देखना चाहिये और न अपनी उपस्थिति मे नग्न करे क्योंकि इन कार्यो से बालक चिढ़ और डर जाते हैं। इसलिये जहा तक हो सके अपना मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

अब हम विस्तृत रूप से रोगी परीक्षा विधि पर विचार करेंगे।

१ -इतिवृत्त (History)-

शिशु अपने मुख से तो अपने रोग का कोई वर्णन नहीं करता किन्तु चिकित्सक को चाहिये कि शिशु की माता या जिसने उसका पालन पोषण किया है उससे शान्तिपूर्वक निम्न प्रकार के प्रश्न पूछने चाहिए।

(१) आपके कितने और बच्चे है?

(२) किसी की मृत्यु तो नहीं हुई और यदि हुई है तो कैसे?

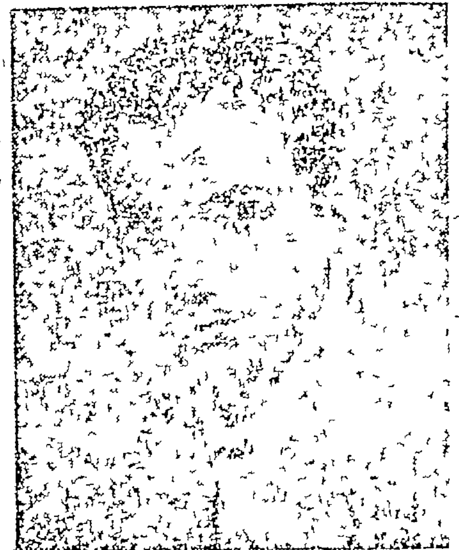
(३) कहां से यह रोग परिवार मे आया है?

(४) शिशु के माता पिता को उपदंश और उष्णवात आदि कोई रोग तो नहीं हुए?

(५) कभी कोई गर्भपात तो नहीं हुआ या कराया गया अथवा क्यों कराया गया?

(६) माता पिता का स्वास्थ्य कैसा है?

(७) गर्भावस्था मे माता का स्वास्थ्य कैसा था?





(८) भोजन के पाचन की दशा कैसी है और आंतें ठीक रूप से काम कर रही हैं अथवा नहीं ?

(९) क्या बालक पूरे मास में उत्पन्न हुआ है ?

(१०) प्रसव ठीक प्रकार से हुआ या नहीं ?

(११) शिशु उत्पन्न होने के समय उसका भार कितना था ?

(१२) क्या बालक का रोना उत्साहजनक था और श्वास की क्या स्थिति थी ?

(१३) दूध ठीक प्रकार से चूसता था वा नहीं ?

(१४) कोई मृत बालक तो उत्पन्न नहीं हुआ ?

२–भोजन —

उपरोक्त प्रश्नों के उपरांत शिशु के भोजन सम्बन्धी आहार का भी ज्ञान करना चाहिये। इस प्रकार के ज्ञान से अनेक रोगों के सम्बन्ध मे आभास हो जाता है तथा प्रकृति का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे क्षुधानाश, दुर्गन्धित श्वास, चिड़चिड़ा स्वभाव, दुर्गन्धित मल का उत्सर्ग, निर्बलता आदि का ज्ञान हो जाता है।

३–शारीरिक वृद्धि —

इससे रुग्ण शिशु की मानसिक एव शारीरिक शक्ति का विकास यथा समय हुआ अथवा नहीं ज्ञात हो जाता है। जैसे ६ सप्ताह मे शिशु प्रकाश का अनुकरण करता है, ३ मास की अवस्था मे बालक को तकिये से सिर को उठाने लगना चाहिये, चार मास मे अपनी गर्दन को संभाल लेता है, छः मास मे अपने उद्देश्य तक पहुंच जाता है, नव मास मे स्वय बढ़ने लगता है, दसवे मास मे रेंगने लगता है, १२-१५ मास मे चलने लगना चाहिए और दो वर्ष की अवस्था में उसे २-३ शब्द बोलना आना ही चाहिये और इसी समय वह मूत्र पुरीषोत्सर्ग के नियन्त्रकों (Sphincters) का प्रयोग करना भी सीखता है।

४–पारिवारिक इतिहास—

इसका ज्ञान होना आवश्यक है। बचपन मे ही माता पिता द्वारा प्राप्त राजयक्ष्मा, उपदंश, उष्ण-वात, कुष्ठ, अर्श आदि रोग प्रकट हो जाते हैं। अन्य औपसर्गिक रोगों से पीडित माता पिता या परिवार के सदस्यों के साथ बालक के संसर्ग होने से भी व्याधि उसी रूप मे मिल सकती है। जैसे यदि घर मे कोई क्षयज कास (Tuberculosis) से पीड़ित रोगी है तो निश्चितरूपेण बालक पर भी प्रभाव हो सकता है। इसलिये बालक की इस ओर गम्भीरता से ध्यान रखना चाहिए। इसके साथ साथ चिकित्सक को यह भी ज्ञात होना चाहिये कि रोगी शिशु के भाई बहिन का स्वास्थ्य कैसा है।

५–पूर्व इतिवृत्त–

बालक को इस रोग से पूर्व कोई अन्य रोग तो नहीं था इसका भी ज्ञान होना अत्यन्तावश्यक है जैसे रोमान्तिका (खसरा), कुक्कुर कास (Whooping cough), आक्षेपो की संख्या एवं तिथि, अतिसार के आक्रमण, धनुस्तम्भ (Tetanus), छर्दि, मुख मे व्रण, कास, कर्ण से किसी स्राव का निकलना, शरीर के किसी भाग मे या सधि मे शूल का होना, श्लेष्मा अधिक खांसने से निकलता है या सुगमता से निकल जाता है। इसके अतिरिक्त बालक मे रोमान्तिका के आक्रमण के बाद श्वसनिकीय फुफ्फुसपाक (Broncho-Pneumonia) होता है उससे भी बढ़कर फौफ्फुसिक सौत्रीय यक्ष्मा (Pulmonary fibrosis) होने का भय रहता है। इसी प्रकार जिन बालकों मे पहले पामा (Eczema) मिलता है बडे होने पर उन्हीं मे तमक श्वास (Asthma) होने की सम्भावना रहती है। आमवातज्वर और आमवातजन्य हृद्विकार में तथा पैत्तिक आक्रमण (Bilious attacks) और अर्धावभेदक मे पर्याप्त सांमजस्य मिलता है। इन सबके अतिरिक्त पाषाण गर्दभ (Mumps), बृहद् मसूरिका (Small pox) आदि बीती हुई व्याधियो पर ध्यान रखना चाहिए।

६–वर्तमान इतिवृत्त —

अन्त में जिस व्याधि की तीव्रता है उसके

विषय में भी ज्ञान करना चाहिये, कि कैसे और कब रोग आरम्भ हुआ। उदाहरणार्थ किसी बालक के उदरशूल है तो निश्चित समय का ध्यान रखते हुये यह पता लगाना चाहिए कि उसके साथ वमन भी है अथवा नहीं। यदि है तो वमन पहले होता है या बाद मे। इससे हम पता लगा सकेंगे कि आंत्र-पुच्छ शोथ है या पैत्तिक शूल (Bilary colic) तो नहीं है। यही बाते विसंज्ञता (Fits) के बारे मे भी लागू होती है। यदि इस प्रकार के रोगी का व्याधि वृत्त ठीक समयानुसार न मालूम किया जाये तो कहा नहीं जा सकता कि वह अपस्मारिक (Epileptic) है या रुदनाक्षेपजन्य (Crying convulsions) है।

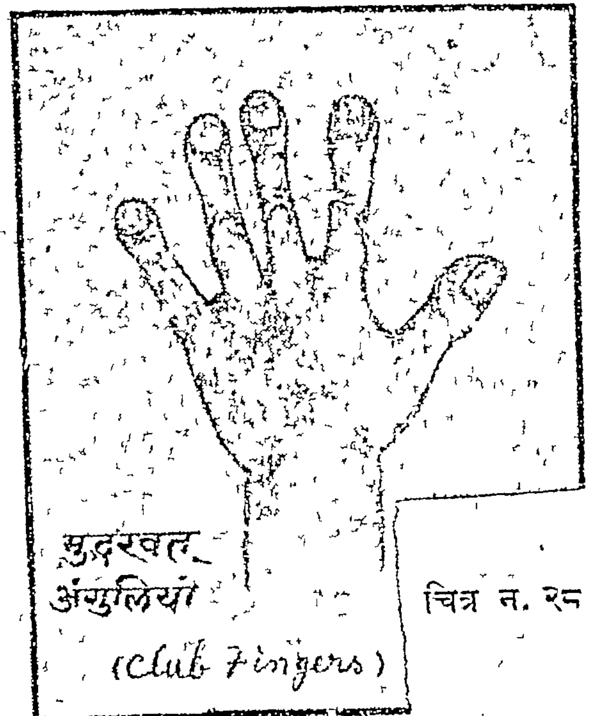
७-यथार्थ रोगी परीक्षा—

इस सम्बन्ध मे इंग्लैंड के प्रसिद्ध बाल चिकित्सक डा० शेल्डन का कथन है कि 'Should the child happen to be asleep as much of the examination as possible should be made before he wakes. The respiration and the pulse rate should be counted, the heart may be ausculted, and with a warm hand the abdomen can often be pelpated. Even the disc of a sleeping child can be examined without waking.' अर्थात् यदि रोगी बालक सोता हुआ हो तो जहां तक हो सके उसकी परीक्षाएं विना जगाये हुए करनी चाहिए। उसकी श्वास-प्रश्वास की गति और नाडी की प्रति मिनट चाल गिन लेनी चाहिए, उसके हृदय पर धीरे से स्टेथिस्कोप रख कर सुन लेना चाहिए। गर्म हाथ से उदर का स्पर्श कर सकते है। यद्यपि सोते हुए बालक के नेत्र की पुतली की भी परीक्षा की जा सकती है।

इसके साथ ही चिकित्सक को परीक्षा भवन से अधिक चटक मटक की चीजें नहीं रखनी चाहिए जिससे बालक को भय प्रतीत हो। तत्पश्चात् किसी ओर ध्यान केन्द्रित होने पर या तो बालक से ही कहे कि वह स्वयं अपने कपड़े उतारे अथवा माता पिता स्वयं उसके कपड़े उतारे। चिकित्सक को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। फिर बच्चे के चहरे के भावों तथा स्वभाव का निरीक्षण करे, ओष्ठ के रंग को देखे और नासिका के छिद्रों की ओर ध्यान से देखें कि वह कार्य कर रहे है अथवा नहीं। यह सब क्रियाएं शान्तावस्था में देखी जा सकती है। इसके पश्चात् दर्शन (*Inspection*), स्पर्शन (*Palpation*), फिर श्रवण (*Auscultation*), और अंगुलीताडन (*Percussion*) परीक्षाएं करे।

(१) दर्शन (Inspection)—

बालक के हाथ की अंगुलियों की परीक्षा करे कहीं उनके सिरो पर गोल तथा सूजी हुई (Clubbing of the fingers) तो नहीं है। तदनन्तर शिशु के कपाल रन्ध्रों (Fontanelles) की ओर दृष्टिपात करे तथा इसमे हृदय की तरह स्पन्दन भी



चित्र न. २८



देखते हैं। इनका निरीक्षण करते समय इनके आकार को और स्वरूप को भी देखना चाहिये कि यह दबे हुये तो नहीं है जैसे कि प्रायः अतिसार में मिलते हैं। यदि यह कपालरन्ध्र फूले हुये और तने हुये हैं तो अन्त. कापालिक पीड़नोत्कर्ष (Rise of intracranial pressure) की ओर निर्देश करते हैं। यह कपाल रन्ध्र १५ मास या २ वर्ष में बन्द हो जाते हैं। यदि यह दो वर्ष बाद भी बने रहें तो यह फक्क रोग (Rickets) का परिचायक है। यदि दो पास पास कपाल रन्ध्र हों तो यह सिर का छोटा हो जाना अथवा अज्ञानता का द्योतक है। इस विषय में अन्य परीक्षायें निम्न प्रकार करें—

(१) त्वचा—शरीर से जल निकल जाने के कारण त्वचा की लचक धीमी हो जाती है। इसके साथ ही यह भी देखें कि त्वचा सूखी, गीली ज्वरयुक्त तथा त्वचा पर कोई लाली या विस्फोट तो नहीं है।

(२) उदर वृद्धि—बालकों में यकृत स्वाभाविक रूप से अनुपात में बड़ा होता है। अतः बालक का उदर कुछ आगे की ओर निकला होता है। इसे रोग नहीं समझना चाहिये।

(३) वक्ष की गोलीयता—बालको का वक्षस्थल प्राय' गोल होता है।

(४) सिर का माप—बच्चे के सिर की वास्तविक लम्बाई को देखना चाहिये क्योंकि मस्तिष्क खराब बच्चों मे सिर का माप छोटा होता है। निम्न तालिका मे सिर का उचित नाप दर्शाया है—

आयु	विस्तार इञ्च मे
जन्म के समय	१३
६ मास मे	१६
एक वर्ष मे	१८
तीन वर्ष मे	१९
सात वर्ष मे	२०
बारह वर्ष मे	२१

(५) बालक का क्रमिक विकास तथा भार—प्राकृतिक रूप से बालकों की लम्बाई और भार की ओर भी ध्यान देना चाहिये। निम्न तालिका में यथार्थ विवरण दिया है—

आयु	भार पाउंड में	ऊंचाई इन्चों में
प्रसव के पश्चात्	७	२०
१ वर्ष	२१	२९
२ वर्ष	२८	३३
३ वर्ष	३३	३७
४ वर्ष	३७	४०
५ वर्ष	४१	४२
६ वर्ष	४५	४४
७ वर्ष	४९	४६
८ वर्ष	५५	४८
९ वर्ष	६१	५०
१० वर्ष	६७	५२
११ वर्ष	७३	५४
१२ वर्ष	७९	५६

(६) दन्तोद्भव काल—बालकों के दांत निकलने के समय को ध्यान मे अवश्य रखना चाहिये। सर्व प्रथम निकलने वाला दांत अधोहनु के राजदन्त (Lower central incisors) ६ मास की आयु मे निकलते हैं तथा द्वितीय दन्तोद्भव मे सर्व प्रथम पश्चिम चर्वण दन्त (First molar) ५-६ वर्ष की आयु मे निकलता है या इसको ६ वर्ष पुराना चवर्ण दन्त कह सकते हैं।

(७) श्वास प्रश्वास गति—बालकों मे इसको पेट की गतियों से गिनती करते हैं। इसे हम निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जन्म के समय शिशु का—

प्राकृतिक श्वास-प्रश्वास	४०	प्रति मिनट
द्वितीय वर्ष मे	३०	"
पंचम वर्ष मे लगभग	२५	"
पन्द्रह वर्ष मे	२०	"

इस अवस्था मे प्राकृतिक नाड़ी और श्वास प्रश्वास मे अनुपात—१ : ३½ या ४ तक रहता है।

(८) नाड़ी की गति—नाड़ी देखते समय चिकित्सक को चाहिए कि पहले माता बच्चे को गोद मे लिटा ले और अपने हाथ से बच्चे के हाथ को पकड़े। तदन्तर वैद्य अपना हाथ रखे तथा नाड़ी की गिनती करे, यदि बच्चा रोना प्रारम्भ कर देता है तो कम से कम २० स्पन्दन बढ़ जाते हैं तथा निद्रावस्था में १०-२० स्पन्दन कम हो जाते हैं। नाडी देखते समय यह विशेष ध्यान रखे कि नाड़ी का निरन्तर धीमा और अनिश्चित चलना विशेष महत्व रखता है। निम्न तालिका के अनुसार वास्तविक नाड़ी को विचार कर सकते हैं—

जन्म के समय नाडी स्पन्दन		१३०
द्वितीय वर्ष में	,,	११०
पांच वर्ष मे	,,	१००
आठ वर्ष मे	,,	९०
बारह वर्ष में	,,	८०

(९) तापमान—बालकों का तापक्रम तापमापक यंत्र से गुदा, कक्षा या वंक्षण में रखकर लेते हैं। बड़े बालकों का तापमान मुख में रखकर लेना चाहिये।

दर्शन परीक्षा के सम्बन्ध मे एक दो अनुभव की बातें और लिखते है जिनसे ज्ञात होगा कि रोगी के दर्शन से रोग का किस प्रकार सफल निदान किया जा सकता है—

(क) एक ६-७ वर्ष के बालक ने खेल मे अपनी मूत्रेन्द्रिय पर कासी का छल्ला चढा लिया जिसके कारण मूत्रेन्द्रिय सख्त हो गई, छल्ला फस गया और उसका मूत्र बन्द होगया तथा शोथ भी काफी होगई। २४ घटे व्यतीत होने पर उस बालक को अति वेदना मूत्र रुकने और मूत्रेन्द्रिय के शोथ के कारण हो गई तो वह कई डाक्टरों के पास लेकर गया परन्तु सभी ने ओप्रेशन की सलाह दी। बच्चे की मा रोती हुई आप्रेशन के विचार से सिविल अस्पताल से मेरे पिता जी (श्री डा० बुद्धिप्रकाश आर्य जो कि एक सफल चिकित्सक हैं) की दूकान के सामने से जा रही थी तो उसकी वेदना को देख कर बुलाया और मेज पर लिटा कर थोड़ा सा बर्फ कूट कर उसकी इन्द्रि पर रख दिया और कुछ खाने को दे दिया। १५ मिनट बाद ठंड से इन्द्रि सिकुड़ गई और धीरे से उसके छल्ले को इन्द्रि से खींच लिया। तुरन्त ही खुल कर मूत्र हो गया और बालक को उसकी माता हर्षित हो लेकर चली गई।

(ख) एक बालक रोये चला जा रहा था चुपता नहीं था। मेरे पूज्य गुरु जी (श्री वैद्य निरंजन देव जी) को उस रोगी बच्चे को देखने लिए बुलाया। उन्होंने सारे शरीर की परीक्षा की परन्तु कोई बात ज्ञात नहीं कर पाये। वह बालक मोजे पहने हुआ था पैर देखने के विचार से गुरु जी ने दोनों मोजे उतरवाये। मोजे उतरते ही बालक शान्त हो गया तथा देखने पर ज्ञात हुआ कि उसके मोजे कस कर बंधे हुए थे।

२—स्पर्शन (Palpation)—

शिशु का स्पर्शन करते समय निम्न बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए—

अ—चिकित्सक के हाथ गर्म होने चाहिए विशेष कर सर्दियों मे। आ—सिर से स्पर्श प्रारंभ करके ब्रह्मरन्ध्र (Ant fontanellae) का स्पर्श करना चाहिए तथा वहा कि कपालास्थियों की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि कहीं फक्क रोग से सम्बन्धित तो नहीं है तथा फिरंग के अन्य चिन्हों की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए। तत्पश्चात ग्रैविका ग्रन्थियों (Cervical glands) की वृद्धि का भी ज्ञान करना चाहिए।

३—श्रवण (Auscultation)—

इसमें धीरे से शिशु के वक्ष पर श्रवण यंत्र को रखें और हृदगति और श्वसन की ओर ध्यान दें। शिशु में श्वसन शब्द प्राय. कर्कश होना है।

४—अङ्गुलिताडन (Percussion)—

बालकों के ठोकें बहुत धीमे धीमे लगानी चाहिए। बालक की कोमलता को ध्यान में रख कर करना चाहिए अन्यथा बालक रो देता है जिससे



प्रयोजन सिद्ध नही होता । वक्ष प्रदेश पर ताड़न करने से साधारण स्वस्थावस्था मे भी खंडित भाण्ड (Cracked pot) की भांति शब्द मिलता है। इससे घबडाना नहीं चाहिए । इसके पश्चात् माता द्वारा बालक को दूध पिलाते हुए फुफ्फुस की परीक्षा करनी चाहिए ।

अंत मे मुख और गले की परीक्षा करनी चाहिए। पहले जिह्वा की परीक्षा करनी चाहिए। जिह्वा को देखने के लिए ठोढी के नीचे की ओर दबायें तब बालक स्वयं मुख खोल देता है। यदि इस प्रकार मुख न खोले तो नासिका के छिद्रों को वद करने से भी मुख खोल देता है तो वहा देखना चाहिए कि शोथ लाली आदि तो नहीं है। मुख की श्लैष्मिक कला का भी निरीक्षण करना चाहिए। इसमे मुख मे छाला, शोथ, व्रण आदि देखे । कंठ को देखने के लिए जिह्वा को चम्मच से दबा कर अच्छे प्रकाश मे निरीक्षण करें क्योंकि कहीं तुडकेरी तो नहीं बढी हुई है लाली तो नहीं है। अच्छी प्रकार परीक्षा करे।

संस्थानों की परीक्षा

अब हम विशेष सस्थानो की परीक्षा लिखते है–

१–पाचन संस्थान–प्राय बालकों में यकृत ½ इंच पर्शुकाओ से अधिक बढ़ा होता है। बालकों के रोगों मे प्लीहा भी अधिक होती है । इसका हम स्पर्शन द्वारा ज्ञान कर सकते है। गुदा का भी निरीक्षण करना न भूलना चाहिए । मल का भलीभांति निरीक्षण करना चाहिए इसमें कृमियो को भी देखना चाहिये। निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट ज्ञान करना चाहिए ।

२--रक्तवह संस्थान–बालकों मे हृदय शिरा स्पन्दन प्राकृतिक रूप मे मिलता है जबकि युवकों मे तीव्र होता है। शिशु मे रक्त पीडन मद रहने के कारण प्रथम शब्द तीव्र और द्वितीय शब्द मंद मिलता है। वडो मे इससे उल्टा मिलता है।

३--रक्त निरीक्षण–बालकों के रक्त की परीक्षा करने के लिए एक बूंद रक्त की कान के निचले भाग से ले या अंगुली के अग्र भाग से लें और काच की स्लाइड पर रखे और रंग कर सूक्ष्मदर्शक यंत्र मे देखें इसमे लाल रक्ताणु कम मिलेगे । श्वेताणुओं की बहुलता मिलती है १२००० प्रति घन मि० मी०। प्रायः ४५ प्रतिशत मिलते हैं। नवजात शिशुओं मे हीमोग्लोबीन अधिक मात्रा मे मिलती है फिर बाद मे कम हो जाती है।



चित्र नं० २६

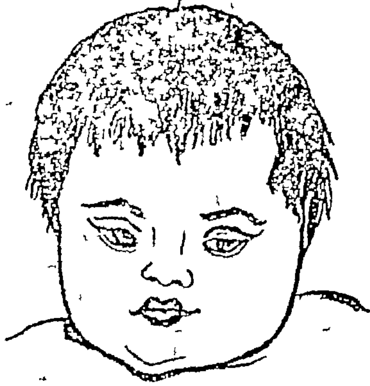
चुल्लिका ग्रन्थि के रस की न्यूनता से पीड़ित बच्चा

४–श्वसन संस्थान—बच्चे श्वसन मांसपेशी (Diaphragm) को अधिक प्रयोग में लाते हैं।

मल परीक्षा तालिका

आयु	मल का वर्ण	विशेषता
प्रथम दो मास तक	अण्डे की जर्दी सा	२-४ बार, गंध खट्टी
आठ मास से २ वर्ष तक	भूरा (*Brown*)	२ बार दलिया सा दुर्गंध युक्त।
दो वर्ष के पश्चात्	साधारण	कोई विशेषता नहीं।

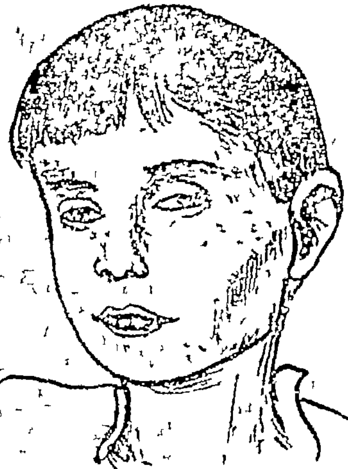
इसमे मुख्य रूप से उदर प्रदेश भाग लेता है और वक्ष वास्तव से थोड़ा फैलता है। शिशुओं में क्रमश. प्रथम निःश्वसन, श्वसन, रोक (pause) होते है।



चित्र नं० ३०—भोंदू बालक

५—मूत्र संस्थान—वालकों मे सारे दिन का मूत्र इकठ्ठा करना कठिन है। किन्तु कभी कभी कुछ स्वस्थ बच्चो मे शर्करा प्रोटीन मिल जाया करती है।

६-नाड़ी संस्थान—इस संस्थान की परीक्षा रोगो के साहचर्य विना मिले पूरी नहीं होती। वालक के चलने में असमर्थता ज्ञात होने पर पैरों के अंगघात की ओर ध्यान देना चाहिए। इसमे बालक के बैठे हुए



चित्र नं० ३१—विशूचिका से पीड़ित बालक

या लेटे हुए पैरों को मोड़ा जासकता है। जबकि फक्क रोग से पीड़ित भी चलने के लायक नहीं होता है।

इसके साथ ही प्रत्यावर्तन क्रियाये भी बहुत सरलता से प्राप्त हो जाती है।

आयुर्वेदीय बाल रोग परीक्षा

काश्यप संहिता सूत्र स्थान के वेदनाध्याय मे वालकों की वेदनाओ को देख कर रोग निदान के विषय में कष्टो का निर्देश किया गया है जिनसे वैद्यो को रोग परीक्षा करने मे सहायता मिलती है।

(१) शीर्षरोग (Night terrors)—इसमे बालक रात्रि मे अत्यन्त भयभीत होता है, शिर स्पन्दन और नेत्रो के प्रत्यावर्तन अधिक होजाते है।

(२) कर्ण शूल—इसमे वालक शूल होने पर अपने हाथ से कर्ण को स्पर्श करता है, सिर को शीघ्रता से घुमाता है। अरति अरोचक और निद्राधिक्य मिलता है।

(३) मुखामय (Stomatitis)—मुख से अत्यधिक लालास्राव होता है और स्तन से द्वेष



चित्र नं० ३२—धनुर्वात का रोगी बालक

करता है। पीड़ा होने पर जब दुग्धपान करता है तो दुग्ध उगल देता और नासिका से श्वास लेता है।

(४) कंठ वेदना तथा अर्दित रोग—स्तनपान करने पर थोड़ा थोड़ा दुग्ध गिरता है, श्लेष्मल प्रयोग से उसे विष्टम्भ होता है, अरुचि ग्लानि विशेष रहती है।



(५) अधि जिह्विका—लालास्राव, अरुचि, कपोलान्तर्गत भाग ने शोथ एवं शूल होना, मुख का विकृत होना पाया जाता है।

(६)गलग्रह-ज्वर, अरुचि, शिरः शूल होता है।

(७) कंठ शोथ-ज्वर, अरुचि, शिर शूल होता है।

(८) ज्वर—जम्बाई लेना, खांसना, धात्री आदि से चिपका रहना दुग्ध या स्तनपात के प्रति द्वेष, मुख से लालास्राव अधिक होना, कुछ सताप होना, विवर्णता, ललाट का अति तप्त होना, अरुचि, पाद, शैत्य मे सभी लक्षण बालको का ज्वर होने के पूर्व ही देखे जाते है।

(९) अतिसार—शरीर के वर्ण की विकृति, पीड़ा, मुखग्लानि, अनिद्रा, वातकर्म निवृति, ये लक्षण अतिसार से पूर्व मे मिलते हैं।



चित्र नं० ३३
जल युक्त मस्तिष्क पीड़ित बालक

(१०) उदरशूल—बालक उत्तान लेटकर रोता है, स्तनपान छोड देता है, उदर मे स्तब्धता, शैत्य, मुख पर स्वेद, यह उदरावरण शोथ (Peritonitis) जन्य उदर शूल के लक्षण हैं।

(११) छर्दि—बिना किसी कारण उद्गार प्रवर्तन होने लगे, निद्रा और जृम्भा आने लगें तो वमन होगा ऐसा जानना चाहिये।

(१२) श्वास—निष्ठीवन और उर की उष्णता इसके प्रधान लक्षण हैं।

(१३) हिक्का—यकायक श्वास के साथ उद्गार प्रारम्भ हो तो हिक्का होने का शक हो सकता है।



चित्र नं० ३४
फक्क रोग पीडित बालक

(१४) तृष्णा—अत्यधिक स्तनपान करने पर भी जो रोता रहे ओष्ठ शुष्क हो चुके हों, तालु भी जलरहित हों और दौर्बल्य प्रकट हो तो अवश्य प्यास लगी हुई है यह जानना चाहिये।

(१५) आनाह—आखें फैल जांय और स्तब्ध रहें, पर्व भेद हो, अरति, क्लम हो, मूत्र मल सभी की गति संरुद्ध हो जावे तो आनाह समझना चाहिये।

(१६) अपस्मार—यकायक बालक अट्टहास करने लगता है।

(१७) उन्माद--प्रलाप, अरति, वैचित्र्य होता है।

(१८) मूत्रत्याग शूल—मूत्र त्याग के समय रोमहर्ष होने से मूत्र मार्ग मे शूल होती है।

(१९) मूत्रकृच्छ्र—इसमे बालक वस्ति अपने हाथ से छूता है, कभी मूत्र त्याग के समय ओष्ठ का दशन करता है।

(२०) प्रमेह—मूत्र, गुरुता, बद्धता, जाडय लिए हुये होगा जो अकस्मात ही निकल पड़ेगा उस पर मक्षिका बहुत बैठेगी। उसका रग श्वेत और घन होगा।

(२१) अर्श—मल बद्ध और पक्व होगा, रक्त साथ मे आ सकता है, गुद निष्पीडन, गुदकण्डू, तोद आदि लक्षण होते हैं।

(२२) अश्मरी—यदि बालुकण मूत्र मार्ग में हों तो मूत्र अधिक निकलता है। मूत्र त्याग में शूल होता है। मूत्र त्याग करने पर रोने लगे तो समझें कि अश्मरी है।

(२३) विसर्प—इसमें पूर्व में रक्त मण्डल कोत्पत्ति, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति आदि।

(२४) विसूचिका—सूचीभेदनवत् पीड़ा, निष्ठीवन, हृच्छूल के लक्षण मिलते हैं।

(२५) अलसक—जो थोड़ी देर भी सिर को ठीक से धारण नहीं किये रहता, भेदन होता रहता है, बार बार जम्भाई लेता है, अधिक स्तनपान नहीं करता, ग्रथित होकर वमन करता है, विषाद, आध्मान, अरुचि आदि मिलता है।

(२६) चक्षुरोग—दृष्टि व्याकुलता, चक्षु में तोद, शोथ, शूल, अश्रु अधिक आना, आंख का लाल होना, सोने पर उपलेपन के कारण उनका चिपक जाना।

(२७) शुष्क कंडू—मलने से सुख दे, शोथयुक्त हो, दाह, शूल के लक्षण।

(२८) आद्र कंडू—सोते में अपने अङ्ग का घर्षण करने लगे और मलते मलते रो पड़े तो शुष्क कंडू से पीड़ित है।

(२९) पांडु रोग—नाभि के चारों ओर शोथ हो, मुख, नख श्वेत हो, अक्षि कूटों में शोथ हो तो बालक को पाण्डु जानना चाहिये।

(३०) कामला रोग—चक्षु, नख, मुख, मूत्र का पीला होना, निरुत्साह, अग्निमांद्य और रुधिर प्रयोग की आवश्यकता प्रकट होने से कामला के लक्षण लेने चाहिये।

(३१) मदात्यय—जो बालक मूर्छित हो, जागने पर वमन करे, धात्री द्वेषी हो, अरति, भ्रम, तृष्णा से पीडित हो मदात्यय से पीडित जान लेना चाहिये।

(३२) पीनस—जो स्तनपान करते करते बार बार मुख से श्वास ले, नासा एवं मुख से स्राव अधिक, ललाट परितप्त रहे, स्रोतों को स्पर्श करता रहे, श्वास अधिक हो तो पीनस रोग से पीड़ित जानना चाहिये।

(३३) उरोघात—उपरोक्त लक्षणों के साथ मुख से अत्यधिक निष्ठीवन करे तो वह उरोघात से पीड़ित मान लेना चाहिये।

—श्री वेदमित्र आर्य
आयुर्वेद भास्कर, ए. एम. बी. एस.
गुरुकुल कॉंगड़ी (सहारनपुर)

बाल-रोग परीक्षा में ज्ञातव्य बातें

आचार्य श्री पं० कृष्णदत्त जी शर्मा

आयुर्वेद के आदि प्रणेता महर्षि श्री चरक आयुर्वेद का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं:—

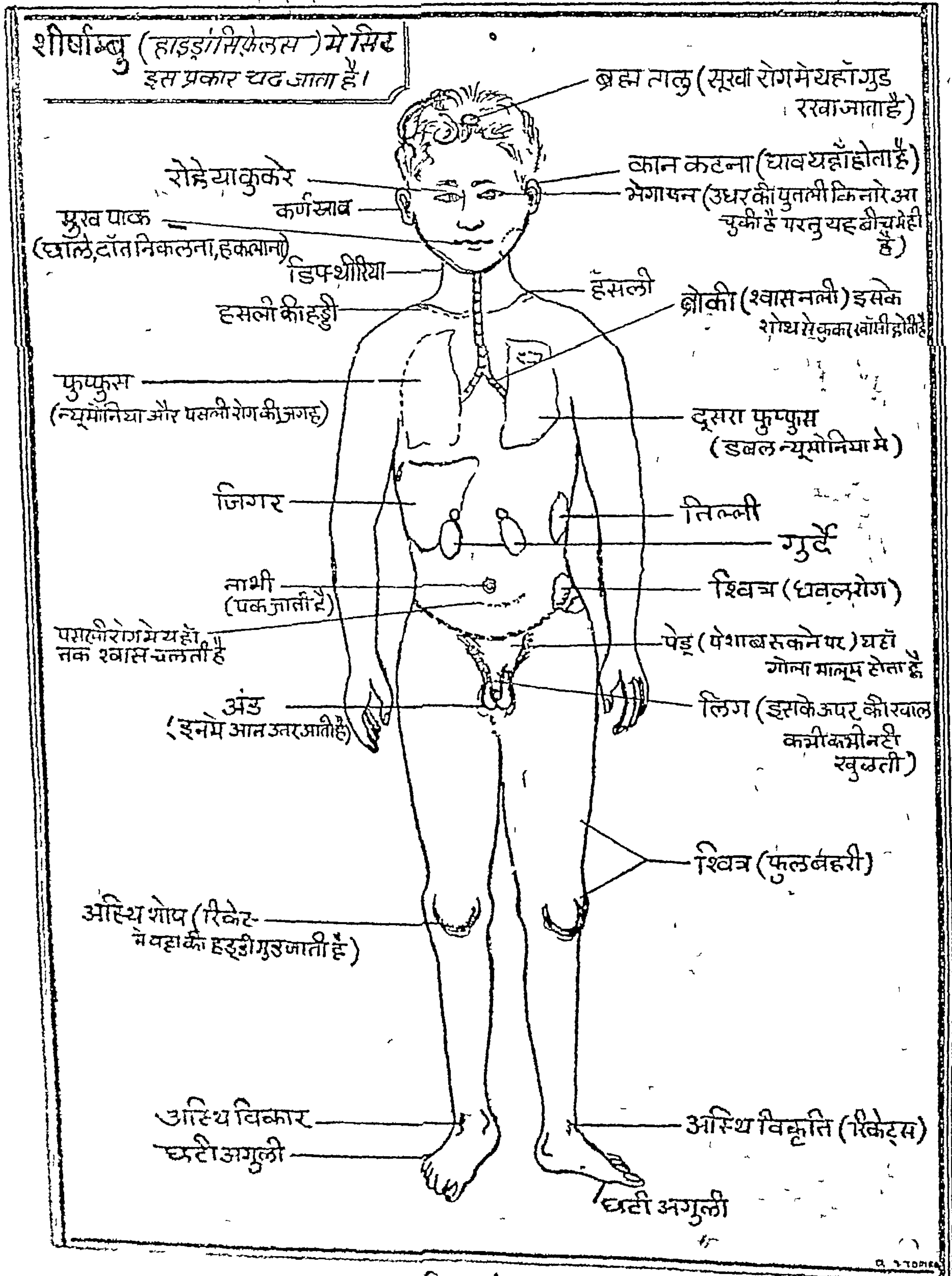
'हिताहितं सुखदुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥'

—चरक सूत्र. १।४१

हित (आयु) अहित (आयु) सुख (आयु), दुःख (आयु)—इन चार प्रकार की आयु का हित और अहित आहार-आचार आदि के निर्देश जिस शास्त्र में किये गये हों, वह 'आयुर्वेद' कहलाता है। इन हित, अहित, सुख तथा दुःखादि आयु का वर्णन (स्वरूप)-(जो व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्वस्थवृत्त से सम्बन्धित है—चरक सूत्र. ३० में वर्णन है) किया गया है।

आयुर्वेद एक वैज्ञानिक जीवन शास्त्र है—जिसके लिये महर्षि श्री सुश्रुत निर्देश करते हैं—आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।' जिस शास्त्र द्वारा आयु का ज्ञान हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

भारत के त्रिकालज्ञ ऋषि महर्षियों ने आयुर्वेद



चित्र नं० ३५

बालक के किन अंग में क्या रोग होते है ?



की रचना 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' महानतम सिद्धान्त को लेकर की है। आयुर्वेद के आठ अङ्गो में बालतंत्र (कौमारभृत्य) का अपना अलग अस्तित्व तथा महत्व है—आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थो मे 'कौमारभृत्य' इस नाम से यत्र तत्र वर्णन उपलब्ध है। जिस प्रकार कायचिकित्सा के लिए 'चरक संहिता' तथा शल्य शालाक्य के लिये 'सुश्रुत सहिता' है, उसी प्रकार बालतंत्र के लिये (बालको के रोग, चिकित्सा तथा स्वस्थवृत्त) आयुर्वेदीय साहित्य में काश्यपसंहिता' एक बेजोड़ ग्रन्थ है। काश्यपसंहिता मे बालकों से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों का समावेश मिलता है।

'कौमारभृत्य' (बालतन्त्र) की व्याख्या करते हुए महर्षि श्री सुश्रुत लिखते हैं—कौमारभृत्यं नाम कुमाराभरण धात्रीक्षीर दोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्य ग्रहसमुत्थाना च व्याधिनामुपशमनार्थम्"। कौमारभृत्य उस तंत्र या शास्त्र का नाम है—जिसमे बालक के पालनपोषण सम्बन्धी विधि, धात्री के वातादि से दूषित स्तन्य के शोधन उपाय तथा बालग्रह (स्कन्द, स्कन्दापस्मार, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शीतनाम, मुखमुण्डिका तथा नैगमेष) से उत्पन्न होने वाले बालरोगों के उपशमन के उपाय कहे गये हैं उसे कौमारभृत्य कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे कौमारभृत्य को '*Science of Paediatrics*' कहा जाता है।

प्रारम्भ मे बाल-रोग परीक्षा विधि के लिए शास्त्रीय आधार प्रस्तुत किया जाता है। अष्टाङ्ग हृदयकार बालरोगपरीक्षा विधि का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेत् रुजम्।
स य स्पृशेद्भृश देश यत्र च स्पर्शनाक्षम'॥
तत्र विद्याद्रुज, मूर्ध्नि रुज चाक्षिनिमीलनात्।
कोष्ठे विबन्ध वमथुस्तनदंशान्त्र कूजनैः।
आध्मानपृष्ठ नमन जठरोन्नमनैरपि॥
वस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंगत्रासादिगीक्षणैः।
स्रोतास्याङ्गा सन्धींश्च पश्येद्यत्नान्मुहुर्मुहु॥

—अ० उ० २।२ से ८

बालक के रोने की स्थिति से वेदना तीव्र है या मन्द है, यह अनुमान करना चाहिए। बालक जिस स्थान को बार बार स्पर्श करता हो, तथा जहां स्पर्श करने पर पीड़ा का अनुभव करता हो, रोता हो, तब वहां पीड़ा की स्थिति समझनी चाहिए। शिर.शूल होने पर बालक आंखो को प्रायः बन्द रखता है। कोष्ठगत (महास्रोत) पीड़ा होने पर विबन्ध, वमन, स्तन को काटने की प्रवृत्ति, आन्त्र मे गुडगुडाहट, आध्मान, पीठ तथा उदर के झुकने की क्रिया को देखकर विकृति समझनी चाहिए। मलमूत्र की रुकावट, भय, दिशम्बलोकन (इधर उधर देखना) तथा चौंकने से पीडा का स्थान वस्ति तथा गुह्यप्रदेश (गुदा तथा शिश्न) समझने चाहिए। चिकित्सक को विभिन्न स्रोतो (च. वि. ५), अङ्गों और सधियो को सावधानीपूर्वक देखना चाहिए।

जो अपनी आवश्यकता को बोलकर व्यक्त नहीं कर सकता है वह रोता है, जैसे कहा है 'बालाना रोदन बलम्', तथा अन्य भी हावभाव प्रकट करता है। कुछ बालक प्रकृति से ही अधिक रोते हैं, तथा कुछ कम। प्रकृति से अधिक रोना—रोग का परिचायक होता है। बालक— मूक होने के कारण रोता है तथा अपनी रुजा की ओर संकेत करता है। शरीर के किसी भाग मे विकृति होने पर मासपेशियों मे संकोच हो [illegible] है, तथा हाथ पुन पुनः उसी स्थान पर जाता है। महर्षि श्री सुश्रुत लिखते है—

अङ्ग प्रत्यङ्ग देशेषु रुजा यत्रस्य जायते।
मुहुर्मुहु स्पृशति त स्पृश्यमाने च रोदिति॥

सबसे आवश्यक बात यह है कि चिकित्सक को बालक की परीक्षा करते समय मनोवैज्ञानिक आधार लेना चाहिए।

काश्यपसंहिता सूत्रस्थान अध्याय २५ (वेदनाध्याय) मे बालकों में होने वाले शिरोरुजा, कर्णरुजा, मुखरोग, कण्ठवेदना, ज्वर, अतिसार, उदररुजा, छर्दि (वमन), श्वासरोग, आनाह, उन्माद, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, पाण्डुरोग, कामला आदि का वर्णन किया है। इसमे बालकों मे पाये जाने वाले

लक्षण लिखे हैं। जिस अङ्ग का रोग होता है, उसी अङ्ग विशेष पर लक्षण मिलते हैं—इन्हीं का निर्देश महर्षि श्री कश्यप ने काश्यपसंहिता में किया है।

बालकों की रोग परीक्षा करते समय अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ नहीं कह सकता। शरीरगत विकार का स्थान उसके हावभाव, रुदन, मलमूत्रादि प्रवृत्ति को देखकर ही कुछ जाना जा सकता है। महर्षि श्री सुश्रुत ने वर्णन करते हुये लिखा है—

> अङ्गप्रत्यङ्ग देशेतु रुजा यत्रस्य जायते।
> मुहुर्मुहु स्पृशति त स्पृश्यमाने च रोदिति॥
> निमीलिताक्षि मूर्धस्थे शिरोरोगे च धारयेत्।
> वस्तिस्थे, मूत्र सगार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति॥
> विण्मूत्रसगवैवर्ण्यच्छर्द्योध्मानान्त्रकूजनैः।
> कोष्ठेदोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थाश्च रोदनै॥
> —सु० शा० १०।३७ से ४०

शिर के रोग में आंखे बन्द किये रहता है, और शिर को उठा नहीं सकता। वस्ति में पीड़ा होने पर मूत्र रुक जाता है, तृषायुक्त तथा मूर्च्छित होता है। मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, उल्टी, पेट का फूलना, आंतें गुडगुडाना—ये लक्षण कोष्ठ में विकार होने पर होता है। तथा रुदन करने पर सर्वत्र ही विकार जानना चाहिए।

शरीर की असह्य पीडा को मालूम कराने के लिये बच्चों के पास केवल रुदन ही होता है। बड़े मनुष्य में भी शरीरगत असह्य पीडा में चेहरे की ओर देखकर पीडा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्शनासहत्व होने पर स्पर्श करने से पीडा होती है। शारीरिक तथा मानसिक विकारों का प्रतिविम्ब चेहरे पर पडता है, तथा इसके द्वारा विकार की स्थिति का (अल्प या बहु) ज्ञान होता है।

आयुर्वेदीय संहिताग्रन्थों में बालकों के विषय में अल्प वर्णन मिलता है। परीक्षा प्रारम्भ करते समय बालक की अवस्था को निम्न चार भागों में विभक्त कर लेना चाहिए। इससे परीक्षा विधि में सरलता रहेगी—

(१) नवजात .... जन्मकाल से ४सप्ताहतक
(२) शिशु .... दो वर्ष तक (जन्म से)
(३) बालक .... दो से बारह वर्ष
(४) किशोर .... बारह से सोलह वर्ष तक

आयुर्वेद ने भी बालक को तीन प्रकार का बताया है। महर्षि श्री सुश्रुत १६ वर्ष की अवस्था तक बालक मानते हैं—'ऊनषोडशवर्षस्तु नरो बालो निगद्यते'। बालकों के तीन प्रकार में (१) दूध पीने वाला [१ वर्ष तक] (२) दूध तथा अन्न खाने वाला [२ वर्ष तक] (३) केवल अन्न खाने वाला बताया है। 'त्रिविधः सोऽपि दुग्धाशी दुग्धान्नाशी तथान्नभुक्।-दुग्धाशी वर्षपर्यन्तं दुग्धान्नाशी शरद्द्वयम्॥ तदुत्तरं स्यादन्नाशी एवं बालस्त्रिधा मत.॥' इन बातों को दृष्टिगत रखते हुए सामान्य परीक्षा (*General examination*) करनी चाहिए—

बालक का भार (*Weight of child*) जानना चाहिए। भार निदर्शक तालिका—

(१) जन्म के समय	७ पौंड
(२) प्रथम मास	६½ ,,
(३) पचम मास	१४ ,,
(४) प्रथम वर्ष	२१ ,,
(५) द्वितीय वर्ष	२८ ,,
(६) षष्ठम वर्ष	४२ ,,
(७) पन्द्रह वर्ष	८४ ,,

जन्म के समय स्वस्थ शिशु का भार ७ पौंड होता है। जन्म के बाद प्रथम सप्ताह तक वजन में कुछ कमी आती है—कारण बालक को स्तन्यपान का अभ्यास नहीं होता है—तथा माता को स्तन्य प्रवृत्ति तीन दिन के बाद होती है—तथा माता प्रसव की पीड़ा से पीड़ित रहती है अत बालक का वजन प्रथम सप्ताह में कुछ कम होजाता है। सप्ताह के अन्त तक 'पूर्ववत्' (वजन की कमी) हो जाती है। पुन उत्तरोत्तर नित्यप्रति ½ से १ छटांक भार में बढता जाता है। यदि यह वृद्धि नहीं होती हो तो पोषक पदार्थ देने चाहिए। पंचम मास में जन्म दिन

से दुगुना, प्रथम वर्ष में तीन गुना, द्वितीयवर्ष के अन्त में चौगुना, छठे वर्ष ६ गुना (४२ पौंड), तथा पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे बारह गुना (८४ पौंड) वजन होना चाहिए। वजन में इस प्रकार 'वृद्धि' स्वस्थता की परिचायक है। यदि वृद्धि मे न्यूनता हो तो पोषणाभाव समझना चाहिए तथा अस्वाभाविकता भी, अतः पूर्ण पोषण देना चाहिए। पोषण की कमी से संक्रामक रोग (जीवनीय शक्ति की कमी के कारण) हो जाते है।

बालक का भार देखने के पश्चात्—उसकी ऊंचाई (*height*) को देखना चाहिए—

(१) जन्म के समय २०½ से २४ इञ्च
(२) प्रथम वर्ष मे २७ इञ्च
(३) पंचम वर्ष मे ४१ इञ्च (३½ इञ्च प्रतिवर्ष वृद्धि)
(४) पन्द्रह वे वर्ष मे ६१ इञ्च (५'–१ तथा २ इञ्च प्रतिवर्ष वृद्धि)

जन्म के समय में ऊंचाई २० इंच होनी चाहिए, प्रथम वर्ष के अन्त तक २७ इंच, फिर ५ वर्ष तक प्रति वर्ष ३॥ इंच वृद्धि, (५ वर्ष के बालक की ऊंचाई ३ फुट से ५ फुट होनी चाहिये) ५ वर्ष से १५ वर्ष तक प्रति वर्ष १ और २ इंच की वृद्धि होनी चाहिये। इस प्रकार १५ वर्ष की अवस्था तक ऊंचाई ५ फुट १ इंच होगी।

आर्थिक परिस्थिति, आवास, जल, वायु, ऋतु, देश, काल आदि का प्रभाव भी बालक के स्वास्थ्य पर पड़ता है। साधारण दृष्टि से बालक के भार तथा ऊंचाई के जानने से बालक के भौतिक शरीर का संगठन कैसा है यह भलीभांति ज्ञात हो जायगा। यदि न्यूनता रहेगी तो विकृति ज्ञात होने पर चिकित्सा में सुविधा होगी।

भार तथा ऊंचाई के ज्ञान के साथ ही सामान्यतः नाड़ी स्पन्दन तथा श्वास का क्रम क्या रहता है, जानना चाहिए। सामान्यतया नाड़ी स्पन्दन तालिका इस प्रकार है—

अवस्था	संख्या प्रति मिनट
१–जन्म से प्रथम वर्ष के अन्त तक	१२० से १४० तक
२–दूसरे से पाचवे वर्ष तक	९० से ११५ तक
३–छठे वर्ष से १५ वे वर्ष तक	८० से ९० तक
४–१६ से ५० वर्ष तक	७० से ७५ तक
५–५० से ऊपर तक	५० से ६५ तक

परिश्रम, अचानक किसी अप्रिय बात के सुनने, भोजनोपरान्त नाड़ी की गति बढ़ती तथा सोने के समय मे कम होती है।

श्वास कर्म—छोटा बच्चा एक मिनट मे तीस या ३५ बार तक श्वास लेता है। ६ मास की आयु पर भी श्वास की संख्या ३५ प्रति मिनट होती है। दूसरे वर्ष के प्रारम्भ मे वह पच्चीस रह जाती है। १६ वर्ष के बाद श्वास प्रति मिनट १८ के पास रहता है। श्वास का तथा नाड़ी का अनुपात १ तथा ४ का है (१ श्वास आने पर नाड़ी का स्पन्दन ४ बार होगा)

बालक के मल को देखने पर भी उसके महास्रोतस की विकृति का पता चलता है तथा रोग परीक्षा मे सहायक होता है। अतः शिशु के मल त्याग तथा परीक्षा की तालिका—

अवस्था	प्रतिदिन की संख्या	वर्ण
[१] प्रथम दो मास तक	३ से ४ बार	अंडे के तरल सदृश्य, गंधहीन
[२] दो से आठ मास तक	२ से ३ बार	क्रमश परिवर्तनशील
[३] आठ से चौबीस मास तक	— २ बार	भूरे रंग का, चिकना तथा कुछ दुर्गन्धित
[४] दो वर्ष के पश्चात	१ से २ बार	पूर्ण रूप का, तथा दुर्गन्धित, पीतवर्ण, बद्ध



शिशु के भोजन, उसकी मात्रा तथा विश्राम आदि का भी चिकित्सक को निर्देश देना पड़ता है, तथा जानकारी रखनी पड़ती है। अत. उनका क्रम इस प्रकार है—

अवस्था	दिन मे घण्टों मे विश्राम	रात्रि मे दुग्धपान	१ वार की मात्रा
[१] ७ दिनो तक	२-२ घण्टे पर	१ वार	½ से ¾ छटांक
[२] १४ से २१ दिन तक	२-२ घण्टे पर	१ वार	¾ से १½ ,,
[३] २१ से ३५ ,,	२-२ घण्टे पर	१ वार	१½ से १¾ ,,
[४] ४२ से ८४ ,,	२½-२½ घण्टे पर	१ वार	१½ से २½ ,,
[५] ३ से ५ मास ,,	३-३ घण्टे पर	१ वार	२ से २¾ ,,
[६] ५ से ६ ,, ,,	३-३ घण्टे पर	१ वार	२¾ से ३½ ,,
[७] ६ से १२ ,, ,,	३¼-३¼ घण्टे पर	१ वार	३¼ से ४½ ,,

पंचविध परीक्षा—

उपर्युक्त तालिकाओं को ध्यान मे रखते हुए भी निम्न पंचविध परीक्षा करनी चाहिये।

[१] प्रश्न (Interrogation)—

रोगी परीक्षा का प्रथम उपाय है। प्रश्न के सामान्य तथा विशेष दो विभाग होते हैं। सामान्य परीक्षा मे प्रश्न द्वारा नाम, आयु, निवास स्थान, वर्तमान रोग की अवस्था, रोग कैसे प्रारम्भ हुआ, कैसे बढ़ा, क्या चिकित्सा करवाई, क्या परिणाम हुआ, रोगी के पूर्व स्वास्थ्य का वृत्त, भोजन-शाकाहार या सामिष, परिवार का स्वास्थ्य आदि बाते पूंछ लेनी चाहिये। विशेष प्रश्न रोगी के स्रोतस (संस्थान, सिस्टम) या अङ्गों के विषय मे करना होता है।

(१) बालक जो बोल नहीं सकता, उसकी सभी बाते बालक की माता या अभिभावक से जाने।

(२) बालक के भोजन दूध में जिसको वह माता के द्वारा या गाय का दूध लेता है वह स्वस्थ है या नहीं। यह उल्लेख रोगी के पूर्व इतिहास मे ले।

(३) बालक के जन्म से पूर्व माता को उपदश, सहज अर्श, कुष्ठ, आमवात, मधुमेह, क्षय, रक्तचाप आदि कोई व्याधि तो नहीं थी?

(४) जो स्रोतस दुष्ट हैं या जिसका बालक (जिस स्थान का) स्पर्श करता है उसकी प्रथम पूर्ण परीक्षा की जानी चाहिये। फिर यदि आवश्यकता मालूम हो तो सभी स्रोतों की भी परीक्षा करे।

[२] दर्शन (Inspection)—

इसमे रोगी के अङ्गों का सिर से पैर तक सभी का, चलते, फिरते, बोलते, सोते करना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो निर्वस्त्र करके भी देखा जा सकता है। अधिक समय तक निर्वस्त्र नहीं रखे।

[३] स्पर्शन (Palpation)—

दर्शन परीक्षा के बाद हाथ से परीक्षा करनी चाहिये। स्पर्श परीक्षा प्राय: एक हाथ से तथा दोनो हाथों से भी की जा सकती है। स्पर्श के समय हाथ अधिक ठण्डा तथा गरम नहीं होना चाहिये। स्पर्श कोमलता के साथ होना चाहिये, जिससे रोगी कष्ट का अनुभव नहीं करे। उंगलियों से दबाकर परीक्षा नहीं कर सम हाथ से करनी चाहिये।

[४] अंगुली ताड़न (Percussion)—

इस विधि का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रन्थों मे मिलता है। यथा—'आहतमाध्मातदृति शब्दवद्भवति' (च चि. १३)। तदेवोदकमाप्याप्य पिच्छा कुर्यात्तदा भवेत्। गुरुदरं स्थिरं वृत्तमाहत न च शब्द-वत् (अ. हृ. नि. १२)। आहत का अर्थ अंगुली ताड़न है। यह विधि निम्न तत्व पर निर्भर करती है। ठोस (कठिन) स्थान पर ताड़न करने पर प्रति-ध्वनि मन्द या भदभद (Dull) होती है। रिक्तस्थान

पर ताड़न करने से प्रतिध्वनि डिमडिम—ढोलवत् होती है। जल गर्भ स्थान पर आघात करने से ध्वनि मन्द होती है, परन्तु उसकी प्रतिध्वनि ठोस स्थान से कुछ भिन्न होती है। इस विधि से शरीर के भीतरी ठोस, जल गर्भ और रिक्त (वायुयुक्त) स्थान का ज्ञान होता है। इस विधि में स्पर्शन और श्रवण का मिश्रण है। परन्तु अभ्यास से हाथ की ज्ञानशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि विना ताड़न शब्द के सुनने से ही हाथ को यह मालूम हो जाता है कि परीक्ष्य स्थान ठोस, जल गर्भ या रिक्त है।

ताड़न विधि—इसके लिये दो चीजें आवश्यक हैं। एक वह जिससे ताड़न किया जाता है और दूसरी वह जिस पर ताड़न किया जाता है। प्रथम जब इस विधि का आविष्कार हुआ तब रोगी के शरीर पर कोई भी चीज न रखकर ताड़न किया जाता था। इसे प्रत्यक्ष ताड़न कहते है। इस प्रत्यक्ष पद्धति से अब ताड़न नहीं होता है। केवल फुफ्फुस परीक्षा मे अक्षकों के ऊपर इस प्रकार कभी कभी ताड़न होता है। प्रायः वामहस्त की मध्यमांगुली को परीक्ष्य स्थान पर सपाट रखकर उस पर दक्षिण हाथ की मध्यमांगुली के सिरे से हथौड़ी की तरह प्रहार किया जाता है। प्रहार के समय केवल अंगुली और हाथ हिलाना चाहिये और प्रहार की शक्ति कलाई से आनी चाहिये। प्रत्येक स्थान पर दो या तीन प्रहार से अधिक की आवश्यकता नहीं है। यह विधि उदर, छाती और हृदय की परीक्षा मे बहुत उपयोगी है।

[२] श्रवण परीक्षा (Auscultation)—

यह परीक्षा प्रत्यक्ष कर्ण परीक्ष्य स्थान पर लगाकर भी की जा सकती है। इसके लिये एक विशेष प्रकार का नाड़ी यन्त्र व्यवहृत होता है। उसे उरःश्रव (Stethoscope) कहते है। इस नाड़ी यन्त्र का उपयोग फुफ्फुस और हृदय की परीक्षा मे बहुत होता है।

रसना परीक्षा—पाश्चात्य वैद्यक मे रसना परीक्षा नहीं है। रसना परीक्षा की आवश्यकता मूत्र परीक्षा मे होती है। आजकल इसके लिये अनेक रासायनिक साधन उपलब्ध हैं। प्राचीनकाल में रासायनिक परीक्षाएं न होने के कारण मूत्रादि का रस जानने के लिये पिपीलिका आदि पर निर्भर होने के लिये लिखा है।

गन्ध परीक्षा—पाश्चात्य वैद्यक मे भी मल मूत्र परीक्षा मे अहिफेन विष, मदात्यय और माधुमेहिका संन्यास (Diabetic Coma) मे गन्ध के द्वारा रोगी की परीक्षा की जाती है। चिकित्सा सफलता के लिये प्रथम रोगी की सम्पूर्ण परीक्षा करना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये पाश्चात्य वैद्यक मे सैकड़ों यन्त्र (यथा-स्पेक्यूलम-एक्सरे आदि) व्यवहृत होते है। प्राचीन काल मे इन यन्त्रो की कमी थी, अतः वैद्य को केवल अपनी इन्द्रिय की शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। आयुर्वेदोक्त श्रोतादि षड्विध (पांच ज्ञानेन्द्रिया तथा प्रश्न) परीक्षा को भौतिक या शारीरिक कहते हैं। इस परीक्षण मे यद्यपि आधुनिककाल मे असंख्य यन्त्र और उपकरण सहायता करते है तथापि आयुर्वेद मे इस इन्द्रियक परीक्षण को जो महत्व प्रदान किया है वह आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों की दृष्टि से भी उचित ही सिद्ध हुआ है।

रोगी परीक्षा मे तथा रोगनिदान मे ऐन्द्रियक परीक्षण और बुद्धि के द्वारा काम लेना चाहिए और उपकरणों की सहायता जहां अत्यन्त आवश्यक हो वहां पर ही लेने का अभ्यास रखना चाहिए। ऐसा श्री यादव जी ने व्याधि विज्ञान मे वर्णन किया है।

आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर के आतुरालय मे आबाल वृद्ध के लिए निम्न रुग्ण परीक्षा पत्रक का व्यवहार किया जाता है। यहा पर स्रोतस के अनुसार परीक्षा की जाती है, यह बिल्कुल शास्त्रीय ढंग है। रुग्णपरीक्षा पत्रक का नमूना वैसा का वैसा ही प्रस्तुत है। इससे भी रोगी परीक्षा में बहुत सहायता मिलती है—



रुग्ण परीक्षा पत्रकम्

प्रवेशित क्रमांक—
वाह्य क्रमांक—
रोगी नाम—
लिङ्ग—
वय—
व्यवसाय—
वेदना—
उत्थापनम्—
प्रकोपम्—
अग्नि—

प्रवेशित दिनांक—
निर्गम दिनांक—
रोगावधि—
निदान—
सात्म्य—
बल—

स्रोतः	लक्षणानि	अभिप्राय.
(१) प्राणवहम्— १ हृदय, हृदयनाडिकाश्च २ बुद्धिर्मनश्च ३. पार्श्वद्वयम्–फुफ्फुसश्च ४. महास्रोतः[] ५. कण्ठ मुखम् ६. नासा शीर्षम् च ७. ज्ञानेन्द्रियाणि ८. कर्मेन्द्रियाणि (२) उदकवहम्— १. तालु २. क्लोम ३ उदकम् (३) अन्नवहम्— १. अन्न नलिका २ आमाशय (उर्ध्व) ३ आमाशय (अध.) ४. नाभि नाभिस्तनान्तरमुदरं च ५ छर्दि. (४) रसवहम्— १. हृदयम् (वामम्) २. नाडी ३ कफलसीका च (५) रक्तवहम्— १. यकृत् प्लीहा च	स्रोतस में शरीर के जो जो अङ्ग आपकी परीक्षा के आधीन हों, उसमें जो लक्षण मिलें वे इसमें लिखने चाहिये तथा वे लक्षण वातपित्त तथा कफ में जिसके हों उसका उल्लेख करना चाहिए।	इसमें वातादि का वृद्धि या क्षय के जो लक्षण मिले उसके अनुसार, वात वृद्धि या पित्त वृद्धि या कफक्षय जो मिले लिखना चाहिये।

स्रोतः	लक्षणानि	अभिप्रायः
२. सिरा		
३. रक्तम्		
४. पित्ताशयः पित्तं च		
(६) मांसवहम्—		
१. स्नायु मांसपेशी च		
२. त्वक्		
३. खमला		
(७–८) मेद स्वेदवहे—		
१. वृक्कौ वपावहनम् च		
२. कटि		
३ मेदः		
४. स्वेदः		
(९–१०) अस्थिमज्जवहे—		
१. जघनं अस्थि च		
२. केशा नखाश्च		
३. सन्धय.		
४. अक्षविट् त्वक् स्नेहः		
(११-१२-१३) शुक्रार्तव स्तन्यवहानि		
१. वृषणौ, मेढ्रम्, उत्थानम्		
२. शुक्रम्		
३. गर्भाशय. अपत्यपथश्च		
४. रजः		
५. आर्तववाहिन्य		
६. ओजः		
७ स्तनौ-स्तन्यम्		
(१४) पुरीषवहम्—		
१. उण्डुकः मलाशयश्च		
२. नाभेरधस्तादुदरम्		
३. पुरीषवहम्		
(१५) मूत्रवहम्—		
१. वस्ति वंक्षणौ च		
२. मेढ्रम्		
३. मूत्रम्		

दोष—

दूष्यम्—

स्रोतोदुष्टिः
रोगनाम
औषधम्
पथ्यापथ्यम्



बाल परीक्षा में सावधानियां–

बालकों से सभी प्रकार की परीक्षा करते समय निम्न बातों का ध्यान में रखना उपयोगी है—

(१) बालक के भावों का मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करें तथा प्रथम केवल दर्शन परीक्षा, पुन. स्पर्शन, फिर श्रवण तथा अगुली ताडन परीक्षा करें।

(२) बालक-बोल कर कुछ नहीं बता सकता तथा परीक्षा करते समय रुकावट भी डालता है। चिकित्सक बालक के लिए अपरिचित होता है, अत: बालक रोने लग जाता है, तथा अपने अगों का कुछ संकोच कर लेता है अत. चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी बालक का विश्वास प्राप्त करे। उसका परिचित बने। बालक को कुछ चीज लेमनचूस, चौकलेट, खिलौने आदि देकर उसके मन को दूसरी ओर करके परीक्षा करें।

(३) डा० हचिन्सन लिखते हैं—चिकित्सक को बालक की ओर घूर कर नहीं देखना चाहिए, अपितु हसते हुए प्रसन्न मुद्रा मे देखना चाहिए। उन्हे नग्न नहीं करना चाहिए, नग्न करने से बालक नाराज हो जाते हैं। जहा तक हो जैसे भी हो–बालक को मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(४) डा. विलफ्रिड शेलडन ने लिखा है यदि रोगी बालक सोया हुआ हो तो उसकी जितनी परीक्षाये विना जगाये हो सके, कर लेनी चाहिए, उसकी श्वास प्रश्वास की गति तथा नाड़ी प्रतिमिनट कितनी है गिन लेनी चाहिए। हृदय पर धीरे से स्टेथिस्कोप रख कर हृदय गति सुन लेनी चाहिए। स्पर्श परीक्षा भी सुखोष्ण हाथ से करनी चाहिए।

(५) बालक की परीक्षा माता की गोद मे लिटा कर या कधे पर ही करनी चाहिए। शय्या पर लिटाने पर बालक रोने लगता है, तथा परीक्षा मे बाधा उपस्थित करता है।

(६) परीक्षा समय मे यह भी अच्छी प्रकार देख लेना चाहिए कि बालक किस प्रकार के वातावरण मे रहा है, उसका आवास कैसा है, उसे शुद्ध वायु, जल, तथा आहार विहार प्राप्त होते है या नहीं माता स्वस्थ है या नहीं। इन सब बातों को ध्यान मे रखते हुए उचित स्वास्थ्यकर निर्देश करें।

(७) बालक के लिए औषधि व्यवस्था करते समय काश्यप सहिता के रचयिता महर्षि श्री काश्यप का यह आदेश पालनीय है—

न त्वेव बालस्य विशोषणंहित,
नैवाति सशोधन रक्तमोक्षणे।
स्निग्धै. सुशीतैर्मधुरैरदाहिभिस्त,
श्रोपचारोऽशनलेपसेचनै. ॥

—काश्यप सूत्र २७। ६६.

बालक के चिकित्सा कार्य मे अधिक शोषण, अधिक रक्तमोक्षण तथा आवश्यकता से अधिक संशोधन करना उचित नहीं है। उसका स्निग्ध, शीतल, मधुर तथा दाह न उत्पन्न करने वाले अन्न-पान, लेप तथा परिपेचन के द्वारा ही उपचार करें।

(८) उपर्युक्त औषध व्यवस्था विचार के साथ ही बालक के लिये दवा की मात्रा कितनी होनी चाहिये, किस प्रकार देनी चाहिए इस विषय में यह विचार मिलता है–

बालकों को हमेशा औषधि या द्रव या लेह रूप मे देनी चाहिये। चर्महरण चूर्ण या कल्क आदि को घृत या शहद के साथ मिला कर चटाना चाहिए। गोली या वटी नहीं देनी चाहिए, माता को या धात्री को औषध देने की कल्पना भी ठीक है, इससे सेवन की हुई औषधि स्तनों से दूध के साथ निकलती है–अत: शीघ्र लाभ करेगी-क्योंकि बालक का जीवन दुग्ध ही है। बालको को मादक औषधि नहीं देनी चाहिये क्योंकि मादक औषधि का प्रभाव बालक पर शीघ्र होता है—

मात्रा का निर्देश 'चक्रदत्त' मे इस प्रकार है—

प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेपजरक्तिका।
अवलेह्यातु कर्तव्या मधुक्षीर सिताघृतै ॥
एकैका वर्द्धयेत् तावद् यावद् सवत्सरोभवेत्।
तदूर्ध्वं माषवृद्धिस्याद् यावदाषोडशाब्दिका. ॥

प्रथम मास से मे शिशु के लिए औषध की"
—शेषाश पृष्ठ ६१ पर।

बाल-परीक्षा

कविराज श्री पुरुषोत्तम देव मुलतानी आयुर्वेदालंकार



बाल-परीक्षा अन्यों (किशोर, तरुण व वृद्ध) की परीक्षा से कठिन है। यह कठिनाइयां दो प्रकार की है। (१) एक तो यह कि बच्चे अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकते। जब तक रोगी अपना इतिवृत्त स्वयं न दे, तो निदान में कठिनाई मालूम होती है। इस समस्या का हल कुछ हद तक इस प्रकार होजाता है कि उसके माता-पिता व संरक्षक से पूछ लिया जाता है। (२) दूसरी कठिनाई यह है कि जब आप बच्चे की परीक्षा करते हैं तो इसीसे बच्चे मे विरोध का भाव आजाता है। बच्चे का विश्वासपात्र बनना बड़ा कठिन है। इसीलिये बाल-रोग विशेषज्ञ के लिए बच्चे के दिल को हर लेना आवश्यक है क्योंकि बच्चें एक ही की चिकित्सा करना पसन्द करते है।

यह परीक्षा दो प्रकार की है। (१) प्रश्नोत्तर (२) शारीर परीक्षा।

प्रश्नोत्तर (Case-taking)—

जब बच्चा बीमार होकर आये तो बच्चे से बातें तो आप क्या करेंगे, उसके संरक्षक से आप बातें करिये। यह बातें करने का समय बहुत आवश्यक है क्योंकि जब आप बच्चे के संरक्षक से बात कर रहे होते हैं तो बच्चा समझता है कि यह चिकित्सक अपना आदमी है। इस समय बच्चे की ओर कभी सीधा न देखिये। क्योंकि इससे बच्चा बड़ी जल्दी डर जाता है। बच्चे की ओर बिना देखे ही उसे अपनी ओर आकर्षित करने का यत्न कीजिये। इसके लिए आप उसे कोई आकर्षक चीज उसे दे सकते है। उसको अपनी ओर कभी मत खींचिए। जब वह स्वयं आपकी ओर खिंच के आए तो उसके सिर पर हाथ फेरिए और स्वयं दूसरी ओर देखिए। जब वह स्वय आपके घुटने के पास आलगे अथवा आपकी चीज लेले तब आप चुपके से उसे गोदी मे बिठा लें। यदि वह बैठ जाता है तो आप समझ लें कि आप उसके विश्वासपात्र बन गये हैं।

अब बच्चे के संरक्षक या माता-पिता से प्रश्नोत्तर कीजिये।

(क) पहले बच्चे का पूर्व इतिवृत्त (*Indirect History*) लीजिए। पूर्ववृत्त उससे जीवनकाल से ही नहीं अपितु उससे भी पहिले का पूछना पड़ता है। उसकी मा के पहिले कितने बच्चे हुये? कितने मरे? किस कारण से? इसका उद्देश्य है कि वंश मे कोई ऐसा रोग तो नहीं जो पैतृक हो तथा इस बच्चे में आगया हो। इसके साथ ही घर की अवस्था (खाना, पीना, तथा आर्थिक अवस्था) कैसी है इसका भी प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। "बाल-शोष" इसका एक उदाहरण है। यह रोग खाद्योज के अभाव से होता है। जब यह बच्चा पैदा हुआ था या यह बच्चा गर्भ मे था तो उस समय जननी का स्वास्थ्य कैसा था? गर्भावस्था में जननी का स्वास्थ्य खराब होने से बच्चे पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त जननी को कोई गर्भपात तो नहीं हुआ? यदि हुआ है तो यह उपदंशजन्य भी हो सकता है।

(ख) बच्चे का पूर्ववृत्त (*Direct History*)— बच्चा पैदा होने के बाद से उसे गाय का, बकरी का, जननी का या धाय का दूध दिया गया है? जिन बच्चों ने अपनी जननी का दूध पिया है वह, अधिक बुद्धिमान होते हैं। इसके विपरीत जो डिब्बे का दूध पीते हैं वह अधिक चतुर नहीं होते। यदि जननी ने अधिक समय तक दूध पिलाया हो तो जननी का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। एक वर्ष तक जननी का दूध पुष्टिकर होता है। उसके बाद खाद्योजरहित एव गाढ़ा होना शुरू हो जाता है। जब बच्चे ने दूध पीना छोड दिया, फिर उसको खाने के लिये क्या दिया गया? बच्चे के दात कब निकले? बच्चे ने चलना कब शुरू किया? इससे उसकी अस्थिया निर्बल हैं या स्वस्थ हैं मालूम



होता है। इससे अस्थिमार्दव रोग की सूचना मिलेगी। बच्चे के सोते समय घुर घुर की आवाज तो नहीं आती ? यदि उसके गले बड़े होंगे तो श्वास सघोष होगा। बच्चे की पाचन शक्ति साधारणतया कैसी है ? उसे आव या दस्त तो नहीं आते ? बाल्यावस्था में कोई विशेष रोग तो नहीं हुए जैसे अपस्मार, वमन, खासी और गलशुण्डी शोथ आदि ? कोई संक्रामक रोग तो नहीं हुआ जैसे चेचक, मसूरिका आदि ? कानों से पूय तो नहीं आती ? संक्षेप में पूर्व इतिवृत के सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछे जाते है।

अब वर्तमान रोग के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछिए। रोग कब आरम्भ हुआ, क्या-क्या लक्षण थे ? क्या चिकित्सा की गई ? उसका परिणाम क्या रहा ?

शारीर परीक्षा (Physical Examination)

यह चार प्रकार की है। (क) निरीक्षण (ख) स्पर्शन (ग) श्रवण (घ) और टकोर।

निरीक्षण घूर कर नहीं करना चाहिए। आप कनखियों से उसे देखते रहे। इसमे दो-तीन निम्न बातों का विशेष ध्यान रखिये–

(१) बच्चे की चेष्टायें—स्वस्थावस्था मे बच्चा कभी टिककर नहीं बैठेगा और वह कुछ प्रसन्न सा रहता है। परन्तु यदि बच्चा बहुत बेचैन है, जरा जरा सी बात पर कुढ़ता है अथवा इसके विपरीत बच्चा बिलकुल भावरहित शांत है यहा तक कि और बच्चों के साथ खेलना भी नहीं चाहता तो यह रोग के लक्षण है।

(२) बच्चे के हावभाव कैसे हैं ? इसमे कई बातें आवश्यक हैं। एक तो बच्चे के चेहरे से वेदना का पता चलता है। बच्चे के निचले धड मे यदि दर्द है तो माथे पर बल पडना शुरू हो जाते हैं। शिरोवेदना है तो चेहरे के निचले भाग मे बल पड़ जाते हैं। तीव्र ज्वर मे बच्चे का चेहरा लाल और *Collapse* की अवस्था मे चेहरे का रग बिलकुल फीका पड़ जाता है। यदि ओष्ठ और कान नीले पड जांय तो इस बात का सूचक है कि श्वास क्रिया ठीक नहीं हो रही और यह अधिकतर श्वसनक सन्निपात (*Pneumonia*) का चिन्ह है। यदि बच्चे को नासिका बहुत फैलानी पड़े तो यह भी श्वसनक सन्निपात का चिन्ह है। इसी प्रकार आमाशय व आंतो के चिरस्थायी रोगो मे चेहरे का रग मटियाला, आखे व गाले अन्दर को धंस जाती है।

(३) शरीर के जो भिन्न भिन्न भाग हैं उनके माप का आपस मे क्या अनुपात है। यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि बच्चो मे बडो से अनुपात भिन्न होता है। सिर और धड़ के अनुपात मे भी भेद होता है। स्वस्थावस्था मे बडो म छाती बडी, पेट छोटा, बच्चो मे सिर छोटा, पेट बड़ा और छाती छोटी होगी क्योंकि उनका यकृत आकार मे बड़ा होता है। छाती बड़ों मे अंडाकार और बच्चो मे गोल होती है। इसमे कई विकार आ सकते है–

उदाहरणार्थ जैसे सिर बहुत ही बड़ा हो जाये। इस अवस्था मे सिर के अन्दर जो द्रव है उसकी मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि कपालास्थि मृदु होने के कारण फैल जाती है। इससे वातिक तन्तु पतले होकर फैल जाते है जिससे बच्चा बुद्धिहीन होता है। द्रव का दबाव सिर मे बहुत बढ़ जाता है जिससे कपालास्थि मे जो झिल्लियां है वह आगे को निकल आती है। यहां तक कि नेत्र भी जरा बड़े-बड़े बाहर को निकले हुए दिखाई देते हैं। इसके विरुद्ध दूसरी अवस्था वह है कि जिसमे सिर बहुत छोटा होता है। प्राय. पागल बच्चो मे यह रोग होता है। तीसरी अवस्था ऐसी हो सकती है कि सिर आगे पीछे से लम्बा और पार्श्व मे चपटा हो। अस्थि-मार्दव रोग मे पार्श्व दब जाता है और अग्र पश्चिम भाग बढ़ जाता है। उपदंश रोग मे भी कपालास्थि मे उभार उत्पन्न हो सकते है।

(४) बच्चे की गति विधि देखना भी आवश्यक है। यदि वह हाथ पांव नहीं हिला सकता तो हो सकता है उसे पक्षाघात हो। उसके हाथ पाव अनि-



यमित तौर पर गतिमान रहते हैं तो यह भी बात रोग का चिन्ह है। लेकिन कई बच्चों में अनियमित सिकुड़न की आदत भी हो सकती है। इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है। यह भी सम्भव है कि बच्चा टांगों को बिलकुल स्थिर रखे और पैर के साथ टांगों को लगा रखे। यह अवस्था उदरशूल का भी चिन्ह हो सकती है।

यह विशेष बातें बच्चों में देखनी आवश्यक होती हैं।

(ख) स्पर्शन (Palpation)—

बच्चे को कोमलता से स्पर्श करें। आपका हाथ नर्म एवं ऋतु के अनुसार गर्म या ठंडा होना चाहिए ताकि रोगी में विरोध का भाव पैदा न होकर चिकित्सा के प्रति विश्वास हो जाये। इसमें कई बातें अनुभव करनी होती हैं जो बच्चों में विशेष रूप से पाई जाती हैं—

जिस समय बच्चे के सिर पर हाथ फेरें तो कपालास्थियों का और अन्तरों में झिल्लियों का स्पर्शन बारीकी से करें क्योंकि इससे कपाल के अन्दर की झिल्ली के दबाव का पता चलता है। यह झिल्ली पन्द्रहवें महीने से छोटी हो जानी चाहिए और दूसरे वर्ष में (साधारणतया १८ महीने तक) बिलकुल लुप्त हो जानी चाहिए। यदि यह दो वर्ष के पीछे तक बनी रहती है तो इसका अर्थ यह है कि अस्थियां निर्बल हैं और उनका पोषण ठीक नहीं हो रहा है और अन्तर बना रहा तो यह 'अस्थि मार्दव' रोग का चिन्ह है। कभी-कभी पन्द्रह मास की आयु के पहले ही बन्द हो जाती है यह भी रोग का चिन्ह है अर्थात् मस्तिष्क की वृद्धि रुक गई है इसलिये अस्थियां जल्दी जुड़ गई हैं। अब इस अन्तर पर उंगली रखने से यदि झिल्ली अस्थियों के समतल है तो तनाव ठीक होगा, यदि अन्दर को दबी हुई है तो दबाव कम होगा। यदि झिल्ली बाहर हो तो रक्ताधिक्य के कारण हो सकती है।

नाड़ी परीक्षा—दो कारणों से देखनी कठिन होती है। क्योंकि एक तो नाड़ी बहुत छोटी होती है। ऐसी अवस्था में कपालास्थि पर हाथ रखकर नाड़ी का अनुभव किया जाता है क्योंकि इसमें धमन क्रिया हृदय की गति के अनुसार ही होती है।

दूसरी कठिनाई यह है कि बच्चे का हाथ पकड़ते समय वह डर जाता है। इसके लिए सुगम उपाय यह है कि बच्चे के संरक्षक उसका हाथ पकड़ लें और आप संरक्षक के हाथ के ऊपर से अपना हाथ ले जाकर बच्चे की नाड़ी देख लें। वैसे श्रवण यन्त्र से हृदय परीक्षा करें तो भी नाड़ी का पता चल जाता है। बच्चों की नाड़ी की गति बड़ों की अपेक्षा बहुत तेज होती है।

जन्म पर नाड़ी गति १४० से १३० तक रहती है।

प्रथम वर्ष	१२० से १०० तक रहती है।
द्वितीय वर्ष	११० रहती है।
पंचम वर्ष	१०० रहती है।
अष्टम वर्ष	६० रहती है।
दशम वर्ष	८० (लड़के) ६० (लड़कियों में)

इस प्रकार बच्चों की नाड़ी गति की संख्या बड़ों से अधिक तेज होती है।

दूसरी बात है नाड़ी और तापमान का अनुपात। साधारणतया १ डिग्री तापमान बढ़ने पर ८ या १० नाड़ी की संख्या बढ़ जाती है। बच्चों में यह अनुपात नाड़ी गति संख्या में ४ का अन्तर पड़ता है। बच्चों की नाड़ी की मन्द गति चिकित्सक के लिये सावधानी का विषय होती है।

तापमान (Temperature)-तापमान का अनुभव स्पर्श तथा थर्मामीटर से होता है। बच्चों में इसका लगाना सुगम नहीं है। इसलिये मुख की अपेक्षा गुदा में लगाते हैं। गुदा का तापमान मुख की अपेक्षा आधा डिग्री अधिक होता है। गुदा में न लगाकर कक्ष और वंक्षण में भी लगा सकते हैं। लेकिन यहां का तापमान साधारण तापमान से आधा डिग्री कम होता है। परन्तु त्वचा का तापमान कभी बहुत कम भी हो सकता है। इसीलिये

गुदा में लगाना अधिक उचित है।

बच्चों का तापमान स्थिर नहीं रहता। जरा सी उत्तेजना से, ज्यादा चलने से, कब्ज व अजीर्ण से चढ़ सकता है। यह स्मरणीय है कि बच्चों में तापमान का बढ़ना अस्थिर है। यदि यह वृद्धि स्थिर रहती है तो यह रोग का सूचक है। साधारण तापमान से कम तापमान बच्चों में चिन्ताजनक अवस्था का सूचक है।

सामान्य शारीरिक अवस्था—इसमें मुख्य बात अस्थियों की अवस्था अनुभव करनी है। अस्थियों में कोई विशेष उभार या स्पर्शाक्षमता तो नहीं है। यह दोनों लक्षण उपदंश और आमवात रोग के सूचक हैं।

पेट का स्पर्शन—बड़ी कोमलता से करना चाहिये। इसके दो कारण हैं—एक तो कठोरतापूर्वक देखने से बच्चा पेट नहीं दिखायेगा। दूसरा उसका वात-संस्थान बड़ा अस्थिर सा होता है। जरा सा अधिक दबाने से पेट कठोर हो जाता है जिससे अंदर के अङ्गों का अनुभव कठिन हो जाता है। इसलिये पेट पर पहले हथेली रखें फिर अंगुलियों को धीरे धीरे दबाकर अंगों का स्पर्शन करें।

(ग) श्रवण परीक्षा (Auscultation)—

बच्चों के श्रवण परीक्षा के दो भेद किये जा सकते हैं। (१) श्रवण यन्त्र द्वारा (२) श्रवण यन्त्र के बिना।

इसमें कई प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। साधारणतया सघोष नहीं होनी चाहिये। लेकिन श्वास मार्ग में अवरोध होने पर श्वास सघोष हो जाता है। नासिका में अवरोध हो तो आनुनासिक शब्द सुनाई देगा। गले के यदि गलशुण्डी अधिक बढ़ जाये तो श्वास के लिये मार्ग छोटा होगा जिससे श्वास सघोष होता है। स्वरयन्त्र में अवरोध होने से यह शब्द लुप्त हो जाता है यहां तक कि आदमी बोल भी नहीं सकता या फिर अन्त श्वास का ही शब्द सुनाई देता है। कईयों में सांय-सांय का शब्द सुनाई देता है। जो श्वास शुष्क कास हो तो उसका शब्द थोड़े समय के लिए होता है लेकिन [illegible] होता है। यदि तर खांसी हो तो खांसी आने [illegible] बाहर निकल जाती है। भिन्न भिन्न रोगों में इसमें अंतर होता है।

शैशव काल की [illegible] है। यही आयु में [illegible] लेती है।

स्वर यंत्र का रोग होने पर रोगी [illegible] नहीं निकलता। [illegible] नहीं। यदि बच्चा [illegible] में उसका स्वर साफ होना चाहिए। यदि स्वर स्पष्ट नहीं है तो उसके कई कारण हैं—तुतलाना या [illegible] प्रणाली में अवरोध उसके मुख्य कारण हैं।

बच्चों का रुदन स्वाभाविक है। स्वस्थावस्था में यह रुदन स्पष्ट और बलवान होता है। रुग्णावस्था के कई रूप हैं। डर से भी रोता है। यदि बच्चा क्रोधी है तो भी रोता है। उसके मनोभावों को ठेस लगाई जाए तो वह [illegible] है। [illegible] बार रोते समय बच्चा दोहरा हो जाता है। उदरशूल के कारण कराहते समय उसकी टांगे पेट पर झुक जाती हैं। कर्णशूल में भी रोता है। तब वह कान को छूने नहीं देता और कान की ओर हाथ ले जाता है। मस्तिष्कावरण शोथ में बच्चा इतनी तीव्रता से रोता है कि यदि आप कमरे में हैं तो आप वहां खड़े भी नहीं रह सकते। बच्चा सिर पीछे की ओर दबाने की कोशिश करता है और सारा शरीर तीव्र तनाव की अवस्था में होता है। दांतों के कारण भी बच्चा रोता है।

श्रवण यंत्र द्वारा श्रवण परीक्षा—बच्चे को लिटा कर श्रवण परीक्षा करना अच्छा है। अन्यथा यदि जननी अपने बच्चे को अपने कंधे से लगा ले तो पीठ पर श्रवण यंत्र द्वारा आप सुन सकते हैं। यदि बच्चा रो रहा है तो फेफड़े के शब्द सुनने में विशेष ध्यान देना होगा। बच्चों के श्रवण में बड़ों से कुछ थोड़ा अन्तर होता है। पहला भेद यह है कि बड़ों में श्वास क्रिया का



क्रम पहले अंतः श्वास, फिर बहिश्वास, फिर अन्तर आता है। बच्चों मे यह क्रम है कि पहले छोटा बहिश्वास, फिर लम्बा अन्तःश्वास और फिर अन्तर आता है। बड़ों मे यह क्रम रोग का सूचक होता है लेकिन बच्चों मे यह स्वाभाविक क्रम होता है। दूसरा भेद यह है कि बीच मे जो अन्तर है वह बहुत लम्बा हो जाता है। इतना लम्बा कि हम भय-भीत हो जाते हैं। तीसरा भेद यह है कि बड़ों मे श्वास शब्द जो *vesicular* है यह मृदु होता है। परन्तु बच्चों में यह कठोर होता है। चौथा बच्चे की वक्ष की दीवार पतली होती है इसलिए श्वास शब्द एक ओर से दूसरी ओर फैलता है जिससे सारे फेफड़े का आक्रांत होने का भ्रम होता है। इसलिए बच्चों के फेफड़ो के शब्द सुनने मे अधिक सावधानी बरतनी चाहिए। पांचवा बच्चे का फेफड़ा बहुत जल्दी फैल जाता है और सिकुड़ जाता है। अर्थात् इसका *Collapse* हो सकता है। लेकिन यह अवस्था स्वाभाविक है, जबकि बड़ों मे यही *Collapse* रुग्णावस्था की निशानी है।

बच्चों के हृदय के शब्द—केवल भेद ही वर्णन करेंगे। पहला भेद यह है कि बड़ों मे प्रथम शब्द की अपेक्षा दूसरा शब्द कुछ छोटा होता है। प्रथम शब्द हृदय की मास-पेशियों के बलवान होने का सूचक है। बड़ों मे साधारणतया रक्तचाप बढ़ता जाता है। द्वितीय शब्द बलवान होता है इसलिए बच्चों मे प्रथम शब्द द्वितीय की अपेक्षा उच्च होता है। बच्चों की रक्त वाहिनिया शरीर के अनुपात से बड़ो से बड़ी होती हैं इसलिए उनका रक्तचाप उच्च नहीं होता।

दूसरा भेद यह है कि बड़ों मे हृदय का द्वितीय शब्द फुफ्फुसीय से उच्च होता है। परन्तु बच्चो मे इससे विपरीत अर्थात् फुफ्फुसीय द्वितीय शब्द हृदय के द्वितीय शब्द से उच्च होता है। तीसरा भेद यह है बड़ों मे हृत् कार्य-चक्र नियमित होता है लेकिन बच्चो मे हृदय का कार्य अनियमित हो सकता है। चौथा भेद यह है कि बच्चों मे हृदय के अन्दर के आवरण की शोथ प्रायः नहीं होती इसलिए *Organic murmur* यदि सुनाई दे तो बच्चे मे हृदय का पैतृक रोग है।

(च) टकोर परीक्षा (Percussion)

पहला भेद यह है कि बच्चो की वक्ष की दीवार पतली होती है इसलिए बहुत जोर से नहीं टकोरना चाहिए। दूसरा भेद यह है कि क्योंकि वक्ष पतली होती है इसलिए टकोर का शब्द टूटे बर्तन की तरह होता है। यह शब्द बड़ों मे रोग का चिन्ह होता है लेकिन बच्चों मे स्वाभाविक। तीसरा भेद यह है कि बच्चो मे *Sternum* के ऊपर के भाग मे टकोरें तो शब्द मंद होता है बड़ों मे नहीं।

बाल परीक्षा की विशेष विधियां

वात संस्थान—बच्चों मे बड़ों की तरह पक्षाघात हो सकता है। इसकी जांच के नियम वही हैं जो बड़ों के हैं। कठिनाई यह होती है कि रोगी से कुछ पूछ नहीं सकते। इसीलिये हमें अपने निरीक्षण पर आश्रित रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध मे यह याद रखिये कि यदि बच्चा टांग नहीं हिलाता तो बच्चे के तलुवे को खुजाइये, यदि बच्चा कुछ टांग हिलाता है तो यह पक्षाघात नहीं। बच्चे का जानु निक्षेप (Knee Jerk) इतना स्पष्ट दिखाई नहीं देता जितना बड़ो मे। बच्चों मे यह भी विचित्रता है कि जब तलुवा खुजाये तो पैर की अंगुलिया न जुड़कर शुरू से ही फैल जाती हैं। बड़ों मे यह क्रिया रुग्णावस्था मे होती है, जबकि बच्चो मे स्वस्थावस्था मे।

बुद्धि परीक्षा—शैशवकाल में बुद्धि की परीक्षा नहीं हो सकती। क्योंकि बच्चा बोल नहीं सकता। परन्तु हम यह पता कर सकते है कि वात संस्थान सामान्यतौर पर निर्बल है या स्वस्थ। इससे हम अनुमान लगा सकते है कि बच्चा बुद्धिमान है या साधारण बुद्धि का। यदि शिशु अपने सिर के बोझ को न संभाल सके अर्थात् गर्दन सीधी न



कर सके और उसका सिर छाती पर गिर पड़ता हो, बिना कारण के रोता रहे, समीप की चमकीली वस्तुओं को भी न देखे, उसके हाथ में कोई चीज पकड़ाये तो पकड़ने का यत्न न करे तो समझले कि यह बच्चा बुद्धू है।

नेत्र परीक्षा—इसमें मुख्य बात यह देखनी होती है कि बच्चा देखता है या नहीं। इसके लिये उसके नेत्र के सामने जलती मोमबत्ती लायें और यह देखें कि आप जिधर जिधर बत्ती घुमाते हैं उधर उधर बच्चे के नेत्र घूमते हैं या नहीं? यदि मोमबत्ती हिलने पर भी बच्चे के नेत्र गति न करें तो यह सम्भव है कि बच्चे की दृष्टि मन्द है। अथवा अपनी अंगुली उसके नेत्र के पास ले जाने पर देखें कि वह नेत्र बन्द करता है या नहीं। यदि नहीं करता तो समझें कि वह नहीं देख पाता।

कर्ण परीक्षा—इसमें केवल एक ही बात है कि बड़ों में कान की बाह्य प्रणाली ऊपर की ओर और पीछे की ओर वक्र होती है। इसलिये कान का परदा देखने के लिये कान को आप दो दिशाओं में खींचते हैं। परन्तु बच्चों में टेढ़ापन केवल पीछे की ओर है, इसीलिये कान देखने के लिये पीछे की ओर खींचना चाहिये अन्यथा परदा नहीं दिखाई देगा।

मुख परीक्षा—इसमें बच्चे के दांत और जिह्वा की श्लेष्मकला देखनी होती है। इसके लिये बच्चे की धीमे से नाक पकड़े तो वह श्वास लेने के लिये मुख खोलेगा। इस समय इसके दांतों के बीच कपास या कार्क रख दें और नाक से हाथ हटालें। कार्क गले तक न जाये इसके लिये उसे धागे से पहले बांध दें। या उसकी दोनों गालें अन्दर को दबाये। जब उसकी गाल दबेगी तो वह दांत बाहर निकलेगा। जिह्वा देखने के लिये बच्चे के निचले ओष्ठ पर शहद की बूंद डाले। बच्चा उसको बाहर निकालने का यत्न करेगा और तब आप उसका मुख देख सकेंगे। मुख खुलने पर जो अनेक रोगों में देखी जाती हैं वही बच्चों में। जिह्वा का रूप रङ्ग देखकर विभिन्न रोगों के होने की सूचना मिलती है। कुछ ज्वरों में मुख की श्लेष्मकला में कोठ निकल आते हैं और कई ज्वर ऐसे होते हैं कि जिनके कोठ निकलने की सूचना मुख से मिलती है। जैसे मुख में लाल लाल दानों के रूप में मिलती है और प्रत्येक दाने के केन्द्र में एक छोटा सा नीला बिन्दु होता है। यह बिन्दु कोठ निकलने से एक दो दिन पहले निकलते हैं। यह चिह्न देखकर कह सकते हैं कि बच्चे को खसरा होने वाला है। खसरा होने से पहले ही बच्चे को दूसरे बच्चों से पृथक् रखा जा सकता है। इस कोठ के अतिरिक्त बच्चों में मुखपाक होकर व्रण भी हो सकते हैं। उनसे उनका भेद करना चाहिये।

मुख परीक्षा के साथ साथ दन्त परीक्षा कई दृष्टियों से आवश्यक है। एक तो हम यह देखते हैं कि दांतों की अवस्था कैसी है? और दूसरे दांतों को देखकर हम उनकी आयु का पता कर लेते हैं।

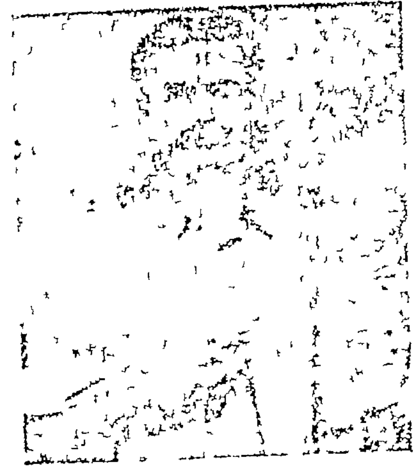
गल परीक्षा—यह मुख से भी अधिक कठिन है। इसके लिये बच्चे की जननी शिशु को गोद में लेकर उसकी टांगों को अपनी टांगों में डालकर बैठ जाती है। उसके सिर को एक हाथ से पकड़ कर चिकित्सक बांये हाथ से उसके दोनों हाथों को पकड़ लेता है और फिर उसका सिर थाम लिया जाता है जिससे उसका मुख हमारी ओर हो जाता है। अब मुख खोलकर दांतों में धागे युक्त कार्क रखकर आप शुष्क तौलिये से जिह्वा को पकड़कर बाहर खींच लीजिये और Head mirror द्वारा प्रकाश डालकर बच्चे का गला देखिये। गले की परीक्षा में यह देखना है कि बच्चे की गलशुंडी (Tonsils) छोटे हैं या बड़े हो गये हैं। दूसरा उनके अन्दर से स्राव निकलता है या नहीं।

—कवि. श्री पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदलंकार
बाल-बिहार, बरकतपुरा, हैदराबाद (दक्षिण)



बालकों में रोग परीक्षा विधि

श्री अखिलेश्वरप्रसाद शर्मा आयुर्वेद शास्त्री



यहां हम नादान एवं मुंह से कह कर न बता सकने वाले छोटे बालकों के भीतरी रोगों के पहचानने की कुछ तरकीबें लिखते हैं—

(१) बालक के कम या अधिक रोने से तकलीफ की कमी या अधिकता समझनी चाहिए। अगर बालक कम रोवे या धीरे धीरे रोवे तो तकलीफ कम समझनी चाहिए। अगर अधिक रोवे और जोर जोर से रोवे तो अधिक पीड़ा समझनी चाहिए।

(२) बालक के जिस अंग प्रत्यंग में पीड़ा होती है उसे वह बराबर छूता है। अगर कोई दूसरा आदमी उसके पीड़ित स्थान को स्पर्श करता है तो बालक चीख उठता है।

(३) अगर बालक हर समय रोता ही रोता हो तो उसके सब शरीर में रोग समझना चाहिये।

(४) अगर बालक के सिर में दर्द होता है तो वह अपनी आंखें बंद रखता है। इसके सिवा वह अपने मस्तक को खड़ा नहीं रखता। गर्दन को गिराये रखता है। तथा सिर को धुनता है और टकराता भी है। सिर में दर्द होने से सिर का चमड़ा सिकुड़ जाता है। बालक बार बार सिर में हाथ लगाता और कान खींचता है।

(५) अगर बालक के मूत्राशय में पीड़ा होती है तो बालक पेशाब रुकने से दुःखी रहता है और खाता पीता नहीं।

(६) अगर बालक के मल और मूत्र दोनों रुक गये हों, शरीर का रंग बिगड़ गया हो, वमन हो, अफरा हो तथा आंतें गुड़ गुड़ करें तो उसके पेट में तकलीफ जाननी चाहिए।

(७) अगर बालक का पाखाना पेशाब बन्द हो तथा वह उद्वेग से दिशाओं को तो देखे उसकी बस्ति (पेड़ू) और गुदा में पीड़ा समझनी चाहिए।

(८) अगर बालक अपने होंठ और जीभ को डसे तथा मुठियों को भींचे, तो उसके हृदय में पीड़ा समझनी चाहिए।

(९) अगर बालक को प्यास अधिक लगे, पेशाब न हो और मूर्च्छा हो तो बालक के पेड़ू में दर्द समझना चाहिये।

(१०) अगर तन्दुरुस्त बालक रह रह कर बार बार रो उठे तो उसके पेट में दर्द समझना चाहिए।

(११) अगर दूध पीने वाले बालक को प्यास लगती है तो अपनी जीभ बाहर निकालता है।

(१२) अगर बालक को जुकाम हो जाता है, उसकी नाक बन्द हो जाती है, तो वह मुंह से सांस लेने के लिये बार बार स्तन को छोड़ देता है और सांस लेकर फिर दूध पीने लगता है।

(१३) अगर सांस लेते समय बालक की नाक का छेद (nostril) बड़ा जाय और नाक हिले, तो समझना चाहिए कि बालक को सांस लेने में बड़ा कष्ट हो रहा है और उसको खांसी से बड़ी तकलीफ है।

(१४) अगर बालक के ज्वर की परीक्षा करनी हो तो थर्मामीटर लगाना चाहिए। क्योंकि बालक की नाड़ी स्वभाव से ही तेज चला करती है इसलिए धोखा होने का डर रहता है। जो अनुभवी वैद्य होते हैं, वे धोखा नहीं खाते, पर नव शिक्षित धोखा खा सकते हैं। थर्मामीटर से धोखा होने की संभावना नहीं।

—शेषांश पृष्ठ ६७ पर।

बालक से साक्षात्कार—एक दृष्टि में.......

डा० भाटी (जी. आर.) एस. टी. डी. सी एच.; टी. डी. आर. एस. (लंदन)

अगर गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो बालरोग विशेषज्ञ के लिए वह बड़े महत्व का समय है जब कि उसका एवं बालक का प्रथम मिलन होता है। चिकित्सक स्वय इस बात का अनुमान लगा सकता है कि एक सुकुमार बालक के सामने एक अजनबी आगन्तुक के एकदम उपस्थित होने पर बालक पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? यही वह समय है या अन्य शब्दों में यही वह प्रथम मिलन है जिसका प्रभाव लगभग रोगी बालक पर उसके पूर्ण चिकित्सा काल से बराबर बना रहता है।

कदाचित् रोगी बालक चिकित्सक के प्रथम साक्षात्कार पर उसके प्रति डरावने विचार बना बैठा तो यह निश्चित सा है कि वह अपनी प्रारम्भिक जांच-पड़ताल सुचारु रूप से न होने देगा और इसका प्रभाव रोग निदान पर पड़े बिना नहीं रहेगा। इसको हम चिकित्सक की पूर्ण असफलता तो नहीं कह सकते परन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि कम से कम आरम्भ ठीक नहीं हुआ।

अंग्रेजी की वह कहावत जिसमे 'Well begun is half done' वाली युक्ति चरितार्थ है, उपरोक्त घटना के विपरीत सिद्ध होगी।

प्रत्येक बालरोग-विशेषज्ञ जिसने कि अपने विषय की आवश्यक शिक्षा दीक्षा अपने जीवन काल के असूल्य समय, स्वास्थ्य एवं धन खर्च करने के पश्चात् प्राप्त की है। यह बात अच्छी तरह समझता है कि उसका रोगी एक सुकुमार प्राणी है और उनका प्रथम साक्षात्कार उसकी चिकित्सा की सफलता का सबसे आवश्यक स्तम्भ है। अगर यह स्तम्भ हिला तो यह समझ लेना नितान्त आवश्यक होगा कि प्रारम्भ प्रेरणादायक एव उत्साहवर्धक नहीं रहा।

संसार का सम्पूर्ण ज्ञान आद्योपान्त न तो पुस्तकों में है न ही उसका लिपिबद्ध करना सहज और सरल कार्य है। फिर चिकित्सा ज्ञान प्राप्त करने की कुछ पुस्तकें कैसे चिकित्सक को पल पल की बात लिखा व समझा सकती है। आखिर अपने अध्ययन के ४-७ वर्षों में एक चिकित्सक कितना पढ़ सकता है, कितना अनुभव कर सकता है? तात्पर्य यह है कि उसका कुछ वर्षों का किताबी ज्ञान अभी पूर्ण पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान तो नहीं है। मुख्य शिक्षा तो उसको मिलती है अपने चिकित्साकाल के दौरान में और वह भी पग पग पर। अगर अत्यन्त सावधानी से चिकित्सक अपने अमूल्य अनुभवों को हृदयङ्गम करता रहे तो कोई कारण नहीं कि वह एक सफल चिकित्सक नहीं हो सकता।

किताबी ज्ञान के अलावा चिकित्सक को बालरोगी की चिकित्सा मे बड़ी सावधानीपूर्वक अपने उन अनुभवों का प्रयोग करना चाहिये जिनसे कि रोगी को चिकित्सक के प्रति डर का आभास तक न हो और वह चिकित्सक के कार्यों मे प्रेमपूर्वक सहयोग प्रदान करने को उद्यत हो जाय। बच्चे का भयभीत न होना एव चिकित्सक को उसकी कार्य प्रणाली मे सहयोग देना चिकित्सा के लिये अत्यन्त उत्तम अवसर है। उसको इससे लाभ उठाकर बाल रोगी की चिकित्सा मे कोई कसर शेष नहीं रखनी चाहिए।

उपरोक्त सफलता प्राप्त करने मे जबकि एक तरफ चिकित्सक का अत्यन्त चतुर एव प्रसन्न मुख वाला होना आवश्यक है, दूसरी तरफ उसके आस पास का वातावरण भी उतना ही मधुर होना नितान्त आवश्यक है। अगर चिकित्सक कुशल एवं प्रसन्न चित्त होते हुए भी वातावरण बालरोग के अनुकूल न हुआ तो बच्चे का किसी भी समय बिगड़ जाना आवश्यक है। यही बात पुन: घटित होती है, वातावरण के केवल अनुकूल होने, परन्तु चिकित्सक के अकुशल एव बिगड़ी मुद्रा के होने पर।

अगर रोगी को लेकर अभिभावक चिकित्सालय में आवे तो यह आवश्यक होगा कि जिस कमरे में बच्चे की परीक्षा की जाय वह बालोपयोगी सामग्री से ठीक सजा हो तथा वहा कोई रोगी रोता चिल्लाता न सुनाई दे, न दीखे। बच्चे का मन ऐसी स्थिति में बहलने लग जाता है और चिकित्सक के लिये अच्छा मार्ग प्रशस्त हो जाता है पर यह सब काफी नहीं है। अभिभावक के सम्पूर्ण सहयोग के बावजूद चिकित्सक को रोगी को बहलाने के लिए कुछ और करना होता है जिससे कि बच्चे पर चिकित्सक की उपस्थिति का प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

यह एक आसान परन्तु सोचने समझने की बात है कि बच्चे को मित्र बनाने के लिए कौन सा कार्य उसकी इच्छा के अनुकूल तुरन्त किया जाय ? भिन्न भिन्न स्थान और आयु के बालक भिन्न भिन्न प्रकृति रखते हैं और उनको बहलाये रखने के लिये चिकित्सक को तुरन्त अपनी सूझ बूझ का परिचय देना पड़ता है। खिलौने, खाद्य पदार्थ, वाक्पटुता एवं अनुकूल अभिनय उन साधनों में से कुछ हैं। इनका उपयोग परिस्थिति के अनुसार करना चिकित्सक का परम कर्त्तव्य है।

रोगी के घर जाने पर भी चिकित्सक को पूर्ण सावधानीपूर्वक परिस्थिति का अवलोकन कर संभव व्यवस्था करने के लिए उसके अभिभावकों का सहयोग मागना चाहिए ताकि बच्चे चिकित्सक से ठीक प्रकार से अपनी जाच करवा सके और ठीक परीक्षा के उपरांत ठीक चिकित्सा प्रारम्भ की जा सके। चिकित्सा के पूर्व, मध्य और पश्चात् कर्म के दौरान में उपस्थित लोगों से चिकित्सक का मधुर व्यवहार होना आवश्यक है। कारण बच्चे पर उन तमाम माध्यमों के द्वारा जो अनुकूल प्रभाव पड़ता है वह चिकित्सक के लिये अत्यन्त लाभप्रद ही नहीं अत्यन्त आवश्यक भी है।

—श्री डा० भाटी (जी. आर) एस टी. डी. सी-एच., टी. डी. आर. एस. (लन्दन)

:: पृष्ठ ८८ का शेषांश ::

मात्रा १ रत्ती है। इसे दोषानुसार मधु, माता के दुग्ध, मिश्री या घृत के साथ देना चाहिये। तथा एक एक करके उसकी मात्रा प्रत्येक मास में अर्थात् प्रथम मास में एक रत्ती, दूसरे में दो रत्ती, तीसरे मे तीन रत्ती इस प्रकार उस समय तक बढ़ानी चाहिए जब तक कि शिशु एक साल का न हो जाय। इसके (१ वर्ष के) बाद प्रत्येक वर्ष मे १ माशा की मात्रा देनी चाहिये। यह क्रम १६ वर्ष की अवस्था तक चलना चाहिए। इस प्रकार सोलह वर्ष मे पूर्ण मात्रा देनी चाहिए। परन्तु मात्रा वृद्धि का यह क्रम आजकल के लिए अधिक है। अतः यदि कोई औषधि पूर्ण युवा के लिए १ रत्ती दी जाय तो एक साल के लिए $\frac{1}{16}$ रत्ती, दो साल के बालक के लिये $\frac{1}{8}$ रत्ती, सात साल के बालक के लिये $\frac{1}{2}$ रत्ती, और सोलह वर्ष के बालक के लिए १ रत्ती औषध देनी चाहिये। यदि किसी औषध की मात्रा एक वर्ष के शिशु के लिये एक रत्ती है, तो १ से ३ मास तक के शिशु के लिये $\frac{1}{4}$ रत्ती, ३ से ६ मास तक $\frac{1}{3}$ रत्ती, ६ से ९ मास तक $\frac{1}{2}$ रत्ती, तथा ९ से १२ मास तक शिशु के लिए १ रत्ती देनी चाहिये। इसी क्रम से मात्रा का निर्धारण करना चाहिये। पूर्ण युवा की मात्रा की षोडशांश मात्रा एक वर्ष के शिशु के लिये पर्याप्त है। उसकी पूर्ण मात्रा है।

—श्री कृष्णदत्त शर्मा आयुर्वेदाचार्य,
स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र, जामनगर।

:: पृष्ठ ९५ का शेषांश ::

(१५) बालक का पेट स्वभाव से ही कुछ बड़ा होता है। अगर सामान्य से ज्यादा मोटा हो, तो समझना चाहिए कि यकृत या प्लीहा का विकार है अथवा अजीर्ण है। जो भी हो उपरोक्त बातों पर ध्यान देकर ही चिकित्सा करनी चाहिए।

—डा. अखिलेश्वरप्रसाद शर्मा आयुर्वेदशास्त्री
श्री गान्धी दातव्य औष०, मोदनगज (गया)

औषधि-प्रदान-पद्धति

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

मृदु, संशामक औषधि को क्षीरप बालक तथा धात्री को दुग्ध और घृत के साथ, क्षीरान्नादि बालक तथा धात्री को अन्य यथोक्त के साथ तथा अन्नाद बालक से केवल उसी औषधि को यथोचित मात्रा में प्रयोग करावे। दूध पीते बालकों को प्रायः वैद्य सब औषधियां माता के दुग्ध में मिलाकर चम्मच से पहले पिलाकर तत्पश्चात् माता को ऊपर से आंचल द्वारा दुग्ध पिलाने का विधान बतला दिया करते हैं। बालकों को औषधि सेवन कराने की एक विधि और भी है—

येषां गदाना ये योगा प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः।
तेपुतत्कल्कसंलिप्तौ पाययेतशिशु स्तनौ॥

जिसके अनुसार तत्तत् रोगहर कल्क का लेप माता के आंचलों पर कर उन्हें बालक को पीने के लिये दे दे।

औषधस्य बालमात्रानिर्धारणम्

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायांगुलिपर्वद्वयग्रह (ण) संमिताऔषधमात्रां विदध्यात, कोलास्थिसंमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय कोलसंमितामन्नादायेति॥

(सु० शा० स्था० अ० १०—४१)

इस श्लोक में औषधियों की बच्चों के लिये निर्धारित मात्रा का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—

क्रम	बालक	मात्रा
१.	क्षीरप (१ वर्ष तक)	अंगुलि के २ पर्व पर जितनी औषधि लग सके
२.	क्षीरान्नाद (२-३ वर्ष तक)	कोलास्थि के बराबर
३.	अन्नाद (४ वर्ष और उससे ऊपर)	कोल (बेर) के बराबर

आधुनिक बालमात्रा के सम्बन्ध में ३ मत प्रचलित हैं—

(१) फ्रायड का नियम (*Fried's rule*)

(२) क्लार्क का नियम (*Clark's rule*)

(३) यङ्ग का नियम (*Young's rule*)

(१) फ्रायड का नियम २ वर्ष से नीचे के शिशुओं पर लागू होता है। इसका सूत्र है—

$$\text{शिशुमात्रा} = \frac{\text{वयस्क मात्रा} \times \text{महीनों में शिशु का वय}}{१५०}$$

जैसे किनीन सल्फेट की वयस्क मात्रा १० ग्रेन है तो १५ माह के शिशु के लिये मात्रा होगी—

$$\frac{१० \times १५}{१५०} = १ \text{ ग्रेन।}$$

(२) क्लार्क का नियम—२ वर्ष के ऊपर के बालकों में प्रयुक्त होता है। उसका सूत्र है।

$$\text{बालमात्रा} = \frac{\text{वयस्क मात्रा} \times \text{पौण्डों में भार}}{१५०}$$

उसके अनुसार ५ वर्ष के ४० पौण्ड भार वाले बालक के लिए क्विनीन सल्फेट की मात्रा होगी—

$$\frac{१० \times ४०}{१५०} २\tfrac{२}{३} = \text{ग्रेन}$$

(३) यङ्ग का नियम—प्रत्येक आयु में बालमात्रा का निर्देश करता है। उसका सूत्र है—

$$\text{बालमात्रा} = \frac{\text{वयस्क मात्रा} \times \text{आयु}}{\text{आयु} + १२}$$

इसके अनुसार क्विनीन सल्फेट की मात्रा ८ वर्ष के बच्चों में निम्न मात्रा होगी—

$$\text{बालमात्रा} = \frac{१० \times ८}{८ + १२} = \frac{८०}{२०} = ४ \text{ ग्रेन}$$

बालग्रह

श्री पं० उदय नारायण झा आयुर्वेदाचार्य



वैदिक तथा पौराणिक धर्म ग्रन्थों में जिन यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रो के वर्णन मिलते हैं वे उन युगों में शत प्रतिशत सत्य थे, फलदायी थे और रामबाण थे। विदेशी शासन के प्रादुर्भाव के पश्चात् भारत का जीवन ही परिवर्तन होगया। भारतीयों के जीवन-स्तर रीति रिवाज, शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक विचार सबके सब बदल गये। ये अति प्राचीन यन्त्र-मन्त्र और आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली की सादगी को उपेक्षित दृष्टि से देखने लगे। "विश्वासः फल दायकम्" इनके लिये केवल थोथी दलील बन गया और प्रत्यक्षवाद पर विश्वास करने मे इनका अपूर्ण ज्ञान मित्र बन बैठा। बहुमत ऐसे ही लोगो का हो गया और परिणामत. ये तत्व गौण बनते गये। परन्तु अपनी प्राचीन गुण गरिमाओं पर वेद विहित विषयों पर जिन्हे विश्वास रहा, ऐसे राष्ट्रीयता के विश्वासियों ने तुलसी की चौपाई—

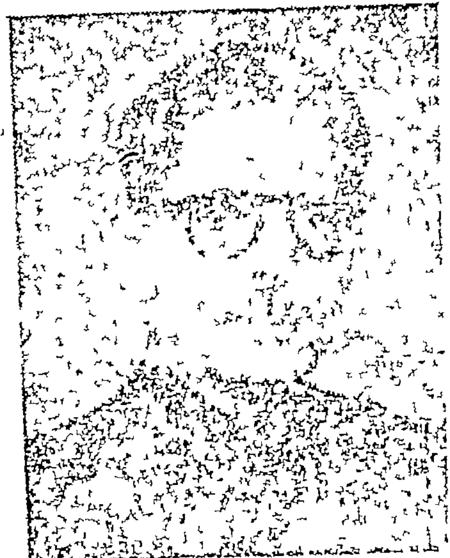
कलि बिलोकि जग हित हर गिरजा।
शाबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा॥
अनमिल आखर अरथ न जापू।
प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥

पर अपनी गम्भीर आस्था विद्यमान रहने दी। ऐसे विश्वासी ही आज आयुर्वेद विहित यन्त्र-मन्त्र तन्त्र एवं जप-योगदान आदि का व्यवहार करते और उनके सद्यः फलदायी होने का ढिंढोरा पीटे बिना नहीं रह सकते हैं। रसायन औषधियों के साथ ही इन मन्त्र तन्त्रो का निर्माण स्वयं शिव ने किया है। ये मन्त्रादि और रसायन आज भी एलोपैथी इन्जेक्शनों के समान गुणकारी प्रतीत होने से एक पग पीछे नहीं रहते।

बाल ग्रहोत्पत्ति—

सुश्रुताचार्य का कथन है—

बच्चों का पालन पोषण करने वाली (धाय) तथा बच्चों की माता के दुष्टाचरणों से (अर्थात् जो शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता पर ध्यान नहीं देती बच्चे की सफाई नहीं रखती, बच्चे के दुग्ध-पान के बाद अपने स्तन (थन) को खूब परिष्कृत नहीं करती और जिस घर मे स्वस्ति पाठ, शान्ति हवनादि वेद विहित कर्म नहीं होते हैं, जहां बच्चों को डराया धमकाया और रुलाया जाता है, बच्चो पर प्यार नहीं रहता, जिनके कुल में देव, देवी, पितर आदि की पूजा नहीं होती, माता-पिता-पितामह और वृद्ध पुरुषो की सेवा-सुश्रुषा नहीं होती, वेद-पाठी, धर्म प्रचारक, सत्योपदेशक, ब्राह्मण, गुरु, अतिथि, आत्मपरायण, निर्लोभ साधु-महात्मा की पूजा और सत्कार नहीं होते हैं, जो मनुष्य अधर्मी दुष्टवृत्ति वाले वेद विरुद्ध कर्मों को करने वाले है, जिन घरो मे सुगन्धित द्रव्यो तथा घृतादि की आहुति अग्निकुण्ड मे नहीं दी जाती तथा जिस परिवार मे क्षुधातुर, भिक्षुक, पुरुषार्थहीन, रोगी, अन्धे, लंगड़े आदि को अन्नदान नहीं दिया जाता, जिन घरों मे फूटे कांसे आदि धातुओं के बर्तन रहते है, उन्हीं दुष्ट जनों के बच्चों को ग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच कष्ट देते हैं। और उचित व्यवस्था के अभाव में प्राण हरण ही कर लेते है। अतएव स्पष्ट





है कि इन्हीं उपरोक्त कारणों से बाल ग्रह की उत्पत्ति होती है ।

हमारे देश की ग्रामीण भोली जनता में यह नियम शास्त्रोक्त विधि से बहुत दिनों से प्रचलित रहा है कि प्रसूता स्त्री सूतिकागार में दस दिनों तक रहती है । दस दिनों के बाद ही बच्चा तथा प्रसूता स्त्री को सूतिकागार से निकालते तथा स्नानादि के उपरांत बच्चों के नामकरणादि की लौकिक विधि करते हैं । बच्चे के जन्म होने के प्रथम दिवस से ही देवियों के प्रकोप बच्चों पर प्रारम्भ हो जाते और सोलह वर्ष की आयु पर्यन्त रह कर तब अन्त होते हैं । इस प्रथम दिवस से क्रमशः १६ वर्ष तक की अवधि में जिन जिन देवियों के प्रकोप बच्चों पर होते हैं उनके नाम तथा वर्णन निम्नलिखित हैं—

दिवसानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण—

१. प्रथम दिवस नंदिनी देवी—

बच्चे को ज्वर हो, शरीर सूखे, पसीना निकले, स्तन पान न करे ।

२. द्वितीय दिवस सुनंदना देवी—

बच्चे को ज्वर हो, हाथ पैर को संकुचित रक्खे, मसूढ़े को चबावे, श्वास तेज हो, आंख बराबर बन्द रक्खे, स्तन पान न करे, रात दिन रोता रहे ।

३. तृतीय दिवस घटालि देवी—

बच्चे के शरीर में कम्पन हो, उद्वेग हो कास-श्वास से पीड़ित हो, सदैव रोता रहे ।

४. चतुर्थ दिवस कटकोली देवी—

स्तन पान न करे, उद्वेग हो, मुख से झाग निकले, हुचकी आवे, रोता रहे और दशों दिशाओं को देखता रहे।

५. पंचम दिवस अहंकारी देवी—

बालक को जम्हाई आवे, श्वास, हो मुट्ठी बांध रखे. आसमान की तरफ देखे ।

६ षष्ठम दिवस सटनाङ्गी देवी—

बालक बेचैन रहे, कभी हसे कभी रोने लगे, दुग्ध पान न करे, मोह हो ।

७. सप्तम दिवस हिंसक देवी—

बालक को जम्हाई आवे, श्वास उत्पन्न हो, मुट्ठी न खोले, स्तनपान न करे और सदा बेचैन रहे ।

८. अष्टम दिवस भीषणी देवी—

बच्चे को खांसी श्वास हो, अङ्ग सिकुड़ाते रहें, ज्वर हो, और नेत्र सर्वदा बन्द रक्खे ।

९. नवम दिवस मेषा देवी—

बालक सदा चौंकता रहे, बेचैन रहे, अपने हाथ की मुट्ठी को काटता रहे ।

१०. दशम दिवस रोदना देवी—

बालकों को खांसी हो, बहुत रोता रहे, मुट्ठी बन्धी रखे और स्तन पान न करे ।

मासानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण—

अब प्रति मास में जिन देवियों का आक्रमण बच्चों के ऊपर होता है उनका नामोल्लेख किया जाता है ।

प्रथम मास में कुमारी देवी—

बच्चे को उद्वेग हो, ज्वर हो, रोता रहे, शरीर में सूजन हो, स्तनपान न करे ।

द्वितीय मास में मुकुटा देवी—

ग्रीवा ढीली हो, अङ्ग कांपे, शरीर पीला और शीतल हो जाय, मुख सूख जाय, स्तनपान न करे, डकार बहुत आवे ।

तृतीय मास में गोमुखी देवी—

बच्चा बिलख बिलख कर रोवे, हर समय सोता रहे, नेत्र बन्द रखे, शरीर से गौ की सी गन्ध आवे ।

चतुर्थ मास में पिंगला देवी—

बच्चा स्तनपान न करे, शरीर सफेद हो जाय, भुजा फड़के, मुख सूखा रहे और शरीर से दुर्गन्ध निकले ।

पंचम मास में वड़वा देवी—

बच्चों को अरुचि हो, खांसी हो, मुख सूखता रहे, सदैव रोता रहे, सर्वाङ्ग शरीर में तकलीफ हो, श्रमयुक्त रहे और स्तनपान न करे ।

षष्ठ मास में पद्मा देवी—

बच्चा बहुत रोवे, गला बैठ जाय, पीड़ा हो और मुख से लार बहुत निकले। ऐसे लक्षण होने से पद्मा देवी का कोप जानना चाहिये।

सप्तम मास में पूतना देवी—

बच्चा बहुत धीरे से दुग्धपान करे, स्तन पीने के समय मुख से दूध गिर जाय, शरीर कृश हो, दिन व दिन सूखता जाय. बहुत रोता रहे और छर्दि रहे। ऐसे लक्षण वाले बालक की पूतना देवी का दोष जानना चाहिए।

अष्टम मास में अंजिका देवी—

बच्चे के सम्पूर्ण शरीर में दर्द हो, ज्वर हो, नेत्र में पीड़ा हो, प्रलाप करे और छर्दि हो।

नवम मास में कुम्भ कर्णिका देवी—

बच्चे को स्तनपान में अरुचि हो, ज्वर हो, छर्दि हो, अङ्ग से गन्ध निकले तथा आंख बन्द रखे।

दशम मास में तापसी देवी—

बच्चा हाथ-पैर पटके, स्तनपान न करे, आंख बन्द रखे, दस्त न हो, बेचैनी बनी रहे।

एकादश मास में सुग्रही देवी—

ग्यारहवें महीने में सुग्रही देवी का आक्रमण बच्चों के ऊपर होता है, उक्त देवी का ग्रहण किया हुआ बच्चा कदापि अच्छा नहीं होता है। ऐसे बच्चे के लिये मंत्र, यन्त्र, चिकित्सा बलि कुछ भी नहीं है।

द्वादश मास में कालिका देवी—

अधिकाधिक रुदन करे, छर्दि हो, श्वास हो, प्यास बरावर लगे, बेचैनी हो।

वर्षानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण-

अब प्रति वर्ष जिन देवियों का आक्रमण बच्चों के ऊपर होता है उनका नाम उल्लेख किया जाता है।

प्रथम वर्ष में नन्दिनी देवी—

बच्चा बहुत बेचैन हो जाता है। नेत्र बन्द रखता है, खाने की इच्छा नहीं रखता, शरीर में दाह होती है, बहुत रोता सर्वदा पृथ्वी में पड़ा रहना चाहता है, बिछावन और किसी की गोद में रहना नहीं चाहता है।

द्वितीय वर्ष में रोदिनी देवी—

बच्चे को तीव्र ज्वर हो, पेशाब लाल हो, अफारा हो, कमल केशर की तरह शरीर का वर्ण हो जाय, दाहिना हाथ बार बार फेर कर रोता रहे।

तृतीय वर्ष में धनदा देवी—

नज़दीक से नहीं देखे, अग्नि मन्द हो, ज्वर हो, कण्ठ में शोथ हो, सारे शरीर में तकलीफ हो।

चतुर्थ वर्ष में चंचला देवी—

ज्वर हो, श्वास हो, अङ्ग फड़के, बेचैनी हो, नेत्र भारी रहे, बहुत रुदन करे।

पंचम वर्ष में नर्तकी देवी—

बच्चे को हमेशा पेशाब हो, शरीर फड़के, शरीर में बहुत दर्द हो, बेचैनी बहुत हो, मुख सूखा हो, शरीर का वर्ण विवर्ण हो जाय।

षष्ठम वर्ष में यमुना देवी—

बच्चा बहुत रोवे, डकार बहुत आवे, जभाई आवे, शरीर सूखता जाय, अङ्ग में जलन हो।

सप्तम वर्ष में अनन्ता देवी—

बच्चा अन्धा हो जाता है और सारे शरीर में पीड़ा होती है, शरीर दुर्बल हो जाता है, मुख सूख जाता है, पेशाब बहुत आता है, आलस और चित्त में उद्वेग होता है।

अष्टम वर्ष में कुमारिका देवी—

बच्चे को ज्वर बहुत तीव्र हो, सारे शरीर में दर्द हो, शरीर कांपे, छर्दि हो, दस्त न हो, बेचैनी रहे।

नवम वर्ष में कलहंसा देवी—

बच्चे को दाह हो, ज्वर हो, दुर्बल हो जाय, अङ्ग में पीड़ा हो, मलमूत्र बारम्बार आवे, छर्दि हो, हाथ-पैर में ऐंठन हो।

दशम वर्ष में देवदूती देवी—

बच्चा नाचे, दौड़े, दस्त कब्ज हो, वमन हो, तरह तरह का खेल करे, हंसे, अपने घर को देखे,



जाऊं जाऊं ये शब्द बोले, नेत्र मे पीडा हो, अङ्ग में पोड़ा हो, सदा खानपान मे ही श्रद्धा रखे, विह्वलता के बचन बोले, ज्वर हो।

एकादश वर्ष मे कालिका देवी—

बच्चे को ज्वर हो, खांसी हो, श्वास हो, नेत्र पीडा हो, कां-कां शब्द करे, बदन मे दर्द हो।

द्वादश वर्ष में वायसी देवी—

बच्चे का मुख सूखा रहे, ज्वर रहे, जंभाई आवे, बदन मे दर्द हो, बेचैन रहे।

त्रयोदश वर्ष में यक्षिणी देवी—

बच्चे को हृद्रोग हो, ज्वर हो, बहुत रुदन करे और कभी कभी हंसने लगे।

चतुर्दश वर्ष में श्वच्छन्दा देवी—

बच्चे के मुख और नाक से रक्त निकले, ज्वर हो, नाभि में शूल हो, तृषा हो, वमन हो।

पंचदश वर्ष में कपी देवी—

बालक पृथ्वी मे सोने की बहुत इच्छा करे, बहुत कूखे, और न भी कूंखे, ज्वर बहुत तेज़ हो जाय. निद्रा बहुत आवे, वमन हो, अङ्ग कांपे, चित्त-भ्रम हो।

षोडश वर्ष में दुर्जया देवी—

बच्चे को वमन हो, ज्वर हो, शरीर कांपे, निद्रा आवे, मुख से जाऊं-जाऊं शब्द निकाले।

दिन मास वर्षानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण—

अब दिन मास-वर्ष मे जिन देवियों का आक्रमण बालकों के ऊपर होता है, उनका नाम उल्लेख किया जाता है—

प्रथम दिवस-मास वर्ष में नंदनी देवी—

शरीर सूखता जाय, ज्वर हो, पसीना आवे, अरुचि हो, छर्दि हो, मूर्च्छा हो, शरीर मे कंपन हो, आवाज क्षीण हो जाय।

द्वितीय दिवस-मास वर्ष में सुनंदना देवी—

पहले बच्चा को ज्वर हो, हाथ पैर सकुचित रक्खे दांतों (मसूढों) को बहुत चबाये, नेत्र बन्द नहीं करे, अरुचि हो, रुदन करे, नेत्र पीड़ा हो सदैव डरता रहे, और शरीर दुर्बल हो जाय।

तृतीय दिवस-मास वर्ष में पूतना देवी—

बच्चे का शरीर सूखे, प्रलाप, कंपन हो, ज्वर हो, क्षुधा नष्ट हो जाय, नेत्र बन्द रक्खे, रोम खड़े होते रहे, तथा वमन करे।

चतुर्थ दिवस-मास-वर्ष में मुखमण्डिका देवी—

बालक अपने सिर को नीचा रक्खे, दुर्बल हो, शरीर भङ्ग हो आंख बन्द रक्खे, शरीर का रंग काला हो जाय, काली खांसी हो, अरुचि हो, निद्रा नहीं आवे।

पञ्चम दिवस-मास वर्ष में बिडालिका देवी—

बच्चा को हिचकी, श्वास, तथा हृदय में शूल (दर्द) हो, शरीर के अङ्ग फरके, अरुचि तथा तीव्र ज्वर हो।

षष्ठम दिवस मास-वर्ष में षटकाग्किा देवी—

बच्चे को ज्वर हो, शरीर टूटे, जो हंसे तथा कभी कभी रोने लगे।

सप्तम दिवस मास वर्ष में कालिका देवी—

बालक को छर्दि, अरुचि, शरीर मे कम्पन तथा खासी-श्वास हो।

अष्टम दिवस-मास वर्ष में कामिनी देवी—

बच्चे को प्रथम ज्वर हो, शरीर बहुत तप्त रहे, खाना न चाहे, मुख सूखा रहे, तथा कभी कभी शरीर शीतल हो जाय।

नवम् दिवस-मास वर्ष मे सदना देवी—

बच्चे को ज्वर, चित्त मे घृणा, वमन तथा अफरा हो, खांसी श्वास हो, प्यास अधिक लगे, और शरीर मे दर्द हो।

दशम दिवस-मास-वर्ष में रेवती देवी—

बच्चा ज्वर से पीडित हो, शरीर में दर्द हो, वमन श्वास, खासी तथा अरुचि हो।

एकादश दिवस-मास वर्ष में सुदर्शना देवी—

बच्चे को ज्वर, तथा मुख मे शोथ हो, रुचि नष्ट हो जाय, शरीर के प्रत्येक अङ्गों मे भयानक दर्द हो. बहुत रुदन करे, और शरीर बलहीन हो जाय।



द्वादश दिवस-मास-वर्ष में अद्भुता देवी—

बच्चे को ज्वर हो, बहुत रुदन करे, सदैव दांतो को (मसूड़े) चबाये, आंखों में पीडा हो, रोम खड़े होवे, शरीर तप्त रहे तथा बेचैनी हो।

त्रयोदश दिवस-मास-वर्ष में भद्रकाली देवी—

बच्चे को निद्रा बहुत आती है, ज्वर जोरों से रहता और बांये हाथ में बार बार कंपन होता है। इसके अतिरिक्त छर्दि होती, जोरों की प्यास लगती श्वास-खांसी तथा सारे शरीर में दर्द होता और बच्चा बेहोश रहता है।

चतुर्दश दिवस-माम-वर्ष में श्री योगिनी तारादेवी—

बालक के समस्त शरीर में शोथ हो, ज्वर, अरुचि एवं नेत्र पीड़ा हो।

पचदश दिवस-मास-वर्ष में हुँकारिका देवी—

जिस बच्चे को श्वास, ज्वर तथा वमन हो, प्यास लगे, शरीर की हड्डी में दर्द हो और बहुत रुदन करे।

षोडष दिवस-मास-वर्ष में कुमारी देवी—

बच्चे को अधिक थकान मालूम हो, क्षुधा सर्वथा नष्ट हो जाय, मन उद्विग्न रहे, ज्वर रहे और शरीर कृश हो जाय।

कुछ अन्य ग्रहों के लक्षण—

उपरोक्त ग्रहों के अतिरिक्त कुछ और साधारण ग्रहों के लक्षणों का उल्लेख यहां किया जाता है।

सुश्रुत संहिता आठ तन्त्रों में विभक्त करके चिकित्सा प्रणाली कही गई है। यथा—१. शल्य २. शालाक्य ३. काय चिकित्सा ४. भूत विद्या ५. कौमार भृत्य ६. अगद तन्त्र ७. रसायनतन्त्र ८. बाजीकरण तन्त्र। इनमे ऊपर भूत विद्या आयी है। इस शब्द के ऊपर देव, गन्धर्व, यक्ष, असुर, राक्षस, पित्रीश्वर, पिशाच, नाग और नवग्रह इन नौ की कल्पना की गई है।

इन ग्रहों से पृथक आयुर्वेद में ग्रह शब्द से नव ग्रह पृथक् दिये गये हैं।

स्कन्द ग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च।
शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना॥
पूतना शीतनामा च तथैव मुख मण्डिका।
नवमो नैगमेयश्च य. पितृ ग्रह सज्ञित॥

इन सबों मे प्रथम स्कन्द ग्रह प्रधान है। द्वितीय स्कन्दापस्मार, तृतीय शकुनी, चतुर्थ रेवती, पंचम पूतना, षष्ठ अन्धपूतना, सप्तम शीत पूतना, अष्टम मुख मण्डिका तथा नवम नैगमेय है। यह नैगमेय ग्रह बच्चों की अन्य ग्रहो से रक्षा करता है। इसलिये इसका नाम पितृ संज्ञित भी है। ये भी बच्चों को सताने वाले और भी नौ ग्रह है।

१. स्कन्द ग्रहार्त के लक्षण—

जिस बच्चे के नेत्र में सूजन हो, सारे शरीर से रक्त के सदृश गन्ध आवे, स्तनपान न करे, एक आंख से पानी बहे, एक ओर का अङ्ग फड़के तथा कांपे, आधी दृष्टि से देखे, मुख टेढ़ा हो जाय, मसूड़े (जबड़े)-दातो को चबाये, शरीर शिथिल हो जाय, थोड़ा थोड़ा रुदन करे, नेत्र मींचता रहे, मुट्ठी सदा बन्द रखे, मल कठिन उतरे, मन उदास रहे, ऐसे उपरोक्त लक्षणों वाले बच्चे स्कन्द-ग्रह-ग्रस्त माने गए हैं। परिचारक और चिकित्सक को लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

२ स्कन्दापस्मार ग्रहार्त के लक्षण—

जो बच्चा बेहोश हो जाय, जिसके मुख से झाग गिरे, बेहोशी दूर होने पर बहुत जोरों से रोवे, जिसके शरीर से रक्त के समान गन्ध निकले, ऐसे बच्चों को स्कन्दापस्मार ग्रह से ग्रसित जानना चाहिए।

इन लक्षणों से युक्त बच्चा बालापस्मार से पीड़ित समझे।

३ शकुनी ग्रहार्त के लक्षण—

जिस बच्चे का शरीर शिथिल हो जाय जो बराबर भयभीत रहे, जिसके सारे शरीर से पक्षी के समान गन्ध निकले, सारे शरीर में बहुत से फोड़े (व्रण) हो जाय, जिसमें पूय और दाह अधिक उत्पन्न हो, बालक व्रण से बहुत पीड़ित हो, ऐसे बच्चे को शकुनी ग्रह ग्रसित जानना चाहिए।



४. रेवती ग्रहार्त्त के लक्षण—

जिस बालक के सारे शरीर में व्रण उत्पन्न हो जांय और उससे कीचड सदृश गन्ध आवे, व्रण से सदा रक्तस्राव होता रहे, मल पतला उतरे, ज्वर और दाह बनी रहे तथा बच्चा सदैव बेचैन रहे, ऐसे बच्चे को रेवती ग्रह ग्रसित जानना चाहिए।

५ पूतना ग्रहार्त्त के लक्षण—

जिस बालक को अतिसार तथा तीव्र ज्वर हो, प्यास अधिक लगे, जो टेढी नजरों से देखता रहे, सर्वदा रोता ही रहे, निद्रा जिसे नहीं आती हो और बेचैनी बनी रहती हो, ऐसे बच्चे को पूतना ग्रह-ग्रसित जानना चाहिए।

६. अन्धपूतना ग्रहार्त्त के लक्षण—

जिस बच्चे को कई बार वमन हो, खांसी से पीडित रहे, सदा ज्वर बना रहे, प्यास अधिक लगे, समस्त शरीर से चर्बी जैसी दुर्गन्ध निकले और जो बच्चा बहुत जोर से रोता रहे तो ऐसे लक्षण वाले बच्चे को अन्ध पूतना ग्रह-ग्रसित जाने।

८ मुख मण्डिका ग्रहार्त्त के लक्षण—

जिस बच्चे का शरीर कांपता हो, सदा खांसी आती हो, शरीर दुर्बल हो जाय, नेत्र रोग से पीडित हो, उसके शरीर से विचित्र गन्ध निकलती हो, वमन अधिक होता हो, पतले दस्त बहुत होते हों, बच्चा बहुत दुःखी रहा करता हो तो ऐसे लक्षणों वाले बच्चे को शीतपूतना ग्रह-ग्रसित जाने।

७ शीतपूतना ग्रहार्त्त के लक्षण—

जो बच्चा प्रसन्न मुख वाला, उज्वल वर्ण वाला और उभरी हुई नसों से व्याप्त हो, जिसके शरीर से मूत्र के समान गन्ध आती हो और सूखी खांसी बहुत जोरों की हो तो बच्चे को मुख मण्डिका ग्रहार्त्त जानना चाहिए।

९ नैगमेय ग्रहार्त्त के लक्षण—

जिस बच्चे को वमन तथा कम्पन हो, कण्ठ और मुख सूख जाता हो, सर्वदा मूर्छित रहता हो, शरीर से दुर्गन्ध आती हो, आकाश की ओर देखता हो और दांतों या जबड़ों को चलाता रहे तो ऐसी दशा को प्राप्त बालक नैगमेय ग्रहार्त्त कहा जायगा।

ग्रह शान्ति के उपाय

अब एक एक ग्रह की शान्ति के लिए पृथक पृथक्, औषध, प्रलेप, स्नान, धूप, बलिदान, मंत्र, यन्त्र तथा तान्त्रिक क्रिया का उल्लेख किया जाता है।

प्रथम दिवस में ग्रह शांति की विधि—

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी की एक सुन्दर मूर्त्ति एक पात्र में स्थापित करे, उसके सामने सफेद भात, सफेद फूल, सफेद चन्दन (घिसा हुआ), कपूर, पांच चमेली के फूल, पांच सफेद ध्वजायें और पांच आटे के दीये, इन सबको एक सकोरे में रख कर निम्नलिखित मन्त्र २१ बार पढ़ कर सात बार बालक के ऊपर वारें (स्पर्श करावे), चार घड़ी दिन चढ़ने पर घर से पूर्व दिशा में यह बलि रख आवें। बलि देने के पश्चात् राई, खस, अर्क पुष्प, बिल्ली के बाल, मनुष्य के सिर के बाल, निम्ब पत्र और गौघृत, इन वस्तुओं से निम्नांकित मन्त्र पढ़कर बालकों को तीन दिन तक धूप देनी चाहिए। फिर चौथे दिन बच्चे को इसी मन्त्र से जल अभिमन्त्रित कर स्नान कराना चाहिए। उपरान्त ब्राह्मण और अतिथि को दुग्ध भोजन कराना चाहिए। उपरोक्त क्रियायें करने से बच्चा निश्चय ही रोगरहित हो जायगा।

मन्त्र—'ॐ ह्रीं खं खः स्वाहा' यह पटाक्षरी मन्त्र इस ग्रह की शान्ति के लिए अमोघ और रामबाण है।

द्वितीय दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

एक सेर पिसे हुए अर्वा चावल से निर्मित देवी की मूर्त्ति एकपात्र में रखकर तेरह पचरंगी ध्वजायें, तेरह मिट्टी के दीपक, तेरह आटे के दीपक, भात, गेहूं का दलिया, सरसों, उड़द और मांस इन वस्तुओं को भी उसी पात्र में देवी के समक्ष रखे।



२१ बार निम्न मन्त्र का पाठ और सात बार बच्चे से स्पर्श कराकर देवी सहित इन समस्त वस्तुओं को सन्ध्या समय पश्चिम दिशा में रख आवें और उपरोक्त क्रिया लगातार तीन दिनों तक करते रहें। तत्पश्चात् राई, खस, मदार के फूल, बिल्ली के बाल, मनुष्य के सिर के बाल, नीम के पत्ते और गौ घृत इन वस्तुओं की धूप निम्नांकित मन्त्र पढ़कर बच्चे को तीन दिनों तक देनी चाहिए। पुन. चौथे दिन निम्न मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित कर स्नान कराना चाहिए। तब ब्राह्मणों को दुग्ध भोजन कराना चाहिए। इन क्रियाओं को नियमपूर्वक करने से निश्चय ही बच्चा नीरोग हो जाता है।

मन्त्र—ॐ ह्रीं खं ग्व स्वाहा।

तृतीय दिवस में ग्रह शांति की विधि—

हाथी दांत, गौ का दांत और कुम्हारी जानवर के घर की मिट्टी—इन वस्तुओं को बकरी के दूध में पीस कर बच्चे के शरीर पर प्रलेप करना चाहिये। नीम के पत्ते, नख, सिरस तथा राई इन वस्तुओं की धूप तीन दिनों तक बच्चे को दें। प्रथम दिन की रीति से ही स्नान और बलि आदि भी मन्त्र पढ़कर देना चाहिये। ऐसा करने से ग्रह निश्चय ही शान्त होता है।

चतुर्थ दिवस में ग्रह शांति की विधि—

हाथी दांत, सांप की कांचली और राई, ये तीनों चीजें समान भाग लेकर पानी में पीसकर बच्चे के शरीर पर लेप करना चाहिये। सिरस, निम्ब के पत्र और मनुष्य के सिर के बाल, इनकी धूनी देनी चाहिये और शेष कार्य या उपचार प्रथम दिवस की भांति ही करना चाहिये।

पंचम दिवस में ग्रह शांति की विधि—

मनसिला, हरताल, वच, लोध, मेढ़ासिंगी, इन औषधियों को समान भाग लेकर पानी में पीसकर बच्चे के प्रलेप करना चाहिये और लहसन, नीम के पत्ते, घी और राई, इन वस्तुओं का धूप देना चाहिये। प्रथम दिवस जिस प्रकार स्नान तथा बलि की क्रिया मन्त्र पढ़कर हुई है, उसी प्रकार पंचम दिन भी होनी चाहिये। मन्त्र वही है जो प्रथम दिन लिख दिये गये हैं उसी मन्त्र का जप भी करे।

षष्ठम दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

कूट, गुग्गुल, राई, हाथी दांत और गोघृत इनका धूप बालक को देना चाहिए। और यही औषधि पानी से पीस कर बालकों के शरीर पर लेप करनी चाहिये। प्रथम दिवस जिस मंत्र से स्नान, धूप, प्रलेप, बलि जप आदि लिखे गए हैं ठीक उसी के अनुसार षष्ठम् दिवस में भी करना चाहिए।

सप्तम दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

मेढासिंगी, वच, लोध, हरिताल, मन.सिला, ये सब औषधियां समभाग लेकर पानी में पीस कर बच्चे के शरीर पर ५ लेप करें। और शेष क्रियायें प्रथम दिवस में वर्णित विधि से ही करें।

अष्टम दिवस में ग्रह-शान्ति की विधि—

चिरचिरा, खस, पीपल तथा चीता ये औषधियां समभाग लेकर बकरी के मूत्र में पीस कर बालक को प्रलेप करे। गौ का सींग, नख, और मनुष्य के सिर के बाल इनका धूप बालक को दे और मंत्र, जप, स्नान, बलिदान आदि कर्म प्रथम दिवस के अनुसार ही करे।

नवम दिवस में ग्रह-शांति की विधि—

वच, चन्दन, कूट, राई ये सब औषधियां समान भाग लेकर पानी में पीस लें और बालक के शरीर पर लेप करे। नख तथा बन्दर के रोम इनका धूप दें और शेष सब क्रियायें प्रथम दिवस में वर्णित विधियों के सदृश ही करे।

दशम दिवस में बाल ग्रह-शान्ति की विधि—

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से देवी की मूर्त्ति एक पात्र में स्थापित करें। सफेद भात, श्वेत पुष्प, घिसा हुआ श्वेत चन्दन, कपूर, चमेली के फूल, पांच श्वेत ध्वजायें, पांच आटे के दीपक,



मत्स्य मांस और मदिरा, इन प्रत्येक वस्तुओं को मूर्त्ति के सामने रखकर निम्नांकित मंत्र इक्कीस बार पढ़े। पुन: मूर्त्ति सहित समस्त वस्तुओ को बालक पर वार कर सन्ध्या समय पूर्व दिशा में बलि रख आवें। बलिदान के पश्चात् कूट, बच, राई, तथा राल, ये औषधियां जल के साथ पीस कर २१ बार निम्न मन्त्र पढ़कर बालक के शरीर पर प्रलेप करे। तब केवल नीम के पत्तों की धूनी दें। ऊंगे वृक्ष के अंकुर, खस, तथा रक्त चन्दन इन सब औषधियों को समभाग लेकर क्वाथ बनावे। इस क्वाथ को निम्न मन्त्र से १०८ बार अभिमन्त्रित् कर प्रातः, मध्याह्न, और सन्ध्या समय स्नान करावे। ब्राह्मण और अतिथि को दूध भोजन करावे और १०८ बार मन्त्र का जप करावे।

मन्त्र—ॐ ह्रीं खं खः स्वाहा—इस पटाक्षरी मन्त्र से उपरोक्त ग्रहादि की शान्ति निश्चित ही होजाती है ऐसा आयुर्वेदज्ञों का कथन है।

अब प्रत्येक मास के लिये ग्रह शांति की विधि का उल्लेख किया जाता है।

प्रथम मास बाल रक्षा विधि—

नदी के दोनो किनारों वाली मिट्टी से निर्मित देवी की एक सुन्दर मूर्त्ति सकोरे मे स्थापित करें। पुन पुष्प, चन्दन, धूप लेकर विधिवत् देवी का पूजन करे। बड़े, पूड़ियां, भात, गुड़, दही, चार रङ्गों मे रगी ४ ध्वजाये, चार दीपक. पुष्प, और चन्दन ये प्रत्येक वस्तुये उसी सकोरे मे देवी की मूर्ति के समक्ष रखकर—ॐनमो भगवते रावणाय बालक मुञ्च मुञ्च स्वाहा"—इस मन्त्र की २१ आवृत्ति पाठ करे। तब सात बार उस पात्र को बच्चे के सिर से स्पर्श करावे और नैऋत्य दिशा में सन्ध्या काल रख आवे।

द्वितीय मास बाल रक्षा विधि—

मृत्तिका निर्मित देवी की सुन्दर मूर्ति बनाकर एक सकोरे मे स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के सामने खीर, खिचडी, पूड़ी, काले तिल, चावल, श्याम पुष्प, काला वस्त्र, और कस्तूरी का घिसा हुआ चन्दन, इन्हें रख कर देवी की प्रार्थना करे। फिर पूर्वोक्त मंत्र की इक्कीस आवृत्ति कर सात बार बालक को देवीयुक्त पात्र स्पर्श करावें। तब पूर्व दिशा मे बलि छोड़ आवे। पुनः सायकाल कुसुंभ, लहसुन और नीम के पत्ते इन तीनों के चूर्ण का मंत्र पढ़ते हुए बालक को धूप दे।

तृतीय मास बाल रक्षा विधि—

महुए के पुष्प, धाय के पुष्प, मेहदी, तिल, बाकले, पिंडी चूर्मा के चार लड्डू, और जपा पुष्प, इन वस्तुओं को एक पात्र मे रख कर उपरि वर्णित मन्त्र से २१ बार अभि मन्त्रित करे। तब सात बार बालक को स्पर्श कराकर मध्याह्न मे नदी के किनारे दक्षिण दिशा में यह बलि वस्तु रख आवें। तदुपरांत तिल और राई के चूर्ण से बालक को धूप दे। मूर्ति निर्माणादि प्रथम मास की भाति ही करे।

चतुर्थ मास बाल रक्षा विधि—

चौथे मास मे यदि बालक ग्रह-ग्रसित जान पड़े तो वैद्य को उचित है कि वे चिकित्सा, मन्त्र, यन्त्र, औषधि, बलिदान आदि कुछ न करे। केवल भगवान की दया के बल पर बच्चे को छोड दे।

पञ्चम मास बाल रक्षा विधि—

मृत्तिका निर्मित देवी की मूर्ति एक सकोरे मे स्थापित करे। भात, शाक, मत्स्य, मास, लड्डू, लपसी, पांच आटे के दिये, पांच ध्वजाये, श्वेत-कमल के पुष्प, उसी पात्र मे देवी के आगे रखे। पूर्व कथित मन्त्र की २१ आवृत्ति करे। तब सात बार बच्चे के ऊपर बार कर मध्याह्न मे दक्षिण दिशा की ओर बलि की वस्तु को छोड़ आवे।

षष्ठम मास बाल रक्षा विधि—

मयूर का मांस, कुक्कुट का मांस, मेढ़े का मास, उडद के बाकले, भात, मदिरा, और कुलथी ये सब वस्तुये—पात्र मे देवी की मूर्ति के सामने रख दे। शेष मन्त्र, एवं अन्य बलिदान विधि प्रथम मास की भाति ही करे।

सप्तम मास बाल रक्षा विधि—

नदी के किनारा की मिट्टी से निर्मित देवी की मूर्ति



एक पात्र में स्थापित करे। खिचड़ी, भात, मछली, दूध, मदिरा, आसव, तिल, कूट, सुगन्ध पुष्प, ये वस्तुये देवी की मूर्ति के सामने उसी पात्र में रख दे। पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृति (पाठ) करे। सात बार बालक के ऊपर वार कर बलिदान वस्तु को मध्याह्न समय में पूर्व दिशा मे छोड़ आवें। शेष सब विधि-विधान प्रथम मास की भाति ही करें।

अष्टम मास वाल रत्ता विधि-

प्रथम मास की विधि से ही इस मास मे भी सब कर्म करना चाहिये। केवल बलिदान की वस्तुओं को उत्तर दिशा मे विसर्जित करना चाहिये। और स्नानादि कर्म भी प्रथम मास की तरह ही करना चाहिए।

नवम मास वाल रत्ता विधि-

नदी के दोनो किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी की एक मूर्ति एक सकोरे में स्थापित करे। पुष्प, धूप, चन्दन, आदि से देवी का पूजन करें। बड़े, पूड़ी, भात, गुड, दही, चार रङ्गों की ध्वजा, चार दीपक, पुष्प, चन्दन, दुग्ध, मत्स्य, ये वस्तुये उसी सकोरे मे देवी की मूर्ति के समक्ष रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २२ आवृति (पाठ) कर वलि दें। पुनः सात वार उस पात्र को बच्चे के शिर से स्पर्श करदे। इस बलिदान की वस्तु को मध्याह्न ईषाण दिशा की ओर विसर्जित कर आवे।

दसम मास वाल रत्ता विधि-

प्रथम मास की भाति निर्मित देवी को एक पात्र मे स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के समक्ष चने की दाल, मसूर की दाल, मछली, मदिरा, बाकले, तिलकूट, सुगन्ध पुष्प, पाच आटे के दिये, और साठी चावलों का भात ये सब वस्तुयें रखकर मध्याह्न समय मे उत्तर दिशा मे रख आवे। और मन्त्र, स्नान, धूप, इत्यादि प्रथम मास की भाति ही करे।

एकादश मास वाल रत्ता विधि-

इस मास मे बच्चे को आराम मिलना कठिन है। इस मास के ग्रह-ग्रसित बालकों की न तो कोई औषधि है, न यन्त्र, मन्त्र, बलि, स्नान, धूप, आदि उपयुक्त उपाय ही। तथापि सन्तोष प्राप्ति के लिये अगर बलि देना हो तो प्रथम मास की भांति कार्य किये जा सकते है।

द्वादश मास वाल रत्ता विधि--

पूर्ववत् देवी की मूर्ति निर्मित कर एक पात्र में स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के सामने-दही, चावल, भुना तिल, बाकले, लड्डू ये प्रत्येक वस्तुये रख मध्याह्न समय मे पूर्व दिशा मे रख आवे। और पीपर वृत्त के वकल का क्वाथ बनाकर बालक को स्नान करावे। शेष मन्त्रादि विधि प्रथम मास की भाति ही करे।

प्रथम वर्ष वाल रत्ता विधि--

गुड के मालपूए, दही, उड़द का बक्कल, मदिरा, तिलकूट, मांस, पांच तिल तेल से परिपूर्ण दीपक, पांच पचरङ्गी-ध्वजाये, इन वस्तुओं को एक पात्र में रखकर—"ॐ नमो भगवते रावणाय बालक मुंच-मुंच स्वाहा" यह मन्त्र इक्कीस बार पढ़कर सात बार बच्चे के ऊपर वार कर पूरब दिशा में यह बलि-वस्तु पात्र सहित रख आवें। ठीक उपर्युक्त विधि से तीन रात्रि तक बलिदान दे। पुन मनुष्य के सिर के बाल, गौ का खुर, गौ के दांत इन तीनो चीजो का धूप बच्चे को देकर पञ्चगव्य से स्नान करावे। तत् पश्चात् ब्राह्मण भोजन करावे।

द्वितीय वर्ष वाल रत्ता विधि-

तिल, पूडे, बाकले, गुड़, भात, दही, लड्डू, कोई एक फल ये वस्तुये एक पात्र मे रख कर लाल वस्त्र से ढ़क कर २१ बार मन्त्र पढ़े। सात बार बालक के ऊपर वार कर पूर्व दिशा में बलि को रख आवे। फिर सांप की केंचली और राई इन दोनों का धूप बच्चे को दें और शेष सब कार्य प्रथम वर्ष के समान ही करें।

तृतीय वर्ष वाल रत्ता विधि--

दही, मास मदिरा, मछली, सात प्रकार के



अन्न, तिलकूट, मिट्टी की मूर्ति, फल, पांच दीपक, और पांच ध्वजायें, इन वस्तुओं को सकोरे में रखकर २१ बार उक्त मन्त्र पढ़े। सात बार बालक के ऊपर इसे वार कर उत्तर दिशा में यह बलि रख आवे। पुन. बालक को मोर पंख का धूप दे और शेष सब क्रियाये प्रथम वर्ष की भांति ही करे।

४—चतुर्थ वर्ष-बाल-रक्षा-विधि—

काला तिल, गुड़, पूडे, चावल, भिगे हुए उड़द, पांच दीपक, पांच ध्वजाये, राई, सिरस के पत्ते, मिट्टी की पिंडी, इन वस्तुओं को एक पात्र में रख कर काले कपड़े से पात्र को ढ़क दे और पूर्व दिशा में रख आवें। इसी प्रकार लगातार तीन दिनों तक बलि देते रहे। पुन. बालक को मेढ़े के सींग का धूप दे तथा अन्य कार्य प्रथम वर्ष की भांति करे।

५—पञ्चम वर्ष बाल रक्षा विधि—

पवित्र मिट्टी से देवी की मूर्त्ति बनाकर एक पात्र में स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के आगे मछली, मास, मूली, पक्वान्न, खिचडी, दूध, खीर, मदिरा, तिल, पांच आटे के दीपक, पांच पचरंगी ध्वजा, एक मिट्टी के पात्र मे शर्बत, पूड़े, बाकले, कोई फल, और तिल कूट रखनी चाहिए। फिर उस पात्र को लाल वस्त्र से ढक कर पूर्वोक्त मंत्र २१ बार पढ़ कर सात बार बालक के ऊपर वार कर पश्चिम दिशा मे रख आना चाहिए। उपरोक्त क्रिया सात दिनों तक लगातार करनी चाहिए। तत् पश्चात् राई, मनुष्य के सिर के बाल, गो दांत लहसुन इन सब वस्तुओं का धूप बालक को दें।

६—षष्ठ वर्ष बाल रक्षा विधि—

आटे से बनी देवी की मूर्त्ति एक पात्र मे स्थापित कर उसी पात्र मे देवी के समक्ष मछली, मास, खिचड़ी, खीर, दही, मदिरा, पांच लड्डू पाच दीपक, और पाच ध्वजा, ये चीजे रख कर २१ बार पुर्वोक्त मंत्र पढ़ कर सात बार बच्चे के ऊपर वार कर और तब चोरस्ते पर जाकर इस बलि को रख आवे। पुन तीन दिनों तक यही क्रिया करते रहे। गौ के रोम, खुर, और सींग इस मिश्रण की धूनी बच्चे को दें एव पंच वृक्ष के पत्तों से स्नान करावे। और तब ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए।

सप्तम वर्ष बाल रक्षा विधि—

चूने से देवी की मूर्त्ति एक सकोरे में स्थापित कर उसी पात्र मे देवी के सामने खीर, खिचड़ी, भात, तिलकूट, मदिरा, पक्वान, मत्स्य, मांस, दही, आलू, और जौ के आटे के बने पाच दीपक तिल तेल देकर जलादे, पाच ध्वजा रख दे और २१ बार पूर्वोक्त मंत्र पढ़ कर सात बार बालक के ऊपर वार कर पूर्व दिशा में किसी नदी के किनारे रख आवे। राई और लहसन का धूप बालक को देकर पञ्च गव्य से स्नान करावे। और तब ब्राह्मण भोजन करावें। यह बलि विधान सात दिन तक कराना चाहिए। स्नानादि मे भी पूर्वोक्त मंत्र ही पढ़ें।

८—अष्टम वर्ष बाल रक्षा विधि—

आटे से निर्मित देवी की मूर्त्ति एक पात्र मे स्थापित कर उसी पात्र मे देवी के सामने खिचड़ी चावल, दही, सुगन्ध पुष्प, पूड़ी, पापड, पक्वान, पांच ध्वजा, और पाच दीपक, ये वस्तुये रखनी चाहिए। पुनः २१ बार पूर्वोक्त मंत्र पढ़कर सात बार बालक के ऊपर वारें और पूर्व दिशा मे यह बलि रख आवें। यह बलि तीन दिन तक लगातार देते रहें। पुनः मेढ़ासिंगा का धूप बालक को देकर स्नान धूपादि पूर्वोक्त मंत्र पढ़कर ही करावे।

९—नवम वर्ष बाल रक्षा विधि—

मिट्टी से बनी देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के सामने पूडी, दही भात, चुरमा की पिन्डी, खीर, पाच दीपक और पांच ध्वजा इन वस्तुओं को रख कर २१ वार पूर्वोक्त मंत्र पढ़ कर सात बार बालक को स्पर्श करावे और तब पश्चिम दिशा मे नदी आदि जलाशयों के तट पर बलि को रख आवें। पुन पांच दिन तक यह बलिदान प्रतिदिन करते रहे। बलिदान के पश्चात् कूट, बच, राई, और लहसन इन सब वस्तुओं के मिश्रण का प्रलेप करे तथा इन्हीं पदार्थों का धूप

भी वालक को दें। तदुपरान्त नीम के पत्तों के काथ से वालक को स्नान करादे स्नानादि मे पूर्वोक्त मत्र अवश्य पढ़ें।

१०--दशम वर्ष वाल रक्षा विधि-

काली मिट्टी से निर्मित देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र से देवी के सामने कूट, अन्न, भात, वाकले, दही, लडड्, मसूर की दाल, लाल पुष्प, पांच दीपक, पांच ध्वजा, और तिल कूट, रख कर, "ॐ मुंच मुंच वियोजय वियोजय आगच्छ आगच्छ बालके स्वाहा"। इस मंत्र की २१ आवृति के वाद सात वार वालक के ऊपर बार कर पूर्व दिशा मे जलाशय के किनारे वलिदान को रख आवें। यह क्रिया तीन दिनों तक करने के वाद चौथे दिन वालक को स्नान करादें। तिलों का हवन १०८ आहुती देकर करें।

११--एकादश वर्ष वाल रक्षा विधि—

उड़द के वाकले, गुड़, कचौड़ी, कोई शाक, लड्डू, पूरी, लपसी, पका हुआ मत्स्य, चावल, पाच ध्वजा इन प्रत्येक वस्तुआ को एक सकोरे मे रख कर २० वार पूर्वोक्त मंत्र की आवृति के बाद सात वार वालक से स्पर्श करा पूर्व दिशा में वृक्ष के नीचे रख आवें। पुनः राई और नीम के पत्ते का धूप वालक को दें। यह क्रिया तीन दिन करने के वाद चौथे दिन वालक को स्नान करा कर ब्राह्मण भोजन करावें।

१२--द्वादश वर्ष में वाल रक्षा विधि-

नदी के किनारे की मिट्टी से बनी देवी प्रतिमा को एक पात्र मे स्थापित कर उसी पात्र मे देवी के सामने गुड़, पूड़ी, लपसी, बाकले, तिलकूट लड्डू, राख की पिन्डी, राई, पांच दीपक, पांच ध्वजा ये वस्तुयें रख कर पूर्वोक्त मत्र की २१ आवृति के वाद सात वार वालक के ऊपर बार कर दक्षिण दिशा मे किसी वृक्ष के नीचे सन्ध्या समय रख आवें। उपयुक्त क्रिया तीन दिनो तक करते रहे। फिर चौथे दिन वालक को पञ्चगव्य से स्नान करा-कर नीम और सिरस के पत्ते का धूप दें। तथा ब्राह्मण भोजन करावे।

१३--त्रयोदश वर्ष मे वाल रक्षा विधि-

आटे से निर्मित देवी की मूर्त्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र मे देवी के समक्ष भात, मिट्टी के पात्र मे शर्वत, मदिरा, मांस, मछली, खीर, खिचड़ी, धूप, पांच दीपक, पांच ध्वजा, पांच पुष्प रखकर २१ बार पूर्वोक्त मंत्र की आवृति के वाद बालक के ऊपर वार कर मध्याह्न मे पश्चिम दिशा मे किसी वृक्ष के नीचे रख आवे। उपरोक्त क्रिया तीन दिनों तक करने के पश्चात् बालक को स्नानादि तथा ब्राह्मण भोजन करावें।

चतुदश वर्ष में वाल रक्षा-विधि—

इस वर्ष में वलिदान, स्नानादि और किसी प्रकार की उपरि कथित चिकित्सा असफल हो जाती है। अतएव इस वर्ष के ग्रह ग्रसित बच्चे को शङ्कर भगवान की दया पर छोड़ देना चाहिये। ऐसा आयुर्वेद शास्त्रज्ञों का मत है।

पचदश वष में वाल रक्षा-विधि—

नदी के पूर्व-पश्चिम दिशाओं की ओर वाली मृत्तिका से वनी देवी की मूर्त्ति १ पात्र मे स्थापित करें। उसी पात्र में मूर्त्ति के सामने खीर, खिचड़ी, मास, मदिरा, वाकले, आसव, पूड़ी, सिरस के पत्र, श्वेत फल, पाच दीपक, पांच ध्वजा इत्यादि रख कर २१ बार पूर्वोक्त मन्त्र की अवृति करे। तब सात वार वच्चे के ऊपर स्पर्श करावे और मध्याह्न के समय वृक्ष के नीचे रख आवे। यह वलि विधान तीन दिनो तक करने के पश्चात् चौथे दिन वच्चे को पचगव्य से स्नान करावे तथा कुड़े की छाल और दालचीनी का धूप दे।

षोडष वर्ष मे वाल रक्षा-विधि—

वाकल, खिचड़ी, पूड़ी, तिलकुट, कचौड़ी, दही, पांच दीपक और पांच ध्वजा (पाच विभिन्न रंगों वाली) इन वस्तुओं को १ पात्र मे रखकर २१ वार पूर्वोक्त मन्त्र की आवृति करें। तव सात वार



वच्चे के ऊपर वार कर पूर्व दिशा में सन्ध्याकाल वृक्ष के नीचे रख आवे। यह क्रिया तीन दिनों तक करने के पश्चात् चौथे दिन वच्चे को गौ के खुर और सींग का धूप दे। पुनः पंचगव्य तथा तिल संयुक्त जल से पृथक् पृथक् शुद्ध स्नान करावे। तदुपरान्त ब्राह्मण भोजन एवं ग्रह त्रसित वच्चे को नवीन वस्त्र धारण करावे।

दिन-मास-वर्षानुसार ग्रह शांति के उपाय—

अब दिन, मास, वर्ष मे ग्रह ग्रसित वच्चो के शान्ति की विधि का उल्लेख किया जाता है।

प्रथम दिवस, मास, वर्ष, ग्रह ग्रसित वाल रक्षा विधि—

नदी के दोनों किनारे की मिट्टी से निर्मित देवी की प्रतिमा एक पात्र मे स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के समक्ष श्वेत भात, कपूर, लोहवान, श्वेत चन्दन, श्वेत पुष्प, पाच पांच-रंगी ध्वजाये. पाच दीपक, सुहाली और पांच तरह की मिठाइया ये वस्तुये रखकर निम्नलिखित मन्त्र की २१ वार आवृति के बाद वच्चे के ऊपर सात वार वार कर दिन के प्रथम पहर मे पूर्व दिशा मे मौन होकर वलि रख आवें। तत्पश्चात् राई, खस. मदार पुष्प, विल्ली के वाल, मनुष्य के सिर के वाल, निम्व के पत्र तथा गौ घृत इन वस्तुओं की धूप वच्चे को देनी चाहिये। उपर्युक्त क्रिया तीन दिनों तक करते रहे। चौथे दिन वच्चे को इसी मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से स्नान करावें। स्नान के लिये व्यवहृत जल को १०८ वार अभिमन्त्रित करना चाहिये।

मन्त्र—ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कंदोवै श्रवणस्तथा।
रक्षन्तु त्वरीतं वाल मुख्य मुख्य कुमारकम्॥

द्वितीय दिवस, मास, वर्ष ग्रह ग्रसित वाल रक्षा विधि—

१ सेर चावल के चूर्ण से निर्मित देवी की मूर्त्ति मिट्टी के पात्र मे स्थापित करके उसी पात्र मे देवी के समक्ष गेहू, दस ध्वजाऐं, दस दीपक, दश चून के सतिये, भात. १ सेर पूड़ी, मछली और मांस इन वस्तुओं को रखे। सायङ्काल निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृति के बाद सात वार इस भरे पात्र को वच्चे के ऊपर वार कर पश्चिम दिशा में यह वलि रख आवे। यह वलि तीन दिनों तक देनी चाहिये। धूप, मन्त्र का जप तथा स्नान ये सव कर्म पूर्व क्रमानुसार ही करनी चाहिये।

मन्त्र—ॐ नमश्चा मुंडाये विच्चे हा हां हीं हीं
हूं हूं दुष्ट ग्रहा गच्छन्त्वतः स्थानाद्रु
द्राज्ञया स्वाहा।

तृतीय दिवस, मास, वर्ष ग्रह ग्रसित वाल रक्षा विधि—

१ सेर गेहू के आटे से निर्मित देवी की मूर्ति को मिट्टी के पात्र मे स्थापित करें। उसी पात्र में मे मूर्ति के सामने लाल भात, लाल ध्वजा, रक्त चन्दन, रक्त पुष्प, रोली रखकर देवी की मूर्त्ति को रक्त चन्दन का प्रलेप करके सायङ्काल पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृति के बाद सात वार वच्चे के ऊपर वार कर उत्तर दिशा मे वलि को रख आवे और स्नान, मन्त्र, जप, धूपादि कर्म पूर्व रीति से ही करे।

चतुर्थ दिवस, मास, वर्ष वाल रक्षा विधि—

तिल को जल के साथ पीसकर पिंड के समान वनाले और उसीसे देवी की प्रतिमा निर्माण करें। १ मिट्टी के पात्र मे प्रतिमा स्थापित कर वेल के कांटों से उस मूर्ति के आठो अङ्गों मे रेखायें वना दें। उसी पात्र मे प्रतिमा के सामने श्वेत पुष्प, श्वेत ध्वजा, अर्जुन पुष्प, गेहूँ के आटे के सथिये, १ सेर भात, १ सेर चना, गुड़ मिश्रित पूड़े, पांच दीपक, पांच पचरंगी ध्वजाये रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृति के बाद सात वार वच्चे के ऊपर वार कर पश्चिम दिशा मे वृक्ष के नीचे प्रात काल यह वलि रख आवें। तत्पश्चात् गौ के सींग, सांप की कांचली, निम्ब के पत्ते, मनुष्य के सिर के वाल, विल्ली के रोम और गौ का घी, इन वस्तुओ का धूप वच्चे को तीन दिनों तक सन्ध्या समय देते रहें। स्नानादि कर्म पूर्ववत् ही करावे।

पचम दिवस, मास, वर्ष में वाल रक्षा विधि—

१ सेर चावल के आटे से निर्मित देवी की प्रतिमा १ मिट्टी के पात्र में स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के सामने सफेद भात, पांच सफेद ध्वजाये, पाच दीपक, गेहूँ के आटे के सथिये, उजले फल और श्वेत चन्दन रखकर सन्ध्या समय निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृत्ति पढ़कर सात बार बच्चे पर वारें और पश्चिम दिशा मे वृक्ष के नीचे यह बलि रख आवे। फिर गौ का सींग, लहसन, साप की काचली, निम्ब के पत्ते, मनुष्य के सिर के बाल, विल्ली के रोम और गौघृत, इनका धूप बच्चे को सन्ध्या समय तीन दिनों तक दे।

मन्त्र—ॐ भगवती ह्रीं ह्रीं ह्रूँ ह्रूँ मुञ्च रक्षां कुरु कुरु बलिं गृह्ण गृह्ण अस्त्र ठ ठः चामुन्डे शर्वरि चण्डिके ढः ढ. स्वाहा।

षष्ट दिवस, मास, वर्ष में वाल रक्षा विधि—

कूट, गुग्गुल, राई, हाथी दांत इनको घी में मिश्रित कर धूनी दें तथा बलिदान, स्नानादि कर्म, प्रथम दिवस, मास, वर्ष की रीति से कराना चाहिए।

सप्तम दिवस, मास, वर्ष में वाल रक्षा विधि—

सप्तम दिवस, मास, वर्ष मे ग्रह शान्ति के लिए प्रथम दिवस, मास, वर्ष की तरह बलिदान, मन्त्र जप, स्नान, धूपादि, कर्म करावे। तत्पश्चात् ब्राह्मण, साधु, महात्मा, दीनदुःखी अतिथि आदि को भोजन करावे। दान, पुण्य करे। शङ्कर की दया से बालक को आराम हो जायगा।

अष्टम दिवस, मास, वर्ष में वाल रक्षा विधि—

नदी के पूर्व पश्चिम किनारे की मिट्टी से निर्मित देवी की प्रतिमा एक मिट्टी के पात्र मे स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के सामने गेहूँ, मसूर, हरासाक, मांस, पाच पचरंगी ध्वजाये, और पांच दीपक, ये वस्तुये रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २१ वार आवृति के वाद सात वार वालक के ऊपर वार कर पश्चिम दिशा मे संध्या समय वलि रख आवे। तत्पश्चात् वालक को गुग्गुल का धूप दें। मन्त्र-जप तथा स्नान पंचम दिन, मास, वर्ष के क्रमानुसार ही करे।

नवम दिवस, मास, वर्ष में वाल रक्षा विधि—

१ सेर गेहूँ के आटे से निर्मित देवी की मूर्त्ति मिट्टी के पात्र मे स्थापित करे। उसी पात्र में देवी के सामने भात, मछली, मांस, पापड़ी, ईख. सुहाली, पाच पचरंगी ध्वजाये, आटे के दीपक तथा पुष्प रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृति के बाद सात बार वालक के ऊपर बार कर उत्तर दिशा मे वलि रख आवे। तत्पश्चात् गौ का सींग और लहसन का धूप बालक को दें। स्नानादि तथा ब्राह्मण भोजन पूर्ववत् ही करावे।

दशम दिवस, मास, वर्ष मे वाल रक्षा विधि—

१ सेर गेहूँ के आटे से निर्मित देवी की मूर्ति को मिट्टी के पात्र मे स्थापित कर वेल के कांटों से उस मूर्ति के आठो अङ्गो मे रेखाये बनाकर कांटो को उन्हीं अङ्गो मे लगादे।

उसी पात्र मे देवी के सामने गुड़ के पके चावल, घृत, २५ ध्वजाये, गेहूँ के आटे के सथिये, २५ दीपक तथा चार रक्त पुष्प, रख कर २१ आवृति निम्न लिखित मन्त्र की देने के बाद सात बार बालक के ऊपर वार कर संध्या समय दक्षिण दिशा में यह बलि रख आवे।

मन्त्र—"ॐनमो भगवते वैश्वढेवाय हन हुँ फट स्वाहा।" इसी मन्त्र से जप, धूप तथा स्नानादि कर्म कराना चाहिए।

एकादश दिवस मास मे वाल रक्षा विधि—

उडद के आटे (वेशन) से निर्मित देवी की प्रतिमा एक मिट्टी के पात्र में स्थापित करे। उसी पात्र मे देवी के सामने श्वेत भात, २५ श्वेत पुष्प, श्वेत ध्वजा, गेहूँ के आटे के सथिये २५ नग, २५ दीपक, सुहाली, तथा पूडे, रखकर निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृति के वाद सात बार बालक के ऊपर वार कर सायं-प्रात. दोनों समय दक्षिण दिशा मे यह बलि रख आवे।



मन्त्र—"ॐ नमो भगवते रावणाय चन्द्र हास वज्र हस्ताय ज्वल ज्वल दुष्ट ग्रहादीन् ॐ ह्रीं फट स्वाहा"।

इस मन्त्र को २१ बार जपना चाहिए, और सब कर्म पूर्ववत् ही करने चाहिए।

द्वादस दिवस मास वर्ष मे वाल रक्षा विधि—

एक सेर चावल के आटे से निर्मित देवी की प्रतिमा एक मिट्टी के सकोरे मे स्थापित करे। उसी पात्र में देवी के सामने गेहूँ के आटे के तेरह सथिये, गेहूँ के आटे के दीपक, तेरह ध्वजाये, पूड़े, मछली-मांस, पापडी तथा सुहाली रख कर निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृत्ति के वाद सात वार वालक के ऊपर वार कर सायंकाल दक्षिण दिशा मे यह वलि रख आवें।

मन्त्र—"ॐ नमो नारायणाय ज्वलदधस्ताय हन हन शोपय शोपय मर्दय मर्दय पातय पातय हुं हुं हुं हुं हन हन दुष्टानां हू हू फट स्वाहा"।

इसी मन्त्र का जप करे और स्नानादि कर्म पूर्ववत् ही करावें।

त्रयोदस दिवस मास वर्ष में वाल रक्षा विधि—

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी की प्रतिमा एक मिट्टी के सकोरे मे स्थापित करे। फिर देवी की विधिवत् पूजा के पश्चात् उसी पात्र मे देवी के सामने बडे, लड्डू, पूड़े, गेहूँ, भात, गुड़, दही चार रङ्ग की ध्वजाये, चार दीपनक, पुष्प, चंदन, रखकर निम्न लिखित मन्त्र की २१ आवृति के वाद सात वार वालक के ऊपर वार कर मध्याह्न समय में पूरव दिशा मे यह वलि रख आवे।

मन्त्र—ॐ नमो भगवते रावणाय वालकं मुंच-मुंच स्वाहा।

इसी मन्त्र का जप करे और स्नानादि कर्म [illegible]त ही करावें।

[illegible]दिवस मास वर्ष मे वाल रक्षा विधि--

[illegible]हवें दिवस, मास-वर्ष मे जो वलि आदि लिखे गये है वे ही उपचार चौदहवें दिवस-मास वर्ष मे करना चाहिए। और धूप, लेप, स्नान तथा मन्त्र जप पूर्ववत् ही कराने चाहिये।

पचदस दिवस मास वर्ष मे वाल रक्षा विधि—

नदी के दोनों किनारो की मिट्टी से निर्मित देवी की प्रतिमा को एक मिट्टी के सकोरे मे स्थापित करें। फिर देवी की विधिवत् पूजा के पश्चात् उसी पात्र मे देवी के सामने बडे, लड्डू, पूड़े, गेहूँ, भात, गुड़, दही, चार रङ्ग की ध्वजाये, चार दीपक, पुष्प, तथा चन्दन, रखकर निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृति के वाद सात वार वालक के ऊपर वार कर मध्याह्न समय पूर्व दिशा मे यह वलि रख आवे। तत्पश्चात् गौ का सींग, लहसन, सांप की काचली, निम्व के पत्ते, मनुष्य के सिर के वाल विल्ली के रोम और गौ का घी, इन वस्तुओं का धूप वालक को तीन दिनों तक सन्ध्या समय देते रहे। स्नानादि कर्म पूर्ववत् ही करावे।

पोडस दिवस मास वर्ष मे वाल रक्षा विधि—

तेरहवें दिवस-मास वर्ष मे जो वलि लिखे गए हैं वे ही उपचार सोलहवें दिवस-मास वर्ष मे भी करने चाहिये। फिर वलिदान अर्ध रात्रि के समय नैऋत्य दिशा मे रख देना चाहिये। तत्पश्चात् गौ का सींग, लहसुन, सांप की काचली, निम्व के पत्ते, मनुष्य के वाल, विल्ली के रोम, और गौ का घी, इन वस्तुओ का धूप वालक को तीन दिनों तक सन्ध्या समय देते रहे। स्नानादि कर्म पर्ववत् ही करावें।

अब कुछ साधारण ग्रह-ग्रसित बालकों की शांति की विधि का उल्लेख किया जाता है।

१–स्कन्द ग्रह की चिकित्सा—

(१) देवदारु, रास्ना और समस्त मधुर वर्ग की औषधियों के कल्क और गौ दुग्ध को घृत के साथ पकाकर वालक की आयु निश्चित कर मात्रा निरूपण करनी चाहिये। प्रातः सायं वह घृत बच्चों को



पिलाना चाहिये। यह घृत स्कन्द ग्रह ग्रसित बच्चों के लिये हितकर है।

(२) सरसों, सांप की केचली, बच, सफेद चोंटनी, घी, ऊँट, बकरी, भेड और गाय के रोम, इन वस्तुओं के मिश्रण की धूनी देने से स्कंद ग्रह ग्रसित बच्चे मुक्त हो जाते हैं।

(३) सोमलता, इन्द्रवेल, समी, वेल के कांटे, तथा पालतू खरगोश का मूत्र इन वस्तुओं का मर्दन बच्चे के शरीर में करे तो ग्रह दूर हो जाता है।

(४) सोमलता, इन्द्रायण, वेल के पेड़ का बान्दा और इन्द्रायण की जड़ इन सबको एक डोरे में बांधकर उस डोरे को बच्चे के गले में पहनाने से स्कंद ग्रह दूर हो जाता है।

(५) बांस का वक्कल, तगर, लहसुन, निम्ब के पत्ते और गौ का घी इन वस्तुओं के मिश्रण से बच्चों को धूप दें तो ग्रह बच्चे के शरीर को छोड़ देता है और बच्चा स्वस्थ हो जाता है।

२-स्कन्दापस्मार ग्रह की चिकित्सा

(१) क्षीर वृक्ष अर्थात् बड़, गूलर, पीपल, पिलखनादि के क्वाथ में घृत पकाकर वह घृत दुग्ध के अनुपान से प्रातः सायं बच्चे की आयु के अनुसार तथा मात्रा निरूपण कर पिलाना चाहिये। ऐसा सुश्रुताचार्य का कथन है।

(२) गीध की विष्टा, उल्लू पक्षी की विष्टा, केश, हाथी के नख और बैल के रोम इनकी नित्य धूनी देने से स्कंदापस्मार ग्रह की शान्ति होती है।

(३) काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा, गुर्च, मुद्ग पर्णी, पद्माख, वंशलोचन, काकड़ासिंगी, पुन्डेरिया, जीवन्ती, ज्येष्ठी मधु और मुनक्का इन औषधियों के क्वाथ में घृत पकाकर दुग्ध के साथ प्रातः और सायं बच्चे की आयु के अनुसार मात्रा निरूपण कर पिलाना चाहिये। इस घृत के सेवन करने से बच्चों का स्कंदापस्मार दूर हो जाता है। ऐसा सुश्रुताचार्य का कथन है।

(४) गाय, बकरी, भेड, भैंस, गदहा, घोड़ा, ऊँट और हाथी इन आठ पशुओं के मूत्र में तेल पकाकर स्कंदापस्मार ग्रह ग्रसित बच्चों के समस्त शरीर में मर्दन करे।

इस अष्ट मूत्र तैल के प्रयोग से बच्चा स्वस्थ तथा ग्रह मुक्त हो जाता है।

(५) बेल की जड़, सिरस के पत्ते, सफेद दूब, तुलसी, सफेद तुलसी, पाढ़ल, भारंगी, मरुवा, कुमुद, भूस्तृण, राई, सफेद सरसों, कायफल, काली बन तुलसी, कसौन्दी, सालई, विडङ्ग, निगुण्डी, सम्हालू, कनेर, गूलर, खिरैटी, मकोय और तेन्दु इन औषधियों का विधिवत् क्वाथ बनाकर स्कंदापस्मार ग्रह ग्रसित बच्चों को सिंचन करना चाहिये।

३-शकुनी ग्रह की चिकित्सा और तांत्रिक पटल

(१) उपरिवर्णित स्कंदापस्मार ग्रह शान्ति के लिये जो घृत लिखे हैं वे ही घृत शकुनी ग्रह ग्रसित बच्चों को भी पिलाना चाहिये।

(२) शतावर, बड़ी इन्द्रायन, नागदौन, कटेरी, लक्ष्मणा, सहदेई और बड़ी कटेरी इन सबकी जड़ को एक डोरे में बांधकर सकुनी ग्रह ग्रसित बच्चों के गले में लटका देना चाहिये।

(३) ज्येष्ठी मधु, खस, सुगन्धबाला, सारिवा, कमल, पद्माख, लोध, प्रियंगु, मजीठ और सोना गेरू इनको एकत्र पीसकर बच्चे के शरीर पर लेप करे। इस लेप से शकुनी ग्रह शान्त होता है।

(४) बैत, आम और कैथ इनका क्वाथ बनाकर शकुनी ग्रह ग्रसित बच्चों को परिसिंचन करने से अवश्य ही ग्रह दूर हो जाता है।

(५) सरसों, सांप की केचली, बच, सफ़ेद घुंघची, घी तथा ऊँट, बकरी, भेड और गाय के रोम इन सबों का धूप बनाकर बच्चों को देने से शकुनी ग्रह शान्त हो जाता है।

४-रेवती ग्रह की चिकित्सा—

(१) धव, अश्वकर्ण-छाल, अर्जुन, धाय के फूल, तेन्दु, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा, गिलोय, मुद्ग पर्णी, मासपर्णी, पद्माख, वंशलोचन, काकड़ासिंगी, पुन्डेरिया, जीवन्ती, मुलैठी और मुनक्का इन औषधियों का विधिवत् कल्क बनाकर घृत तैयार करे और बच्चे की आयु देखकर मात्रा निरूपण करें। प्रातः सायं इस अमृततुल्य घृत का सेवन करावे। इस घृत के सेवन कराने से रेवती ग्रह ग्रसित बच्चों को मुक्ति मिल जाती है।

(२) असगन्ध, मेढ़ासिंगी, सारिवा, पुनर्नवा, दोनों प्रकार का पियाबासा और विदारीकंद इनके क्वाथ से बच्चे का सेचन करे।

(३) गीध की विष्टा, उल्लू की विष्टा, वच और जौ इन सबका धूप बच्चों को दोनों समय अर्थात् प्रातः सायं देने से बच्चे के रेवती ग्रह का प्रकोप दूर हो जाता है।

(४) बहुत प्रकार की मिठाइयां, सत्तू, खीर, मांस, खार, सुगन्ध पुष्प, धूप, सुगन्धित द्रव्य, दीप, जल से परिपूर्ण कलश (उसमें सुवर्ण यथा साध्य) और वारुणी इन वस्तुओं को मिट्टी के १ पात्र में रखकर २१ बार निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करे। पुनः सात बार इस पात्र को बच्चे के सिर से लगाकर नदी किनारे बलि रख आवें।

मन्त्र—शिशोर्विकारान्मचाद्य रेवती चैव मातृक।
प्रगृहणीष्व बलिं चेमं सुन्दरि प्रिय भूषणे॥

५-पूतना ग्रह की चिकित्सा—

(१) कूट, तालीशपत्र, तगर, चदन, तिरिछ, ढाक की जड़, कुशा मूल, दूर्वा के सात पत्ते और अरवा चावल इन वस्तुओं की एकत्र धूनी देने से पूतना ग्रह दूर होता है।

(२) गन्धनाकुली, जल कुम्भी, बेर की मिंगी, ऊंट की हड्डी, घृत और सरसों इनका धूप बनाने से पूतना ग्रह की शान्ति होती है।

(३) धव, कदम्ब, कूट, इलायची, पर्वती कदम्ब, देवदारु, रेणुका और हींग इनको एकत्र पीसकर बच्चे के शरीर पर लेप करें तो पूतना ग्रह की शान्ति होती है।

(४) खिचड़ी, जल से परिपूर्ण कलश (उस कलश में यथासाध्य सुवर्ण) तिल, कूठ, ध्वजा, सुगन्ध द्रव्य, पुष्प, धूप और दीप ये वस्तुयें एक मिट्टी के सकोरे में रखकर निम्नलिखित मन्त्र से २१ बार अभिमन्त्रित करें। पुनः इस पात्र को बच्चे के सिर से स्पर्श कर बच्चों के क्रीडा स्थल पर बलि रख आवे।

मन्त्र—नीलाम्बर धरे देवी पूतने विकृताननें।
शिशोर्विकारान्मुञ्चस्व प्रगृहीष्वबलिंदिमम्॥

६-अन्ध पूतना ग्रह की चिकित्सा—

(१) सेमल, करंज, कंदूरी और जवासा इन सबको १ धागे में बांधकर बच्चे के गले में लटका दे तो अन्धपूतना ग्रह से बच्चा मुक्त हो जाता है।

(२) मुर्गे की विष्ठा, केश, सांप का चमड़ा और बच्चे की पुरानी धोती, इन सबको एकत्रित कर धूनी देने से अन्धपूतना ग्रह ग्रस्त बच्चे का कल्याण होता है।

३-मदिरा, कांजी, कूट, मनः शिला और राल इन सबको तेल में पका कर बालकों के शरीर पर लगाने से अन्धपूतना ग्रह की समाप्ति होती है।

४—अन्न, मास, रुधिर, लाल कपडा, रक्त चन्दन, जल से परिपूर्ण कलश में किंचित सोना, ध्वजा और दीपक—इन सबों को मिट्टी के पात्र में रख कर २१ बार निम्नलिखित मंत्र पाठ करें और सात बार बालक के ऊपर बार कर सन्ध्या समय थूहर के वृक्ष के नीचे रख आवे। इस तान्त्रिक क्रिया के प्रयोग से बालक स्वस्थ हो जाता और ग्रह दोष शान्त हो जाता है।

७—शीतपूतना ग्रह की चिकित्सा—

१—बकरे का मूत्र, गो मूत्र, नागरमोथा, देवदारु,

कूट, केशर, अगर, कपूर, कस्तूरी, और चन्दन इन सबों का महीन कल्क बना कर विधिवत् तैल पकावे। यह तैल ग्रह-ग्रसित बालकों के शरीर पर मर्दन करें।

२—गीध और उल्लू की विष्ठा, वन तुलसी की जटा, साप का चमड़ा, नीम के पत्ते और ज्येष्ठ मधु, इन द्रव्यों का धूप बना कर दें।

३—कड़वी तुम्बी, चौंटनी और सफेद चौटनी इन तीनों बूटियों को एक धागे मे बांधकर बालक के गले में लटकाये।

४—अन्न, मांस, रक्त, सुगन्ध पुष्प, सफेद वस्त्र, लाल वस्त्र, धूप, दीपक, और जल से परिपूर्ण कलश (किंचित स्वर्ण के साथ) ये वस्तुयें मिट्टी के सकोरे मे रख कर निम्नलिखित मंत्र का २१ बार पाठ करें। इस भरे पात्र को बालक के मस्तक से स्पर्श कराते हुए थूहर वृक्ष के नीचे रख दें।

८—मुखमंडिका ग्रह की चिकित्सा—

१—कैथ, बेल, अरणी, अड़ूसा, अरण्ड, और वन तुलसी, इनका विधिवत् क्वाथ बना कर मुख मंडिका ग्रह-ग्रसित बालक का इससे सेचन करावें।

२—भांगरे का स्वरस और नागौरी असगन्ध के क्वाथ मे विधिवत् तेल पका कर बालको को इस तेल का मर्दन करायें।

३—नीलकंठ पक्षी, चील, और सांप की जिह्वा एक धागे में बांध कर बालक के गले में लटका दें।

३—मुलेठी, दूध, बंशलोचन, मधुरगण की औषधियां, सरिवन, पिठवन, कटेरी, बृहत् कटेरी, और गोखरु, इनके साथ घृत पका कर प्रातः साय उचित मात्रा मे बालकों को सेवन करायें।

९—नैगमेय ग्रह की चिकित्सा—

१—घोड़ बच, बड़ी हरड़, सफेद दूब और बालछड़ इन चारों को एक डोरे मे बांध कर बालक के गले मे लटका देने से नैगमेय ग्रह-ग्रसित बालक चंगा हो जाता है।

२—सफेद सरसों, बच, हींग, कुठ, अक्षत, भिलावे, और अजमोद इन सबों की धूनी दे।

३—तिल, चावल, पुष्प माला, पक्वान्न, और मिष्ठान्न, ये भोजन नैगमेय ग्रह की तृप्ति के लिए पाखर वृक्ष के नीचे रख आवे।

४—जब घर के सब लोग रात्रि मे सो जाय तो ग्रह ग्रसित बालक को पीपल या बट वृक्ष के नीचे स्नान करावे। पुनः बन्दर, उल्लू, तथा गीध की विष्ठा की धूनी बालक के पिता के शयनागार में देने से ग्रह-ग्रसित बालक चंगा हो जाता है।

५—फूल प्रियंगु, धूप सरल, अनन्त मूल, सौंफ, और श्योनाक इन सबो को समभाग लेकर कल्क बनावें। कल्क से चौगुने तेल, गौमूत्र, दही का तोड़ और खट्टी कांजी मे डालकर पकावे। जब तेल मात्र रह जाय तथा जलीय पदार्थ जल जांय तो शीतल होने पर छान ले और बोतल में सुदृढ़ काग लगा कर रखदे। यह तेल ग्रह पीडित बालक को प्रात. सायं मर्दन करे। इससे ग्रह शान्त होता है।

सर्व ग्रहों का अधिपति स्कन्द है तथा सर्व रोगों का अधिपति रेवती है। इसलिये बालक के हित की इच्छा करने वाले इन दोनो का पूजन करें।

कुछ यंत्र, मंत्र, धूप—

१—नरसिंह बीज मंत्र—

"ॐ नमोनरसिंहाय हिरणाय कशिपु वक्ष.स्थल विदारणाय। त्रिभुवन व्यापकाय भूत प्रेत पिशाच डाकिनी कुलोन्मूलनाय स्तम्भोद्भवाय समस्त दोषान हर हर बिसर बिसर पच पच हन हन कम्पय त्राह्यहि आभा पयति स्वाहा ॥"

उपरोक्त नरसिंह मंत्र का एक बार उच्चारण कर जिस बालक को फूंक दिया जाय, या इस मंत्र को भुर्ज पत्र पर लिख कर ताम्बे के ताबीज मे बन्द कर बालक के गले मे बांध दें।

२—सर्व ग्रह नाशक सिद्ध मंत्र—

"ॐ ॐ ह्रीं ह्रीं हः ह फट स्वाहा" उपरोक्त मंत्र से सफेद सरसों को सात बार अभिमन्त्रित कर भूत ग्रसित रोगी पर छींटा मारे।



३–सर्वग्रह नाशक धूप देने का मंत्र–

"ॐ द्रुतं मुंच मुंच, उड्डामरेश्वर आज्ञापयति स्वाहा" उपरोक्त मंत्र को तीन बार पढ़ कर धूप दे।

४–सर्व ग्रह नाशक सिद्ध मन्त्र–

इस मंत्र को भुर्ज पत्र पर लिख कर बालक के गले मे बांधे।

मंत्र–"ॐ ठं ठं ह्रूं क्रुं स्वाहा"

६–सर्वग्रह-नाशक धूप देने का मंत्र–

"ॐ मुक मुक एक एक हुप हुष जय जय आगच्छ आगच्छ ठ. ठः स्वाहा" इस मंत्र से हवन करने, या धूप देने से सर्व ग्रह दूर होते हैं।

७–बालकों के भूतादि दूर करने का मन्त्र—

"ॐ आं क्रीं हुं मार हस्त हा ह्रीं करे समस्त दोषान् हर हर विसर विसर हुं फट स्वाहा" उपरोक्त मंत्र से जल अभिमन्त्रित कर रोगी को पिलावे और थोड़ा शोरा मिलाकर शरीर पर छिड़के।

८–भूतादि ग्रसित के लिये मंत्र—

"ॐ आघोरे अघोरेश्वरी घोर मुखे चामंडे ऊर्ध्व केशी ह्रीं स्फी फट हुं स्वाहा" उपरोक्त मंत्र को ११ बार जप करके नीचे लिखा मंत्र पढ़ कर पीली सरसों भूत ग्रसित रोगी को मारे।

मंत्र–"ॐ भगवते रुद्राय चण्डेश्वराय हुं हुं हुं फट फट स्वाहा।"

९–सर्व ग्रहनाशक धूप—

सिरीस पत्र, निम्ब पत्र, गो-शृंग का छिलका, वच, बास की छाल, मयूर-पुच्छ, कांगनी और गो-घृत ये सब चीजें बराबर लेकर बालकों के रहने के स्थान मे धूप दे।

१०—सर्व ग्रहनाशक धूप–

मन्त्र–"खुं खुर्दनं खं हुं फट स्वाहा"।

इस मन्त्र से बालक को धूप दे।

११—बालकों के सर्व प्रकार के भय दूर करने का यंत्र–

आगे दिये यन्त्र को एक हजार बार स्वर्ण गेरू तथा कत्थे की स्याही और अनार की लकड़ी की कलम से स्लेट पर लिख कर सिद्ध करें। पश्चात् इस यन्त्र को ब्रह्म वर्ण भुर्ज पत्र पर लिख कर काले धागे (डोरे) में बालक के गले में बांध दे।

अ	अ	म्
अ	उ	म
अ	म्	म

१२–बालकों के रुदन-निवारण यंत्र–

१२	२	११	१
१६	२	३६	८
५	२४	६	२३
४	१३	६	१८

सीं रीं रीं जं द्रं त्रं डीं च

इस यंत्र को ब्रह्मवर्ण भुर्ज पत्र पर अष्ट गन्ध से लिख कर बालक के गले मे बाध दें।

१३–बालकों के रुदन निवारण यत्र–



चित्र न० ३६

इस षटाक्षरी यंत्र को ब्रह्मवर्ण भुर्जपत्र पर लिख कर बालक के गले मे बाध दे।

—श्री पं० उदय नारायण झा आयुर्वेदाचार्य।
एकद्वारा पो० मथुरापुर (भागलपुर)

पूतना
वमन
अनिद्रा
अगटीले
रेवती
ज्वर
लाल चहरा
शकुनी
नजर
स्कन्द अपस्मार
शरीर अकड़ा
माता पिता की उपेक्षा
स्कन्द
अध पूतना
अतिसार
खांसी
विसर्प
पीप
गुदा न धोना
शीत पूतना
दुर्गन्ध
मुखमण्डिका
मूत्र की गन्ध
त्रिदोष
सर्दी
वर्ष
बालग्रहों के कारण (शाखा) लक्षण (पत्ते) रोग (फल) और उपाय (पक्षी)

चित्र नं० ३७

बाल-ग्रह विटप

बाल ग्रह एवं भूतबाधा

वैद्य श्री मुन्नालाल गुप्त B. I. M.

नवजात शिशुओं की बाल-ग्रह दुष्टात्मा तथा भूत प्रेत बाधा से रक्षा के हेतु शल्य-शालाक्य शास्त्र के प्रणेता महर्षि सुश्रुताचार्य ने उपदेश करते हुए लिखा है—

वातातप विद्युत्प्रभा पादपलता शून्यागार निम्न स्थान ग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बाल रक्षेत्।
—सु० शा० अ० १० सू० ६१

अर्थात् बच्चे को तीक्ष्ण पवन, धूप, बिजली की चकाचौंध, डरावने वृक्ष, लता, शून्य स्थान, नीचे स्थान (जहां देखने से भय लगे या गिर पड़े), गृह छाया (दीवालों की परछाईं) तथा खोटे ग्रहों के उपद्रवों से बच्चों की रक्षा करनी चाहिए।

नित्यमवरोधरतश्चस्यात्कृतरक्ष अपसर्गभयात्।
प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गेभ्योरक्ष्या बाला भवन्ति॥
—सु शा. अ १० सू ६४

अर्थात् किसी भी समय बच्चे को अकेला नहीं छोड़ना चाहिए और यत्नपूर्वक ग्रह बाधा तथा उपसर्ग (उपद्रव) से उसकी रक्षा करना आवश्यक है। क्योंकि—

ऐश्वर्यस्थास्तेन शक्या विशन्तो देहं द्रष्टुं मानुषैर्विश्वरूपा आप्त वाक्यं तत्समीक्ष्याभिधास्ये लिंगान्येषां यानि देहे भवन्ति।

अर्थात् ये सब ग्रह अमानुषिक अलौकिक शक्ति संपन्न तथा अनेक रूप धारण कर सकने में समर्थ होने के कारण मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हुए भी दिखाई नहीं देते अत. आप्त वाक्य ही इसके लिये प्रमाण है। उनकी अच्छी तरह समीक्षा करके ग्रहावेश से पीडित जो लक्षण होते हैं उनका वर्णन करूंगा।

ग्रह व भूत प्रेतादि मानव शरीर मे किस प्रकार प्रवेश करते हैं उस सम्बन्ध मे लिखा है—

दर्पणादीन यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देह धृक्॥
विशन्ति न च दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणाम्।

अर्थात्—दर्पणादि में जैसे छाया प्रवेश करती है उसका रूप नहीं दिखाई देता। शीत, गर्मी मनुष्य शरीर मे विना दिखाई दिये ही व्याप्त हो जाती हैं, सूर्यकान्त मणि में सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं परन्तु दिखाई नहीं देतीं, देह मे जीव रहता है और दिखाई नहीं देता, उसी भांति देव, भूत, पिशाच आदि ग्रह प्राणियो के शरीर मे प्रवेश कर जाते हैं पर दिखाई नहीं देते क्योंकि वे अदृश्य जगत में रहते हैं और इन नेत्रों से ओझल हैं।

कुछ मनीषियो यह भी मत है कि ग्रहों मे तीव्र तप, दान, व्रत, धर्म नियम सत्य तथा आठों सिद्धियां जिस ग्रह का जैसा प्रभाव है उसके अनुसार अल्प या सम्पूर्ण अंशों मे सर्वदा स्वभाव से ही विद्यमान रहती है। यह ग्रह मनुष्यो से नहीं मिलते और न प्रवेश ही करते है। लोग मूर्खतावश ऐसा कहते हैं कि "अमुक मनुष्य के शरीर मे अमुक ग्रह प्रवेश किये है" वे भूत विद्या के विषय मे अनभिज्ञ हैं।





इन ग्रहों के सेवक जो अपरिमित संख्या में है रक्त, मांस, वसा के भक्षक हैं। वे मानव शरीर में अपवित्रता का छिद्र पाकर अपनी भूख मिटाने के लिये प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश कर जाते हैं।

आज के अनेक भारतीय बुद्धिवादियों ने 'रुद्र' 'प्रमथ' ग्रह प्रभृति नामों को विशेष प्रकार के कीटाणुओं का होना माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने विस्तृत विवेचना भी की है। अस्तु।

किन्तु आज का युग वैज्ञानिक युग है। इसमें किसी पूर्वकालीन मत को तब तक स्वीकार नहीं किया जाता जब तक कि उसे विज्ञान की कसौटी पर सत्य प्रमाणित न कर लिया जावे। यह उचित भी है, किन्तु वैज्ञानिक जगत ने अब तक भूत व ग्रहजनित व्याधियों पर खोज कर जन भ्रांति को दूर करने की चेष्टा नहीं की। भारत ही नहीं संसार के अनेक भागों में ऐसा विश्वास चला आ रहा है कि अनेक व्याधियां ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति में भूत प्रेत ग्रह आदि कारण है। कुछ विचारकों का मत है कि यह रोग मानसिक विकृतिजन्य है।

महर्षि चरक व सुश्रुत ने, जिनके मत में रोगों की उत्पत्ति का कारण वात-पित्त-कफ का वैषम्य ही है, सभी पहलुओं पर विचार कर ग्रह जनित पीड़ा को भी स्वीकार किया है। और अपनी चिकित्सा में सामञ्जस्य स्थापित किया है।

श्री आर्थर कोनन डायल, जो भूत विद्या के विशेषज्ञ माने जाते हैं लिखते हैं—

मैं ऐसी बातों को अत्यन्त मूर्खतापूर्ण समझता था और कोई भी समझदार व्यक्ति कैसे इस पर विश्वास करेगा मुझे स्वयं इस पर आश्चर्य था।' इसी प्रकार की धारणा सर ओलीवर लॉज आदि मनीषियों की भी है।

बालग्रह की चिकित्सा के अन्तर्गत कितने ही ऐसे द्रव्यों का वर्णन आया है, जिन्हें भूत प्रेत बाधा से रक्षक माना है। वे ऐसी हैं? यह तो भावी वैज्ञानिक जगत सिद्ध करेगा। किन्तु वे जीवाणुनाशक, मानसिक विकृति को व्यवस्थित करने तथा चित्त को संतुलित करने में आज भी प्रसिद्ध हैं। जैसे ब्राह्मी, बच, सुवर्चला, कूट, मालकांगनी, जटामांसी, चन्दन, गुग्गुल, मुरा, बायविडंग, मृग मद, केशर, अम्बर, गोरोचन, मैंसिल और हरताल आदि।

आज अन्वेषण काल चल रहा है। उपर्युक्त वस्तुओं पर अन्वेषण यदि किया जावे तो अनेक चमत्कारिक तथ्य हाथ लग सकते हैं। यह कार्य हमारे चिकित्सक समाज का है। यह कार्य हम नहीं करते हैं तो हमारी गणना अन्ध श्रद्धालुओं में ही रहेगी और हमें असभ्य माना जावेगा।

ग्रह बाधा से पीड़ित बालकों के लक्षण—

जब बालक अनायास भयभीत होकर आर्तस्वर में रोने व चीखने लगे, आकाश की ओर टकटकी बांध कर देखे, भौंहे ऊपर को चढ़ जावे, बारबार जमाई ले, ओठों को दांतों से चबाये, माता को नखों तथा दांतों से नोंचे खसोटे या स्वयं को काटे, दुर्बल तथा मलिन हो जावे, गला घरघराने लगे, रात्रि में सोये नहीं, कम्प तथा दौरे आने लगे, शरीर पर काले, पीले. लाल, धुमैले या ताम्र वर्ण के धब्बे पड़ जावें, स्तन पान छोड़ दे तो जानना चाहिए कि बच्चा ग्रह-बाधा से पीड़ित है। ये रोग जमोघा, जमुआ आदि नामों से प्रसिद्ध है।

अथवा—जिस बालक के नखों में तथा दांतों में विकार हो। निद्रा न आवे, भयभीत हो उलझापन उद्वेगवान हो, शरीर में गंध आवे, अनेक प्रकार की चेष्टा करे, बल अधिक हो उस बालक को ग्रहाविष्ट जानना चाहिए।

बालक क्षण क्षण में कांपने लगे, क्षण क्षण में भयभीत होवे, रोने लगे, नखों और दांतों से काटने लगे। दांत कटकटाये, दांत और ओष्ट फरफराता रहे, मुंह से फेन आवे, देह में सूजन आजाय, मल पतला हो तथा रक्त, मास तथा चर्बी की सी गंध आती हो ऐसे रोगी बालक ग्रह जुष्ट से ही प्राय. पीड़ित पाये जाते हैं।



ग्रहबाधा के कारणों के सम्बन्ध में–

शास्त्रकारों के मत का निचोड़ यह है कि जिनके आचार विचार, खानपान, रहन सहन तथा आजीविका अशुद्ध और अपवित्र है उन्हीं के बालक अधिकतर ग्रह जनित बाधा से पीड़ित होते हैं।

महर्षि चरक ने भी ग्रहों की अपरि संख्या लिखी है। उन ग्रहो को आठ श्रेणियों मे विभाजन किया गया है। (१) देव (२) ऋषिग्रह (३) गंधर्व ग्रह (४) पिशाच ग्रह (५) क्षय ग्रह (६) राक्षस ग्रह (७) ब्रह्मराक्षस (८) पितृ ग्रह।

कुछ के मत से भूत भावन भगवान शंकर ने स्वामी कार्तिक की रक्षार्थ बारह ग्रहों को उत्पन्न किया था। आवश्यकता दूर होने पर उन ग्रहों को जिस गृह मे शौचाचार का अभाव है वहां जाकर बालकों को पीड़ा देने की आज्ञा दी। उन ग्रहो के नाम इस भांति है—(१) स्कन्द (२) विशाखा (३) मेघाख्य (४) स्वग्रह (५) पितृग्रह (६) शकुनि-पूतना (७) शति पूतना (८) दृष्टि पूतना (९) मुख मडलिका (१०) रेवती (११) शुष्क रेवती (१२) नेगमेहग्रह।

माधव निदानकार ने निम्न नव ग्रहो का जिक्र किया है। स्कन्दग्रह, स्कन्दापस्मार, शकुनिग्रह, रेवती, पूतना, अन्धपतना, शति पतना, मुख मडिका और नेगमेह।

ज्योतिष—शास्त्र मे २७ नक्षत्रों के २७ देवता माने हैं। वे भी ग्रहों की तरह बालकों को कष्ट देते हैं। इसी प्रकार अनेक मत हैं।

विस्तार मे न जाकर निदान और लक्षणों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। विस्तार के लिए काश्यप सहिता, सुश्रुत का उत्तर तन्त्र, भावप्रकाश, 'माधव निदान तथा विद्वद्वर कल्याण वैद्य द्वारा विरचित "बालतन्त्र" आदि ग्रंथों का अवलोकन करे।

पूतनादि के आक्रमण के विशिष्ट कारण—

(१) अत्यन्त मैले व निर्जन स्थान पर सोते बालक को पूतना ग्रहण करती है—

अत्यन्त मलिनास्तीर्णेऽग्यानं निर्जनेस्थले।
स्वपत पूतना नाम ग्राही गृह्णाति बालकम्॥

(२) बहुत आभूषण पहराने से या सुगंधित इत्रादि बालक के लगाने से रेवती नामक ग्रह बालक को ग्रहण करती है।

भूषणैर्बहुभिर्युक्तं गंधादिभिरलकृतम्।
बालकं रेवती नामाग्रह संक्रमते तदा॥

(३) संध्या के समय पृथ्वी पर सोते हुए बालक को या खेलते हुए बालक को पुष्परेवती नामक ग्रह पीड़ा देता है।

(४) देव स्थान मे उच्छिष्ट भोजन कराने से या मल मूत्रादि के त्याग करने से बालक को शकुनी-ग्रह ग्रहण करती है।

उच्छिष्टे भोजनं देवालय मूत्रादिकारिणम्।
शकुनी ग्रही गृह्णातितो जागर्तिवेनिशि॥

यहां ऊपर चन्द कारण उपस्थित किए हैं जिनके कारण बालकों को ग्रह जुष्ट रोग होते हैं। अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि उक्त कारणों से बालकों की सदैव रक्षा करे।

स्कन्दादि ग्रहो के आक्रमण के उपरान्त जो जो रोग लक्षण बालक मे देखे जाते हैं, उनका वर्णन यहां न करके मात्र विशिष्ट लक्षणों की ओर ही पाठको का ध्यान आकर्षित करूंगा। शेष लक्षण गत लेख में देख सकते है।

ग्रहो के विशिष्ट लक्षण—

(१) स्कन्द ग्रह से शरीर मे रक्त की गंध, नेत्रों से स्राव, स्पन्दन एवं कम्प होता है। और मृगीवत् दौरा होता है।

(२) स्कन्दापस्मार से शरीर मे पूय तथा रक्त की सी गध आती है।

(३) शकुनी ग्रह से शरीर मे पक्षियो की सी गंध आती है।

(४) रेवती ग्रह से कीचड़ की सी गंध आती है।

(५) पूतना ग्रह से रोगी शिशु की दृष्टि तिरछी रहती है।

(६) अंध पूतना से रोगी शिशु के शरीर से चर्बी की गंध आती है।

(७) शीत पूतना से रोगी शिशु निर्गन्ध या विशेष गंधयुक्त होता है।

(८) मुखमण्डिका ग्रह से रोगी बालक के मुख का वर्ण स्वच्छ हो जाता है, और शिराओं से शरीर व्याप्त हो जाता है और शरीर से मूत्र की सी गंध आती है।

(९) नैगमेह ग्रह से पीडित बालक का मुख अधिक सूखता है।

ग्रहजुष्ट रोगों की असाध्यता—

जिस रोगी बालक के नेत्र स्तब्ध हो जांय, दूध पीना छोड़ दे, जो बारम्बार मूर्च्छित हो, तथा जो ग्रह जनित रोग के लक्षण बताये है वे सभी लक्षण यदि रोगी बालक में देखे जाय तो वह ग्रह रोगी बालक को मार ही डालता है।

चिकित्सा

ग्रह जुष्ट रोगो की चिकित्सा भी दैवव्यपाश्रय यानि देव पूजन बलि, कर्म, उपहारकर्म, मंत्र, अंजन, शान्ति कर्म, यज्ञ, जप मंगल कर्म वेदोक्त नियम तथा प्रायश्चित कर्म द्वारा की जाती है। ऐसा चरकादि महर्षियों ने भी माना है। यथा—

पूजा वल्युपहारांश्च मंत्राञ्जन विधिस्तथा।
शान्तिकर्मेष्टि होमांश्च जप स्वस्त्ययनानि च॥
वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत्।
—च. चि० अ० ९ सू०९७

ये कर्म भी अधिकारी ब्राह्मण से ही कराना चाहिए अन्यथा इससे कोई लाभ भी नहीं होगा और पैसा भी व्यर्थ नष्ट होगा तथा बच्चे को भी रोग से मुक्ति नहीं मिलेगी। इसी विश्वास विश्वास में रोगी के शरीर का अन्त हो सकता है।

भगवान चरक का मत है कि भूतों के अधिपति 'महेश्वर' का पूजन करने से ग्रह जनित रोग नहीं रहता।

रुद्र के 'प्रमथ' नामक जो गण लोक में विचरते है, उनकी प्रतिदिन पूजा करने से आगन्तुक ग्रहों की पीड़ा से रोगी बालक मुक्त हो जाता है।

बलि कर्म से, मांगलिक कार्यों से, होम से, दिव्य औषधियों और अगदो के धारण करने से, सत्याचार से, तप से, दान से, नियम व्रत के पालन से, गौ, ब्राह्मण, देवता, गुरुजनों की सेवा से, सिद्ध मन्त्रो से तथा सिद्ध औषधियों से भी ग्रहजनित रोग शान्त हो जाते हैं। यथा—

भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम्।
पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम्॥
रुद्रस्य प्रमथानाम गणा लोके चरन्ति ये।
तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यो विमुच्यते॥
बलिभिर्मगलैर्होमैरौषध्यगद धारणैः।
सत्याचार तपोज्ञान प्रदान नियम व्रतैः॥
देवगुह्यक विप्राणा गुरुणां पूजनेन च।
आगंतुः प्रशमं याति सिद्ध मंत्रौषधैस्तथा॥
—च० चि० अ० ९ सू० ९८ से १०१

रामभक्त श्रीमत् हनुमान जी की आराधना से भी भूत व ग्रहजनित पीड़ा शान्त हो जाती है। ऐसा अपना निजी अनुभव है।

सामान्योपचार—

[१] दूर्वा, कुटकी, निम्ब के पत्तों को जल सहित पीसकर बच्चे के उबटन लगाना चाहिये। इन द्रव्यों से युक्त गर्म किये जल से प्रक्षालन भी किया जा सकता है। इसके पश्चात् सातोन के पत्र, पीपल के पत्ते, मुलैठी, लहेसुवा के पत्तों को जल में क्वाथ कर इस जल से स्नान कराना चाहिये।

धूप के लिये निम्न द्रव्यों का उपयोग करें।

बास का बक्कुल, तगर, लहसुन, नीम के पत्ते, गौ घृत या शिव पर चढ़े फूल, मनुष्य के सिर के बाल, गौ घृत, अगर, राई, लाख। अथवा—

राई, लाख, नीम के पत्ते, बांस का बक्कुल, गौघृत। इस धूप को तैयार कर घर में बच्चे के



शरीर पर धूप देना चाहिये।

अभिषेक का मन्त्र–

ॐ सर्व सिद्धान्ते मातरिमं ग्रहं संहर हुं रोदय रोदय स्फोटय स्फोटय गृह्ण गृह्ण आमर्दय आमर्दय शीघ्रं हन हन एवं सिद्धो रुद्राज्ञापयति स्वाहा।

बच्चे के सिर पर हाथ रखकर मन्त्र पढ़ते हुये स्नान कराये।

निम्न मन्त्र पढ़ते पढ़ते धूप देनी चाहिये—

खुं खुर्दनं खं हुं फट् स्वाहा ॥

निम्न मन्त्र भोजपत्र पर अष्ट गन्ध से लिखकर गले में डाले—ॐ ह्रीं लुलु स्वाहा। (यन्त्र का चित्र पृष्ठ ११६ पर देखें)

उक्त मन्त्रों की सिद्धि शुद्ध आचार विचार, संयम तथा कम से कम १० हजार बार देवस्थल पर जाप से होती है।

विशेष उपचार—

नूतन ज्वर होने पर—अमृतार्णव [भै. र.], ज्वरारि अभ्र [भै. र.], रस पीपरी [आरोग्य प्रकाश], बाल रस [रं. सा. सं.], जन्म घूंटी [सि. म. मा.] का प्रयोग करना चाहिये।

ज्वर की तीव्रता में—सिर पर शीतोपचार करें। प्रवाल पिष्टी, रत्नगिरी प्रभृति ज्वरशामक औषध का प्रयोग करें।

मलावरोध हो तो उसे तत्काल दूर करना चाहिये। इस कारण से भी अनेक ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

तीव्र ज्वरों में तो ऐसे विकारों का होना तो कोई आश्चर्यजनक बात है ही नहीं। अतः ज्वर की तीव्रता को कम करने का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये।

मूर्च्छावस्था में मूर्च्छा को दूर करने के लिये निम्न नस्य दें—

शंख कीट, कपूर, कट्फल, पलास पापड़ा, नकछींकनी, काली मिर्च, समान भाग लेकर कपड़छन करें। जरा सी चुटकी से नस्य दें या नौसादर चूना का योग उत्तम है।

नस्य के लिये—लहसुन व हींग का सुंघाया जाना भी हितकर है।

पसीने की अधिकता—कंठावरोध हो तो निम्न अवधूलन को शरीर के प्रत्येक अङ्गों पर इसकी धीरे धीरे मालिश करें—

चिरायता, कुटकी, सोंफ, इन्द्रजौ और कचूर समभाग लेकर कपडछन चूर्ण करें।

मलावरोध हो तो–फलवर्ति या अन्य किसी वर्ति को उपयोग कर मलावरोध को दूर करें।

घृतों का भी उपयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिये। उनमें कल्याण घृत, महाकल्याण घृत, महाचैतस घृत, ब्राह्मी घृत, महापैशाचिक घृत, लहसुन घृत, ल्हसुनाद्य घृत विशेष उपयोगी हैं।

पुराना घी सभी प्रकार के गुण दोष निवारक माना गया है। आचार्य चरक ने पुराने घृत के गुण इस प्रकार लिखे हैं—

उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दश वर्ष स्थितं घृतम्।
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्व ग्रहापहम्॥
मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम्।
त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्धि गेयाद् ग्रहमोक्षणम्॥
गुर्वर्कमाधिकं स्थानादास्वादात्कटु तिक्तकम्॥
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यस्याद्वर्षं शत[१] स्थितम्।
दृष्ट स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्व ग्रहापहम्।
अपस्मार ग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः॥

—च० चि० अ० ६

अर्थात्–जो घृत १० साल पुराना हो उसमें तीव्र गंध आने लगती है और उसका रङ्ग भी लाख के समान लाल होजाता है। वह शीत वीर्य है। उसका नाम पुराण घृत है। १० वर्ष के पीछे घृत अति पुराना हो जाता है इसको "प्रपुराण घृत" कहते हैं यह त्रिदोष नाशक है। यह खासकर ग्रह दोषों को नष्ट करता है। इसे सेवन कराया जा सकता है। यह स्वाद में कटु तिक्त रस युक्त होता है। कान और नेत्रों के रोगों में हितकर तथा विषनाशक भी है। यह अत्यन्त पवित्र है।

बारह वर्ष का या सौ वर्ष का पुराना घृत तो,

[१] "यत्स्याद् द्वादश वार्षिकम्" ऐसा भी पाठ है।

ऐसा होता है कि उससे कोई रोग असाध्य नहीं. सभी पर उपयोग करने से उसकी असाध्यता को भी नष्ट कर देता है। उसके मर्दन से, नस्य से ग्रह दोषों को नष्ट करता ही है। यह विसर्प रोगनाशक भी है। अपस्मार, उन्माद तथा वायुरोगों में अमृत के समान प्रशस्त है।

जो रोगी उक्त उपचार से भी ठीक न हो तो निम्न अंजन व नस्य का प्रयोग अति अल्प मात्रा में करें—

शिरष के बीज, मुलेठी, हींग, लहसुन, तगर, बच, कूठ, इन्हें बकरी के मूत्र मे पीस कर वर्तिका बनालें। और बकरे या बकरी के मूत्र में घिस कर अल्प मात्रा में अंजन व नस्य दें।

सोंठ, मिरच, पीपल, हल्दी, बच, मंजीठ, हींग, सरसों, सिरस बीज इनकी भी वर्ति बकरी के मूत्र में बना कर उपयोग की जाती है।

चरकोक्त सिद्धार्थ अगद (च. चि. अ.६ सू. ७६-७८) का अनेक रूपों मे प्रयोग भी ग्रह बाधाजन्य पीड़ा को नष्ट करने के हेतु किया जा सकता है।

घुड़वच का कपड़छन चूर्ण ३ से ६ रत्ती की मात्रा में वार वार शहद से देते रहने से अपस्मारवत् आने वाले दौरे में हितकर प्रभावित हुआ है।

जिस बच्चे के दौरे के समय हाथ की मुट्ठियां बन्द हो जाती हों, हाथ पैर सुकड़े, आंख की पुतली ऊपर की ओर चढ़े कभी दांत मिच जांय, मुंह मे झाग हों, आक्षेप वार वार आते हों। उस समय भुना-सुहागा (चौकिया सुहागा फुलाया हुआ) २-२ रत्ती की मात्रायें—१-१ घंटे में, दौरा कम होने पर २ या ३ घंटे के अन्तर से देना चाहिए।

अनुपान-मधु।

उस समय प्याज के टुकड़े करके सुंघाना भी चाहिए। यदि कफ की भी वृद्धि हो तो सुहागे के साथ घुड़वच का चूर्ण भी मिला देना चाहिए। इससे वमन होकर सत्वर लाभ हो जाता है। आक्षेप दूर होकर नींद आजाती है। तत्पश्चात् मूलकारण की खोज कर उपयुक्त औषधि देनी चाहिए।

टेटनेस का सूचिवेध भी उपयोगी रहता है पर यह बहुत ही कीमती होता है।

बालापस्मारान्तक निजी योग—

भुना सुहागा ६ रत्ती, अभ्रक भस्म ५ रत्ती, सर्पगंधा चूर्ण ४ रत्ती, ऊदसलीब ३ रत्ती, कस्तूरी २ रत्ती, मुक्ता भस्म १ रत्ती, बच आध रत्ती सबको ब्राह्मी, जल नीम की पत्ती के रस मे, वायविडङ्ग के क्वाथ मे, जटामासी के क्वाथ मे १-१ भावना देकर पुनः घी क्वार के रस की भावना देकर सरसों बराबर गोली करे मात्रा १ से ४ गोली तक। मधु से या सारस्वतारिष्ट से या मृत संजीवनी सुरा से जैसा भी रोगी की तत्कालिक अवस्था हो उसीके अनुसार अनुपान देना चाहिए।

यह प्रयोग बालापस्मार मे हितकर प्रभावित हुआ है।

स्मृतिसागर रस—

बाल ग्रह की उत्पत्ति का हेतु उदर विकार हो तो उसे दूर कर पुनः शामक दवा देनी चाहिए। स्कन्ध ग्रह, पूतना, अहिपूतना, शीतपूतना आदि बालग्रहों मे दोष (वातादि) सहस्रार, सहस्रा-दावरण, सुषुम्ना और सुषुम्नाकंद मे होता है। इस विकार मे बेहोशी या तन्द्रा, हाथ पैर अशक्त, नेत्र मूंदे हुए से, आक्षेप आने पर सचेष्ट होना अन्यावस्था मे शून्य, ये लक्षण होने पर स्मृतिसागर रस का उपयोग किया जा सकता है।

यदि आक्षेप से कमर और मेरुदण्ड मे भयङ्कर पीड़ा, निद्रा तथा निद्रानाश, ज्वर १०२, १०३ डिग्री रहता हो, अहोरात्रि दौरे के झटके आते हों हाथ पैर शीतल, शरीर मे जड़ता झुनझुनाहट आदि कफ प्रधान लक्षण हो तो स्मृतिसागर के साथ सितोपलादि चूर्ण २ रत्ती की मात्रा मे मिलाकर तुलसी रस और मधु से दिन मे ४ वार देना चाहिए।

मणिक्यरसादि गुटिका—

यह आमाशय और आन्त्र मे सग्रहीत मल,



सेवन कराना चाहिये।

बालग्रह ग्रसित बच्चों को औषधि देने क विधान इसलिये है कि कितनी ही माताओं का दूध दूषित होता है उसी विकृत दूध को पीते रहने से बच्चे के उदर एवं आंतों मे वात संचय होता है। इसी प्रकार विकृत आहार (भोजनादि) से भी आंतो और उदर मे वात संचय होता है। इससे भी बाल-ग्रहों की भाति ही बार बार आक्षेप आते है। कई बार अन्य रोगों मे भी बालग्रहों के आक्षेप बालकों पर होते हैं। जैसे—

(१) दांत उगते समय।
(२) पेट में कृमि(कीड़े) पड़ जाने की दशा में।
(३) पेशाव से रुकावट होने के समय।
(४) कान पक जाने के समय।
(५) हड्डियां नरम [मृदु] हो जाने के दिनो मे।
(६) शीतला आदि माता निकलने के समय में।
(५) काली खांसी हो रही हो तो उन दिनों में।
(८) धनुर्वात या अपस्मार [मृगी] के पूर्वरूप में।

ऊपर लिखे रोगों मे ऊपर लिखी औषधियों का प्रयोग करने से वे रोग मिट जाते हैं और उन रोगों के मिट जाने से बालग्रह सदृश दोष भी नष्ट हो जाते हैं।

प्रत्येक वैद्य और चिकित्सक एवं गृहस्थ को बालग्रह दोषनाशक नीचे लिखे उपायो से काम लेकर बच्चों के प्राणों की रक्षा करनी चाहिये।

बाल ग्रह दोषनाशक धूप—

१—आक के फल [कच्ची केरी आम की तरह होते हैं], राई, खस, मनुष्य और बिल्ली के बाल और नीम के पत्ते सब अन्दाज से बराबर बराबर लेकर गाय के घी मे मिलाकर धूनी देने से बालग्रहों का दोष नष्ट हो जाता है। योगिनी, सुनंदना और पूतना के आक्रमण इस धूप से नष्ट हो जाते हैं।

इसका प्रयोग बचो के जन्म से लेकर तीन वर्ष की आयु होने तक करना चाहिये।

२—सांप की कांचली, गाय का सींग, लहसन, नीम के पत्ते, पुरुष के सिर के बाल और बिल्ली के बाल, कूट, गूगल, राई, हाथी दांत का बुरादा, सबको समान लेकर गाय के घी में मिलाकर धूप देने से मुखमण्डिका और बिड़ालिका के आक्षेप मिट जाते हैं। इस धूप का प्रयोग ४ और ५ वर्ष के बच्चों के लिये करना चाहिये।

३—कूट, गूगल, हाथी दांत, राई और गोघृत सम भाग लेकर धूप देने से पटू कादिका, कामिनी और कालिका के आक्षेप दूर होते है। उसका प्रयोग ६, ७ और ८ वर्ष की आयु के बच्चों के लिये करना चाहिये।

गाय का सींग, लहसन, सांप की कांचली, नीम के पत्ते, मनुष्य और बिल्ली के बाल, राई और गाय का घी बराबर बराबर लेकर धूनी दे। इससे मदना, रेवती, अद्भुता और सुदर्शना के आक्षेप दूर हो जाते है। इसका प्रयोग १ से १२ वर्ष तक की आयु के बालकों पर करना चाहिए।

धूनी देने की विधि यह है—

पहले बालक को कपड़ा विछाकर खाट पर सुलावें। फिर विना धुंये की आग लेकर उस पर धूप डाल कर खाट के नीचे रखे। पैरों से गले तक कपड़ा ओढ़ा दे, ऐसा करने से धूआं बालक के सारे शरीर से लगेगा। इसी तरह दिन मे २ या ३ बार ५-१० मिनट तक धूआं देते रहने से कीटाणु, विष प्रकोप एवं बालग्रह आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। बालग्रह के अलावा और भी धूनी देनी हो तो वह भी उपरोक्त विधि से ही देनी चाहिए। बहुत से लोग धूनी को केवल नाक में धूआं पहुंचने तक ही सीमित समझते हैं पर धूनी का धूआं सारे शरीर को लगना चाहिए।

अब यहां एक धूप ऐसी लिखते है जिससे सब प्रकार के बाल ग्रहों के दोष नष्ट होकर बालक स्वस्थ हो जाता है।

दशांग धूप—बच, हींग, बायबिड्ङ्ग, सैंधानमक, गज पीपल, पाठा, अतीस, सोंठ, काली मिर्च और पीपल इन दसों दवाओं को समभाग लेकर जौकुट कर के चूर्ण बनाले यानी कूट कर जौ के समान टुकड़े करले, मतलब यह है कि बिलकुल बारीक न करें। यह दशांग धूप कश्यप जी का कहा हुआ वाग्भट में लिखा है। इससे बहुत लाभ होता है।

अब एक पौराणिक मंत्र प्रयोग लिखते हैं जो कभी फेल नहीं होता है।

द्वापुर युग में कंस की भेजी हुई पूतना नामक राक्षसी ने गोकुल नगरी में माता यशोदा के लाड़ले श्री कृष्ण को पकड़ लिया था। वे तो साक्षात् भगवान थे उन्होंने उस राक्षसी को मार ही डाला किंतु उनकी महिमा को न जानकर व्रज की गोपियों ने बालक श्री कृष्ण को डरा हुआ समझ बालग्रह नाशक जो मन्त्र पढ़कर बाल रक्षा की वह बड़े ही काम की वस्तु है। गोपियों ने पूतना की छाती पर से बाल कृष्ण को उठा कर तुरन्त ही गो मूत्र से स्नान कराया और गाय की पूंछ को श्रीकृष्ण के शरीर पर कई बार फिराया। इसके बाद आचमन करके न्यास ध्यान के बाद नीचे लिखे मंत्रों का उच्चारण किया—

"अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः। हृत्केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुख मुरु क्रमं ईश्वरकम्॥ चक्र्यग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चात्त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहा जनश्च। कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्रस्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात्॥

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु। श्वेतद्वीप पतिश्चित्तं मनोयोगेश्वरोऽवतु॥ पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः। क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः॥ व्रजन्तमव्याद् वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः पतिः। भुञ्जानं यज्ञभुक्पातु सर्व ग्रह भयङ्करः॥ डाकिन्यो यातु धानाश्च कूष्माण्डायेऽर्भकग्रहाः। भूत प्रेत पिशाचश्च यक्ष रक्षो विनायकाः॥ कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः। उन्मादा ये ह्यपस्मारा देह प्राणेन्द्रिय द्रुहः॥ स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्ध बालग्रहाश्चये। सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नाम ग्रहण भीरवः॥"

उपरोक्त श्लोक श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के हैं। श्री कृष्ण के जन्मोत्सव के बाद ही पतना की कथा आती है। उसमें ५ वे अध्याय के श्लोक २२ से २९ तक बाल रक्षा के लिए अचूक है।

जब किसी बालक पर किसी बालग्रह का आक्रमण हो जाय तो आप तुरन्त ही गोपियों की तरह बालक को मन्त्रो से मंत्रित कर दीजिये। सच तो यह है कि भगवन्नाम का पहरा लगा दीजिए अपने लाड़ले को भगवान की रक्षा में दे दीजिये, उसकी रक्षा का भार उसके सच्चे माता-पिता श्री कृष्ण को सौंप दीजिये। फिर देखिए अपने लाड़ले की किस ढङ्ग से रक्षा होती है। नजर-कुजर लगने की जरा भी शंका उठते ही तुरन्त यही उपचार कीजिये। बालक को गौमूत्र से स्नान कराकर उसके सारे अङ्ग पर गौ माता के चरणों की रज लगा दीजिये। यह रज साधारण नहीं हैं, देवता भी इस रज के लिये तरसते हैं। या तो गोरज लगाकर बालक पर ५ बार ७ बार ९, ११ अथवा २१ बार गोमाता की पूंछ सिर से लेकर पैरों तक फिरा दीजिए और ऊपर लिखे श्लोकों को पढ़ कर बालक पर हथ फेर कर फूंक मार दीजिये। उपरोक्त मन्त्रों को बोलते समय बच्चे को हाथ से स्पर्श करते रहें। संस्कृत समझ में आये तो श्लोकों में बताये हुए अङ्ग प्रत्यङ्ग पर हाथ लगाते जावे और यदि समझ में न आये तो कोई हर्ज नहीं आप बालक के शरीर पर हाथ लगाकर मंत्र पढ़ दीजिये। बस रक्षा ही नहीं सुरक्षा होगई। सभी ग्रह भगवान के नाम से डरते हैं। जितने भी ग्रह मातृका, देवता, राक्षस, यातुधान, डाकिनी, भूत प्रेत, चुड़ैल आदि हैं वे सबके सब भगवान के नाम से डरते हैं। इसलिये जब भी संकट आपडे भगवान् के नाम मन्त्रों से रक्षा कर लेनी चाहिए। यदि विश्वास हो तो बड़ी उम्र वाले भी भगवन्नाम से अधिकाधिक लाभ उठा सकते हैं।

—वैद्य श्री पं० नवनीतदास वैष्णव
घरोनिया (झालावाड)

प्राचीन-स्तोत्र

डा० जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य



प्रणम्य शिरसा शान्तं गणेशानन्तमीश्वम् ।
बालगृह स्तवं वक्ष्ये समस्ताभ्युदयप्रदम् ॥१॥
तपसा यशसा दीप्ता वपुषा विक्रिमेण च ।
निर्दिष्यैयः सदा स्कन्ध सनोदेव प्रसीदतु ॥२॥
रक्तमाल्याम्बर धरौ रक्तगन्धानुलेपनः ।
रक्तादित्यो ज्वलः शान्तः सनोदेव प्रसीदतु ॥३॥
यो नन्दना पशुपते मात्रेणां पावकस्य चः ।
गंगोमा कृतिकानाम् च सनो देव प्रसीदतु ॥४॥
देव सेना परिवृतो देव सेना नार्चितः सदा ।
देवा सेना पतिः श्रीमान् सनो देव प्रसीदतु ॥५॥
शक्तिः शक्तिधरा धरा पूरः कुमार शिखिवाहनः ।
सुरा रिह महासेनः सनो देव प्रसीदतु ॥६॥
प्रकृत्या सुन्दरो दान्तो देवैश्वर्यो दयान्वितः ।
नाना विनोद सम्पन्नः सनो देव प्रसीदतु ॥७॥
प्रबोधा सुप्रबोधा च बोधना सुप्रबोधना ।
प्रवुद्धा च प्रबोधा च सुप्रीता सुमनास्तथा ॥ ८ ॥
मनोन्मीति विख्याता योगिन्य पातु बालकम् ।
सुव्रता रुक्मिणी चैव मंद वेगा विभीषणः ॥ ९ ॥
विद्य त जिह्वा महाप्रभा शतानंदा तथा परा ।
बलया पुमता चैति योगिन्य पातु बालकं ॥ १० ॥
हरिणी चाक्षवारही वानरी क्रोष्टुकी तथा ।
कुवैरी कोटराक्षी च कुंभकर्णा च चण्डिनी ॥११॥
बलाद्धिकारिणी चेति रोगिन्य पान्तु बालकम् ।
शुद्धाविशुद्धा श्रद्धा च योगि सिद्धामितंर्वदा ॥१२॥
सुभगा शुभदा गौरी बलाविकरिणीति च ।
नाना विज्ञान विख्याता योगिन्य पान्तुबालकम् ॥१३॥
लम्बा प्रलम्बा च तथा लम्बकर्ण च लम्बिका ।
ज्वाला करालि कालिन्दी कालिकैति यथोदिताः ॥१४॥
स्वच्छन्दाचार सम्पन्ना योगिन्या पान्तु बालकम् ।
प्रणीता सुप्रणीता च मालिनी विश्वमालिनी ॥१५॥
विमला कमला माली लोला रौह च विश्वदा ।
विचरन्त्यो यथा काम योगिन्य पान्तु बालकम् ॥१६॥
महावेगा सुवेगा वेगी वाहिनी ।
शशिनी हंसिनी रिष्टीपुष्टि पौष्टिकसिद्धिया ॥१७॥
दिव्यानुभाव वाहिन्य योगिन्या पान्तु बालकम् ।
भ्रामिणी भामिनी नित्याविभिन्ना सुभगागुहा ॥१८॥
क्लेदिनी द्राविणी वामा योगिन्या पान्तु बालकम् ।
रुद्र शक्ति विनिष्क्रान्त' मेकाशितिक्रमोदितम् ॥१९॥
योगिनी वृन्दमेतादि सिद्ध विद्याधरार्चितम् ।
स्कन्द गृहादिदेवं तद् बालकं पातु सर्वदा ॥२०॥
शंकुनी रेवती देवी शिखा च मुख मण्डिका ।
प्रलम्वा पूतनाख्या च कटिपूतनिका पुनः ॥२१॥
विजया गोमुखी धूम्रा मुण्डमाला तथा परा ।
अधोलम्वा च पद्मा च कुमुदा व्यथचाम्बिका ॥२२॥
भामिनी चैव काली च देवी प्रेत मुखी तथा ।
ऐन्द्री मार्जारिकाः भूयः करुणी च शुभा कृषा ॥२३॥
काल रात्रिश्च माया च लोहिता पिलिपीचिका ।
भीतारिणी चक्रवादा भीषणा दुर्जया परा ॥२४॥
तापनी कट कोली च मुक्त केशी महाबला ।
अहंकारी जय तद्वज मेषाभिदरिडका ॥२५॥
रोदनी मुकुटाभिख्या ललाटा पिङ्गला तथा ।
शीतला बालिनी चैव तापसी पाप राक्षसी ॥२६॥
मानसा धनदादेवी बलानावर्तिनी तथा ।
यमुना जातवेदा च मानिनी कल हंसनी ॥२७॥
बालिका देव दूती च वासी यक्षिणी तथा ।
स्वच्छन्दा पालिका चैव वासिनी चाम्बिकेतिच ।२८।
पञ्चाशतु कुलोत्पन्ना चतुष्षष्टि समीरिता ।
योगिन्यो नित्य संतुष्टाः स्कन्दापस्मार देवता. ॥२९॥
नानारक्षाधिकारास्था बालकं पान्तु सर्वदा ।
महालक्ष्मीर्महानंगा महासेना महाबला ॥३०॥
महाकम्पा महाभीमा महातेजा महोत्सवा ।
महासेना महाचण्डा मोहिनी वीर नायिका ॥३१॥
एक वीरा विशालाक्षी सुकेशी सुमना तथा ।
सुकेशिनी च संतुष्टा दण्डिनी च बिलम्विनी ॥३२॥
भामिनी चाथ सौवर्णी सिंह वक्त्रा रङ्किनी ।
भ्रमरा चञ्चला चपला सिद्धिदा च तथा परा ॥३३॥

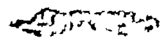
शातोदरीघृन्ति स्वाहा स्वधाख्या च सनासनी ।
शम्बरी च तथा देवी नीलग्रीवा तथाम्बिका ।।३४।।
वितिला गन्धिनी धामा क्रीडन्ति चैव वाहिनी ।
कर्पिणी मालती पुल्लाकाल कर्णीच चंडिका ।।३५।।
चित्रानना गुहो चेति पार्वती संगति गता ।
पञ्चाशन्नव सम्पन्ना: शकुनी दैवतप्रिय ।।३६।।
योगिन्य: काम रूपिण्यो वालकं पान्तु सर्वदा ।
विश्वन्तपा प्रभावज्ञा सर्वज्ञा सर्वगा गुहा ।।३७।।
दुर्गा सरस्वती ज्येष्टा श्रेष्टा पद्मा परापरा ।
प्रमदा रोहिणी सीता प्रह्वी प्रह्लादिनी विभा ।।३८।।
विभूतिर्विततिः प्रीति प्रकृति प्रमति यथा ।
एता भगवता सृष्टा योगिन्यो-योग सिद्धि दा ।।३६।।
पंचविंशति राख्या ता रेवती शक्ति गोचरा ।
जगदाप्यायनकरा वालकं पान्तु सर्वदा ।।४०।।
नन्दश्चैवोपनन्दश्च गोमति. सुमतिस्तथा ।
विद्वज्जिह्वो महाकाल: कुशलस्ति भिलोचन ।।४१।।
तेजो होड़ा विरुपाक्षो गोमुखो वड़वामुखः ।
कालावन: करालश्च शंकुकर्णो विभिषण ।।४२।।
एतेशंकुदनोत्पन्ना वीरा षोडश राक्षसा ।
पूतना देवताजुष्टा वालकं पान्तु सर्वदा ।।४३।।
वज्रिणी शक्तिनी चैव दण्डिनी खड्गिनी तथा ।
पाशिनी ध्वजिनी देवी गदिनी शुलनि परा ।।४४।।
पविनी चक्रिणी चेति सविकारा भयप्रदा ।
एतादिड निर्मिता देव्यो योगिन्यो देव कीर्तिता ।।४५
अधिभूत प्रधानाया पायान् सा शान्त पूतना ।
प्रसन्न मातर सर्वा बालकं पान्तु सर्वदा ।।४६।।
अर्यको जल को भूमा उग्र: स्कंदश्च कीर्तितः ।
वीरेशा पितृभि सृष्टा नैन मेपाधि देवता ।।४७।।
पंचशक्ति प्रधानास्ते वालकं पान्तु सर्वदा ।
आदित्या वसवो रुद्रा पितरो मरुतस्तथा ।।४८।।
मुनयोमनव काला ग्रह योगा सनातना ।
सिद्धा साध्याश्च गन्धर्व देव्याश्चाप्सरसावरा ।।४६।।
विद्याधरा महादैव्या वालकं पान्तु सर्वदा ।
सहृता योगजा चैव वीरजा मन्त्रजा तथा ।।५०।।
योगिन्यो योग वनिता नाना विभव गोचरा ।
भवानी नाम सन्तुष्टा वालकं पान्तु सर्वदा ।।५१।।
भूर्लोके च भूवलोके स्वर्लोके याश्च मातर ।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक च क्रीड़यन्तोऽनन्तमूर्तय ।।५२।।
प्रसन्ना योग सम्पन्नो दिवैश्वर्य समन्विता ।
स्वछन्द पद सम्भूतैर्भैरवैः पारिवारिता ।।५३।।
रक्षन्तु वालकं प्रीता: शान्तिर्नो पैतु चैतसः ।
दिव्य स्तोत्रं मिदं पुण्यं वाल रक्षाविकारकम् ।।५४।।
जपेत् संतान रक्षार्थं वाल द्रोहोपशान्तिदम् ।।५५।।

दिन में तीन वार पढ़कर वच्चे पर कुश से परिमार्जन करे, कुश से चारों तरफ जलधारा दें व साथ में लक्ष्मीनारायण रस आधी रत्ती उम्र अनुसार तुलसी पत्र रस पान के रस में या शहद मे तीन वार (दिन मे) देवे । हर साधना व औषधि धैर्यपूर्वक उपयोग में लेने से असाध्य से असाध्य रोगी भी ठीक हो जाते हैं ।

—डा० श्री जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य
बोलिया (मध्य प्रदेश)

बालकों के नजर लगना

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल आयुर्वेदाचार्य



जहां बच्चों के अनेक रोग व्याख्येय हैं वहां इस विषय की भी व्याख्या अत्यन्त आवश्यक है कि बच्चों के नजर लगना क्या व्याधि है ? यह व्याधि हमारे यहां बहुत समय से प्रचलित है और प्रायः सभी बड़े बूढ़े लोग इससे परिचित भी हैं। कुछ नवशिक्षित इस व्याधि को मानते ही नहीं हैं। उनकी दृष्टि में यह विशेष संदेहपूर्ण है कि बच्चों के नजर लगना कैसे संभावित है ? यह ठीक भी है कि जब तक किसी विषय के रहस्य को न समझ लिया जाय तब तक उसमें विश्वास नहीं होता। अतएव इस व्याधि का वैज्ञानिक रहस्य क्या है यह जानने योग्य है। इसको समझ लेने के पश्चात बच्चों को सावधानी के साथ इस व्याधि से सुरक्षित रक्खा जा सकता है।

नजर लगना क्या है ?

यह एकप्रकार का दृष्टि दोष है जो बच्चों पर घातक प्रभाव डालता है। विज्ञान बताता है कि प्राणियों में एक विद्युत शक्ति विद्यमान है जो अपना प्रभाव दूसरों पर डालकर आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाने में समर्थ है। यह विद्युत एक प्रकार का आत्म-तेज ही है जिसका आधार स्थल शरीर और मन है। यह विद्युत प्रवाह जब नेत्रों के माध्यम से प्रयुक्त होता है तो अनेक आश्चर्यजनक प्रभाव दृष्टिगत होते हैं। दृष्टि का माध्यम विद्युत शक्ति की महत्ता को दिखाने में महान शक्तिशाली सिद्ध हो चुका है। भेड़िये की दृष्टि से भेंट का निश्चेष्ट हो भाग सकने में असमर्थ हो जाना तथा बिल्ली के दृष्टिपात से कबूतर का अशक्त हो उड़ जाने की सामर्थ्य से रहित हो जाना उस विद्युतमयी दृष्टि शक्ति की ओर संकेत करता है। प्रभावशाली व्यक्ति की दृष्टि के सामने साधारण मनुष्य अवाक रह जाता है। अजगर की दृष्टि से शिकार का उसके समीप ही आ जाना सर्व-विदित है।

अनेक पौराणिक कथायें भी इसी बात को पुष्ट करती हैं कि नेत्रों की विद्युतमयी शक्ति ने अनेक आश्चर्यजनक चमत्कार कर दिखाये। महारानी दमयन्ती ने अपनी दृष्टिशक्ति से व्याध का हनन किया। महामुनि कपिल ने सगर के साठ सहस्र पुत्रों को केवल अपने एक दृष्टिपात से ही विध्वंस कर दिया। कवियों ने नेत्रों को बाण की उपमा इसी दृष्टिकोण को रख कर दी है। आज भी मेस्मरेजम द्वारा दिखायी गयी दृष्टिशक्ति सर्वमान्य है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में इस शक्ति का महान स्रोत है। मानवीय विद्युत के विषय में यह भी माननीय है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में यह उग्ररूप से किन्तु साधारणजनों में अल्प रूप से इस का अस्तित्व अवश्य रहता है।

शारीरिक विद्युत का वर्णन यहां अभीष्ट नहीं किन्तु मानसिक विद्युत की महानता ही यहां ज्ञातव्य मनोविचार मानसिक विद्युत की प्रबल तरङ्गें हैं। दूषित विचारों की विद्युत्तरङ्गें दूसरों पर दूषित प्रभाव और शुभ विचारों की तरङ्गें शुभ लाभप्रद प्रभाव डालती हैं। जिस प्रकार भौतिक जड़ विद्युत इतस्ततः उथल पुथल करने में समर्थ है। ठीक उसी प्रकार उससे कहीं अधिक यह चेतन विद्युत अपना चमत्कर दिखाने की सामर्थ्य रखती है। यही मनो-विद्युत् जब बच्चों पर दूषित मनोभावों के साथ पड़ कर अपना प्रभाव प्रकट करती है तभी यह कहा जाने लगता है कि नजर लग गयी। नजर लग जाना दूषित मनोविचारों के साथ मानसिक-विद्युत् का अहितकर प्रभाव पड़ना ही है।

नजर कैसे लगती है—

मनुष्य जब एकाग्र होकर अधिक ध्यानपूर्वक किसी की ओर दृष्टिपात करता है तो उसकी विशृंखलित विद्युत् का एकत्रीकरण होकर उसमें प्रभावोत्पादक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।



एकत्रित कर लेने की शक्ति होने के कारण उसका उपयोग इसी दृष्टिकोण से हुआ करता है। कहीं कहीं बच्चों को काले लोहे के कड़ों (आभूषणों) से भूषित कर नजर लगने से बचाते हैं। इन सब वस्तुओं के उपयोग से बच्चे उसी प्रकार नजर लगने से बचे रहते हैं जैसे महलों व मन्दिरों के ऊपर लगी हुई एक विशेष प्रकार की लोहे की छड़ से वे आकाशीय विद्युत के प्रबल प्रहार से सुरक्षित रहा करते हैं। तांबे का तावीज, नीलकंठ का पर और शेर का नख आदि धारण किये रहना भी इस व्याधि से बचे रहने के लिये सरल और सच्चे उपाय हैं।

चिकित्सा—

मानवीय मनोविद्युत् के प्रबल प्रहार से पीड़ित बच्चों की व्यथा को दूर करने के लिये चिकित्सा की शरण लेना सफलता की दृष्टि से एक सुगम साधन है। आयुर्वेद के अन्तर्गत कौमारतन्त्र में बच्चों की देखरेख में अथर्ववेदवित् ब्राह्मणों को प्रधानता दी गई है। यह लोग तन्त्र-मन्त्र विशेषज्ञ होने के कारण बच्चों की अनेक अभिचारों से रक्षा किया करते थे। भूत विद्या, ग्रह चिकित्सा, झाड़-फूंक आदि विषयों के पूर्ण मर्मज्ञ होते हुये बाल रक्षा में सदैव सिद्धहस्त थे। समय के परिवर्तन के साथ ही ऐसे सिद्धहस्त अथर्ववेदवित् ब्राह्मणों का अभाव हो गया किन्तु यत्रतत्र येन केनापिरूपेण वे अपनी प्राचीन परिपाटी को अपनाये हुये अब भी दृष्टिगत होते ही हैं। इनके कथनानुसार बच्चों की इस व्याधि में संमार्जन क्रिया [झाड़] और प्राणचिकित्सा [फूंक] विशेष सद्यः फलदायिनी सफल चिकित्सा हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा प्रेमी अपने को भारतीय कहते हुये अपनी भूतकालीन विभूतियों को भुला चुके हैं। वे आज इन कलाओं को रोग मानकर उपहास करते हैं। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि रोता हुआ बच्चा अपनी माता की गोद में जाते ही उसके अङ्ग स्पर्श से रोना दूर कर शान्ति अनुभव करता है। पीड़ित जगह पर माता के मुख की फूंक बच्चे को सुखी करने में सहायक होती है। थपकी देकर सुलाने से शिशु सुखपूर्वक शयन करने लगता है। यह सब प्राणों का ही तो प्रभाव है जिसके बल से इस प्रकार के आनंद की अनुभूति होती है। प्राणतत्व के द्वारा एक विशिष्ट प्रकार से चिकित्सा करने का नाम ही तो प्राण चिकित्सा है। इसमें ढोंग और उपहास की बात ही क्या है? सूक्ष्मतया ध्यान देने पर यह विदित होता है कि आयुर्वेद में भी अनेक स्थलों पर प्राण चिकित्सा की ओर संकेत किया गया है।

चूंकि नजर लगने से बच्चों की शारीरिक विद्युत [प्राणशक्ति] क्षीण हो जाती है अतएव प्राण चिकित्सा ही इस व्याधि की सर्वोत्तम सफल चिकित्सा है। चिकित्सक अपने प्राणमय श्वासोच्छ्वास से तथा विद्युन्मय सम्मार्जन क्रिया से व्याधियुक्त शिशु को शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ करा देता है। आजकल बिजली द्वारा अनेक कष्टसाध्य रोगों को दूर करते हुये प्रतिदिन देखा जाता है। यह भी चेतन शक्ति द्वारा की हुई एक विद्युच्चिकित्सा ही है जो अपनी आश्चर्यजनक शक्ति से तत्क्षण लाभ दिखाती है। किसी प्रचुर प्राणशक्ति युक्त पुरुष से प्राण चिकित्सा कराना, गोपुच्छ से समस्त शरीर का सम्मार्जन तथा काली बकरी का उष्ण दूध पिलाना नजर लगने में हितकारी सिद्ध हो चुका है। गौरोचन अपने माङ्गलिक एवं प्राणवर्धक प्रभाव से मात्रापूर्वक शहद या दूध के साथ प्रयोग करने पर पर्याप्त लाभकारी है। प्राण के अत्यन्त क्षीण होने पर जब बच्चे को श्वासकृच्छ्र हो, कफ का प्रकोप हो जाय तो ऐसी दशा में काली मृगशृङ्ग भस्म एवं प्राणबलवर्धनार्थ सुवर्ण भस्म का प्रयोग आयुर्वेदीय चिकित्सा की दृष्टि से उत्तम है।

—श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
मन्धना (कानपुर)

दन्तोद्भेद एवं तत्कालीन व्याधियां

वैद्य श्री त्रिलोकचन्द जैन ए. एम. एस. (का. हि. वि.)

मनुष्य मात्र के (३२) बत्तीस दन्त होते हैं। इन बत्तीस दन्तों को दो विभागों में विभक्त किया गया है—

(१) सकृज्जात (२) द्विज।

सकृज्जात—

सकृज्जात दन्त उन्हें कहा जाता है जो केवल एक बार निकलते हैं। तथा ये अपने स्वरूप में ही वृद्धि पाते हैं।

"काश्यप संहिता में" इनकी संख्या आठ बतलाई गई है। परन्तु इनमें प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर चार ज्ञान या बुद्धि दन्तों का भी समावेश कर लेना चाहिये। इस प्रकार इनकी संख्या द्वादश हो जाती है।

द्विज—

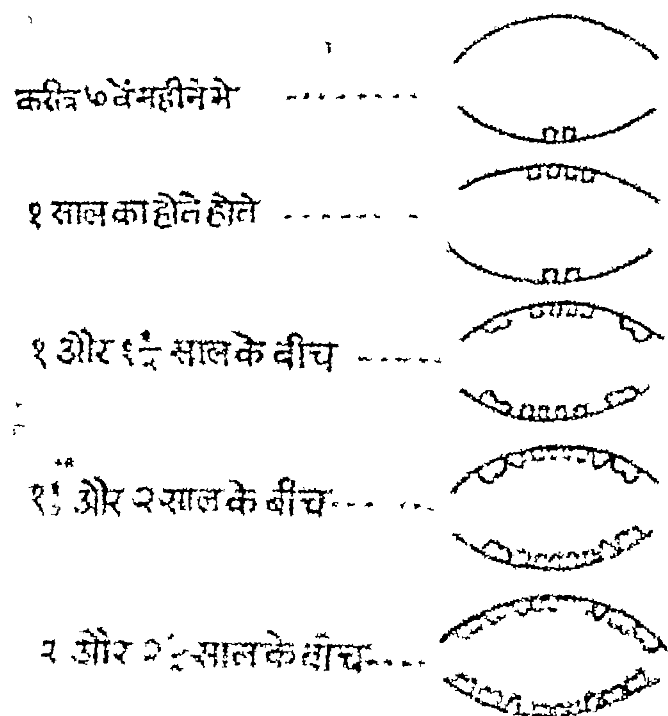
शेष बीस दान्तों को द्विज कहा जाता है। क्योंकि ये पुनः (दोबारा) उत्पन्न होते हैं। प्रथम बार ये बाल्यावस्था में उत्पन्न होते हैं, तब इनको दूध के दन्त अथवा प्राथमिक दन्त (*Milk Teeth or Primary Dentition*) कहा जाता है। ये दांत बालक उत्पन्न होने से कई मास पूर्व गर्भावस्था में ही दन्तमांस में बीज रूप में उपस्थित होते हैं। शनैः शनैः उनमें अस्थि निर्माण का कार्य आरंभ होता है और वृद्धि होती है। इस प्रकार दांतों का पूर्ण स्वरूप लेकर मसूड़ों का भेदन करके ये बाहर आ जाते हैं। दांतों की इस भेदन प्रक्रिया को दन्तोद्भेद (*Teething*) भी कहा जाता है।

दूध के दांतों के निकलने का क्रम –

इन दांतों के निकलने की आयु प्रायः निश्चित नहीं होती है। भिन्न भिन्न बालकों में भिन्न भिन्न आयु में दांत निकलते हैं। किसी किसी बालक के दूसरे मास में ही निकल आते हैं, जबकि कई बालकों के वर्ष भर तक दांत नहीं निकल पाते। बालकों की बीमारियों का भी असर कभी कभी उनके दांतों अथवा उनके दन्तोद्गम पर भी पड़ता है। स्वस्थ बालक के दांत निकलने का समय उनके परिवार के नियमों पर भी आधारित रहता है। एक परिवार में बच्चों के दांत शीघ्र निकलते हैं, जबकि दूसरे परिवार में दांत देर से निकलते हैं।

प्रायः सभी बालकों के दांत सातवें मास के आसपास ही निकलते हैं। परन्तु बालक तीसरे महीने से ही लालास्राव, कटकटाना, काटना, मुंह में कोई वस्तु रखकर उसे दबाना आदि आरम्भ कर देता है। तथा कुछ विह्वल सा प्रतीत होता है।

इन दांतों के निकलने का क्रम निम्न है—



चित्र नं० ३८

बच्चों के अस्थायी दांत निकलने का क्रम

(१) निचले मध्य के छेदक (*Lower central Incisers*) छ: से आठ मास तक।

(२) ऊपर के चारों छेदक (*Four upper Incisers*) आठ मास से १ साल तक।

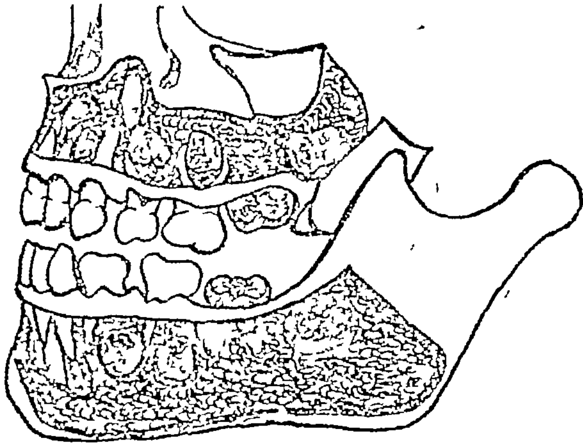


(३) निचले पार्श्व के त्रोटक (*Incisers*) तथा निचले और ऊपर के चर्वणक (प्रथम) (*Front molars*) १२ से १४ मास तक।

(४) निचले तथा ऊपर के कीलक (*Canines*) १८ से २० मास तक-इनमें भी ऊपर का कीलक प्रथम निकलता है।

(५) निचले तथा ऊपर के दूसरे चर्वणक(*Posterior molars*) २४ से ३० मास तक।

उपर्युक्त क्रम से स्पष्ट होगा कि एक बच्चे के दूध के सभी दांत प्रायः २॥ वर्ष की अवस्था तक निकल आते हैं। इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि इन वर्षों मे बालक का अधिकांश समय दांत निकलने मे ही बीतता है।



चित्र नं० ३६
६ वर्ष के बालक के दांत (बिन्दी रखे हुए दांत स्थायी हैं जो बाद में निकलेंगे।)

स्थायी दन्तो के निकलने का क्रम निम्न है—

(१) प्रथम पश्चात् चर्वणक या त्रिमूली (First-molars) ५ से ७ वर्ष औसतन ६ वर्ष।

(२) मध्य त्रोटक (Central incisers)—६½ से ८ वर्ष-औसत ७ वर्ष।

(३) पार्श्व के त्रोटक (Lateral inciser) ७ से ६ वर्ष-औसतन ८ वर्ष।

(४) प्रथम चर्वण या द्विमूली (First bicuspid) ६ से ११ वर्ष-औसतन १० वर्ष।

(५) द्वितीय चर्वण या द्विमूली (2nd bicuspid) १० से १२ वर्ष-औसतन ११ वर्ष।

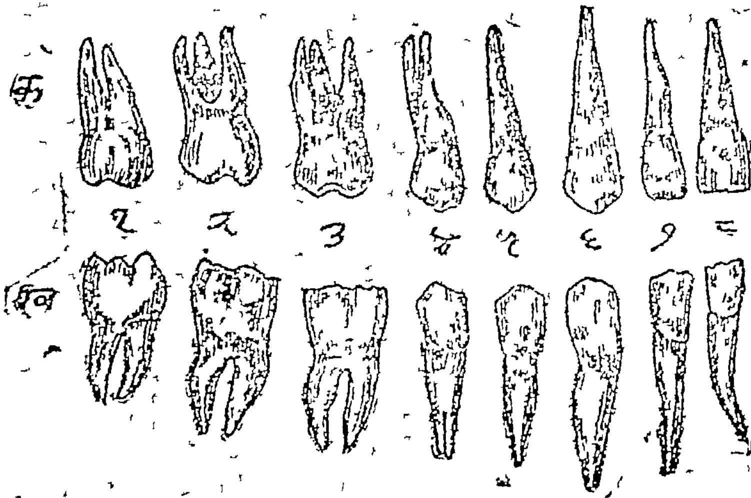
(६) कीलक(Canines)११ से १४ वर्ष-औसत १२ वर्ष।

(७) द्वितीय पश्चात् चर्वण या त्रिमूली (2 nd Molars) ११ से १४ वर्ष औसतन १२॥ वर्ष।

(८) तृतीय पश्चात् चर्वणक त्रिमूली या ज्ञान दन्त या डाढ़ (third Molars or Wisdom teeth) १६ से २१ या बाद में भी।

दूध के दान्तों के समान ही ये स्थायी दांत भी गर्भावस्था मे ही मसूढ़ो मे बीज रूप से स्थित होते है। अन्तर इतना है कि ये प्रथम की अपेक्षा अधिक गहराई पर अवस्थित होते हैं। ऋषि काश्यप के अनुसार बालिकाओ के दांत बालकों की तुलना में सुषिर एवं मृदु होते है। फलतः उनके दांत शीघ्र निकलते हैं और कष्ट भी कम होता है। बालकों के दांत अधिक घन तथा स्थिर होते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि दन्तोद्भेद की दशा में जबकि मसूढ़े फूलते है तो बालक को एक विशिष्ट प्रकार की फुलन का अनुभव होता है जिसके कारण वह किसी भी प्रकार की वस्तु को मुख मे रखकर कटकटाता है। वैसे भी बच्चों की यह आदत होती है कि सभी वस्तुओं को वे मुख मे रखकर चबाते या दबाते है। कितना भी उन्हे रोका जाय परन्तु वे नहीं रुकते और न वे रुक ही सकते हैं। वास्तविक दृष्टि से उन्हे रोकना भी नहीं चाहिए। क्योंकि इस विधि से मसूढ़ों का व्यायाम हो जाता है। तथा दन्तोद्भेद के समय जो फुलन होती है उसे भी शांति मिलती है। अतः अभिभावक को चाहिए कि वह स्वयं ही ऐसी चीजें डाल दें कि जिन्हें बालक अपने मुंह में लेकर आनन्द से चबाता रहे। वह चीजे इतनी मोटी न हों कि मुंह मे लगे और इन्हे मुंह मे लेकर यदि शिशु गिर भी जाय तो भी चोट न लगे। एतदर्थ आजकल टीदिनिंग रिङ्ग (Teethening ring) दांतों के



चित्र न० ४०
सम्पूर्ण स्थाई दांत एक ओर के

लिये चबाने की चूड़ी का बहुत प्रचलन है और सभी दृष्टियों से यह ठीक भी है। कई बच्चे चबाने के लिये कपड़ा बहुत पसन्द करते है। यदि वह गन्दा न हो तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अनेक बच्चे मसूढ़ों को रगड़ना अधिक पसन्द करते है। दन्तोद्‌भेद के समय सामान्यतया सुहागे की खील और मधु मिलाकर मसूढ़ों पर मलने से दांत सुखपूर्वक निकल आते है। ग्लिसरीन का भी प्रयोग किया जा सकता है। प्रथम योग पाचन में भी सहायक होता है।

दांतों की सुन्दरता असुन्दरता—

आचार्यों का कथन है कि दांतो के निषेक, स्वरूप ग्रहण, प्रकट होना, वृद्धि पतन, पुनर्भव, निवृत्ति, स्थिति परिश्रम, चलन, दृढ़ता, और दुर्बलता इन सबके लिए निम्न कारण है—

(१) जाति या कुल की विशेषता।
(२) निषेक उनकी बीजरूपावस्था।
(३) स्वभाव।
(४) माता पिता का अनुकरण (वंश परंपरा)।
(५) व्यक्ति के प्राक्तन कर्म (शुभाशुभ)।

यहां केवल उन कारणों की परिगणना की गई है जिन पर वैद्य का या मनुष्य का कोई भी नियन्त्रण न तो है और न हो सकता है।

यद्यपि दन्त वैज्ञानिक अभी तक दांत क्यों नष्ट होते है इसका पता नहीं लगा पाये है।

कतिपय ऐसे कारण है जो दांतो की वृद्धि स्थिति आदि पर निश्चित प्रभाव रखते हैं और जिनका वर्णन आयुर्वेद संहिता ग्रन्थो मे अन्यत्र मिलता है।

पोषण—

पूर्व मे कहा जा चुका है कि अस्थायी एवं स्थायी उभय प्रकार के दांत गर्भावस्था मे ही (बीज रूप) निषिक्त होते हैं तथा अपना स्वरूप बनाते हैं। इनका भी पोषण गर्भकाल मे माता जो आहार लेती है उससे होता है। अन्वेषणो से यह पता लगा है कि स्वस्थ एवं स्थिर दांतो की प्राप्ति के लिये भोजन मे निम्न अंश अवश्य होने चाहिये—

चूना (Calcium), प्रस्फुरक (Phosphorus), जीवतिक्ति डी. और जीवतिक्ती सी.। इनके अतिरिक्त जीवतिक्ति ए और बी की भी आवश्यकता होती है।

अत: गर्भावस्था मे माता के आहार मे ऐसे पदार्थ होने चाहिये जिनमे इन द्रव्यों की समुचित उपस्थिति हो। अन्यथा औषधि रूप मे इनकी पूर्ति होनी चाहिये। बाद मे जब शिशु एक मास का हो जाय तो विटामिन सी और डी की बूंदें दूध मे मिलाकर देनी चाहिये।

दांतो का शीघ्र पतन—

अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि दांतो के गिरने का मुख्य कारण दूध से उत्पन्न अम्ल (दुग्धाम्ल-Lactic acid) है। शर्करा और पिष्ट (Starch) पर रहने वाला एक विशिष्ट कीटाणु इसे पैदा करता है और जब ये द्रव्य दांतों के सम्पर्क में



आते है तो उनसे यह अम्ल बन जाता है। बालक जितना ही शर्करा एवं पिष्टमय पदार्थ का अति सेवन करेगा उतनी ही इस अम्ल के बनने की सम्भावना बढ़ेगी। यही कारण है कि अधिक मात्रा मे लेमनचूस, शक्कर की गोलियां, शर्बत और ऐसी मिठाइयों का सेवन जो दातो से चिपटी रहती है उनसे दांतों के खराब होने की अधिक संभावना होती है। वैज्ञानिक अन्वेषणों से यह भी पता चला है कि पानी मे एक फ्लोराइड नामक तत्व होता है जो दांतो की दृढ़ता के लिये परमावश्यक होता है। यह तत्व माता की अपरा से जब वह गर्भवती होती है तब गर्भ को मिलता है जो दन्तनिषेक काल और मूर्तकाल मे उपयोगी होता है।

यदि पानी मे फ्लोराइड नहीं होता तो डाक्टर आजकल दांतों पर उसका घोल चढ़ा देते हैं।

दन्त सम्पत्—

दांतों की पूर्णता, समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, निर्मलता, नीरोगता, नीचे के दातों से ऊपर के दांतों का कुछ अधिक उन्नत होना (जिससे नीचे के दात भलीभाति ढक पाये) तथा मसूढ़ों का समान लाल, स्निग्ध तथा बड़े घन एवं एव स्थिर मूल वाले होना, ये दांतों के गुण कहलाते है।

वर्तमान युग मे यदि दन्त पंक्ति ठीक नहीं होती और दांत इधर उधर असम बिना किसी क्रम के निकलने आरम्भ होते हैं तो डाक्टर विविध उपायो से दन्तपक्ति सम ही निकले इसका प्रयत्न करते है और सफल भी होते हैं। इसके अतिरिक्त दांतों की सफाई रखनी चाहिये। प्रत्येक प्रधान भोजन के उपरान्त दांतों को साफ करना चाहिये। वर्ष मे दो बार दांत के अच्छे डाक्टर को दात दिखलाने चाहिये।

दन्तोद्भेद के समय उत्पन्न होने वाले रोग—

> पृष्ठ भगे विडालानां बर्हिणां शिखरोद्गमे।
> दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किंचिन्न दूयते॥
>
> —सुश्रुत

अर्थात् विडालो के पृष्ठ भङ्ग मे, मोरों की शिखा के उद्गमकाल मे और बालकों के दन्तोद्भेद के काल मे ऐसा कोई भी अङ्ग अथवा अवयव नहीं होता जहां पीड़ा नहीं होती।

उपर्युक्त मत महर्षि सुश्रुत का है और सत्य है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि इस काल मे बालक परेशान और अस्वस्थ प्रतीत होता है। शरीर के किसी भी भाग मे किसी भी प्रकार की अस्वस्थता हो इसका अवसादक प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर तथा उसके अङ्गों पर पड़ता है। इस काल मे बालक की क्षमता, व्याधिनिरोधक शक्ति (Immunity) कम हो जाती है। फलतः अन्य रोगों का प्रभाव शीघ्र हो जाता है। तथापि बालकों मे अनेक भेद मिलते है। एक बालक ऐसा होता है जो दांत निकलने के तीन या चार मास तक सुस्त निर्बल हो जाता है और सारे परिवार को भी परेशान कर देता है। दूसरे ऐसे भी बच्चे होते हैं कि कब उनके दांत निकले इसका पता भी नहीं चलता।

आधुनिक काल मे भी दन्तवैज्ञानिकों का इस विषय मे मतैक्य नहीं है। एक समुदाय का कथन है कि दांतों के उद्गम के समय शिशु को निश्चित रूपेण बहुत से रोग सताते हैं। जबकि दूसरे समुदाय का कथन है कि दन्तोद्गम किसी भी अन्य रोग के लिये उत्तरदायी नहीं है। ये दोनों ही सिद्धान्त आत्यन्तिक स्वरूप के हैं। मेरे मत मे मध्यम मार्ग का ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

यद्यपि दन्तोद्भव भी एक प्राकृतिक घटना है और सामान्यतया बिना किसी विशिष्ट असुविधा के ही यह प्रक्रिया पूरी हो जानी चाहिये तथापि यह प्रत्यक्ष है कि प्राय. अधिकांश शिशुओं मे कुछ न कुछ विकृति अवश्य हो जाती है।

नाड़ी संस्थान पर भी इसका प्रभाव होता है। फलतः शिशु असहनशील, चिड़चिड़ा और रुदनशील हो जाता है तथा अस्वस्थ दिखाई देता है।

अत जो लोग यह मत प्रदर्शित करते हैं कि दन्तोद्भेद काल मे होने वाली व्याधियों की तनिक *आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं* ही दांत निकल आने



पर शान्त हो जाती है वह पूर्ण अत्युक्तियुक्त है।

मेरे मत मे यदि शिशु में अति साधारण प्रकार की व्याधि या अस्वस्थता हो जाय तब तो कोई बात नहीं, परन्तु यदि ज्वर कास अतिसार आदि सामान्य अवस्था से अधिक हो तो तुरन्त ही वैद्य को दिखलाकर उचित चिकित्सा करानी चाहिये।

दन्तोद्भेद के समय प्राय: निम्न रोग होते हैं–

(१) ज्वर—दन्तोद्भेदन के समय जबकि मसूढ़े बहुत फूले हों और दांत निकलने वाला हो, उस समय सामान्य ताप से यदि १ या १॥ अंश ताप अधिक हो तो चिकित्सा के लिये प्रतीक्षा की जा सकती है। इसमे अधिक ताप होने पर कारणानुसार उचित चिकित्सा करे।

(२) कास—दन्तोद्भेद कास का एक विप्रकृष्ट कारण माना जा सकता है प्रधान कारण के रूप में नहीं। इसकी चिकित्सा तुरन्त करनी चाहिये।

(३) अविपाक या अपचन—कई शिशुओं की चर्या जब नियमत नहीं रहती तो उनका पचन संस्थान भी भलीभांति कार्य नहीं कर पाता। फलत: जो भी वे लेते हैं (आहाररूपेण ग्रहण करते हैं) उसका ठीक पाचन नहीं होता। इसके लक्षण है—शिशु की बेचैनी, हाथ पैर फैंकना, दुर्गन्धित अपान वायु का त्याग, अधिक दूध मुख द्वारा उगलना। यही अवस्था आगे जाकर वमन तथा अतिसार का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

(४) वमन—अनेक शिशु ऐसे होते है कि यदि वे क्रुद्ध हों तो बड़ी सरलता से वमन या उल्टी कर देते हैं और इस प्रकार जब वे एक दो बार माता आदि की सहानुभूति पा लेते हैं तो इसकी उपयोगिता देखकर इसका अभ्यास कर लेते हैं। इसके लिये १-२ बार उपेक्षा कर देना ही चिकित्सा है। परन्तु बिना अभ्यास के या अन्य कारण से यदि उल्टी हैं तो उचित चिकित्सा करें।

(५) अतिसार—प्रारम्भ के १-२ वर्षों तक शिशु की आन्त्र अधिक संवेदनशील होती है। आहार-विहार विषयक परिवर्तन का अतिशीघ्र प्रभाव होता है। इस काल में आन्त्र पर केवल उन कीटाणुओं का ही असर नहीं होता जिनका बड़े लोगो की आन्त्र पर होता है। अपितु कुछ ऐसी सर्दी के कीटाणु अथवा ऐसे कीटाणु जो बड़े लोगों की आन्त्र पर कुछ भी प्रभाव नहीं करते इन पर तुरन्त प्रभाव करते हैं। इसीलिये शिशुओ एवं बच्चों की इन कीटाणुओं से रक्षा सर्वाधिक करनी पड़ती है। उनके दूध को सावधानी से जन्तुरहित करना पड़ता है। धीरे धीरे आहार क्रम बदलें और आहार में नवीन द्रव्यों की योजना शनैः शनैः विधिवत् करे।

बहुत से अतिसार साधारण होते है। दन्तोद्भव वेदनाजनित अतिसारों की संख्या ३-४ से अधिक नहीं होनी चाहिये। न उनकी राशि, गन्ध या वर्ण में कोई विशेष अन्तर आना चाहिये। परंतु यदि संख्या (अधिक हो), राशि (प्रभूत), गन्ध (दुर्गन्धित) एवं वर्ण (हरा-नीला) मे अन्तर आ जाये, अधिक पानी निकले रक्त या आंव (आम) आवे, साथ ही उल्टी हो, ज्वर हो, शिशु अवसन्न हो तो तुरन्त ही समुचित चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। जो व्यक्ति मानते हैं कि इस काल में अतिसार प्राकृतिक और लाभप्रद है उनकी यह धारणा उचित नहीं है। आवश्यकता से अधिक अतिसार सर्वदा हानिकारक है।

एतदतिरिक्त बच्चे का बार बार सिर पटकना, आक्षेप आना तथा कभी कभी नेत्र विकार सामान्यतया आभ्यन्तरवर्त्मप्रदाह (Conjunctivitis) भी उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—

इन अवस्थाओं की सामान्य चिकित्सा के सामान्य नियम वे ही हैं जो बड़ो में लागू होते हैं। किन्तु बालक के सुकुमार होने के कारण औषधियां मृदु होने अल्पमात्रा मे प्रयुक्त भी प्रभावकारी हों, स्वादु हों आदि बातों का विशेष ध्यान रखें।

—वैद्य श्री त्रिलोकचन्द्र जैन ए. एम. एस.
सह-प्राध्यापक स्नातकोत्तर शिक्षाकेन्द्र, जामनगर।

दन्तोत्पत्तिकारणम्

श्री बालकराम शुक्ल आयुर्वेदशास्त्राचार्य

बालकों की दन्तोत्पत्ति में अस्थिमज्जा का प्रधान भाग होता है। धातुओं की पच्यमानावस्था में ये दोनों काल क्रम से जब दन्ताशय (हन्वस्थिगर्तो) में निर्मित होती रहती हैं तथा ऊर्ध्व-भाग मे नीचे की तरफ, तथा अधो भाग में ऊपर की तरफ बढ़ने लगती है तब यह प्रतीत होने लगता है कि अब दन्तोत्पत्ति होने वाली है। और दन्तवेष्ट (मसूढ़ो) मे संघर्षण आरम्भ हो जाता है। इससे बालक को रोमाञ्च होने लगता है और वहां श्लेष्मा होने के कारण कण्डू, लालास्राव आदि होने लगता है। बच्चा मसूढ़ों मे पीड़ा होने के कारण माता के चूचक (स्तनाग्र भाग) को जोर से दबाता है। उस समय बच्चे को जो कुछ मिलता है मुख मे रख कर उसको दबाता है। यह मसूढ़ो की चमक, सूची भेदन के तुल्य पीड़ा जितनी बढ़ती है उतने ही दांत बाहर की तरफ निकलते है। और बालकों के दांत निकलते समय अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे बिल्ली के पृष्ठभग हो जाने पर और मोर की शिखा निकलने मे अनेक पीड़ाये उत्पन्न हो जाती है—

पृष्ठभृंगे विडालना वर्हिणाञ्चाशिखोद्गमे ।
दन्तोद्गमेचबालाना नहिकिञ्चिन्नदूयते ॥
—अ. हृ उ.

अर्थात्—दन्तोत्पत्ति सब रोगों का कारण है। प्रधान रूप से ज्वर, खांसी, शिरोवेदना, वा वमन, अतिसार आदि होते हैं।

एक पाश्चात्य वैज्ञानिक का मत है कि दांतों की उत्पत्ति से पीड़ा का कुछ सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दन्तोत्पत्ति एक स्वाभाविक कार्य है। यथा हस्तपादादि की उत्पत्ति वा, स्फूर्ति स्वाभाविक रूप से होती है। उसी भांति दांत भी आयु के आधार पर निकलते हैं। अर्थात् दन्तोत्पत्ति मे पीड़ा आनुषङ्गिक है। इसी भांति न्यूयार्क के प्रसिद्ध चिकित्सक डासन का मत है कि हमारी सम्मति में मनुष्यों की मिथ्या धारणाओं मे सबसे निर्मूल धारणा दन्तोत्पत्ति के समय दुःख होने के विषय में है। दांत निकलते समय पीड़ा होना किसी दृष्टि से स्वाभाविक या अनिवार्य नहीं समझा जाता है। पाश्चात्य देशीय चिकित्सकों ने इस विषय मे अच्छी तरह अनुभव करके यह परिणाम निकाला है कि दांत निकलते समय बच्चे को जो पीड़ा होती है वह बच्चो की अकाल मृत्यु का कारण नहीं है। उनके कथन से यह भी प्रगट होता है कि यदि हम प्रकृति के नियमानुसार चलें तो बालकों की उन सब रोगों से सहज ही रक्षा हो सकती है जो दांत निकलते समय उनको अधिकतर हो जाते हैं। अतः दन्तोत्पत्ति से रोग होने के भ्रम को त्याग कर बच्चे के उदर की शुद्धि रखना उनको स्वस्थ रखने का एक मात्र उपाय है। दांत निकलने के समय बच्चो को शुद्ध वायु का सेवन कराना परमावश्यक है अतः कर्मकाण्ड मे प्रायः इन्हीं दिनों मे बहिर्निष्क्रमण संस्कार का विधान लिखा है। उसका तात्पर्य यह है कि बच्चे को उन दिनों शुद्ध वायु का सेवन करावें।

दन्तोत्पत्ति समय —

नवजात शिशु के दोनो हनुओ के भीतर २० पतनशील दातो के शिखर विद्यमान रहते हैं। धीरे धीरे ये दात बढ़ते है और और छठे-सातवे मास में मसूढ़ों को छेद कर हनुओं से बाहर निकलते है। इनके बाहर निकलने को दन्तोद्भव काल कहते है। और लिखा हुआ है कि आठ मास के बाद वा आठवे मास मे दन्तोद्भव होने वाले बच्चे की दीर्घायु होती है। इससे कम समय मे दन्तोत्पत्ति होने वाले बच्चो की दीर्घायु नहीं होती है। अर्थात् चौथे मास मे जो दांत निकलते है वे दुर्बल, शीघ्र नष्ट होने

वाले तथा रोगाक्रान्त होते है और पांचवे मास मे जो दांत निकलते हैं उनमे स्पन्दन, और ग्रहर्षण अधिक होता है। और यह भी प्राय रुग्ण रहते हैं। और छठे मास वाले दांत मलग्राही विवर्ण और गणदन्त (Dental carries) होते है। और सातवे मास के दांत छिद्रियुक्त, टूटने वाले लकीरों वाले रूक्ष विषम और उन्नत देखे जाते हैं। परन्तु आठवें मास में निकलने वाले दांत सर्वगुण सम्पन्न देखे जाते हैं।

दंतसम्पद्—

(१) पूर्णता—दांत सम्पूर्णतया ऊपर आना चाहिए। कुछ दंतवेष्टों के अन्दर मांसवृत रहते हैं। प्रायः राजदन्त मांसावृत्त देखे जाते है। पूर्णरूप से दांत बत्तीस होने चाहिए कम संख्या के दृष्टि से न्यून होना दन्त-अ-संपद् है।

(२) समता—दात बराबर होना चाहिए, दांतों मे समता होने से ऊपर वाली और नीचे वाली दंत-पंक्ति वक्राकार रहती है। इससे मुख की सुन्दरता बढ़ती है।

(३) घनता—दांतों मे घनत्व होने से कठिन पदार्थों को चबाने मे सरलता रहती है।

(४) शुक्लता-मुक्तातुल्य श्वेत दात होने चाहिए।

(५) स्निग्धता—दांत स्निग्ध होने चाहिए।

(६) श्लक्ष्णता—दात चिकने होने चाहिए।

(७) निर्मल—निर्मल स्वच्छ दांत होने चाहिए।

(८) निरामयता—दांतों मे कोई रोग नहीं होना चाहिए। आरोग्य सम्पन्न दात इस कलि काल में अत्यल्प दृष्टिगोचर होते है। प्राचीन काल मे संसार मे भारतीय मनुष्यों की दन्त संपत् प्रसिद्ध है। आजकल के दांत प्रत्यक्ष ही हैं।

(९) उत्तरोन्नता किञ्चित्—कुछ कुछ दांत उत्तरोत्तर उठे हुए प्रतीत होते हैं।

(१०) दन्तबन्धनानां समता—मसूड़ों का सम स्थिति मे रहना दातों की रक्षा के लिए आवश्यक है। मसूढ़ों का विषम स्थिति में होना, दुर्बल होना हानिकारक है। मसूढ़ों की समस्थिति होना दातों की आरोग्यावस्था के लिए अत्यावश्यक है। मसूढ़ों की विषमता से शर्करा, कापालिका, दन्तकृमि आदि रोग हो जाते है।

(११) रक्तता—गुलाबी रंग दांत की सुन्दरता बनाता है।

(१२) बृहद्घन स्थिरमूलता—दांतों की मूल, स्थिर, घन (ठोस) होनी चाहिए।

यथोक्त काश्यप संहितायाम्—

पूर्णता—समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरामयता, किञ्चिदुत्तरोन्नता, दंतबन्धनानाञ्चसमता, रक्तता, स्निग्धता बृहद् घनोस्थिर मूलताचेति दंत सम्पदुच्यते।

दंत असंपद्—

विरलदंतता (दांतो का अलग-अलग रहना), हीन दंतना (कम दातो का होना), अधिक दन्तता (अधिक होना), कराल दंतता (दांत टेढे होना), विवर्ण दंतता (विकृत वर्ण वाले होना), स्फुटित दंतता (स्फुटित होता) ये अमंगलकारी दांत होते है।

दन्त सम्पत् का कारण—

जिनके दन्तोदूखलो मे स्वभाव से ही गर्भ में ही रक्त का विपेचन हो चुका होता है उनमें उत्पन्न दंत क्रम से पंक्तिबद्धसम्पद् युक्त होते हैं।

चतुर्विध दन्तजन्मविवर्णनम्—

चार प्रकार के दांतों का जन्म होता है।

(१) सामुद्ग—यह दन्त जन्म विकृष्ट होता है। इसमें बराबर दात गिरते रहते है। इससे इनका क्षय होता रहता है।

(२) संवृत—यह दन्त जन्म कल्याणकारक नहीं होता है क्योंकि मलीन रहते हैं।

(३) विवृत—यह अनित्य, लालोपहत, असंघना, दंत होने से शीघ्र उन्हे विवर्ण करके बाधा के समीप पहुचा देता है।

(४) दन्त सम्पत्—यह ठीक है। क्योंकि इसमे



दंत पंक्तिबद्ध होते हैं।

दंत संख्या विवेचन-

मनुष्य की बाल्यावस्था मे २० दांत होते हैं और पूर्ण आयु मे ३२ दांत होते हैं। इनका स्थान तथा कार्य के अनुसार पृथक् पृथक् नामकरण संस्कार किया गया है—

(१) दुग्ध दन्त (*Milk Teeth*) या अस्थायी दन्त (*Temporary*)।

(२) स्थायी दन्त (*Permanent teeth*)।

दुग्ध दन्त वर्णनम्-

यह संख्या मे २० होते हैं। ऊपर नीचे के प्रत्येक हनु मे दस-दस और प्रत्येक अर्धहनु मे पांच-पांच दन्त होते है। जब बच्चा ६ से १० महीने का होता है तब दांत निकलने शुरू होते है। इन दांतों को दूध के दांत कहते हैं। प्रायः २॥ वर्ष मे दंत पूर्ण रूप मे निकल आते हैं। और प्रायः सबसे पहले अधोहनु के दो कर्तनक दांत निकलते है। फिर उर्ध्वहनु के कर्तनक निकलते हैं। इस भांति भिन्न-भिन्न प्रकर से ऊपर नीचे दांतों का उत्पत्ति क्रम चलता है। इसके बाद ६-७ वर्ष की उम्र के बाद ये गिरने लगते हैं। जो कि लगभग १२ वर्ष की आयु तक रहता है। और इनकी जगह दूसरे नये दांत निकल आते है। इन दूसरी बार के निकले दांतों को स्थायी दांत (*Permanent Teeth*) कहते हैं।

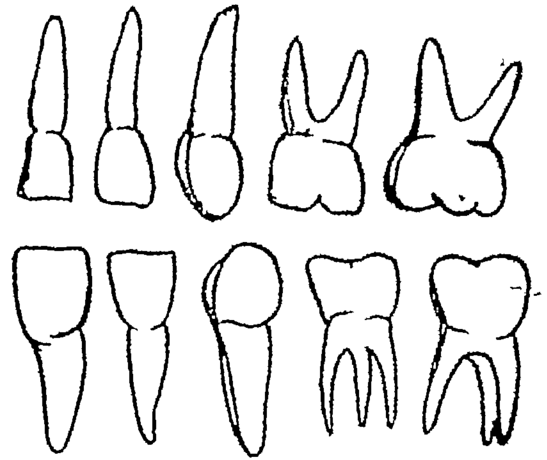
दंत विभेदाख्यानम-

दुग्ध दंतों को स्थान, तथा कार्य के अनुसार निम्न तीन भागो मे विभक्त करते हैं—

(१) कर्तनक (Incisars)—यह दांत भोजन के पदार्थों को काटने का काम करते हैं अतः इनको कर्तनक दंत कहते हैं। और दूसरों की अपेक्षा ऊपर के दांत कुछ बड़े दिखाई देते हैं। और सामने होते हैं अतः सन्मुख दंत कहते हैं। और मुख के सौंदर्य को बढ़ाते हैं। अतः राज दन्त भी कहते हैं। ये दांत पवित्र माने जाते हैं। इनके खंडित होजाने पर मनुष्य श्राद्धकर्म करने के योग्य नहीं रहता है वह अपवित्र हो जाता है। यह स्थायी दांत के लिए शास्त्र वचन हैं।

(तत्र मध्ये द्वावुत्तरौगजदंतः सञ्जीभवनः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्या ग्यण्डन् श्राद्धमर्हति। अपवित्रो हि सः। (का. सं.)

ऊपर नीचे के दोनों हनुओं मे इनकी कुल संख्या ८ होती है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में दक्षिण वाम में दो-दो होते है।



चित्र नं० ४०
बालक के अस्थाई दांत

(२) रदनक (Canines)—यह दन्त पदार्थों को विभिन्न भागों मे फाड़ने का काम करते हैं अतः इनको रदनक कहते हैं। ऊपर नीचे ये संख्या में चार होते है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में दक्षिण वाम तरफ एक एक होता है।

(३) पश्चिम चर्वणक (Molars) दांत का कार्य पदार्थ को चबाना है अतः इनको चर्वणक कहते है। इनको दाढ़ भी कहते हैं। ये प्रत्येक हनु के आधे भाग में दो-दो होते है। अर्थात् बल्यावस्था में ऊपर नीचे इनकी संख्या ८ होती है।

स्थायी दन्त विकास क्रम— सबमे पहले प्रायः निम्न हनु के कर्तनक दांत निकलने आरम्भ होते हैं। इसके बाद उर्ध्वहनु के कर्तनक आदि इस प्रकार उर्ध्वाध. समविषम उत्पत्ति क्रम चलता है।

पतनशील दन्तोद्भवकाल क्रम वर्णनम्-

(१) अधो कर्तनक—६ से ६ महीना तक।

(२) ऊर्ध्व के चारों कर्तनक—८ से १२ मास।

(३) नीचे के बाह्यकर्तनक। और अगले चार चर्वणक-१२-१४ मास।

(४) भेदक दन्त—१८-२४ मास तक

(५) पिछले चर्वणक—२४-३०

१ वर्ष की आयु के—बालक के ६ दांत होने चाहिए।

१॥ वर्ष शिशु के-१२ दांत होने चाहिए।

२ वर्ष के शिशु के १६ दांत होने चाहिए।

२॥ वर्ष के शिशु के दांत २० होने चाहिए।

दन्त विभाग रचना-

प्रत्येक दांत के ३ भाग होते है। (१) शिखर (Crown) (२) ग्रीवा (neck) (३) मूल (Root)

शिखर मसूढ़े के बाहरी भाग को कहते हैं। ग्रीवा मसूढ़े के अन्दर दबे हुये भाग को और मूल, ग्रीवा के नीचे के दांत के अन्तिम भाग को कहते हैं। जबड़े की हड्डी में बने हुए गढ़ों मे दांत जमें रहते हैं। इन गढ़ों को दन्तोदूखल (Alveoli) कहते है। प्रत्येक दांत के अन्दर एक खाली स्थान रहता है जिसमे रुधिर वाहिकायें, और नाड़ियां भरी रहती हैं। इसको दन्त गुहा (Pulp Cavity) कहते हैं।

दन्त गुहा को चारों ओर से घेरता हुआ दन्तसार डेन्टाइन (Dentin) नामक पदार्थ रहता है। जो दन्त का अधिक भाग बनाता है। मसूढ़े के ऊपर दांत का जितना हिस्सा बाहर निकला रहता है उतने हिस्से में डेनटाइन के ऊपर एक दूसरी कड़ी पर्त रहती है जिसे दन्त कवच इनेमल (Enamel) कहते हैं। इमनेल दांत को सफेदी प्रदान करता है। मसूढ़े के अन्दर के भाग में डेन्टाइन के ऊपर एक अस्थि की पर्त रहती है जिसे दन्त प्रस्तर-सीमेंट (Cement) कहते हैं।

संक्षिप्त स्थायि दन्त विवेचनम् —

स्थायी दांत अधिकतर ६-७ वर्ष की अवस्था में दुग्ध दन्तों के उखड़ने पर क्रमशः उनके ही स्थान पर निकलना शुरू होकर १८ से २५ वर्ष तक की आयु पूरे होते हैं। मनुष्य की आरोग्यता के अनुसार अधिकतर आजीवन स्थिर रहते हैं। भिन्न भिन्न दांतों का उत्पत्ति समय भिन्न भिन्न होता है। ये गिनती मे दुग्ध दन्तों की अपेक्षा १२ अधिक होते हैं। इन १२ दांतों का पुनर्जन्म भी नहीं होता है। इनकी उत्पत्ति प्रथम बार होती हैं। ये ३२ होते हैं। ऊपर नीचे प्रत्येक जबड़े में १६-१६ और प्रत्येक हनु के दक्षिण वाम अर्ध-अर्ध भाग मे आठ आठ होते हैं।

नाम, भेद के अनुसार स्थायी दांतों की गणना-

(१) कर्तनक—सबसे आगे मध्य रेखा के इधर उधर २-२ चौड़े दांत होते हैं। ये भोजन करने का काम करते हैं। अतः इनको कर्तनक या छेदक कहते हैं। चार छेदक दांतों मे से बीच के दो दो मध्य मध्य छेदक और इनके इधर उधर वाले बाह्य छेदक कहलाते हैं।

(२) रदनक दन्त—बाह्यछेदक दन्त से कर्ण की तरफ एक नुकीला दांत मिलता है। यह दांत मांस फाड़ने वाले जानवरों मे अधिक लम्बा और नुकीला होता है। यह दांत भोज्य पदार्थों को छेद करके अथवा फाड़ करके काम लाता है। मनुष्य अपना भोजन पकाकर खाता है। अतः उसको फाड़ने का काम कम करना पड़ता है। इसी कारण यह दांत भी छोटा होता है। इसको रदनक दन्त कहते हैं। इनकी कुल संख्या ४ होती है।

(३) अग्रचर्वणक (Bicuspids or Premolars)—ये प्रत्येक हनु के आधे आधे भाग में ऊपर नीचे दोनों ओर २-२ होते हैं। इनकी कुल संख्या ८ होती है। इनको छोटी दाढ़े भी कहते हैं। ये अपने से पहले दांतों की अपेक्षा कुछ छोटे और ऊपर का भाग चपटा होता है। ऊपर के चपटे भाग मे अधिकतर दो दो गढ़े तथा २-२ उभार से भी होते हैं। इनका कार्य भोज्य पदार्थों को चबाना होता है। अतः इनको अग्र चर्वणक



कहते है। इनका स्थान मुख में रदनक दांतो के पीछे कुछ अन्दर की तरफ चौथे और पांचवे नम्बर पर होता है। होठ खोलने पर ये साफ साफ दिखाई नहीं देते क्योंकि ये कपोलों से ढके रहते हैं।

(४) पश्चिम चर्वणक—अग्रचर्वणकों के पीछे तीन दाढ़े होती हैं। ये भी भोजन चबाने के काम आती है। ये सबसे मोटे दांत होते है। इनको पश्चिम चर्वणक कहते है। इनकी गिनती सामने से पीछे की ओर होती है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय। तृतीय पश्चिम चर्वणक को साधारण बोलचाल में बुद्धिदन्त (अकल दाढ़-Third molars या wisdom teeth) कहते हैं। इसका कारण यह है कि यह बड़ी आयु मे १८ से २५ वर्ष की आयु के बीच मे कभी कभी इससे भी अधिक आयु में निकलती है।

स्थायी दन्त निकलने के समय-

प्रथम पश्चिमचर्वणक	४=६ वर्ष
कर्तनक ,,	८=७-८ ,,
अग्रचर्वणक	८=६-१२ ,,
भेदक ,,	४=१२-१४ ,,
द्वितीय पश्चिम चर्वणक	४=१७-२५ ,,

विमर्श—दोनो हनुओं में दोनों प्रकार के दांत होते है—स्थायी और पतनशील। जब पतनशील दात गिर जाते हैं तो स्थायी दात उनकी जगह उग आगे आते है। अधोदन्त ऊर्ध्व दन्तों से पहले निकलते हैं। छ: वर्ष मे प्रत्येक हनु में २४ दन्त होते हैं दोनों मे ४८। इनमे से २० पतनशील होते है। और २८ स्थायी। स्थायी दात पतनशील के नीचे रहते है। यह मसूढ़ों से ढके रहते हैं। २५ वर्ष की आयु में प्रत्येक हनु मे १६ दांत होते हैं। दोनों मे ३२। जबकि बुद्धि दन्त २५ और ४० वर्ष के बीच में निकला करते हैं।

मनुष्य के ३२ दांतों मे से आठ एक बार ही उत्पन्न होते है। अत इनको स्वरूढ़ दन्त कहते है और शेष दन्त जो २४ होते हैं उनको द्विज कहते हैं। जितने महीनों में दांतों का निर्वचन होता है उतने ही दिनों मे उनकी उत्पत्ति होती है। ऐसे ही उत्पन्न हुये दात जितने मास में उत्पन्न होते हैं उतने वर्षों में उनका पतन होकर पुनरुद्भव होता है। इन दांतों के मध्य के दो को राजदन्त कहते है। ये दोनों दांत पवित्र माने जाते हैं। इनके खण्डन हो जाने पर मनुष्य श्राद्ध कर्म करने के योग्य नहीं रहता है। वह अपवित्र हो जाता है। इन दोनों के पार्श्व में वस्त्र संज्ञक (Lateral Incisers) दन्त होते हैं। उनके आगे दंष्ट्रा (Canines) होते हैं। शेष दन्त स्वरूढ़ दन्त कहलाते हैं। यह क्रम अधो दन्तों में है।

बालकों के दन्तोद्गमन में विलम्ब का कारण—

बच्चो की अपेक्षा कुमारियों में दन्तोत्पत्ति शीघ्र और अल्पबाधा युक्त होती है। क्योंकि उनमें सुषिरता (पोरोसिटी) अधिक होती है और उनके दातो का मृदु स्वभाव होता है।

बच्चों के दन्तोद्भव में अधिक समय लगता और अनेक बाधायें उत्पन्न होती हैं। क्योंकि उनके दांतो मे घनत्व (Density) विशेष होता है और उनका स्वभाव स्थिर होता है। दांतो की विशेष आकृति, उनका उद्भेद, दातो की वृद्धि, उनका पतन, पुनर्भव, निवृति, स्थिति, परिक्षय, चलन, पतन, दृढ़ता, दुर्बलता, प्रभृति उनकी जाति विशेषता, स्वभाव, माता-पिता का अनुकरण और स्वकर्म विशेष पर आश्रित होता है ऐसा महर्षि चरक कहते हैं। इसके सिवाय दात शरीर की वृद्धि ह्रास, गुण तथा दोष पर भी आश्रित होते है अर्थात् जब शरीर की वृद्धि होती है तब दन्त वृद्धि होती और शरीर के ह्रास के साथ दांतों का भी ह्रास होता है। ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

श्री कश्यप संहिता का सिद्धांत –

जब शिशुओं के चतुर्थादि मास में दांत



निकलते है तो दांतों मे अनेक विकार होते है। यथा—

सदन्त जन्म—अर्थात् कभी कभी शिशु दांतो से युक्त ही जन्म लेता है।

पूर्वमुत्तरन्तजन्म—किसी किसी शिशु के पहले ऊपर के दात निकलते हैं। ये दोनो ही अवस्था मे धर्मशास्त्र के अनुसार अमङ्गलकारक हैं। ऐसी अवस्था में शिशु के माता पिता को शास्त्रकर्म कराना चाहिये और द्विजाति के लिये सुवर्ण आदि दक्षिणा के साथ बालक का दान कर देंवे। फिर उसको मूल्य देकर शिशु को लेना चाहिये। और नैगमेष ग्रह की यथाविधि पूजा करे।

तृतीय विकृति-विरल दन्तजन्म, चतुर्थ-हीन-दन्तता च, पञ्चम-अधिक दन्तना च, षष्ठम-विवर्णदन्तता च, सप्तम-स्फुटितदन्तता च। ये दांतो की विकृतियां अमङ्गलकारिणी हैं। इनकी शक्ति के लिये मारुति इष्टि करावें और अन्तर्हिताग्नि से स्थालीपाक या प्रजापत्य का विधान करने के लिये अन्य आचार्य कहते हैं।

नोट—लेखक ने इसके बाद सम्पूर्णदन्त रोग, उनके लक्षण एवं चिकित्सादि का वर्णन किया था किन्तु वह विषयान्तर हो जाता, अतः यहां प्रकाशित नहीं किया। किसी आगामी अक में प्रकाशित करेंगे। —सम्पादक।

—श्री बालकराम शुक्ल आयुर्वेद शास्त्राचार्य
३७, स्टेशन मार्ग, हृषीकेश (देहरादून)

बच्चों के दांत और उनकी रक्षा

श्री सीताराम शिल्पकार

पृष्ठभगे विडालाना वर्हिणां च शिखोद्गमे।
दन्तोद्भवे च बालाना नहिकिंचिन्न दूयते॥

बिल्ली की पीठ पर चोट लगने के समय मोर, की चोटी उत्पन्न होने के समय तथा बच्चो के दन्तोद्गम के समय उनके नेत्र सिर आदि सर्वाङ्ग मे अत्यधिक पीडा होती है। वास्तव मे देखा जाय तो दांतों का निकलना शरीर का स्वाभाविक कर्म है। जब बच्चा मा का दूध पीता है तब उसे दातो की कोई आवश्यकता नहीं होती। गालों की सहायता से चूस कर पी लेता है किन्तु ज्यो ज्यो वह बढ़ता है तो उसे आवश्यकता होती है। बालक स्वाभाविक ही इधर उधर हाथ पैर फैला कर जो कुछ मिलता है उसीको मुख मे चबाने की चेष्टा करता है। इस अवस्था में दांतों का निकलना एक प्राकृतिक क्रिया है।

दांत निकलने से पहले लक्षण-मुख के अन्दर की गर्मी कम हो जाती है। लार अधिक बहती है मुख से खट्टी गन्ध आती है रात्रि मे हलका ज्वर, नींद ठीक ठीक नहीं आती, बच्चा नींद मे चमकता बार बार बार जाग उठता है, मसूढ़ो मे दाहयुक्त शोथ और खुजली के कारण दूध पीते समय स्तनों को मसूढ़ों मे दबाता है। प्रायः हरे पीले सफेद फटे दस्त होते है। दस्त दिन रात मे ८-१० बार या इससे भी ज्यादा होते है। कभी कभी साथ साथ उलटी भी होती हैं। सिर गर्म रहता है। दांत निकलने के कुछ सप्ताह पूर्व लार टपकने लगती है। आंखों मे पीड़ा, पलको मे रोहे तथा नेत्रस्राव, कर्णपीडा, त्वचा के विकार, विसर्प चट्टे आदि भी देखे जाते है। जुकाम होकर नाक बहने लगती है। छींके अधिक आतीं है। और खासी आती है।

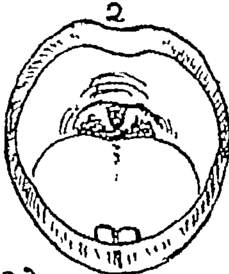
दूसरी अवस्था—मुख और मसूढो मे दाह की अधिकता होती है तथा मसूढो के ऊपर कुछ

कष्ट से निकलने वाले दूध के दाँत

चित्र मे एक बार उत्पन्न हुवा दाँत दुबारा बिन्दुदार चिन्ह से दर्शाया गया है

६ से ८वे मास तक

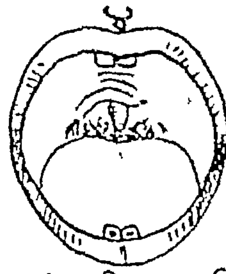
२



नीचे २ अगले कर्त्तनक

८ से १०वे मास तक

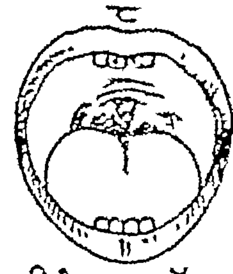
४



ऊपर के भी २ कर्त्तनक

१ वर्ष का होने तक

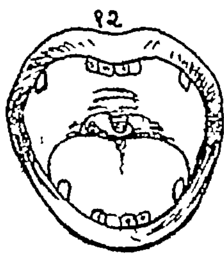
८



ऊपर नीचे २-२ दाँत और

१-१। वर्ष मे

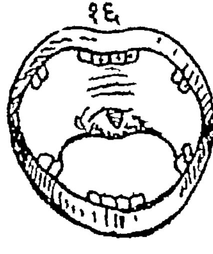
१२



ऊपर नीचे २ २ भेदक

१।-१।। वर्ष मे

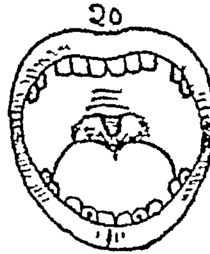
१६



२-२ भेदक और

१।।-२ वर्ष मे

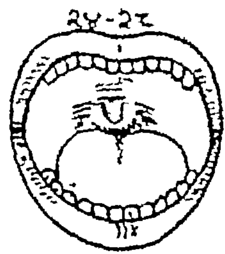
२०



बीच की खाली जगह

२-३ वर्ष तक

२४-२८

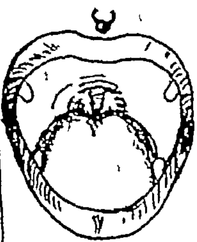


सब जगह भर गई

दूध के दाँतों के बाद आराम से निकलने वाले पक्के दाँत

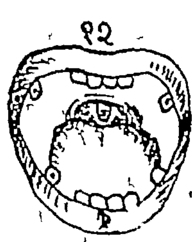
६-७ वर्ष मे

४



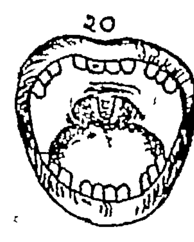
८-९ वें वर्ष मे

१२



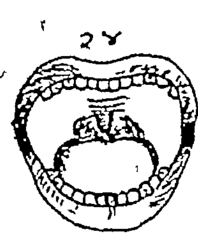
१० से १२ वर्ष मे

२०



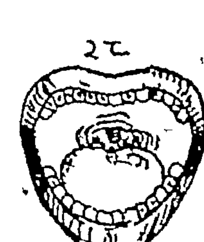
१२-१३ वर्ष मे

२४



११-१४ वर्ष मे

२८



इसके बाद २०-२१ वर्ष की आयु में ४ अक्कल डाढ निकलती हैं

चित्र नं० ४१

भिन्न-भिन्न आयु में निकलने वाले दांत

गुलाबी रंग का फूला हुआ सा दांग दिखलायी देता है। उसे दबाने से बड़ी वेदना होती है। अतः बच्चा इस अवस्था में किसी वस्तु को मुंह में स्पर्श होते ही वह रोने लगता है। चुपचाप माता की गोद में पड़े रहना चाहता है। बीच बीच में दूध पीने की कोशिश करता है किन्तु पीड़ा के मारे नहीं पीता।

दन्तोद्गम के समय उक्त लक्षणो को देख कर घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है कारण ये कष्ट-दायक लक्षण स्वाभाविक ही होते है। इनको रोकने के लिए विशेष तीव्र उपचार हानिप्रद होते हैं। दांतों के सम्पूर्णतया निकल आने पर ये कष्ट-दायक लक्षण स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। परन्तु दन्तोद्गम काल में बच्चे की दक्षतापूर्वक देखभाल की विशेष आवश्यकता होती है। कारण इसमें शक्ति विशेष क्षीण होने से थोड़ी सी भी असावधानी अन्यान्य साघातिक व्याधियों को उत्पन्न कर देती है। अत. इस अवस्था में दक्षता एवं पथ्यापथ्य को ध्यान में रखते हुये सौम्य उपचार करने से दांत सुगमता से निकल आते है और बच्चे को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

दक्षता—इस हालत मे माता का आहार विहार पथ्यपूर्वक होना आवश्यक है। जब तक बच्चा माता का दूध पीता हो तब तक माता को चाहिए कि वह गेहूँ की रोटी, मूंग की दाल, दूध आदि हलके शीघ्र पचने वाले पदार्थ, गुड़, तैल, खटाई, मिर्च आदि गरम पदार्थों से तथा मैथुन से परहेज रखे। एवं बालक को नियम से दूध पिलाये। यदि बालक अन्न आदि खाता हो तो उसे बहुत हलका सुपाच्य आहार देना चाहिए जो सहज मे ही पच जाय और दस्त साफ हो। मुरमुरों की खीर, साबूदाना, अंगूर, अनार, सेव आदि फलों का रस देना ठीक है। यदि आम का मौसम हो तो पके मीठे आमों का रस दूध मे मिलाकर देना लाभदायक है। किन्तु अधिक मात्रा मे नहीं देना चाहिए। एक से तीन चम्मच इस प्रकार दिन मे तीन या चार बार दे सकते है। कोई भी आहार अधिक मात्रा में नहीं देना चाहिए। मिठाई आदि गरिष्ठ पदार्थ देना तो जहर (विष) देने के समान है। कोई भी गर्म दवा या गर्मी पैदा करने वाले पदार्थ खाने या पीने को नहीं देने चाहिए। प्रायः दन्तोद्गम के समय बालको को दूध भी नहीं पचता। वे उल्टी कर दिया करते है। ऐसी हालत मे दूध में किञ्चित चूने का निर्मल पानी मिलाकर उसे थोड़ा थोडा पिलाना चाहिए।

दन्तोद्गम के समय मसूढ़ों में एक प्रकार की सनसनाहट या खुजली सी पैदा होती है जिसे मिटाने के लिए बालक मिट्टी, ढेला, कंकड़, आदि जो भी उसके हाथ लग जाता है उसीको तुरंत मुख मे डाल लेता है। मसूढ़ों मे दबाकर चबाने लगता है। यदि बालक की यह आदत आरम्भ मे ही छुड़ा दी जाय तो आगे चल कर उसे पाण्डु आदि भयंकर रोगों का सामना नहीं करना पड़ता। अतः दांत निकलने के समय बच्चो को मिट्टी आदि के खाने से बचाते रहना चाहिए जो बालक प्रतिदिन कई घण्टे तक बाहर की स्वच्छ वायु में रहता है या खुले हुए और स्वच्छ वायु के आने-जाने वाले कमरे मे रहता है तथा जिसको मात्रा से अधिक भोजन नहीं कराया जाता, उस बालक के दांत निकलते समय कोई कष्ट नहीं होता। शारीरिक अस्थियो की बनावट में चूना अत्यन्त आवश्यक है। चूने की कमी से दात एवं अन्यान्य शारीरिक हड्डिया परि-पुष्ट नहीं हो पातीं। इसीलिए वैज्ञानिक बच्चों के दुग्ध मे चूने का जल (Lime water) मिलाकर देने की योजना करते है तथा बच्चो की पुष्टि के लिए जितनी दवाइयां बनाई जाती है उनमें चूना प्रधान द्रव्य है। चूने के जल से बच्चो का हाज़मा अच्छा रहता है। जिगर ठीक काम करता है, रक्त मे शुद्धि होती है। इसलिए चूना बच्चो के दन्तोद्गम मे सहायक है।

उपचार विधि—

(१) उत्तम पत्थर का अमली बिना बुझा हुआ



चूना ५ तोले नवीन मिट्टी के पात्र में ३ पाव जल मे रात्रि के समय भिगो दे। प्रातःकाल ऊपर का नितरा हुआ स्वच्छ जल मोटे वस्त्र में छान लें। इसी जल मे १ सेर चीनी डालकर एक तार की चाशनी बना ले। फिर ठण्डा होने पर छानकर शीशी मे भर ले। यही उत्तम बालामृत शर्बत है।

मात्रा—१० बूंद से ३० बूंद तक प्रातः-सायं

गुण—दांत निकलने के समय कष्ट, दस्त, वमन, पेट फूलना, दूध का न पचना, खांसी, कफ, बुखार आदि सब विकार दूर हो जाते हैं।

(२) चूना बुझा १ तोला, जल १ सेर दोनों को एकत्र कर नीले रंग की शीशी में भर काग बन्द करके १२ घण्टे बाद एक बार हिलाकर जब जल नितर आवे तब धीरे से उस जल को मोटे वस्त्र में छान ले और यही निर्मल जल दूसरी नीली शीशी में भर कर रख ले।

मात्रा—१० से १५ बूंद चटावे।

दन्तोद्गमजन्य प्रमुख व्याधियां—

वमन—

(१) सुहागे की खील करके १ से ४ रत्ती माता के दूध मे मिलाकर दे।

(२) अर्क पोदीना, अर्क सौंफ, अर्क इलायची समभाग मिलाकर १ से १० बूंद तक दूध मे मिलाकर पिलाना चाहिये।

(३) प्रवाल और बंशलोचन को शहद या दूध के साथ देना चाहिये।

ज्वर—

(१) अतिविषा, काकड़ासिंगी, नागरमोथा सम-भाग महीन चूर्ण पीसकर।

मात्रा—१ से ३ रत्ती शहद या माता के दूध के साथ दिन में ३ बार दें। इससे वमन में भी लाभ होता है।

(२) सुदर्शन घन वटी माता के दूध में किंचित् ... दिन मे ३ बार दे।

...—

(१) जायफल, अतीस, अनार का छिलका, काकड़ासिंगी और जवाहर मोहरा समभाग महीन चूर्णकर। मात्रा—१ रत्ती से २ रत्ती तक शहद या दूध के साथ तीन बार दे।

(२) तुलसीपत्र का चूर्ण २ या ३ रत्ती शर्बत अनार के साथ दें।

कोष्ठबद्धता—

शुद्ध रेंडी का तैल १॥ माशे से २ माशे तक चटावें।

आध्मान—

शङ्ख वटी मूंग के बराबर माता के दूध के साथ दें। पेट पर रेंडी का पत्ता रेंडी का तैल चुपड़ गरम कर रक्खे और उस पर रूई गर्म कर रक्खे तथा कपड़ा बांध दें।

कास श्वास—

(१) मुलैठी का सत, छोटी हरड़ और सेंधा-नमक समभाग घोटकर मटर जैसी गोलियां बनालें। दिन में ३ बार माता के दूध के साथ या जल में घोलकर पिलायें।

(२) मुलैठी के सत, अतीस, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, पीपल (छोटी या बड़ी चाहे जैसी) इनका समभाग चूर्णकर।

मात्रा—१ रत्ती शहद के साथ दे।

सिरदर्द—

सोंठ और कपूर को घृत मे घोट कर मलहम बना बच्चे के सिर पर धीरे-धीरे मल कर लगाये।

नेत्रकष्ट—

गवती चाय की पत्ती छः रत्ती एक छटांक गर्म पानी मे डालकर रखदे। जब पानी मे रंग उतर आवे तब छान लें। उसमे फिटकरी का फूला दो रत्ती मिलाकर रखदे यह उत्तम नेत्र विन्दु है। इसकी १-१ बूंद डाली जाय।

पथ्यापथ्य—

दन्तोद्गम के समय बच्चों को कोई भी खटटी या मीठी चीज खाने के लिये न दी जाय। मुर-मुरों की खीर, साबूदाना, गेहूँ की रोटी का फूला हुआ भाग दूध के साथ देना चाहिये। छुआरे चबाने

के लिये लाभदायक है। गर्मी के दिनों में तो बच्चे सिर शीतल जल से कई बार धो दिया जाय तथा बच्चे के सिर पर बादाम तथा तिल्ली का तैल लगाया जाय और कानों में बादाम का तैल छोड़ देना चाहिये। माता को चाहिये यदि शिशु उसका दूध पीता हो तो परहेज़ से रहे। मिर्च, गुड़, तैल, खटाई, गर्म पदार्थ एवं मैथुन से दूर रहे।

—श्री सीताराम शिल्पकार
दबोह (भिण्ड)

●

दन्तोद्भेदः (जाड़ी-दांती)

श्री जगदीशप्रसाद शर्मा आयुर्वेदबृहस्पति

यह तो आपसे छिपा हुआ है ही नहीं कि बच्चों के दांत निकलते समय कितने ही भयंकर रोगों का प्रादुर्भाव होता है। इसी को लक्ष्य करके अष्टाङ्ग हृदय में कहा भी है—

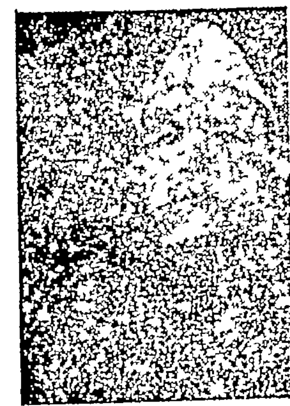
> दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्
> विशेषाज्ज्वर विड्भेद कासच्छर्दि शिरोरुजाम्॥
> अतिस्पन्दस्यपोथक्या विसर्पस्य च जायते॥

शास्त्रोक्त प्रमाण से शिशुओं के दांत निकलते समय उक्त कारण होते है इसलिये माता पिता को बच्चों के दांत निकलते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है। क्योंकि दन्तोद्भेद रोग यद्यपि सभी शिशुओं में न्यूनाधिक पाये जाते हैं। तथापि उन शिशुओं मे भयानक रूप धारण कर लेते हैं जो पहले से ही किसी रोग से आक्रान्त होते है। इसलिये माता-पिता को शिशु के आहार-विहार पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिये कि बालक दन्तोद्भेद से पूर्व किसी विशेष रोग से आक्रान्त न हो सके। शास्त्रों में यह भी लिखा है—

> दन्तोद्भवेषु रोगेषु न बालमति यन्त्रयेत्।
> स्वयमेवोप शाम्यति जातदन्तस्य यद्गदाः॥

तथापि इसीके भरोसे से कुछ भी उपचार न करना भी बुद्धिमता नहीं है। इसलिये शास्त्रकारों ने दन्तोद्भेदजन्य रोगों पर उपचार लिखे है।

> यथादोषं यथारोगं यथोद्रेक यथा शयम्।
> विभज्य देश कालादींस्तत्र योज्यं भिषगूजितम्॥



अतः बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिये कि उपरोक्त शास्त्रीय वचनानुसार दोषादि की कल्पना करके यथोचित उपचार करे। मेरे अनुभव मे निम्न उपचार अति लाभदायक हैं—

मीठा अतीस १ रत्ती, विड़ङ्गादि वटी ½ रत्ती (संजीवनी) मधु से दिन मे ३ बार हर ४ घंटे बाद सेवन करावे और बाद मे टंकणक्षार मधु से दांतों मे लगावे। यह शतप्रतिशत् लाभदायक सिद्ध हुआ प्रयोग है।

बालरोग हर गुटिका—

विधि—जयपाल, जावित्री, दालचीनी, लौंग, इलायची, अजमोद, सफेद मिर्च, वायविडङ्ग, सोया, काला नमक, चिरायता, हरड़, करंज के बीज, अतीस, अनार का छिलका, पीपलामूल, वंशलोचन, एलवा, हीराबोल, खस-खस, केशर—ये सब वस्तुयें समभाग लेकर बारीक चूर्ण कर



शहद से घुटाई करके मूंग प्रमाण गोली बना लेवें। पश्चात् मात्रानुपान १ से २ गोली तक दिन में दो बार, एक मास से ६ मास तक के शिशुओं के लिए माता के दूध के साथ देना। ६ मास से १ साल तक के शिशुओं को २ से ४ गोली तक देना।

उपयोग—शिशुओं के पतले दस्त, वमन, वायु, अजीर्ण, मन्दाग्नि, निर्बलता और कब्जियत आदि दोष दूर होकर दूध का भलीभांति पाचन होता है। यह गुटिका शरीर को मजबूत और निरोग बनाती है और शिशुओं के सर्वरोगों में अति लाभदायक होती है।

बालामृत—

वायविडङ्ग, अतीस, पीपल दूधिया, हरड़ एवं सनाय सब ३-३ माशा नागरमोंथा और सोंठ १।। माशा, समुद्र फल २ नग सबको जौकुट करके आधा सेर जल में औटाकर क्वाथ बनालें। आधा जल रहने पर छानकर २० तोला मिश्री मिलाकर चाशनी कर उतार लेवें। फिर चौकिये सुहागे का फूला ६ माशे और रूमस्तङ्गी ३ माशा बारीक पीसकर मिला दें। पश्चात् ४ रत्ती रतनज्योति का चूर्ण मिलाकर हिलावे।

मात्रा—३ मास के शिशुओं को १-१ माशा दिन में दो बार इससे अधिक उम्र वालों को बलानुसार देवे। यह योग परीक्षित है।

—श्री जगदीशप्रसाद शर्मा जोशी आयु० बृहस्पति
श्री ताराचंद्र धर्मार्थ औषधालय
महेन्द्रगढ़ (पंजाब)

बाल-दन्त रोग नाशक परीक्षित प्रयोग

वैद्या श्रीमती तारादेवी झा



(१) बालकों के गले में सम्हालू की जड़ रविवार के दिन बाध देने से दांत जल्द निकल आते हैं।

(२) बच्चों के गले मे एक काले धागे मे शीप में छिद्र कर बांधने से दांत आसानी से निकलते है।

(३) चौकिया सुहागे की खील को शहद मे मिलाकर शिशुओं के मसूढ़े पर मलने से दांत अति-शीघ्र निकल आते है।

(४) शीरष वृक्ष का पका हुआ फल एक धागे मे बाधकर शिशुओ के गले में लटकाये।

(५) शिशु के गले मे बिजली का लॅकेट लटकाने से बच्चा दन्त-पीड़ा से बचा रहता है।

(६) काली तुलसी के पत्तो का चूर्ण २-३ रत्ती अनार के रस के साथ दिन मे ३ बार पिलाने से शिशु के दात जल्द निकल आते है और दांत निकलने के समय के कष्ट का निवारण हो जाता है।

(७) सम्हालू के बीज को तावीज मे रखकर शिशु के गले मे बाधने से दात जल्द निकल आते है।

(८) आमलों के महीन (बारीक) चूर्ण को मधु मे मिश्रण कर शिशुओं के मसूढ़ो पर घिसने से दांत जल्द निकल आते है। परीक्षित है।

(९) धाय के पुष्प, पीपल और आमलों का स्वरस तीनों मे मिश्रणकर शिशुओं के मसूढ़ों पर घिसने से दांत शीघ्र निकल आते हैं।

(१०) मुलैठी के एक रस सुन्दर गांठ को छील कर एक धागे में बांधकर शिशुओं के गले में लटका दें। शिशु उसको सदा चूसता रहेगा। ऐसा करने से दात शीघ्र निकल आवेगा।

—वैद्या श्रीमती तारादेवी झा आयु. विशारद
संचालिका—तारादेवी महिला आयुर्वेदीय औषधालय
मथुरापुर (भागलपुर) बिहार

ज्वर
नीला वर्ण
पीछे हटना
मूर्छा
कीटाणु
गदा प्रसव घर
नाभिदाह
कृमि
सर्दी
कब्ज
स्पर्श दोष
नेत्र लाल
चौंध
सर्दी
कब्ज
बगलगद
अतिरोना
रोहे
श्वास
ज्वर
मूर्छा
पसली रोग
दस्त
सूखा रोग
लंघन
पथ्य
रेचक
धूनी
हाथ पैर
हड्डी टूटनी
रिकेट
अधिक घी
कम दौड़ धूप
दूषित दूध
इच्छा
कान फीके
श्वास कष्ट
पसली
तेज ज्वर
नेत्र लाल
शीतला
टीके का असर
विकृत जल
मिट्टी खाना
पेचिश
मंदाग्नि
कमजोरी
हरारत
पीला पन
स्थूल
पारद
मोथा
अतीस

बाल रोग :- कारण (पत्र) लक्षण (पुष्प) और उपाय (भ्रमर)

═══ बाल व्याधि विटप ═══

चित्र नं० ४२

शिशुओं का मलावरोध और आनाह

श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी वैद्या आयुर्वेदमणि



एक पुरानी कहावत है "बालानां रोदनं बलम्" बच्चों का रोना ही उनका सबसे बड़ा बल है। शिशु परमहंस होता है। अबोध होता है। वह अपने कष्टों को कह सकने मे असमर्थ होता है। जब उसे कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है, तो वह रो पड़ता है। अपने आंसुओं द्वारा ही वह अपने कष्टों की कहानी कहता है। चतुर मातायें तथा धात्री शिशु के रोने से ही उसके कष्टों का अनुमान करती है और उसे दूर करने का तुरन्त प्रयत्न करती हैं। जो मातायें आलस्य के कारण शिशुओं के रोने की उपेक्षा करती हैं, वे भारी भूल करती हैं और अपने सबसे बड़े कर्त्तव्य की अवहेलना करती हैं। कारण माता ही शिशुओं के जीवन का सबसे बड़ा आधार है, सहारा है। माता पर ही शिशु के लालन-पालन और सुरक्षा का भार है। बच्चो को जब कोई कष्ट होता है तो बोलने मे असमर्थ होने के कारण उस विशेष अङ्ग का स्पर्श करके ही अपने कष्ट की सूचना देते है। पेट मे कष्ट होने पर बालक बार बार पेट को छू कर रोता है। उसके इस संकेत द्वारा समझ लेना चाहिए कि शिशु के पेट में कष्ट है, पीड़ा है। यों तो शिशुओं के सभी रोग कष्टप्रद हैं। किन्तु उनमे पेट का रोग सबसे अधिक दुःख देने वाला होता है।

निदान—

माताओं के खान-पान, रहन-सहन और बर्ताव व्यवहार का बहुत अधिक प्रभाव शिशुओं पर पड़ता है। शिशुओं को एक निश्चित समय पर ही दूध पिलाना या कुछ खिलाना चाहिए। जो माता प्यार के कारण थोड़ी थोड़ी देर मे बच्चों को दूध पिलाती रहती हैं या कुछ न कुछ खिलाती रहती उनके बच्चों की पाचन शक्ति खराब हो जाती है। की समान और अपान वायु में विकार पैदा है। मल सूख जाता है। शौच साफ नहीं होता। शौच साफ न होने के कारण शिशु का पेट फूलने लगता है। उसके पेट और सिर मे दर्द पैदा हो जाता है। प्यास बढ़ जाती है। शरीर में भारीपन आ जाता है। शिशु को वमन होने लगता है। वह इन कष्टों के कारण कई बार रोते रोते बेहोश हो जाता है।

चिकित्सा—

यदि दूध पीने वाले शिशु का पेट फूलता है या वह दूध फेकता है तो सबसे पहले माता के आहार मे परिवर्तन करना चाहिए। माता के भोजन में दूध, फल, चावल, गेहूँ की रोटी तथा मूंग या तुअर (अरहर) आदि की दाल सुपाच्य एवं सात्विक भोजन की अत्यन्त आवश्यकता है। माता के सात्विक आहार-विहार का शिशु के स्वास्थ्य पर चमत्कारी प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त बच्चों के पेट फूलने, कब्ज, होने और दूध फेकने पर निम्नाङ्कित औषधियों का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है—

योग नं. १—बड़ी हरड का चूर्ण ३ माशा, बीज निकले हुए मुनक्का ६ माशा—जल के योग से दोनों चीजों को सिल पर बारीक पीस कर ५ तोला गाय का दूध और ५ तोला जल मे भलीभाति मन्द आच से पकाना। जब जल जाय और केवल दूध शेष रह जाय तो इसे कपड़े से छान लेना। २-२ घन्टो के बाद १ छोटे चम्मच से २ चम्मच तक अर्थात् ३ मासा तक इस दूध को पिलाने से बच्चे को शौच साफ होता है और पेट फूलना बन्द हो जाता है।

योग नं. २-छः माशा गुलकन्द को २ तोला गर्म जल में घोल कर छान लेना चाहिए। दो दो घन्टे के बाद ३ माशा से छः माशा तक इस औषधि को शिशु को पिलाने से शौच साफ होकर बच्चे का पेट फूलना या आनाह का कष्ट दूर हो जाता है।



योग नं.३—छोटी इलायची के दाने, भारंगी, सोंठ, घी में भूनी हुई हींग, सेंधानमक सब समान भाग १-१ तोला का बारीक चूर्ण खरल में डाल कर भली भांति घोटना और साफ शीशी में भर कर रख लेना चाहिए। १ रत्ती से २ रत्ती तक इस चूर्ण को छोटे चम्मच भर गुनगुने जल में घोल कर २-२ घन्टे बाद शिशु को पिलाने से शिशु का पेट फूलना पेट का दर्द तथा अपचन का कष्ट दूर होता है।

प्रयोग नं. ४—एक चावल भर भुनी हुई हींग को छोटे चम्मच भर गुनगुने पानी में घोल कर शिशु को प्रातः सायम् केवल दिन मे २ बार पिलाने से वायुविकार दूर होकर शिशु के पेट फूलने का कष्ट दूर होता है।

प्रयोग नं० ५—काकड़ासिंगी, केशर, बंशलोचन, नागकेशर, मुलहठी, जायफल-सब समान भाग १-१ तोला इन सब द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण खरल में डाल कर भलीभांति घोटना और साफ शीशी में भर कर रखना। १ रत्ती से २ रत्ती तक इस चूर्ण को माता के दूध या गोदुग्ध मे मिला कर पिलाने अथवा १ रत्ती से २ रत्ती तक शुद्ध शहद में मिलाकर चटाने से शिशु का अपचन मन्दाग्नि पेट का फूलना तथा पेट का दर्द आदि सभी प्रकार के उदर विकार दूर होते हैं।

—श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी वैद्या
मुरलीधरबाग, हैदराबाद (आ. प्र.)

●

पाचन सम्बन्धी विकारों की प्राकृतिक चिकित्सा

श्री लक्ष्मीनारायण "अलौकिक"

शरीर मे सबसे ज्यादा बीमारियां पाचन संस्थान के अथवा उसमे उपस्थित दोषों से होती है ऐसा सभी शरीर शास्त्रियों का मत है। शिशुओं के लिये तो इस ओर ध्यान देना और भी जरूरी इसलिये है कि उनका कोमल शरीर पाचन विकृति से उत्पन्न दोषों, जहरों को सहन करने मे अधिक समर्थ नहीं रहता है। अस्तु।

पाचन प्रणाली तीन भागों मे विभक्त होती है। (१) आमाशय, (२) छोटी आंत और (३) बड़ी आंत। इनमे होने वाले सामान्य रोगो का विवेचन प्रस्तुत लेख मे किया जा रहा है। साथ ही बच्चो के प्रति माता-पिता की अपेक्षा एवं जबरदस्ती भी कितनी अनावश्यक और नुकसानदायक है यह लिखने की आवश्यकता है।

भूख—

रोना ही बच्चे की भूख की सूचना है। शिशुओं की भूख की परवाह न करना उन्हें दुबले कमजोर और मरियल रखने के सिवाय दूसरे अर्थ का द्योतक प्रतीत नहीं होता। भूख से पीड़ित रहने वाले शिशु अपने स्वास्थ्य का संगठन कैसे कर सकते है? हमेशा अतृप्त रहने वाले बालकों का आमाशय सिकुड़ कर छोटा हो जाता है। बहुत सी मातायें शिशुओं को इस काल्पनिक भय से पेट भर दूध नहीं पिलातीं कि कहीं उसके स्वास्थ्य मे गड़बड़ी न हो जाय, यह उचित नहीं है। शिशु रोगो के विशेषज्ञ डाक्टर बेंजामेन स्पोक लिखते है कि वे अपनी मुट्ठियां मुह में देकर भोजन के समय से पहले ही जागकर अपनी भूख का एलान करते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि शिशुओं को भूख बहुत अधिक लगती है। इसलिये स्वस्थ शिशु को जब भी स्तनपान कराया जावे इन्कार नहीं करते देखे जाते। लेकिन वे पेट भर जाने पर लालच भी



नहीं करते ।

अतिरिक्त दूध की व्यवस्था—

माता के दूध से शिशु का गुजारा चलता न दीखे तो उसे अतिरिक्त दूध पिलाना जरूरी है। बहुत सी माताओं को तो वैसे ही कम दूध होता है जो निरन्तर बढ़ते शिशु के लिये अपर्याप्त होता है। ऐसी स्थिति में शिशु को मा के दूध पर ही निर्भर रखना उसके स्वास्थ्य और पेट की यन्त्रणा के पक्ष में अन्याय होगा।

अतिरिक्त दूध की व्यवस्था करते समय यह ध्यान अवश्य रखना चहिये कि दूध भारी न हो तथा कीटाणुओं से रहित हो। दूध में लगभग आधा या एक चौथाई पानी अवश्य मिलाना चाहिये। ऐसा करने से दूध आसानी से पचने योग्य हो जाता है। दूध दुहे अधिक समय हो गया है या वह किसी दूध वाले से खरीदा है तो निश्चय ही उसमें कई सूक्ष्म कीटाणु उत्पन्न या सम्मिलित हो गये होंगे ऐसा जानकर उसे गर्म करके ठण्डा होने पर उपयोग में लाना लाभदायक रहता है।

दूध गाय का ही उत्तम रहता है। इससे उतर कर भैंस का और पश्चात् बकरी का समझना चाहिये। पाउडर का दूध जीवन सत्वों से रहित होने के कारण मृतवत है। किंतु गुजारा ही निकालना ही और बात है। गन्दगी से अधिकांश पेट भर लेने वाले चौपायों का तथा बीमार पशुओं का दूध दूध अवश्य है किंतु वह स्वप्न में भी आरोग्यदायक नहीं हो सकता।

कितना दूध ?—

बहुत से माता-पिता इस उलझन में रहते हैं कि स्तनपान के अलावा पेट खाली रहने पर कितना दूध कितनी बार पिलाना आवश्यक है। इस विषय में बेंजामेन स्पोक का कथन स्मरणीय है। शिशु ... खुराक जानता है। वह आवश्यक मात्रा में ...कर स्तन से या शीशी से स्वयं ही मुंह ... कर लेता है और जब उसे भूख लगेगी तभी दूध पीने को लालायित होगा। भूखा या तृप्त शिशु स्तन से दूध न मिलने पर भी गोद में चिल्लाता नहीं होता, चाहता तथा दूसरी के अन्न पाने की चेष्टा भी करता है। यदि वह शीशी का दूध पीता है तो खुराक कम होने पर बोतल को १-२ बूंद निचोड़ लेगा और अधिक पाने की आशा लगायेगा। जो शिशु भूखे रहने पर भी शीशी से दूध पीना पसंद नहीं करते न कटोरी से ही। ऐसे शिशुओं को आरंभ से ही जबरदस्ती दूध पिलाने की आदत डालने का यत्न करना चाहिये।

अजीर्ण—

दूध पीने के कुछ समय पश्चात् भी बहुत से शिशु दूध उगल देते हैं। यह खट्टा होता है तथा कुछ अंशों में पिच्छिलता लिए होता है। यह सामान्य अजीर्ण का प्रतीक है। बल्कि होता यह है कि शिशु के आमाशय की चहार-दीवारी में कुछ विजातीय तत्व मौजूद रहते हैं जो दूध को दूषित कर उसमें शामिल होकर बाहर आने का प्रयत्न प्रकृति की सहायता से करते हैं। धीरे धीरे यह क्रम स्वयं ही समाप्त हो जाता है अतः चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिये। लेकिन बहुत सी हालत में बार बार और अधिक दूध पिलाने से भी अजीर्ण होता है। आमाशय का यह नियम है कि वह एक समय में प्राप्त पूरे खाद्य को एक साथ पचाता है। यदि पूर्ण ग्रहण किया खाद्य पहुंचा दिया जाय और निरन्तर ऐसा किया जाय तो आमाशय में दोष आना स्वाभाविक है। अजीर्ण का कारण नियमित दूध पान कराने का नहीं है तो औषधादि की आवश्यकता महसूस नहीं करनी चाहिये। मेदस्वी शिशुओं का यह नियम होता है कि वह जितना दूध पचा सकते है उतना उनका आमाशय धारण किये रहता है। शेष को उगल देता है। बहुत से शिशु सारा का सारा दूध उगल देते हैं। फिर भी स्वस्थ रहते हैं यह रहस्य की बात है।

खाद्य सामग्री में प्रोटीन की बहुलता से भी अजीर्ण होता है। ऐसे अजीर्ण में प्रोटीनों की मात्रा

एकदम कम करके फल निम्बूरस सब्जियों का जल देना चाहिये। शरीर में प्रोटीनों को पचाने के लिए पर्याप्त विटामिन धातव लवण मौजूद हो जायेंगे तो अजीर्ण स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। तुलसी के पत्तों का स्वरस शिशुओं में अजीर्ण की चमत्कृत औषधि है। बहुत सी अज्ञ मातायें शिशुओं को पानी नहीं पिलाती या कम मात्रा में पिलाती हैं। अजीर्ण का यह सबसे वजनदार कारण हो सकता है।

पुराना अजीर्ण—

आखों पर पट्टी बांधने से ही अजीर्ण पुराना होता है। पुराना अजीर्ण शिशु की विकास परम्परा में घुन माना जाता है। ऐसी अवस्था में वह क्षय का अनिमान है।

पुराने अजीर्ण में उल्टी व दस्त दोनों या दोनों में से एक होते हैं। मल पतला और दुर्गन्धित होता है तथा दिन में कई बार। मल में आव, अनपच, खाद्य एवं हरे पीले छिलके निकलते हैं। पेट में दर्द रहता है, नींद कम आती है, नींद में चौंकता है। रक्त की कै होने की संभावना भी पायी जाती है। ऋतु और प्रवृति भेद से इस रोग के विभिन्न मिले जुले लक्षण पाये जाते हैं।

अजीर्ण पुराना हो चला है तो तुरन्त ही संभल जाइये। चूंकि और देर करनी शिशु के जीवन को खतरे में डालने से जरा भी कम नहीं है। आप देखें कि यदि अजीर्ण ग्रस्त शिशु के खाद्य में भैंस का दूध, अनाज व दालें प्रधान हैं तो समझें उसके अजीर्ण को चिरस्थायी रखने वाली यही चीजें हैं। अंकुरित गेहूँ और अंकुरित मूंगों की खीचड़ी हल की सुपाच्य होने के साथ क्षार और विटामिनों की पूर्ति करती है। गेहूँ का अंकुराने का सरल तरीका यह है कि पहले २० घण्टे जल में भिगो रखें बाद में २० घण्टे गीले वस्त्र में खुली हवा में बांध रखें। मूंगों के लिये १२-१२ घण्टे का समय पर्याप्त होता है।

भोजन की मात्रा कम करके छाछ खट्टे फल यथा निम्बू, नारंगी, संतरा, मोसम्बी, अंगूर, नाशपती आदि का रस या यदि वह ऐसे ले सके तो उत्तम बात है देना चाहिए। दूध में यथेष्ट जल मिलाना आवश्यक है। शक्कर अजीर्ण की नानी है यह नहीं भूलना चाहिये। शक्कर की जगह दूध मीठा करने के लिये भिगोई किशमिश का जल उत्तम रहता है।

पुराने अजीर्ण से ग्रसित बालकों का उपचार भोजन में सुधार करने के साथ इस तरीके से करना चाहिए। हमेशा प्रात. उन्हें धूप में बैठा या लिटा देना चाहिए। धूप तेज हो तो मुंह ढक देना अच्छा है। प्रातः की सुनहरी धूप मानो शिशुओं के आरोग्य के लिए नित्य सूर्य का साथ छोड़कर इस धरती पर अवतीर्ण होती है। शिशु कृश है तो इस धूप में उसकी मालिश भी करनी जरूरी है। पश्चात् ठंडे जल से बेधड़क होकर नहलाना चाहिए। ठण्ड चाहे कैसी ही हो ठण्डा ताजा जल शरीर के लिए कभी भी नुकसान का कारण नहीं बनता।

सुबह-शाम पेट पर ५-५ मिनट का ठण्डा गर्म सेक देने से पेट के अन्दर के उदभ्रान्त तत्व समाप्त हो जाते हैं। ठंडा गरम देने के बाद या वैसे ही सुबह शाम मिट्टी की पट्टी आध आध घण्टे के लिये प्रयोग करनी चाहिए। या इसके बदले में ठंडी पट्टी ली जा सकती है।

पुराने अजीर्ण में शिशु के यकृत् स्थान पर हमेशा मालिश व कुछ दिन तक एनीमा चलाने से पूरा लाभ होता है। एनीमा का पानी सिर्फ कुछ ही उष्ण रहना आवश्यक है तथा उसमें थोड़ा सा मीठा सोडा या ¼ से ½ निम्बू का रस मिलाया जाना चाहिए।

वमन—

इसका कुछ वर्णन ऊपर अजीर्ण के प्रकरण में कर चुके हैं। किन्तु यदि वमन रोग का उपलक्षण न



होकर प्रधान व्याधि है तो अवश्य चिकित्सायें अपना प्रभाव प्राय: नहीं दिखातीं।

वमन का कारण—आमाशय की थकान से या अन्य विजातीय द्रव्यों के संचय से होती है। छोटी आंत के प्रारम्भिक हिस्से की तेज सिकुड़नों से अधोमार्ग से सरका हुआ दूध धक्के के साथ बाहर आ सकता है। इसको दूर करने के लिए पीठ और छाती के कुछ निचले हिस्से पर मालिश लाभदायक है। १ सेर पानी मे १ तोला कलई का चूना डालकर २४ घण्टे बाद जमे हुए चूने को छोड़ पानी को छान शीशी मे सुरक्षित कर लेना चाहिए। ग्राइप वाटर इसे ही कहते है। इसमे आप शौक से १ माशा केसर मिलाकर इसके लाभों को बढ़ा सकते है। इस चूने के पानी को शिशु को दूध देने के पूर्व और पश्चात् १-१ चम्मच (½ तोला) पिलाते रहे। उल्टी के लिए रामबाण है। तुलसी के पत्तों का रस नित्य देना भी अपूर्व लाभदायक है।

वमन करने के बाद शिशु को पुन: दूध पिलाया जाए या नहीं ? दुबारा तत्काल दूध देने की आवश्यकता उस हालत मे रहती है जब शिशु भूख से व्याकुल हो रहा हो। अन्यथा यह ख्याल रखना चाहिए कि उल्टी करने के बाद पाचन संस्थान कुछ गड़बड़ा जाता है अत थोड़ी देर के लिए वह विश्राम चाहता ही है। उल्टी होने के ठीक बाद गरम पानी पिलाने से आमाशय का क्षोभ शान्त होता है।

हिचकियां -

आरम्भकाल मे अनेक शिशु अपनी खुराक लेने के बाद या वैसे ही हिचकिया लेते है। देहात मे लोगों की धारणा है कि ऐसा किसी के याद करने पर ही होता है। जो हो, लेकिन यह न तो बीमारी है न चिन्ता की बात। हिचकियां गरम पानी का चम्मच पिलाने से तत्काल रुक जाती है।

वायु और जल की यथेष्ठ पूर्ति के अभाव मे रोग होता है। अत उसे धूप, हवा, जल से दूर रखना चाहिए।

किंतु दिन भर बालक हिचकियां लेता रहे तो अनिवार्य चिकित्सा करना योग्य है। ऐसी हालत मे अजीर्ण प्रकरण की चिकित्सा लाभदायक है। वैसे ३ रत्ती वंशलोचन, ३ रत्ती गिलोय सत्व गर्म पानी से देने से तत्काल लाभ होता है।

अफारा—

छोटी आंत की प्राकृतिक क्रिया जब मन्द हो जाती है तो ग्रहण किया हुआ खाद्य या दूध अधिक देर तक उसमें पड़ा रहता है। इसे ही अफारा कहते हैं। अफारे मे पेट फूल जाता है। थपथपाने पर डमडमाने की आवाज आती है। पेट फूलने का कारण यह है कि जहां तक वह खाद्य का पाचन नहीं कर लेती बड़ी आंत में ग्रहण किए खाद्य को बड़ी आंत मे जाने नहीं देती। फलत: उसमें पूरा का पूरा खाद्य इकट्ठा हो जाता है।

हमेशा या हर दूध-भोजन के बाद अफारा चढ़ता है तो चिकित्सा अनिवार्य है। अन्यथा पाचन की गड़बड़ी से या अधिक खाद्य लेने से कभी कभी अफारा हो भी जाता है जो स्वयं ही ठीक हो जाता है। अफारे के समय शिशु को दूध इत्यादि नहीं देना चाहिए।

अफारे की सर्वोत्तम चिकित्सा यह है कि उस समय पानी के सिवाय कुछ चीज नहीं दी जावे। पानी में थोड़ा निम्बू रस या मीठा सोडा या तुलसी रस मिला लेना अधिक फायदेमन्द है। पेट पर कटोरी थपकी लगाते रहने से छोटी आंत की कार्यक्षमता बढ़ती है जिससे वायु का बहिष्कार होने के साथ अफारा जल्दी ही उतर जाता है। कटोरी थपकी लगाने की विधि यह है कि हाथ के पञ्जे को कटोरी के सदृश करके आहिस्ते आहिस्ते पेट पर टकोर किया करें।

शिशु को प्रात की धूप से वंचित नहीं रखा जाय तो उसका पाचन संस्थान सामान्य सी असावधानी से अफारे को स्थान नहीं देता। विटामिन सी और बी की पूर्ति से यह रोग दूर होता है।

इसके लिए उसे खट्टे फलों का रस यथामात्रा में नियमित देना जरूरी है। अफारे के साथ पेट दर्द भी किन्हीं हालतों में रहता है।

पेट दर्द -

डा० वेंजामेन स्पोक का कथन है कि तीन माह तक के शिशुओं को तो साधारण तौर से पेट दर्द होता ही है। आगे चल कर यह दर्द स्वयं ही चला जाता है। यह चिंता की बात नहीं है। किंतु कभी कभी पेट में वायु इकट्ठी हो जाने से भी दर्द होता है। बहुत से शिशु दूध पीते समय वायु घूंट लेते हैं। पाचन संस्थान में साम्यिक दोष रहने पर उदर में वायु पैदा हो सकती है। जो हो. पेट दर्द का कारण वायु का संवट्ट ही है। तो शिशु को कन्धे पर डाल लीजिए और पीठ थपथपायें। इसमें वह शीघ्र ही मुंह या अपान के रास्ते बाहर आ जायेगी।

पेट दर्द का कारण आंतों में ऐंठन या छालों से है तो प्रमुख चिकित्सा की ओर ध्यान दीजिये। आंतों की ऐंठन के लिए प्रात. धूप में हमेशा मालिश कीजिये। मालिश पूरे शरीर की अनिवार्य है। किंतु पेट और लिवर पर प्रधान रूप से करनी चाहिए। साथ ही सुबह शाम पेट पर गरम ठण्डा देने के बाद या वैसे ही आधे पौन घंटे के लिए ठंडी पट्टी का प्रयोग हितकर है। मालिश करके तपाने से भी लाभ होता है। विटामिन बी जिन खाद्यो में विशेष हो, वह शिशु की मा को देने चाहिए। हमारा यह मत है कि छः माह तक की शिशु की चिकित्सा के लिए उसकी मां को या दूध पिलाने वाली को ही समस्त औषधियां देनी चाहिए। चूंकि बहुत बार ऐसा होता है कि मां के दूध मे ऐसा दोष होता है जो व्याधि को उत्तरोत्तर बढ़ाता रहता है। यदि ऐसी स्थिति में बच्चे के शरीर पर औषधियों का प्रयोग किया जाता रहे तो क्या लाभ?

पेट दर्द छालों से है तो शिशु की मां को तीक्ष्ण विदाही कर्कश रूक्ष खाद्य पदार्थ कतई नहीं देने चाहिये। मधु के साथ गुलाब के फूलों की लुगदी या चूर्ण अथवा गुलकन्द देना उत्तम है। ईसबगोल की भुसी लाभदायक है। शेष चिकित्सा में मिट्टी की पट्टियों का प्रयोग अत्यन्त उपकारी है

कब्ज—

बच्चों की सबसे खतरनाक व्याधियों का मूल कब्ज ही है। पेट मे मल रुके रहना या थोडा थोड़ा बाहर आना सभी तरह की बीमारियों का सामूहिक नियन्त्रण है।

शिशु की कब्ज के लिए मां को पूर्वोक्त गेहूँ मूंग की खिचड़ी सेवन करनी चाहिए। सब्जियां और पके फल का सेवन करना भी जच्चे-बच्चे के लिए आरोग्यकारी है। जो शिशु मा के दूध पर निर्भर नहीं रहते उन्हे तथा २ माह से ऊपर के शिशु को पपीता, सेव, पालक आदि का रस देने से कब्ज मे शीघ्र ही लाभ देखा जाता है। एक पाव पानी में आधी छटाक पालक डालकर एक छटांक पानी रहने तक औटा लेना चाहिए। इसे छानकर पिलाइये। कब्ज की अपूर्व निरापद चिकित्सा है। भिगोई हुई किशमिश या उसका रस शिशुओं के लिये खाद्य और अमृत दोनों ही है। सामयिक कब्ज को अरण्डी के तैल की कुछ बूंदों से दूर किया जा सकता है। किंतु हमेशा इनका प्रयोग करना शिशु के पाचन को बिगाड़ना होगा।

नित्य प्रात कुछ मिनट के लिये नाभि को केन्द्र बनाकर दाये से बायें घुमा घुमा कर मालिश करने से रुका हुआ मल आगे तो खिसकता ही है साथ ही आंतो मे रसस्रावण आलोढ़न क्रिया भी होती है जो कब्ज को दूर करने के साथ फायदेमन्द है। शिशुओं की कब्ज मे गुलबनफ्शा एक निरापद चिकित्सा है। किंतु कुछ दिन तक पेट पर गरम ठण्डी भीगी पट्टियों का प्रयोग,मालिश स्नान आदि कराया जाय तो स्थायी कब्ज से अच्छी तरह मुक्ति मिल सकती है।

—श्री लक्ष्मीनारायण अलौकिक
शामगढ़ (म. प्र.)

बाल मृद्वस्थि

श्री पुखराज शर्मा

परिचय तथा परिभाषा—

साधारणतया शरीर मे चूने (चूर्णातु *Calcium*) भास्वर (*Phosphorous*), तथा जीवति डी (*Vitamin D*) की चयापचय (*Metabolic*) क्रियाओं के समुचित रूप से चलते रहने से अस्थि निर्माण तथा अस्थि मे वृद्धि होती है।

दिन प्रतिदिन के आहार मे चुर्णातु तथा भास्वर यदि प्रचुर मात्रा मे रहे, तथा आहार मे इनका समुचित अनुपात हो, एवं शरीर मे जीवति डी आवश्यक मात्रा मे उपस्थित हो तो अस्थिरचना एवं वृद्धि आदि की शारीरिक क्रियाये ठीक चलती है, स्वस्थ एवं सुदृढ़ अस्थि का निर्माण होता है। उपरोक्त किसी एक अथवा अनेक क्रिया-कलापो मे विक्षोभ (*Disturbance*) प्राप्त होने से अस्थि निर्माण क्रिया मे भी विक्षोभ होता है। तथा स्वस्थ अस्थि निर्माण नहीं हो पाता है। सुदृढ़ अस्थि के स्थान पर कोमल (*Soft*) तथा छिद्रष्ठ (*Spongy*) अस्थिया निर्मित होती है। इसे अस्थि-मृदुता कहते है। वालकों पर इस रोग का आक्रमण होने की से इसका नामकरण बाल-मृद्वस्थि हुआ। मृद्वस्थि होने पर शरीर मे विभिन्न अवयवों पर अवस्थानुसार पड़ने वाले दवाव स तथा मांसपेशियो मे खिचाव की बजह से इन मृदु अस्थियो मे भिन्न प्रकार की विकृतिया तथा बक्रता हो जाती हैं।

वाल मृद्वस्थि (*Rickets*) के समकक्ष तथा सिद्धान्ततः समान कारणों से उत्पन्न (अर्थात् चूर्णातु एवं भास्वर के विक्षोभित (*Disturbed*) चयापचय (*Metabolism*) के परिणामस्वरूप वड़ो मे भी अस्थिमृदुता नामक रोग होता है। इसे अंग्रेजी मे ओस्टोमेलेशिया (*Osteomalacia*) है। इस अस्थि मृदुता मे तथा वालकों मे वाली अस्थि मृदुता मे सूक्ष्म अन्तर अवश्य है। वालकों मे अस्थि निर्माण(*Bone formation and development*)कार्य होता रहता है। इसीसे शिशु की लम्बाई मे वृद्धि होती है। एक अवस्था प्राप्त होने पर जिसमे अस्थिदण्ड (*Diaphysis*) तथा अस्थि शिर (*epiphysis*) सन्निकट आकर जुड़जाते है (*Close of epiphysis*) तो अस्थि की लम्बाई में वृद्धि होना रुक जाती है। वड़ों मे इस रोग के होने पर सुदृढ़ निर्मित अस्थियों में से चूर्णातु निकल निकलकर (*Mobilization of calcium*) रक्त तथा अन्य अवयवों मे जाता है, गर्भकाल के भ्रूण के उपयोग मे आता है तथा स्तन्य काल (*Lactation period*) मे दुग्ध निर्माण मे उपयोग होता है।

अस्थि मे से चुर्णातु के क्षय होने पर सुदृढ़ अस्थिया भी कोमल तथा छिद्रष्ठ हो जाती हैं। इस तरह चुर्णातु तथा भास्वर के विक्षोभित चयापचय रूप कारण एक होने पर भी उपरोक्त दो भिन्न अवस्थाओं (वाल एवं वड़े) मे दो भिन्न क्रियायें करके एक ही लक्षण (अस्थि मृदुता) उत्पन होते हैं। क्रियाओं की भिन्नता को स्पष्ट समझने के हेतु वडो मे इस रोग को केवल अस्थिमार्दव अथवा मृद्वस्थि (*Osteomalacia* अस्थि क्षय भी) तथा वालकों मे बाल मृद्वस्थि (*Rickets*, वाल वक्रास्थि आदि भी) कहते हैं।

निदान (*Etiology*)—

वाल मृद्वस्थि बच्चो का अस्थि सम्बन्धी रोग है। ६ माह से ३ वर्ष तक के शिशुओं मे अधिकतर प्रगट होता है। कचित् रोग का प्रारंभ शिशु की गर्भावस्था से ही हो जाता है, जब उसकी माता के आहार मे चूर्णातु तथा भास्वर की न्यूनता होती है।

जन्म के समय लक्षण स्पष्ट नहीं होते हैं, परन्तु ज्यों ज्यों शिशु की वृद्धि होती है, वह बैठने उठने लगता है, लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

घनी आबादी वाले शहरों में, जहां स्वस्थ तथा खुले निवास गृहों की कमी होती है, जहां धूप मे रहने के अवसर कम प्राप्त होते हैं शिशुओं मे इस रोग का आक्रमण पाया जाता है। उष्ण प्रदेशो में सूर्य प्रभाव से (सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च) इस रोग का आक्रमण कम होता है। जिन शिशुओं को माता से इतर दूध दिया जाता है (*Bottle fed*) अथवा जिनके आहार से प्रोभूजिन (*Protein*) तथा प्रांगोदीय (*Carbohydrates*) आदि पोषक संघटको (*Constituents*) की बहुलता रहती है, परन्तु उस अनुपात मे चुर्णातु, भास्वर अथवा जीवति डी की न्यूनता रहती है, उनके शरीर की सामान्य वृद्धि तो यथेष्ट होती है, परन्तु अस्थियां उस अनुपात में नहीं बढ़ पाती, तब भी यह रोग हो सकता है।

क्वचित् उपदंश तथा क्षय रोग ग्रसित माता पिता की संतान मे भी बाल मृद्वस्थि के लक्षण देखे गये हैं। संभवत: ऐसा संयोग केवल आकस्मिक (*accidental*) ही रहा हो। अंधेरे मकानों मे रहने वाले परिवारों मे तथा अधिक वृष्टि वाले क्षेत्रों में साधारणतया: इसका प्रकोप देखने में आता है। आधुनिक परिवारों के शिशुओं मे जिन्हे पूरा दूध नहीं मिलता है परन्तु माण्ड प्रधान (*Starch rich*) खाद्य पदार्थ जैसे जव-जल (*Barley water*) रोटी आदि अधिक दिये जाते है, यह रोग न्यूनाधिक प्रमाण मे व्याप्त रहता है।

देह में अस्थि निर्माण क्रिया विवेचन—

विना अस्थि निर्माण क्रिया समझे अस्थिनिर्माण क्रिया मे विक्षोभ कैसे होता है यह समझना दुष्कर है। अत. देह मे किसी तरह अस्थि निर्माण होता है इस पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न करना लेखक को अभीष्ट है। अस्थि निर्माण तथा चुर्णातु एवं भास्वर की देह में चयापचय क्रियाओं का संक्षेप में विवरण इस प्रकार है—

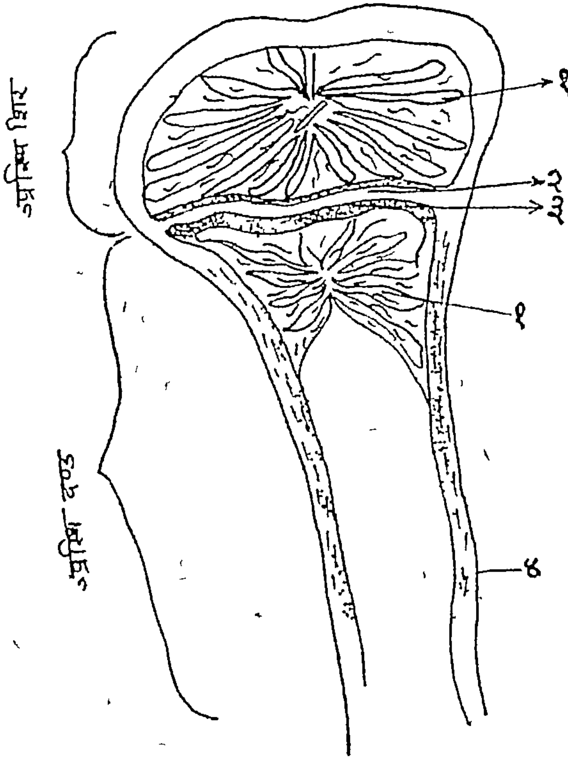
(अ) आहार रूप में इन खनिजों का शरीर द्वारा ग्रहण तथा देह में आमाशय एव आंत्र की कलाओं द्वारा प्रचूषण (Absorption)—

देह से चूर्णातु अथवा भास्वर की चयापचय क्रियाओं में विक्षोभ इस रोग का हेतु है। दूसरे शब्दों मे कहा जाय तो यह पोषणन्यूनताजन्य व्याधि (*Nutritional deficiency disease*) है। भिन्न अवस्थाओं (*age*) में आहार में चूर्णातु तथा भास्वर की पोषणावश्यकतायें (*Nutritional needs*) भिन्न भिन्न होती हैं। शैशव काल मे इन द्रव्यों से शरीर द्वारा नवीन अस्थि निर्माण होता है तथा अस्थि वृद्धि होती है, इसलिए इस अवस्था में इन अस्थि पोषक द्रव्यो की मात्रा मे आवश्यकता रहती है। जो बच्चे समय से पूर्व प्रसव हुये होते है, अथवा कमजोर होते है उन्हें भी आहार से चूर्णातु आदि की प्रचुर मात्रा मे आवश्यकता रहती है। साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि शिशु को उसकी उम्र पोषण स्थिति (*Nudrional status*) आदि के अनुसार ०.१ ग्राम से १.० ग्राम तक चूर्णातु तथा इतना ही अथवा इससे करीब ड्योढ़ा, १.१६ ग्राम से १.४६ ग्राम तक भास्वर की प्रतिदिन आहार मे आवश्यकता रहती है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि यदि आहार मे चूर्णातु तथा भास्वर १.२ से २.१ तक के अनुपात मे है तो आमाशय से तथा आंत्र मे इनका प्रचूषण (*apsoiption*) प्रशस्त (*optimom*) होता है। कम ज्यादा अनुपात रहने से प्रचूषण मे बाधा पड़ती है। आहार परिपोषण के दृष्टिकोण से इन द्रव्यों के अप्रांगरिक रूप भी (*Inorganic forms*) विशेष महत्व के हैं। चूर्णातु तथा भास्वर के विभिन्न योग यदि विलेय रूप (*Soluble form*) मे है तो आमाशय एवं आंत्र की कलाओं (*Membranes*) द्वारा इनका प्रचूषण सुगमता से हो जायगा तथा रक्त में इनका सतुलन (*Balance*) भी ठीक रहेगा, परन्तु इसके विपरीत

यदि अविलेय योगिकों [*Insoluble forms*] के रूप में है तो प्रचूषण दुर्गम होगा अथवा नहीं होगा। परिणामस्वरूप शरीर मे इनकी क्षीणता तथा चयापचय क्रियाओं मे विक्षोभजन्य व्याधियां उदित होंगी।

(ब) चुर्णातु तथा भास्वर का अस्थि के रूप में निस्सादन (*Deposition*)

प्रचूषण होने के बाद रक्त मे सम्मिलित होकर यह द्रव्य शरीर के सब अवयवों मे अभिसरित (*Circulated*) होते है। विशेष स्थलों पर जहां



चित्र नं. ४३

अस्थि के आयाम संछेद (Longitudinal Section) का चित्र जिसमें अस्थि-विकास-केन्द्रों (Ossification Centres) का चित्रण है।

१–अस्थि कर्णिकाएं तथा अस्थि मज्जा
२–अस्थि-सिर तथा अस्थि दण्ड मध्य कास्थि
३–कास्थि का वहु-प्रज-प्रदेश (लम्बाई में अस्थि वृद्धि यहा होती है)
४–पर्यस्त -चौडाई में अस्थि वृद्धि यहां होती है

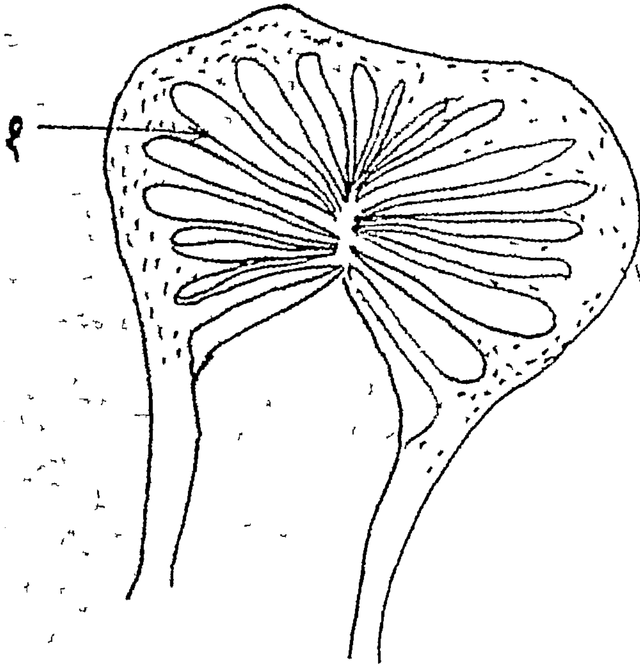
अस्थि निर्माण होता है वहां पर अस्थि शिर (*Epiphysis*) तथा अस्थि दण्ड (*Diaphysis*) के बीच के स्थान मे जिसे वहु-प्रज-प्रदेश (*Proliferative zone*) कहते हैं, (देखिये चित्र ४३) अस्थायी तौर पर एक कास्थि (*Cartilage*) का निर्माण होता है जिसके कोण वहुगुणित (*Multiplication*) हो कर बढते रहते है तथा अस्थिकि (*ossein*) नामक मृदु (*Soft*) तथा छिद्रिष्ट (*Spongy*) अस्थि का निर्माण होता है। चूर्णातु तथा भास्वर युक्त-तरल (*Fluid of the blood, which baths the bone*) जब इस प्रदेश मे आता है, तब विशेष क्रियाओं के फलस्वरूप त्रिचूर्णातु भास्वीय (*Tri Calcium phosphate*) रक्त मे से यहा निस्सादित (*Deposited*) होजाता है। इस निस्सादित यौगिक की रसायनिक रचना भास्वीय शैल (*Phosphate rocks*) के समतुल्य होती है। चूर्णातु तथा भास्वीय के इस प्रकार निस्सादित होने पर अस्थि मे दृढता आती है, सही अर्थ मे स्वस्थ दृढ़ अस्थि का निर्माण होता है। वाल मृद्वस्थि मे सिर्फ मृदु अस्थि-अस्थिकि (*ossein*) का ही निर्माण हो पाता है, उसमें चुर्णातु का निस्सादन अपूर्ण तथा अनियमित होता है।

(स) अस्थि में चुर्णातु का सग्रह (Storing) तथा चलिष्णुता (Mobilization)—

स्वस्थ रूप से निर्मित अस्थि मे चुर्णातु तथा भास्वर का संग्रह भी रहता है। जब रक्त में इन पदार्थों का संतुलन प्रचुर प्रमाण मे होता है तथा सुदृढ़ अस्थि निर्माण होने के बाद भी काफी सकेन्द्रण (*Concentration*) रहता है तो यह चुर्णातु तथा भास्वर के यौगिक के रूप में अस्थि के शिरो मे (विशेषत. अस्थि शिर में) जालीदार रवों (*Lace like crystals*) के रूप मे निस्सादित हो जाते हैं। इन्हे अस्थि-कर्णिकाये (*Bone Trabeculae*) कहते है (देखिये चित्र ४४)। ऐसे सग्रह से अस्थि के इन भागों के विशेष दृढ़ता भी रहती है। जब



किसी कारणवश रक्त में अथवा शरीर के अन्य अंगों में चूर्णातु आदि की कमी होजाती है तो अस्थि के इस भण्डार (*Store house*) में से चूर्णातु विलीन होकर रक्त में पुनः प्रविष्ट होजाता



चित्र नं. ४४-अस्थि में अस्थि-कर्णिकाओं का परिपूर्ण विकास हुआ है। यह स्थिति चूर्णातु की देह में प्रचुर पोषण स्थिति सूचक चिन्ह है।
१—अस्थि कर्णिकाएं तथा मज्जा

है। इस तरह पोषण अवस्था (*Nutritional Stage*) तथा आवश्यकतानुसार चूर्णातु एवं भास्वर रक्त से अस्थि में तथा अस्थि से रक्त में चलायमान (*Mobilized*) होते रहते हैं।

(द) चूर्णातु तथा भास्वर का देह में से उत्सर्जन (Excretion)—

इन घटन-विघटन क्रियाओं से जो शेष रहा चूर्णातु तथा भास्वर है वह मलोत्सर्ग प्रणालियों से होता हुआ मूत्र तथा पुरीप के रूप में शरीर से बाहर उत्सर्जित (*Excreted*) हो जाता है।

बाल मृदुास्थि के भेद-

अतः यह स्पष्ट है, कि रक्त से चूर्णातु अथवा भास्वर की न्यूनता होने से तथा परिणामस्वरूप इनका चयापचय विक्षोभित होने से सुदृढ़ एवं स्वस्थ अस्थि निर्माण नहीं हो पाती है, तथा बाल मृदुास्थि रोग की उत्पति होती है। इन दो पोषक द्रव्यों की न्यूनताजन्य इस व्याधि को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—

१—क्षीण चूर्णातु बाल मृदुास्थि (*Low Calcium Rickets*)

२—क्षीण भास्वीय बाल मृदुास्थि (*Low phosphorus Rickets*)

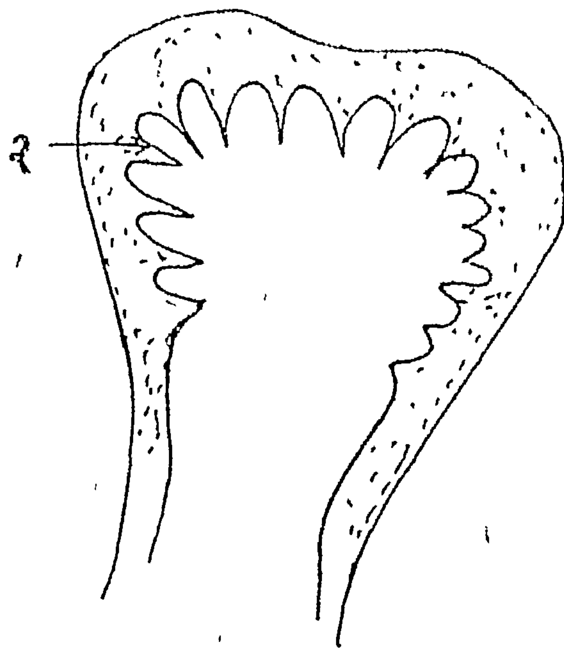
३—उभय द्रव्य क्षीण बाल मृदुास्थि (*Rickets due to deficiency of both Calcium & Phosphorus*)-इसे अंग्रेजी में *Osteoporosis* भी कहते हैं।

संप्राप्ति (*Pathology*)-

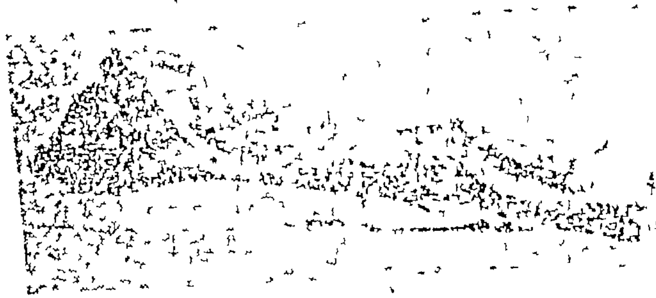
अस्थि में परिवर्तन—

(अ) अस्थि का आपेक्षिक घनत्व कम हो जाता है। जल तथा जीव द्रव्य (*Organic Matter*) का भाग अस्थि में बढ़ जाता है। खनिज द्रव्यों, विशेषतः चूर्णातु तथा भास्वर की कमी हो जाती है अस्थि में वसा का भाग भी बढ़ जाता है।

(ब) अनुवीक्षण यंत्र में देखने पर कई परिवर्तन स्पष्ट गोचर होते हैं—अस्थि शिर तथा अस्थि दण्ड के बीच के भाग में कास्थि (*Cartilage*) तथा मृदु अस्थि कोष समूहों (*Soft bone tissues*) का अधिक निर्माण होता है। दृढ अस्थि के रूप में चूर्णातु का निस्सादन अनियमित (*Irregular*) होता है। कास्थि (*Cartilage*) कहीं से मोटी कहीं से पतली होती है तथा उसमें स्थान स्थान पर अचूर्णियित-स्थल (*Uncalcified spots*) स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। कास्थि में कहीं पर अधिक चूर्णियन हो जाने से छोटी गांठों के समान रचनाकृतियां हो जाती हैं—जैसी कि इस व्याधि से पर्शुकाओं (*Ribs*) के वक्षास्थि (*Sternum*) से मिलने की जगह पाई जाती हैं। अस्थि-शिर-प्रदेश में भी मृदु



चित्र नं. ४५—अस्थि में अस्थि-कणिकाओं का अपूर्ण विकास हुआ है। देह में चूर्णातु की विक्षोभित पोषण-स्थिति सूचक चिन्ह
२—अस्थि-कणिकाएं (अल्प-विकसित)।



चित्र नं. ४६
बाल मृदुस्थि जन्य अक्षमाला
(Rachitic Rosary)

चित्र नं. ४७ →

बाल मृदुस्थि लक्षण प्रदर्शक चित्र
१—सिर में मृदु स्थल, २—बड़ा तथा बेडौल सिर ३—मेरु में वक्रता, ४—प्रगण्डास्थि में वक्रता ५—प्रकोष्ठास्थियों में वक्रता. ६-भाल चौड़ा तथा उभरा होता है। ७—कपोताकार वक्ष ८—पर्शुकाओं की गांठ (बाल मृदुस्थिजन्य अक्ष-माला) ९—घटाकार उदर १०-उर्वस्थि में वक्रता, ११-जंघास्थियों में वक्रता

तथा छिद्रिष्ट अस्थि निर्माण से कोमलता उत्पन्न होती है तथा अस्थिया इतनी सुदृढ़ नहीं होतीं। अस्थि-शिर-प्रदेश मे अस्थि कणिकाओं का निस्सादन भी बहुत कम होता है। अस्थियां दृढ़तारहित होने से लेटने-बैठने चलने आदि क्रियाओं से तथा मांसपेशियों के खिंचाव से उनमें भिन्न भिन्न तरह की विकृतियां तथा वक्रता आजाती है। अस्थि-शिर प्रदेश में रक्त-प्रणालिकाओं की क्रिया बढी मालूम पड़ती है।

(स) खोपड़ी में भी अस्थिया पतली तथा मुलायम होती हैं। ललाटास्थि (*Frontal bone*) तथा पार्श्वस्थियों (*Parietals*) में अति-वृद्धिता (*Hypertrophy*) हो जाती है। सिर आगे से चौड़ा तथा ऊपर से चपटा होता है।

रक्त में परिवर्तन—

रक्त में चूर्णातु तथा भास्वर के प्रमाण में कमी हो जाती है। जिस द्रव्य की न्यूनता से रोग हो वह कम हो जाता है तथा दूसरे के प्रमाण में समानुपातिक वृद्धि हो जाती है। स्वस्थ रक्त-लसी (*Blood Serum*) में ६ से १२ मिलीग्राम तक चूर्णातु प्रति १०० सी० सी० होता है। बाल-मृद्वस्थि में यह प्रमाण न्यून हो जाता है। बाल-मृद्वस्थि के साथ ही चूर्णातु क्षीणता सह आक्षेप (*Tetany with calcium deficiency*) हो तो रक्त लसी में चूर्णातु ३-४ मिलिग्राम प्रति शत सी० सी० तक भी पहुंच जाता है।

इसी तरह क्षीण-भास्वीय-बाल मृद्वस्थि मे रक्त में से अप्रागारिक भास्वर (*Inorganic Phosphorous*) के प्रमाण में काफी न्यूनता हो जाती है। यह स्वस्थ रक्त में ४ से ६ मिलीग्राम प्रति शत सी. सी. होता है। इस व्याधि मे घटकर ०.४ से २-३ मिलीग्राम प्रति १०० सी० सी० तक हो जाता है।

ऐसा ज्ञात हुआ है कि भास्वीयेद नामक विकर (*Phosphatase enzyme*) चूर्णातु की चयापचय क्रियाओं से संबन्धित रहता है। चूर्णातु का अस्थि के रूप में निस्सादन भी इस विकर (*Enzyme*) द्वारा प्रभावित होता है। जब बाल मृद्वस्थि रोग होता है तो रक्त मे यह विकर भी क्षीण हो होता है। रक्त के अतिरिक्त अस्थि भी इस विकर का स्थान है।

अन्य अङ्गों मे परिवर्तन—

तिल्ली एवं यकृत तथा अन्य लसिका ग्रन्थियों में भी परिवर्तित सौत्रिक परिवर्तन (*Extensive fibrous changes*) मिलते है। तिल्ली तथा यकृत बढ़ जाते है। परिणामस्वरूप उदर भी बढ जाता है जिसे घटाकार-उदर (*Pot-belly*) कहा जाता है।

लक्षण एवं लक्षण विवेचन-(देखिये चित्र ४७)

रोग के परिपूर्ण लक्षण बहुत स्पष्ट होते है तथा आसानी से पहचाने जा सकते है। परन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता है। परिपूर्ण लक्षण व्याधि के परिपूर्ण आक्रमण पर ही प्रकट होते हैं। बाल मृद्वस्थि साधारणतः अपने मध्य रूप में ही दृष्टिगोचर होती है।

इस रोग मे चलने-बैठने आदि क्रियाओं से भिन्न भिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हो जाती है। विकृतियों की उग्रता (*Severity*) व्याधि की उग्रता, व्याधि काल, शिशु की उम्र तथा अस्थियों पर पड़ने वाले प्रत्याबल (*Stresses*) एवं आयास (*Strains*) पर निर्भर करती है, तथा उसीके अनुसार कम-ज्यादा होती है।

रोग-ग्रस्त शिशु का सिर बड़ा तथा बेडौल होता है। उसमें स्थान स्थान पर कोमल-स्थल छूने से ज्ञात होते है। कुछ प्रखर अस्थि स्थल भी अनुभूत होते हैं। सिर आगे से चौड़ा तथा पार्श्व से लम्बा होता है। खोपडी की मृदु अस्थियों पर सोते वक्त भार पड़ने से तथा अनियमित (*Irregular*) अस्थि-निस्सादन होने से यह विकृति होती है। रात्रि मे सिर पर बहुत स्वेद आता रहता है। क्वचित् ज्वर भी हो जाता है। दांत तथा अस्थि रासायानिक



रचना में सूक्ष्म अन्तर को छोड़कर समान है। बाल मृद्वस्थि होने पर दांत देर से निकलते हैं तथा दांतों में सडान भी हो जाती है।

यदि शिशु बैठने लग गया है तो मेरु में बक्रता प्रारम्भ हो सकती है। अन्य अङ्गो की अपेक्षा बाहु-पद-अस्थियों पर लक्षण अधिक स्पष्ट होते हैं। अन्तः प्रकोष्ठास्थि (*Ulna*), बहिः प्रकोष्ठास्थि (*Radius*), जंघास्थि (*Tibia*), तथा अनुजंघास्थि (*Fibula*) मे व्यधि-उग्रता, व्याधि काल तथा शिशु की अवस्थानुसार चलने बैठने से बक्रता उत्पन्न हो जाती है। शिशु शक्ति-क्षीण हो जाती है। चलना तथा अधिक काल तक बैठे रहना उसके लिये कष्ट-कर होता है। बैठते समय वह हाथों को जमीन के सहारे टिका कर बैठता है। ऐसा करने से उसे तनिक आराम मिलता है, परन्तु इससे पहुंचे की अस्थियों पर दबाव पडने से उनमे भी विकृति हो सकती है। पांव की अस्थियों मे बाहु की अस्थियों की अपेक्षा वक्रता अधिक स्पष्ट होती है।

कास्थि तथा अस्थिकि (*Osteoid*) नामक मृदु अस्थि का अधिक निर्माण होने से पशुकाएं लम्बाई मे बढ़ जाती हैं। परन्तु अदृढ होने से तथा मास-पेशियों के दबाव से मुड जाती हैं। वक्षस्थल मे इस प्रकार से विकृत आकार का निर्माण होता है। ऐसे आकार के वक्ष को कपोताकार वक्ष (*Pigeon Chest*) अथवा निवापाकार वक्ष (*Funel shaped Chest*) कहते है। पशुकाओं की विकृति से शिशु के श्वास प्रश्वसन क्रिया मे विक्षोभ उत्पन्न होता है। वक्ष में आकुंचन होने से फेफड़ों मे वायु के लिये कम स्थान उपलब्ध होता है। अन्त' श्वास लेने में कठिनाई होती है। प्रकृति इस कमी को पूरा करने हेतु श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ा देती है परन्तु इस आयास से वक्ष में विकृति और भी बढ़ जाती है। प्रतिश्याय तथा कास के लक्षण भी वर्तमान हो सकते हैं।

पशुकाये जहां वक्षास्थि (*Sternum*) से जुड़ती है वहा कास्थि मे असमान चूर्णियन (*Irregular Calcification*) होने से तथा असमान मोटाई की कास्थि निर्माण होने से छोटी छोटी गांठों जैसी आकृतियां बन जाती हैं। इन्हें बाल मृद्वस्थिजन्य अक्षमाला (*Rachitic Rosary*) कहते हैं। (देखे चित्र संख्या ४६) क्षीण-भास्वीय बाल मृद्वस्थि का यह तद्विशिष्ट लक्षण है।

तिल्ली तथा यकृत् बढ़ जाते हैं। गैस रोग भी इसके साथ होता है। उदर बड़ा हो जाता है जिसे घटाकार उदर (*Pot belly*) संज्ञा दी जाती है। देह क्षीणता, रक्ताल्पता, बेचैनी, ओजक्षय आदि लक्षण इस व्याधि के साथ हमेशा संलग्न रहते हैं। शिशु की वृद्धि विमंदित हो जाती है। बाल मृद्वस्थि के साथ कचित् मांसपेशियों का आक्षेप (*Tetany*) भी वर्तमान होता है। यह बड़ी तीव्र होती है। रक्त मे चूने के प्रमाण में अधिक न्यूनता होने पर ऐसा होता है। मांसपेशियों मे जलन, संकोच (*Contraction*), तथा अङ्गग्रह (*Spasm*) के सामान्य लक्षण प्रकट होते हैं। ज्वर होता है। हृदय तथा नाड़ी की गति विकृत होती है। पसीने आते हैं। शिशु मे श्रम विकलता दृष्टिगोचर होती है। प्रांग ग्रह (*Tetany*) में बाहु तथा पाद विशिष्ट तरह से वक्र होते हैं—

शिशु की त्वचा का रंग निलिमा युक्त (*Cyanosis*) हो जाता है। रोग की तीव्र अवस्थाओं मे पशुकाओं तथा अन्य अस्थियों में अस्थि भङ्ग (*Fractures*) होते हैं। देह मे जीवनीय सत्व तथा ओज क्षीण होने से अन्य व्याधियां आसानी-पूर्वक आक्रमण करती हैं। यदि समय पर तथा सावधानीपूर्वक चिकित्सा न की जाय तो शिशु का अनिष्ट तथा मृत्यु हो सकती है। उचित चिकित्सा से स्थिति में सुधार होता है। स्थायी विकृतियां यदि पूर्ण रूपेण ठीक न भी हो पायें, तो भी शिशु मे जीवन तथा ओज का नव संचार होने लगता है। अस्थि में दृढ़ता उत्पन्न होती है तथा स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

यदि रोग अधिक काल रहे तो कुछ अस्थि विकृतियां स्थायी रूप ले सकती है। अतः शिशु के हित को ध्यान में रखते हुए (क्योंकि उसे जीवन का बहुत अधिक भाग अब बिताना होगा) चिकित्सा शीघ्र की जानी चाहिये। स्मरण रहे कि उपरोक्त लक्षण हमने रोग के तीव्र प्रकोप के लिखे हैं। साधारणतया मिले जुले तथा मध्य-तीव्रता के लक्षण मिला करते हैं।

चिकित्सा—

जीवति डी का बाल मृदुस्थि चिकित्सा मे महत्व-पूर्ण योग है। चूर्णातु तथा भास्वर की चयापचय क्रियाओं पर इसका अपरिमिय प्रभाव है। इस जीवति के अभाव में न तो चूर्णातु का प्रचूषण ही भली प्रकार हो पाता है और न ही अस्थि के रूप मे निस्सादन। इसके अभाव में चूर्णातु का मल-मूत्र के साथ उत्सर्जन भी अधिक प्रमाण में होने लग जाता है। अतः चिकित्सा शीर्षान्तर्गत हम इसका वर्णन विस्तार से करेंगे ताकि चिकित्सकों को इसके प्रयोग में सुविधा रहे।

जीवति डी (Vitamin D.) तथा अस्थयिन क्रिया (Ossification process) पर उसका प्रभाव.—

जीवति डी देह मे अस्थीयन क्रिया के लिये आवश्यक है। प्रकृति मे यह बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है। हा, प्राग्जीवति (*Provitamin*) जिससे उद्किरण (*Irradiation*) क्रियाओं से ही जीवति निर्माण होता है प्रकृति मे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। हमारे शरीर की त्वचा में भी प्राग्जीवति वर्तमान रहता है जिससे सूर्य रश्मियों के द्वारा जीवति डी निर्माण होता रहता है तथा त्वचा पर से ही इस जीवति का देह प्रचूषण (*Absorption*) हो जाता है। प्रकृति में जीवति डी सर्वाधिक मात्रा में मछली के तेल (*Fish liver oils*) में मिलता है। प्रयोगशालाओं तथा निर्माणशालाओं मे सुनिश्चित तरङ्ग आयाम रशिमयों (*Rays of particular wave lengths*) के प्रभाव से इसका निर्माण किया जाता है तथा यह औषधि व्यवहार के लिये सूचीवेध रूप मे अन्य-खाद्य पदार्थों मे तथा औषधो मे बाजार मे उपलब्ध होता है।

जीवति डी की शोध सन् १६२२ मे मैकोलस तथा उसके सहयोगियों ने की थी। तब से इस जीवति की रासायनिक रचना, निर्माण विधियों, देह क्रियाओं पर प्रभाव तथा चूर्णातु एवं भास्वर की चयापचय क्रियाओं पर प्रभाव के बारे मे अनेक शोधें हो चुकी है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि यह चूर्णातु का देह मे प्रचूषण बढ़ाता है, इन खनिजो का देह से बाहर उत्सर्जन विमंदित करता है तथा संभवतः अस्थि तथा रक्त में पाये जाने वाले भास्वीदेय विकर [*Phosphatase enzyme*] को प्रभावित करके चूर्णातु की अस्थि के रूप मे निस्सादन क्रिया को तीव्र करता है जिससे सुदृढ़ अस्थि का निर्माण होता है।

यह भी संभव है कि जीवति डी उपगल ग्रंथियो [*Parathyroid glands*] को प्रभावित कर चूर्णातु आदि की चयापचय क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। क्योंकि ऐसा ज्ञात हुआ है, कि जब उपगल ग्रन्थिया अपना कार्य बन्द कर देती हैं तो रक्त मे चूर्णातु की एक दम कमी हो जाती है तथा जब ये अति तीव्रता से कार्य करने लगती है तो रक्त मे चूर्णातु का प्रमाण बढ़ जाता है। यदि आहार में चूर्णातु की इतनी अधिक मात्रा न हो तो ऐसी दशा मे चूर्णातु अस्थि संग्रह में से चलायमान [*Mobilized*] होकर रक्त मे आता है।]

जिस विधि से यह जीवति इन क्रियाओं को प्रभावित करता है यह अभी भी ज्ञात नहीं हो सकी है, परन्तु करता अवश्य है। यही नहीं, अपितु तीव्र रूप से प्रभावित करता है। यदि चूर्णातु तथा भास्वर आहार द्रव्यों मे परिपूर्ण मात्रा मे वर्तमान हों, परन्तु शरीर में आहार द्रव्यों में जीवति डी की न्यूनता हो तो भी बाल मृदस्थि के तथा अस्थि क्षय के वही लक्षण उपस्थित हो



जायगे जो इन खनिज द्रव्यों की न्यूनता मे होते हैं। क्योंकि इसके अभाव मे चूर्णातु का अचूषण नही होगा, अस्थि के रूप मे निस्सादन नहीं होगा तथा बिना उपयोग मे लिया गया यह चूर्णातु अधिक प्रमाण से देह द्वारा उत्सर्जित कर दिया जायगा। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि जीवति डी की अनुपस्थिति मे आहार रूप मे ग्रहण किये चूर्णातु का केवल २० प्रतिशत भाग ही अचूषण हो पाता है, जहा यदि जीवति डी प्रचुर मात्रा में उपस्थित हो तो आमाशय तथा आंत्र की कलाओ द्वारा ग्रहीत चूर्णातु का ५० से ८० प्रतिशत भाग तक अचूषण हो जाता है। साथ ही यह स्मरण रखने योग्य है कि चूर्णातु की अनुपस्थिति मे जीवति डी (तथा जीवति ए भी) का भी आंत्र द्वारा अचूषण नहीं होगा। यह द्रव्य अंतर्संबंधित [*Inter related*] है। रक्त मे चूर्णातु की न्यूनता है, परन्तु भास्वर ठीक प्रमाण मे है तथा इस हेतु मृद्वस्थि रोग है। साथ ही जीवति डी की न्यूनता है। ऐसी दशा मे चूर्णातु यौगिको का सेवन कराया जाता है, अथवा सूचीवेध द्वारा देह मे प्रविष्ट करा दिये जावे है। तो ऐसा देखने मे आया है कि रक्त मे चूर्णातु का प्रमाण तो बढ़ जायगा, परन्तु साथ ही भास्वर का प्रमाण घट जायगा। रोग की स्थिति मे कोई सुधार न होगा। इसके साथ ही यदि जीवति डी का सेवन कराया जाता है तो स्थिति मे आश्चर्यजनक रूप से शीघ्र सुधार होना प्रारम्भ होता है।

जीवति डी रासायनिक—रासायनिक दृष्टि से दो तरह के जीवति डी (अथवा प्रति बालक बक्र जीवति Anti rachitic vitamin) उपलब्ध हैं, जिन्हे निम्नलिखित नामो से पुकारा जाता है—

(१) जीवति डी$_2$ (Vitamin D_2), इरगोस्टेरोल (Ergosterol) नामक वनस्पतिज द्रव्य को जो प्रकिण्व (Yeast) मे बहुतायत से पाया जाता है। उद्विकिरण प्रक्रियायें (Irradiation methods) से जीवति डी$_2$ में परिवर्तित किया जाता है। इसे इरगो केलसीफेरोल (Ergo calciferol) अथवा केवल केलसीफेरोल कहते है। इसका रासायनिक सूत्र $C_{28}H_{44}O$ है। औषध के रूप मे साधारणत: यही उपलब्ध होता है।

(२) जीवति डी$_3$ (Vitamin D_3) प्राणिज पदार्थों मे प्राप्त कोलेस्ट्रोल (Cholesterol) या ७–डी हाइड्रो कोलेस्ट्रोल (7-Dehydro cholesterol) आदि प्राग् जीवति (Provitamin) द्रव्यो से उद्विकिरण प्रक्रियाओं से प्राप्त होता है। इसे कोलोकेलसीफेरोल (Cholo calciferol) अथवा केवल केलसीफेरोल कहते है। इसका रासायनिक सूत्र $C_{28}H_{44}O$ है।

जीवति डी$_2$ वनस्पति पदार्थों से, जैसे प्रकिण्व (Yeast) से उपलब्ध होता है तथा जीवति डी$_3$ मानव तथा पशुओं से जैसे मछली के यकृत में (जहां वह संग्रहीत रहता है) अत: काड लिवर आयल (Cod liver oil) मे, उद्विकिरणीत दूध (Irradiated milk) मे तथा उद्विकिरणीय त्वचा (Irradiated skin) पर से प्राप्त किया जाता है। बाल मृद्वस्थि पर दोनों ही समान रूप से गुणकारी हैं।

अधिक मात्रा मे लिया जीवति डी शरीर में यकृत, वृक्क, फेफड़े, मासपेशियों के कोष समूहों आदि अवयवों मे संग्रहीत हो जाता है तथा आवश्यकतानुसार उपयोग मे आता रहता है। जीवति डी की विषाक्त मात्रा (Toxic dose) एवं प्रशस्त मात्रा (Optimum dose) के मध्य काफी अन्तर है। अत: कुछ सीमा तक इसकी बहुत मात्राये (Large dose) भी निर्भयतापूर्वक सेवन की जा सकती हैं। जीवति डी की वृहत् मात्रा चिकित्सा विधि (Massive dose therapy· Stosstherapic method of preventing rickets in children, which consists in administring massive doses of Vitamin D at intervals of several months) पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति मे आजकल बहुत प्रचलित है।

इस विधि में सावधान रहने की आवश्यकता है तथा रोगी का सतत निरीक्षण करते रहना चाहिये कि कहीं विपाक्त चिन्ह तो प्रगट नहीं हो रहे हैं। विपाक्त चिन्ह प्रकट होने से चिकित्सा बन्द कर देने पर यह लक्षण दूर होने लगते हैं तथा कुछ काल पश्चात् बिलकुल ठीक हो जाते हैं। विपाक्त चिन्ह एकदम मिट जाने के कुछ काल बाद पुनः चिकित्सा प्रारम्भ की जा सकती है।

मात्रा—इसकी मात्रा आवश्यकतानुसार कम ज्यादा होती है। साधारणतया एक शिशु को प्रति दिन २००-४०० अन्तर्राष्ट्रिय एकक (International unit) की आवश्यकता होती है। बाल मृदूस्थि रोग से यह आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। जीवति डी के १००० अन्तर्राष्ट्रिय एकक मछली के तैल के रूप में अथवा जल अथवा तैल के विलेय रूप में प्रतिदिन देने से अधिकाश बाल मृदूस्थि ग्रसित शिशु कुछ काल मे स्वस्थ हो जाते हैं। साथ ही प्रशस्त मात्रा में चूर्णातु तथा भास्वर का उपयोग होना चाहिये। गर्भवती तथा धात्री माताओं को भी यही मात्रा प्रशस्त है।

वृहत् मात्रा चिकित्सा विधि मे ३००००० अन्तर्राष्ट्रिय एकक से लगाकर ६००००० अन्तर्राष्ट्रीय एकक तक एक दिन मे दिये जा सकते है। तदन्तर यदि आवश्यकता हो तो तीन माह पश्चात् फिर यही मात्रा दी जा सकती है। वृहत् मात्रा चिकित्सा (Massive dose therapy) से कई बार साधारण विधि चिकित्सा से अच्छे परिणाम प्राप्त हुये हैं। दीर्घकालीन बाल मृदूस्थि तथा फक्क रोग (Coeliac disease) में जीवति डी की बार बार महत् मात्रा देने की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

विपाक्तता (Toxicity)—यदि सावधानी रक्खी जाय तथा विपाक्तता के चिन्ह प्रकट होने पर मात्रा कम कर दी जाय अथवा स्थगित कर दी जाय तो कुछ भी स्थायी हानि नहीं होती है तथा विपाक्तता के चिन्ह मिट जाते हैं। विपाक्तता के लक्षण ये हैं—प्यास अधिक लगना, बार बार वमन होना, जी मचलाना तथा जी बैठना, भय सा लगना, सिर में दर्द तथा मूत्राशय मे जलन होना। अत्यधिक तीव्र अवस्था मे रक्त मे चूर्णातु का प्रमाण बहुत बढ़ जाता है तथा शिराओं आदि मे भी चूर्णियन (Calcification, Pathogenic Calcification) होने लग जाता है। परन्तु साधारणत इसकी बहुत कम संभावना है।

हृदय सम्बन्धी तथा वृक्क सम्बन्धी रोग जहां हो वहां पर जीवति डी की महत् मात्रा का सेवन नहीं करना चाहिये।

चूर्णातु तथा भास्वर की मात्रा—प्रतिदिन आहार के रूप मे अथवा औषध के रूप मे इनकी शरीर मे आवश्यकता रहती है। जो बालक समय से पूर्व उत्पन्न हुये हैं अथवा कमजोर होते हैं, उन्हे अधिक मात्रा की आवश्यकता रहती है। ज्यों ज्यों शिशु बढ़ता जाता है, उसकी अस्थि मे विकास होता जाता है, त्यों त्यों आहार में इन खनिजों की आवश्यकता भी बढ़ जाती है। औसतन एक स्वस्थ शिशु को उसकी उम्र के अनुसार ०.१ ग्राम से १.० ग्राम तक चुर्णातु की प्रतिदिन आवश्यकता होती है। लगभग इतनी ही अथवा इससे डयोढ़ी मात्रा मे भास्वर शिशु के लिये आवश्यक होता है। ३ वर्ष के शिशु के लिये १.१६ ग्राम प्रतिदिन अथवा इसके समतुल्य (आवश्यकतानुसार) मात्रा ली जा सकती है। रुग्णावस्था मे इनकी मात्रा दैनिक आवश्यकताओ से कहीं अधिक होती है। उपरोक्त आवश्यकताये शिशुओं तथा बालकों की है। बड़ों को विशेषकर गर्भवती तथा धात्री माताओं को अधिक आवश्यकता होती है।

नीचे एक तालिका दी जा रही है, उसमे प्रमुख भोज्य पदार्थों के चूर्णातु तथा भास्वर (Constituents) के प्रमाण दिये गये है। रोगी के पथ्य निर्देशन मे अथवा रोग निरोधक (Preventive) भोज्य व्यवस्थाओ मे इससे सहयोग मिलेगा।

तालिका—१

कुछ प्रमुख खाद्य पदार्थों मे चूर्णातु तथा



भास्वर की प्राप्त मात्रायें—

नाम खाद्य — खनिज घटक मिलिग्राम प्रति १०० ग्राम पदार्थों के खाये जाने योग्य भाग (Edible portion) के।

नाम खाद्य	चूर्णातु	भास्वर
१—गोभी (पत्ता गोभी)	४२६	३४
१—फूल गोभी	२२	२०
३—केला	११	३१
४—जौ [पूर्ण]	७५	१७१
५—दूध [गाय का]	११८	६३
६—दूध [माता का]	३०	(प्रमाण अनुपलब्ध)
७—मक्खन	१६	१
८—नारियल [सूखा हुआ) (Coconut)	४३	७७
९—मछली (Cod)	१०	२२
१०—अंगूर	१७	७
११—शहद	५	६
१२—प्याज	३६	१६
१३—मूली	३७	१५
१४—सेलरी (Cellery) (हरी पत्तीदार सलाद)	६०	२५

दूध तथा हरी सब्जियां इन खनिजो के प्रमुख स्रोत हैं।

चूर्णातु, भास्वर तथा जीवति डी के कई योग बाजार मे उपलब्ध हैं, जो बाल मृदुस्थि रोग पर सफलतापूर्वक दिये जाते हैं। उनकी आवश्यक मात्राओं के बारे मे संकेत ऊपर दिये जा चुके हैं। चिकित्सक को समयानुकूल योग तथा मात्रा स्वयं निर्धारित करने मे कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। जितने भी योग बाजार मे उपलब्ध हैं उन सबका वर्णन करना किंचित कठिन है। उदाहरणार्थ एक प्रयोग का उल्लेख करते हैं—

नाम शिशु—पूर्णेन्दु, उम्र ६ माह,

लक्षण—बाल मृदुस्थि के स्पष्ट तीव्र लक्षण नहीं थे। सिर साधारण अनुपात मे बड़ा तथा लम्बा था। सिर पर रात्रि मे पसीने आना। कुछ कुछ कपोताकार वक्ष था, कमजोरी थी, शिशु बढ़ता नहीं था, न पूरा दूध पीता था। फिर भी कभी अतिसार, कभी पेट मे दर्द, कभी ज्वर होते रहते थे। चिकित्सा करते समय कोई विशेष उपद्रव नहीं थे।

रोग निर्णय—बाल मृदुस्थि का प्रारम्भ।

औषधि व्यवस्था—ओस्टेलिन फोर्ट (Ostelin fort: Glaxo) नामक जीवति डी ६००००० अंतर्राष्ट्रिय एकक के सूचीवेध रूप मे प्रयुक्त किये जाने के लिये छोटी छोटी कूपिकाये (Ampules) आती है उसे लाकर एम्पुल को काटकर उसमें से आधी औषधि शिशु के मुंह मे डाल दी गई तथा ऊपर से स्तनपान करा दिया गया। बची हुई आधी औषध के मुंह पर भली प्रकार रुई इत्यादि रखकर बांधकर सावधानीपूर्वक रख दिया गया। बीस दिन बाद यह बची हुई औषध भी इसी प्रकार दे दी गई।

इसके साथ ही एडेक्सोलिन (Adexolin) नामक औषध की (जिसमे जीवति ए तथा डी होते है) प्रतिदिन देने की व्यवस्था कर दी गई।

सैंडोज की चूर्णातु वटिका (Sandoz Calcium tablets) पीसकर दूध के साथ प्रतिदिन देने की व्यवस्था भी रही, जिससे चूर्णातु का मात्रा १.० ग्राम प्रतिदिन की रक्खी गई।

प्रभाव—जीवति डी की प्रथम मात्रा देने के तीन दिन बाद शिशु में स्वास्थ्य के लक्षण नजर आने लगे। चेहरे तथा त्वचा पर ओज प्रकट होने लगा तथा वजन भी कुछ औंस बढ गया। सिर पर पसीने आने कम हो गये तथा दस दिन के बाद बिल्कुल बन्द हो गये। ज्वर नहीं हुआ। पन्द्रह दिन बाद शिशु अच्छी तरह से बैठने लग गया तथा एक माह के अन्दर अन्दर दो दांत बिना किसी कष्ट के निकल आये।

एक अन्य प्रयोग मे चूर्णातु वटिका के स्थान

पर (Osto calcium syrup with vit-12) नामक चूर्णातु शर्बत मिश्रण दिया गया। शिशु की अवस्था कोई १६ माह की थी। Ostelin forte का आश्चर्यजनक परिणाम इस बार भी देखने मे आया तथा शिशु की अवस्था मे आशातीत सुधार हुआ।

इसी तरह से काड लिवर आइल का प्रयोग भी लाभकारी है। बहुत छोटे बच्चों को अधिक काड लिवर आइल नहीं देना चाहिए। अवस्थानुसार कुछ बूंदों से शुरू करना चाहिए। मछली का तैल मालिश के लिये भी लाभ के साथ प्रयोजित हो सकता है। जीवति डी त्वचा के रन्ध्रों द्वारा अचूषण कर लिया जाता है। काड लिवर आइल के साथ चूर्णातु प्रधान किसी भी औषधि की व्यवस्था भी कर देनी चाहिए। आयुर्वेदीय औषध शंख भस्म का भी विशेष प्रभाव देखने मे आया है।

साधारणतया शिशुओं मे अन्य जीवति द्रव्यों की भी न्यूनता रहती है; विशेषकर जब वे रुग्ण हों अतः इन द्रव्यों के मिश्रणों की योजना भी हितकारी होती है तथा अन्य औषध को प्रभावपूर्ण बना देती है।

एबडेक ड्रोप्स [*Abdec drops*] तथा एडेक्सोलिन [*Adexolin*] आदि इस प्रकार के अनेक योग बाजार मे उपलब्ध हैं।

यदि शिशु स्तनपान करता हो तो माता के आहार पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए ताकि आवश्यक द्रव्य उसे भी उपलब्ध हो। बाल मृद्वस्थि चिकित्सा मे लघु तरंग आयाम रश्मियो (*Short wave length rays*) का भी बहुत लाभपूर्ण उपयोग किया जाता है। इस प्रकार से त्वचा को उद्विकिरण [*Irradiation*] करने से त्वचा मे जीवति डी का निर्माण होना है। कुछ खाद्य पदार्थों को जैसे दूध, प्रकिण्व [*Yeast*] कुछ खाने योग्य कुकरमुत्तों आदि को भी उद्विकिरण प्रक्रिया से जीवति डी समृद्ध बना तब उपयोगित किया जाता है। सूर्य किरणों मे भी उद्विकिरण की बहुत शक्ति होती है। इस रोग मे धूप का सेवन अत्यन्त हितकारी है। इस रोग की सूर्य किरण चिकित्सा किंचित विस्तार से इसमे आग लिखेगे यहां सिर्फ परिचय मात्र दिया है।

बाल मृद्विस्थ के साथ अन्य संबधित उपद्रवों तथा व्यधियों की चिकित्सा तद् तद् उपद्रवों तथा व्याधियो की शान्ति की लिये करनी चाहिये। सामान्यतः देह क्षीणताजन्य श्रम, विकलता, ज्वर, अतिसार, काम, प्रतिश्याय, श्वास रोग, गैस रोग आक्षेप आदि उपद्रव इस व्याधि के साथ होते हैं।

बाल मृद्वस्थि चिकित्सा पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण—

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में बाल मृद्वस्थि रोग के विशिष्ट लक्षण एवं वर्णन उपलब्ध नहीं हैं। वैसे अस्थि सम्बन्धी अनेक अन्य रोगों का वर्णन मिलता है। सुश्रुत संहिता मे अध्यस्थि आदि कई अस्थि संबन्धी रोगो का वर्णन है। पंचदश अध्याय मे रसादि धातुओं की क्षय वृद्धि के लक्षणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

अस्थिक्षयेऽस्थि तो दो दन्त नख भंगा रौक्ष्यञ्च।

अस्थि के क्षीण होने पर हड्डियों मे वेदना, दांत और नख टूटना तथा रुखापन होता है।

वात का स्थान अस्थि मे भी है। यथा—

पक्काशय कटि सक्थिश्रोत्राऽस्थि स्पर्शनेन्द्रियम्।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्काधानं विशेषत॥

अस्थि क्षीणता से बात-प्रकोप भी होता है तथा लक्षण स्थान में पहले कहे गये सब लक्षणों का विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि यह वात-प्रधान व्याधि है। तथापि इस विषय मे प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों मे विशेष वर्णन प्राप्त नहीं हैं। और शोध की अत्यन्त आवश्यकता है।

हारीत संहिता में अस्थि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है।



त्वङ्मांस केश रोमाऽस्थि भूभागो जनयेत तथा ।

यहां पर भू भाग का प्रधान आशय पृथ्वी महाभूत से है। अस्थि का निर्माण पृथ्वी महाभूत से होता है। अत अस्थि का खनिज प्रधान द्रव्यों का यौगिक होना अनुरूप ही है।

कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने इसे फक्क रोग माना है। निःसंदेह फक्क [*Coeliac disease*] अथवा रस क्षय तथा बाल मृद्वस्थि [*Rickets*] के लक्षण काफी सामरूप हैं, तथापि इनमें भेद है। फक्क रोग की सम्प्राप्ति अंत्र के भीतर वसा के विमंदित प्रचूषण से अथवा जन्य होती है। मल में वसा का उत्सर्जन अधिक होता है। अत' अतिसार होते हैं। देह तथा ओज, रसक्षीण होने से क्षीण हो जाते हैं। तथा अन्य धातुयें और मल भी क्षीण हो जाते हैं। इस रोग का प्रधान स्थल अन्य प्रणालिका में हैं तथा लक्षणों मे प्राय' अतिसार अवश्य रहता है। जबकि बाल मृद्वस्थि में अतिसार होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यहा पर चूर्णातु तथा भास्वर की चयापचय क्रियाओं का विक्षोभ होता है, रस क्षय इसके साथ हो भी सकता है और नहीं भी। हां, रसक्षय अथवा फक्क के साथ प्राय' बाल मृद्वस्थि भी होता है। इस रोग के बारे में भी विशेष शोध की आवश्यकता है। काश्यप संहिता मे तीन प्रकार के फक्क रोग वर्णन किये गये हैं—

१—क्षीरज फक्क
२—गर्भज फक्क
३—व्याधिज फक्क

सभवत व्याधिज फक्क को हम बाल मृद्वस्थि के समतुल्य गिन सकते हैं। फक्क रोग को बाल शोष भी कहते हैं।

अन्य कुछ विद्वानों ने बाल मृद्वस्थि का वर्णन बाल वक्रास्थि नामकरण करके किया है। अस्थि वक्रता इस रोग में एक बाल लक्षण है, जो कभी स्पष्ट होता है तो कभी गुप्त (*Latent*)। फिर एक बाल लक्षण के आधार पर नामकरण करना भ्रामिकारक भी हो सकता है। अस्थि वक्रता अन्य कारणों से भी हो सकती है। मृद्वस्थि शब्द व्याधी व्याख्याकारक [*Disease describing*] अधिक स्पष्ट सूत्र है, जिससे व्याधि की सही स्थिति का बोध हो सकता है। अतः लेखक ने इसी शब्द को बाल संयुक्त कर प्रयुक्त किया है।

व्याधि के नाम में मतभेद होने पर भी आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार चिकित्सा करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। अष्टाग हृदय मे लिखा है—

विकार नामा कुशलो न जिह्रीयात्कदाचन ।
न हि सर्व विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थिति ॥

जो चिकित्सक संपूर्ण व्याधियों के नामों को न जाने उसे चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण विकारों के नाम नहीं होते, तथा नाम से ही उनकी सही स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता।

सुश्रुत में कहा है—"नास्ति रोगो विना दोषै" अतः जो चिकित्सक दोषों के गुण धर्म भेद भली प्रकार जानता है, दोषों के स्थान, विकृति के लक्षण तथा कर्षण, बृंहण आदि क्रियाओं का ज्ञाता है, जिसे औषध ज्ञान पूरा है, वह व्याधि का बिना नाम जाने भी दोषानुसार सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकता है। चिकित्सा की व्याख्या करते हुये भगवान् आत्रेय ने कहा है—

याभिर्क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समा ।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥

जिन क्रियाओं से देह में विकृत हुये धातु समान हों उन्हे चिकित्सा कहते है।

हेत्वादिरूपकृतिसात्म्य जात भेदै समीक्ष्यातुर सर्वरोगान् ।
चिकित्सित कर्षण बृंहणाख्यं कुर्वीत वैद्योविधि वत्सुयोगे ॥

बालमृद्वस्थि रोग में बृंहण चिकित्सा प्रशस्त है। जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट है इस रोग में अस्थि धातु का क्षय होता है। अत. विविध क्रियाओं से अस्थि की वृद्धि करना ही अभीष्ट है।



आयुर्वेदिक औषधों मे चुर्णातु प्रधान योगिक इस रोग मे व्याधि शमनार्थ प्रशस्त है। मुक्ता, प्रवाल, शंख, कौडी आदि के भस्म अथवा पिष्टिये उचित मात्रानुसार देने से अवश्य लाभ करती है। परन्तु जीवति डी (*Vitamin D*) का भी साथ मे विचार अवश्य करना चाहिए। आधुनिक शोधो को आयुर्वेदिक सिद्धान्तानुसार परख कर उनकी व्याख्या कर चिकित्सा मे इन उपयोगी तत्वो का समावेश करना वर्तमान काल की प्रकट आवश्यकता (*Felt need*) है। यदि शिशु को प्रतिदिन कुछ काल के लिए धूप सेवन कराया जाय तो जीवति डी की यह आवश्यकता निरापद रीति से पूरी हो जाती जाती है। चूर्णातु प्रधान आयुर्वेदिक योगो के साथ (*Ostelin forte*) आदि जीवति डी द्रव्यों का प्रयोग पूर्ण निरापद है तथा आवश्यकतानुसार चिकित्सकों को प्रयोग मे लाना चाहिये। ऐसे लाभदायक प्रयोगों के अनुभव लेखक को है। यहां पर सिद्धांत विवेचन करना ही अभीष्ट है। अरविन्दासव का उपयोग भी अति हितकर है।

काड लिवर आयल [*Cod liver oil*] तथा इसके अभाव में शार्क लिवर आयल [*Shark liver oil*] भोजन के पश्चात् मात्रानुसार देना चाहिए। शरीर पर इस तेल की मालिश भी करनी चाहिए।

निम्नलिखित तेल मालिश के लिए प्रयुक्त किया जाता है तथा अत्यन्त गुणकारी है—

मकोय के पत्ते, पियाबासा, करेला, नागरबेल के पान, भागरा और छोटी दूधी का पंचाग इन सबका रस २०-२० तोले।

हल्दी, अगर, कूठ, सुगन्धवाला, असगंध, जटामांसी, लाल चन्दन, लौंग तथा जायफल इन सबको बराबर बराबर लेकर १० तोले कल्क करे।

तिली का तेल आधा सेर लेकर उपरोक्त कल्क तथा रस मिला कर मंदाग्नि पर गर्म करे। जब रस जल जाय (बहुत थोड़ा रस रह जाना ठीक रहता है, नहीं तो तेल सब जल जायगा।) तब उतार कर छान ले। इस तैल को खुले वर्तन मे ७ दिन तक प्रतिदिन ५ घण्टे के हिसाब से धूप मे रक्खे। इस तरह उद्विकिरणीन करने से इसके गुणों मे वृद्धि होती है। पश्चात् आधा तोला कपूर पीसकर भली प्रकार मिलाले तथा बोतल मे भर कर रख दे।

तिली के तैल की जगह नारियल का तैल भी इससे प्रयुक्त होता है। लेखक के दृष्टिकोण से यह अधिक गुणकर है। केवल नारियल के तेल को १५ दिन धूप मे उद्विकिरणीत [*Irradiation*] कर मालिश में प्रयोग करना भी गुणकारी है।

हितकर विहार की भी पथ्य रूप में योजना करनी चाहिए। दुग्ध मे वर्तमान चूर्णातु अन्य सामान्य खाद्य पदार्थों मे वर्तमान चूर्णातु से अधिक सुगमतापूर्वक प्रचूषणीय [*Absorbable*] है। अतः पथ्य मे दुग्ध भी उचित प्रमाण मे रहे, इसका स्मरण रखना चाहिए। चूर्णातु कुछ लोह-यौगिकों के साथ मिल कर अन्य प्रणाली मे अविलेय योगिक [*Insoluble Compounds*] भी बनाता है। अतः इस विषय मे सावधानी रखनी चाहिए कि चिकित्सा काल मे ऐसे कुयोग न होने पाये।

कुछ विद्वान चिकित्सकों के मतानुसार मधुमालती बसत, शृङ्गभस्म तथा प्रवाल पिष्टी, गिलोय सत्व तथा प्रवाल आदि का संयुक्त प्रयोग तथा कुमार कल्याण रस का प्रयोग भी हितकारी तथा व्याधि निरोधक है।

बाल मृद्वस्थि पर सूर्य-किरण चिकित्सा–विशेष विवेचन

भारतवर्ष मे सूर्य रश्मियों का जीवनीय प्रभाव प्राचीन काल से विदित रहा है। सूर्योपस्थान उद्बोधक ऋचाओ से इनके स्पष्ट सूत्र मिलते हैं। पाश्चात्य चिकित्सको ने भी आज से ८०-१०० वर्ष पूर्व सूर्य किरणों का प्रभाव-बाल मृद्वस्थि चिकित्सा मे अनुभव किया [*Dr. Palm, 1840*]। गत ३० वर्षो मे इस चिकित्सा मे पारजम्बु रश्मियों [*Ultra-voilet rays*] के प्रभाव पर बहुत महत्वपूर्ण शोधे हुई हैं तथा प्रभावशाली तथ्य ज्ञात हुए है।



सूर्यरश्मियां सब तरह की ज्ञात अज्ञात रश्मियों का समूह है। इनमे जो (जैसे पारजम्बु) [*Ultra violet*] लघु तरंग आयाम रश्मियां [*Shortwavelength rays*] होती है, उनके प्रभाव से मोम गुण धर्म वाले कुछ द्रव्यों[*Sterols*]के अणु समूहों [*Molecules*] मे पुनर्विन्यमन [*Rearrangement*] होता है तथा जीवति डी का निर्माण होता है। हमारे शरीर की त्वचा मे *7-dehydro cholesterol*] नामक द्रव्य होता है। लघु तरंग आयाम सूर्य रश्मियो [*Short wave length Sunrays*] के प्रभाव से इस द्रव्य के अणु समूहों मे पुनर्विन्यासन होकर त्वचा के भीतर तथा त्वचा पर जीवति डी ३ [*Vit* D_3-*Cholo-calciferol*] का निर्माण होता है जो यहीं से देह मे प्रचूषित कर लिया जाता है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि सूर्य रश्मियों मे जो पारजम्बु रश्मियां जीवति डी के निर्माण करने मे समर्थ हैं उनके तरंग आयाम [*wave lengths*] की सीमा [*Range*] २५० *m.m.* [मिलि माइक्रोन] से ३१३ *m.m* है। एक मिलि माइक्रोन एक मिलिमीटर का १।१००००००० वा हिस्सा होता है। सूर्य रश्मियों की लघुतम तरंग आयाम जो पृथ्वी तक पहुंचती है यह २६० *m m* है। यह उष्ण प्रदेशो मे गर्मी की ऋतु से पहुचा करती है। इससे लघु आयाम की तरंग वायुमण्डल मे ही रह जाती है, तथा पृथ्वी तक अथवा हमारी त्वचा तक नहीं पहुच पाती है। अत स्पष्ट है कि सूर्य किरणों का महत् प्रभाव उष्ण प्रदेशो मे अधिक होता है।

स्टेरोल [*Sterol*] समूह प्रधान खाद्य पदार्थों को सूर्य की लघु तरंग आयाम रश्मियों से उद्विकिरण करके जीवति डी का निर्माण किया जा सकता है। धूप मे सुखाये गये नारियल, गाजर, सेम, गोभी, कुछ खाये जाने वाले कुकुरमुत्ता [*Mushrooms*], प्रकिण्व [*Yeast*] आदि अनेक खाद्य पदार्थों में इस तरह जीवति डी का निर्माण हो जाता है तथा इन्हे बाल मृद्वस्थि चिकित्सा मे समझपूर्वक व्यवहृत किया जा सकता है। औषधियो को सूर्य किरणों द्वारा उद्विकिरण करने की विधि पूर्व में लिखी जा चुकी है।

पाश्चात्य देशों मे उद्विकिरण दूध [*Irradiated Milk*] का पर्याप्त प्रचलन है। यह निर्माणशालाओं में कृत्रिम तरंग आयाम रश्मियों मे दुग्ध को रखकर बनाया जाता है। भारतवर्ष मे इसका प्रचलन नहीं है। डा० विश्वनाथ राय (१६५०) के मतानुसार शिशुओं को गाय का दूध पिलाने की अपेक्षा यह उत्तम है कि धात्रियों को परिपूर्ण दूध आदि का पोषण मिले तथा मा को चाहिए कि शिशु को दूध पिलाने से पहले वह प्रतिदिन प्रात काल आधे से एक घण्टे तक धूप सेवन किया करे।

सूर्य रश्मियों का प्रभाव नगे बदन पर अधिक होता है। धूप सेवन खुले स्थान मे करना चाहिए। खिड़कियों के साधारण शीशे [*Window glass*] ३२० *m.m.* से लघु तरंग आयाम रश्मियो के लिये अपारदर्शक होते है तथा जीवति डी निर्माण मे समर्थ रश्मियां ऐसे शीशो मे से पार नहीं हो सकती है। वातावरण तथा वायुमण्डल मे धूम, धूल, अथवा बादल छाये हों, तो भी गुणकारी लघु तरग आयाम रश्मियो के लिये अल्पपारदर्शक तथा अपारदर्शक होते हैं। जिस त्वचा पर अत्यधिक रोम हों वहा पर उद्विकिरण क्रिया का पूरा लाभ नहीं होता है। उद्विकिरण [*Irradiation*] गौरवर्ण त्वचाओं पर श्याम वर्ण त्वचाओं से अधिक प्रभावशाली है। अधिक धूप सेवन से त्वचा अस्थायी काल के लिये 'श्यामवर्ण' सी हो जाती है। संभवत इसका प्रभाव त्वचा को और अधिक उद्विकिरण होने देने से बचाना है। अक्सर देखा गया है कि नीग्रो [*Negro*] आदि श्याम वर्ण जातियों मे मृद्वस्थि रोग अधिक पाया जाता है। इसका आंशिक कारण उनकी त्वचा का वर्ण है।

उद्विकिरण प्रभाव के लिए धूप की ही आवश्यकता नहीं है। बर्फ पर से प्रतिबिम्बित सूर्य प्रकाश अथवा वायुमण्डल से प्रतिबिम्बित सूर्य प्रकाश

[*Sky shine*] में भ। उत्थिकिरणीय गुण होते है। सूर्य प्रकाश भी दिन भर में तथा ऋतु काल अनुसार कम ज्यादा होता रहता है। अत. उसके अनुपात में जीवति डी का निर्माण भी कम ज्यादा होगा। ग्रीष्म ऋतु में, तथा मध्याह्न काल में सूर्य किरणें क्रमश: अन्य ऋतुओं की अपेक्षा तथा दिन के अन्य समय की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती हैं।

अत्यधिक जीवति डी के सेवन से जिस प्रकार विषाक्त चिन्ह प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार त्वचा के अत्यधिक उद्धिकिरण से भी हानि हो सकती है। अत: अत्यधिक सूर्य सेवन भी अहितकर है। सूर्य शक्ति दिन भर में तथा विभिन्न ऋतुओं मे कम ज्यादा होती रहती है। सूर्य प्रकाश से औसतन मानव त्वचा पर कितना जीवति डी का निर्माण हो पाता है, यह कहना कठिन है।

धूप सेवन के समय यदि सिर को स्वच्छ श्वेत वस्त्र स ढक लिया जाय तो ठीक रहता है अन्यथा तीव्र ऊष्मा के प्रभावस्वरूप शिरोवेदना हो जाना संभव है। धूप सेवन करते समय सर्वदा सूर्य की ओर पीठ रखनी चाहिए जिससे नेत्रों पर हानिकारक प्रभाव न होने पावे। तैल-मर्दन के बाद सूर्य-स्नान कर कुछ काल पश्चात् शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए। शीघ्र स्नान कर लेने से पूरा लाभ नहीं होता तथा कचित् हानि की भी संभावना रहती है। शीघ्र लाभ प्राप्ति की आशा मे एक ही दिन बहुत देर तक धूप में नहीं रहना चाहिए। शनै: शनै: पर लगन के साथ कार्य करने से ही स्थायी लाभ मिलता है अन्यथा हानि होती है। सूर्य स्नान के शीघ्र पश्चात् शीतल पेय का ग्रहण करना भी हानिकारक है। पथ्य पालन के साथ उचित व्यवस्थानुसार सूर्य स्नान करने से व्याधिनाश तथा स्वास्थ्य प्राप्ति अवश्य होती है।

उपसंहार—

बालमृदस्थि शिशुओं मे पाया जाने वाला चूर्णातु भास्वर तथा जीवति डी की चयापचय क्रियाओं मे विक्षोभजन्य रोग है। इस व्याधि मे सुदृढ़ तथा स्वस्थ अस्थि निर्माण नहीं होता है। अस्थि मृदुता होने से कई तरह की विकृतियां उत्पन्न हो जाती है तथा देह क्षीण होने से अन्य कई व्याधियां आक्रमण करती हैं।

व्याधि शमनार्थ जीवति-डी चूर्णातु तथा भास्वर के योग अत्यन्त प्रशस्त है। आयुर्वेदीय योगों मे शंख, बराटिका, शृङ्ग, मुक्ता, मधुमालिती वसन्त, अरविंदासव, प्रवाल आदि मुख्य औषधियां हैं। सूर्य किरण चिकित्सा अत्यन्त हितावह है।

—श्री. पं पुखराज शर्मा, ७८-अशोक नगर,
कृषि कालेज, उदयपुर (राजस्थान)

अस्थि-विकार

श्री आचार्य सुदेवचन्द्र पाराशरी शास्त्री, D. I. M. S.

परिचय—

वृद्धिशील छोटे शिशुओं में पोषण की कमी मे उत्पन्न विकृति है जिसमे अस्थि वृद्धि विकृत होने के साथ साथ प्राय अन्यतम श्लेष्मधर कलाओं का प्रदाह शोफ, वातिक-अस्थिरता और रक्तक्षय मिलते है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ 'काश्यप-संहिता' में वर्णित फक्क-रोग अस्थि-विकार (*Rickets*) का



ही रूप है। एक वर्ष का होने पर भी शिशु यदि पैरों से नहीं चल सकता, तो उसे फक्क[1] कहते हैं। काश्यप ने इसके तीन[2] भेद लिखे हैं—१. व्याधिज २. क्षीरज और ३. गर्भज।

१-व्याधिज फक्क को स्वतन्त्र (*Primary*) व्याधि समझना चाहिए। पिता माता के शुक्रशोणित से पोषक जीवनीय तत्वों के अभाव से उत्पन्न शिशु में सम्बन्धित अस्थि प्रभृति धातुओं की यथेष्ट वृद्धि में रुकावट या प्रगति की कमी रहती है जिससे शिशु रोगग्रस्त हो जाता है।

आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने अनागत बाधा प्रतिषेध (*Prophylaxis*) की दृष्टि से गर्भाधान से पूर्व पुरुष व स्त्री दोनों को शुक्रार्त्तव-पोषक जीवनीय रसायन और बाजीकरण द्रव्यों का सेवन एक मास पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक करके परिपुष्ट शुक्रार्त्तव संयोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करने का विधान लिखा है। यदि शुक्रार्त्तव वायु-पित्त-कफ द्वन्द्व या सन्निपात दोषों से दुष्ट होंगे तो शिशु का सहज या उत्तर कालज व्याधिपीडित हो जाना स्वाभाविक है। अतः तत्तद् दोषों का अनुसन्धान करके उनकी शास्त्रोक्त चिकित्सा द्वारा शुद्धि करके ही गर्भाधान में प्रवृत्त होना चाहिए।

शुद्ध शुक्रार्त्तव वाले माता-पिता को भी बाजीकरण रसायन पोषक द्रव्यों व ब्रह्मचर्य द्वारा विशेष जीवनीय शक्ति सम्पन्नता प्राप्त करके ही सन्तानोत्पत्ति का निर्देश है। आज के युग में आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त का लोप हो जाने के कारण तथा समाज की दयनीय और विषम अर्थ व्यवस्था के फलस्वरूप पौष्टिक और जीवनीय आहार का प्रायिक अभाव हो गया है, फलस्वरूप शुक्र और आर्त्तव में जीवनीय द्रव्यों के अभाव से 'व्याधिज फक्क' का भी विपुल प्रसार है।

२-क्षीरज फक्क—जननी क्षीर अथवा धात्री के दूध में जीवनीय एवं पोषक तत्वों के अभाव होने से दोषयुक्त होने के कारण 'क्षीरज फक्क' उत्पन्न होता है। दुग्ध में वातिक दोष परीक्षा सिद्ध होती है। श्लेष्म संघटक तत्वों विटामिन डी एवं सुधा (कैल्शियम) का अभाव रहता है। दुग्ध पिलाने वाली के दुग्धवर्जन एवं शोधन के साथ साथ पोषक आहार की व्यवस्था किए बिना रोग से रक्षा सम्भव नहीं होती[1]।

कश्यप ने श्लेष्मदुग्धा धात्री से शिशु को मन्दाग्नि होकर धात्वग्नियों के व्यापार मन्द हो जाने एवं रसवह स्रोतसों एवं अन्य (अस्थिवह विशेष कर) स्रोतसों के अवरुद्ध हो जाने से उत्तर धातुओं एवं अस्थि के पोषण के अभाव से दौर्बल्य, कृशता, कफरोग (श्लेष्मधर कला शोथ प्रतिश्याय कासादि) युक्त फक्क (अस्थि मार्दव) की सम्प्राप्ति लिखी है जो सर्वथा युक्त संगत है।

३-गर्भज फक्क—दुग्ध पिलाने वाली जननी को दूसरा गर्भ रह जाने से उसके दूध का पोषण-अंश गर्भ के पोषण में अधिकांशतः व्यय हो जाता है। सुतरां स्तनपायी शिशु को वाञ्छित पोषक मातृ दुग्ध से मिलना असम्भव होता है। अतः शिशु को गर्भज फक्क हो जाता है।

ये क्रमाङ्क २ एवं ३ भेद परतन्त्र (*Secondary*) व्याधि के रूप में उत्पन्न होते हैं।

कारण—

आधुनिक वैज्ञानिक भी इन तीनों भेदों में निरूपित सम्प्राप्ति को सर्वथा स्वीकार करते हैं। शुक्र से ही विटामिन डी का अभाव शिशु में व्याधि प्रवर्त्तक होता है, अथवा शिशु के आहार

---

१ परिसंवत्सरो बालः पादाभ्यां यो न गच्छति।
स "फक्क" इति विज्ञेय . . ॥
२ क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसम्भवम्।
फक्कं त्रिविधं प्रोक्तं .. .. .. ॥
—काश्यप संहिता

१ धात्री श्लैष्मिक दुग्धा तु फक्कदुग्धेतिसञ्ज्ञिता।
तत्क्षीरपो बहुव्याधि कार्श्यात्फक्कत्वमाप्नुयात् ॥
—काश्यप संहिता

में जीवनीय डी के अभाव से ही रिकेट्स होने की सम्भावना रहती है।

मुख्यतः आहार में जीवनीय डी का अभाव ही रोग का कारण है। भोजन में धान्य का अनुपात अत्यधिक रहने तथा जीवनीय डी के स्रोत दुग्ध मक्खन एवं अण्डों के अभाव से रोग-प्रवृत्ति होती है। सूर्य प्रकाश न मिलने के कारण अस्थिनिर्माण के लिए अपेक्षित सुधालवण (कैल्शियम) और फास्फोरस का पर्याप्त मात्रा में शोषण नहीं हो पाता क्योंकि सूर्य की अतीव नीललोहित किरणें (*Ultra voilet rays*) ही त्वचा के मेद में जीवनीय डी का निर्माण करती हैं और जीवनीय डी की उपस्थिति में ही कैल्शियम और फास्फोरस का शोषण और आत्मीकरण सम्भव होता है।

धान्य-शाकादिमय कर्बोज प्रधान आहार से पेशियों की वृद्धि तो तीव्र गति से होती है किन्तु जीवनीय डी की पर्याप्त मात्रा के अभाव से तथा कैल्शियम और फास्फोरस की मात्रा अथवा शोषण और आत्मीकरण के अभाव से अस्थिकंकाल की समानुपात में वृद्धि नहीं हो पाती और अस्थि-विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

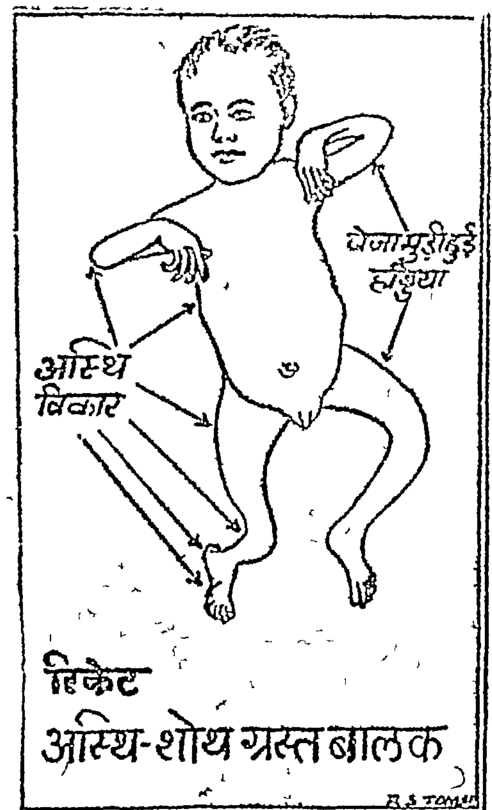
उष्ण प्रदेशों में शीतऋतु से रोग प्रसार अधिक देखा जाता है। अगहन से चैत्र तक विशेष कर सूर्य प्रकाश के अभाव के कारण नगरों में अधिक होता है। कृत्रिम भोजन तथा देर तक अथवा सगर्भा जननी का दुग्धपान भी इसके कारण हैं।

सूर्य प्रकाश में उन्मुक्त विचरण करने वाली जातियों तथा उष्ण-प्रदेश के अभिजनों में प्रायः रोग नहीं देखा जाता।

सम्प्राप्ति—

यह छोटे बच्चों का रोग है, ६ मास के वय में या तदुपरान्त आरम्भ होता है। बड़े बच्चों (८ से १४ वर्ष के वय में) में प्रायः कम मिलता है। उनमें विकृत अस्थि निर्माण देखा जाता है। अस्थि धातु पर्याप्त होने पर भी अस्थिधरा कला कोशाओं में सुधालवण (कैल्शियम) की कमी रहती है। निर्मित अस्थि में कैल्शियम फास्फेट के उपादान न्यून होते हैं। प्राकृतिक ६३% के बजाय ३५% तक या और भी कम, रक्तस्थ कैल्शियम और खनिज फास्फोरस प्रति १०० सी. सी. में प्राकृतिक अनुपात १० और ५ मिलीग्राम के बजाय ८ और २ मिलीग्राम होते हैं। रक्तरस में फास्फेट्स प्राकृतिक औसत से १ से ४ यूनिट (अम्ल) और ८ से १४ यूनिट (क्षार) प्रति १०० सी. सी. बढ़ जाते हैं।

अस्थिविकार (Rickets) अव्यवस्थित खटिकीभवन की अवस्था है। दीर्घ अस्थियों के किनारों पर मृद्वस्थि-कोषाणु अति मात्रा में होते हुए भी नियमित स्तम्भों में व्यवस्थित न होकर अनियमित स्थिति में होते हैं। इससे एक चौड़ा, नीलाभ क्षेत्र बन जाता है जिसमें सम्बन्धित मृद्वस्थि सन्धि मोटी होती है। उस क्षेत्र में स्रोतसों की संख्या



चित्र नं० ४८



बढ़ जाती है। अस्थि निर्माण की तैयारी समुचित होने पर भी अस्थि निर्माण विकृत खटिकीभवन के कारण मृदु होता है। पर्यस्थ्यावरण (Periosteum) मोटा और मज्जा संकुलित होती है।

अस्थिधर-कोशाओं की अधिवृद्धि के कारण कतिपय क्षेत्र उभरे हुए (उत्पन्न) मालूम देते हैं जैसे मणिबन्ध पर अन्तः प्रकोष्ठास्थि का प्रान्तिक सिरा, उर.फलक पर मृद्वस्थिओं से पर्शुकाओं का सन्धि स्थल तथा पुरः और पार्श्व की कपालास्थिया।

किसी प्रकार के भार के पडने से अपूर्णखटिकी भूत मृदु-अस्थिया झुककर विकृत हो जाती हैं।

जब रोग दूर होने लगता है तो अस्थिधरा-कोशायें और ऊतक, खटिकपूर्ण, गहरे होकर पूर्णास्थिया बन जाती है और अनियमित अस्थि-वृद्धियां लुप्त हो जाती हैं।

व्याधि चित्र —

आरम्भिक लक्षण मन्द होते है, कई महीने की न्यूनता (Deficiency) लक्षण उत्पन्न करती है। शुरू मे बेचैनी, चिड़चिड़ापन और रात्रि मे शिर पर स्वेद आना ये लक्षण शीतऋतु और वसंत ऋतु में विशेष स्पष्ट दीखते है। पाचन-विकार जैसे आध्मान अतिसार सर्वसाधारण लिंग हैं। मास-क्षय न होने पर भी मासपेशियां दुर्बल और कृश तथा स्नायु शिथिल होते हैं। अस्थियों के मृदु होने के कारण सुषुम्ना के झुक जाने से और महाप्राचीरा के निम्नतर हो जाने से उदर बाहर को निकल जाता है, यकृत् और प्लीहा स्पृश्य एवं थोड़े बहुत बढ़े हुये भी होते है।

रक्त परीक्षा से सामान्यत पाण्डुरवर्ण रक्ताल्पता मालूम होती है। कास (श्वासायनीशोथ) और वातिक-संक्षोभ जैसे स्वरयन्त्र सकोच, टिटैनी और कदाचित् आक्षेपक भी हो सकते है।

(१) अनेक प्रकार के विशिष्ट अस्थिगत परिवर्तन होते है।

(अ) करोटिगत—अस्थिया पतली, विशेषकर पश्चातकपाल और पार्श्वकपालों के सन्धिस्थल के पास होती हैं। यह शोथोत्पादी लक्षण है जो कि ३ मास की आयु मे या पूर्व प्रकट होता है और ८-९ मास के वय में रोगारम्भ होने पर कम देखा जाता है। वर्ष के अन्त मे अदृश्य हो जाता है। रोग के क्रियाशील रहने पर अन्य लक्षण प्रकट होते है। ब्रह्मरन्ध्र एवं अधिपति रन्ध्र प्राय. पूर्वरन्ध्र बन्द नहीं हो पाते, (प्राकृतिक दशा मे १८ महीने के वय मे बन्द हो जाने चाहिये।) ललाट वर्गाकार (पुर. कपाल और पार्श्वकपालो) से चपटा बन जाता है।

(ब) दन्तोद्गम बिलम्ब से होता है।

(स) पर्शुकाओं और मृद्वस्थियों की सन्धि उत्सन्न (उठी हुई) होती हैं।

(द) दीर्घास्थियों की मृद्वस्थि सन्धिया, विशेषकर अन्त:प्रकोष्ठास्थि, बहिःप्रकोष्ठास्थि और ऊर्वास्थि के निचले सिरे और जघास्थि का ऊपरी सिरा उत्सन्न होते है। प्रथम वर्ष के अन्त में प्राय. ये लक्षण होते है।

(इ) भुजास्थियों के पर्यस्थ्यावरण के निर्माण की त्रुटि से अगुल्यस्थियों बाह्य और मध्य भाग लम्बे हो जाते हैं।

(२) अस्थिमृदुता से अनेक विकृतिया होती हैं।

(1) वक्षोविकार (पर्शुकाओं) से—

(अ) 'कपोताकार वक्ष'—मृदु पर्शुकायें पीछे को और उरःफलक आगे को झुक जाते है।

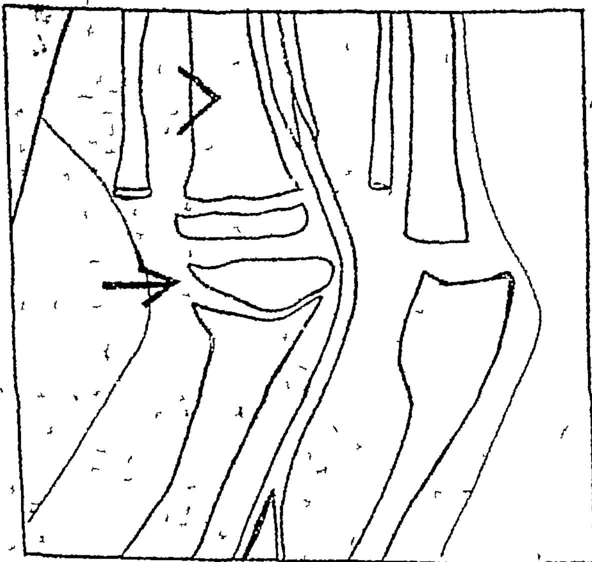
(ब) उर.फल के दोनों ओर खात से बन जाते हैं महाप्राचीरा के खिंचाव और उठी हुई पर्शुकाओं पर फूले उदर का दबाव ऊपर को पड़ने से दोनो पार्श्वों में दरारें सी बन जाती है।

(अ) दीर्घास्थिया विभिन्न दिशाओं मे झुक जाती है। विकृतिया मृदु-अस्थियों पर बाह्य भार पडने से होती है। ऊर्वास्थिया आगे और बाहर को झुक जाती तथा जान्वस्थि पृथक्-हो जाती है। जंघास्थि और अनुजंघास्थिया झुक जाती है और

उनके तीक्ष्ण सिरे सामने दीखते हैं। शिशु के घुटनो चलने से प्रगण्डास्थि और प्रकोष्ठास्थिया भी बाहर को नम जाती हैं। इनमें कदाचित् एक ओर झुकाव व दूसरी ओर भग्न (*Green stick fracture*) हो जाता है।

(३) सुषुम्णा में निम्न कटि प्रदेश का झुकाव एक कोण पर हो जाता है। श्रोणि चपटी या तिकोनी होती हैं। ये विकृतियाँ कुछ देर में उत्पन्न होती हैं, जब शिशु बैठता या खड़ा होता है।

एक्सरे परीक्षा से मृदुवरिथ सन्धि पर विशिष्ट परिवर्तन मिलते हैं। खटिकीभूत सूक्ष्म प्रातो का दीर्घास्थियों में अभाव रहने से विकृति होती है। कुछ समय बाद खटिकरहित प्रान्त अवनत होकर अविवृद्ध, अनियमित और चौड़े हो जाते हैं। ये मणिबन्ध पर प्रकोष्ठास्थियों में सर्वाधिक प्रतीत होते हैं, जानु पर उर्वास्थि और जंघास्थि में ये विकार मिलते हैं। समूची अस्थि की घनता न्यून होती है।



चित्र नं० ४६

अस्थि मार्दव का एक्सरे चित्र

अस्थि-प्रान्तों का अवनमन तथा अस्थि दण्डो का नमन

निदान प्रकार—

(१) सदोष आहार का इतिहास (२) विलम्बित दन्तोद्गम (३) स्पष्ट अस्थिगत परिवर्त्तन तथता विशिष्ट एक्सरे चित्र और (४) पाचन संस्थान श्वास संस्थान, और वातसंस्थान के उपद्रव देखने चाहिए।

करोटि बड़ी ऊपर से देखने पर शीर्षाम्बु-रोग सदृश मालूम देती है। सुषुम्णा में निम्नकटि देश में कोणीय नमन होता है।

यौवनगत-अस्थिमार्दव-शिशु—अस्थि विकार का पुनराक्रमण यौवन में हो जाता है, अथवा स्वतन्त्र रूप से भी रोग हो सकता है; कदाचित् वृक्को में सौत्रिक धातु बन जाती है। मुख्यतः दीर्घास्थियां प्रभावित होती हैं, भार पड़ने की जगह नम जाती है। करोटि की अस्थियां प्रभावित नहीं होतीं।

साध्यासाध्यता—

अधिकांशतः प्रथम दो वर्ष के उपरान्त क्रियाशील अस्थि-विकार लुप्त हो जाते हैं, परिणत-अस्थि विकार पूर्व इतिहास को बताते हैं। ये विकार भी बहुत बढ़े हुए न हों तो काफी सुधर जाते हैं। श्वसनक और उग्र अतिसार के उपद्रव घातक हो सकते हैं।

चिकित्सा—

प्रतिबन्धक—

शिशु को ६ मास की आयु तक स्तनपान कराना चाहिए। स्तन छुडाने पर अच्छे गो-दुग्ध अथवा उत्तम निर्माण-चिह्नत चूर्णीकृत-दुग्ध जिसमे जीवनीय 'डी' पर्याप्त हो का आहार देना चाहिए। यदि उक्त दोनो उत्तम न मिल सकें, तो इनके साथ १००० यूनिट जीवनीय 'डी' प्रतिदिन देना चाहिऐ। क्षीर पिलाने वाली धात्री के दूध में भी पर्याप्त मात्रा में विटामिन 'डी' रहना चाहिए। प्रचुर सूर्यप्रकाश, ताजी हवा तथा मांसपेशियो का व्यायाम आवश्यक है।

व्याधि निवारक—

रोगवृद्धि हो जाने पर ४००० से १०००० यूनिट

'५०००० यूनिट भी' विटामिन "डी" दैनिक आवश्यक है। एतदर्थ हालीवेरोल (*Halivorol*) ओस्टेलिन (*Ostelin*) नैवीटौल (*Navitol*) एडोक्सेलीन (*Adoxelin*) या, वोगैन (*Vogan*) १५ बूंद, मे से कोई भी द्रव्य दिया जावे। मानीकृत काडलिवर आंइल ६० बूंद या हैलीवट लिवर आइल २५ बूंद प्रतिमात्रा दिन मे तीन बार दिए जा सकते है।

मर्करी लैम्प द्वारा अतीत लोहित किरणें (*Ultra voilet rays*) अथवा सूर्यस्नान भी अत्युपयोगी हैं।

आहार प्रचुर मात्रा मे गो-दुग्ध दिया जावे, और गाय को हरी घास, उड़द के पत्ते खिलाये जावे [मापपर्ण भृतीय]। नवनीत, मक्खन, अण्डे का गूदा तथा पर्याप्त जंगमस्नेह दिया जावे, किन्तु कर्वोज अधिक मात्रा मे न दिया जावे।

बच्चे के विकृत-अङ्गों पर कुशा [*Splint*] लगा कर शय्या पर रक्खा जावे। पाचन ठीक और कोष्ठ शुद्ध रहे। श्वास संस्थान और अन्नवह स्रोतस् के कोई भी उपद्रव होने पर तुरन्त शान्त किए जावे।

आयुर्वेदोक्त चिकित्साक्रम--

प्रतिबन्धक—

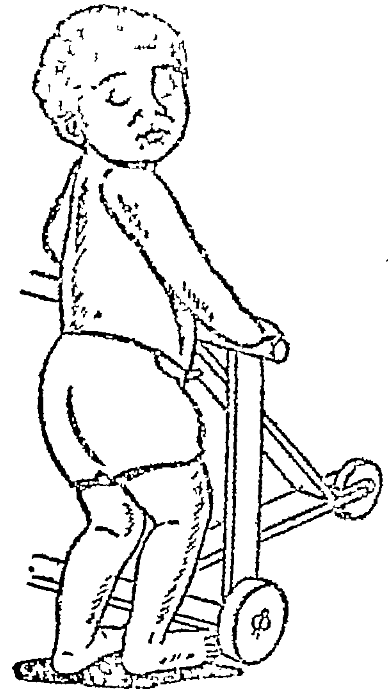
'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानं परिवर्जनं।' शुक्रपोषक आहारोपचार द्वारा परिपुष्ट शुक्र व्यक्ति ही गर्भाधान करे; तथा दुष्टक्षीर वाली धात्री का दुग्ध पान न करावे। गर्भिणी माता का दूध पिलाना बन्द करदे। पोपकतत्व विहीन आहार न दे। पोपक व सुपाच्य भोजन दिया जावे।

रोग निवारक—

यथावश्यक स्रोत शुद्धि करे, कल्याणक सर्पि, षट्पल घृत से स्नेहन ७ दिन तक करावें, फिर त्रिवृत् [निसोथ] सिद्ध दूध मे कोष्ठ शोधन करावे। संसर्जन क्रम के उपरान्त ब्राह्मी घृत, अश्वगंधादि घृत, शतावरी घृत का प्रयोग प्रकृति और दोप का विचार करते हुए करे।

रास्ना, मुलहठी, [illegible] सोंठ, पुनर्नवा, द्राक्षा, [illegible] और [illegible] सिद्ध क्षीर के सेवन से कास, वातिक उपद्रव, शोथ, [illegible] व उदर विकार ठीक होते हैं।

मांसरस सिद्ध यूष, [illegible] क्षीर, [illegible], स्नेहपान, स्वेदन, उद्वर्त्तन, एवं [illegible] तैल का प्रयोग काश्यप संहिताकार ने लिखा है। चलने १ के अभ्यास के लिए फक्करथ बनाकर उसके सहारे धीरे धीरे चलाने को लिखा है।



चित्र नं० ५०—फक्क-रथ

शतावरी अश्वगंधा, आदि द्रव्यों मे प्रचुर मात्रा मे ऐन्द्रिय सुधालवण एवं जीवनीय डी रहते हैं। ये अत्यन्त पौष्टिक और जीवनीय द्रव्य हैं। सुश्रुतोक्त जीवनीयगण की औषधियां परमोपयोगी है। रसौषधियों मे कुमारकल्याणक रस, बृहत्पूर्णचन्द्र और त्रैलोक्यचिन्तामणि रस सेन्द्रिय उच्च-

१ त्रिचक्र फक्करथक प्राज्ञ शिल्पिकनिर्मितम्।
विदध्यात्तेन शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यसेत् ॥
—काश्यप संहिता

कोटि के मुक्तारूपी कैल्शियम व स्वर्णघटित होने के कारण अनुभूत चमत्कार दिखाते है। कामदुधा रस, शंख-शम्बूक-कपर्द-प्रवाल-शुक्ति-जहरमोहरा खताई (हरिताश्म) और शृंग तथा अजास्थि भस्म का प्रयोग श्रेष्ठ अस्थि पोषक है। इसके साथ अरविन्दासव, अश्वगन्धारिष्ट और शतावरीक्षीर का प्रयोग व अश्वगन्धा-बला तेल का प्रातःकालिक सूर्यरश्मियों मे अभ्यङ्ग सोने मे सुगन्ध का काम करता है।

आयुर्वेदिक औषधो के साथ साथ आधुनिक जीवनीय डी के यौगिको एवं उपचारोक्त व्यवस्थाओं का आश्रय लेना और भी उपयोगी प्रमाणित हुआ है।

—आचार्य श्री सुदेवचन्द्र पाराशरी शास्त्री, D.I.M.S.
प्रोफेसर—गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज
जयपुर।

फक्क रोग

कविराज रमाकान्त पाण्डेय आयुर्वेद वाचस्पति

संस्कृत भाषा के अनुसार फक्क शब्द की व्युत्पत्ति 'फक्क नेमन्दगमनं करोति' इस प्रकार होती है जो कि व्याधि का प्रत्यात्म लक्षण है। काश्यपोक्त भेद निम्न प्रकार से है—

१—क्षीरज, २—मातृज या गर्भज, ३—व्याधिज।

ये तीनों ही भेद रोगग्रस्त बालकों में देखने को मिलते हैं किन्तु विशेषकर क्षीरज और व्याधिज अधिक मात्रा में देखने को मिलता है। महर्षि कश्यप ने व्याधि का स्वरूप बताते हुये निम्न वाक्य अति सुन्दर वैज्ञानिक भाषा में लिखा है। यथा—

बाल: संवत्सरापन्न: पादाभ्या यो न गच्छति॥
स फक्क इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्।
—का० सं० चि० फक्करोग ३

एक वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के बाद जो बच्चा कृशकाय हो तथा पैरों से गमन करने में असमर्थ हो उसे फक्करोग जानना चाहिये।

(१) क्षीरज फक्करोग—

यह माता के श्लेष्म दुष्ट स्तन्यपान करने से उत्पन्न होता है। यथा—

धात्री श्लैष्मिक दुग्धातु फक्क दुग्धेति सज्ञिता।
तत्क्षीरपो बहुव्याधि कार्श्यात् फक्कत्वमाप्नुयात्॥

जिस धात्री का क्षीर अथवा माता का दुग्ध श्लेष्म प्रदुष्ट हो, उसका क्षीर पान करने वाला शिशु बहुत सी व्याधियों यथा—अतिसार, कास, श्वास, अग्निमांद्य, अरोचक, छर्दि, कृमि, शोष आदि से पीड़ित होकर कृश होता जाता है तथा कृश होने से उसकी चेष्टाये मन्द हो जाती है तब उसकी फक्क संज्ञा होती है। उपर्युक्त प्रकरणोक्त व्याधियां प्राय: श्लेष्म के आवरण धर्म से रसवाहि, प्राणवाहि स्रोतसों मे विविध प्रकार से अवरोध आने पर ही उत्पन्न होती है, क्योकि बाल्यावस्था मे स्वभाव से ही श्लेष्मा प्रबल शक्ति वाला होता है।

वयोऽहोरात्रभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगा क्रमात्।
—वा० सू० १

इस प्रकार अन्य प्रकारान्तर से दूषित क्षीर भी उपर्युक्त प्रकार से ही मार्गावरोध कर शरीर के पोषण मे बाधक बनकर रोगोत्पत्ति करता है।

पित्तानिल प्रकृतिकी पटुक्षीरी पटुप्रजा॥
कृत पशु जडा मूकाग्निदोपक्षीर भोजिन:।
—काश्यप सं० चि० फक्करोग ४



पित्त या वात प्रकृति वाली स्त्री जिसका दुग्ध लवण युक्त हो तथा बहु सन्तान वाली हो उसके स्तन्यपान से अथवा त्रिदोष दुष्ट क्षीरपान से पंगुत्व, जड़ता, मूकत्व आदि अवस्थाऐं भी उत्पन्न होती हैं।

यहां आचार्य ने स्पष्ट शब्दो मे हीनतत्व दुग्ध का निर्देश किया है जैसा कि आधुनिक विज्ञानवादी भी दुग्ध मे विटामिन डी की कमी प्रस्फुटकतत्व का अभाव आदि मानते है।

उपयुक्त समीकरणो से एक ही मन्तव्य सिद्ध होता है कि शिशु को जो दुग्धपान कराया जाता है वह हीन तत्व वाला होता है और हीनता जनित ही यह रोग है। इस प्रकार के दुग्धपान का प्रभाव बच्चे के शरीर संगठन पर ही नहीं अपितु उसकी इन्द्रियों और मन के भी ऊपर होता है ऐसा आचार्य ने स्पष्ट रूप से बड़े ही युक्तिपूर्वक ढङ्ग से निरूपित किया है जो प्रत्यक्ष सिद्ध भी है। यथा—

हृदयात् संप्रवर्तन्ते मनः पूर्वाणि देहिनाम्।

× × ×

तत्रवागिन्द्रियं त्वेकं द्विधाभिन्नं यथाकरौ।
अर्धेन शब्दं वदति गृह्णात्यर्धेन तं पुन॥
तस्माच्च मूका भूयिष्ठ भवन्ति बधिरानरा.।
वाङ्मूल हि स्मृत श्रोत्र वाग्श्रं शेश्रयतेहितत्॥

—काश्यप स० चि० फक्करोग ६–८

यहा प्रत्यक्षपूर्वक आचार्य ने मूकत्व बधिरत्व का सम्बन्ध बताया है तथा बच्चे के मन, इन्द्रियों को रोग प्रभाव से ग्रसित निरूपित किया है। वागिन्द्रिय विकृति से श्रोत्रेन्द्रिय विकृत होवे, ऐसा नियम नहीं किंतु श्रोत्रेन्द्रिय विकृत होने से वागिन्द्रिय नष्ट अवश्य होती है। इस विषय का विस्तृत विवेचन सम्बन्धित ग्रन्थों मे ही देखने पर सुगम होगा। यहा तो फक्क रोग मे लक्षण रूप ही बधिरता एवं मूकता के लिये सामान्यतया विवेचन किया गया है।

क्षीर की पूर्वोक्त विकृतियो के साथ साथ कुछ अन्य सहायक कारण भी है। यथा—

(१) माता के भोजन मात्र का तत्वहीन होना।

(२) विटामिन डी के विरुद्ध तत्वो की शरीर मे उत्पत्ति।

(३) सूर्यताप का अभाव, क्योंकि सूर्यताप से विटामिन डी का निर्माण होता है।

(४) गन्दे वातावरण मे बच्चे का निवास उपयुक्त वातावरण होने पर कुछ रोग को प्रेरणा देने वाली अवस्थाऐं भी है जो अपना प्रभाव रोगोत्पत्ति में Predisposing cause के रूप में दिखाती हैं। यथा—

(१) आयु ६ से १८ मास तक

(२) ऋतु शीत या बसंत [कफ संचय एवं कोपकाल होने से]

(३) आवहवा-सघन नगर एवं गन्दी गलियां

(४) मातृस्तन्यपान का अभाव

(५) अधिक मातृस्तन्यपान

(६) शरीर की मन्दवृद्धि

आधुनिको ने इसीलिये इस व्याधि को साधारण धातुपोषण विकृति जन्य माना है जिस धातुपोषण विकृति का प्रभाव विशेष बच्चे के शरीर की लम्बी अस्थियों के अन्तिम भाग पर जहां cartilage मय रचना होती है बक्रता के रूप मे वा वृद्धि (Deposition) के रूप मे होती है।

इस रोग मे विकृति का स्थान प्राय अस्थिया ही रहती है। अस्थियों मे प्राकृत अवस्था मे सुधाप्रस्फुटक (Calcium phosphate) ६३% तक रहता है जबकि रोगावस्था मे २१% तक पाया जाता है। सुधातत्व (Calcium) की कमी के कारण ही अस्थियां वक्र हो जाती है, यह वक्रता लम्बी अस्थियों मे उनके अन्तिम भागों पर देखी जा सकती है तथा तरुणास्थि का भाग विषमाकृति के रूप मे परिणित हो जाता है। सुधा (Calcium) की कमी का कारण आन्त्र के द्वारा उसका सात्मीकरण (Absorbtion) न होना है तथा रक्त मे भी उसका अभाव व्याधि रोग मे देखा जा सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि रोग की अवस्था में अस्थियो मे निर्मित होने वाला प्रस्फुटक कार्य-



कारी प्रस्फुटक (Phosphatase) के रूप मे बनता है जो कि आंत्र की श्लैष्मिक कला एवं रक्त तथा वृक्कों मे पाया जाता है। रोगी की अवस्था मे प्रस्फुटक (विकृत) रक्तवारि मे बढ़ जाता है और यकृत् वृद्धि तथा प्लीहा मे सौत्रिक तन्तु निर्माण होने लगता है।

उपर्युक्त आधुनिक प्रत्यक्ष सिद्ध सभी घटनायें विकृत श्लेष्मा के कार्यों मे ली जा सकती हैं जो कि गवेषणीय विषय है।

(२) गर्भज—

यह द्वितीय प्रकार है इसमे माता के गर्भवती (pregnancy) शीघ्र हो जाने से बालक को पोषण पर्यन्त मातृदुग्ध नहीं मिल पाता। अतः यह भी हीनताजन्य ही है।

(३) व्याधिज—

जीर्ण रोगों यथा—

१—आंत्रिक ज्वर की निवृत्ति के बाद
२—अतिसार के बाद
३—आक्षेपकारी रोग के बाद
४—कृमि होने पर (Anthelmentics)
५—वात व्याधियों के बाद (Rheumatism)

संप्राप्ति—

इसका उद्भव प्रथमत. श्लेष्मा से अग्निमन्दता होकर ही होता है। ततः अग्निमांद्य के बाद ग्रहणी दोष होने पर भुक्त का सम्यक् परिपचन न होने से जब बालक हीनताजन्य अवस्था मे अधिक भोजन दुग्ध आदि पीता है तो उसका सम्यक् पाक न होने से रस धातु अल्प बनती है तथा बहुपुरीषता एवं बहुमूत्रता होती है।

इसी प्रकार की संप्राप्ति महर्षि चरक ने राजयक्ष्मा की संप्राप्ति मे लिखी है यथा—

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातव।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना॥
स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्।
धातूष्मणां चापचयात् ....॥
तस्मिन् कालेऽपचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठ संश्रितम्।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे॥

यहां विशेषता राजयक्ष्मा से केवल इतनी ही है कि वह प्राणवह रसवह आदि स्रोतस को दुष्ट करता है। यहां मुख्यतः विकार अस्थिवह स्रोतस् मे उत्पन्न होते हैं क्योंकि जाठराग्निमांद्य से धात्वग्नियों का मांद्य होकर अस्थिधातु का निर्माण नहीं होता तथा बल मांस परिक्षय होगा।

लक्षणानि—

(१) क्षीणमांसता (शारीरिक)
(२) क्षीणबल.
(३) क्षीणद्युति
(४) महोदरता
(५) स्फिचबाहु शुष्कता
(६) पीताक्ष
(७) दृश्यमान अस्थिपञ्जर.
(८) प्रम्लानाधर कायः (अधोशाखकर्महानि)
(९) बहुमूत्रपुरीषक
(१०) पाणिजानुगन्ता
(११) मन्दचेष्टः
(१२) विशीर्णरोमाः
(१३) हृष्टरोमाः
(१४) मक्षिकादीनां गम्य.
(१५) महानख
(१६) दुर्गन्धी
(१७) श्वसिति

मानसिक—

(१) अनाथवत् वीक्षते
(२) क्लिश्यते
(३) हृषिताङ्गता
(४) मलिनः
(५) क्रोधी
(६) ताम्यति

उपर्युक्त लक्षण काश्यप संहिता मे व्याधिज फक्क के लिये लिखे हैं किन्तु ये सामान्यत. अधिक



संख्या में तीनों ही भेदों में देखे जाते हैं। इनके साथ कुछ निम्न लक्षण भी प्रत्यक्षत: देखने को मिलते हैं। यथा—बेचैनी–रात्रिस्वेद (विशेषकर शिर पर) अनिमग्नाम्, शुष्ककास, आक्षेप, स्वरभेद, दन्तोद्गम (अपूर्ण) तथा ब्रह्मरंध्र में स्पन्दन, कपालास्थियों में आकार वृद्धि, कर्ण के पीछे की अस्थियों में मृदुता की अनुभूति वक्ष में चिपटाकारता, तथा वक्षोऽस्थि का उभार यथा कपोताकृति वक्ष (*Pigeon chest*), हस्तपाद एवं मेरुदण्डवक्रता, प्रगण्डास्थि, प्रकोष्ठास्थि तथा उर्वस्थियों की वृद्धि, बस्ति गह्वर का चोड़ा होना, अस्थिभग्न (शाखाओं में), यकृत् वृद्धि-प्लीहवृद्धि (रक्ताल्पता)—पांडुता आदि।

क्ष-किरण परीक्षा—

प्रारम्भिक परिवर्तन यथा–प्रगण्डास्थि के नीचे के अन्तिम भाग में तथा उर्वस्थि एवं प्रकोष्ठ में।

भेदक निदान—

(१) सहजफिरंगजन्य अस्थिविकार (वासरमैन रक्त परीक्षा में)

(२) स्कर्वी रोग (बालकों में)

(३) मस्तिष्कजलाधिवृद्धि (*Hydro-cephalus*)

(४) बाल पक्षाघात (*Poliomyelitis*)

चिकित्सा सिद्धांत–

[१] स्रोतोरोध निवारण

[२] अग्निदीपन एवं आमपाचन

[३] बलवर्धन

[४] अस्थियों को मृदुशोधन

[५] सम एवं सुपाच्य पौष्टिक आहार

[६] विभिन्न प्रकार से बालक की गमन प्रवृत्ति कराना

[७] (illegible)–सप्तामृत्तसितोपलादि भस्म चूर्ण (स्रोतोरोधनाशक), वराटिका भस्म, शंखभस्म (दीपन पाचन)।

भोजन—

गोदुग्ध–स्निग्धता रहित, तक्र, सन्तरा, मौसमी स्वरस, द्राक्षा का स्वरस

नोट—चिकित्सा का एक ही सिद्धान्त है कि अग्निमांद्य एवं स्रोतोरोध दूर कर क्षुधा का विनिमय प्राकृत अवस्था में लाना।

रोग में विभिन्न अवस्थानुसार चिकित्सा–

[१] अतिसार–कर्पूर रस, अतिसारवारणोरस, मुग्ध रस (*Gray powder*), कुटजप्रपर्टी, चातुर्भद्रचूर्ण, लवंगादि चूर्ण, कुटजारिष्ट।

[२] कास–तालीसादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण प्रवाल भस्म या पिष्टी, मुक्ताशुक्ति चूर्ण, वांसावलेह, भागोत्तर वटी, चन्द्रामृतावटी, पिप्पली चूर्ण।

[३] ज्वर–इन्द्रयवचूर्ण, त्रिभुवन कीतिरस, विषम ज्वरान्तक लोह, आरोग्यवर्धनी।

[४] वमन–सञ्जीवनी, एलादिचूर्ण, जहरमोहरा पिष्टी, चतुःषष्टिपिप्पली चूर्ण, मयूरपिच्छ भस्म, प्रवालपंचामृत।

[६] यकृत्वृद्धि–आरोग्यवर्धिनी, यकृदरिलौह, पुनर्नवामाण्डूर, मण्डूर वटक, गोमूत्र, कुमार्यासव, रोहितक लोह, रोहितकारिष्ट।

[७] पाण्डु–स्वर्णमाक्षिक भस्म, शिलाजतुवटी, चन्द्रप्रभा वटी, लोह भस्म, पाण्डुपंचानन रस, धात्रीलोह, नवायसचूर्ण, आरोग्यवर्धनी।

[८] हिक्का–हिंग्वादि चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, टंकण चूर्ण, यवक्षार, सामान्य विरेचनार्थ एरण्डस्नेह बस्ति (अनुवासन)।

[९] श्वास–पिप्पल्यादि लौह, चन्द्रामृत, भागोत्तर वटी, नरसार, हेमगर्भ पोटली, सुवर्णमालिनी वसन्त, श्वास कास चिन्तामणि रस।

—डॉ. श्री रमाकान्त पाण्डेय आयुर्वेद वाचस्पति बलभद्र महोपाध्याय, बलदेव (मथुरा)

फक्क-चिकित्सा

[१]

श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य



फक्क की चिकित्सा बहुत बड़ी सावधानी से करने की आवश्यकता है। आयुर्वेद मे इस रोग की अच्छी चिकित्सा है। उसमें क्काथ घृत भस्म रस व तैलों की योजना है। समयानुसार और रोगी के बलाबल को देखते हुए वैद्य स्वयं इसकी कल्पना कर लेता है। सर्व प्रथम रोगी के बल और अग्नि की रक्षा करनी जरूरी है। बच्चा जितना सह सके पचा सके ऐसे उपचार तथा औषधि व भोजन रखना चाहिए।

बच्चों मे तीन भेद हैं। दुग्धपायी—केवल दूध पायी बच्चा। अन्न दुग्धपायी-अन्न और दूध दोनों को ले सकने वाला। अन्नादा—अन्न मात्र खाने वाले। इसकी औषध मात्रा का वय और बल के अनुसार ठीक ठीक निर्णय कर लेना चाहिये।

सर्व प्रथम शास्त्रानुसार बच्चों को कल्याणक घृत दुग्धानुपान से २ या ३ बार देना चाहिए। मात्रा उसकी बलाग्नि पर निर्भर करती है। अच्छी तरह से स्नेहन होने पर हल्का विरेचन देना चाहिए। जब दूपित मल निकल जाय तो वृंहण क्रिया द्वारा शरीर के सम्पूर्ण धातुओं का परिवृंहण करना चाहिए। विशेषतया अस्थिपोषक द्रव्यों की अधिक आवश्यकता होती है। अतः प्रवाल पंचामृत १ रत्ती (गोदुग्ध भावित), स्वर्ण भस्म १/१० रत्ती, अभ्रक १०० पुटी १/४ रत्ती, शृङ्ग १/३ रत्ती, मण्डूर १/२ रत्ती, ऐसी दशा मे तीन मात्रा च्यवनप्राश अवलेह से देनी चाहिये। और अश्वगन्धारिष्ट १/२-१ तोला पिलाना चाहिये। मधु मालिनी १/२ रत्ती, योग-रत्नाकरोक्त अभ्रकभस्म १०० पुटी १/२ रत्ती, मण्डूर १ रत्ती, शृङ्ग १॥ रत्ती मिश्रण कर घृत व मधु मिश्रण देने से अच्छा लाभ होता है।

सिद्ध योग संग्रह (पूज्य श्री यादव जी निर्मित) का बाल पंचभद्र योग भी बहुत लाभ करता है। योग निम्न है—

यशद भस्म १/२ तोले, रस सिंदूर, गोरोचन, शुद्ध गन्धक १-१ तोले, कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म ८ तोला, सबको एक दिन खरल में घोटकर रखे। मात्रा २ से ४ रत्ती मधु से खिलाकर ऊपर गौदुग्ध देना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ की बालशोष हर वटी भी परमोपादेय है। वैद्यो को व्यवहार में लाकर लाभ उठाना चाहिये।

मेरा अपना एक अनुभूत योग है जो अब तक प्रकाश मे नहीं आया। वैद्य बन्धुओं की सेवा मे दे रहा हूं। बहुत लाभ करता है—

मुक्ता १ भाग, मुक्ता शुक्ती २ भाग, प्रवाल पिष्टी, शृङ्ग भस्म, मण्डूर, शङ्ख भस्म प्रत्येक २-२ भाग (भस्म के अनन्तर निम्बूस्वरस से घोटा हुआ) गोलोचन १ भाग, सत्वगुडूची २ भाग, रससिंदूर १ भाग और गोदन्ती २ भाग सबको आमलो के पत्थर या लकडी द्वारा पिष्टकर निकाले हुए स्वरस मे ३ बार घोटकर १-१ रत्ती की गोली बना दिन में ३ या ४ बार योग्य अनुपान से देनी चाहिये। साथ ही च्यवनप्राशावलेह या ब्राह्मरसायन(चरकीय) देने से उत्तम लाभ होता है।

बलालाक्षादि तैल की मालिश १/२ घण्टे समय तक शरीर मे करानी चाहिये। फलो मे अंगूर, अनार, आम, केला, अमरूद, बादाम, पिस्ते, चिरौजी प्रतिदिन देना चाहिये। सुपाच्य और पौष्टिक भोजन गाय का दुग्ध पनीर आदि पथ्य मे रखना उत्तम होगा। मांस रस खाने वालों के लिये यह भी अच्छा है। पाश्चात्य मत से विटामिन डी—दूध, चावल,



साबूदाना या मात्र गौदुग्ध बहुत लाभदायक है और प्रत्यक्ष मे ऐसा देखा भी गया है। यदि आयुर्वेदीय औषध द्रव्यों के साथ साथ विटामिन डी भी दे दी जाय तो अधिक अच्छा फल निकलता है। रोग दीर्घकालिक होने के कारण चिकित्सा भी बहुत लम्बी होती है अतः धैर्य और विश्वास की इस रोग मे बड़ी आवश्यकता है।

बच्चे का मन सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करनी चाहिये।

कुछ अन्य शास्त्रीय योग जो इस रोग में विशेष फल करते हैं—स्वर्ण वसंत मालती, ब्राह्म रसायन, बलारिष्ट, जीवनीय गण सिद्ध दुग्ध, मालिश के लिये महालाक्षादि या महामाष तैल, अर्जुन घृत, शतावरी घृत, अरविंदासव आदि शास्त्रीय औषध लाभदायक है।

नोट—पाश्चात्य औषधि काड लिवर आयल आदि भी इसके लिए अच्छी औषधि है। इस प्रकार की चिकित्सा से बहुत से शिशुओं के रोग नष्ट होकर उनकी प्राण रक्षा हुई है।

यदि लेख में आये योगों का पूरा निर्देशन किया जाय तो लेख का कलेवर बढ जायगा। अतः मात्र नाम निर्देश किया है।

—श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा शास्त्री आयु.
२/५ सिंध सेवा समिति नगर
कोलीवाड़ा, बम्बई-२२

[२]

श्री गुरुचरण वर्णवाल आयुर्वेदविशारद



चिकित्सा कार्य कर्षण व बृंहण प्रयोगो द्वारा सम्पादित करना चाहिए। अतएव रोगी को जीवनीय शक्ति को प्रदान करने वाले तथा रोग नाश करने वाले योगों को नीचे दिया जा रहा है—

(१) इस रोग की प्रमुख औषधि जीवतिक्ति डी है। इसकी उपस्थिति से आंतो द्वारा कैल्सियम आदि का पाचन व शोषण होकर अस्थि निर्माण कार्य चलता है। अतः विटामिन डी प्रर्याप्त मात्रा मे इस रोग मे देना अति आवश्यक है तथा इसी विटामिन की कमी से यह रोग पैदा होता है।

(२) काडलिवर आयल (Cod liver oil)—इसमें विटामिन ए एवं डी प्रर्याप्त मात्रा मे होता है, इसको इमलशन या दुग्ध में मिलाकर सेवन करें।

(३) एडेक्सोलीन (ग्लैक्सो)–इसमें २०१० यूनिट विटामिन डी तथा १२००० यूनिट विटामिन ए पाया जाता है। यह एक मिश्रित योग है जो इस रोग की चिकित्सा मे प्रमुख स्थान रखता है।

(४) मुक्तादि वटी तथा विटामिन डी का साथ साथ प्रयोग करने से आशातीत फल प्राप्त होता है। (स्वानुभूत)

(५) च्यवनप्राशावलेह—इस महौषधि मे जीवतिक्ति ए, डी, सी तथा कैल्सियम व पौष्टिक तत्व सभी मौजूद हैं। यह रसायन है। इसके सेवन से बालकों की अस्थियां मजबूत, विकसित मस्तिष्क और शक्तिशाली मांसपेशियां निर्माण होती है, फलस्वरूप बच्चे हृष्ट-पुष्ट, उत्साही, फुर्तीले, चतुर और दीर्घजीवी होते हैं। यह एक पूर्ण रसायन (यज्जरा व्याधि विध्वसि, भेषजम तद्रसायनम) है अतएव इस रोग मे इसे शहद व गिलोय सत्व मिलाकर सेवन करावे तथा ऊपर से दूध पिलावे।

(६) ब्राह्म रसायन को प्रबाल, मुक्ता तथा अभ्रकादि के साथ सेवन करावे।

(७) इस रोग में सतावर, असगंध, गोखरू, तालमखाना, मुलेठी के चूर्ण को मक्खन या घी के

साथ सेवन करावे तथा ऊपर से ताजा सुखोष्ण दुग्ध पीने को देवे।

(८) मार्तण्ड का खटिक या प्रवाल का मांसान्तर्गत-सूचीवेध करे तथा साथ-साथ मुख द्वारा आटोमाईसीन पाउडर (मार्तण्ड) का प्रयोग करना भी एक महत्वपूर्ण फलदायक चिकित्सा है।

(९) तैल मालिस करने से मांसपेशियां व अस्थियां मजवूत वनती हैं अतएव इस रोग से पीड़ित रोगी को लाक्षादि तैल, शखपुष्पी तैल व चन्दनादि तैल की मालिस प्रातः व सायं करे। पंगुता दूर करने के लिए राज तैल का प्रयोग करें।

(१०) मिश्रित विटामिन (Vit. complex) जैसे वीकाडेक्स टोटामिन आदि का प्रयोग करने से विशेष फल प्राप्त होता है तथा जीवनीय शक्ति को वल मिलता है। इनमे विटामिन A, B, C, D, E, सभी उचित मात्रा मे उपस्थित रहते है। इस रोग मे अवश्य प्रयोग करावे।

(११) कैल्सियाई ओस्टेलीन, कैल्सियम ग्लूकोनेट, ग्लूकोज आदि सूचिवेध भी इस रोग में अच्छा फल देते है।

(१२) इस रोग मे नील लोहितातीत किरणों की चिकित्सा पद्धति द्वारा चिकित्सा करने से आशातीत सफलता प्राप्त होती है।

अन्य उपसर्गों की चिकित्सा —

[क] रस पीपरी शहद या मां के दुग्ध मे मिला कर चटावे। इससे बच्चो के सभी रोग जैसे सर्दी, जुकाम, ज्वर, पतले दस्त, कफ, खांसी आदि मे विशेष फायदा पहुचता है। [आरोग्य प्रकाश में वर्णित रस पीपरी]।

[ख] पसली [डब्बा] रोग, कब्जियत, अफरा, श्वास, कास, पेशाव रुकना आदि रोग वाल जीवन वटी [आरोग्य प्रकाश] के सेवन दूर हो जाते है।

[ग] न्युमोनिया मे निम्न योग अति लाभकर है-[स्वानुभूत] मकरध्वज १ भाग, लक्ष्मीविलास रस [नारदीय] १ भाग, मृत्युञ्जय रस २ भाग, मृगशृंग भस्म २ भाग इसे तुलसी या अदरख के रस मे मिलाकर चटावे। मीठा करने के लिए उसमे थोड़ा शहद मिला देवे।

[घ] अजीर्ण आदि विकारों में तथा दस्त के विकारों मे जन्म घूंटी [आरोग्य प्रकाश] विशेष लाभकर औषधि है।

[ङ] बच्चो के सभी रोगों मे वालरोगान्तक रस के सेवन से अच्छा फल प्राप्त होता है।

[च] ज्वरादि रोगो मे मृत्युञ्जय रस, प्रवालपिष्टी, गिलोय सत्व विशेष लाभ पहुंचाता है।

[च] आजकल की प्रचलित घुट्टियों मे धन्वन्तरि कार्यालय की घुटी अधिक लाभकारी है।

—श्री गुरुचरण वर्णवाल,
आयुर्वेद विशारद, सुल्तानपुर।

[३]

श्री पं० रामेश्वर चौधरी शास्त्री

इस रोग में सर्वप्रथम माता के दूध पर ध्यान देना आवश्यक है। दुग्ध में जब रोग आदि कारणों से विकृति हो जाती है तब वह संतान के जीवन का पोषण के बदले शोषण करता है। इसलिये दूध दोष रहित हो तो अन्य चिकित्सा पर ध्यान देवें। अन्यथा माता को सुरा, सौवीर, तुषोदक, लहसुन, करंज आदि का प्रयोग दोषशामक आहार-विहार और औषधि दूध के दोषानुसार देना चाहिये। अस्थि मार्दव में जीवनीय शक्ति, अग्नि, मल बढ़ाने या अस्थिपोषक चिकित्सा करनी चाहिये. जिसमें



निम्नलिखित दवा अति उपयोगी सिद्ध हुई है—

वैसे तो कितने ही रोगी अस्थिमार्दव के मिलते है जिसमे एक का पूरा विवरण यह है—एक तीन साल के बच्चे को यह रोग हुआ। सर्व प्रथम उसे एलौपैथी की चिकित्सा चली। दरभगा, पटना के अच्छे अच्छे डाक्टरो की चिकित्सा के बावजूद भी तीन माह के बाद सब उस बच्चे से निराश हो चुके थे। अन्त मे वह रोगी हमारे पास लाया गया, उसे देखकर मुझे यही सोचना पडा था कि अभी तक वह जिंदा क्यों है। आंख का ताकना और श्वास का चलना ही उसके जीवन का चिह्न मात्र था। पहले तो मैं निराश,सा रहा, फिर भी चिकित्सा शुरू कर दी।

उसकी मां के दूध मे गड़बड़ी मालूम हुई इसलिये सर्वप्रथम मां का दूध छुटाकर एक बकरी का दूध आहार मे देने लगा। दवा निम्न दी—

(१) कुमार कल्याण रस ½ रत्ती, प्रवाल पिष्टी ½ रत्ती। यह १ मात्रा, मधु से।

(२) मोतीसीप भस्म ¼ रत्ती, स्वर्ण वसन्त मालती ½ रत्ती, जहर मोहरा ¼ रत्ती, कुमार कल्याण ½ रत्ती। यह १ मात्रा, मधु से।

(३) मकरध्वज, मण्डूर भस्म ½-½ रत्ती, जहर मोहरा, मृगशृङ्ग ¼-¼ रत्ती। यह १ मात्रा मधु से।

(४) अरविन्दासव ½ औंस, दूध-पानी समभाग मिलाकर।

ये चारो दवा २-२ घण्टे पर देने का आदेश देकर १ सप्ताह की दवा देकर रोगी को विदा किया। महालाक्षादि तैल की मालिश खूब करने को कहा।

एक सप्ताह के बाद रोगी की हालत में किञ्चित सुधार हुआ। हमने फिर से वही दवा दोहराकर १ सप्ताह की दी।

दूसरे सप्ताह के बाद से उस रोगी के सुधार का क्रम आश्चर्यजनक होने लगा। इसके बाद औषधि नं० १ तथा नं० २ एव अरविन्दासव ये तीनों दवा बराबर देता रहा। महालाक्षादि तैल में शुद्ध सरसो का तैल मिलाकर मालिश कराया। एक महीने के बाद उसे देखने का पुन. मौका लगा और उसे देखकर आश्चर्य हो गया। बाद में कुमार कल्याण रस एवं अरविन्दासव ये दोनों दवा एक महीने तक और चलायीं। बच्चा खूब मोटा-ताजा हो गया और अभी तक भी उसका वह सुन्दर शरीर देखते ही बनता है।

चूने (Calcium) का प्रभाव—

मनुष्य शरीर का पोषण करने के लिये और हड्डियों को मजबूत करने के लिये आजकल कैल्शियम नाम के तत्व बहुत उपयोगी माने जाते हैं और वह कैल्शियम चूने के अन्दर पाया जाने वाला एक तत्व है। बच्चो के लिये २॥ तोले चूने को ५ तोले मिश्री के साथ खरल कर २॥ पाव पानी मे मिलाकर कागदार शीशी मे भर कर काक बन्द करके रखदे। जब चूना बैठ जाय तब इसमें से १५-२० बूंद पानी को दूध मे डालकर पिलाने से उसके पेट में होने वाले दूध सम्बन्धी विकार नष्ट होते है। कैल्शियम की कमी से होने वाले उपद्रवों से पूर्ण रक्षा होती है। बच्चा तन्दुरुस्त रहता है।

जहर मोहरा—

बालकों के अस्थि रोग पर जहर मोहरा एक बडी चमत्कारिक औषधि है। मोतियों की गुलाब जल मे पिसी हुई पिष्टी, वंशलोचन, केशर, इलायची और जहरमोहरा खताई पिष्टी इन पांचों चीजों को समान भाग में लेकर गुलाब जल मे घोटें। मूंग के बराबर गोली बनाकर इन गोलियों मे से प्रतिदिन सुबह दोपहर सायं १-१ गोली गाय के दूध के साथ देने से बालकों को होने वाला अस्थि रोग (Rickets) बहुत शीघ्र ठीक होता है।

—श्री पं. रामेश्वर चौधरी शास्त्री
धन्वन्तरि लेबोरेटरीज, समस्तीपुर (दरभंगा)

बालशोष

कविराज श्री बंसरीलाल साहनी आयुर्वेदाचार्य



यद्यपि बालशोष नाम का कोई रोग विशेष चरक सुश्रुतादि आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थों में नहीं मिलता तो भी जिन कारणों से यह रोग विशेष होता है, इन सब कारणों का तथा उनकी चिकित्सा का पृथक् वर्णन सब आचार्यों ने अवश्य किया है।

वाग्भटाचार्य ने भी 'स्पष्ट बालशोष' नाम न देकर "कुमारः शुष्यति तत." शब्दों से बालशोषकादि वर्णन किया है। शाङ्गधर ने भी रोगों की गणना करते समय बाल रोगों में एक 'गात्र शोष' नाम का रोग लिखा है, वह भी यही बालशोष है।

इसी प्रकार क्षीरालसक, पारिगर्भिक, व्याधिज फक्क आदि रोगों का वर्णन पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही बालशोष रोग है, जिसके प्रति हमारी धारणा हो चुकी है कि हमारे शास्त्रों में इन का वर्णन नहीं है। चरक ने तो बालरोगों का वर्णन करते हुए किसी नाम विशेष का कोई निर्देश नहीं किया। वह तो दोषों के अनुसार बालरोगों का वर्णन कर रहे हैं। प्रथम वात दुष्ट स्तन्यपान जनित बालरोगों के स्पष्ट लक्षण बालशोष के ही हैं। किसी किसी शोषी बालक में पित्तज, कफज, द्वन्द्वज अथवा सन्निपातज लक्षण भी दिखाई देते हैं।

आप देखेंगे कि किसी बालक के शोषरोग का कारण सगर्भाधात्री (माता, धाय, गौ अथवा भैंस जिसका दूध पिलाया जाता हो) का दुग्धपान होगा तो किसी का कारण धात्री का वातादि दोषों से दुष्ट दुग्धपान और किसी अन्य का दिन को सोना आदि, परन्तु भाव सबका एक ही है, अर्थात् दुग्ध के भारी होने से अथवा दिन को सोने आदि कारणों से बालक को अजीर्ण हो जाय। अजीर्ण होने से दुग्ध आदि आहार द्रव्यों का पूर्णतया पाक न हो। अपक्व आहार (आम) ही रसवाही स्रोतों का अवरोध कर ले। स्रोतों के अवरोध से वात प्रकुपित हो जाय और बालक को सुखा दे अथवा वातदुष्ट दुग्धपान करने से बालक की शरीरस्थ वात प्रकुपित होकर उसे सुखा दे। कहने के ढङ्ग भिन्न भिन्न हो सकते हैं परन्तु तत्व एक ही है। अर्थात् बालक के अन्दर किसी भी प्रकार से (कफ प्रधान दोषों से मार्गों के अवरुद्ध होने से, उत्तरोत्तर धातुओं के न बनने से, बालक के क्षीण होने से) वातप्रकुपित होकर उसे सुखा देती है।

प्रधान लक्षण शोष होते हुए भी कारण भेद से उसके कुछ अन्य लक्षणों में भेद भी हो सकता है, अत. तदनुरूप ही उनके नाम भी भिन्न भिन्न कल्पना कर लिखे जाते हैं, यथा साधारणतया बालशोष तथा विशेषतया क्षीरालसक, पारिगर्भिक और व्याधिज फक्क आदि। अब इनका विचार यथाशास्त्र दिया जाता है।

१-वातदोष से दुष्ट दुग्धपानजनित बालरोग

जब माता (धात्री) अनेक प्रकार के गुरू और दुष्ट अन्नों का सेवन करती है तब उसका स्तन्य भी गुरू तथा अनेक दोषों से दुष्ट हो जाता है। इस गुरू तथा अनेक दोषों से दुष्ट दुग्ध को जब बालक पीता है तो उसे वह पचा नहीं सकता, इसलिये अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाता है—

गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम्।
क्षीरं मातु कुमारस्य नाना रोगाय कल्पते॥
—मा नि. बाल रोग

यदि दुग्ध वात से दुष्ट होता है तब शिशु वात रोगों से पीड़ित होता है, उसका स्वर इस प्रकार निर्बल हो जाता है, जिस प्रकार किसी के अत्यन्त थक जाने से आवाज नहीं निकलती, सारे अङ्ग सूखकर प्रतले और दुर्बल हो जाते है, मल-मूत्र और अपान वायु की पूर्णत. प्रवृत्ति नहीं होती—



वातदुष्टं शिशु' स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः।
क्षाम स्वर' कृशाङ्ग' स्याद् बद्ध विण्मूत्र मारुत॥
—मा० नि०

धात्री का दुग्ध कभी कभी दो दोषों से और कभी कभी तीनों दोषों से भी दुष्ट हो सकता है। तब दो दोषों से दुष्ट होने पर द्वन्द्वज लक्षण दिखाई देंगे और तीनों दोषों से दुष्ट होने पर सन्निपातज लक्षण दिखाई देंगे।

द्वन्द्वजे द्वन्द्वज रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम्॥
—मा० नि०

अतः इसी वात के साथ जब पित्त भी दूषित होगा तब बालक को पूर्वोक्त लक्षणों के साथ ही पित्त के लक्षण (देखो माधव निदान) भी दिखाई देंगे, यथा—

बालक पसीने से भीगा सा रहे, टट्टियां पतली आने लगे, कामला सा दिखाई दे, प्यास अधिक लगे, शरीर में गर्मी रहती है।

स्विन्नो भिन्न मलोबालः कामला पित्त रोगवान्।
तृष्णालुरुष्ण सर्वाङ्ग' पित्त दुष्टं पयः पिबन्॥

इसी प्रकार जब वात दोषों के साथ ही कफ भी मिला होगा तब बालक के मुख से लालास्राव होगा, कफ के रोगों से पीड़ित रहेगा, निद्रा में अधिक लीन रहे अर्थात् बहुत सोता रहे, अङ्ग मूढ़ (जकड़े रहे), नेत्रों में सूजन हो तथा दुग्ध का वमन करे।

इसी प्रकार धात्री का दुग्ध यदि तीनों दोषों से दुष्ट होगा तो उस दुग्ध को पीने वाला बालक पूर्वोक्त सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होगा।

यहां धात्री शब्द से अपनी माता का, धाय का जिसका बालक दूध पीता हो अथवा गौ-भैंस आदि पशु का, जिसका बच्चा दूध पीता हो ग्रहण होता है। कृत्रिम दूध सोयाबीन के पाउडर से बनाये दुग्ध भी इनही दोषों से युक्त हो सकते हैं। उनमें से सोयाबीन से बनाये हुए दूध को अधिक पौष्टिक, भारी, स्निग्ध तथा कफकारक होने से कोमल प्रकृति शिशु प्रायः हजम नहीं कर सकते। इसीलिये वह अनेक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं।

निदान—

दुग्धगत दोष किन कारणों से प्रकुपित होते हैं तथा उनके लक्षण आदि का वर्णन चरक में इस प्रकार किया गया है—

अजीर्ण, असात्म्य, विषम तथा विरुद्ध भोजन करने से लवण, अम्ल, कटु, क्षार और क्लिन्न पदार्थ सेवन करने से, मन और शरीर के सन्ताप से, रात्रि को न सोने से, शोकादि करने से, अप्राप्त वेगों को उदीर्ण करने से, मिठाइयां गुड़ के विकार, कृशरा, दही, मांस, मछली तथा अभिष्यन्द पदार्थ खाने से, दिन को सोने से, मद्य के अत्यन्त सेवन से, व्यायाम के न करने से, चोट आदि के लगने से, क्रोध से तथा अन्य रोगों से पीड़ित होने से दोष प्रकुपित होकर क्षीरवाही स्रोतों में जाकर दुग्ध को दूषित कर देते हैं। वह दोष आठ प्रकार के हो सकते हैं—

(१) वातदोष से—१. विरसता (स्वादरहित), २. फेन संघात (झाग सा इकट्ठा होना) और ३. रूक्षता—यह तीन दोष होते हैं।

(२) पित्तदोष से—४. निर्वलता (रंग का बदलना), ५. दुर्गन्धि—यह दो दोष होते हैं।

(३) कफदोष से—६. स्नेह, ७. पिच्छिलता और ८. गुरुता—यह तीन दोष होते हैं।

रूक्षादि अपने प्रकोपक कारणों से वात प्रकुपित होकर दुग्धाशय में पहुच कर स्तन्य के रस को दूषित कर देती है अर्थात् दूध विरस हो जाता है। ऐसा दूध पीने से बालक कृश-दुबला पतला हो जाता है—सूख जाता है। उसे दूध स्वादिष्ट नहीं लगता इससे उसकी वृद्धि नहीं होती।

इसी प्रकार वायु प्रकुपित होकर जब स्तन्य को विलोडन कर देती है तब स्तन्य झागदार हो जाता है जो बालक के चूसने पर भी प्रवृत नहीं होता। इससे बालक क्षामस्वर हो जाता है तथा उसके मल मूत्र और वात की प्रवृति नहीं होती। इससे वातिक

रोग, सिर के रोग तथा पीनस आदि रोग हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रकुपित वात स्तन्य में जाकर उसके स्नेहांश को सुखा देती है, फिर इस रूक्ष दुग्ध को पीकर बालक के बल का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार शोष रोग की प्रवृत्ति होती है।

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात् ।
लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात् ॥
मनःशरीरसन्तापादस्वप्नकृन्निशि चिन्तनात् ।
प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च ॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधि मन्दकम् ।
अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात् ।
अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातंककर्षणैः ॥
दोषाः क्षीरवहा प्राप्य सिरा स्तन्यं प्रदूष्य च ।
कुर्युरष्टविधं भूयः दोषतस्तन्निबोध मे ॥
वैरस्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके ।
पित्ताद्वैवर्ण्यदौर्गन्ध्ये स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥
कफाद्भवति, रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः ।
क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत् ॥
विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत्पिबन् ।
न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते ॥
तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।
करोति फेनसङ्घातं तत्तु कृच्छ्रात्प्रवर्तते ॥
तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः ।
वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽधिगच्छति ॥
पूर्ववत्कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः ।
रूक्षं तत्पिबतो रौक्ष्याद्बलह्रासः प्रजायते ॥

२-क्षीरालसक—

धातु के सन्निपात को कुपित करने वाले आहारादि का सेवन करने से तीनों दोष युगपद्वक्षस्थल में पहुंच कर क्षीरवाही रसायनियों का आश्रय ले दुग्ध को भी सन्निपात दोष से दुष्ट कर देते हैं। (इसी प्रकार बोतल सेवी बालकों का दुग्ध भी अनेक दोषों से दुष्ट होता है।) यदि इस प्रकार के दुष्ट दुग्ध को अज्ञान के कारण, न ध्यान देने के कारण अथवा प्रमाद से धात्री शिशु को पिला देती है, तो बालक को उसके पीने से जल के सदृश पतले स्वच्छ, फटे हुए, आम (कच्चे), दुर्गन्धित, झागदार, अनेक वर्णों वाले अतिसार होने लगते हैं। उसका मूत्र पीला, श्वेत और गाढ़ा हो जाता है। उसे तृष्णा, ज्वर, छर्दि, जृम्भा, रूक्ष उद्गार, अरुचि, भ्रम, अङ्ग भङ्ग, अङ्ग विक्षेप (अङ्गों का इधर उधर पटकना) अन्त्रियों में कूजन, आस्य-मुख और नाक पक जाय, दृष्टि में उपद्रव हो तथा स्वरसाद आदि पीड़ायें होती हैं। इस रोग का नाम क्षीरालसक कहा गया है—

यदा तु पुनर्धातुसन्निपातात्प्रकोपनान्यासेवते तदास्याः त्रयो मला युगपद्वक्षोऽभिप्रपन्ना क्षीरवहाः रसायनीः समनुसृत्य संकीर्णलिङ्गं स्तन्यमावहन्ति। तच्चेदविज्ञानात् सततमप्रत्यवेक्षणात् प्रमादाद्वा धात्रीः कुमारः पिबति। ततः स तेन सलिलोपमच्छं विच्छिन्नमामं दुर्गन्धं नानावर्णवेदनं फेनिलमतिसार्यते। पीतश्वेतमूत्रताविष्टम्भतृष्णाज्वरछर्दि विजृम्भिकाशुष्कोद्गारारुचि भ्रमाङ्गविक्षेप कूजन घ्राणाक्षिमुखपाकदृष्ट्युपप्लवस्वरसादादयश्चास्य प्रादुर्भवन्ति। स क्षीरालसकमत्ययं चाचक्षते।

स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम् ।
विबद्धच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥
शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम् ।
ज्वरारोचकतृट्छर्दि शुष्कोद्गार विजृम्भिकाः ॥
अङ्गभङ्गोऽङ्ग विक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः ।
घ्राणाक्षिमुखपाकाद्याः जायन्तेऽन्येऽपि तं गदम् ॥
क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ।

—अ. हृ. ३ अ. २।२० २३

इन लक्षणों से युक्त जिस रोग को आयुर्वेद में क्षीरालसक कहा गया है, उसको पाश्चात्य विज्ञानवादी एक औपसर्गिक रोग (Epidemic diarrhoea in children) मानते हैं। परन्तु निरन्तर अन्वेषण करने पर भी वह अपने जीवाणुवाद की पुष्टि के लिए इसके कारणभूत जीवाणुओं की खोज नहीं कर सके। अर्थात् अभी तक उन्हें यह निश्चय नहीं हुआ कि उस रोग में कौन से जीवाणुओं का संचय अथवा प्रकोप होता है। इसके फलस्वरूप उनका अनुमान है, कि यह रोग किसी एक ही प्रकार (दोष) के जीवाणुओं से नहीं होता, अपितु इसमें अन्त्र मन्थर प्रवाहिका वर्ग के कारक अनेक



जीवाणु (दोष) कारण है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस रोग का द्वितीय प्रधान कारण अस्वच्छ वातावरण माना है। धूलि का अधिक होना, मनुष्यों की भीड़भाड़ तथा दुष्ट दुग्ध का सेवन, दुग्ध का पात्र स्वच्छ न होना आदि अनेक कारण अस्वच्छ वातावरण के ही अग समझे गये है। इस रोग की उत्पत्ति की सम्भावना अधिकतया रजः कणों से ही है पचन कर्म में कुछ भी विकार होने से (विशेषतया बोतल,सेवी बालकों मे) इस रोग के होने की सम्भावना बढ़ जाती है। यह रोग छूत से फैलता है।

It is generally agreed that the disease is caused by infection with microorganisms but inspite of much research the bacteriology is by no means clear Next in importance as an aetiological factor must be put the influence of unhygnic surroundings such as dirt, overcrowding, a contaminated milk supply and want of cleanliness in feeding utensils. Any digestive darrangement in the child may predispose to infection and bottlefed infants are specially liable.

(A text book of the practice of medicine by Frederick W. Price)

३-पारिगर्भिक रोग—

इसी प्रकार जब शिशु गर्भिणी धात्री (माता, विमाता, गौ अथवा भैंस आदि) का दूध पीता है तो उसे भारी होने के कारण पचा नहीं सकता। इसलिये उसे अग्निमान्द्य हो जाता है, तथा अग्निमान्द्य से होने वाले अनेक रोग कास, वमन, तन्द्रा, अरुचि, भ्रम और कोष्ठ वृद्धि (पेट का बढ़ना) हो जाती है। इन सब कारणों से भोजन पाक न हो कर जब रस रक्तादि धातुये पूरी तरह नहीं बनतीं तब कार्श्य दुबलापन सूखापन हो जाता है। माता के दुग्ध मे गर्भ मे स्वयं की पूर्ति के कारण समवर्तिक विकार से दुग्ध मे पोषक सामग्री की न्यूनता हो जाती है। इसलिये इस अपोषक दूध को पीने से शिशु रोगग्रस्त हो जाता है। इसे पारिगर्भिक अथवा परिभवाख्य रोग भी कहते है।

मातु' कुमारो गर्भिण्या. स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि।
कासाग्निसाद वमथुतन्द्रा कार्श्यारुचिभ्रमै. ॥
युज्यते कोष्ठवृद्धया तमाहु. पारिगर्भिकम्।
रोगं परिभवाख्यं च— ॥

—अ. हृ. चि. २

काश्यप संहिता मे भी ऐसा ही कहा गया है, कि जिसकी माता गर्भिणी है ऐसे बालक तथा अनाथ दुष्ट ग्रहणी रोग वाले और प्राय. अधिक भोजन करने वाले बालक फक्क रोगी होते हैं। अग्नि के मन्द होने से तथा रस का उत्सर्ग होने से उन्हें मूत्र एवं पुरीष अधिक होता है—

... .मनाथानां विशेषत'।
प्रदुष्ट ग्रहणीकाश्च प्रायशो बहुभोजिनः ॥
फक्काभवन्ति तस्माच्च भुक्तं तेपामपार्थकम्।
मन्दाग्नित्वाद् रसोत्सर्गाद् बहुमूत्रपुरीषिणः ॥

—काश्यप संहिता फक्क चिकित्साध्याय

४-बाल शोष रोग—

इसी प्रकार दिन मे अत्यधिक सोने से, शीतल जल से, कफकारक पदार्थ अथवा कफकारक धात्री का दुग्ध सेवन करने से शिशुओं मे कफ वृद्धि हो जाती है, अतएव रसवाहि स्रोतों का अवरोध हो जाता है। स्रोतों के अवरुद्ध होने से शिशु को अरोचक, प्रतिश्याय, ज्वर और कास हो जाते हैं, बच्चा सूख जाता है, मुख और आंखे स्निग्ध और सफेद हो जाती हैं।

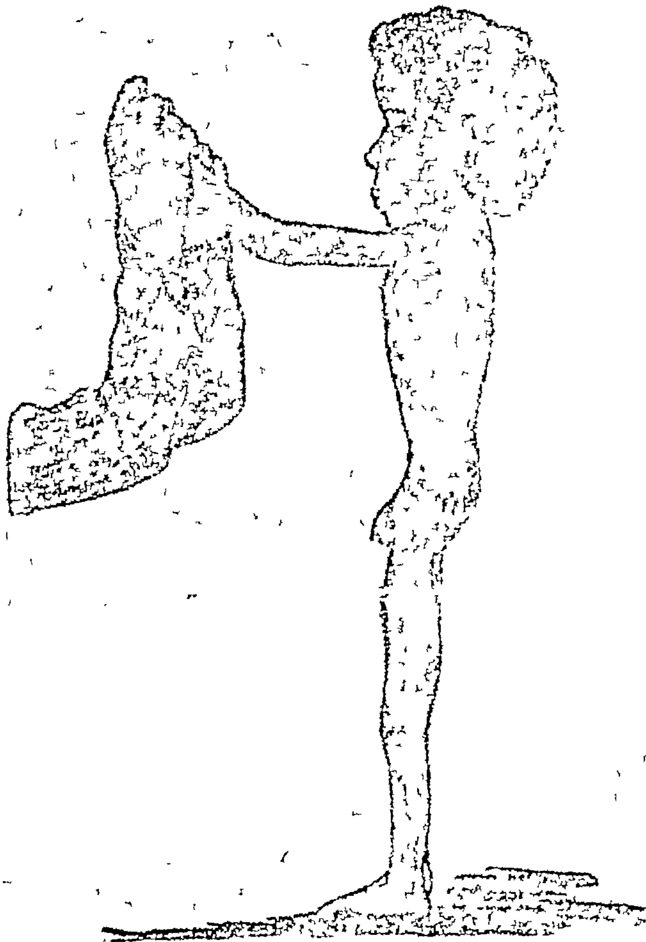
अत्यह स्वप्नशीताम्बु श्लैष्मिकस्तन्यसेविनः।
शिशोः कफेन रुद्धेषु स्रोतःसु रसवाहिषु ॥
अरोचक प्रतिश्यायो ज्वर. कासश्चजायते।
कुमार. शुष्यतिवत. स्निग्ध शुक्ल मुखेक्षणः ॥

—अ. हृ. उत्तर २। ४४-४६

इस प्रकार के बाल शोष को पाश्चात्य लोग Wasting कहते हैं, तथा उनकी दृष्टि में उसके निम्नलिखित कारण हैं—

१. कुछ विशेष रोग—यक्ष्मा, सहज फिरंग, चिरकालीन श्वसनक ज्वर, गुप्त पूयोरस अथवा हृदय

का सहज रोग आदि–इनमें कोई भी शोषोत्पत्ति का हेतु हो सकता है।

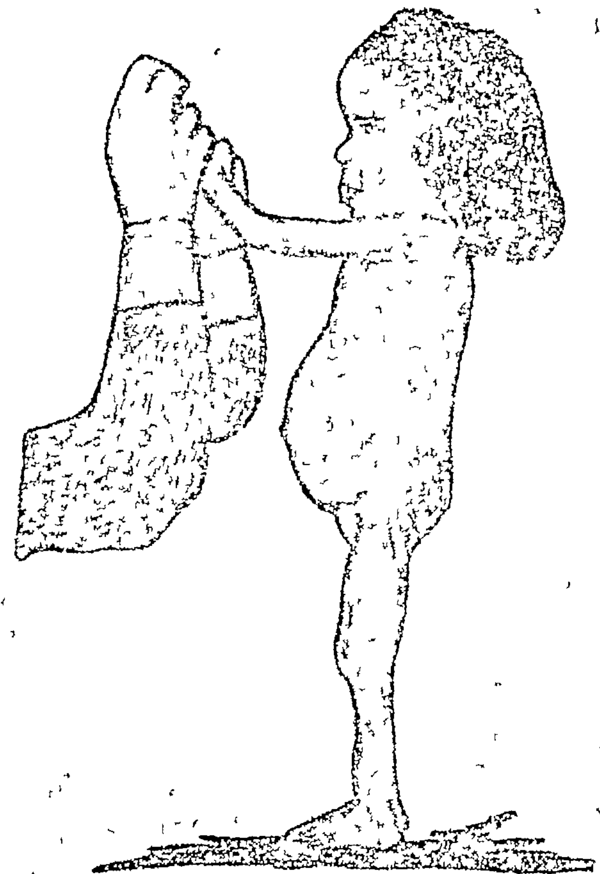


चित्र नं० ५१
सूखा रोगी—टांगें, हाथ सूखे हुए, उदर पिचका हुआ

२. अनशन—अल्प मात्रा में पोषक पदार्थ देने के कारण प्राय: शोष रोग देखा जाता है। कभी कभी बालकों की माता या धात्री दुग्ध में पानी मिलाकर उसे पतला करके शिशुओं को पिलाती हैं, जिसके कारण उनका भार कम होने लगता है। कुछ बालक खण्डोष्ठ (Harelip) होने से, दुर्बलता से, अर्दित (Facial paralysis) से या नाक बन्द हो जाने से पूरी पूरी मात्रा में स्तनों से दुग्ध का चूषण न कर सकने से अपोषित ही रह जाते हैं। स्तनों का मुख छोटा होने से भी बालक को दुग्ध पूरी मात्रा में नहीं मिलता।

३. अर्द्ध प्रगल्भता (Prematurity)–अर्द्ध प्रगल्भ बालक बहुधा दुर्बल होते हैं। दूसरे समवर्त के लिए इन्हें शारीरिक ताप स्थिर करने के लिये अधिक भोजन लेना पड़ता है, जिससे शारीरिक वृद्धि के निमित्त बहुत कम भोजन रह जाता है तथा यह न तो अधिक भोजन पचा सकते हैं और न ही उसका सात्म्यीकरण कर सकते हैं।

४. आहार का मिथ्या योग–मात्रा की दृष्टि से अत्यल्प अथवा अल्पशक्ति का आहार देना, अथवा अत्यधिक बलप्रद अधिक भोजन देना, अथवा ऐसा भोजन देना जिससे एक तत्व अत्यधिक हो और दूसरे तत्व अत्यल्प हों, अथवा बालक एक वस्तु को



चित्र नं० ५२
सूखा रोगी–टांगें तथा नितम्ब सूखकर पतले हो गये हैं, लेकिन उदर बढ़ा हुआ है।

ठीक पचा ले तथा दूसरी वस्तु को ठीक न पचा सके जैसे कोई बालक सहज विकारों के कारण स्नेहांश को पचाने में समर्थ नहीं होते।

५. अजीर्ण—यह अधिकतर रोगियो में मिलता है। अजीर्ण, ग्रीष्मकालीन अतिसार में प्रगट होकर जीर्ण हो सकता है। यह सभी भोजन के अयोग, अल्पयोग, अतियोग अथवा मिथ्या योग के परिणामस्वरूप होता है। अजीर्ण के साथ अन्य संक्रमण हो जाने पर हरे रंग के दस्त आने लगते है, जो शीघ्र रोग को उत्पन्न करने में सहायता करते हैं।

६.स्वाभाविक (Idiopathic)—यह एक ऐसा कारण है जो अज्ञात हैं। इसमे समवर्त के विकृत होने से अथवा किसी प्रणालीविहीन ग्रन्थि के स्राव की विकृति से शिशु धीरे धीरे सूखने लगता है, उसके सूखने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता।

५–शुष्क रेवती—

इन रोगों के अतिरिक्त शुष्क रेवती (*Marasmus*) रोग भी बालको को सुखाने वाला ही है। इसमे क्रमशः सारे अङ्गों का क्षय हो जाता है। इस लिये इसे भी बालशोष का ही एक रूप समझना चाहिये।

जायन्ते शुष्क रेवत्यां क्रमात्सर्वाङ्ग सचय.।

—अ० हृ० उत्तर ३।२६

६–व्याधिज फक्क रोग—

कभी कभी निज अथवा आगन्तुज ज्वरादि रोगों से बेचारे (अनाथ) बालकों को क्लेश होता है। इससे उनका मास, रक्त, बल तथा तेज क्षीण हो जाता है। इस बालक के स्फिक् (नितम्ब-*Buttocks*) बाहु तथा जवायें शुष्क हो जाती हैं तथा उदर, सिर मुख बड़े हो जाते हैं, उसकी आंखे पीली हो जाती है, अङ्गहर्ष (रोग हर्ष) युक्त होता है तथा शरीर केवल अस्थियो का पञ्जर (ढाचा) ही दिखाई देता है उसके शरीर का निचला भाग (अधर काय) म्लान दिखाई देता है। उसका मल मूत्र सदा निकलता रहता है। उसका निचला भाग निश्चेष्ट (*Paralysed*) हो जाता है, तथा वह हाथों और घुटनों के बल चलता है। दुर्बलता के कारण उसकी चेष्टायें मन्द हो जाती हैं, तथा चेष्टाओं के मन्द हो जाने से मक्खियां, कृमि एवं कीड़े आदि उसे आक्रांत करके शीघ्र मृत्युकारक रोग उत्पन्न कर देते हैं। शिशु के रोम विशीर्ण, हृष्ट और रूक्ष होते हैं। उसके नख बड़े बड़े होते हैं तथा उसके पास से दुर्गन्धि आती है। वह मलिन तथा क्रोधी होता है तथा वह विशेष प्रकार से श्वास लेता है। मल मूत्र की अधिकता, दूषित सिंघाणक (नासिका का मल) एवं मल आदि लक्षणों को देख कर बालक को व्याधिजन्य फक्क रोग कहते हैं।

निजैरागन्तुभिश्चैव ......ज्वरादिभिः।
अनाथः क्लिश्यते बाल. क्षीण मांसबल द्युति ॥
सशुष्क स्फिक् बाहूरुर्महोदरशिरोमुख.।
पीताक्षो हृषिताङ्गश्च दृश्यमानास्थिपञ्जर.॥
प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्र पुरीषकृत।
निश्चेष्टाधरकायोवा पाणिजानुगमोऽपि वा ॥
दौर्बल्यां मन्दचेष्टश्च मन्दत्वात् परिभूतक.।
मक्षिकाकृमिकीटानां गम्यश्चाप्यसु मृत्युरुक् ॥
विशीर्ण हृष्टरोमाच स्तब्धरोमा महानखः।
दुर्गंधी मलिन. क्रोधी फक्कः श्वसिति ताम्यति ॥
अतिविण्मूत्र दूषिका सिंघाणक मलोद्भव.।
इत्येतैः कारणैर्विद्याद्व्याधिजा फक्ततांशिशोः॥

—काश्यप संहिता फक्क चिकित्साधिकार

इस प्रकार शोषी बालक के रोग के लक्षण देखकर किसी भी पूर्वोक्त अवस्थाओं (लक्षण समूहों) में से किसी अवस्था के साथ मिलाकर निश्चय कर सकते हैं कि यह रोग की कौन सी अवस्था है।

और भी देखिये—

शोष रोग और राजयक्ष्मा का आयुर्वेद में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। ज्वर कासादि से युक्त बालक की चिकित्सा राजयक्ष्मावत करें और केवल शुष्क की शोषवत्। केवल उन योगों की मात्रा अल्प होनी चाहिए जैसे कहा भी है—दोष दूष्य मल तथा व्याधियां जो बड़ों मे

कही हैं वह सब बालकों में भी होती है, केवल मात्रा थोड़ी होती है।

दोषदूष्यमलांश्चैव महतांव्याधयश्चये।
त एव सर्वबालानां मात्रात्वल्पतरामता॥
निवृत्तिमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम्।
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषुशास्त्रवित्॥
भेषज स्वल्प मात्रं तु यथा व्याधि प्रयोजयेत्॥
—च. चि. ३०

बाल शोष की इन अनेक अवस्थाओं को कहने पर भी कई अवस्थायें शेष रह गई होंगी। यथा दन्त निकलते समय ज्वर, अतिसारादि आदि। यदि ठीक न हों तो बिगड़ कर यही बालशोष का रूप धारण कर सकते हैं। अतः पाठक इन अवस्थाओं के वर्णन को संकेत मात्र जानकर शेष अवस्थाओं का स्वय अनुभव करें और देखें कि आयुर्वेद में बालशोष का कितना विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

बाल शोष की चिकित्सा—

मेरे विचार में इस सम्पूर्ण वर्णन तथा और भी जिसका आप अनुभव करेंगे, उसका निष्कर्ष यही निकलेगा कि शोष का कारण प्रकुपित वात है और वात के प्रकोप का कारण धातुओं का क्षय अथवा मार्गों का अवरोध है। धातुओं का क्षय अथवा मार्गों का अवरोध बालक में अजीर्ण से ही हो सकता है। दुग्धपायी शिशु में धात्री के दुग्ध का ही अजीर्ण हो सकता है। अन्नाशी बालकों में अन्न का और क्षीरान्नाशी बालकों में दोनों का। इस प्रकार एक सिद्धांत का निश्चय कर लेने से चिकित्सा में अत्यन्त सरलता हो जाती है। किसी रोग विशेष के नाम के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती। चाहे इस अवस्था को हम बालशोष कहें, फक्क, पारिगर्भिक अथवा क्षीरलसक कहें। चिकित्सा हमारी बालक के अजीर्ण को नाश करने की ही होनी चाहिए। इस चिकित्सा के दो विभाग किये जा सकते हैं—

१—पहले भाग में—क्षीराशी बालक की धात्री की चिकित्सा और।

२—दूसरे भाग में स्वयं बालक की चिकित्सा।

धात्री की चिकित्सा के भी दो प्रकार हैं—

१—धात्री के दुग्ध की परीक्षा की जाय, और जो दोष उसमें दिखाई दें, उसको दूर करने का उपाय किया जाये। दुग्ध की परीक्षा का प्रकार तथा दोषानुसार उसकी चिकित्सा विस्तारभय से यहां नहीं दी जाती है। चरक सुश्रुत तथा अष्टांग हृदय में विस्तार पूर्वक देखें—

२—धात्री का दुग्ध दूषित होने के कारण छुड़वा दिया जाये और दूसरी शुद्ध दुग्ध वाली धात्री (गौ अथवा बकरी) का प्रबन्ध किया जाए।

बालक की चिकित्सा के भी दो भेद हैं—

१—अन्त प्रयोगार्थ—

(१) क्वाथ, चूर्ण आदि यदि बालक स्वयं न ले सके तो धात्री को दी जाये अथवा उसके स्तनों पर लेप कर बालक को दूध पिलावें।

(२) सूक्ष्म औषधियां मधु आदि में मिलाकर सब बालकों को दी जा सकती हैं। यथा—स्वर्ण भस्म मधु अथवा मधु घृत (विषम मात्रा में मिला कर) अथवा मधु, मक्खन से प्रवाल भस्म, मुक्ता भस्म, मुक्ता शुक्ति भस्म, स्वर्ण मालती बसन्त, लोह भस्म, कुमारकल्याण रस आदि सब श्रेष्ठ अजीर्ण नाशक, बल, मांसबर्द्धक औषधियां हैं। इसमें कुछ खटिक (*Calcium*) भी है।

(३) यदि बालक स्वयं औषधि न ले सके तो कुमारकल्याण घृत, च्यवनप्राश आदि दूध में मिला कर दे सकते है। (हम च्यवनप्राश को दूध में घोल कर प्रयोग करते है, इससे इसका शीघ्र ही पाचन हो जाता है।)

(४) यदि बालक गोलियों का सेवन कर सके तो—

१. चने की दाल में गूलर के दूध की एक अथवा तीन भावना देकर १-१ रत्ती की गोलिया बनाकर गधी के दूध से दें। रोगी अवश्य ठीक हो जायेगा।



(२) इसके अतिरिक्त केकड़े का सूक्ष्म चूर्ण, कछुए की खोपडी की काली भस्म भी बहुत उपयोगी है।

(३) कृष्णाभ्रक भस्म गधी के दूध से अनेक बार पुट दी हुई भी अवश्य लाभ करती है।

२—बाह्य प्रयोगार्थ—

बालक के शरीर पर नारायण तैल, महानारायण तैल, बला तैल, शतावरी तैल, लाक्षादि तैल, अथवा महालाक्षादि तैल का अभ्यङ्गार्थ अवश्य प्रयोग करना चाहिए।

बाजरा घी में जलाकर घी को निथार कर उस घी की मालिश बालक की पीठ पर करें।

हमारा निश्चय है कि यदि आप किसी बालक को अन्तः प्रयोगार्थ कोई औषधि न देकर केवल महालाक्षादि तैल का अभ्यङ्ग करवाते हैं तो भी बालक थोड़े ही दिनों में अवश्य रोगमुक्त होकर सर्वथा स्वस्थ हो जायेगा। यह निश्चय हमारे अनुभव के आधार पर है तथा शास्त्र सम्मत भी है।

—कविराज श्री बंसरीलाल साहनी आयुर्वेदाचार्य,
५२६ बीडनपुरा, करौलबाग, नई दिल्ली

बालशोष बनाम फक्क उपचार

कविराज श्री डा० शिवपूजनसिंह जी कुशवाहा 'पथिक' बी. ए. एच. एन. डी. एस.

फक्करोग सूखा रोग के अन्तर्गत ही आ जाता है। इसके अन्य नाम सुखण्डी, फक्क, गात्रशोष, बालशोष भी हैं। किसी किसी ने 'अस्थिमृदुता' नाम भी लिखा है। आंग्ल भाषा में इसे Rickets, Tetany, Wasting, Osteomalacia कहते हैं।

कारण—

बच्चों को यह रोग श्रमिक वर्ग तथा मध्यमवर्ग के शिशुओं में विशेष पाया जाता है। तीन वर्ष तक इस रोग के होने की संभावना रहती है। कभी कभी बड़ी आयु के बच्चे भी इस रोग से ग्रसित हो जाते हैं।

आधुनिक दृष्टि से जीवति (विटामिन) क और ख की कमी, जो शुद्ध दुग्ध व मक्खन के अभाव में मिलती है इसका स्पष्ट कारण है।

अन्य कारण—(क) गर्भवती माताओं को उपयुक्त रूप से आहार न मिलना और यदि मिल भी जावे तो उसमें पौष्टिक तत्वों का अभाव होना। गर्भकाल में माता के लिये कैल्शियम की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

(ख) प्रसवोपरांत पौष्टिक पदार्थों का न मिलना- प्राचीनकाल में प्रसव के पश्चात् प्रसूता को १०-१२ सेर शुद्ध घृत अन्य पौष्टिक पदार्थों के साथ खिलाया जाता था जिससे उसकी निर्बलता दूर होकर पुनः शरीर में शक्ति आ जाती थी। पौष्टिक पदार्थों के न सेवन करने से अथवा असमर्थ होने से माता का दूध भी पौष्टिक नहीं होता अतः शिशु का विकास रुक जाता है।

(ग) अत्यन्त छोटी आयु में अन्न का सेवन कराना। जब शिशु के दन्तोद्भव का समय होता है तो उनके मसूढ़ों में खुजली सी ज्ञात होती है। उस खुजली को दूर करने के लिये शिशु खिलौनों को लेकर चबाने लगता है। अशिक्षित मातायें जब यह देखती हैं तो रोटी के किनारे को चूसने के लिए पकडा देती हैं। प्रारम्भ में तो शिशु केवल चूसता रहता है। परन्तु धीरे धीरे खाने लगता है। वह अन्न शिशु के पेट में जाकर अजीर्ण उत्पन्न कर देता है जिससे उसे हरे पीले मल आने लगते हैं। ज्वर, खांसी का प्रकोप हो जाता है, शिशु प्रतिदिन सूखने लगता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि बच्चो का १ वर्ष तक भोजन केवल दुग्धपान ही रहना चाहिये।

दुग्धाशी वर्ष पर्यन्तस्यात्। —भाव प्रकाश
यावत् पिबति पयस् (तावत्स बालक) क्षीरप ।
—काश्यप सहिता

पहले छः मास, माता का दूध शिशुओं को पिलाने से उसकी वृद्धि भलीभांति होती है।

मातुरेव पिबेत् स्तन्य तत्पर देह वृद्धये ।
—वाग्भट

छः महीने पश्चात् अधिक से अधिक १ वर्ष तक शिशु को गोदुग्ध देने से सूखा होने का प्रायः भय नहीं रहता है।

सम्प्रति बहुत शिशुओं को माता का दूध नहीं मिलता है या अत्यल्प मिलता है (अक्षीरा जननी-काश्यप सहिता), (अल्पक्षीरा जननी-काश्यप संहिता) माता के खानपान और जलवायु मे होने वाले परिवर्तन और जन्तुओं का संसर्ग आदि कारणों से शिशुओं मे कृशता दृष्टिगोचर होती है। निर्बलता बढ़ने से बच्चे पगु बन जाते है।

तीन कारण प्रमुख लिखे है—

क्षीरज गर्भज चैव तृतीय व्याधि सभवम्।
फक्करत्व त्रिविधं प्रोक्तम् . .. . ॥
—काश्यप सहिता

अर्थात् क्षीरज, गर्भज, व्याधिज तीन फक्कत्व कहे जाते है।

क्षीरज—शिशु को प्रथम वर्ष मे माता का, गौदूध पौष्टिक रहता है परन्तु वही दूध पूर्व से ही दूषित रहा तो शिशु शक्तिशाली के बदले निर्बल होता है।

जिस माता का दूध कफ दुष्ट है उसे 'फक्क दुग्धा' कहा है।

धात्री श्लेष्मिक दुग्धातु फक्क दुग्धेति सज्ञिता।
तत्क्षीरपो बहुव्याधि कार्श्यात् फक्कत्वमाप्नुयात् ॥
—काश्यप सहिता

कफकारक दुग्धपान से अग्निमाद्य उत्पन्न होकर कफ स्थान मे—वक्षस्थल, गला, श्वास, नाड़ी प्रभृति स्थानों में कफ समाविष्ट होकर बच्चा कृश होने लगता है।

माता को उसके बलानुसार तीक्ष्ण विरेचन देकर दशमूलों का उपयोग करना चाहिये और लघु आहार देना चाहिये।

गर्भज—

गर्भिणी मातृकः क्षिप्र स्तन्यस्य विनिवर्तनात्।
क्षीयते म्रियतेवाऽपि सफक्को गर्भ पीडितः॥
—काश्यप संहिता

गर्भिणी माता का बदला हुआ दूषित दूध पी कर उस पर ही रहने का प्रसङ्ग शिशु पर आने से वह धीरे धीरे क्षीण होकर अन्त में काल के गाल मे चला जाता है।

गर्भ धारण होने से स्तन्य मे परिवर्तन होता है और गर्भिणी स्तन्य से बच्चे का पोषण भलीभांति नहीं होता। नैसर्गिक रूप से छः मास में मातृस्तन्य का प्रमाण भी बहुत कम होने लगता है। शिशु स्तन्यपान को न पाकर स्तनपान के लिए हठ करता है। अनशन से शिशु को अग्निमांद्य हो जाता है। यकृत् खराब हो जाता है।

यह माता पिता का दोष है कि शिशु के दुग्धपान काल मे मैथुन करते है। जब तक शिशु दुग्धपान करता है तब तक माता-पिता को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये। शत-प्रतिशत शिशुओं को सूखा रोग होने का प्रमुख कारण यही है। मैथुनोपरांत शीघ्र दुग्धपान से शिशु को अग्निमाद्य, वमन, दस्त हो जाते हैं।

गर्भकाल से शिशु के दुग्धपान तक लगभग २½ वर्ष तक माता पिता को मैथुन से बचाना अनिवार्य है। अन्यथा शिशु को सूखारोग होने का भय अवश्य रहेगा।

व्याधिज—ग्रहणी, पांडु, यकृत वृद्धि, अनुलोम क्षय, मलेरिया (विपम ज्वर), जातज फिरङ्ग (आतशक) प्रभृति रोगों की क्षीणता के कारण बाद में सूखा रोग होजाता है।

लक्षण—

सूखारोग में नितम्ब के मांस प्रदेश पर सलवट पड़ना, हाथ-पैरो की दुर्बलता, वक्षस्थल का दब जाना और पेट का उभार व उस पर नसो का दीखना, हरे-पीले दस्तो का बार बार होना, स्वभाव मे चिड़चिड़ापन, दातो का ठीक समय पर न निकलना, अस्थियो मे वक्रता ज्ञात होना, चलने फिरने की शक्ति डेढ़ वर्ष तक होने पर भी न होना। शिशु की आंखें चिकनी तथा श्वेत हो जाती हैं।

इस रोग मे अस्थि विकृति अधिक रहती है। इस समय अग्निमांद्य, मांसधातु क्षीणता, अस्थि धातु की कम बाढ और अस्थियों की टेढ़ी-मेढ़ी वृद्धि होती है। इससे शिशु अधिक क्षीण होता है।

मांस धातु, उरुभाग और बाह्य क्षीण होने के कारण वह भाग सूखा हुआ दिखाई देता है।

यकृत् प्लीहा वृद्धि होकर और मासधातु शैथिल्य से उदर भाग बहुत बडा दिखाई देता है। शिर भी बड़ा दिखाई पड़ने लगता है। शरीर कृश होकर अस्थियो का पिंजड़ा दिखाई देता है।

पाचकाग्नि मे बिगाड होकर ग्रहणी विकार के लक्षण होते है।

चिकित्सा—

प्रचलित चिकित्सा—

झाडना फूंकना, इस क्रिया पर मेरा विश्वास नहीं है। झाड़ फूंक से सूखा रोग दूर नहीं हो सकता है। मेरुदण्ड की अस्थि की मालिश औषधोपचार आदि लाभकारी है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

(१) 'भैषज्यरत्नावली' मे लिखा है कि—"लाल कमल के फूल, खस, केशर या गम्भीराफल, नील कमल, मजीठ, छोटी इलायची, खरैटी, जटामासी मोथा, अनन्तमूल, हर्र, बहेड़ा, आमला, बच, कचूर, निशोथकाली, नील-पचांग, परवल का पत्ता, पित्तपापड़ा, अर्जुन की छाल, मुलेठी, महुए के फूल, मुरामांसी प्रत्येक का चूर्ण ४-४ तोला। और मुनक्का, १ सेर तथा धाय के फूल ६४ तोला का भी चूर्ण बनालें।

चिकनी मिट्टी के पात्र मे २७॥ सेर ८ तोला जल डालकर उसमे ५ सेर उत्तम चीनी और शहद २॥ सेर डालकर घोल दे। पुनः पात्र का मुख बन्द कर एक मास तक रखा रहने दे। पुनः प्रयोग मे लावें।

मात्रा व अनुपान—बच्चों को २ से ६ माशे तक और बड़ों को १ से १॥ तोले तक बराबर जल के साथ देना चाहिए।

गुण—यह सुखण्डी की सर्वोत्तम औषधि है।

(२) असगंध चूर्ण ६ रत्ती गरम जल से दे।

(३) शखभस्म २ भाग, प्रवाल भस्म १ भाग, शुक्तिभस्म २ भाग, कौड़ी भस्म ४ भाग, गोदन्ती भस्म ६ भाग। इनको एकत्र नींबू के स्वरस मे खरल कर रखे। २ से ८ रत्ती तक माता को प्रातः व सायं दूध से दे।

(४) शुद्ध गन्धक १ तोला, यशद भस्म ½ तोला, गोदन्ती भस्म ८ तोला, रस सिंदूर १ तोला, गोरोचन १ तोला—एकत्र खरल कर शीशी में रखे। मात्रा—२ से ४ रत्ती मधु के साथ दें।

(५) शख भस्म ४ तोला को २० तोला जल मे रात्रि मे भिगो दिया जाय। प्रातःकाल उसको नितार लिया जाय। उस जल मे ३२ तोला मिश्री डालकर पका लिया जाय। शर्बत या शहद के समान होने पर शीशी मे डाल दिया जाय। यह शर्बत १ तोला, शंख भस्म १ रत्ती, गोदन्ती भस्म १ रत्ती मिलाकर प्रात. साय चटा दिया जाय।

लाक्षादि तैल अभ्यङ्ग भी लाभप्रद है।

(६) यकृत ठीक करने के लिए 'गौमूत्र' सर्वोत्तम औषधि है। यह सहायक औषधि के रूप में करना चाहिये। एक वर्ष से कम आयु के शिशु को गौमूत्र नहीं देना चाहिये। १ से ४ वर्ष तक की आयु के शिशु को ६ माशा से लेकर १



आँस तक शुद्ध वस्त्र से छाना हुआ गोमूत्र समान भाग जल में मिश्रण करके देना चाहिये। दिन में तीन बार से अधिक नहीं देना चाहिए। गोमूत्र सेवन काल में अन्न का त्याग करके केवल गो दुग्ध तथा फलों का ही सेवन करना चाहिए।

(७) नरकचूर का चूर्ण २-२ रत्ती मात्रा में दूध में घोटकर देना चाहिये।

(८) स्वच्छ 'खूबकला' १ तोला के दानों को एक श्वेत कपड़े में डालकर ढीली सी पोटली बनालें। किसी स्वस्थ बकरी के एक सेर दूध में दोलायन्त्र विधि से मन्द मन्द आंच पर पकावे। जब दूध शुष्क होने पर आवे तो पोटली निकाल ले। पोटली खोलने पर 'खूबकला' के दाने खूब फूले हुये मिलेंगे। अब इन्हें शुद्ध पानी से धो डाले। पश्चात् खरल में डालकर महीन पीस डाले और सूख जाने पर शीशी में डालकर रख छोड़ें। १-१ रत्ती की मात्रा से दिन में ३ बार अर्क गाजवान या माता के शुद्ध दूध को मिलाकर दे।

(९) अष्टांग संग्रह—(उत्तर अ० ?) में वर्णित स्थिरादि घृत पिलावे।

(१०) कटि और पैर सूखने से 'नारायण तैल' लगाकर धीरे धीरे मलकर निगुण्डी के पानी में अवगाहन स्वेद कटिभाग को देने से शीघ्र ही बच्चे सुधरते हैं।

'शंख पुष्पी तैल' भी शरीर में मालिश करें।

(११) मकोय काली, पान का पत्ता, काकमाची प्रत्येक समभाग का स्वरस निकालकर शहद में मिलाकर तीन सप्ताह तक मेरुदण्ड के ऊपर मालिश करनी चाहिये।

(१२) सफेद मुर्गी के अण्डे को तोड़ कर एक पत्ते पर उसके भीतर का पदार्थ रख कर कम्बल पर रखें और उसी पर शिशु को बैठा दें। यदि सूखा रोग होगा तो गुदा मार्ग से वह अंडा के भीतर का जल पेट में चला जायगा। इसी प्रकार एक सप्ताह तक करने से शिशु एकदम स्वस्थ हो जायगा।

होमियोपैथिक चिकित्सा—

[१] एब्रोटेनम ३०—शिशु का सारा शरीर सूख जाय, लेकिन पैर का सूखना ही अधिक दिखाई पड़े इसे देने से जादू के समान असर करता है।

[२] कलकेरिया आर्स (*Calcaria Arsenicum*) ३०—शिशुओं के यकृत और प्लीहा बढ़ने पर यह लाभदायक है।

[३] कई डाक्टरों का सिद्धांत है कि पहले "सलफर ३० इसके बाद "कलकेरिया कार्ब" ३० इस रोग की उत्कृष्ट औषधियां हैं।

[४] आर्सेनिक ६ या आर्सेनिक-आयोड २×—शिशु के भलीभांति पोषण न होने के कारण रिकेट होने पर देना चाहिए।

[५] फासफोरस ३०, साइलिया ६, एसिड-फास ६ ये भी कभी कभी लाभ पहुचाते हैं।

वायोकेमिक चिकित्सा—

[१] कलकेरिया फास्फोरिकम ६×—यह इस रोग की प्रधान औषधि है। इससे मेरुदण्ड की वक्रता और ग्रीवा की शक्तिहीनता दूर होकर स्वाभाविक दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

[२] नेट्रम फास्फोरिकम ६×—खाद्य पदार्थ के ठीक से न पचने के कारण रोग होने पर यही प्रधान औषधि है। परन्तु इसके साथ "कलकेरिया फासफोरिकम" पर्यायक्रम से बीच बीच में २।१ मात्रा करके व्यवहार करना चाहिए।

[३] साइलिसिया ६×—रोगी के मस्तक में अधिक परिमाण में पसीना और उदरामय के मल में अधिक दुर्गन्ध रहने पर यह उपयोगी है।

एलोपैथिक चिकित्सा—

सूचीभेद—

[१] हेपर १२ड्य मैक्स कम्पनी का बना हुआ सर्वोत्तम औषधि है। नितम्ब पर इन्जेक्शन लगाना चाहिए (यदि इन्जेक्शन के साथ "ओस्टो कैलशि-



यस" (*Osto-calcuim*) ग्लाक्सो कम्पनी का बना हुआ मिलाकर लगावे तो जादू के समान काम करता है। १ सी सी. हेपर + १ सी.सी. ओस्टो कैलशियम = कुल २ सी सी. का नितम्ब पर सूचिका-भेदन करे।

वास्तव में एलोपैथिक मे 'लिवर एक्सट्रैक्ट वीथ विटामिन बी कम्पलेक्स' ही इस रोग की सर्वोत्तम औषधि मानी गई है।

[२] कैलशियम ग्लुकोनेट = बूट्स द्वारा निर्मित।

[३] कैलशियम सैण्डोज = सैण्डोज द्वारा निर्मित।

[४] फौलाइड कैलशियम विद् विटामिन डी = अल्टा द्वारा निर्मित।

[५] कैलसिमा डी—सीपला द्वारा निर्मित।

औषधियां—

बाह्य प्रयोग व मुख द्वारा सेवन के लिए—

[१] 'लाल तैल' की मालिश शरीर मे करानी चाहिए।

[२] कोलायडल कैलशियम विद् विटामिन डी १ ड्राम दिन मे तीन बार पीना चाहिए। (बगाल कैमिकल कम्पनी द्वारा निर्मित।)

[३] मिनोलैड(*Minolad*)—½-२ छोटी चम्मच दिन मे ३ बार। यह टी. सी. एफ. का बना है।

[४] कैला ग्लुकोल 'डी' = १-२ गोली २ बार प्रतिदिन। यू. डी. एच. द्वारा निर्मित है।

[५] कैलफोस्रोन डी (*Calfosron D-Di-calcium Phosphate with Vitamin D and Iron*) लिली द्वारा निर्मित।

[६] कैलसियम 'डी' रिडोक्सन टेबलेट = रोची कम्पनी द्वारा निर्मित।

[७] नेविटालमाल्ट कम्पाउण्ड (पेय) = स्क्वीव द्वारा निर्मित।

[८] डाइकैल्शियम फास विथ विटामिन डी (मुख) = पी. डी. कम्पनी द्वारा निर्मित।

[९] एडवाइट (द्रव)—५ से १० बूंद तक = एलेम्ब्रिक कम्पनी द्वारा निर्मित।

मैने इस निबन्ध मे आयुर्वेदिक, होमियो, बायोकेमिक और एलोपैथिक पद्धति से उपर्युक्त विवेचन किया है।

—कविराज श्री डा० शिवपूजनसिंह कुशवाहा 'पथिक' बी. ए. एच. एम. डी. एस. कानपुर

सूखा रोग

श्री डा० बलवीरदत्त शास्त्री बी० आई० एम० एस० आयुर्वेदाचार्य



पर्याय—सूखा, सूखिया, मसाल, बालशोष, पारिगर्भिक, शोष, मैरस्मस (Marasmus)। यह एक प्रसिद्ध बहुव्यापक रोग है। शोष की प्रकृति बच्चों में प्राय होती है। कोई भी प्रबल व्याधि हो जाने पर बालकों की जीवनीय शक्ति (Vitality) सत्वर कम हो जाती है। फिर धातु परिपोषण सम्यक् नहीं होता। इस हेतु से यकृत् आदि इन्द्रियां सबल नहीं बन पाती। फिर दूध या भोजन का पाचन योग्य नहीं होता। रक्तोत्पत्ति लगभग बन्द हो जाती है बालक दिन प्रतिदिन सूखता जाता है। इसे ही बालशोष कहते हैं। इस अवस्था मे शुष्क निस्तेज मुख मण्डल, म्लानदेह, दुर्बल हाथ-पैर, उदर वृद्धि, नितम्ब पर सलबट पड़ जाना, सारे दिन रे रे करना, अग्निमांद्य, अरुचि, अपचन और मलावरोध आदि लक्षण उपस्थित होते हैं, मलमूत्र दुर्गन्धयुक्त हो जाते हैं तथा मल मे आम प्रवृत्ति होती है, तालु बैठ जाता है मन्द ज्वर रहने लगता है, कभी दस्त और कभी वमन हुआ करते हैं, कभी कभी

तो दस्त इतने हो जाते हैं कि २४ घण्टों में ही बच्चा सूखकर कांटा हो जाता है, आंखे धंस जाती है। जलीयांश निकलने से त्वचा में स्थिति स्थापकता प्रकट हो जाती है, शरीर का वजन आधे से भी कम ही रह जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सूखा रोग को उत्पन्न करने वाला एक कृमि विशेष होता है। इस कृमि के कारण यह रोग हुआ है यह जानने का एक उपाय है कि जमीन में एक छोटा सा गड्ढा बनाकर उसमें मुर्गी का अण्डा तोड़ कर रखदें और उस रोगी बच्चे को उस पर इस प्रकार बैठावे कि गुदा उस गड्ढे पर रहे। यदि बालक को बालशोष कृमिजनित होगा तो अण्डा गुदद्वार द्वारा शरीर में प्रविष्ट हो जावेगा और कृमिजनित रोग नहीं होगा तो अण्डा गुदा में प्रवेश नहीं करेगा।

पहचान के साथ-साथ यही इस कृमिजनित शोष की औषध भी है अर्थात् ८ दिन तक प्रतिदिन १-१ अण्डा रोगी की गुदा में जाता रहेगा और बच्चा कृमि मरने से स्वस्थ होता जायगा।

कुछ विद्वान् इस रोग को संसर्गज भी मानते हैं अर्थात् यह रोग लगने वाला है। सूखा रोग से पीडित बच्चे के संसर्ग से अच्छे बच्चे को यह रोग लग जाता है। ग्रामीण जनता में ऐसा अधिक विश्वास किया जाता है। उनका विचार है कि यह रोग माता को होता है। आगे उनके होने वाले गर्भ में ही यह रोग लग जाता है। ऐसी माताओं के बच्चे या तो गर्भ में ही समाप्त हो जाते हैं यदि उत्पन्न भी हो गये तो कुछ दिन जीवित रह कर मर जाते हैं। उनको किसी को दस्त लगते हैं तो किसी को वमन होकर दूध ही पचन नहीं होता। किसी-किसी बच्चे का मृत्यु से पूर्व शारीरिक वर्ण परिवर्तन होता है। कभी नीला तो कभी पीला या लाल या सफेद हो जाता है और बच्चा काल कवलित हो जाता है। ऐसी बहुत सी मातायें हैं जिन्होंने अपने आठ-आठ, नौ-नौ बच्चों को उत्पन्न करके कुछ ही दिन मुंह देखे हैं।

इस प्रकार की माताओं के दुग्ध में भी ऐसा विष उत्पन्न हो जाता है कि वह यदि किसी दूसरी माता के बच्चे को अपना स्तन पिलादे या उसके शरीर पर कहीं भी अपने स्तन का दुग्ध डाल दे तो बच्चा इस रोग का शिकार बनकर गलने व सूखने लग जाता है। इस प्रकार की माताओं का गर्भावस्था से ही उपचार किया जाता है जिससे गर्भस्थ शिशु को बनाने वाला रस रक्त औषधि युक्त होता रहे और बच्चे में रोग का आक्रमण न हो सके। माता के खानपान तथा रहन-सहन का पथ्य किया जाता है और गर्भावस्था में ही 'मसाण वटी' खिलाई जाती है। शिशु जन्म के उपरान्त भी माता तथा शिशु दोनों ही उस वटी का प्रयोग करते रहते हैं। ऐसा उपचार करने से मेरे पूज्यपाद पिता जी को सैकड़ों बच्चों के जीवित रहने का श्रेय प्राप्त हो चुका है।

गर्भावस्था से चलने के कारण ही इस रोग को पारिगर्भिक शोष संज्ञा प्राप्त हुई है।

भारतवर्ष में इस रोग की उत्पत्ति का कारण मुख्यत. इस देश का निर्धन होना है। कितनी ही माताएँ पूर्ण भोजन भी प्राप्त नहीं कर पातीं, घी दूध की तो कहानी क्या? जिससे वे निर्बल और कृश ही गर्भ धारण कर लेती हैं और गर्भावस्था में कोई न कोई बीमारी आ घेरती है जिससे गर्भ का समुचित विकास ही नहीं हो पाता। शिशु जन्म के समय निर्बल व कृश ही रहता है फिर माता की कृशता व निर्बलता के हेतु शिशु का योग्य पोषण और संवर्धन हो उतने परिमाण में दूध (स्तन्य) की प्राप्ति ही नहीं होती। जो थोड़ा बहुत दूध आता भी है वह भी पौष्टिक नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह रोग बच्चों को ग्रास ही लेता है।

कारण—

शोष रोग की हम दो भागों में कल्पना करते हैं—



१—दो वर्ष से छोटे बालकों में शोष

२—दो वर्ष से बड़े बालको मे शोप

दो वर्ष से छोटे बालकों में शोप के कारण—

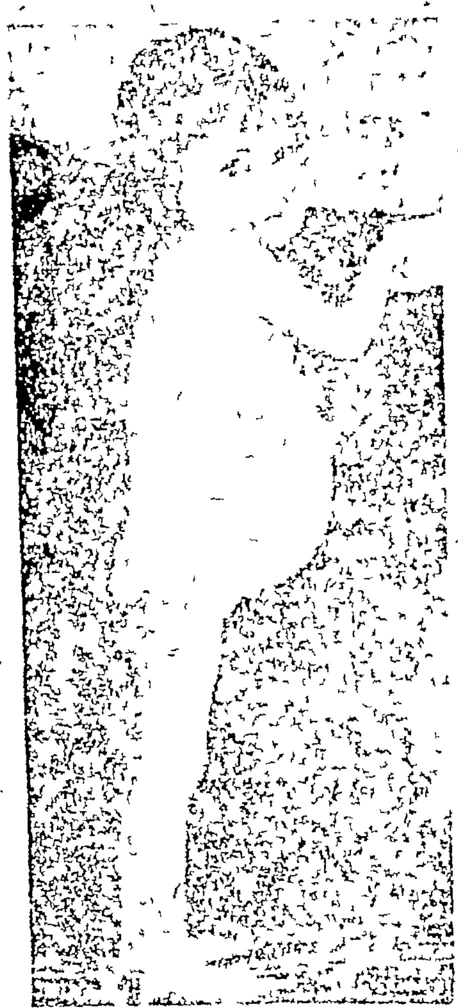
१. भोजन के दोप, २. अतिसार व कब्ज, ३. लगातार वमन, ४. फिरङ्ग रोग, ५. अस्थि-मार्दव (Rickets)

दो वष से बड़े बालकों में शोष के कारण—

१. स्नायु सम्बन्धी रोग, २. शारीरिक रोग, ३. फुफ्फुस, अन्त्रावरण कला तथा लसीका ग्रन्थियों का क्षय।

दो वर्ष से छोटे बालकों में शोप के कारण—

१. भोजन के दोष—मुख्य कारण है बालशोष के, इसके कारण प्रायः बच्चे चिड़चिडे, भारहीन और देर से दांत निकलते हैं, मांसपेशियों की शक्ति दुर्बल हो जाती है, शौच अनियमित कब्ज के उपरांत अतिसार और अतिसार के उपरांत कब्ज होता रहता है, पाचन शक्ति मन्द हो जाती है। इन दोनो को देखने मे मल परीक्षा सहायता करती है जैसे कि प्रोटीन की अधिकता से मल मे दही निकलती है, वसा (Fat) की अधिकता से चर्बी और साबुन के चिकने कण निकलते है, कार्बोहाइड्रेट (मिष्ठान) की अधिकता से मल शब्द युक्त व झागदार उतरता है। स्तन से दूध थोड़ा या बहुत अधिक उतरता है तो भी मल शब्दयुक्त आता है। एक वर्ष के पश्चात् भी बच्चा यदि माता का दूध पीता रहता है तो वह उसे हानिकारक है। दो वर्ष से अधिक आयु के बालक मे भोजन के अनुचित होने से या दरिद्रता के कारण रोटी ज्यादा खाने से भी यह रोग प्रगट होता है या बच्चों को कोई ऐसा रोग हो जिसके कारण वह दूध न पी सकता हो जैसे मुंह के छाले (Ulcer) होना या दूध पीने वाली बोतल का मुंह इतना छोटा हो कि दुग्ध थोड़ा थोड़ा निकले और बच्चे का पेट ही न भरे तो भी बच्चा सूखने लगेगा।



चित्र नं० ५३

सूखा रोगी—टांगे तथा नितम्बी सूख कर पतले हो गये हैं लेकिन उदर बढ़ा हुआ है।

२. अतिसार व कब्ज—भी विशेष कारण है शोष रोग के विशेषकर शैशावस्था मे। क्योंकि ये दोनों भोजन की अनियमितता से होते हैं या पोषण परिचर्या मे स्वच्छता न होने के कारण होते हैं और कभी कभी अन्तड़ियों मे कृमि (Worms) होने से भी हो जाते है। शोष रोग की उत्पत्ति मे पुराना कब्ज भी विशेष महत्व रखता है क्योंकि इसके लक्षण अकस्मात् प्रकट नहीं होते। यह धीरे धीरे चलता रहता है जिसकी पहिचान मल परीक्षा से ही होती है। डा० सैविल लिखते हैं कि एक परिवार से मेरा बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। उसमे दो-

बच्चे सूखा रोग से पीड़ित होकर मरे है। उनके सूखारोग का एकमात्र कारण लगातार कब्ज का बना रहना था और तीसरे बच्चे की भी जब यही दशा आरम्भ हुई तो उसकी माता को विशेष ट्रेनिङ्ग दी गई कि स्वच्छता तथा नियम के साथ बच्चे का पालन करो तथा इसके मल निःसरण का पूरा ध्यान रक्खो, जिसके लिये एक मृदु विरेचक मिश्रण बनाकर दिया गया तब कहीं जाकर वह बच्चा जी सका।

३-लगातार वमन—यह भी अनियमित भोजन का परिणाम होता है विशेष कर बार बार और अधिक मात्रा में दूध पिलाना, या आमाशय और लघु अन्त्र की सूजन। अन्य रोग सम्बन्धी प्रत्यावर्तित (Reflex) कारणों से भी वमन हो जाती है, कई बार न रुकने वाली वमन भी हो जाती है जबकि नासा मार्ग द्वारा रबरनलिका चढ़ाकर ही आमाशय मे द्रव पहुंचा कर बच्चे का जीवन बचाया जाता है। कभी कभी आमाशय के मुद्रिका द्वार के अत्यधिक संकोच के कारण भी वमन होने लगती है।

४-जन्मजात फिरङ्ग रोग-इसकी पहचान बच्चे की नाक से लगातार रेंट बहती रहे तो हो जाती है सूखा के प्रारम्भ के ६ महीनों मे यह सूखा का मुख्य कारण है।

५-अस्थि मार्दव (Rickets)—यह भी शोष रोग का सम्बन्धी है। यह विशेष कर उन बच्चों मे होता है जो अधिक भार वाले होते है। यह ६ से १८ माह के बीच मे अधिक होता है। दो वर्ष से बड़े बच्चों मे शोष रोग का कारण अस्थि मार्दव नहीं होता जब तक कि कोई वृक्क सम्बन्धी या पाचन सम्बन्धी विकार न हो।

दो वर्ष से बड़े बच्चों में शोष के कारण—

१—स्नायु सम्बन्धी रोग—इसमे बच्चा स्वभाव से ही चिड़चिड़ा होता है और जन्म से ही वात प्रकृति का होता है शरीर से दुबला पतला और बेचैन रहता है। बार बार उदर विकार का शिकार होता रहता है। डा० कामरन ने एक ऐसे बच्चे की ओर ध्यान दिलाया है जोकि शक्ति से पूर्ण था परन्तु श्रान्त सा दीखता था तथा सफेद (रक्तहीन) चेहरे से युक्त दुर्बल होता जा रहा था। बीच बीच मे चिड़चिड़ापन में उत्तेजित सा होता जा रहा था और वमन व ज्वर से आक्रान्त था। ऐसे बच्चों को वसा का पाचन व सात्म्यीकरण ठीक नहीं होता। यदि उनकी खुराक मे वसा का मिश्रण कम और चीनी अधिक करदी जाय तो इनका स्वास्थ्य ठीक हो जाता है।

२-शारीरिक रोग—जैसे श्वास रोग, पाचन सम्बन्धी रोग, बार बार आने वाली खांसी, जन्मजात फिरंग, हृदय रोग आदि भी शोष के कारण है।

३—क्षय रोग—यह युवकों के समान बच्चों मे धीरे धीरे आक्रमण करता है। यह बच्चों के फुफ्फुस के आधार (*Base*) पर अधिक शुरू होता है अपेक्षाकृत सिरों (*Apices*) के। लगातार पुरानी खांसी और पुराना ज्वर तथा शोष साथ ही रहते है। क्षय के कीटाणु बलगम से प्राप्त किये जा सकते है। आमाशय प्रक्षालन से ये मल मे भी आ जाते है।

क्षयजन्य अन्त्रावरण शोथ व लसीका ग्रन्थि-शोथ भी शोष के कारण हैं। यह दो वर्ष के उपर के बच्चों मे होता है अन्तड़ियो की ग्रन्थियां फूल जाती है रक्त बनना बन्द हो जाने से बच्चा सूख जाता है।

उपद्रव—

इस रोग मे कुछ उपद्रव भी हो जाया करते है जैसे—

१—पूयोत्पादक जीवाणुओं का संक्रमण—इसके कारण शरीर की त्वचा पर स्थान स्थान पर जले हुए के समान फफोले उठ उठकर फूटते रहते हैं। सन्धियों की त्वचा विदीर्ण हो जाती है जैसे कान, कक्षा, वंक्षण प्रदेश मे।

२—क्षय रोग—यह फुफ्फुस तथा आंतो का हो सकता है।



३-श्लैष्मिक सन्निपात--ठण्ड लगने से होता है।

४-संक्रमित आन्त्र प्रदाह

५-अम्लीयता (*Acidosis*) उदर मे बढ़ जाती है। टट्टी जलनी आती है मुख मे छाले पड़ जाते है।

६-वृक्क शोथ होने पर मूत्रावरोध होकर सारे शरीर पर सूजन आ जाती है।

७-जलीयांश की कमी-इससे त्वचा मे स्थिति स्थापकता आ जाती है ।

साध्यासाध्यता—

यदि शोषी बच्चा ठीक चलता हुआ भी अकस्मात् अतिसार होकर अवसन्न होता है तो असाध्य और दांत निकलने पर शोष हो तो साध्य है।

चिकित्सा--

प्रतिषेधात्मक व रोगनाशक दो प्रकार की है।

(१) प्रतिषेधात्मक चिकित्सा—

यदि माता पिता इस सम्बन्ध मे प्रारम्भ से ही सतर्क हों तो रोग का आक्रमण ही नहीं हो पाता। गर्भ से ही इसका समुचित प्रबन्ध कर लेना चाहिए। इसके लिए माता को "गोरखपान" (एक प्रकार का कन्द की आकृति वाला द्रव्य जमीन से खोद कर निकाला जाता है। ऊपर पान के पत्ते के आकार वाले पत्तो वाली बेल सी फैली रहती है जिसको पहचान कर यह उद्यान-वाटिका-जङ्गलो से उखाड़ा जा सकता है।) एक पाव लेकर उसमे १ तोला गोदन्ती भस्म मिला कर पानी के संयोग से मसूर के बराबर वटी बनाली जावे । गर्भवती गर्भस्थिति से लेकर प्रात: समय १-१ वटी ताजे जल से निगलती रहे और बच्चे के जन्मोपरान्त माता व शिशु दोनो ही जब तक बच्चा दूध पीवे लेते रहे। इसी प्रकार गर्भपाल रस या गर्भ चिन्तामणि रस भी गर्भवती ले सकती है।

आधुनिक मत मे यह रोग विटामिन्स के प्रयोग से दूर हो जाता है। जिनको गर्भक्षीण हो गया हो वे अगली गर्भावस्था मे विटामिन ई ३० एम. जी. का एक कैप्स्यूल या ६ एम. जी. के ३ कैप्स्यूल प्रतिदिन शिशु जन्म होने तक लेती रहें तो बीच मे गर्भ क्षीण नहीं होता।

शिशु जन्मोपरान्त विटामिन ए व डी की मिश्रित बूंदे एडेक्सोलीन (*Adexolin*) नाम से मिलती हैं। २-२ बूंद दिन मे ३ बार दूध मे मिला कर देते रहने से बच्चा शोष रोग से बचा रहेगा। कुमार कल्याण रस और अरविन्दासव देते रहने से बच्चा स्वस्थ बना रहेगा।

धन्वन्तरि कार्यालय द्वारा निर्मित कुमार कल्याण घुटी भी इस अवस्था मे देने से शोष का भय नहीं रहता।

(२)रोगनाशक चिकित्सा--

१-चिकित्सा के विषय मे रोगी के घर वाले तथा धाय व चिकित्सक सभी धैर्य से काम लें क्योंकि रोगी धीरे धीरे ठीक होता है ।

२--शरीर को नीरोग रखने के लिये भोजन या औषधि से शुद्ध वायु और शुद्ध दूध आदि देने का विशेष महत्व है। किन्तु अधिक ठंड से भी बचाकर रखने की आवश्यकता है। परिचर्या ऐसी हो कि बच्चा सर्वदा पालने मे ही न पड़ा रहे अपितु माता की गोद मे रहे और उसको खिलाते पिलाते समय हंसाते रहना चाहिए।

(३) स्नान कराने के लिए अधिक ठण्डा पानी न लेकर कवोष्ण पानी ही लेना चाहिए।

(४) रोग का कारण दूर करने का यत्न करना चाहिए। रोगी के कमरे मे शनैः शनैः चले कहीं ऐसा न हो कि पैरों की आहट से बच्चा डर जाय।

(५) भोजन उसकी शक्ति के अनुसार उचित परिमाण मे ही देना चाहिए।

(६) भोजन मे परिवर्तन करना पड़े तो ध्यान से करे। विशेष कर वसा (Fat) अधिक न दे।

(७) यदि विषमयता के कारण लक्षण तीव्र हो जांय तो कुछ घण्टों के लिए सब भोजन बन्द

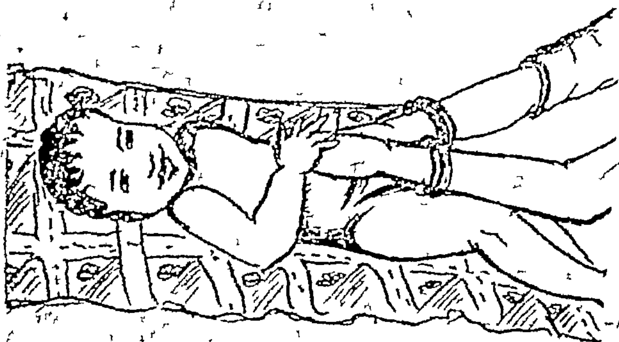
करदें, केवल अर्धलवण जल (Half normal saline) दें, किंतु उपवास दीर्घकाल तक न करें क्योंकि दुर्बल को उपवास सह्य नहीं होता। बच्चे के लिये मातृ स्तन्य ही श्रेष्ठ होता है। यदि कृत्रिम भोजन पर रखना ही पड़े तो उसमें वसा कम हो मिष्टान्न अधिक और प्रोटीन सम हों। मल की परीक्षा करते रहना चाहिए। उसके अनुसार ही भोजन देना चाहिए। भोजन कब और कितनी मात्रा में देना है इसका अनुमान अपनी बुद्धि से करना चाहिए।

बालक जितना अधिक दुर्बल व सूखा हो उतनी ही भोजन की मात्रा और समय थोड़ा करना चाहिए। शिशु अधिक दुर्बल है तो रक्तदान किया जा सकता है। बच्चे के शरीर पर तैल की मालिश करना अच्छा है। इससे मांस फूलता है और रक्त संचार सुचारु रूप से होने लगता है।

औषध चिकित्सा—

आयुर्वेदिक–

(१) प्रवाल भस्म, पीली कौड़ी भस्म, मुक्ता शुक्ति भस्म, फिटकरी भस्म, सुहागा भस्म, शंख भस्म, भुनी हल्दी, शुद्ध रसौत ६-६ माशा, छोटी पीपल ६ माशा, तुलसी पत्र ७॥ तोले, अपामार्ग पत्र ७॥ तोले इन सभी को कूट छानकर पानी के संयोग से १२ घण्टे खरल कर १-१ रत्ती की गोलियां बनालें।



चित्र नं० ५४

सूखा रोगी के हल्के हाथ से मालिस करें

प्रातः सांय १-१ गोली शीत ऋतु में मधु से, वर्षा ऋतु मे मिश्री से, ग्रीष्म ऋतु में शर्बत कासनी से दें। यह सूखा रोग पर बहुत उपयोगी है।

(२) साथ मे बाल सूखा तैल की मालिश करे। बाल सूखा तैल का योग यह है—

भांगरा, मकोय, घीग्वार, छोटी दुद्धी, बंगला पान और ताल मखाना देशी इनका स्वरस १०-१० तोले निकाल कर आधा सेर तैल (काले तिल का) निकालकर तैल पाक विधि से पकालें। पश्चात् दालचीनी का तैल और देसी कपूर १ तोले डालकर शीशी मे रख ले।

इस तैल के सर्वाङ्ग पर मालिश करने तथा कानों मे डालने से सूखारोग, ज्वर, अतिसार, सिर दर्द और दुर्बलता नष्ट होती है।

(३) मुरादाबाद की मसना भी इस रोग की अच्छी औषध है।

(४) धन्वन्तरि कुमार कल्याण घुटी बहुत अक्सीर है।

एलोपैथिक चिकित्सा—

इस रोग से पीड़ित बच्चे की मैं केवल दस दिन चिकित्सा करता हूँ, ११ वें दिन औषध की आवश्यकता नहीं रहती, इन्हीं १० दिन मे रोगी बच्चा ठीक हो जाता है और भूख खूब लगने लगती है और दुग्ध का खब पाचन होने लगता है, मांस फूलने लगता है।

(१) विटामिन बी$_{१२}$ (एनाकोबीन या मैक्राबीन) २०० माइक्रो ग्राम ५ सी. सी. या १०० माइक्रोग्राम १० सी. सी. के १० इन्जेक्शन बनाता हूँ। १ सी. सी. प्रतिदिन नितम्ब प्रान्त पर देता हूँ।

(२) सलफाडायजीन ४ टिकिया, कैल्शियम ग्लुकोनेट १५ ग्रेन, विटामिन सी १०० एम. जी. की २ टिकिया, विटामिन बी कम्पलैक्स २ टिकिया–मिलाकर २० पुडिया बना ले। चार पुड़ियां रोजाना पानी या मातृदुग्ध मे।

(३) ग्राइप वाटर १-१ चम्मच तीन बार दिन मे केवल पानी, या दुग्ध या पानी मे।



(४) कार्डलिवर आयल को सिर के अतिरिक्त सर्वाङ्ग शरीर पर मालिश प्रातः की सूर्य की किरणों में लिटाकर करें। जिन बच्चों को दस्त अधिक होते हैं, उनके लिए—

(५) सिरप सिथियोनिन विद् कोलीन फोर्ट ५-१५ बूंद अवस्थानुसार देता हूं या ग्रे पाउडर [illegible] ग्रेन, सोडा बाई कार्ब २ ग्रेन मिला ४ पुड़िया एक दिन में दे। तीसरी मात्रा में हरा रंग बदल जाता है।

नं. १ से ५ तक का एक ही व्यवस्थापत्र है जो एक साथ चलता है।

इसका अनुभव मैंने कई सौ बच्चों को स्वस्थ कर [illegible] १० दिन में [illegible] हो गये हैं।

ऐलोपैथिक चिकित्सा—

इस चिकित्सा का भी मुझे [illegible] है। इस पद्धति से [illegible] कई वर्ष और कैल्सियम फॉस [illegible] दिन में [illegible] किया है कि यह [illegible] इससे [illegible] जाता है।

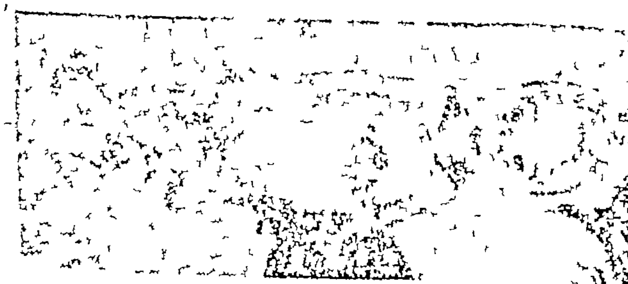
—श्री [illegible] शास्त्री
बी. आई. एम. एस. आयुर्वेदाचार्य
प्रह्लादपुर पो० [illegible] (मुजफ्फरनगर)

सूखा रोग

आचार्य श्री दौलतराम रसशास्त्री

सूखा रोग का निदान एवं चिकित्सा लिखने के पूर्व मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि यह कोई पृथक् रोग नहीं है। अधिकांश पाठकों को यह पढ़ कर आश्चर्य होगा किन्तु बात अक्षरशः सत्य एवं अनुभव सिद्ध है। आगे के विवेचन को पढ़कर अनुभव करने के बाद आप इसे स्वीकार कर लेंगे।

माधव निदानांक में मैंने स्पष्ट किया था कि सूखा रोग और अस्थिक्षय (*Rickets*) दो पृथक्-पृथक् रोग हैं किंतु ऐसा लगता है कि बहुत से लोग अभी तक उस पुरानी भूल को छोड़ नहीं पाये हैं।



चित्र नं० ५५
सूखा रोगी

शायद बहुत से लोग ऐसे हैं जो धन्वन्तरि को मंगाने मात्र का शौक रखते हैं, पढ़ने का नहीं। रिकेट्स (अस्थिक्षय) कैलशियम और विटामिन डी की कमी से होता है। इसमें तालु देर से भरता है, दांत देर से निकलते हैं और हड्डियां झुक जाती हैं। शुद्ध रिकेट्स (अर्थात् जहां अन्य रोग का अनुबन्ध न हो) में पाचन क्रिया में कोई गड़बड़ी नहीं होती और रक्त मांस आदि अन्य धातुओं का क्षय नहीं होता अर्थात् बालक देखने में हृष्ट-पुष्ट ही रहता है। इसके विपरीत जिसे हम सूखा रोग कहते हैं उसमें रक्त मांस और मेद का क्षय प्रधान लक्षण माना जाता है और पाचन-क्रिया अधिकतर विकृत ही पायी जाती है। अन्य धातुओं के क्षय के साथ ही साथ अस्थिक्षय के लक्षण भी कुछ रोगियों में पाये जाते हैं किंतु अधिकांश रोगियों में अस्थिक्षय नहीं पाया जाता अर्थात् तालु समय पर भरता है, दांत समय पर निकलते हैं और हड्डियां नहीं झुकतीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये दोनों रोग पृथक् पृथक् हैं, इनमें कोई सामञ्जस्य नहीं है।



जहां सूखा रोग में अस्थिक्षय के भी लक्षण मिलें वहां अस्थिक्षय को आनुषंगिक रोग मानना चाहिए। सूखा रोग के अंग्रेजी पर्याय सीलियक डिसीज (*Coeliac Disease*) और मारस्मस (*Marasmus*) हैं।

ऊपर मैं लिख चुका हूँ कि सूखा रोग कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं मिलता। ऐलोपैथी के पुराने ग्रन्थों में इसका वर्णन अवश्य मिलता है किंतु नये ग्रन्थकार इसे स्वतन्त्र रोग नहीं मानते। भारत के अशिक्षित वर्ग में इसकी अनेक औषधियां, झाड़-फूंक एवं टोटके प्रचलित हैं। ये लोग बड़ी लम्बी चौड़ी डींगें हांकते हैं, इनके द्वारा चिकित्सा कराने वालों की संख्या भी बहुत बड़ी है किन्तु लाभ शायद ही किसी को होता है। सूखा रोग की अनेक पेटेण्ट औषधियां भी निकली हैं किंतु उनसे भी शायद ही किसी को लाभ होता है, यद्यपि उनके बारे में बड़े बड़े दावे विज्ञापनों में किये जाते हैं। सूखा रोग के चिकित्सक प्रत्येक मोहल्ले और गांव में मिलते हैं, इसकी तथाकथित अचूक पेटेन्ट औषधिया हर जगह मिलती हैं फिर भी इस रोग से मरने वालों की संख्या सबसे अधिक है। चिकित्सा की इतनी विविधता एवं प्रचुरता के बावजूद भी यह रोग लगभग असाध्य सा माना जा रहा है। रोगी के माता-पिता एक स्थान से लाभ न होते देख दूसरे तीसरे और चौथे स्थानों पर भटकते रहते हैं। यहां तक कि रोगी का जीवन ही समाप्त हो जाता है। प्रत्येक जगह उन्हें बड़ी बड़ी आशायें दी जाती हैं किन्तु सब मृगमरीचिका ही सिद्ध होती है।

वैद्यों के पास इसकी चिकित्सा दो प्रकार की पायी जाती है—पहला प्रकार वह है जो अशिक्षित व्यक्तियों और ओझाओं में प्रचलित है एवं जिसे वैद्यों ने बड़ी कठिनाई से उनसे पूछ कर प्राप्त किया है और दूसरे प्रकार में कैलशियम अर्थात् मुक्ता, मुक्ताशुक्ति, प्रवाल, शंख, वराटिका, गोदन्ती, कच्छप-पृष्ठ आदि के योग हैं जो इस रोग को रिकेट्स मानकर रिकेट्स की ऐलोपैथी चिकित्सा की देखा-देखी बनाये गये हैं। उक्त दोनों प्रकार की सैकड़ों औषधिया गुप्त सिद्ध-प्रयोग के नाम से धन्वन्तरि एवं अन्य पत्रों में छप चुकी हैं।

वस्तुत् यह कोई कठिन या असाध्य रोग नहीं है। चिकित्सा में कठिनाई सिर्फ इसे पृथक् रोग समझने के कारण होती है। यदि रोग के निदान को भलीभांति समझकर चिकित्सा की जावे तो शत-प्रतिशत सफलता निश्चित है। ध्यान रखिये सूखना या दुबला होना स्वतः कोई रोग नहीं है, किसी भी रोग की उपस्थिति में मनुष्य मात्र बल्कि प्राणी मात्र चाहे वह बालक हो या वृद्ध स्त्री हो या पुरुष, वह दुबला और कमजोर ही होता है।

बालक के सूखने या कमजोर होने के अधिकतर निम्नलिखित कारण हुआ करते हैं—

१. चिरकारी अतिसार या प्रवाहिका
२. कृमि रोग (विशेषतया गण्डूपद कृमि याने पटार)
३. जीर्ण ज्वर ४. राजयक्ष्मा
५. खाद्याभाव या खाद्य में पोषक तत्वों का अभाव

उपर्युक्त कारणों में से जो भी कारण पाया जावे उसकी ठीक ठीक चिकित्सा कर देने से बालक का सूखना निश्चित रूप से बन्द हो जाता है और उसका शरीर पुनः हृष्ट-पुष्ट होने लगता है। यदि रोगोपशम के पश्चात् शक्तिवर्धक चिकित्सा भी कर दी जावे तो पूछना ही क्या।

उपरोक्त ५ कारणों में से प्रथम कारण ही प्रधान है और अधिकांश अर्थात् लगभग ६५% प्रतिशत मामलों में यही पाया जाता है। इसलिये केवल इसी एक प्रकार का सनिदान चिकित्सा क्रम देते हुए इस लेख को समाप्त करूंगा।

चिरकारी अतिसार एवं प्रवाहिका के कारण होने वाले सूखा रोग के कारण—



१. अत्यधिक आहार—बहुत से मां बाप अपने बच्चे को इतना अधिक प्यार करते हैं कि एक मिनिट के लिये भी बच्चे का रोना बर्दाश्त नहीं कर सकते और बच्चे को चुप करने का एक तरीका उनके पास रहता है—दूध पिलाना। बच्चा किसी भी कारण से रोता हो, उसे भूख हो या न हो, यहां तक कि उसका पेट फूला हो तो भी अशिक्षित मातायें उसे दूध पिलाकर ही चुप करना अपना कर्तव्य समझती हैं। बहुत सी मातायें बच्चे को स्तन से लगाकर ही सोती हैं जिससे बच्चा रात भर दूध पीता रहता है। इस प्रकार अत्यधिक आहार देने से कुछ काल तक तो कोई स्पष्ट गड़बड़ी नहीं दिखाई देती किन्तु छठवें महीने के आसपास से अतिसार होने लगता है। चिकित्सा यदि की भी गयी तो उस समय भले ही लाभ हो जाता है किंतु आहार में सुधार न होने कारण बारम्बार अतिसार के आक्रमण होते है, मल हमेशा (अतिसार शान्त रहने पर भी) अपाचित या अर्धपाचित (फटा, छिछड़ेदार, लसदार, अत्यन्त दुर्गन्धित) ही निकलता है और बालक कमजोर होता जाता है।

बच्चे को निश्चित काल के अन्तर से दूध पिलाना चाहिए और पिलाने के पूर्व प्रत्येक बार यह निर्णय कर लेना चाहिये कि वह वास्तव में भूखा है या नहीं। रात में सोने के पूर्व बच्चे को दूध पिला देना चाहिये। इसके बाद रात भर दूध नहीं देना चाहिये। बचा यदि रोवे तो उसे थोड़ा सा उबाला हुआ पानी पिलाकर थपकी देकर सुला देना चाहिए। यदि बचा अत्यधिक भूखा हो और दूध दिये बिना किसी प्रकार काम न चल सके तो माता बैठ कर उसे केवल एक दूध पिलावे। एक बार से अधिक न पिलावें और लेटे लेटे हरगिज न पिलावें।

भूख के अतिरिक्त रोने के बहुत से कारण होते हैं जैसे—अजीर्ण, ज्वर, उदर-शूल, कर्णशूल, ज्वर, जुकाम या न्युमोनियां के कारण होने वाला श्वास-कष्ट, कृमि रोग (विशेषतः चूरू कृमि अर्थात् चुनूने-*Pinworm*) दांत निकलने का कष्ट, गर्मी लगना कपड़े अधिक कसे हुए होना, कम, ज्यादा काफी समय तक पड़े रहने के कारण घूमने की इच्छा होना, खटमल मच्छर या चींटियों द्वारा काटे जाना, हाथों या पैरों की हड्डी खिसक जाना, अम्हौरी (*Prickly heat*) लाल-फुन्सी आदि। इनमें से या इन्हीं सरीखे किसी कारण से भी बच्चा रो रहा है—बच्चे के अधिक रोने पर बारम्बार दूध पिलाने के बदले यह विचार करना चाहिए। उचित जांच पड़ताल से कारण ज्ञात हो जायेगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ८ मास की उम्र तक बच्चे अधिक रोते हैं। उनका यह रोना एक प्रकार का व्यायाम है। यदि उसे उपर्युक्त कष्टों में से कोई कष्ट न हो तो उसके रोने की उपेक्षा करना या घुमा फिरा कर चुप करना ही उचित है। बच्चा सामान्यतौर से जितना रोता है यदि किसी दिन उसकी अपेक्षा बहुत अधिक रोवे तो समझना चाहिये कि उसे कोई न कोई कष्ट अवश्य है। इस प्रकार के मामलों में हर अनुभवी चिकित्सक कष्ट का पता लगाने और उसे दूर करने में समर्थ होगा।

तात्पर्य यह कि बच्चा वास्तव में भूखा है यह निर्णय हो जाने पर ही दूध पिलाना चाहिए। यदि बच्चा किसी अन्य कारण से रोता है तो उसका उचित उपचार होना आवश्यक है। ऐसी दशा में दूध पिलाने से बच्चे की पाचन क्रिया बिगड़ कर वह सूखा रोग का शिकार हो जाता है।

२. गरिष्ठ आहार—स्त्रियों को प्रारम्भ में (प्रसव के बाद) सबसे अधिक दूध निकलता है और फिर वह क्रमशः कम होते होते बन्द होता है। उसके विपरीत प्रारम्भ में बालक छोटा रहता है इसलिये उसे थोड़े दूध की आवश्यकता होती है और फिर वह ज्यों ज्यों बड़ा होता है त्यों त्यों उसे अधिक दूध की आवश्यकता होती है। इस विपरीतता के कारण प्रारम्भ में जहां स्त्री दूध की अधिकता से परेशान रहती है वहां बाद में वह दूध की कमी से परेशान होती है। अधिकांश माताओं को



आठवें माह के आस पास ऊपरी दूध या अन्न का सहारा लेना पड़ता है। कुछ स्त्रियों को प्रारम्भ से ही दूध कम होता है और उन्हें लगभग प्रारम्भ से ही ऊपरी दूध का सहारा लेना पड़ता है।

ऊपरी दूध पिलाने एवं अनाज देने से अधिकांश स्त्रियाँ गलती करती हैं जिससे पाचन क्रिया बिगड़ती है। अधिकांश स्त्रिया दूध को खूब औटाकर गाढ़ा करके पिलाती हैं और कुछ स्त्रियां कच्चा या दुर्बला चाहे जब चाहे जैसे पिलाती रहती हैं। समय एवं भूख का भी ध्यान नहीं रखतीं। अन्न भी चाहे जब चाहे जैसा और चाहे जितना दिया जाता है। अनेक स्त्रिया मिठाई और नमकीन खिलाती हैं। अधिकतर अशिक्षित स्त्रिया बच्चे को अधिक से अधिक खिलाने का प्रयत्न करती हैं। इन गलतियों से अतिसार होता है और बच्चा सूखता है।

ऊपरी दूध के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दूध ताजा और मिलावटरहित हो। जहा तक हो सके सामने दुहवा कर लेवें। यदि अच्छा दूध सुलभ न हो तो डब्बे का दूध पिलाया जा सकता है किंतु वही लें जो खासतौर से बच्चे के लिये आता है। अन्य कामों के लिये मिलने वाले दूध के डब्बों का प्रयोग कदापि न करें।

गाय, भैंस या बकरी जिसका भी दूध सुलभ हो काम में ले सकते हैं, वैसे गाय का सर्वोत्तम है। सुबह का दुहा दूध दिन भर के लिए और शाम का रात के लिये उपयोग में लेना चाहिए। उपर्युक्त पशुओं में से किसी का भी दूध इतना हल्का नहीं होता कि शिशु उसे ज्यों का त्यों पचा सके अतएव पानी मिलाना आवश्यक होता है। पानी मिलाने एवं ऊपरी दूध को मा के दूध के समान बनाने के अनेक योग भिन्न भिन्न विद्वानों ने निर्दिष्ट किये हैं जिन्हें आप अन्यत्र पढ़ चुके होंगे। वे तरीके विशेष पढ़ी लिखी एवं सुसंस्कृत गृहणियों के लिये भले ही साध्य हों किन्तु सर्वसाधारण के लिये व्यवहार्य हीं। मैं अपने रोगियों पर नित्य प्रति जो योग प्रयुक्त करता हूँ और जिसे शत प्रतिशत लाभकारी पाया है वह नीचे देता हूँ—

३ माह से कम के बालक के लिये अथवा अधिक उम्र के अत्यन्त कमजोर एवं अतिसारयुक्त बालक के लिये—१ भाग दूध और ३ भाग अर्थात् तिगुना पानी।

३ माह से १ वर्ष तक के बालक के लिये अथवा इससे अधिक उम्र के कमजोर बालक के लिये १ भाग दूध और २ भाग अर्थात् दूना पानी।

१ वर्ष से ३ वर्ष तक के बालक के लिये अथवा इससे अधिक उम्र के कमजोर बालक के लिये—१ भाग दूध और १ भाग पानी अर्थात् बराबर पानी।

उपर्युक्त मात्रानुसार पानी नाप से मिलाना चाहिए अन्दाज से नहीं। फिर आवश्यकतानुसार शक्कर मिलाकर तेज आंच देकर जल्दी से उबाल लें। उबलते ही उतार कर ठंडा होने दें। धीमी आच पर देर तक पकाना गलत है क्योंकि इससे जल का बहुत सा भाग उड़ जाता है, दूध के पौष्टिक तत्व नष्ट हो जाते हैं और दूध की सुपाच्यता कम हो जाती है। सुबह तैयार किया हुआ दूध शाम तक काम में लें, शाम को दूसरा तैयार करें। दिन भर में जितना दूध बालक पीता हो रात से उससे आधा या आधे से भी कम देना चाहिए। बचा हुआ बासा दूध अन्य कामों में लें, बालक को हरगिज न पिलावें। शक्कर से कोई हानि नहीं होती और वह बराबर हजम होती है। फिर भी जो लोग शक्कर के बदले ग्लूकोज देना चाहे वे बिना शक्कर डाले उपर्युक्त विधि से दूध पकाकर ठण्डा होने पर ग्लूकोज मिला सकते हैं।

दूध में इतना अधिक पानी मिलाने की बात पर बहुतों को विस्मय होगा किंतु हाथ कंगन को आरसी क्या। करके देखिये और लाभ उठाइये। इसमें आपका कुछ खर्च होने वाला नहीं है बल्कि बहुत सा अनावश्यक खर्च बचने वाला है। मेरे कथन पर जरा भी सन्देह न करते हुए पूर्ण आत्मविश्वास के



साथ माताओं को इस प्रकार का दूध पिलाने का परामर्श दीजिये। आप देखेंगे कि जिन बालको के अतिसार को आप काफी परिश्रम करके भी ठीक न कर सकने के कारण असाध्य मान बैठे थे वे भी जल्दी से जल्दी रोग मुक्त होते है।

विशिष्ट मामलो मे जल की मात्रा और अधिक बढ़ाई जा सकती है विशेषतः—१. जब मल का रंग सफेद हो. २ जब उचित चिकित्सा से भी अतिसार मे लाभ न हो अथवा ३. जब अतिसार के आक्रमण बार बार हो। अधिक जल मिलाने से हानि कदापि नहीं होती लाभ ही होता है। जब अतिसार अत्यन्त उग्र प्रकार का एवं मल अत्यन्त दूषित हो उस समय दूध बिलकुल बन्द करके केवल उबला हुआ जल देने से सत्वर लाभ होता है। इस प्रकार के मामलों मे मैं साधारणतः १२ घन्टे और विशेष मामलो मे २४ घन्टे तक की लंघन करता हूँ। इससे हमेशा लाभ ही हुआ है, हानि कभी नहीं हुई। जल अधिक से अधिक मात्रा मे देना चाहिए। जहा तक हो सके, जल मे ग्लूकोज मिला कर दे तो मा बाप को भी तसल्ली रहती है कि बालक को कुछ आहार तो दिया जा रहा है। यदि गरीब हो तो जल मे थोड़ा सा नमक मिलाकर देने का निर्देश दे। यदि बच्चे को जल से अरुचि हो तो कभी सादा उबाला हुआ जल, कभी ग्लूकोज मिश्रित और कभी नमक मिश्रित देने का निर्देश दें। इस प्रकार के लंघन से दोषों का सत्वर पाचन होकर अतिसार की शाति होती है।

अनाज के पदार्थों की तरफ बालकों की रुचि छठवें मास के आसपास उत्पन्न होती है और अधिकाश माता पिता इसी समय अनाज देना प्रारम्भ कर देते है। अधिकांश बच्चे इस उम्र में अनाज पचाने की योग्यता नहीं रखते अतएव उन्हें अतिसार होकर सूखा रोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं अथवा यकृत-वृद्धि हो जाती है। वैसे यदि बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा और पाचन क्रिया तीव्र हो तो इस उम्र में भी अनाज देना बुरा नहीं। तथापि अनाज प्रारम्भ करने की सबसे अच्छी उम्र १। साल के आस-पास है। ६ मास की उम्र के आस-पास बच्चा अनाज के पदार्थों के लिये झपटने लगता है उस समय यदि उसे उन पदार्थों से वंचित रखा जाय तो क्रमशः वह झपटना बन्द कर देता है। फिर १। साल के आस-पास पुनः झपटना आरम्भ करता है—यही समय अनाज प्रारम्भ करने के लिये श्रेष्ठ है क्योंकि इस समय तक काफी दांत निकल चुकते हैं और शरीर का विकास भी काफी हद तक हो चुकता है।

अनाज प्रारम्भ करते समय आहार की सुपाच्यता, मात्रा और समय का बड़ा विचार रखना चाहिए। आहार परिवर्तन क्रमशः करना चाहिए, यदि एकदम से किया जावेगा तो हानि निश्चित है। अधिकांश लोग इसका ध्यान नहीं रखते और हानि उठाते हैं अशिक्षित लोग इस अवस्था में बच्चों को मिठाइया, बेसन एवं मैदा के नमकीन पकवान तथा बिस्कुट आदि खिलाते हैं. मात्रा और समय का भी विचार नहीं रखते जिसके फलस्वरूप पाचन क्रिया बिगड़ कर अतिसार और तत्पश्चात् सूखा रोग की उत्पत्ति होती है।

प्रारम्भ से बच्चों को देने योग्य सुपाच्य पदार्थ ये हैं—दलिया, खिचड़ी, गीला पका हुआ चावल, लपसी, दूध मे गलाई हुई रोटी, धान की लाई, तथा विदेशों से आने वाले अनेक प्रकार के बेबी फुड। जब तक बालक इन पदार्थों को भलीभाति न पचाने लगे तब तक उसे मैदा और बेसन के पदार्थ तथा तली हुई चीजे कदापि नहीं देनी चाहिए।

प्रारम्भ मे उपर्युक्त पदार्थों का सेवन थोड़ी थोड़ी मात्रा मे दिन में केवल दो बार करना चाहिये। और उसी अनुपात से दूध की मात्रा घटाते जाना चाहिए। यदि पाचन क्रिया मे कोई गड़बड़ी न हो तो मात्रा क्रमशः बढ़ाते हुये पेट भर तक ले जावें। पेट भर खिलाने का अर्थ यह है कि बच्चा जब तक रुचिपूर्वक खाता जावे तब तक खिलावे। ज्यो ही वह अरुचि प्रकट करे खिलाना बन्द कर दे, बचे हुए पदार्थ का मोह न करें। बहुत सी मातायें जब-



स्न एक दो ग्रास अधिक खिला देती है—यह बहुत बड़ी मूर्खता है। जब पेट भर अनाज देने लगे तब यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अनाज देने के दो घंटे पहले से दूध न दिया गया हो और बाद में ३ घंटे तक न दिया जावे। जब बच्चे को उपर्युक्त पदार्थ पचाने का भलीभांति अभ्यास हो जावे तब अन्य पदार्थ भी धीरे धीरे देना प्रारम्भ करे। सामान्यत अन्न खाने वाले बच्चों को ४ बार भोजन देना आवश्यक होता है। २ बार दूध और २ बार अन्न से प्रारम्भ करके आगे भी यही चालू रख सके तो उत्तम है अन्यथा कुछ काल बाद १ बार दूध और ३ बार अन्न तथा फिर कुछ काल बाद चारों बार अन्न देना प्रारम्भ कर सकते हैं।

बच्चों को प्रति ४ घंटे पर भोजन (अन्न या दूध) देना नितांत आवश्यक है। जहां कुछ लोग जल्दी जल्दी पिलाने की भूल करते हैं वहां कुछ लोग ऐसे भी मिलते हैं जो खिलाने मे अत्यधिक देर करते हैं। भूख लगने पर भी भोजन न देना एक बहुत बड़ा अन्याय है। इससे स्वास्थ्य तो नष्ट होता ही है, अधिक खाने की आदत भी पड़ जाती है जो आगे चिकित्सा को अत्यन्त दुष्कर बना देती है।

मेरे पास यकृत वृद्धि एवं चिरकालीन अतिसार से पीड़ित एक २॥ वर्षीया बालिका चिकित्सार्थ लायी गई थी जिसे २४ घण्टे मे केवल एक ही बार आहार दिया जाता था। अन्य समय दूध वगैरह कुछ भी नहीं दिया जाता था। कई माह से यही क्रम चालू था। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस बालिका के माता-पिता दोनों ही शिक्षित थे और किसी तथाकथित डाक्टर की सलाह से ऐसा किया जा रहा था। मैंने एक बार मे दिए जाने वाले आहार के ४ भाग करके दिन मे ४ बार देने का निर्देश दिया और चिकित्सा आरम्भ की। सामान्य चिकित्सा से अल्पकाल मे ही वह बच्ची पूर्णरूप से स्वस्थ हो गई।

(३) अस्वच्छता—अस्वच्छता से अनेक प्रकार के जीवाणुओं का संसर्ग होकर अतिसार एवं प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है जो उपेक्षित रहने से कालान्तर मे चिरकालीन हो जाती है।

(४) अतिसार की उपेक्षा—बच्चो के अतिसार की उपेक्षा अधिकाश लोग करते हैं। इसका पहला कारण तो यह है कि इस देश मे छोटी मोटी तकलीफो की चिकित्सा कराना व्यर्थ समझा जाता है किंतु जब वही छोटी तकलीफ भयङ्कर रूप धारण कर लेती है तब उसकी चिकित्सा मे अन्धाधुन्ध खर्च किया जाता है। दूसरा महान कारण है यह अन्धविश्वास कि बच्चों के दात निकलते समय अतिसार होना स्वाभाविक है और इस अतिसार की चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं। वस्तुत. यह अन्धविश्वास ही सूखा रोग का जन्मदाता है तथा लाखो बच्चों की मृत्यु का कारण है[1]।

हम सुनते है, देखते हैं और पढ़ते भी है कि दांत निकलने के समय पर बच्चों को अतिसार होता है और यह सच भी है, किंतु यह सोचना गलत है कि दांत निकलने के कारण अतिसार होता है। मेरा यह अनुभव है कि दात निकलने के अवसर पर होने वाला अतिसार अन्य कारणों से होता है, दातो के कारण नहीं। वे कारण निम्नलिखित हैं—

(१) संचित दोष—दात निकलने के समय पर मसूढ़े कटने से बच्चों को पीड़ा और बेचैनी होती है जिससे ज्वर, अरुचि, अनिद्रा आदि भी उत्पन्न होकर निर्बलता आती है। जिन बच्चों के आहार मे पहले से उपर्युक्त मे से किसी प्रकार की भी भूल होती चली आ रही हो उन्हे यदि पहले अति-

---

[1] इसी प्रकार का अन्ध-विश्वास स्त्रियों के सम्बन्ध में भी प्रचलित है कि गर्भिणी को होने वाले समस्त रोग गर्भ के कारण होते हैं, उनकी चिकित्सा व्यर्थ एवं हानिकर है। यदि ये दोनो अन्ध-विश्वास उठा दिये जावें और इन दशाओं में होने वाले कष्टों का उपचार भी सदा की भाति किया जावे तो स्त्रियों और बच्चो की मृत्यु संख्या आधी रह जावेगी, यह निश्चित है।



सार न हुआ हो तो इस समय हो जाता है। यह नियम है कि किसी भी कारण से निर्बलता उत्पन्न होने पर संचित दोष तुरन्त प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न कर देते है।

(२) अत्याहार—मसूढ़े कटने की पीड़ा से बच्चा अधिक रोता है और जैसा कि ऊपर कहा गया है 'माताओं के पास बच्चे के रोने की एक ही दवा होती है और वह है, दूध पिलाना', अतएव उसे बार बार एवं अधिक दूध पिलाया जाता है। अधिक दूध पीने से अजीर्ण होकर अतिसार होना स्वाभाविक है।

(३) आहार परिवर्तन—प्रायः दांत निकलने के समय के आसपास ही ऊपरी दूध एवं अनाज के पदार्थ देना प्रारम्भ किया जाता है। इन नये पदार्थों का प्रयोग असावधानी के साथ करने से अजीर्ण होकर अतिसार होता है।

(४) अतिसार उत्पादक अन्य कारण—जिन कारणों से सामान्य अवस्था मे भी अतिसार होता है, वे कारण दात निकलने के समय पर भी उपस्थित हो सकते है और अतिसार हो सकता है।

उपर्युक्त कारणों से होने वाले अतिसार के विषय मे लोग यह सोचते हैं कि यह दांत निकलने के कारण हो रहा है, अतएव चिकित्सा की जरूरत नहीं। अतिसारजन्य धातुक्षय से बच्चा सूखता जाता है और जब वह काफी निर्बल हो चुकता है तब सूखा रोग की कल्पना करके झाड़-फूंक टोटके तथा सूखा रोग के लिए अचूक कही जाने वाली गुप्त औपधियो तथा पेटेन्ट औषधियों का आश्रय लिया जाता है। वस्तुत. ये सब धोखे की टट्टी हैं। इनमें से किसी से भी कोई लाभ नहीं होता। अधिकाश रोगी क्रमशः घुल घुल कर मरते है। कुछ अवश्य अच्छे हो जाते है किंतु वे इन उपायों से नहीं, भाग्य से ही अच्छे होते हैं।

(५) गलत चिकित्सा—सूखा रोग उत्पन्न करने अनाड़ी चिकित्सकों का भी बड़ा भारी हाथ रहता है। ये लोग अतिसार एवं प्रवाहिका के निदानादि पर विचार करके उचित चिकित्सा द्वारा दोषों का पाचन कराना नहीं जानते, किसी भी दशा मे अफीम युक्त औपधियों के द्वारा दस्त बन्द करके ही ये लोग अपने को कृतकृत्य मान लेते है। इस प्रकार की चिकित्सा से दस्तो की संख्या कम हो जाती है और मल गाढ़ा भी हो जाता है किंतु पाचन क्रिया विकृत ही रहती है और मल अपाचित एवं दूषित ही निकलता है। इसी दशा का नाम चिरकारी अतिसार है, यदि इसके साथ मरोड़, कुंथन और मल मे कफ की अधिकता हो तो इसे ही चिरकारी प्रवाहिका कहते है। इस प्रकार का रोगी दिनों-दिन सूखता जाता है। बच्चे को सूखते देखकर माता-पिता को चिंता होती है कि मेरा बच्चा क्यो सूखता जा रहा है। उस समय मूर्ख मंडली एक-स्वर से उत्तर देती है, इसे सूखा रोग होगया है।

चिरकारी अतिसार एवं प्रवाहिका के लक्षण—

मल पतला, कुछ बंधा और कुछ पतला अथवा अधिकांश बंधा हुआ किंतु कच्चेपन अर्थात् अपचन की विशेष गंध अवश्य पायी जाती है। रंग सफेद, पीला या हरा रहता है और उसमें चमकदार एवं लसदार छिछड़े अवश्य पाये जाते है। साधारणतः दिन मे १-२ या ३ बार शौच होता है किंतु कुछ मामलों में इतना कब्ज भी पाया जाता है कि २-३ दिनों तक शौच नहीं होता तथापि जब भी शौच होगा मल उपर्युक्त प्रकार का होगा। थोड़े थोड़े समय के अन्तर से अतिसार के जोरदार आक्रमण होते है। इस रोग का निदान करते समय दस्तों की संख्या पर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं है, मल का स्वरूप ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। बहुत से मामलों मे मल के पश्चात् फेन निकलता है। यह भी एक महत्वपूर्ण लक्षण है। चिरकारी प्रवाहिका में मल मे कफ और रक्त भी पाये जाते हैं। बच्चे मे चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है जिससे वह अकारण ही रोता और मचलता है।

शरीर दुर्बल और सुस्त हो जाता है। खेलना कम होता जाता है और धातुक्षय होने के कारण वजन घट जाता है, रक्त की कमी के कारण रंग फीका (श्वेताभ) होता जाता है। मेद एवं मांस की कमी से चूतड़, चेथा (गर्दन का पिछला भाग) और कर्ण-पाली सूखती है तथा वाढ़ रुक जाती है। १-१।। माह तक रोग रहा आने पर रक्त की कमी से पैरों पर शोथ उत्पन्न होने लगता है और तीसरे माह तक काफी स्पष्ट रूप से शोथ दीखने लगता है। शोथ के कारण चेहरा भरा हुआ दीखता है। कुछ मामलों में सारे शरीर पर एकसा शोथ पाया जाता है जिससे पहचान पाना कठिन हो जाता है किंतु यदि रंग पर ध्यान दें तो बात स्पष्ट हो जाती है। कुछ मामलों में अन्त तक शोथ नहीं पाया जाता। पोषण की कमी से बाल पतले, रूखे एवं फीके (रंग में) होते जाते हैं। यह एक बहुत बड़ा निदानात्मक लक्षण है। मूत्र कम होता है और उसका रंग पीला रहता है। कुछ मामलों में कैल्शियम की कमी से अस्थिक्षय (Rickets) के लक्षण यथा दांत देर से निकलना, तालु देर से भरना, हड्डियां झुकना आदि भी पाये जाते हैं। निकोटिनामाइड की कमी से मुंह में छाले, रिबोफ्लेविन की कमी से ओष्ठकोणों में व्रण, विटामिन ए की कमी से त्वचा एवं आंखों में रूखापन तथा शुष्काक्षिपाक (Xerophthalmia) भी पाये जा सकते हैं।

उपद्रव—

परिवर्तित क्षुधा (Perverted appetite) के कारण मिट्टी आदि अभक्ष्य पदार्थ खाने की इच्छा, भस्मक रोग, कृमि रोग, ज्वर, न्युमोनियां, मोतीझला, यकृत वृद्धि, वृक्करोग, अनेक प्रकार के फोड़े फुन्सी, गुदा के चारों ओर की त्वचा गल जाना, राजयक्ष्मा, आमवात, अङ्गघात आदि। अत्यधिक धातु क्षयहो चुकने के बाद होने वाला न्युमोनिया हमेशा घातक (मारक) ही होता है, उसकी चिकित्सा करना व्यर्थ होता है।

रोग प्रतिरोधक चिकित्सा—

यदि आहार का नियमन उपर्युक्त ढङ्ग से किया जावे तथा किसी भी कारण से उत्पन्न हुए अतिसार की चिकित्सा शीघ्रातिशीघ्र एवं उचित रीति से की जावे तो यह रोग नहीं हो सकता।

रोगोपशामक चिकित्सा—

सर्व प्रथम कारण को दूर करे अर्थात् आहार का नियमन उपर्युक्त रीति से करे। इसके साथ ही अतिसार एवं प्रवाहिका की उचित चिकित्सा करे। देर की परवाह न करे, स्तम्भक औषधियों का प्रयोग कदापि न करे। अतिसार प्रवाहिका की शांति के पश्चात् अग्निवर्धक औषधियों का प्रयोग करे। जल हमेशा उबला हुआ ही दे। यदि रोगी माता का दूध पीता हो तो माता के पथ्य एवं स्वास्थ्य का भी ध्यान रखे। यदि कोई उपद्रव उपस्थित हो तो उसका भी यथाविधि उपचार करे।

उपर्युक्त चिकित्सा सूत्रों को ध्यान में रखते हुए किसी भी पद्धति के अनुसार की गई चिकित्सा से पूर्ण एवं स्थायी लाभ होगा। इस रोग में आहार का नियमन एव अतिसार-प्रवाहिका की उचित चिकित्सा ही महत्वपूर्ण है। इनके बिना यह रोग अच्छा नहीं हो सकता। यदि आहार का नियमन नहीं किया गया तो बड़ी से बड़ी औषधियां भी इस रोग को अच्छा नहीं कर सकेंगी। यह मन्त्र अवश्य याद रखे। जो माता-पिता आहार का नियमन करने को तैयार नहीं उनके बच्चों के इस रोग की चिकित्सा कदापि न करे क्योंकि उससे आपको अपयश ही मिलेगा।

—श्री दौलतराम रसशास्त्री, आयुर्वेदरत्न
६२८ गोहलपुर, ५५२ उपरैनगञ्ज, जबलपुर (म. प्र.)



बालकों का रसक्षय

श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

अष्टाङ्ग आयुर्वेद का एक अंग कौमारभृत्य भी है। खेद है कि आयुर्वेद का यह अंग आज दुर्लभ हो गया है। इस समय बालकों की चिकित्सा के लिये जो कुछ साहित्य यत्र तत्र मिलता है वह अपूर्ण है। यद्यपि महर्षि आत्रेय भी इस सम्बन्ध में केवल एक ही सूत्र में कुछ संकेत करके आगे बढ गये, इतना भी इसलिये कि वे प्रतिज्ञा कर चुके थे "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" आयुर्वेद सम्बन्धी जो ज्ञान हमारी चरकसंहिता में है वह अन्यत्र भी मिल सकता है जो इसमें नहीं, वह कहीं नहीं मिल सकता।

यद्यपि आयुर्वेद में 'कौमारभृत्य' तन्त्र को पांचवा स्थान दिया है किन्तु हमारी समझ से यही आयुर्वेद का सर्व प्रथम तन्त्र होना चाहिए क्योंकि आयुर्वेद के उपयोग का श्रीगणेश शिशु के जन्म से ही आरम्भ होजाता है। अस्तु अब यहां पर हम अपने उद्देश्य की पूर्ति छिट फुट प्राप्त साहित्य तथा अपने चिरकालिक अनुभव के बल पर करेंगे।

कारण–

काश्यप संहिता में इस रोग का अन्तर्भाव फक्क रोग–बाल शोष में किया गया है। संहिता-कार इस रोग के निम्नलिखित तीन भेद मानते हैं–

१ क्षीरज, २. गर्भज, ३. व्याधिज।

क्षीरज फक्क निदान—कफ प्रकोपयुक्त धात्री अथवा माता के दूध को पिलाने से बालकों को अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हो जाती है, जिनके कारण बालक कृश एवं चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं। इसी प्रकार वात अथवा पित्त प्रकोपज दुग्धों के पीने से भी बालक रुग्ण हो जाते हैं। उनमें उन उन दोषों के लक्षण स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

गर्भज फक्क निदान—इस रोग को पारिगर्भिक या परिभव भी कहते हैं। यह रोग सगर्भा माता का दूध पीने वाले बालकों को ही होता है। इस विकारयुक्त दुग्ध के पान करने से वह अस्वस्थ होकर कुछ दिनों के बाद असाध्य हो जाता है।



चित्र नं० ५६

बालकों का रसक्षय

व्याधिज फक्क निदान—यह रोग १ से ५ वर्ष तक के बालकों को ज्वर आदि रूप से प्रारम्भ होता है।

लक्षण -

क्षीरज फक्क लक्षण—इस रोग में रसवाही स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं अतः रसादि सातों धातुयें पुष्ट नहीं हो पातीं फलतः बालक कृश, बलहीन, निष्प्रभ हो जाते हैं, इसके बाद उपद्रवस्वरूप बालशोष या अस्थिवक्रता (*Rickets*) रोग हो जाता है।

गर्भज फक्क लक्षण—इसमें उदर घड़े के समान बड़ा, हाथ पैर सूखे, अग्निमांद्य, कास, वमन, बद्ध-कोष्ठ या अतिसार, निर्बलता आदि लक्षण दिखाई देते हैं। उचित मात्रा में रस, रक्त आदि धातुओं का निर्माण भी नहीं हो पाता। यह रोग भी घातक होता है।

व्याधिज फक्क लक्षण—इसमें अन्यान्य रोगों से पीड़ित होने पर बालकों के रक्तादि का क्षय हो जाता है। बालक के चूतड़, बाहु, टांग सूख जाते हैं, सरवटें पड़ जाती हैं, पेट और सिर का भाग बड़ा दिखाई देता है, कमर से निचला भाग अशक्त होजाता है, शरीर से अरुचिकर गन्ध आती है, सांस लेने में कष्ट, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, नाक से सिंघाण (रेंट) का निकलते रहना अथवा मुख से निरन्तर लार की प्रवृत्ति होती रहती है।

वास्तव में देखा गया है कि जिनको माता का दूध पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता अथवा दूध के स्थान में भी जिनको अन्न ही खिलाया जाता है ऐसे बालकों की ग्रहणी (पक्वाशय- मध्यस्थ कला) दूषित होकर उक्त रोग को पैदा कर देती है। इस दशा में अत्यन्त सतर्कता से व्यवहार करना चाहिये।

फक्क रोग के सम्बन्ध में डाक्टरी निदान—

यह रोग प्रथम वर्ष से लेकर सात वर्ष तक के बालकों को होता है। इसका कोई निश्चित काल नहीं है। कहीं कहीं वंशानुगत भी यह रोग देखा जाता है किन्तु आश्चर्य है कि वंशानुगत होने पर भी उक्त रोग के रोगी प्राय साल छः महीने के पश्चात् स्वयं अच्छे होते देखे गये हैं जबकि आयुर्वेद के "यचापि केचित् कुलजा विकारा भवन्तितांस्तान्प्रव-दन्त्यसाध्यान्" इस मतानुसार इसको असाध्य ही होना चाहिये था। उक्त रोग में वसा का शोषण क्यों नहीं होता इस सम्बन्ध में ऐलोपैथी वाले अभी तक अपना कोई मत प्रगट नहीं कर सके।

सम्प्राप्ति—

शवच्छेदन करने पर कुछ रोगियों के आमाशय के सूक्ष्मकोषों के चारों ओर तन्तुओं की अपक्रान्ति विदित होती है और कुछ में अन्त्र की श्लैष्मिक कला का अन्तर्भरण प्रतीत होता है।

बाह्य लक्षण—

शारीरिक दुर्बलता, चेहरे में फीकापन, त्वचा निस्तेज, शक्ति का ह्रास, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

पाचन संस्थान के लक्षण—रसापाक का अभाव, अतिसार अथवा मलावरोध, भूख का न होना, त्वचा का रूखापन, चूना (*Calcium*) और स्फुर (*Phosphorus*) के चयापचय में रुकावट, यह असाध्यावस्था में प्रतीत होता है। इसके कारण अस्थिपोषण नहीं हो पाता। कभी कभी पांडुता भी होती है।

फक्करोग चिकित्सा—

इसमें रसवाही स्रोतों का विविध प्रकार से संशोधन करना चाहिये। धात्री अथवा माता जिसका बालक दुग्धपान करता हो उसको भोजन में घी, तेल आदि वसावर्धक पदार्थ न दें या कम दें। भोजन में विष्किर पक्षियों (गौरैया आदि) का मांसरस दें। शक्तिवर्धन के लिये मछली के यकृत का तेल (काडलीवर आयल) का भी प्रयोग करना चाहिए, पीने के लिये बकरी या गाय का दूध दें। यदि दूध में से मक्खन निकाल दें तो और अच्छा है। दूध और फलों का रस थोड़ा थोड़ा अनेक बार दें किन्तु एक साथ दोनों कभी न दें। घोंघे का शोरवा भी दिया जाता है इससे अस्थितत्व पुष्ट हो जाते हैं।



अन्नाद बालकों के लिये कुछ विशेष—इनको स्वभावविरुद्ध अथवा किसी प्रकार का भी विरुद्ध भोजन न दे। दालें, नये चावल, भैंस का दूध, कन्द एवं पत्र शाक सभी मधुर पदार्थ न दें या कम दे। अत्यधिक उष्ण या शीत पदार्थ कभी न दे। यदि रोगी के मूत्र में क्षार वसा आदि द्रव्य पाये जाय अथवा मूत्र का रंग पीला या लाल हो तब यवक्षार या आम को पचाने वाली औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

सुश्रुत के मत से बालकों को औषधि देने की युक्ति—बालक को जो दवा देनी हो उसका कल्क (चटनी सी) बनाकर मां के स्तन के अग्रभाग में लगा देने से दुग्ध के साथ औषधि भी आसानी से पेट में चली जायगी।

सूखानाशक योग—यदि इस रोग में अग्निमन्द हो तो उसको तीव्र करने का उपाय करे। यदि अग्निमान्द्य न हो फिर भी बालक सूख रहा हो तो उसको विदारीकन्द का चूर्ण, जौ का आटा दोनों समभाग वंसलोचन, मुलेठी सत अष्टमांश मिलाकर घी में हलुवा बनाकर खिलाये। साथ में मिश्री मिलाकर दूध दे, लाभ होगा।

दूसरा योग—सैंधानमक, सोंठ, मरिच, पीपल, सतगुरुच, पाढल, नागरमोथा, करंज, पूतिकरंज, इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करले। एक रत्ती की मात्रा में मधु के साथ रुग्ण बालक को दिन रात में तीन बार दे। इसका कुछ दिन सेवन करने से पाचन शक्ति की वृद्धि होकर रोग समूल नष्ट होजाता है।

अनुभूत चिकित्सा—मुर्गी के अण्डा को फोड़ कर उसका तरल पदार्थ एक कम्बल के टुकड़े के ऊपर उस रोगी बालक को नंगा करके धीरे से बैठा दो। यदि वह तरल पदार्थ स्वयं गुदमार्ग से भीतर चला जाय तो निश्चित रोगी स्वस्थ हो जायगा, किंतु यह प्रयोग दो चार बार दो-दो या तीन दिन का अन्तर देकर करना चाहिए जब तक कि बालक स्वस्थ न हो जाय। इस रोग में शीघ्र सफलता पाने के लिये इस योग का एक प्रयोग अवश्य कर लेना चाहिए।

—श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
सी. के ७।९९ सिद्धेश्वरी, वाराणसी

सूखा रोग की चिकित्सा

[१]

श्री सत्यनारायण खरे

इस रोग की चिकित्सा जानने के पहले कुछ सावधानी रखना आवश्यक है। वह सावधानियां निम्नोक्त हैं—

१—अतिसार, वमन और ज्वर होने पर तुरन्त ही इनको निर्मूल नष्ट कराना चाहिये। किसी भी रोग को दबाना नहीं चाहिये। जैसे किसी को दस्त लगते हों तो दस्त रोकने की दवा नहीं देनी चाहिये परन्तु दीपन पाचन औषधि देकर पाचन क्रिया ठीक करनी चाहिये।

२—जो लोग इस रोग को न समझकर भूतादि के चक्कर में फंस कर मंत्र पूजा आदि करवाते हैं वह अपना धन नष्ट करने के साथ बच्चे का जीवन नष्ट करते हैं। ऐसी घटनायें मैं देहातों में हमेशा देखा करता हूँ। इसलिये आजकल इस रोग की किसी सुयोग्य चिकित्सक द्वारा चिकित्सा करवानी चाहिये जिससे कि वह हृष्ट पुष्ट हो। आजकल के यह गुनिया लोग केवल अपनी पेट पूजा करने के बाद कह देते हैं कि इन्हें कोई भूतव्याधि नहीं है इसकी तो किसी डाक्टर से चिकित्सा कराओ। इसलिये क्यों न पहले से चिकित्सक से चिकित्सा

कराई जावे जिससे बच्चे का जीवन सुखमय बीते। मंत्रो से लाभ अवश्य होता है परन्तु उनके जानने वाले अब देहात व शहरों मे नहीं है। कभी कोई विरला ही ऐसा होता है जिसे मंत्रों का वास्तविक ज्ञान हो। अवास्तविक ज्ञान का ढोंग बनाने वाले देहातों मे हजारों है। जनता को उनसे सतर्क रहना चाहिए।

३—बच्चे की मां को उचित आहार विहार करना चाहिए। मां को खट्टी, चरपरी, भारी वस्तुओं मे पहरेज करना चाहिए। वैर, चिन्ता एवं क्रोध को बिल्कुल त्याग देना चाहिये जिससे कि मां के दूध मे कोई विकृति उत्पन्न न हो और बच्चा स्वस्थ रहे।

४—मां को यदि कोई व्याधि हो तो उसका निवारण शीघ्र करना चाहिये जिससे कि उस रोग का प्रभाव बच्चे के ऊपर न पड़े।

५—बच्चे को खुली हवा एव प्रकाशयुक्त स्थान मे रखना चाहिये। साथ ही साथ बच्चे को स्वच्छ और ढीले वस्त्र पहनाने चाहिये।

६—दीपन, पाचन, स्नेहपान कराना एवं पोषक पदार्थों का सेवन कराना चाहिये।

७—बालक को ६ माह तक मां का दूध पीना चाहिये। इसके बाद मां और गाय का दूध पिलाना चाहिये। मां को विटामिनों से युक्त आहार जैसे घी, दूध, टमाटर, मक्खन, हरी साक, अण्डे की जर्दी, चावल एवं अमरूद, आम, सन्तरा, मोसम्मी, नीबू, अंगूर इत्यादि फल सेवन करने चाहिए। इन तत्वों से मां के दूध द्वारा बच्चे को कैल्शियम एवं विटामिन मिलते रहते है।

८—बच्चे की पाचन क्रिया ठीक होने पर गाय के दूध की मात्रा बढा देनी चाहिये। अण्डे की पीतिमा का सेवन भी लाभप्रद होता है। इसमें फासफोरस अधिक होने से हड्डी मजबूत हो जाती है। मांसरस भी बच्चे को अत्यन्त लाभदायक है।

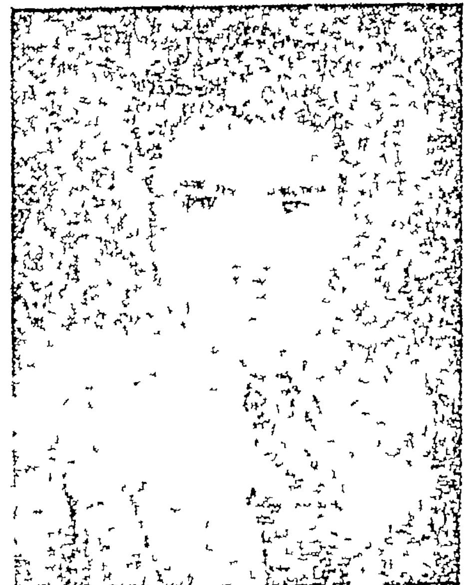
९—छोटी उम्र मे यदि बच्चों को अन्न या ठोस द्रव्य दिये जांयगे तो पाचन क्रिया विकृत हो जावेगी और उदर मे वृद्धि हो जाती है।

१०—बच्चों को मालिश करके स्वच्छ वायु में धूप मे प्रातः लिटाना चाहिये। इससे विटामिन डी का निर्माण होकर शरीर के काम आता है।

११—इस रोग के साथ यदि कोई अन्य रोग हो तो उसे पहले शमन करना चाहिये।

सूखा रोग की सामान्य चिकित्सा—

१—एक बोतल के साफ पानी मे ढाई तोला पत्थर का सूखा चूना डाल कर हिलादे। इस प्रकार ६ घण्टे तक रख छोड़े। इसके बाद चूना तल में बैठ जायगा और ऊपर का चूने का पानी निथार कर अलग शीशी मे रख ले। इसकी ६ माशा की मात्रा दूध के साथ मिलाकर दिन मे तीन बार सेवन करने से अमृत के समान गुणकारी होता है। बच्चे की पाचन क्रिया ठीक रहती है और कुछ समय बाद बच्चा स्वस्थ व हृष्ट पुष्ट हो जावेगा। इससे बच्चे की हड्डी मजबूत हो जाती है और दांत शीघ्र निकल आते है।



त्रिचक्र फक्करथकं ग्राह्य शिल्पिकनिर्मितम् ।
विद्ध्यार्त्तं न शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यसेत ॥

अर्थात् किसी शिल्पी से एक लकडी के तीन पहिये की गाड़ी (त्रिचक्र *Tricycle*) बनवा कर धीरे धीरे फक्क रोगी बालक को उसके सहारे चलाना चाहिये। ऐसा अभ्यास करने से अस्थियो में कुछ शक्ति आयेगी। यह अभ्यास उन बच्चों को न कराना चाहिये जो बहुत कमजोर हैं या जिनकी अस्थियां अधिक पतली या बक्र हों ऐसे बालको को, पूर्ण शैया विश्राम (*Complete bed rest*) कुछ महीनों तक कराना चाहिये।

आधुनिक मतानुसार चिकित्सा—

१—बाजार के जितने भी कैल्शियम, विटामिन ए और डी के योग हैं वह सभी सूखा रोग के लिये लाभदायक हैं। कुछ योग जो स्वय परीक्षित हैं वह निम्न हैं—

(अ) कैल्शीफैरोल (*Calciferol*)—इसे विटामिन डी कहते हैं। ग्लैक्सो कम्पनी का ओस्टलिन लिक्विड (*Ostelin- liq.*) नाम से मिलता है। इसे १० बूंद दूध या वुडवर्ड ग्राइप मिक्चर के साथ दिन में तीन बार पिलाने से यह रोग मूल से नष्ट हो जाता है। इसके इञ्जैक्सन भी लगते हैं।

(आ) एडोक्सलीन (*Adexolin drops*)—यह विटामिन ए और डी का योग है। इसको भी ६ बूंद ग्राइपवाटर की १५ बूंद के साथ दिन में तीन बार पिलाना चाहिये।

(इ)—ओस्टोकैल्शियम (*Ostocalcium tablet*) इसकी गोलिया आती है जो कि कैल्शियम फास्फोरस और विटामिन D की बनी होती है। यह अस्थि का निर्माण करती हैं। इसकी एक एक गोली दिन में तीन बार दूध के साथ खिलानी चाहिये। इससे सूखा रोग नष्ट होने के साथ दन्तोद्गम भी शीघ्र होता है।

(ई) मल्टी विटामिन ड्रोप्स के योग भी बाजार में अनेकों मिलते हैं। इसका भी प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद होता है। इनको १० बूंद की मात्रा में से तीन बार पिलाना चाहिये। बाजार में बीकाडेक्स, इनरविट, एबडेक, एडबीटोल इत्यादि योग मिलते है। यह सभी परीक्षित योग हैं।

(उ) विटामिन ए और डी के इञ्जैक्सन भी आते हैं जो कि १ सी.सी. एम्प्यूल में होते हैं। इन्हें मांसान्तर्गत प्रति दूसरे दिन अर्थात् सप्ताह में तीन बार लगाना चाहिये। इससे बच्चा पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाता है। इसका नाम डीकाएडोक्सलिन है।

(ऊ) यदि प्रारम्भ में ही बालक अस्वस्थ एवं हड्डी पतली और कमजोर हों तो उसे "ओस्टोकैल्शियम बी १२ शर्बत (*Ostocalcium B 12 syrup*) का प्रयोग कराना चाहिये। यह कैल्शियम, फास्फोरस, विटामिन *D* एवं बी १२ का योग है। यह रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि एवं मज्जा सभी का निर्माण करता है। यह ग्लैक्सो या योग है। हर स्थान पर उपलब्ध है।

(ए) इसी प्रकार एडीकाल १२ (*Adical 12*) नामक शर्बत भी बाजार में मिलता है। इसकी एक चम्मच प्रात. दोपहर एवं सायंकाल में पिलाना चाहिए। इससे अस्थियों में मजबूती एवं वृद्धि, रक्त निर्माण, शरीर की वृद्धि, दन्तोद्गम शीघ्र होता है। इस नाम का इञ्जैक्सन भी आता है। इसकी १½ सी. सी. की मात्रा प्रति दूसरे दिन मांसान्तर्गत लगानी चाहिये।

२—इस रोग में सबसे अच्छा इञ्जैक्सन का योग कैल्शियोस्टलिन विद विटामिन बी १२ (*Calcio vitamin with vitamine B 12*) १½ सी.सी और बीकाडैक्स (*Becadex injection*) इञ्जैक्शन १सी सी दोनों एक साथ मिलाकर मांसान्तर्गत देना चाहिए। इनको सप्ताह में तीन बार लगाना चाहिए। कुल ८-१० इञ्जैक्सन लगवाने से बच्चा पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इससे दस्त और कै (वमन) भी बन्द हो जाते हैं क्योंकि यह आहार को पचाते हैं।



३—मालिस के लिये आधुनिक चिकित्सा मे काडलिवर आइल है। इसमे विटामिन डी अधिक होता है। इसको पूरे शरीर पर मर्दन करना चाहिए। साथ मे ६० बूंद की मात्रा मे दिन मे तीन बार पिला भी सकते हैं। इससे अस्थि मजबूत होकर अस्थियों की वक्रता नष्ट हो जाती है और बच्चा शीघ्र चलने लगता है। जिनके बच्चे तीन साल तक की उम्र मे भी नहीं चल पाते है उन्हे इसीकी मालिश एव मुख द्वारा सेवन कराना चाहिये। इसकी निम्न विशेषता है—

The superiority of the Cod liver-oil over other oil depends chiefly upon—

(1) Rapid absorption
(2) Quick assimilation.
(3) Ready oxidation
(4) High Nutritive value.
(5) High Vitamin contents and
(6) Its powerful effect on cell-growth and metabolism

Therefore many morbid conditions of the system are slowly revived by it

इस तेल का शोषण पाचन जारण शीघ्र हो जाता है इसमे अधिक पोषण शक्ति, अधिक विटामिन्स होते है। कोषाणु की वृद्धि से अधिक प्रभावशाली है। इसलिये संस्थान सम्बन्धी कई विकृतिया इससे हट जाती है। इसकी दुर्गन्धि केवल इसका दोष है। इसके लिये इसी प्रकार के दूसरे निम्न तेल है—

४—हैलीवट लिवर आइल, शार्क लिवर आइल—यह उपरोक्त तेल से अधिक उत्कृष्ट द्रव्य हैं क्योकि इसके ग्राम मे २००० यूनिट डी और ३०००० यूनिट ए के होते है। यह उसकी अपेक्षा कम दुर्गन्धयुक्त है।

५—जहां अल्ट्रावायलेट किरण की चिकित्सा के साधन हो तो इससे भी यह रोग नष्ट हो जाता है परन्तु यह साधन प्रत्येक रोगी के लिये उपलब्ध नहीं है।

—आयुर्वेदाचार्य श्री डा० सत्यनारायण खरे
ए., एम. बी. एस., सेवक औषधालय,
ककवारा (झांसी) यू. पी.

[२]

वैद्य श्री नटवरलाल शास्त्री वैद्य भूषण

उसी प्रकार—

अ—अश्वगन्धापाक, अश्वगन्धावलेह, अश्वगन्धा घृत (रोगी का अग्निबल यदि अच्छा हो तो) बहुत गुणावह होते है। अन्यथा—

आ—अश्वगन्धारिष्ट, लोहासव, दशमूलारिष्ट, द्राक्षासव, द्राक्षारिष्ट का एकाकी प्रयोग अथवा योग कतिपय का संयोजन लाभदायक होता है।

इ—यदि उदर रोग का अनुबन्ध पाया जाय तो कुमारी आसव, आरोग्यवर्धिनी रस अथवा तत्सम प्रयोग प्रयुक्त किये जाय।



ई—विदग्धाजीर्ण, अम्लपित्त का अनुबन्ध हो तो अथवा परिणामत: भस्मक का लक्षण स्पष्ट हो तो उपरोक्त १ अङ्क मे निर्दिष्ट प्रयोगों में मुक्ता, शुक्ता-वर्ग के भस्मादिक विशेष गुणावह होते है। उसी प्रकार द्राक्षावलेह या द्राक्षासव, कुष्माण्डासव, कुष्माण्डावलेह। यह भी उपयुक्त होते हैं।

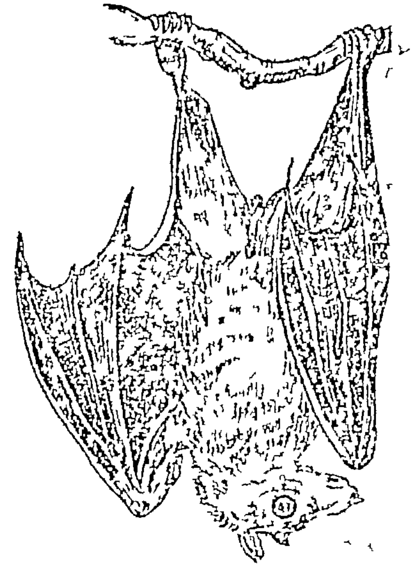
उ—सुवर्ण मालती बसंत, सुवर्ण नृतशेखर, चन्द्रकला रस, कुमार कल्याण रस यह प्रयोग भी चिकित्सा में मदद देते हैं और प्रभाव दिखाते हैं।

(२) बाह्योपचार के प्रयोग—

अ—महालक्ष्मीविलास तैल, चन्दनबलालाक्षादि तैल, लाक्षादि तैल, अश्वगन्धा घृत, महामाष तैल इनका अभ्यङ्ग और इसकी जोड़ मे पूर्व मे या पश्चात् 'सूर्य रश्मि स्नान' सुतरां उपकारक होता है।

उपरोक्त शास्त्रीय प्रयोगों का सदा-सर्वदा अनेक रोगियों पर समाधानकारक अनुभव आया और आता है परन्तु कतिपय असाध्य अथवा कष्ट-साध्य रोगियों पर निम्नांकित (किसी महात्मा के बतलाये हुए) प्रयोगों से चमत्कारिक लाभ अनुभव मे आया है—

(१) बड़बागन (मराठी मे बट वाधूल कहते हैं)—यह पक्षी सूर्योदय से अस्त होने तक झाड़ पर (प्राय. बट वृक्ष पर) औंधा लटका हुआ होता है (चिमकादड़)। इसकी ताजी गीली विष्टा और वह न मिलने की सूरत मे सूखी हुई विष्टा भी काम देती है, परन्तु पुरानी न हो। वयोमान और शरीर के कद की दृष्टि से अर्ध तोले से ३ तोले प्रमाण में लेकर किंचित पानी मिलाकर अभ्यङ्ग योग्य गाढ़ा, पतला कर लिया जाय और दिन उतरते (यदि उष्णकाल हो तो सन्ध्या मे अन्यथा सूर्य की गर्मी के विद्यमान समय में) रोगी के सर्वाङ्ग शरीर पर (सिर से लेकर पैरों के तलवों तक अङ्ग प्रत्यङ्ग मे यथा बगले और शरीर के जोड भी छूटने न पाये) लगाकर धीमे धीमे हाथो से कुछ ही सूखने तक मर्दन किया जाकर शरीर अच्छी तरह सूखने के पश्चात् वस्त्र पहना दिए जांय, प्रात.काल मे यथाशक्य जल्दी सुखोष्ण जल से स्नान करा दिया जाय और महीन वस्त्र से धीमे हलके से पोंछ लिया जाय। रगड कर नही पोंछना चाहिये ताकि शरीर पर दृश्यादृश्य रूप से रही हुई औषध शरीर पर टिकी रहे। इस प्रकार सप्ताह मे दो वार अथवा स्नानातिरेक का रोगी पर अनिष्ट प्रभाव



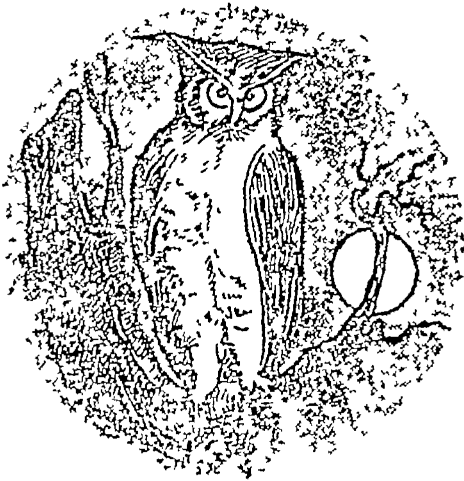
चित्र नं. ५७—चमगादड़

प्रतीत न हो तो तीन अथवा चार बार पर्यन्त यह प्रयोग किया जा सकता है। व्याधि की उग्रता अथवा जीर्णावस्था होते हुये भी ज्यादा से ज्यादा तीन सप्ताह तक लगातार और यदि वैसी स्थिति न हो तो एक सप्ताह तक लगातार यह प्रयोग जारी रखकर हर स्थिति मे १-१ सप्ताह तक प्रयोग बन्द किया जाय। अनन्तर इसी नियमानुसार आरोग्य सुधरने तक प्रयोग किया जाय। ज्यादा से ज्यादा तीन मास मे उत्तम आरोग्य लाभ होता है। स्नान मे साबुन या बेसन अथवा तेल का उपयोग हर स्नान पर नहीं करना चाहिये किंतु सप्ताह मे एक बार करना अनुचित भी न होगा।



घूबड़ घृत (मर्दन के लिये)—

एक घूबड जिसको उल्लू भी कहते हैं और इन नामों से प्राय: सभी प्रान्तों मे लोग पहिचान लेते हैं। विशेषत: इस प्राणी की पहिचान यह है कि यह दिन में मन्द दृष्टि वाला होता है।



चित्र ५८—उल्लू

इस एक घूबड़ को प्रथम एक लोहे की कढ़ाई मे गौघृत अथवा मेढ़ी का अथवा बकरी का घृत और यदि यह न मिल सका तो भैंस का घृत आधा सेर डालकर कढाई पर इस अन्दाज से उस प्राणी को हाथ में रखकर बध किया जाय कि उसका रक्त और शरीर का कोई भाग बाहर न जा सके। इसी रीति से उसके शरीर के टुकड़े छोटे छोटे (यथाशक्य) बनाकर घृत मे डालकर उपलों की अग्नि पर मन्दाग्नि से इस तरह पाचित किया जाय कि उन टुकड़ों मे नरमी न रहने पाए, किंतु खंगर के जैसे शुष्क हो जाय वैसे जलने भी न पावे। इस रीति से घृत और तैल पाचन करे। पाचन होते ही अग्नि पर से पात्र को उतार लिया जाय और तुरन्त उष्ण रहते ही वस्त्र से छानकर एक-आध घण्टे भर उस पोटली को ऊंच वाली जगह मे टिंगा रखा जाय ताकि घृत का पूर्णांश हस्तगत हो सके। उस घृत को जरा ठण्डा होने पर बड़े मुंह वाले कांच पात्र मे अथवा चीनी के पात्र मे भर कर रख लिया जाय।

(विज्ञेय वि.) यह घृत सिद्ध करने के लिए जंगल मे जाकर सिद्ध करके खाना चाहिए। ऐसा प्रयोग-दाता ने कहा है और वह अनेक दृष्टि से ठीक मालूम होता है।

इस घृत को यथावश्यक प्रमाण मे (जो रोगी के शरीर के कद के मान से पर्याप्त हो सके परन्तु १ या १॥ तोले से ज्यादा नहीं लेना चाहिये) लेकर प्रतिदिन रात्रि मे सिर से पैर के तलवों समेत अङ्ग प्रत्यंग मे धीरे धीरे मर्दनपूर्वक अभ्यंग कराया जाय और यदि सिर पर बाल ज्यादा हों तो कम कर दिए जांय ताकि घृत का अपव्यय न हो तथैव सिर का तालु प्रदेश, मन्या प्रदेश औषध मलने से छूट न जाय। खासकर यह घृत आगे पीछे की पसलियों, पृष्ठवंश, और बड़े सन्धि प्रदेशों पर कुछ ज्यादा देर तक मर्दन करना चाहिए। इसके बाद यथावश्यक ऋतुमानानुसार कपड़ा उढ़ा दिया जाय परन्तु एक घण्टे तक तो अङ्ग में कपड़े नहीं पहिनाने चाहिये, किंतु उसके बाद पहिनाए जांय। लगातार एक सप्ताह तो प्रयोग इस प्रकार किया जाना ही चाहिये। सप्ताह पूर्ण होने पर १ या २ दिन का अवकाश दिया जाय। इस प्रकार अवकाश देते हुए सवा महीना पर्यन्त यह प्रयोग करने से बहुत बड़ा लाभ प्रतीत होगा। इस प्रयोग के कालखंड मे ऋतुमान, रोगावस्था, रोग की सहनशीलता के तारतम्यानुसारेण १ से ७ दिन का अन्तर तक देकर जिस जिस दिन योग्य मालूम होता रहे सुखोष्णोदक से निर्वात स्थान मे स्नान कराया जा सकता है। स्नान के लिये इस प्रयोग मे साबुन, रीठा, बेसन, उड़द के आटे का उद्वर्तनार्थ प्रयोग किया जाय। जैसे जैसे रोगी सुधरता जाय उसके अवकाश करने की कालावधि बढ़ाते रहना चाहिये।

—श्री वैद्य नटवरलाल वैद्यभूषण
औरंगाबाद।

[3]

श्री वैद्य बनारसीदास दीक्षित H. M. B.

सबने प्रथम रोग के कारण का पता लगाना अति आवश्यक है। अत. इस प्रकार के बच्चों का निदान बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए। निदान के समय माता-पिता के बारे में पूरी पूरी जानकारी करली चाहिये। यह भी जान लेना अति आवश्यक है कि पूर्व बच्चों को भी यह रोग हुआ था या नहीं। यदि किसी माता के पहले भी बच्चे इसी रोग से मरे हों तो उस माता का दूध तुरन्त बन्द करा देना चाहिए। परिपाक शक्ति कमजोर होने पर लघु भोजन देना चाहिये।

इस रोग में प्राय. कैलसियम प्रधान औषधियां ही अधिक व्यवहार की जाती हैं क्योंकि कैलसियम की कमी इस रोग का प्रधान कारण है।

प्रवाल पिष्टी १ रत्ती, गिलोय सत्व १ रत्ती, कुमारकल्याण रस ¼ रत्ती–१ मात्रा–अनुपान–माता का दूध या मधु से दिन में ३ बार दें। यह उपरोक्त मिश्रण छोटे बड़े सब बच्चों के लिये उपयुक्त है।

अरविन्दासव ½ तोला जल मिलाकर दिन में दो बार जिन बच्चों के पीले रंग के पतले दस्त होते हों, मल द्वार की चर्म लाल हो गई हो, मुंह मे घाव हों, ज्वर हो ज्वर में प्यास, बेचैनी, अनिद्रा आदि उपसर्ग युक्त सुखंडी में उपरोक्त व्यवस्था करें। यदि रक्त में रक्ताणु की कमी हो गई हो तो मंडूर भस्म १ रत्ती, प्रवाल पिष्टी १ रत्ती, गिलोयसत्व १ रत्ती, १ मात्रा–अनुपान–मधु से दिन में ३ बार दें। दिन में दो बार अरविन्दासव आधा तोला जलसे दें। यदि माता गर्भिणी होवे तो उस समय बच्चों को दूध पिलाने मे पारिगर्भिक रोग की उत्पत्ति हो जाती हैं एवं बच्चे को उपरोक्त सब लक्षण हो जाते हैं। ऐसी हालत मे उस माता का दूध बन्द करा देना चाहिये एवं निम्नलिखित मिश्रण देना चाहिये–

मण्डूर भस्म, शृङ्ग भस्म, सुधापटक योग, सितोपलादि चूर्ण, मधु मालती वसन्त। मात्रा अवस्थानुसार दें। इस योग के द्वारा मैंने चार पांच बच्चों की चिकित्सा की। प्राय. सफलता मिली। इस योग के अलावा मैं मालिस के लिए काडलिवर आयल, और ओलिव आयल मिलाकर मालिस कराता था, सर्दी की मौसम मे। और गर्मी की मौसम होने पर शंखपुष्पी तेल की मालिश करने का कहता था।

इसके अलावा मुक्तादि वटी, मालती चूर्ण, बाल वटी आदि भी अति हितकर हैं। और इनको प्राय: व्यवहार कराता हूँ।

नोट—शंखपुष्पी तेल की मालिस बराबर चालू रखें।

होमियोपैथिक चिकित्सा—

होमियोपैथिक चिकित्सा लिखने के पूर्व मैं पाठकों का इसके मूल सिद्धांतों की ओर ध्यान दिलाना जरूरी समझता हूँ। होमियोपैथिक का मूल मन्त्र है सम:समम् समयति (१) औषधी के लक्षण और रोग लक्षण मिलने जरूरी है। (२) एक साथ एक ही दवा दे। इसके साथ अन्य दवा न देवे। (३) सूक्ष्म मात्रा (शक्तिकृत) परमाणु शक्ति में। (४) जब तक दवा से लाभ होता रहे तब तक दूसरी खुराक न दी जावे।

अब हम होमियोपैथिक मे इस रोग में व्यवहार आने वाली खास खास दवाओं के लक्षण संक्षेप में लिखते हैं।

एब्रोटेनम ३०,२००–

बच्चे का मिजाज चिड़चिड़ा, सब समय खाता है किंतु फिर भी शरीर सूखता जाता है। पहले पैरों की तरफ से सूखना आरम्भ होता है। चमड़े मे सलवट पड़ती हैं जो भी खाता पीता है अजीर्ण हो दस्त में निकलता है। उपरोक्त 'पहले पैरों की ओर से सूखना' लक्षण जरूरी है।



बैराईटा कार्ब ३० २००—

इस दवा के प्रकृतिगत लक्षणों पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। बच्चा नाटा (छोटे कद का उम्र की अपेक्षा छोटा लगता है) शारीरिक और मानसिक विकास रुक जाता है। इस तरह का बच्चा देर से चलना एवं देर से बोलना आरम्भ करता है। क्योंकि उसकी बुद्धि का विकास रुक जाता है और वह चलने और बोलने की क्रिया को करने में असमर्थ रहता है जिसे चालू भाषा में बुद्धू कहते हैं। ऐसे बच्चों को प्राय: सर्दी हो जाती है और ग्रंथिया बढ़ जाती है। टान्सिल प्राय: ही बढ़ता है। अति भूख, खाता है पर सूखता जाता है, पेटमें वायु का अधिक होना। ऐसे बच्चों को बैराइटा कार्ब उच्च शक्ति की १ मात्रा देकर १ मास तक देखिये। उसकी प्रकृति में परिवर्तन हो जावेगा। एवं उसका विकास आरम्भ होगा। जहां बच्चा चलना जानता है पर पैरों की कमजोरी के कारण नहीं चल सकता उस जगह कल्केरिया फास उच्च क्रम देवें।

आर्जेन्टम नाइट्रीकम ३०, २००, १०००—

बच्चे में मीठा खाने की अति इच्छा रहती है। पाखाना हरे रंग का आम मिला हुआ होता है। उसी के साथ वायु निकलती है। बच्चे का चेहरा सूखकर बन्दर की तरह होता है।

कल्केरिया कार्ब ३०, २००, १०००—

कल्केरिया (कैलसियम) जाति की जितनी भी दवा हैं वह लक्षण मिलने पर बच्चे की *Rickets* की प्रकृति को ही बदल देती है। अत: इनके धातुगत लक्षणों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। बच्चे का माथा और पेट शरीर की अपेक्षा अधिक बढा रहता है। हाथ पैर पतले २ होते हैं किंतु माथा और पेट बढा रहता है। बच्चा सर्दी जरा भी सहन नहीं करता है। माथे में, कपाल पर तथा हाथ पैरों में पसीना होता है। पाखाने में एव वमन में खट्टी गंध रहती है। दूध हजम नहीं होता पीने के बाद वमन करता है। उस वमन में खट्टी गंध एवं दूध फटा फटा निकलता है।

कल्केरिया फास ३०, २००, १०००—

यह सुखंडी रोग की प्रधान दवा है। इसके प्रकृतिगत लक्षण हैं—कमजोर पूरा शरीर सूखा माथे पर पसीना, दूध हजम नहीं करता, तालु का जोड़ जल्दी नहीं लगता है, पतले सफेद हरे पीले रंग के दस्त होना। शरीर की हड्डियां कमजोर, मेरुदण्ड टेढ़ा हो जाता है। बच्चा जो भी कुछ खाता है उसमें से कैलसियस ग्रहण नहीं करता अत: दांत भी विलंब से निकलते हैं। बच्चे की गर्दन इतनी कमज़ोर होजाती है कि माथा भी सीधा नहीं रख सकता। गर्दन की तरफ अधिक सूखता है। सब खाता रहता है फिर भी सूखता जाता है। पेट अन्दर की तरफ घुसा हुआ होता है।

आयोडियम् २००, ३०—

बच्चा खूब खाता पीता है फिर भी सूखता जाता है। इस दवा में बच्चे का पूरा शरीर ही एक साथ सूखता है। बच्चा हमेशा ठंडी जगह में रहना चाहता है। गरमी बर्दाश्त नहीं होती। ठंडी हवा, ठंडा भोजन, ठंडे जल से स्नान अधिक पसन्द करता है। गरमी से रोग लक्षण बढ़ जाते हैं। प्लीहा और यकृत बढ़ा हुआ होता है। खास विशेषता यह है कि जगह जगह की गांठे (ग्रन्थियां) बढ़ जाती हैं और रात में पसीना अधिक आता है। मंद मंद ज्वर भी रहता है। ज्वर में यदि गरमी से उपशम हो और बाकी लक्षण उपरोक्त होवे तो इसके पहले आर्स आयोड देवे।

लाइकोपोडियम २००, १०००—

पेट में गड़ गड़ शब्द होना, पेट में खास करके नीचे के पेट से वायु जमा होना, कब्ज रहना, शाम को ४ बजे से ८ बजे के बीच में मन्द मन्द ज्वर का होना, शरीर सूखते जाना, पेसाब में लाल लाल बालू की तरह तली जमना। भूख अधिक, खूब खाता पीता है फिर भी सूखता जाता है, खास करके ऊपर का हिस्सा पहले सूखता है। इस दवा की १-२ खुराक देकर दवा बन्द रखे।



नेट्रमम्यूर २००, १०००—

खाता पीता है फिर भी सूखता जाता है गर्दन का पिछला हिस्सा पहले सूखता है कब्ज रहती है। जिन दशा में मलेरिया विष हो या गर्भावस्था में माता को मलेरिया काफी हुआ हो उनके लिये अधिक लाभप्रद है। १० बजे दिन से मन्द-मन्द ज्वर होना बच्चा नमकीन चीज अधिक पसन्द करता है।

सलफर ३०,२००—

बच्चे को अस्वाभाविक भूख, हाथ पैर के तलवे गरम रहते हैं, बच्चा स्नान करना पसन्द नहीं करता, पित्त प्रकृति प्रधान बच्चा, चर्म रोग के कारण रोगोत्पत्ति।

सोरीनम् २००—

किसी बच्चे में चर्म रोग दाद खाज एक्जीमा फोड़े फुन्सी आदि ऊपरी मरहम आदि से दवाये गये हों उसके बाद से ही बच्चा सूखा रोग से आक्रांत हो; एवं पसीने पाखाने आदि में सड़ी हुई गंध बच्चे को कितना भी नहला देवे फिर गन्ध आती रहती है। बच्चा ठंडी हवा या सर्दी बर्दाश्त नहीं करता है। यह नोसोड (रोग विष से निर्मित) दवा है, अत. उच्च क्रम सिर्फ १ मात्रा देकर फलाफल देखे। बार बार दवा न देवे।

टियूबरक्युलीनम् २००, १०००—

यह भी अति गहराई तक कार्य करने वाली नोसोड (रोगज) औषधी है। इसके लक्षण मिलने पर इसका कार्य देखकर आश्चर्य से मुग्ध हो जाना होता है। किन्तु इसके व्यवहार में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। यह क्षय रोग प्रवणता तथा क्षय अवस्था में दोनों ही हालतों में व्यवहार की जा सकती है। लक्षण निम्न प्रकार हैं—

माता-पिता में क्षय रोग का इतिहास मिले, और उनकी संतान सुखंडी रोग से आक्रांत होवे, उनमें इस दवा के लक्षण, जैसे बच्चा दिन रात खाता पीता है किन्तु सूखता जाता है। सर्दी जुखाम तो उसका जीवन साथी हो जाता है, ठंडी हवा लगी कि सर्दी होगई, माता यह निर्णय तक नहीं कर सकती कि बच्चे को कैसे सर्दी लगी है। रोग लक्षण परिवर्तन शील रहते हैं। कभी किस यन्त्र पर रोग का आक्रमण होता है, कभी किसी पर, इस प्रकार एक के बाद एक नया रोग होता ही रहता है। और इन सब रोगों में आपस में कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के रोगों के आक्रमण होते हुये भी रोगी का मन प्रसन्न रहता है, यह विशेषता है। हमेशा बच्चा अस्थिर रहता है एक जगह रहना पसन्द नहीं करता। शरीर में जगह जगह छोटे छोटे फोड़े होते हैं या जगह जगह एक्जीमा होता है। उपरोक्त लक्षणों में जब वंशगत ट्यूबर क्लोसिस (Tuberculosis) दोष हो उस हालत में आप इसकी २०० या १००० शक्ति की मात्रा देकर २-३ मास उसको कार्य करने दीजिये। आप अपने रोगी को जो कि क्षय रोग प्रवणतायुक्त है क्षय से बचा लेंगे। जहां उक्त क्षेत्र न हो वहां इसका नाम तक न लेवें। यही है होमियोपैथिक का बी. सी. जी. वैक्सीन। नीचे एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट समझा देना आवश्यक है।

उदाहरण—श्री बलरामप्रसाद जी (एक्साईज सिपाई रक्सौल) का बच्चा उम्र ५ वर्ष जन्म के कुछ दिन बाद से ही सुखंडी रोग से आक्रांत हुआ। भूख काफी अच्छा खाता पीता था पौष्टिक लघु पदार्थ खाते हुए भी सूखता ही जाता था। कभी टाईफाइड कभी साधारण ज्वर ९८॥ से १०० तक कभी दस्त कभी कान का बहना आदि अनेक रोगों से आक्रांत रहता था। सर्दी जुखाम ब्रोंकाइटिस आदि तो उसके जीवन साथी थे। सब ही तरह का इलाज हुआ किन्तु प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अन्त में यही निर्णय किया कि इस बच्चे की ट्यूबरक्युलोसिस प्रकृति है अत एक योग्य चिकित्सक से परामर्श करके दोनों ने निर्णय करके उसे २०० शक्ति की १ खुराक दी। देखकर बहुत ही



आश्चर्य हुआ कि बच्चे के सब उपसर्ग एक एक करके दूर होगए और बच्चा स्वस्थ है। अब इसे सर्दी खासी नहीं होती। अभी १ खुराक दिये १॥ मास हुआ है शायद दूसरी खुराक की आवश्यकता ही न हो। पर इसका निर्णय सावधानी से करें।

थूजा २००—

यह भी एक प्रमेह विषनाशक दवा है। जहा पर माता पिता में गनोरिया का इतिहास मिले और उनका बच्चा सुखडी रोग से आक्रांत हो, और निम्न लक्षण होवे तब इसका व्यवहार करें—

शरीर में जगह जगह मसे निकलना जिनका आकार फूल गोभी की तरह होवे। ज्वर उदरामय आदि यदि गोवीज (चेचक का टीका) देने के बाद बच्चों को इस रोग का सूत्रपात हो तो यह १-२ खुराक अवश्य देवे।

साईलिसिया ३०, २००—

बच्चों का शारीरिक नाप कम, खूब खाते पीते भी सूखते जाना क्योंकि वह खाद्य पदार्थों से पुष्टी कर तत्वों को ग्रहण नहीं करता है। माथे के पिछले भागे में, हाथ पैरो के तलवों में बदबूदार पसीना होता है। उस पसीने के बन्द होते ही अनेक उपद्रव पैदा हो जाते है। कान से पतला पीव गिरता है। रोगी ठण्ड सहन नहीं कर सकता।

सावधानियां—

ऊपर कुछ खास खास दवाइयां हैं जोकि खूब गहराई तक क्रिया करके रोगी की प्रकृति का संशोधन कर देती है उनही दवाइयों का विवरण दिया है। इनके प्रयोग में निम्न बातें याद रखे—

२०० या १००० क्रम की दवा की १ या २ खुराक देने पर उसकी क्रिया कुछ भी आरम्भ हो जावे फिर दवा बिलकुल बन्द रखे। उच्च शक्ति की दवा का बार बार प्रयोग लाभ के बदले हानिकर होगा। १००० शक्ति की दवा की १-२ खुराक देकर कम से कम ७ दिन उसकी क्रिया को देखो। यदि क्रिया आरम्भ हो जावे तो दूसरी खुराक नहीं देवे। जो सज्जन नये नये ही होमियोपैथिक दवा व्यवहार करें उनको ३०, २०० शक्ति से उच्च शक्ति व्यवहार नहीं करना चाहिए।

वायोकैमिक चिकित्सा—

वायोकैमिक चिकित्सा का सिद्धांत है कि मनुष्य के शरीर में जिस तत्व की कमी हो उसे पूरा करे। इसमें २, ३, ४ दवा मिलाकर भी दी जाती है। उन दवाइयों को गरम जल में मिलाकर प्रयोग करना अच्छा है।

कल्केरिया फास ६×, १२×, ३०×—

यह सुखंडी रोग की मुख्य दवा है। जिन बच्चों की हड्डिया कमजोर हों माथे पर पसीना अधिक आता हो उनके लिये लाभदायक है। इस दवा से बच्चे के शरीर में कैलसियम और फास्फेट की पूर्ति होती है।

फेरमफास ६×, १२×, ३०×—

रक्त की कमी होने पर कल्केरिया फास के साथ मिलाकर देवे।

नेट्रम फास ६×, १२×, ३०×—

पतला दस्त होता हो एवं उसमे पित्त की अधिकता होवे, खट्टी बदबू आती होवे, दस्त का रंग हरा या अधिक पीला होवे, दूध पीने के बाद ही फटी फटी खट्टी बदबूदार वमन होती हो ऐसी हालत में कल्केरिया फास के साथ मिला कर या पर्याय क्रम से देवें। यह कृमि रोग की अच्छी दवा है।

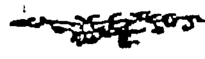
काली फास ६×, १२×, ३०×—

काली फास स्नायु का उपादान है। जहां स्नायुविक लक्षणों की अधिकता हो थकावट अनिन्द्रा आदि पतला दस्त उसमे सडी गन्ध में यह कल्केरिया फास के साथ देवे।

उपरोक्त दवा ६× दिन मे २ बार एवं १२× १ बार, ३०× दिन १ बार गरम जल मे मिलाकर देवे।

—वैद्य श्री बनारसीदास दीक्षित एच. एम. बी.
शर्मा मैडीकल स्टोर्स, रक्सौल
(चम्पारण) विहार

डा० एल० वी० लौगानी M. I. M S.



विटामिन डी, कैलसीयम व फासफोरस की कमी ही इस रोग का प्रधान कारण है। तब तो इसकी पूर्ति से ही यह बीमारी ठीक हो सकती है। इसलिए प्राय: ऐसे भोजन कराये जांय जो जल्दी हजम भी हो सके और उनमें विटामिन डी-कैलशियम और फासफोरस अधिक मात्रा में पाया जाय।

दूध, घी, दूध की मलाई, मक्खन, अन्डा, मछली, फ्रुट इत्यादि—इन भोजनों मे विटामिन डी अच्छी मात्रा मे पाई जाती है। मगर अब प्रश्न यह उठता है कि छोटे बच्चे तो मक्खन, दूध के अलावा और चीज ऊपर लिखी हुई विटामिन भरपूर नहीं खा पाते। अत: विटामिन डी की कमी होना अवश्यम्भावी हो जाता है जिससे यह रोग उत्पन्न हो जाता है। मगर इन विटामिन डी, कैल्शियम और फासफोरस की बनी हुई दवाइया बाजार से मिल सकती हैं जिनके प्रयोग से यह रोग ठीक किया जा सकता है।

Injection Ostolın Fort (Vıtamın D)—यह सूई सप्ताह मे एक बार मांस मे (Intramuscular route से) लगानी चाहिये। ओस्टोलिन लिक्विड भी आता है जिसकी १० बूंदे दिन मे दो बार पिलानी चाहिये। यह औषधि ग्लेक्सो (Glaxo co.) की बनाई हुई है।

इञ्जेक्शन डेकाडेक्सोलिन (Injectıon Decadexolın–Glaxo co.) १ c. c. एम्प्यूल सप्ताह मे दो बार बच्चों को मांसान्तर्गत इञ्जेक्शन करनी चाहिये। यह विटामिन ए और डी की बनाई हुई है।

Injection Calcı ostelin with vitamin B_{12}–Glaxo co.)—इञ्जेक्शन कैलसाई ओसटीलिन विद विटामिन बी$_{१२}$ १ c. c. सप्ताह मे तीन बार मांसान्तर्गत इञ्जेक्शन करनी चाहिये। १५ c. c. का वाइल या १ c. c. के एम्प्यूल आते है।

Injectıon Multi–vitamin (Becadex or Vimix)–१ c. c. सप्ताह मे २ या ३ बार लगाई जा सकती है।

एबडेक ड्रोप्स पी. डी. कम्पनी (Abdec drops P.–D. co.), एडेक्सोलिन ड्राप्स (Adexolin drop-Glaxo co,), वेकाडेक्स ड्रोप लिकयूड (Becadex drops--Glaxo), वाई सेनरल (Vı–Syneral drop–American Product) यूनी वाईट ड्रोप (Unıvıte drop–Unichem co.), इनमे से किसी एक औषधि की १० या १५ बूंदें दिन मे २-३ बार दी जा सकती हैं।

मिनोलैड (Mınolad T. C. F.)—यह दवाई १०० ml. की बोतल मे बाजार मे मिलती है। यह विटामिन, कैल्शियम, मैगनीसियम से बनाई जाती है। २ वर्ष से नीचे आयु वाले बच्चो के लिये आधी से १ चम्मच, दो वर्ष से बड़े बच्चो के लिये १ से २ चम्मच दिन मे २ बार देनी चाहिए।

सीरप मीनाडेक्स (Syrup Mınadex–Glaxo co.)—इस दवाई मे विटामिन ए, डी के साथ साथ कैल्शियम ग्लेसेरोफोसफेट (Calcium Glycerophosphate), पोटासियम ग्लेसरोफोसफेट (Pottassıum Glycerophosphate), मैगनीसियम ग्लेसरोफोसफेट (Mang. Glycerophosphate), फेरीएट अमोन्या साइट्रेट (Ferı.et amm. cıt.), कापर सल्फ. (Copper sulph), सीरप ग्लूकोज लिक्विड (Syrup Glucose liq) भी मिली हुई है। ताकत के लिये अक्सीर है। सूखा के बचो को बड़ा लाभ पहुँचाती है। दो वर्ष से कम आयु वाले बच्चों के लिये



¼ से ½ चम्मच दिन मे तीन बार, दो वर्ष से ऊपर वाले को १ से २ चम्मच दिन में तीन बार देनी चाहिए।

एडीकाल १२ (Adical 12–Therapeutic Co.)—इसमें भी कैलिशयम और विटामिन ए, डी मिला हुआ है और सूखा रोग के लिए अक्सीर है। एक चम्मच दिन मे तीन बार दी जा सकती है।

डाई–कैलसिआई प्लेक्स (Di-Calciplex Khandelwal Co.)—यह दवाई भी सूखा रोग मे लाभदायक है। एक चम्मच दिन मे तीन बार दी जा सकती है।

सूखा रोग में एलोपैथिक मिक्श्चर—

(१) कैलशियम ग्लूकोनेट १५ ग्रेन, लिक्विड कैलसीफैरोल १० बूंद, स्यूसिरेज एकेसिया [गोंद] आवश्यकतानुसार, एक्वा मैन्था पिपरैटा १ औंस, यह मिक्चर दिन में २ या ३ बार दें।

(२) कैलशियम हाइपोफोस्फैट ५ ग्रेन, आइल मिर्ह (काड लिवर आइल) १ ड्राम, गोंद आवश्यकतानुसार, सीरप टोलू १ ड्राम, एक्वा सिनामोनाई १ औंस--भोजन के बाद दिन में २-३ बार दें।

(३) फैरी एट एमोनिया साइट्रेट २ ग्रेन, काड लिवर आइल ६० बूंद, गोंद आवश्यकतानुसार, आइल लेमन १ बूंद, एक्वा क्लोरोफार्स ४ ड्राम--दिन में तीन बार दें।

—श्री डा. एल. बी. लौगानी M. I. M. S.
जीवनदाता दवाखाना, पाली बाजार,
ब्यावर (राजस्थान)

बालशोष पर सफल प्रयोग

[१]

अश्वगन्धा, अर्जुन छाल, मुलहठी २॥-२॥ तोला का कल्क बनाले। अलग से अश्वगन्धा १ पाव भर का ४ सेर जल क्वाथ करें। पुन गोघृत १ सेर को गर्म करके कुछ शीतल होने पर कल्क क्वाथ को एकत्र कर मन्दाग्नि से पकावे। घृत मात्र शेष रहने पर छानकर वंशलोचन २॥ तोला, छोटी इलायची १ तोला, मधु, मिश्री २०-२० तोला मिलाले। काच के पात्र में सुरक्षित रखें। ३ माशा से १ तोला तक आयु बल का विचार कर प्रात साय दुग्ध से या वैसे ही चटावें। २-३ मास सेवन से बालक हृष्ट-पुष्ट बलवान बनते हैं। इसके साथ प्रवाल पिष्टी या भस्म मुक्ता पिष्टी या भस्म भी दें तो विशेष लाभ होगा।

आजकल जो लोग पाश्चात्य पद्धति से बने चूने के पानी किंवा नाना प्रकार के शर्बतों का सेवन करा कर बालकों के स्वास्थ्य को नष्ट करते हैं और उनके शरीर को रोग का घर बनाते हैं उन्हे यह स्वल्प मूल्य मे अत्यधिक लाभप्रद प्रयोग का सेवन करा कर अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

—श्री गिरजादत्त पाठक वैद्यशास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य
बक्सर (शाहाबाद-आरा)

[२]

श्वेत अपामार्ग मूल पानी मे घिस कर माता के स्तन चूचुक पर लेप करायें। प्रात. जब बच्चा सोकर उठे तो उसे स्तनपान करायें। उसके पश्चात् धो दें। ४० दिन प्रयोग करें। अवश्य लाभ होगा।

सुधापटक–यह योग श्री यादव जी त्रिकम जी का है—

प्रवाल भस्म १ भाग, मुक्ताशुक्ति भस्म २ भाग, शंख भस्म ३ भाग, कपर्दिका भस्म ४ भाग, कच्छप पृष्ठास्थि भस्म ५ भाग, गोदन्तीहरताल भस्म ६ भाग—निम्बू के रस मे ३ दिन खरल

करें। १ से ४ रत्ती की मात्रा में प्रातः सायं, मां के दूध के साथ दें। अच्छा काम करता है।

—श्रीरामफल मिश्र आयु० वि०
खलारी भीमखोजा (रायपुर)

[३]

लोह भस्म गोदन्ती भस्म शृंग भस्म मुक्ताशुक्ति भस्म शंख भस्म प्रत्येक १-१ तोला, खूबकला शुद्ध ४ तोला इन सबको मिलाकर खूब खरल करें। एक-जात हो जाने पर इसमें निम्न स्वरसों की १-१ भावना देकर शुष्क होने पर मधु के संयोग से ४-४ रत्ती की वटी बनावें।

भावनार्थ स्वरस—तुलसी, भांगरा, हरी कासना, मकोय का स्वरस दें।

मात्रा—१-१ वटी दिन में ३-४ बार।

गुण व अनुपान—सूखा मसान के अतिरिक्त भी ये गोलियां अनेक बाल रोगों में लाभप्रद हैं। यथा कास दन्तोद्गम में मधु में पीस कर चटाना, मंथर ज्वर में खमीरा मोती मिला कर चटाना अत्यन्त लाभप्रद होता है। सूखा व जीर्ण ज्वर में चूर्णोदक में घोल कर पिलाना चाहिये।

सूखा मसान में रोगी बालक को नित्य प्रात काल तथा सायंकाल (हलकी धूप में) बैठा कर मालिश करनी चाहिये। मालिश के लिए शास्त्रोक्त लाक्षादिक नारायण तैल अथवा जैतून तिल या काड लिवर आइल आदि तैल अति उपयुक्त हैं। मालिस के एक १ घंटा बाद स्नान करादें अथवा गर्मजल में तौलिया निचोड़ कर उससे सारा शरीर रगड़ कर पोंछ दिया करें।

यदि उक्त योग के साथ आस्टोकैल्शियम विद्-विटामिन बी तत्व, विटामिन बी कम्प्लैक्स ½-½ सी. सी. मिलाकर प्रति तीसरे दिन एक माह तक नितम्ब प्रदेश में टीका लगाते रहें तो सूखा मसान में और भी चमत्कारिक लाभ होता है।

सूखा आदि कई बाल रोग मा के दूध के विकार से भी होते हैं अत: माता को दुग्ध शुद्धि के लिए नित्य रात्रि को शयन करते समय २ तोला सौंफ पिसी हुई फांकनी चाहिए तथा शोक चिन्ता कुढ़न व संयोग से बचकर प्रसन्नचित्त, ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये। पौष्टिक (विटामिन) आहार करना चाहिए। गर्भावस्था में बच्चे को अपना दूध पिलाने के बजाय गौ बकरी का दूध पिलाना ही श्रेष्ठ है।

—श्री वैद्य अमरनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य,
चमरौआ (रामपुर)

[४]

कंघी जिसे लोग कघई या ककयी कहते हैं। उसकी २॥ (ढ़ाई) पत्ती लेकर चूना, कत्था लगे पान में रख कर मुंह से खूब चबाये। जब उसकी पीक बन जावे तब उस पीक को लेकर (हाथ की तीन अगुलियों में) सूखा रोग वाले बालक की पीठ पर गुदा से ४ अंगुल ऊपर रीढ़ की हड्डी पर, डालकर ७-८ इंच तक लम्बी उस पीक को रगड़े। जब रगड़ते रगड़ते पन्द्रह मिनट लगभग हो जांय तब उस जगह को साफ वस्त्र से पोंछ डाले। पोंछी हुई जगह में आप देखेंगे कि सूखा रोग के सब कीड़े निकल आये हैं। इन कीड़ों को नोच कर बाहर फेकदें। इसी प्रकार दूसरे दिन फिर ऐसा ही करें। जब कीड़े निकलना बन्द होजाय तब दवा बन्द कर दें, बस बालक तन्दुरुस्त हो जायगा। बाद में बच्चे की मा को ७ दिन तक नीम की ११ पत्तियों की ठण्डाई नित्य घोट कर पिला देने से यह रोग फिर कभी नहीं होगा।

—श्री शारदाप्रसाद विशारद
सलेथू (रायबरेली)

[५]

ऐसी काली गौ का मूत्र जिसके शरीर पर दूसरे रंग का कोई धब्बा न हो सूर्योदय से पहले १ सेर लेकर तथा असली कश्मीरी केशर १ तोला लेकर दोनों को गौमूत्र में पीस कर लुगदी बनाले। फिर इस केशर की लुगदी को शेष गौमूत्र में मिला-कर एक शुद्ध कांच की बोतल में भरदें। और कार्क लगाकर बोतल का मुंह बन्द करदें। बस



दवा बन गई। मात्रा—६ माह के बच्चे को ४ बूंद दवा और ४ बूंद माता के दूध के साथ मिलाकर, और ६ माह से अधिक उम्र के बच्चे को ८ बूंद दवा और ८ बूंद माता का दूध मिलाकर पिला देना चाहिए। लाभ दो तीन दिन से हो जायगा पर लगातार ७ दिन तक दवा पिलाते रहे। हिफाजत से रखने पर दवा ३ वर्ष काम दे सकती है।

[६]

सूखे बच्चे जिनका मांस सूख कर चूतड़ (नितम्ब) की खाल भी सिकुड़ गई है रीढ़ की हड्डी धनुषाकार हो गई हो, सारा शरीर हड्डियो का ढांचा प्रतीत होता हो, ज्वर, अतिसार हो, प्यास अधिक हो, शिर को इधर उधर पटकता हो इस प्रकार के बच्चे के लिये अद्भुत प्रयोग जो निरंतर १० वर्ष से सफल अनुभूत रहा है पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

कच्छपास्थि भस्म—कछुए की हड्डी की भस्म में खूबकला स्वरस, १ तोला गाजवां स्वरस, घी कुमारी के गूदे के रस की भावना देकर भस्म करे। प्रवाल भस्म, शंख भस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, गेरू, गिलोय-सत्व, इन छहों वस्तुओं को १-१ तोला मिला पीस कर अवस्थानुसार मात्रा १ रत्ती से ४ रत्ती तक मधु घृत विषम मात्रा में मिला दिन में तीन बार दे।

मालिश के लिये महालाक्षादि तैल या काड-लिवर आयल की मालिश करे।

माता वादी की तथा गर्म चीजे न खाय, हल्का सुपाच्य भोजन करे। प्रभु अवश्य कल्याण करेंगे।

—श्री सुरेशदत्त शर्मा आ. विशारद
आत्रेय आयु० भवन, जलालाबाद (मुजफ्फनगर)

[७]

हरड़, जायफल, सैंधानमक, लौंग, सोंठ, काली-मिर्च, पीपर, बेलफल का गूदा (मगज), नागर-मोथा, केशर, सोंचर नमक, सोहागा फूला, अतीस।

विधि—प्रत्येक २-२ तोला लेकर अलग अलग कूट कपड़छन करके एक जगह करले। पश्चात् कुटी पिसी दवा खरल में डाल कर जल के साथ घोटाई करे। जब गोली बनने योग्य हो जाय तब २-२ रत्ती की गोली बांध कर शीशी में रखलें।

सेवन विधि—१ से २ गोली बालक के बलाबल को देख माता के या गाय के दूध में या गरम जल में प्रातः मध्याह्न सायं दें।

गुण—रक्त मांस से बालक की शरीर की क्षीणता, ज्वर अतिसार कास मन्दाग्नि दूध का उलटना डब्बा पेट का बढ़ जाना चिडचिड़ापन समस्त रोग दूर होकर शिशु पुष्ट बलवान हो जाता है।

—वैद्य बाबा श्री लक्ष्मणदास, महन्त
दानापुर (अकोला)

[८]

असली केशर १ तोला, कुक्कुटाण्ड त्वग्भस्म १ तोला दोनों को नारी दुग्ध में घोटकर १-१ रत्ती की बटिका बनाले। १ वटी केवल कृष्ण गौ के मूत्र ६ माशा में घोलकर प्रातः रोगी बालक को पिलाये। केवल औषधि प्रातः ही देनी है, न्यूनातिन्यून ७ दिवस अधिकाधिक २१ दिवस में रोगी निश्चित रूपेण स्वस्थ हो जाता है। [यह प्रयोग धन्वन्तरि में बहुत दिवस पूर्व प्रकाशित हो चुका है]

—आयुर्वेदाचार्य श्री पं. कृष्णदेव शर्मा शास्त्री
श्रीकृष्ण आयुर्वेद भवन, सीकरी (भरतपुर)

[९]

जहरमोहरा खताई पिष्टी, नारियल दरयाई, बंशलोचन, गुलाब का जीरा, हरीत की छाल, संगे-यहूद (बेरपत्थर), कमल गट्टे की गिरी प्रत्येक १-१ तोला, मोती सच्चे की पिष्टी ६ माशे।

विधि—पीसने वाली दवाई पीस, पिष्टी आदि मिला, अर्क गुलाब मे ३ दिन खरल कर आध-आध रत्ती की गोलियां बनावें। मात्रा—१-१ गोली पीस गुलाब का अर्क या काहजवान अर्क के साथ देवे। समय-दिन मे २ बार।

गुण—यह वटी लगातार २-३ हफ्ते बच्चों को देनी चाहिये। इसके सेवन से बालशोष, असती, निर्बलता, अपचन, हरे पीले दस्त, दूध पलटना सब ठीक होकर बच्चा हृष्ट पुष्ट हो जाता।

—श्री सुदागरसिंह वैद्य, कोकरीकलां (फीरोजपुर)

[१०]

बालपौष्टिकावलेह (Ayurvedic Rajmalt)-

अभ्रक भस्म १ तोले, मण्डूर भस्म २ तोला, कान्त लोह भस्म ६ माशे, गिलोय सत्व ४ तोले, शुद्ध अति-विष, श्वेत मिर्च, सौंठ, पीपल, वायविडङ्ग ये सब १-१ तोले, ज्येष्ठ मधु ३ तोला, करंज बीज ६ मांशे उपरोक्त सब चीजों को खूब कूट कपड़छन कर चूर्ण तैयार कर लेवे। अनन्तर शुद्ध मधु ३० तोले में उपरोक्त मिलाकर ७ दिन तक खरल करे। बाद में बरनी भर लेवें।

मात्रा—३ से १० रत्ती दिन में दो बार मां का दूध या से गौदुग्ध।

गुण—जीर्ण ज्वर, रक्ताल्पता, यकृद्वृद्धि, कृमि, बालरोग, सुखण्डी, कान्तिदायक एवं पौष्टिक है।

कुमार संजीवन (Ayu. Raj lime water)—

कली चूना ६ तोला, मिश्री १२ तोला, जल स्वच्छ १२८ तोला उपरोक्त पानी कली चूना व मिश्री मिला देवें। रात्रि को भिगो देवे तथा सुबह पानी को नितार लेवे व स्वच्छ शीशी मे भर लेवे।

मात्रा—२ से ६ माह तक के बच्चों को ५ से १० बूंद, १ वर्ष तक के बच्चों को २० से २५ बूंद दूध या जल के साथ देवें।

गुण—बच्चे की वमन तथा पचन क्रिया को ठीक करता है। पेट दर्द व कब्जनाशक है। बच्चों के सुखंडी रोग में ज्यादा दिन तक सेवन से आशातीत फायदा होते देखा गया है।

—श्री डा०जी.के. दाधीच आयुर्वेदाचार्य L.M.S.A.
कारजा (महाराष्ट्र)

[११]

शंबूक प्रयोग

एक शंबूक सरि से मंगाओ सखे।
बन्द ढक्कन को जिसके जलौका रखे॥
गुन गुनी इक कटोरी को कर लीजिए।
और शंबूक उसमे ही धर दीजिये॥
वारि छूटे उसे दुग्ध मां का मिला।
शुक्ति मे डाल बच्चे को दीजे पिला॥
तीन दिन चार-छः बूंद से दीजिए।
बाल अम्भोज ऐसा खिला लीजिए॥
क्षीर माता से शंबूक भर दीजिए।
अग्नि अरने के कंडे मे रख दीजिये॥
डाल साठी के तन्दुल पकाओ सखे।
शीत होने पै शिशु को खिलाओ सखे॥
चार छः रोज यह भोज्य देते रहो।
साफ सुथरा रहे बाल मां से कहो॥
लौंग करपूर गर मे बंधा दीजिये।
व्याधि हर सुत को चंगा बना दीजिये॥

सूखा-हरा —

भस्म शंबूक त्रिफला को सम कीजिए।
तीन रत्ती की मात्रा से नित दीजिए॥
दुग्ध लीजे गधी का ही सहपान में।
शुद्ध मधु बंद द्वै तीन अनुपान में॥
योग सूखा हरा एक सप्ताह दो।
रक्त संचार नव, दूर गद शोष हो॥
तैल लाक्षादि अभ्यंग मे लीजिए।
योग लघु है, परीक्षित इसे कीजिए॥

एक अन्य विधि

चित्रक मूल पिसाय, आड़ी वेड़ी रेखमैं।
दीजै रीड़ बनाय, शोष जाय दिन चार में॥

दंती प्रयोग

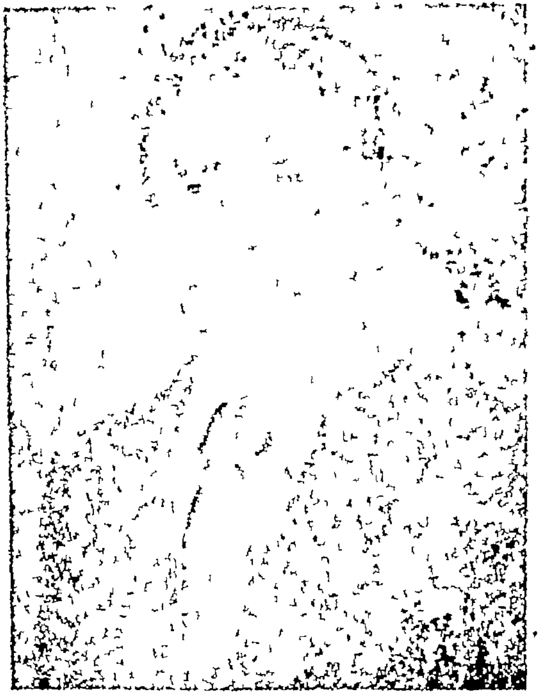
बीज दंती अशोधित को घिस लीजिए।
पौछ चाकू से आड़ा तिलक कीजिए॥
मेट पाए न बच्चा इसे दो घड़ी।
भाल मे होय दानों की पैदा लड़ी॥
तीन ही चार दिन मे सभी वे मिटैं।
कष्ट सब शोष के शीघ्र शिशु के कटैं॥
एक ही बार इसकी क्रिया कीजिए।
वार रविवार मंगल को चुन लीजिए॥

—वैद्य श्री बाबूसिंह गहावार
जीवन औषधालय, हसपुर (उन्नाव)

कर्णस्राव तथा कर्णशूल और चिकित्सा

वैद्य श्री कमलेश्वर वशिष्ट वैद्य विशारद

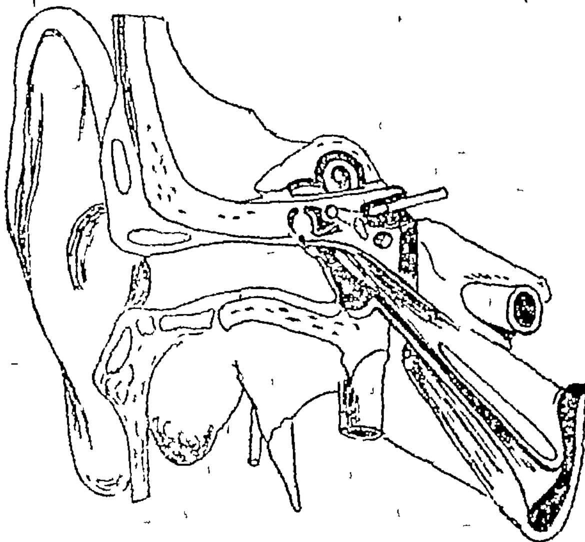
कर्णस्राव और कर्णशूल का वर्णन करने से पहले हमें कर्ण की रचना पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि सुश्रुत ने २८ कर्णरोग बतलाये किंतु यहां पर सिर्फ इन दो ही रोगों का वर्णन किया जायगा। क्योंकि यह दोनो रोग बच्चों में मुख्य रूप से पाये जाते हैं।



कर्ण की संक्षिप्त रचना—

कान के तीन भाग होते हैं—

(१) कान का बाहरी भाग कर्णशुष्कुली (Pinna) कहलाता है। इसीका निचला मुलायम भाग कर्णपाली कहलाता है। कर्ण के भीतर जाती हुई एक नली दिखाई देती है वह भीतर की एक मजबूत झिल्ली से बन्द हो जाती है। कर्ण शुष्कुली और नलिका तक का पर्दे वाला भाग बहि:कर्ण कहलाता है। (External ear) यह कर्ण का पहला भाग है। बहि:कर्ण के आखरी सिरे पर स्थित उपयुक्त पर्दे को कर्ण परद (Tympanic membrane) कहते हैं। परदे का मध्य भाग किंचित् भीतर दबा रहता है। परदे को ध्यानपूर्वक देखने पर एक श्वेत रेखा दिखाई देती है। यह स्वस्थावस्था में श्वेत और चमकदार दिखाई देते हैं। कर्ण को साधारण रूप से देखने पर यह दिखाई नहीं पड़ती। इसको देखने के लिये कर्णदर्शक यन्त्र (Auroscope) की सहायता लेनी पड़ती है। परदे के दूसरी ओर मध्यकर्ण (Middle ear) स्थित है। इसका अधिकांश भाग शंखास्थि में रहता है। इसमें मुद्गर, निहाई [शूर्मिक] और रकाब आदि अस्थियां लगी हैं। जिनमे मुद्गर (Malleus) का एक सिरा कर्णपरद से लगा है और दूसरा सिरा निहाई (Incus) से और दूसरा अन्त: कर्ण के एक छिद्र से लगा रहता है। अर्थात् ये अस्थियां मिलकर एक ऐसी श्रृङ्खला बना देती हैं जिसके द्वारा कर्ण परद अन्त:कर्ण से सम्बन्धित हो जाता है। मध्यकर्ण (Middle-ear) से एक नली जाकर गले में खुलती है। इसे श्रुति सुरंगा (Eustachian-tube) कहते हैं। यह सुरंगा और मध्यकर्ण श्लेष्मल कला से घिरे हुए हैं। मुख नासिका और गले की खराबी के कारण इसी मार्ग द्वारा मध्यकर्ण में पहुचकर उसमें भी शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इसी सुरंगा के द्वारा मध्यकर्ण में वायु



चित्र नं ५६—श्रवणेन्द्रिय

प्रविष्ट होकर कर्ण परद के दोनों ओर की वायु दबाव समान रखती है जिससे कर्ण परद स्वाभाविक स्थिति में रहता है और समुचित प्रकार से कम्पन भी हो जाता है। कर्ण का अन्तिम भाग अन्त:कर्ण कहलाता है। यह अन्तःकर्ण (Internal ear) श्रवण नाड़ी से बना है और शङ्खास्थि में स्थित है। शब्द जन्य लहरे बहिःकर्ण में होकर टकराती है जिससे परदे में तद्रूप कम्पन होता है। यह कम्पन उपर्युक्त कर्णास्थियों द्वारा अन्तःकर्ण तक पहुँचा दिया जाता है। जहा से मस्तिष्क मे श्रवण नाड़ी द्वारा कम्पन का ज्ञान पहुंचने से शब्द का ज्ञान होता है।

कर्णशूल

कर्णशूल को पाश्चात्य मतानुसार Otalgia या pain in the ear कहते हैं। यह एक लक्षण है जो कर्ण रोगों में अधिकतर देखा जाता है। निम्नलिखित कर्ण रोगों में कर्णशूल होता है-

(१) कर्णगत तीव्र विचर्चिका-(Acute eczema) में जलनयुक्त पीडा होती है किंतु अधिक नहीं होती।

(२) Furunculosis-इसमें बहुत तीव्र कोंचने जैसी पीड़ा होती है जो रात मे सोने भी नहीं देती।

(३) मध्यकर्ण के तीव्र सपाक शोथ मे भी तीव्र पीड़ा होती है।

(४) कभी कभी शङ्खास्थि मे अथवा मस्तिष्क आवरण तथा करोटि की अस्थियो के बीच में किसी प्रकार का शोथ या विद्रधि होने पर कर्ण मे तीव्र पीड़ा होती है। यह पीड़ा एक सीमित स्थान मे प्रतीत होती है और सिर के एक पार्श्व से होती हुई ग्रीवा तक पहुँच जाती है।

(५) सबसे तीव्र प्रकार की पीड़ा मध्य कर्ण और अन्त:कर्ण के तीव्र शोथ मे होती है।

(६) कभी कभी जैसे ऊपरी जबड़े के दांत से ग्रसनिका (Pharynx) और स्वरयन्त्र (Larynx) के दुष्ट अर्बुद के कारण पीड़ा होती है। ऐसी दशा में कर्ण के अन्दर देखने पर कुछ प्रतीत नहीं होता है।

(७) नासा मार्ग के बन्द हो जाने तथा श्रुतिसुरंगा (Eustachian tube) के ग्रसनिका की ओर स्थित सिरे में व्रण हो जाने से भी कान मे पीड़ा होती है।

(८) यदि यह पीडा स्पर्शनाक्षमता (tenderness) कर्णमूलिका स्थान मे हो तो उसी स्थान के Mastoid मे शोथादि समझना चाहिए।

प्राय: देखने मे आता है कि बच्चो से लेकर मध्यम आयु तक के लोगों को या उससे अधिक आयु के लोगों को कर्णशूल होता है। किन्तु कर्ण और उसके आसपास के अङ्गों की परीक्षा करने पर कोई विकृति प्रतीत नहीं होती। ऐसी दशा में कर्णपाली के मूल के नीचे की स्थिति शङ्खास्थि और निचले जबड़े की अस्थि की सन्धि (Temporomandibular-joint) की सन्धि-शोथ के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

बच्चों में कर्णशूल परीक्षा-

कर्ण छूने या धोने पर बच्चा रोवे या बारबार अपना हाथ कर्ण के समीप ले जाये और सिर को इधर उधर पटके तो समझना चाहिये कि उसके कर्ण में पीड़ा हो रही है। यदि ब्रांकोन्यूमोनियां के कारण बच्चे को कर्णशूल उत्पन्न हो तो बच्चे का सिर कभी कभी पीछे की ओर झुका रहता है।

कर्णशूल का सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण —

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथा
चरन्समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः
स कर्णशूलो कथितो दुराचरः॥

अर्थात्-अपने कारणों से कुपित वायु दोषों द्वारा आवृत होने पर उस दोषयुक्त लक्षण द्वारा कर्ण मे कष्टसाध्य शूल को उत्पन्न करता है।

कर्णशूल चिकित्सा —

(१) अद्रक स्वरस, शहद, सैंधव तथा तैल मिलाकर किंचित गरम करके कान में डालें।

(२) लहसुन, अद्रक, सहजना, मूली, बरना, केला, इनके रस से सिद्ध तेल कान में डालें।



(३) सुदर्शन नाम के पौधे के पत्तों को किंचित् गरम करके कर्ण में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है।

(४) हींग, सैंधानमक और सोंठ से साधित तेल भी कर्णशूल को नष्ट करता है।

(५) क्षार तेल का प्रयोग भी इसमें लाभप्रद देखा गया है। मदार के पीले पत्तों को तेल से चुपड़कर किंचित् गरम कर इस का रस डालें।

(६) सरसों के तेल में अहिफेन [अफीम] और कर्पूर मिला कर्ण में डालने से कर्णशूल तत्काल शांत हो जाता है।

(७) अजवाइन का धूंआं देना भी कर्णशूल में लाभप्रद है।

कर्णस्राव

कर्णस्राव के लक्षण—

सिर में चोट लगने के कारण, जल में डूबने से या कान के बल गिरने से, कर्ण में पानी भर जाने से अथवा कर्ण में फोड़ा होने से वायु प्रकुपित होकर कर्ण में से पीव या कभी कभी पानी जैसा स्राव बहता है। उसे कर्णस्राव कहते हैं।

यह निम्नलिखित रोगों के कारण होता है—

(१) बहिःकर्ण की विचर्चिका (Eczema of the external ear)—इसमें पानी जैसा या गोंद के समान स्राव पाया जाता है। इसमें गाढ़ा स्राव बहुत कम पाया जाता है। कभी कभी जब विचर्चिका बहुत पुरानी हो जाती है तब गाढ़ा पूय-युक्त स्राव भी आ सकता है।

(२) बहिःकर्णगत पिड़िका (Furunculosis of the meatus)—बहिःकर्णगत पिड़िका के के कारण स्राव से पूर्व पीड़ा भी अधिक रहती है। स्राव गाढ़ा और थोड़ा पूय सम होता है।

(३) तीव्र मध्यम कर्णशोथ (Acute otitis media)—इसकी प्रारम्भिक दशा में स्राव पतला और अन्त में गाढ़ा और तारदार हो जाता है।

(४) रक्तस्रावी मध्य कर्णशोथ (Otitis media haemorrhagica)—इसमें बहिःकर्ण द्वारा एक या अनेक बार रक्तस्राव देखा जाता है। प्रायः इन्फ्लूएन्जा में या दमके बाद कभी कभी वृक्क रोगों के उपद्रव में तथा अज्ञात कारणों से होता है।

(५) चिरकालीन मध्य कर्णशोथ (Chronic otitis media)—इसमें कभी कभी कर्णस्राव होता है किन्तु अधिकतर कर्णस्राव पर्याप्त मात्रा में होता है यहां तक कि रात को बिस्तर और तकिया भी गीला हो जाता है। यह स्राव अधिकतर पूययुक्त और बहुत दुर्गन्धयुक्त होता है। कभी पानी जैसा पतला और गन्धहीन भी पाया जाता है। कर्णगत मांसवृद्धि (Polypus) या रोहण धातु (Grannulation) के कारण बहुधा रक्त मिश्रित स्राव होता है। कभी कभी कान की सड़ी अस्थियों के टुकडे भी स्राव में आ जाते हैं जिनसे एक निश्चित प्रकार की गन्ध आती है।

(६) करोटि तल का भग्न (Fracture of the base of the skull)—इसमें यदि भग्न शङ्खास्थि में हुआ हो तो कर्ण से रक्तस्राव होता है। कभी कभी इसमें थोड़ा या अधिक पानी जैसा स्राव अर्थात् मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव (Cerebro-spinal fluid) निकलते हैं।

(७) बहिःकर्ण या मध्य कर्ण के घातक अर्बुद (Malignant Disease of the middle ear of the meatus)—इसमें स्राव थोड़ा पतला और प्रायः बहुत दुर्गन्धयुक्त होता है।

भावप्रकाश और सुश्रुत इसमें दो भेद करते हैं। (१) एक को पूतिकर्ण कहते हैं जिससे बहुत दुर्गन्धयुक्त स्राव आता है। (२) दूसरा कर्णस्राव कहलाता है जिसमें सभी प्रकार के स्रावों का समावेश होता है। कर्णस्राव और पूतिकर्ण को पाश्चात् शालाक्य दृष्टि से Otorrhoea अथवा Discharge from the ear कहते हैं।

कर्णस्राव चिकित्सा—

[१] सज्जीखार और बिजौरा निम्बू का रस कर्ण में डालने से कर्णस्राव, पीड़ा और जलन

नष्ट होती है।

[२] आम, जामुन, महुआ और बरगद के कोमल पत्तों से तेल सिद्धकर कर्ण में डालने से कर्ण-स्राव नष्ट होता है।

[३] चमेली के पत्तों का रस तेल में पका डालने से पूतिकर्ण नष्ट होता है। स्त्री के दूध में रसौत मधु पीसकर कान में डालने से कर्णस्राव नष्ट होता है।

[४] कुष्ठादि तेल का प्रयोग भी कर्णस्राव को नष्ट करता है।

[५) गन्धक, मैनसिल, हल्दी १ पल, कड़ुआ तेल ४ पल तथा धत्तूर के पत्ते का रस ४ पल इनसे सिद्ध तेल कर्ण मे डालने से कर्णस्राव नष्ट होता है।

[६] मालकांगनी, मुलहठी, पाठा, धाय के फूल, पृश्नपर्णी, शालपर्णी, मंजीठ, लोध, लाख इनके कल्क और कैथ के रस में तेल को पकावें। इस तेल को कान में भरने से तत्काल कर्णस्राव बन्द हो जाता है।

(७) समुद्रफेन को ग्लिसरीन के साथ डालने पर भी कर्णस्राव बन्द होता है।

आधुनिक चिकित्सा—

कर्णस्राव की चिकित्सा दो प्रकार से होती है। विसंक्रामक (Antiseptics) द्रव्यों का या संकोचक द्रव्यों (Astringents) का प्रयोग किया जाता है। विसंक्रमक चिकित्सा शुष्क और सद्रव दो प्रकार की होती है। इसमें सद्रव चिकित्सा अधिक लाभकर होती है। इस कार्य के लिये बिना आयोडा-इड या परक्लोराइड आफ मर्करी, बोरिक एसिड क्रिमोलिन और Lysol का बहुधा उपयोग होता है।

(२) हाइड्रोजन पेराक्साइड का उपयोग करने से भी इसमें पर्याप्त लाभ होता है।

शुष्क चिकित्सा के लिए बोरिक एसिड और बोरिक आइडोफार्म मिलाकर कर्ण में प्रधमन करें और हर चौथे रोज कर्ण को हाइड्रोजन पैराक्साइड द्वारा साफ कर दिया करें।

[३] एक्रीफ्लेविन ग्लिसरीन (Acriflavin glycerine) का प्रयोग करें।

[४] कार्बोलिक ग्लिसरीन कान में डालें।

[५] Locula नामक पेटेन्ट औषधि भी इसमें पूर्णतया लाभकारी है।

(७) सिबाजोल पाउडर का प्रयोग कर्ण में और गोलियां खाने से कर्णस्राव बन्द होता है।

[८] Pencilin का सूचीवेध कर्णस्राव को रोकता है।

—श्री वैद्य कमलेश्वर वशिष्ठ वैद्य विशारद
चौक बाजार, रेवाड़ी।

कर्ण रोगों में सफल प्रयोग

[१] बधिरता में—बिल्वादि तैल दिन में २-३ बार डालें।

[२] कर्णक्ष्वेड तथा शूल में नारायण तैल एवं अर्क तैल डालें।

[३] कान में फुन्सी होने पर—निर्गुन्डी तैल या जात्यादि तैल डालें। कानों में तैल डालते रहने से कर्ण रोगों का भय नहीं रहता। कर्ण रोगों में सारि-वादि वटी या जपावटी (जयावटी) प्रातः सायम खाने को दें।

[४] कानखजूरा कान में जाने पर—सैंधव नमक जल में घोलकर डालें।

—श्रीमती यशोदादेवी शर्मा वैद्याचार्य,
बाड़ा हिन्दुराव, देहली—६

[५] लोध को महीन पीसकर कान में डालने से कान का बहना बन्द हो जाता है।

[६] समुद्रफेन, सुपारी की राख, कत्था—इनको महीन पीस कागज की बत्ती बना कान में फूंक दें।

[७] मोर के पंजे को जलाकर कान में डालें।

—श्री रामभरोसे लाल धवाई
लवायन (जयपुर)

काली खांसी [Whooping Cough]

श्री द्वारिकादत्त मिश्र जी० ए० एम० एस०

आयुर्वेद विशेषज्ञों ने कास रोग को दोषानुसार 'वातज, पित्तज, कफज, क्षतज और क्षयज' पांच प्रकार का माना है। क्षतज वा क्षयज कास शोष रोग तथा रक्त-निष्ठीवन मे पाई जाती हैं।

प्राणोह्यु दानानुगत' प्रदुष्टः
सभिन्न कांस्य स्वर तुल्य घोष ।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो
मनीषिभिः कास इति प्रदिष्ट ॥

अर्थात्—प्राणवायु दुष्ट होकर मुख से बाहर निकले। उसका शब्द फूटे पात्र का सा हो उसे कास कहते हैं। फुफ्फुस वायु बाहर निकलती हुई अपने साथ वायु कोष्ठों व प्रणालियों मे जमा हुआ तरल कफ अथवा किसी द्रव पदार्थ को बाहर निकालने का यत्न करती है। वायु मार्ग को साफ करने के लिये यह एक परावर्तित क्रिया है, जिसमे वक्ष उदर मध्यस्थ पेशी, फेफडो की मांसपेशियां तथा फेफड़े काम करते हैं। कास श्वास संस्थान के भीतर की विकृति का सूचक है। प्राचीन ग्रन्थकारो ने इसे लक्षणानुसार व दोषानुसार विभाजित किया है। पाश्चात्य विद्वान इसे उत्पत्ति व स्थानानुसार विभाजित करते हैं।

खांसी को वास्तव मे एक लक्षण ही गिनना चाहिए। यदि आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार इसे यह कहा जाए कि यह फेफड़ों के भीतर के सदोष पदार्थ (बलगमादि) को निकालने के लिये एक क्रिया है तो अधिक ठीक होगा। आंग्ल भाषा में इस लक्षण का तुल्यार्थ शब्द कफ (*Cough*) मिलता है और खासने को कफिंग कहा जाता है। अतः खांसना तो नाना विध रोगों मे हो सकता है। समय समय के अनुसार रोगी के खासने से ही रोग का निर्णय बहुत हद तक हो जाता है। भिन्न भिन्न समयों की खांसी कौन कौन से रोग में होती हैं उसे अंकित करता हूँ। यथा—

१. प्रातः काल की खांसी—ब्रांकाइटिस तथा फुफ्फुसीय यक्ष्मा जिसमें कि कैविटी अर्थात् गर्त (रन्ध्रगार) भी होता है। इसमे रात भर को इकट्ठा हुआ थूक बाहर फेंका जाता है।

२. रात्रि को सोते समय की खांसी—गले की खराबी मे।

३. करवटे लेने पर—(रोगी अस्वस्थ पार्श्व पर लेटा हो) फुफ्फुस में गर्त क्योंकि कफ स्वस्थ श्वास मार्ग मे घूमता है।

४. स्वस्थ-पार्श्व पर लेटा हो—उरस्तोय व निमोनिया मे।

५. रोकी हुई खांसी—छाती की वेदनायुक्त दशाओ मे विशेषतया उरस्तोय मे।

६. खासी वमनयुक्त तथा दौरे के साथ -काली खांसी व गले की खराबी मे।

७. परिश्रम के बाद—दिल की कमजोरी व उसकी कार्य असमर्थता मे।

८. खाना खाते ही—बदहजमी व गर्भावस्था के शुरू मे।

९. हुत्थु की खांसी—सदोष विलायती घी के भक्षण से तथा तीक्ष्ण गैस मे खुले मुख सांस लेने से।

अब इनके बाद बच्चों मे ही खास कर होने के कारण यहां पर कास काली खासी के परिचयादि के साथ वर्ण एवं स्वानुभूत चिकित्सा लिखेंगे।

रोग परिचय-

यह श्वसन संस्थान के प्रत्येक सह विशेष संक्रामक व्याधि है। इस रोग मे आक्षेप के अन्त मे श्वास ग्रहण काल मे एक गम्भीर और बड़ी कुक्कुर ध्वनिवत् 'हूप' आवाज निकलती है।

कभी यह रोग जनपद-व्याधि बन जाती है। सामान्यत स्थानिक यत्र-तत्र उपस्थित। विशेषतः शीतकाल और वसन्तऋतु में प्रकोप होता है। अधिक से अधिक मार्च में एवं कम से कम सितम्बर मे।

सामान्यतः २ से ५ वर्ष की आयु वालो की सम्प्राप्ति-किन्तु सर्वांश मे यह नियम नहीं है। कभी कभी छोटे शिशुओ को भी। वृद्धो में सामान्यत. गम्भीर। वालिकाओं पर वालकों की अपेक्षा कुछ अधिक आक्रमण। इस रोग के साथ रोमान्तिका भी सामान्यतः उपस्थित। चेतनाधिक्य होता है, किंतु सर्वत्र नहीं।

कीटाणुजन्य विवेचना-कीटाणुओं का शोध १६०६ ई० मे बोर्ड और गेंगू ने किया है। कीटाणुओं को वेसिलस पर्टुसिस संज्ञा दी है। ये कीटाणु आवेग के अन्त में निकलने वाले चिपचिपे श्लेष्मा में से मिलते हैं। जीर्णावस्थामें ये कठिनाई से मिलते हैं या नहीं मिलते। सामान्यत. कुक्कुर कास के कारण रूप इन कीटाणुओ का स्वीकार हुआ है, तथापि संप्रमाण सिद्ध नहीं हुआ।

शारीरिक विकृति-विशेष परिवर्तन नहीं। अपूर्ण प्रांतक रोगियो मे शक्तिपात और वायुकोप प्रसारण प्रदेश और वृहद और मध्यम श्वास नलिका की ग्रन्थियों की वृद्धि प्रतीत होती है।

संक्रमण प्रकार—

कफ में से सीधा संक्रमण। कफ से छोटे परमाणु उड़ते हैं, वे चारों ओर फैलकर दूसरो को लग जाते हैं। बिल्ली और कुत्ते भी इन कीटाणुओ के वाहक बन जाते हैं।

सक्रामक स्थिति—

आक्रमण होने के पश्चात् ६ सप्ताह या आवेग के आक्रमण के बाद ४ सप्ताह। जब तक २ सप्ताह तक हूप का अभाव न हो जाय और जब तक दौरे का वेग बन्द नहीं होता, तब तक उससे संक्रमण हो सकता है। हूप की निवृति के पश्चात् जो कफ शेष रहता है वह आवेग उत्पन्न करने पर भी संक्रमणशील नहीं है।

प्रतिबन्ध—३ सप्ताह।

चयकाल—६ से १८ दिन।

कुक्कुर कास की अवस्थायें—

प्रसेकावस्था (*Catarrhal stage*)—गुप्त आक्रमण, मामूली वेचैनी से प्रारम्भ, प्रतिश्याय और कास ज्वर मन्द (१००° तक), कास विशेषतर आवेग सह रात्रि मे अधिक, श्वास ग्रहण में आक्षेप की वृद्धि। कास की कुछ आवृति के अन्त मे रोगदर्शक हूप आवाज।

आवेगावस्था (*Proxymal stage*)—पहले हूप से ही आरम्भ। प्रतिश्याय पहले से कम। ज्वर मन्द या अभाव।

कास का दौरा आदर्श क्रमानुसार-(१) वेग के अन्त मे दीर्घ श्वास ग्रह। (२) लघु निश्वास की आवृति (प्राय: १०-१२ निश्वास) उर पंजर आकर्षित भीतर वायु न रहना, दौरे मे श्वासावरोध होता है, तब मुख मण्डल रक्त। श्वास ग्रहण हूप ध्वनि सह। बचाक्लांत हो जाता है। बहुधा वेग के अंत में वमन हो जाती है यह रोग निर्णय कराती है। अनेक बार इसका चक्र धारावाहिक चलता है। आवेग के अन्त में थोड़ा सा लसदार श्लेष्मा निकलता है। एक दिन मे आवेग की सख्या ४० से अधिक हो जाती है, रात्रि को अधिक स्पष्ट। बालक आक्रमण आरम्भ होने के पहिले से जाग जाता है और उसे दवा देने का प्रयत्न करता है। पुन. भयभीत हो जाता है। कितनेक बच्चे सोये हो तो उठकर बैठ जाते है और अधिक कष्ट से बचने के लिये लकड़ी आदि जो कुछ समीप हो उसे पकड़ लेता है या माता के पास दौड़ जाता है। आक्रमण शमन होने पर थोड़े समय तक निद्रा आजाती है या बड़े बच्चे सिर दर्द की फरयाद करते है। दौरा के आगे या पीछे खूब छींकें आती है। मूत्र मे मूत्राम्ल बढ़ जाता है। बार बार रक्त संग्रह होते रहने से मुख



मण्डल स्फीत हो जाता है, नेत्रो पर शोथ भासता है जो प्राय. व्यथा की सूचना देता है।

कभी कभी जिह्वा के नीचे व्रण हो जाता है। दो निम्न मध्य कर्तनक दांत उत्क्षिप्त हो जाते है। ये कभी आवेगावस्था के पहले नहीं।

आवेग सामान्यत. स्वत सिद्ध, कमरे में वायु का रोध होने पर उग्रता धारण करता है। मन क्षुब्ध हो जाता है, किसी स्थिति मे चैन नहीं पड़ता शिशु मे हूप का सामान्यतः अभाव। आयु बड़ी हो तो नैमित्तिक हूप।

चिन्ह–

नाड़ी अति तेज। निश्वासज कास के समय ध्वनि अपूर्ण और परीक्षा करने पर फुफ्फुसतल पर कुछ अस्वाभाविक आवाज।

उपद्रव–

१—फुफ्फुस मे उपद्रव–श्वास प्रणालिका प्रदाह, फुफ्फुस प्रदाह, बालक दो आक्रमणो के बीच मे बीमार रहता है।

२—वमन वृद्धि–सामान्य वमन की अतिवृद्धि।

३—श्वासनलिका ग्रन्थियों की बार बार वृद्धि होती है।

४—आक्षेप–शिशुओं मे सामान्य, दृढ़ हो तो प्राय. घातक।

रोगस्थिति—

अति भिन्नतायुक्त। प्रसेकावस्था लगभग १ सप्ताह। सामान्यत ३ दिन से २ सप्ताह तक। आवेगावस्था ४ सप्ताह अधिक। सब मिलकर ६ से ८ सप्ताह तक किन्तु वढ़ भी जाता है।

साध्यासाध्यता—

बहुधा शुभफल। मृत्यु आयु भेद से नानाविध १ वर्ष के भीतर मे अधिक ३ वर्ष के भीतर सामान्य। ५ वर्ष से वड़ी आयु मे १ प्रतिशत से कम। वृद्धों के लिये गम्भीर। आक्षेप आने पर अधिक मृत्यु। श्वास प्रणालिका प्रदाह (डब्बा) होने पर अधिक मृत्यु।

चिकित्सोपयोगी सूचना–

आतुर को हवादार कमरे में रखे, जहां अधिक शीत या अधिक उष्णता न हो। प्रसेकावस्था और ज्वरावस्था में शय्या पर आराम करावे। गरम कपड़ा पहना कर छाती की रक्षा करें। आवेगावस्था में उदर पर पट्टी बांधे। ३-४ सप्ताह मकान मे रखे।

भोजन—दूध, फलो का रस या मांस रस थोड़ा थोड़ा देते रहे। भोजन आवेग की समाप्ति पर देवे। नीलगिरी तैल को वस्त्र पर छिड़के। नाक गले मे भी इसे छिड़के। छाती पर कपूर एव लाक्षादि तेल को गरम करके मालिश करे। बड़ी आयु वाले बच्चे को कपूर और एमोनियां मिली लिनिमेंट की मालिस लाभदायक होती है।

काली खांसी की अनुभूत चिकित्सा–

नाम रोगी—सुकुन तोला, ग्राम—होरो (सिंहभूमि) औरत। आयु ४० वर्ष की, रोग—काली खांसी। दिनांक १०-६-६१ को उपरोक्त रुग्णा राजकीय आ० चि० केन्द्र मे मेरे यहां चिकित्सार्थ आयी थी। इसे निम्नलिखित औषधियां दी। उक्त रुग्णा खासते खांसते वमन कर देती थी, आखें लाल-लाल, बोलने मे कष्ट और शीघ्र-शीघ्र आक्रमण, मुख से कफादि का निस्सार नहीं, अकबकाकर रोने लगती थी।

[१] चिकित्सा–प्रात सायं भार्ग्यादि लेह ४ माशे, प्रवाल भस्म २ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती, मधु के साथ चटाया। छाती पर—लाक्षादि तेल और कपूर की मालिश, सूंघने के लिये नीलगिरी तेल का प्रयोग कराया। रुग्णा एक सप्ताह के इलाज मे ठीक होगयी।

० भार्ग्यादिलेह का योग—भारङ्गी, मुनक्का (बीज रहित), कचूर, काकड़ासिंगी, पीपल, और सोंठ सभी का बराबर मात्रा मे चूर्ण कपड़छान बनालें और रखले। साथ ही मधुयष्टी (मुलैठी) का चूर्ण भी

कपड़छन करलें तीन हिस्सा ऊपर के चूर्ण में १२ हिस्सा मुलैठी चूर्ण मिलाकर रखले और व्यवहार करे। यह अपना अनुभूत योग है।

[२] प्रधान—कुमडीह (सिंहभूमि) उम्र १ वर्ष लड़का। रोग-हूपिंग कफ (काली खासी)—

इसे एक सप्ताह से पानी और दूध का नहीं पचना तथा अकवंकता आंख मुंह फाड़ना आदि भयानक उपद्रव थे। हमारे अस्पताल मे लाया। मैंने देखा उसका वेग एवं ज्वर देख बड़ी घबड़ाहट हुई-अवगत होता था कि यह नहीं बचेगा। उसे खासते खासते पाखाना पेशाब भी हो जाता था। इसे मैंने निम्नलिखित उपाय एवं दवा दी—

प्रात. सायं दोपहर-काकड़ासिंगी, पीपल, अतीस और नागरमोथा को बरावर बरावर चूर्ण कर कपड़छन किया और १-१ रत्ती की मात्रा मे दिया गया। व्यवहार विधि—माता के दूध या शहद से। छाती पर तारपीन के गुनगुने तैल की मालिश करवायी और तीन दिन मे ठीक पाया। एक सप्ताह तक दवा का सेवन किया। (हृदय को बचाकर) और एक विशेष क्रिया यह करवाते थे कि बच्चे की मां को आदेश दिया था कि बच्चे के गुदा मार्ग पर सरसों का तैल ३-४ बार लगवाया) शीघ्र ही शांत हो गया और चंगा होगया।

मेरे व्यवहार मे आये और शतशः अनुभूत बच्चों को काली खांसी की दवा में नीचे लिख देता हूँ। आप व्यवहार कर अवश्य लाभ उठावेंगे।

१. छोटी कटेली का पंचांग क्वाथ कर शहद मिलाकर पिलाने से तीव्रता नष्ट होती है।

२. कस्तूरी ½ रत्ती को शहद या दूध के साथ देने से काली खांसी शीघ्र ही शान्त हो जाती है।

३. कण्टकारी घृत, क्षुद्रामृतप्राश, बाल घोर कामदन चूर्ण का व्यवहार भी अतिलाभकर है।

४. प्रवाल पिष्टी अकेली या शृङ्ग भस्म के साथ देने पर आशाजनक कार्य करती है।

पथ्य—

अवस्थानुसार साबूदाना, वार्ली, अरारोट देते हैं। गरम पानी ठण्डा करके व्यवहार में लाते हैं। फल, दुग्ध आदि का व्यवहार भी कराते हैं।

काली खासी वालों को अवस्था देखकर सायं सोते समय मलाई मिश्री, और सुबह मक्खन मिश्री खिलाते हैं।

इस मण्डल मे मैं विशेष मासाहारियों को घोंघा (शम्बुक) मास का व्यवहार कराता हूँ।

—श्री द्वारिकादत्त मिश्र *G. A. M. S.*
"आनर्स" आयुर्वेदाचार्य (बी. एस. ए.)
राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्स केन्द्र
ओरेगा (सिंहभूमि)

कुक्कुर कास

प्राणाचार्य श्री पं० हर्षुल मिश्र B. A. (आनर्स)

कुक्कुर कास एक ऐसा वातज कास है, जो बच्चों को अधिक होता है। वातज कास के लक्षण ही इसमे प्रधान रूप से पाये जाते हैं और यह है भी वातज। वातज कास के लक्षण आयुर्वेद में संक्षेप में दिये गये हैं और आधुनिक वैद्यक पंडितों ने कुक्कुर कास, काली खासी, हूपिंग कफ (Whooping cough) के नाम से बच्चों को होने वाली विशेष रूप की खासी के रूप में इसका वर्णन किया है। परन्तु यह खांसी बच्चों को ही होती है, यह बात नहीं है। यह बालिगो (वयस्कों) को भी होती है, हां वयस्कों को यह अधिक कष्टप्रद तथा प्राणघातक नहीं होती जैसे छोटे बच्चों को होती है। छ वर्ष

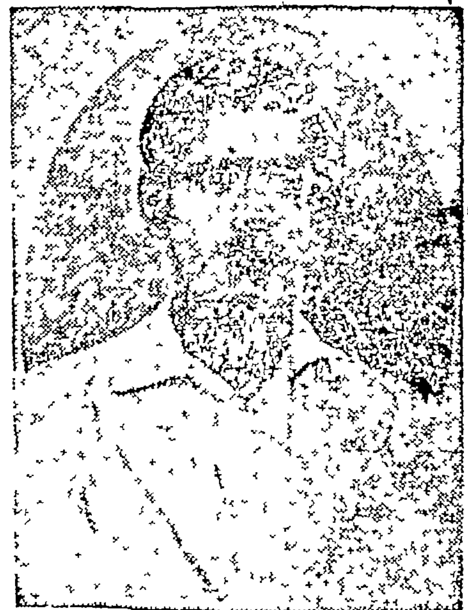


और ७ वर्ष तक के बच्चों पर इसका प्रभाव अत्यन्त कष्टदायक और कभी कभी प्राणघातक भी होता है। जितने बच्चे छोटे होंगे उतना ही यह रोग भयङ्कर रूप धारण करता है। बड़े बच्चों पर इस रोग का भयङ्कर अथवा घातक प्रभाव प्राय. नहीं पड़ता। बलवान बच्चों को यह कास यदि होता है और उनकी चिकित्सा समय पर ठीक ढङ्ग से हो जाती है तो शीघ्र आराम हो जाता है। अधिक से अधिक ४० दिन की इसकी अवधि रहती है। ४० दिन के बाद यह कुक्कुर कास रोग अपने आप शांत हो जाता है। इसे कुक्कुर कास इसलिये कहते हैं कि रोगी को सूखी खांसी आती है और उसके गले से कुत्ते की खांसी के समान "हौं हौं", वा "खों खो" की आवाज होती है। इसीसे इसको मराठी में डाग्या खोकला भी कहते हैं। विदेशी वैद्यक शास्त्र में इसे Whooping cough कहते हैं। विदेशी वैद्यक पंडितों का कहना है कि खांसते खासते रोगी के गले से 'हूप' शब्द निकलने लगता है इसलिये इसका नाम Whooping cough पड़ा है। कुछ भी हो यह बच्चों को होने वाला एक विशेष प्रकार का वातज कास है। अतः वातज कास का शास्त्रीय लक्षण सर्व प्रथम उद्धृत करना यहां उचित प्रतीत होता है।

हृच्छंख पार्श्वोदरमूर्धशूली
सामानन क्षीणवलस्वरौजा।
प्रसक्त वेगस्तु समीरणेन
भिन्नस्वर कासति शुष्कमेव॥

अर्थात्—वातज कास में हृदय, शङ्खप्रदेश, उदर, पसली और शिर में पीडा होती है। मुख प्रभा हीन हो जाता है। बल स्वर तथा ओज क्षीण हो जाते हैं। खासी सूखी और वेग से आती है।

उपर्युक्त लक्षण कुक्कुर कास से सामान्य रूप से मिलते हैं। बच्चों के शरीर धर्म के अनुसार प्रारम्भ में कुछ दिन तक थोडा ज्वर रहता है और बच्चा खांसते खांसते वमन कर देता है। अधिक देर तक खांसी चलते रहने से बच्चे की श्वास बढ़ जाती है। शरीर में आक्षेप आने लगते हैं। बच्चा आंख फेरता हुआ बेहोश हो जाता है। शरीर निर्बल होने पर कास का उत्तरोत्तर बढ़ते रहने पर ओज की कमी के कारण कुपित उर्ध्वगामी वायु के भयङ्कर दबाव से नाक, मुंह, कर्ण से रक्त बाहर आ जाता है। कभी कभी मस्तिष्क की आवरण-कला भी रक्त से भर जाती है जिससे बच्चा मूर्च्छा को प्राप्त हो जाता है और उसका जीवन संकट में पड़ जाता है। इसमें श्वसनक पीड़ा (निमोनियां) आदि होने की भी संभावना रहती है, परन्तु उपर्युक्त समस्त लक्षण उपद्रव मात्र हैं, सामान्य लक्षण नहीं हैं। सभी बच्चों के कुक्कुर कास में उपर्युक्त उपद्रव नहीं होते। उपर्युक्त उपद्रव प्रायः पांच प्रतिशत रोगियों में ही होते हैं। प्रारम्भ में प्रतिश्याय और ज्वर के साथ खांसी आना और खासते खांसते वमन हो जाना अथवा वमन करने के ढङ्ग से मुंह फाड़ देना और उसके बाद खांसी का बन्द हो जाना सभी कुक्कुर कास में उपर्युक्त वातज कास के लक्षणों के साथ सामान्य रूप से होता है। प्रतिश्याय, वमन, ज्वर आदि लक्षण ही बच्चों के वातज कास में विशेष रूप से





रहते हैं । प्रतिश्याय, वमन और ज्वर होने का कारण बच्चों के शरीर की कोमलता और अक्षमता है । उपद्रव भी इसी कारण होते हैं ।

कुक्कुर कास का विशेष वर्णन—

कुक्कुर कास, जिसे विदेशी वैद्यक विज्ञान में Whooping cough कहते हैं वास्तव में बच्चों में पाया जाने वाले वातज कास के रूप में एक संक्रामक रोग है । जहाँ घर के किसी एक बच्चे को यह रोग हुआ कि धीरे धीरे उस घर के सभी बच्चे कुक्कुर कास से पीड़ित हो जाते हैं । इस रोग से छोटे बच्चों की अपेक्षा छोटी बालिकायें अधिक पीड़ित होती हैं । पाश्चात्य वैद्यक इस रोग की उत्पत्ति विशेष प्रकार के रोगाणु से मानता है जिसे Pertussis कहते हैं । यह रोगाणु खांसते समय श्वास नली की वाष्प के साथ बाहर आकर समीप रहने वाले बच्चों में श्वसन क्रिया द्वारा तत्काल संक्रमण करते हैं । यह रोग प्रारम्भ होता है साधारण प्रतिश्याय और ज्वर के साथ धीरे धीरे खांसी बढ़ती है । ८ सप्ताह के अन्दर प्रतिश्याय और ज्वर तो शांत हो जाता है परन्तु खांसी उग्ररूप धारण करती जाती है । खांसी का वेग जोरदार और लम्बा होता है । जब खांसी का वेग आता है तब बच्चा घबड़ाकर मातापिता अथवा किसी भी ममतायुक्त व्यक्ति के पास सहारे के लिए दौड़ता है ।

यह पहले मामूली शुष्क कास के रूप में प्रगट होती है, परन्तु कुछ दिनों के बाद इसका रूप उग्र होने लगता है । इसके वेग (fits) आने लगते हैं । खांसी का वेग जब आता है तब बच्चा खांसते खांसते मुँह फाड़ देता है, मानो वमन करेगा और उसके हूँ हूँ शब्द के साथ बड़ी कठिनाई से सांस खींचकर कुछ स्वस्थ हो लेता है । बच्चा कुछ बड़ा होता है तो वह खांसते खांसते पेट पटकने लगता है, हाथ की मुट्ठियां बांध लेता है । खांसते खांसते बच्चे का खाया हुआ अन्न वमन द्वारा पेट से बाहर गिर जाता है । बच्चे का पेट खाली हो जाता है और वह इस प्रकार बार बार खांसी आने और वमन होने से भूखा बना रहता है । खाया हुआ अन्न हजम नहीं होता । उसकी दुर्बलता आहार की कमी से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । कास के वेग से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त भी हो जाता है । प्राय: खांसी का रोग भी होने लगता है । कास के वेग से कान के पर्दे फट जाने पर कान से खून निकलने लगता है । श्वसनक पीड़ा (Bronchitis) हो जाती है । बढ़ते बढ़ते फुफ्फुस प्रदाह (निमोनियां) हो जाता है । पाचन क्रिया बिगड़ जाने से पतले दस्त भी होने लगते हैं । आक्षेप (Convulsion) ज्वर आदि अनेक उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं । साधारण अवस्था में यह रोग कुछ दिनों में औषधि से अथवा अपने आप भी अच्छा हो जाता है । बढ़ने पर उचित चिकित्सा करने पर ६ सप्ताह में आराम हो जाता है । ६ सप्ताह तक इस रोग का संक्रमण काल रहता है । ६ सप्ताह के बाद इस रोग की संक्रमण शक्ति कम हो जाती है । रोग में आराम होने के १ माह बाद इस रोग के संक्रमण का कोई भय नहीं रह जाता ।

चिकित्सा

१. जब बच्चे को कुक्कुर कास का वेग प्रारंभ रहे तब उसकी पीठ को एक हाथ से और उसके मस्तक को दूसरे हाथ से सहारा देना चाहिये ।

२. यदि मुंह में कफ आ जाय अथवा वमन आ जाय तो उसे अपने मुंह से बाहर कर देना चाहिये ।

३. जब कुक्कुर कास का वेग शांत हो जाय तो दूसरे वेग के आने के पहिले बीच के समय में बच्चे की छाती को वारुणी, एरण्ड तेल, सरसों और नीलगिरी तेल के समान मिश्रण की मालिश छाती पर धीरे धीरे करनी चाहिये । इसी तेल मिश्रण को ५ से १० बूंद गरम पानी में डालकर बच्चे को चम्मच से धीरे धीरे पिलाना चाहिये ।

४. बड़े बच्चे को उचित मात्रा में विशुद्ध



एरण्ड तैल गरम मीठे दूध के साथ मिलाकर प्रति ४ दिन के अन्तर से पिलाना चाहिए। साल व दो साल के अन्दर के बच्चे को धीरे धीरे चाय के चम्मच से दो तीन चम्मच विशुद्ध एरण्ड तैल पिलाना चाहिये अथवा ४ रत्ती से आठ रत्ती तक सनाय का चूर्ण अथवा आधा तोला—एक तोला सनाय का गरम क्वाथ थोड़ा शहद मिलाकर प्रति ४ दिन के अन्तर से सेवन कराना चाहिये। अथवा अश्वकंचुकी $\frac{1}{4}$ रत्ती, $\frac{1}{2}$ रत्ती व १ रत्ती तक बच्चे के मृदु और क्रूर कोष्ठ के अनुसार प्रति ४ दिन के अन्तर से जीरे के चूर्ण और मधु के साथ चटाना चाहिए। जीरे के चूर्ण की मात्रा ४ रत्ती से ८ रत्ती तक पर्याप्त है।

५. बच्चे को ज्वर न रहने पर सहन करने योग्य गरमपानी में थोड़ा तारपीन का तैल मिलाकर और बच्चे के शरीर में सरसों तैल व एरण्ड तैल लगाकर नित्य सूर्य रश्मियों में बैठालकर स्नान कराना चाहिये। ज्वर रहने पर केवल तारपीन के तेल युक्त गरम पानी में भिगोकर निचोड़े हुए कपड़े से शरीर को नित्य मध्याह्न के समय पोंछना चाहिए। इस प्रकार के स्नान से बालक के शरीर का बल और ओज कम नहीं होता। इसका शरीर पर लाघवकर प्रभाव पड़ता है। रोग के वेग को शरीर सम्हालने में समर्थ बना रहता है।

६. यदि कफ संकोच और एंठन के साथ सूखा निकले तो बालक को सर्पगंधा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती और मुलैठी चूर्ण १ रत्ती से २ रत्ती, प्रवाल पंचामृत आधी से १ रत्ती शहद के साथ प्रति ४ घंटे के अन्तर से चटाना चाहिये। उपर्युक्त औषधियों को मिश्रण बनाकर भी २ रत्ती से ३ रत्ती की मात्रा में चटाया जा सकता है।

७ जब कुक्कुर कास के लम्बे वेग से खांसते खांसते बालक थक कर शिथिल होजाय, तो उसे तत्काल निम्नांकित द्रव्यों का निर्माण धीरे धीरे पिलाना चाहिये—

"उत्तम वारुणी या ब्रांडी १० से २० बूंद, अर्जुनत्वक् का नवनीत (शर्बत) आधा तोला जल २ तोला"। इस मिश्रण को यथाप्रसङ्ग बच्चों की इच्छा के अनुकूल चाय के गरम दूध में मिलाकर भी पिलाना चाहिए। इससे बच्चे की शिथिलता तत्काल दूर होती है।

८. जब बालक को कुक्कुर कास के वेग से बार बार वमन हो, तो ठोस अन्न अथवा देर से पचने वाला अन्न कदापि सेवन न कराया जाय। अंगूर की शक्कर अथवा ग्लूकोज १ तोला से २ तोला तक ५ तोला जल में घोलकर धीरे धीरे चम्मच से पिलाया जाय। पुराने चावलों का मण्ड, मुद्गयूष, साबूदाना का पतला यवागू, गोदुग्ध पथ्य रूप में दिया जाय।

९. कुक्कुर कास वाले बच्चे पर जलवायु के परिवर्तन का सुखावह प्रभाव पड़ता है। जिस जलवायु में रहते हुए बच्चा बीमार हुआ है उस जलवायु से हटाकर उत्तम जलवायु के प्रदेश में बच्चे को ले जाते ही वह अपने आप स्वास्थ्य लाभ करने लगता है। इसलिये औषधियां जहां तत्काल लाभ नहीं करती हों, वहां जलवायु का परिवर्तन आवश्यक है।

१०. जब बालक को कुक्कुर कास के साथ ज्वर, प्रतिश्याय, श्वसनक पीड़ा, फुफ्फुस प्रदाह (निमोनिया), अतिसार, श्वास आदि उपद्रव हों तो उस समय वही चिकित्सा करनी चाहिये, जो उपर्युक्त रोगों के लिये प्रयुक्त की जाती है। उपद्रव में केवल कुक्कुर कास की ही चिकित्सा पर्याप्त नहीं।

कुकुर कास पर अनुभूत योग—

(१) फूली हुई फिटकरी $\frac{1}{2}$ रत्ती, फुलाया हुआ सुहागा चूर्ण आधा रत्ती, बबूल का घृत या बच चूर्ण गोंद का चूर्ण १ रत्ती मधु के साथ प्रति ४ घंटे के अन्तर से चटाना चाहिए। बड़े बच्चों को इस योग की मात्रा दुगुनी देनी चाहिये। इस औषधि के प्रयोग से तीन दिन में ही कुक्कुर कास का वेग शिथिल हो जाता है। एक सप्ताह में खांसी मिट

जाती है। यह योग निमोनियां, प्रतिश्याय, श्वसनक पीड़ा में भी लाभप्रद है। इससे क्षयज कास को भी आशातीत लाभ होता है।

(२) परिस्रुत जल ५ तोला, पिपरमेंट मद्यसार १० बूंद, नीलगिरी मद्यसार १० बूंद, मुलैठी मद्यसार २० बूंद, विशुद्ध क्लोरोफार्म ५ बूंद समस्त मिश्रण की ८ मात्रा बनाये। १ वर्ष या २ वर्ष से कम उम्र के बच्चो के लिये १२ मात्रा बनायी जांय। १ मात्रा चाय के चम्मच से धीरे धीरे प्रति ४ घटे के अन्तर से दिन रात में ४ से ६ वार पिलाये।

इससे कुक्कुर कास, प्रतिश्याय का वेग उसी दिन से कम होने लगता है, जिस दिन से औषधि प्रारम्भ होती है।

(३) हर्पुल कासारुजा—काली मिट्टी का लवण १ तोले, पीली वा छुई मिट्टी का लवण १ तोला, नीलगिरी वृक्ष का गोंद १ तोला, बबूल का घृत पक्व गोंद १ तोला, सर्पगन्धा महीन चूर्ण १ तोला, भुनी हुई हल्दी २ तोला, सत्व मुलैठी २ तोला, अजामूत्र शोधित बहेड़े की पक्व की छाल का चूर्ण ४ तोला, प्रवाल पिष्टी चन्द्रपुटी १ तोला, मुक्तापिष्टी १ तोला, कटकारी क्षार १ तोला, कसौंधिका घन सत्व १ तोला, हिंगुल भस्म १ तोला।

समस्त औषधियो को कटकारी के स्वरस वा क्वाथ में ७२ घंटे लगातार मर्दन कर दो दो रत्ती की गोलियां बनाकर छाया में सुखाकर और शीशी मे भर कर सुरक्षित रखले। मात्रा १ गोली। अनुपान—मां का दूध, गरम जल अथवा मधु। समय—प्रति ४ घटे के अन्तर से दिन रात में ४ से ६ बार दे।

(४) हर्पुल कासहा—कंटकारी स्वरस २० तोला, कसौंधिका स्वरस २० तोला, मुलैठी क्वाथ २० तोला, पचकोल क्वाथ २० तोला, बांसा स्वरस २० तोला, अकरकरा का क्वाथ २० तोला, बहेड़े का स्वरस २० तोला, मिश्री १६० तोला।

विधि—समस्त द्रव्यो को कलई किये हुये बर्तन मे डालकर आग पर चढ़ा इतना पकावे कि यह शहद के समान गाढ़ा हो जाय। फिर उसे शीतल होने पर काच की चौड़े मुंह की बड़ी शीशी में भरकर उसमे १॥ माशा पीपरमेंट, मद्यसार १ तोला, इलायची मद्यसार १॥ माशा, दालचीनी मद्यसार १॥ माशा, लवङ्ग मद्यसार ४० बूंद, विशुद्ध क्लोरोफार्म (७॥ तोला से ५ तोला तक वारुणी वा ब्राण्डी वा अल्कोहल वा रैक्टीफाइड स्पिरिट) मिलादे और शीशी का मुंह मजबूत कार्क से बन्द करके सुरक्षित रखें।

अनुपान—उबाला हुआ निष्पोण निर्मल जल १ तोले से २ तोले। मात्रा एक से दो चम्मच भर। समय—दिन रात में रोग के वेगानुसार प्रति ४ घण्टे के अन्तर से तीन चार बार दें।

गुण—यह 'कासहा' मेरा अनुभूत और आशुगुणकारी प्रयोग है। यह 'कासहा' कुक्कुर कास, क्षयज कास, वातज कास, पित्तज कास, कफज कास आदि सभी कासों पर रामबाण है। इसका प्रयोग असफल कभी नहीं होता। रोगी को औपधि सेवन करते ही चैन पड़ जाता है। कासरुजा के समान यह भी तीन दिन मे कुक्कुर कास को शमन करने से समर्थ है। बच्चे इसे बड़े चाव से चाटते हैं। एक सप्ताह मे रोग पूरी तरह काबू मे आजाता है और एक पक्ष मे रोग का समूल नाश हो जाता है।

यह प्रतिश्याय (ब्रांकाइटिस) निमोनियां क्षयज कास, श्वास कास में आशु गुणकारी है। यह केवल बच्चो की ही खांसी मे नहीं प्रत्युत बड़ों की खांसी मे भी तत्काल लाभप्रद है।

—श्री प्राणाचार्य पं. हर्पुल मिश्र बी ए. (आनर्स) आयुर्वेदरत्न आयुर्वेदिक निरीक्षक छत्तीशगढ़ विभाग, रायपुर (म०प्र०)

काली खांसी

श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी आयुर्वेदमणि

यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है "लड़ाई की जड़ हांसी-रोग की जड़ खांसी" इसका अर्थ यह है कि हंसी-मजाक लड़ाई झगड़े की जड़ होती है और खांसी अनेक रोगों की जड़ होती है। खांसी बहुत बुरी चीज है। बहुत कष्ट देती है। खांसी से बहुत सावधान रहना चाहिए। आपको छोटे बच्चों की एक खास-खांसी के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाती हूँ। इस खांसी का नाम है "काली खांसी' इसे "कुकुर खांसी" और "हूपिंग कफ" भी कहते हैं। हूपिंग कफ यह अंग्रेजी नाम है। जब बच्चों को इस खांसी का दौरा होता है तो उनके गले से जैसे कुत्तों के गले से "हुपहुप" की आवाज निकलती है, वैसी ही आवाज निकलती है। इस लिए उस आवाज का अनुकरण करके डाक्टरों ने इस खांसी का नाम रखा "हूपिंग कफ" हूपिंग कफ का अनुवाद है कुकुर खांसी। लेकिन आमतौर पर इसे "काली खांसी" कहते हैं।

२ मास से लेकर १० वर्ष की आयु तक के बच्चों को "काली खांसी" होती देखी गई है। दूध पीने वाले बच्चों को जब यह खांसी होती है तो उसका कारण-गले में या श्वास लेने वाली नली में धुआं और धूल के कणों का जाना श्वास की नली में सर्दी लग जाने से सूजन आकर जलन पैदा हो जाना, खाया हुआ अन्न न पचने पर भी बराबर कुछ न कुछ खाते रहना, चाकलेट पिपरमेंट आदि बाजारू मिठाइयों को खाना और अनेक प्रकार की प्रकृति विरुद्ध वस्तुओं के खाने पीने से वायु और कफ का कुपित होना होता है। "काली खांसी" यह सक्रामक रोग है। सक्रामक रोग का अर्थ है, एक बच्चे से दूसरे बच्चे को काली खांसी का कष्ट हो जाना। इसका कारण यह है कि काली खांसी के रोगी के कफ में कुछ ऐसे विषैले कीटाणु होते हैं जो खाने पीने की चीजों के द्वारा समीप रहने वाले बच्चों के शरीर में प्रविष्ट होकर रोग को उत्पन्न करते हैं। इसलिए यदि घर के किसी एक बच्चे को काली खांसी हो गयी हो तो उसके समीप घर के किसी दूसरे स्वस्थ बच्चे को नहीं जाने दें।

मैं पहले बतला चुकी हूं कि काली खांसी की बीमारी बहुत दुःख देने वाली होती है। जब बच्चे को इस खांसी का दौरा होता है तो उसका श्वास रुक जाता है, खांसते खांसते मुख लाल हो जाता है, आंखों से आंसू निकलने लग जाते हैं, और कई बार कष्ट की अधिकता के कारण छोटे बच्चों का मल-मूत्र भी निकल जाता है। काली खांसी का यह दौरा १५ सेकंड से लेकर एक दो मिनिट तक रहता है। २ मास से ६ मास तक के दुर्बल बच्चों की "काली खांसी" के दौरे के समय मृत्यु तक होती देखी गई है। १ सप्ताह से ६ अथवा ८ सप्ताह तक यह रोग कष्ट देता है। उत्तम चिकित्सा से धीरे धीरे यह कष्ट दूर हो जाता है।

चिकित्सा—

१--बच्चों को धूल धूआं आंधी-पानी और सर्दी लगाने से बचाना। बच्चे को शुद्ध दूध और हवा मिल सके, ऐसी व्यवस्था करना।

२--५ तोला तारपीन के तेल में १ तोला पिसा हुआ कपूर डालकर कड़ी काग लगा कर शीशी को धूप में रख देना। कपूर गल जायगा। बच्चे के वक्षस्थल (सीने) पर और पार्श्व भाग में इस तैल की मालिस से कफ सरलता के साथ निकल जाता है और बच्चे को आराम मिलता है।

३--सरसों का तैल ५ तोला, पिसा हुआ लाहौरी नमक १ तोले किसी साफ कटोरी में डाल कर आग पर चढ़ाना। नमक के गल जाने पर तैल को छान

कर किसी शीशी में रखना। इसी शीशी को थोडा गरम करके बच्चे के सीने पर धीरे धीरे तैल मलने से बच्चे को आराम मिलता है और कफ आसानी से निकल जाता है।

४–५ तोला सफेद फिटकरी को पीस कर कोयले की तेज आंच वाली अंगीठी पर रखे हुए गर्म तवे पर डालना और फिटकरी का फूला बनाना। फूला बन जाने पर तवे को अंगीठी से उतारना और औषध को पीस छानकर साफ शीशी में रख लेना। प्रातः सायम् या दिन में ३ बार १ रत्ती से २ रत्ती तक इस औषध को शहद में मिला कर बच्चों को चटाने से "काली खासी" दूर होती है।

५-काकड़ासिंघी, पीपल, अतीस, नागरमोथा चारों चीजें एक एक तोला और कूट पीस तथा कपड़े से छान कर साफ शीशी में भर कर रखलें। १ रत्ती से २ रत्ती तक बालक की अवस्था के अनुसार माता के दूध या शहद के साथ इस औषध को प्रातः सायं देने से बच्चों की "काली-खांसी" ज्वर और बमन आदि कष्ट दूर होते हैं।

श्रीमती डा० इन्दरादेवी शास्त्रिणी, आयुर्वेदमणि
मुरलीधरबाग, हैदराबाद (आ. प्र.)

खांसी पर सफल प्रयोग

[१]

श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव

रोगी बच्चे से स्वस्थ बच्चे को मिलने न देवे। भोजन लघु और सुपाच्य देवे। स्वस्थ वायु और प्रकाशयुक्त कमरे में बच्चे को रखें। मलावरोध न होने दें।

(१) चन्द्रामृत रस २-२ रत्ती ३ माशे मधु से मिला चटाते रहे। १ दिन में ५-७ मात्रा दे सकते हैं।

(२) कासारि ६ माशे में लवंगादि चूर्ण १ माशे मधु ३ माशे मिला चटावें। यह १ मात्रा है।

(३) कासारि ३ माशे में अभ्रम भस्म शतपुटी १ रत्ती, सुहागा की खील १ रत्ती, मधु ३ माशे सब को मिला चटावे। यह १ मात्रा है।

(४) करंज को गरम कर चूर्ण करे, २-२ रत्ती ३ माशे मधु में मिला चटावे। यदि चाहे तो कासारि ३ माशे मिला लेवे। यह १ मात्रा है।

(५) डेनगाइन [डीशैन] का प्रयोग करे।

(६) सितोपलादि १ माशे काकड़ासिंगी चूर्ण १ माशे, अभ्रक भस्म २ रत्ती, मधु ३ माशे में मिला कर दे। बांसारिष्ट ३ माशे, कासारि ३ माशे भी मिला सकते हैं।

(७) ६६३ की वटी २ रत्ती, सितोपलादि ४ रत्ती उष्ण जल से दे। निमोनियां शमन हो जावेगा कुक्कुर कास न शमन होने पर निमोनियां अवश्य हो जाता है। यह ध्यान रखे।

ये प्रयोग खाली नहीं जाते। अनुभूत है।

—श्री जगदम्बाप्रसाद
महदेवा, पो० अरौल [कानपुर]

[२]

श्री कमलेश्वर वशिष्ट

आयुर्वेद की निम्न वटी इस कास में उपयोगी पाई गई हैं—

यथा—मरिचादि वटी, खदिरादि, लवंगादि वटी, कस्तूरी वटी और व्योषादि वटी और सम-शर्कर चूर्ण का प्रयोग भी लाभप्रद देखा गया है।

निम्न वटी भी कुकर कास में अत्यन्त लाभ-



कारी है—

लौंग ३ माशे, पीपल २ तोले, काकड़ासिंगी ½ तोले, मिश्री समभाग।

विधि—सबको कपड़छन्न कर कटसरैया (पीत-बांसा) रस की सात भावना देकर गोली बनाके इसका सेवन करने से कुकर कास समूल नष्ट होती है।

निम्न प्रयोग भी इसमें लाभप्रद देखे गये हैं—

[१] तुलसीपत्र १० नग, कालीमिर्च ४ नग, पसर कटेली (छोटी कटेली) ६ माशे, कटसरैया (पीतब्रम्हा) पत्र ५ नग लेकर काथ करे। फिर मिश्री मिलाकर सेवन करने से लाभ होता है।

मात्रा—बच्चों को २ चम्मच और बड़ों को २ छटांक।

[२] कटसरैया पत्र १० नग, अनार का छिलका २ माशे, समुद्र लवण ६ माशे, हल्दी पर बाजरे के दाने ३० नग का क्वाथ बनाकर पीने से कास ३ दिन में नष्ट हो जाती है। उपर्युक्त द्रव्य १ पाव पानी में डालकर पकावे। आधा शेष रहने पर छान कर प्रयोग करें।

मात्रा—बच्चों को २ चम्मच और बड़ों को २ छटांक दिन में २ बार।

[३] गुडूची, नागरमोथा, काकड़ासिंगी, सोंठ, पीपल, जंवासा, कटसरैया समान भाग लेकर काथ बनावे अथवा इन द्रव्यों का चूर्ण कर मिश्री, शहद मिला अवलेह के समान चाटे।

मात्रा—काथ की २ चम्मच अवलेह बड़ों को १ माशे अवलेह चटाने के बाद थोड़ा गरम जल पी लेवे। अत्यन्त अनुभूत है।

[४] कस्तूरी वटी २ गोली, शृङ्गभस्म २ चावल, सितोपलादि २ रत्ती को शहद मिलाकर चटाने से भी पूर्ण लाभ होता है।

[५] काकड़ासिंगी चूर्ण २ रत्ती, दाड़िमत्वक चूर्ण ६ रत्ती, मिश्री और मधु मिलाकर सेवन करावें। बड़ों को इससे चौगुनी मात्रा दें।

[६] निम्न अवलेह भी इसमें लाभ करता है—

काले तिल, रुब्बेसूस, पिस्ता, शक्कर तिगार, बादाम गिरी, काकड़ासिंगी, खसखस प्रत्येक १-१ तोले मिश्री १० तोले।

निर्माण विधि—सब औषधियों को कपड़छन करके मिश्री की चाशनी कर उसमें मिला देवें।

मात्रा—३ से ६ माशे, जिस समय खांसी का वेग हो उस समय गरम दूध के साथ देवे।

[७] पीतबांसा पत्र को पान के समान मुंह में मुलहठी २ नग डालकर चबाने से भी कास नष्ट हो जाता है।

पीतबासा पत्र और अनार का छिलका तथा नमक को भी मुंह में रखने से कास नष्ट होती है।

[८] निम्न शर्बत भी कूकर कास (Whooping cough) में लाभकारी है—

कटसरैया (पीतबासा-पियाबासा) पत्र १ पाव, काकड़ासिंगी ४॥ तोले, दाड़िमत्वक (अनार का छिलका) १॥ छटाक, पीपल १ छटांक, नागरमोथा १ छटांक, सोंठ या अद्रक ½ छटाक, हरी गिलोय १ छटांक, छोटी कटेरी १ छटाक।

निर्माण विधि—सबको लेकर ५ सेर जल में पकावे। जब पकते पकते आधा रह जावे तब १ सेर चीनी डालकर चाशनी बनावे। जब एक तार की चाशनी हो जावे तब उतार ले और अगर पसंद हो तो उसमें कोई खुशबू भी डाल सकते हैं।

मात्रा—बच्चों को १ तोला, बड़ों को २ से ५ तोला तक। यह शर्बत कूकर कास में शीघ्र लाभ करता है।

—श्री वैद्य कमलेश्वर वशिष्ठ
चौक बाजार, रेवाड़ी।

बाल कास पर सफल प्रयोग

१—तम्बाखू के पत्तों की नशे (पत्तों तथा शाखा न लें) २० तोले को मिट्टी पात्र से कपड़छन कर अन्तर्धूम जला देवें या खुला जलावे। निर्धूम अग्नि होने पर ढक देवे जिससे अग्नि बुझ कर कोयले हो जावें।

इसमें २० तोला सेंधा नमक मिलाकर बारीक पीस कर कडी डाट की शीशी में रख देवे।

मात्रा—१ से २ रत्ती तक दिन में ३ समय दे।

अनुपान—ज्वर श्वास अतिसार या सामान्य कास में अजमाइन १-२ रत्ती, बंगलापान १ पका हुआ का रस २-३ माशे जल मिलाकर गरम कर पिलावे। दिन भर में ३-४ मात्रा देवे।

२—बंगला पान १ छोटी इलायची छिलका सहित जल से पीस कर १ से ३ रत्ती दवा मिलावें। जरा गर्म कर दिन भर में ३-४ मात्रा देवें।

योग रसतंत्रसार का है तथा स्वानुभूत है।

श्री रामफल मिश्र आयु० विशारद
खलारी भीमखोल (रायपुर)

३—यह गुप्तसिद्ध प्रयोगांक प्रथम भाग(धन्वन्तरि में २६ पृष्ठ पर राजन्य श्री महाराज दीन सिंह जी वैद्य शास्त्री द्वारा) प्रकाशित हुआ है। यह चमत्कारी लाभदायक है परन्तु हमारी निम्नलिखित प्रयोग विधि विशेष लाभदायक है। सर्व प्रथम बालश्वान कासी को अवस्थानुसार ४ रत्ती से १५ रत्ती तक मदनफल चूर्ण द्वारा वमन करादे पुनः कासारि मधु दिन में ३-४ बार दे। प्रति तीसरे दिन मैग्नेशिया द्वारा उदर शुद्धि कराते रहे लाभ प्रथम दिवस ही प्रतीत होगा। लगभग १०-१२ दिवस में पूर्ण लाभ हो जाता है।

कासारि मधु निर्माण विधि—

बांसा के पीले ताजे पत्र लेकर साफ कर वारुणी यंत्र में तहे लगा कर केवल पत्र ही इतने भरदें कि यंत्र कुछ ही खाली रह जाय। मंदाग्नि द्वारा निर्मल पत्र वाष्प परिश्रुत करले। पुनः इस परिश्रुत अर्क के बराबर शुद्ध मधु मिला कर रखले। यही "कासारि मधु" है।

नोट—अग्नि अवश्य ही मंद रहनी चाहिए अन्यथा अर्क में तीव्रगंध व स्वाद में कटुता आ जाती है जो पीने में कठिनाई पैदा करती है।

—आयुर्वेदाचार्य श्री पं० कृष्णदेव शर्मा शास्त्री
सचालक—श्री कृष्ण आयुर्वेद भवन
सीकरी (भरतपुर)

४—काला नमक १ छटांक कूटकर चीनी अथवा कांच के बरतन मे डाल ले। उसके बाद आक(मदार) के दूध की एक भावना दें। शराव सम्पुट में रख कर ५ सेर उपलों की अग्नि दे। शीतल होने पर उसे निकाल कूट कपड़छन कर शीशी में भर ले।

मात्रा—१ वर्ष के बच्चों के लिए मधु (शुद्ध) के साथ दिन में एक मात्रा (खूराक) और रात मे दो मात्रा एक एक रत्ती की दे।

उपयोग—काली खांसी (शुष्क कास) एक सप्ताह के सेवन करने से समूल नष्ट हो जाती है।

५—अतीस का चूर्ण एव मुलहठी(मुलेठी)का चूर्ण बराबर मात्रा में और दोनों का आधा भाग मिश्री का चूर्ण मिलाकर १ रत्ती से १ मास तक की मात्रा में शहद के साथ चटावे तो पुरानी खांसी जिसमे बालक खासते खासते वमन कर दे ठीक होती है।

—श्री शारदाप्रसाद विशारद
सलेथू (रायबरेली)

६—काली मिर्च, कासनी, मुलहठी, सौंफ प्रत्येक २-२ माशे को २॥ तोला जल मे पीस एक तोले लोहे को गर्म करके बुझाव दे ले। फिर छान कर १ मासा मधु मिला कर नित्य प्रातःकाल केवल १ मात्रा दे दिया करे। कुकुर कास मे तो लाभ करती ही है साथ ही अन्य कासों मे भी लाभप्रद है।

—श्री अमरनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य
चमरौआ (रामपुर)

कृमि रोग

कविराज श्री लाला बदरीनारायण सेन जी.ए.एम.एस.

कविराज जी ने यह लेख पुरुष्कार योजनान्तर्गत भेजा था लेख अत्युत्तम एवं पुरुष्कार प्राप्त करने के लिए सर्वथा उपयुक्त था लेकिन अधिक विस्तृत होने के कारण साधारण अंक में प्रकाशित करना कठिन प्रतीत हुआ और कविराज जी की स्वीकृति लेकर इस विशेषांक में प्रकाशित कर रहे हैं। —सम्पादक

वर्तमान आयुर्वेद ग्रन्थो मे इस सम्बन्ध जो कुछ लिखा मिलता है उससे ऐसा भान होता है कि ये तद्‌विषयक किसी सम्पूर्ण एवं विषद बर्णन के भग्नावशेष हैं। चूंकि इस सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा मिलता है उन सभी का भी पूर्ण वर्णन नहीं मिलता। जैसे कृमियों के भिन्न भिन्न नामों का वर्णन है मगर सिवाय उनके एक सामान्य आकार तथा उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य लक्षण के यह नहीं मिलता कि कौनसा विशिष्ट कृमि किस विशिष्ट आकार, वर्ण एवं रूप का है और कौन-कौन से विशिष्ट लक्षण उत्पन्न करता है। जैसे—

कफादामाशयो जाता वृद्धा सपन्ति सर्वतः।
... ... पीनसान ॥७—१०॥
—कृमिनिदान माधवनिदान

इसमे विभिन्न आकार एवं वर्णन रूपादि का वर्णन है, विभिन्न नामों का उल्लेख है तथा इनसे उत्पन्न कुछ एक लक्षणों का उल्लेख तो है मगर यह नहीं बताया गया कि आन्त्रदा कैसे आकार, वर्ण एवं रूप विशेष का होता है और कौन से विशिष्ट लक्षण या लक्षणों को उत्पन्न करता है और हृदयादा कैसा होता है और कौन कौन से विशिष्ट लक्षणों को उत्पन्न करता है।

यह मानी हुई बात है बल्कि साधारण तर्क भी यही है कि जब तक इन सबों के आकार वर्ण एवं रूप आदि मे भेद नहीं होता तब तक ये विभिन्न नाम नहीं होते। इन विभिन्न नामों का उल्लेख एवं कृमियों के वर्गीकरण से ही यह सिद्ध होता है कि हर एक के आकार वर्ण रूप आदि से तथा उनसे उत्पन्न होने वाले लक्षणों का पूर्ण ज्ञान था—अन्यथा न तो विभिन्न नामों ही का उल्लेख होता और न उनका वर्गीकरण करना ही संभव था। इससे यह मालूम पड़ता है कि किसी समय में इस विषय के पूर्ण ज्ञान का वर्णन मिलता था मगर समय के फेर से आज इतना ही प्राप्त है।

इस सम्बन्ध मे आयुर्वेद मे जो कुछ इस समय हमे मिल रहा है उसका साराश निम्नलिखित है।

१. कृमि दो वर्ग के है—एक बाह्य दूसरा अभ्यन्तर। बाह्य वह है जो शरीर पर ही बाहर की ओर उत्पन्न हों और बाहर ही रहकर कष्टकर लक्षणों को उत्पन्न करें।

कृमियश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदत.।

२. बाह्य कृमि भी दो प्रकार के है, कोई बहुपाद है कोई सूक्ष्म है, ये कोठ पिडिका कण्डू आदि रोगों या लक्षणों को उत्पन्न करते है। ये बाह्य मल से होते हैं।

.. .. ''बाह्यास्तत्र मलोद्भवा'।
तिलप्रमाण संस्थान वर्णा. केशाम्बराश्रया. ॥ २ ॥
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका. लिक्षा' नामतः।
द्विधा ते कोठ पिडिका कण्डूगदान प्रकुर्वते ॥ ३ ॥
—माधव निदान. कृमिरोग

३. जन्म भेद से इनके चार भेद है, बाह्य कफज, रक्तज एवं पुरीषज।

बहिर्मल, कफासृग्विड् जन्म भेदाच्चतुर्विधा ॥ १ ॥
—माधव

४. इनके उपभेद २० है।

नामतो विंशति विधा ... ॥
दो बाह्य—बाह्यमलोद्भवा द्विधा

७ कफज—कफदा आमाशये जाता,नमतः सप्तधातुते।
६ रक्तज—रक्तवाहि-सिरा-स्थान रक्तजा पष्टते
कष्टकर्म्माणि. ॥

५ पुरीषज—पक्वाशय पुरीषोत्था ते पञ्च नाम्ना कृमयः

५. कफज कृमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं बढ़ते हैं या वृद्धि प्राप्त करते हैं और शरीर के तमाम याने हर सम्भव भागों में पहुंचने वाले होते हैं। इनमें कोई मोटा,कोई चर्म्मलता (व्रघ्न),कोई भूनाग, कोई एक पर एक चढ़े धान्यांकुर सा, कोई पतला, कोई बहुत लम्बा तथा कोई अणु जैसा होता है। इसमें कोई श्वेत, कोई ताम्रवर्ण का होता है।

कफादामाशये जाता ……ताम्रावभासाश्च।

६. कफज कृमि सात प्रकार के हैं। उनके नाम है—१. आन्त्रदा, २. उदरावेष्टा, ३. हृदयादा, ४. महागुदा, ५. चुरवो, ६.दर्भ कुसुमो तथा ७. सुगन्धा।

७. ये हृल्लास, मुंह में पानी आना याने थुक-थुकी, अविपाक, अरुचि, मूर्च्छा, छर्दि, ज्वर, आनाह, कार्श्य, क्षवथु एवं पीनस उत्पन्न करते हैं।

८ रक्तज कृमि रक्तवह स्थान या सिरास्थान में रहते हैं और ये अत्यन्त छोटे अणु परमाणु, अपाद, गोल, ताम्रवर्ण और कोई स्थूल नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ने वाले होते हैं।

रक्तवाहिसिरा स्थान ……अदर्शना॥११॥ माधव॥

९. रक्तज ६ प्रकार के हैं उनके नाम हैं—१ केशादा, २. रोमविध्वंसा, ३. रोमद्विपा, ४. उदुम्बरा, ५. सहसौरस, तथा ७. मातरः।

१०. रक्तज कृमि कुष्ठ जैसा लक्षण उत्पन्न करते है।

११. पुरीष कृमि पक्वाशय में होते हैं और अधः गति वाले होते हैं याने नीचे मलद्वार की ओर गति करने वाले होते हैं। मगर अधिक बढ़ने पर ये ऊपर की ओर याने आमाशय की ओर भी गति करते हैं। ये मोटे गोल, पतले, बड़े श्याम वर्ण, पीत या श्वेत वर्ण के होते हैं।

पक्वाशये पुरीषथा ‘ सिता ॥१३-१४॥ माधव॥

१२. पुरीषज कृमि पाच प्रकार के होते हैं उनके नाम हैं १. सौसुराद, २. सशूला, ३. लेलिहा, ४. ककेरुक, ५. सकेरुक।

१३. ये कृमि विड्भेद, शूल, विष्टम्भ, कृशता, पारुष्य, पाण्डु, रोमहर्ष, अग्निमांद्य, गुदकण्डू और गुदा के बाहर अन्य मार्गों जैसे योनि मार्ग प्रभृति की ओर गमन करने वाले होते हैं।

वर्तमान आयुर्वेद ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त कृमिजन्य हृदय रोग एवं कृमिजन्य शिरोरोग का उल्लेख भी मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई स्पष्ट लेख नहीं मिलता कि कौनसा कृमि किस आकार एवं वर्ण का है या कौन सा कृमि विशिष्ट प्रकार के लक्षणों को उत्पन्न करता है। मगर उक्त वर्णन ही इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि इन बातों का ज्ञान आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में अवश्य रहा होगा जो आज समय के फेर से नहीं रह गये हैं।

नवीन विज्ञान ने भी कृमि को दो वर्गों में रखा है एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य के पुन. दो भेद हैं एक को *Pediculi* एवं दूसरे को *Acari* कहते हैं। आभ्यन्तर के पुन. तीन भेद हैं—१. नेमाटोड्स(*Nematodes*) २. ट्रेमाटोड्स(*Trematodes*) ३. सेसटोड्स (*Cestodes*)। इन सबों के भी उपभेद हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। आयुर्वेद एवं नवीन विज्ञान के वर्णन में यहां पर इतना ही भेद है कि आयुर्वेद ने इनका भेद जन्म एवं स्थान के अनुसार किया है और नवीन विज्ञान ने इनके आकार के अनुसार इसका भेद किया है। आयुर्वेद ने जन्म एवं स्थान भेद से आभ्यन्तर कृमियों के ३ भेद किये हैं और नवीन ने आकार भेद से जिनका वर्णन आगे किया जायगा। दोनों की कुल संख्याओं में भी कुछ अन्तर है। आयुर्वेद के अनुसार इनकी कुल संख्या २० है मगर नवीन विज्ञान ने ऐसी कोई संख्या निर्धारित नहीं की है



मगर रोगी को भूख अत्यन्त तीव्र होती है और भोजन से उसे तृप्ति नहीं होती। बार बार और बहुत बहुत भोजन करता है। यह कृमि अपने मल-मूत्रादि से एक प्रकार का विष उत्पन्न करता रहता है। इस विष के कारण प्राणी मे भयानक रूप के नाड़ी विकार (Nervous disorders) होते है। इसका रोगी अत्यन्त भीरु प्रकृति का एवं मानस विकारयुक्त होता है। स्त्रियों में तो यह बहुधा योषापस्मार, उन्मादवत् लक्षणों को लाता है। बालकों मे अधिकतर आक्षेप (Convulsion) लाता है।

(२) इसका भ्रूण बहुधा यकृत, हृदय, मस्तिष्क, सुष्म्ना एवं अन्य पेशियों मे अटक जाता है जिससे वहां पर छाले (cyst) पड़ जाते है। इससे स्थानीय अवयवों के कार्य मे बाधा पहुँचती है और उन अवयवों की अस्वस्थता के लक्षण उत्पन्न होते है। प्रथम यानी जिस समय ये भ्रूण उसमे क्षत कर अटकते है उस समय वहा के यह तीव्र लक्षणों को प्रगट करता है जैसे वहां की पीड़ा आदि। इसके बाद जब छाले का निर्माण हो जाता है तब यह उस स्थान के जीर्ण लक्षणों को उत्पन्न करता है मस्तिष्क या सुष्म्ना मे होकर तो यह उन्मादवत् लक्षण प्रगट करता है। बालकों में आक्षेप, मन्दबुद्धि आदि लाता है। हृदय एवं यकृत में होकर हृद्रोग एवं यकृत दोनों के लक्षण उत्पन्न करता है। साधारण मासपेशियों में होकर कोई विशेष कष्टकर लक्षण उत्पन्न नहीं करता।

चिकित्सा—

प्रथम दो दिनों तक रोगी को लघु या तरल आहार पर रखे। सम्भव हो तो केवल बार्ली या यवागू पर रखे। दूसरे दिन सायंकाल एरण्ड तेल का रेचन दे। तीसरे दिन प्रातःकाल लवणीय विरेचन दें और इसके बाद निम्नलिखित क्वाथ हर ३-३ घण्टे पर दें।

अनार की जड़ (मिट्टी के नीचे का) छिलका २ छटांक, पानी १ सेर मिलाकर औटावे। जब ३ छटांक पानी शेष रहे उतार कर छान लें। इसमे ३ मात्रायें बनायें। १-१ मात्रा हर ३-३ घण्टे पर दें।

इस तीन मात्रा क्वाथ को दे सायंकाल फिर विरेचन दे। लवणीय विरेचन अच्छा होता है। लवणीय विरेचन मे मैगसल्फ ½-१ औंस तक १ गिलास पानी में घोलकर पिलाना अच्छा है। इससे १ घण्टे में दस्त आ जाते हैं और ३-४ दस्त ही होते हैं।

चौथे दिन से सुबह, दोपहर, शाम अजाज्यादि वटी पानी के साथ एक सप्ताह तक खायें। एक सप्ताह इसे खाने के बाद फिर उपरोक्त विधि की क्रिया करें। इस प्रकार लगातार ४-५ बार इस क्रम से क्रिया करने पर यह समूल नष्ट होता है। यह अनुभूत योग है।

यदि अनार की जड़ नहीं मिले तो इसके स्थान पर पेलीटाइरिन टैनेट (Pelletierine tannate) नामक दवा को ८-१० ग्रेन प्रति मात्रा के हिसाब से दो बार दें। एक मात्रा देने के एक घंटे बाद ही लवणीय रेचन दें। रेचन बन्द होने पर फिर इसकी दूसरी मात्रा दे और एक घंटे बाद फिर लवणीय रेचन दें। फिर चौथे दिन से अजाज्यादि वटी का प्रयोग करें। यह औषध अनार की जड़ के छिलके से ही बनती है। दोनों एक ही वस्तु हैं, यह तमाम ऐलोपैथिक औषधालयो मे मिलता है।

अनार की जड़ के क्वाथ या पेलीटाइरीन टैनेट के प्रयोग से पेट मे मरोड़ या उदरशूल होता है। अतः मात्रा को अनुकूल रूप से ठीक करना चाहिए और घबड़ाना नहीं चाहिये।

लवणीय रेचन—

सैंधव लवण, सामुद्र लवण, सांभर लवण, सौवर्चल लवण, बिड् लवण, अपामार्ग क्षार, पुनर्नवा क्षार, यवक्षार, स्वर्जीक्षार।

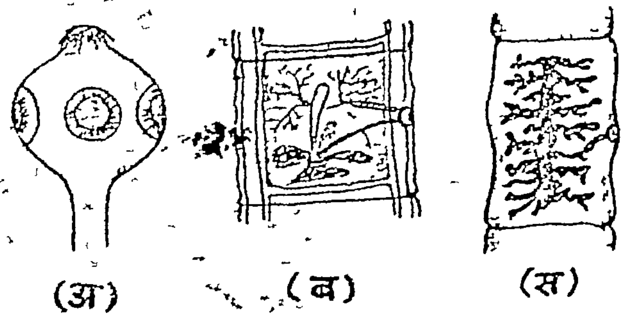
सभी यानी प्रत्येक १-१ आना भर (१/१६ तोले) लेकर एक ग्लास पानी मे घोल दे और पी जायें।



इसमे भी रेचन होता है। मगर मैगसल्फ की तरह इसकी निश्चित क्रिया नहीं। किसी में होता है, किसी मे नहीं। लेकिन लेखक पहले इसीका व्यवहार करता है।

टीनिया सेगमेटा (Taenia Segmeta)—

यह भी टीनिया सौलियम ऐसा ही होता है। मगर यह अधिक लम्बा होता है—१५ से २० फुट तक। इसमें अंकुश शृङ्ग नहीं होते हैं। इसके शरीर के वयस्क गांठ १७-१८ मिलीमीटर लम्बे और ८-१० मिलीमीटर चौड़े होते हैं। इसके अन्डे भी बड़े होते हैं।



चित्र नं० ६९

टीनिया मैजिनाटा (अ) सिर (ब) (स) प्रजनन संस्थान

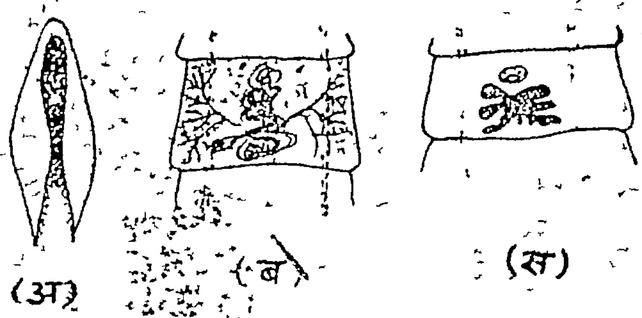
इसका विकास एवं इससे उत्पन्न लक्षण एवं इसकी चिकित्सा सभी वही होती है जो टीनिया सौलियम के होते हैं।

यह अधिकतर गाय, बैल, भैंस, भेड़ एवं बकरी में होता है।

डिवोथ्रायोसेफालस (Dibothriocephalus)—

यह भी टीनिया सौलियम जैसा ही होता है। मगर यह टीनिया सेगमेटा से भी बड़ा होता है। यह २५-३० फुट लम्बा होता है। इसके सिर मे बजाय चार मुख के दो ही मुख होते हैं। इसमे भी अंकुश शृंग नहीं होते हैं। इसके शरीर के गांठ एवं अन्डे सभी टीनिया सेगमेटा से भी बड़े होते हैं। यह समुद्री मछलियों मे होता है।

इसका विकास एवं इससे उत्पन्न लक्षण और



चित्र नं० ७०

डिवोथ्रायो सेफालस (अ) सिर (ब) (स) प्रजनन संस्थान

इसकी चिकित्सा सभी टीनिया सौलियम जैसे ही होते है। इसके अन्डे से उत्पन्न छाले (cyst) भी बड़े होते है।

यह बड़ी मछलियों में होता है और उनके मांस मे इसके छाले होते हैं।

टीनिया ऐकनीकोकस (Taenia Echinococus)—

यद्यपि कि यह भी टीनिया सौलियम की जाति का ही है मगर यह बहुत छोटे आकार का होता है। इसका वयस्क कृमि ४-५ मिलीमीटर ही लम्बा होता है। इसके गांठ भी एकदम छोटे लगभग पौन मिलीमीटर लम्बे होते हैं। इसके अन्तिम गांठ ही वयस्क होते हैं और उसी एक मे अन्डे होते हैं। इस अन्तिम गाठ की लम्बाई सबसे बड़ी होती है और लगभग २ मिलीमीटर लम्बे और आधा मिलीमीटर चौड़े होते हैं। इसका सिर बहुत छोटा एवं चार मुख वाला टीनिया सौलियम की ही तरह होता है। इसमे अंकुश शृङ्गों की दो पक्तियां होती हैं। इसका विकास एवं वृद्धि सभी टीनिया सौलियम की ही तरह होता है। इसकी इस एक ही गांठ यानी अन्तिम गाठ मे लगभग ५००० अन्डे होते हैं। ये अन्डे टीनिया सौलियम की तरह आमाशय मे जा फूटते हैं और वहां से रक्त द्वारा सारे शरीर में पहुंच छाले का निर्माण करते हैं। यह कृमि कुत्तों मे विशेष रूप से होता है और इसके अन्डों का विकास गाय, बैल, भैंस एवं शूकरों मे विशिष्ट रूप से होता है। यह भेड़ या घोडे मे नहीं के बरा-



फुफ्फुस या फुफ्फुस धराकोप मे ३ प्रति०
अन्य स्थानों मे ८ प्रति०

इस प्रकार हम यह पाते हैं कि यकृत, मस्तिष्क एवं हृदय इसके सर्वाधिक अनुकूल स्थान हैं।

अर्बुद में होने वाले परिवर्त्तन—

इस कृमि भ्रूण से उत्पन्न होने वाले फफोलों में जो परिवर्त्तन स्वतः आते है उन्हे हम तीन वर्ग मे रख सकते हैं—

१. आकार वृद्धि २. फूटना ३. पूय का होना

आकारवृद्धि पहले लिखा जा चुका है कि ये फफोले धीरे धीरे विकास पाने वाले होते हैं। जैसे जैसे इनके भीतर द्वितीय तृतीय जातीय फफोलों का विकास होता है वैसे वैसे इनका आकार बढ़ता जाता है। इनका आकार इतना अधिक बढ़ जाता है कि ये एक मझोले आलू के आकार तक के हो जाया करते हैं। इस आकार वृद्धि का परिणाम यह होता है कि जिस अवयव में ये होते हैं उसका आकार बढ़ा देते है, उस पर दवाव डाले रहते हैं जिससे उस अवयव की अपनी क्रिया तो बाधित होती ही है समीपस्थ अवयव भी इसके दवाव से दबे रहते है, या स्वस्थान से हट जाते हैं और उनकी क्रिया भी बाधित होती है। अपने बढ़ते हुये आकार के कारण उस स्थान पर शूल उत्पन्न करते है।

फूटना—मूल फफोलों के अन्तःस्तर जब द्वितीय तृतीय जातीय फफोलों के निर्माण मे लग जाते हैं तब खिंचते-खिंचते यह स्वयं समाप्त होजाता है और टूटे द्वितीय तृतीय जातीय फफोले इसके भीतर तरल भाग में तैरते रहते हैं। और तब मूल फफोले की ... हो जाती है। बाह्य स्तर कड़ा एवं दृढ़ हो ...स रूप में बीसों वर्ष तक यह पड़ा ... भीतर द्वितीय तृतीय जातीय ... के अविकसित शिर रहते हैं ... बन्द रह सकते हैं। मगर ... तृतीय जातीय ...क जारी रहता है उसमें ये मूल फफोले और अधिक बड़े होते जाते हैं। इस कारण इसका बाह्य स्तर और अधिक तनु होता जाता है। यदि आकार वृद्धि रुकी नहीं जारी ही रही तो बाह्यस्तर को दृढ होने का अवसर नहीं मिलता और अधिकाधिक या बढ़ते हुए तनाव के कारण फट जाता है। इसके फटने से इसमें का तरल पदार्थ मुक्त होता है जो कि एक विष सा होता है। इस तरल पदार्थ से समीपस्थ अवयव तो भयंकर रूप से प्रदाहित होते ही हैं साथ साथ उस तरल पदार्थ के रक्त में मिल सवाहित होने से अन्य भयंकर विषज लक्षण (*Toxic effects*) प्रगट होते हैं। इसके साथ द्वितीय जातीय फफोले जिन पर कृमि सिर रहता है वह भी मुक्त होता है और यदि किसी प्रकार अधरा महासिरा या अन्य किसी मोटे रक्त वाहिनियों में यह प्रवेश पा गया (यकृत् के अर्बुद के फटने से ही प्रायः ऐसा होता है) तो यह हृदय में पहुंच हृदय कपाटों का अवरोध उत्पन्न करता है और रोगी शीघ्र ही मर जाता है। इसका फटना एक भयकर स्थिति है और बहुधा इसके रोगी इसके फटते ही मर जाते हैं।

पूय—जिस समय मूल फफोला अपनी आकार वृद्धि में लगा रहता है उस समय उस स्थान पर साधारण प्रदाह होता ही है। कभी कभी यह प्रदाह तीव्र हो जाया करता है और उस स्थान पर पूय का निर्माण हो जाता है। इससे फफोले का अन्तः स्तर नष्ट हो जाता है और फफोले के भीतर सब कुछ धीरे धीरे पूय में परिवर्त्तन पा जाता है। अब यह फफोला साधारण फफोला नहीं रह कर पूययुक्त एक व्रण सा हो जाता है और तोद दाह शूल उत्पन्न करता है। इस अवस्था मे पूयजन्य सभी लक्षण (Pyaemia) होते हैं--भयानक शीत कम्पपूर्वक तीव्र ताप, खूब स्वेद देकर ताप का एकदम ठंडा पड़ जाना आदि लक्षण प्रगट होते हैं। यदि यह फूट गया तो पूय का मोक्षण होता है और उन सभी लक्षणों को भी उत्पन्न करता है जिसका वर्णन अर्बुद के फूटने के प्रसग मे किया गया है। यह भी



एक भयंकर स्थिति है और सांघातिक है मगर इसके एक या दो प्रतिशत रोगी अच्छे भी हो जाते हैं।

लक्षण—

यकृत में होने से—

यह फफोले के आकार पर निर्भर करता है। यदि फफोला साधारण आकार का रहा तब तो कोई खास लक्षण प्रगट नहीं करता। दूसरे स्थान के ऊपर भी इसके लक्षण निर्भर करते हैं। साधारणतया यकृत वृद्धि होती है जो कडा एव पीडामय होता है याने दवाने से दर्द का होना, दबाने पर यह इधर उधर खिसकता सा भी मालूम पड़ता है। यदि यह पित्तनलिका के समीप हुआ तो भयानक रूप की कामला को उत्पन्न करता है, यह यकृत विद्रधि (Cancer), यकृत व्रण (Abscess), यकृतार्बुद (Tumar) यकृतशोथ (Cirhosis) आदि से मिलते जुलते लक्षण उत्पन्न करता है। और इनका विभेदक ज्ञान नहीं हो पाता है। बहुत दिनों से याने २-४ वर्षो से या इससे भी अधिक समय से चलती आयी यकृतवृद्धि बिना अन्य कोई कष्टकर लक्षणों के इस रोग के सन्देह को पुष्ट करती है।

चिकित्सा—इस रोग की अभी तक कोई सफल चिकित्सा नहीं है सिवा लाक्षणिक चिकित्सा के या किसी तरह उसके अग्नि बल मांसादि की रक्षा कर उसे अधिक से अधिक दिन तक रखने के कोई चिकित्सा नहीं है।

मस्तिष्क में होने पर—

बराबर रहने वाला शिरः शूल, आक्षेप, नेत्रज्योति का कम होना, नाक से दुर्गंध का निकलना तथा बेचैनी होते हैं। इसके सम्बन्ध मे आयुर्वेद मे निम्नलिखित पङ्क्तियां मिलती हैं—

व्यधच्छेदरुजा कण्डू शोफ दौर्गन्ध्य दुःखितम्।
कृमिरोगातुर विद्यात्क्रिमीणां लक्षणेन च ॥२८॥

—च० सू० १७-२८

निस्तुद्यतेयस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाण स्फुरतीवचान्त।
घ्राणाच्च गच्छेत्सलिल सपूयं शिरोऽभिताप' कृमिभि सुघोरः॥

—सुश्रुत

यद्यपि कि इसके सम्बन्ध मे स्पष्ट वर्णन आयुर्वेद मे नहीं मिलता है कि किस जाति के कृमि से यह होता है मगर कृमिज शिरो रोग मे जो यह वर्णन है वह इसी को इङ्गित करता है।

हृदय में होने पर—

हृदय मे होने पर यह हृदय-विस्तार लाता है। हृदयधरा कोष प्रदाह, रक्तधराकला प्रदाह आदि इससे होते हैं। यह असाध्य एवं मारक होता है। इस विभिन्न हृदय रोगों के लक्षण स्थान के अनुसार हो सकते हैं। आयुर्वेद में इसके सम्बन्ध मे एक लेख मिलता है जो इस रोग के कारण के सम्बन्ध में आहार विहार के दोष को प्रमुख मानते हैं। मगर यह स्पष्ट नहीं है कि किस जाति के कृमि से यह होता है। न उस कृमि के विषय में ही कुछ लिखा मिलता है कि वह कैसा होता है उसका जीवन इतिहास क्या है। नवीन विज्ञान भी इन कृमियों के अंडे को पेट मे जाने का कारण आहार दोष ही मानते हैं। कृमिज शिरोरोग एवं कृमिज हृदय रोग के कारण भी एक ही बताये हैं। इससे यह व्यक्त होता है कि एक ही जाति के कृमि दोनों स्थान में दोष उत्पन्न करती है। दोष के सम्बन्ध में भी यह लिखा मिलता है कि यह कृमि वहां एक "ग्रन्थी" उत्पन्न करता है। ग्रन्थी के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट नहीं लिखा मिलता कि यह कैसा होता है-फिर लक्षणों के सम्बन्ध मे लिखा मिलता है जो एकनिकोकस के फफोलों से उत्पन्न लक्षणों से समता रखता है। जैसाकि सूत्र रूप में लिखा मिलता है—

.... ग्रन्थिस्तस्योप जायते ॥३६॥
मर्मैकदेशे संक्लेद रसश्चास्योप गच्छति।
संक्लेदात्क्रमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः॥
मर्मैकदेशे संजाता सर्पन्तो भक्षयन्ति च।
तुद्यमानं स हृदय सूचीभिरिव मन्यते॥
छिद्यमान यथा शस्त्रैर्जात कण्डू महारुजम्।
हृद्रोग कृमिजंत्वेतैर्लिंगैर्बुद्ध्वा सुदारुणम्॥

इन पङ्क्तियों से इतना स्पष्ट है कि एक कृमि विशेष है जिसके प्रभाव से हृदय मे एक 'ग्रन्थी' जैसी

वस्तु बनती है। यह ग्रन्थि भीतर से खोखली होती है जिसमे एक चिपचिपा तरल (सक्लेदं रसश्च) पदार्थ भरा रहता है और उस तरल पदार्थ से कृमि की उत्पत्ति होती है (संक्लेदात्कृमयश्चास्य भवन्ति)।

संक्षेप में एकेनीकोकस से उत्पन्न फफोलों के सम्बन्ध मे भी इतना ही कहा जा सकता है। विस्तृत वर्णन मे चाहे जितना भी लिखा जाये। वर्तमान आयुर्वेद ग्रन्थों में विस्तृत का सर्वथा अभाव है। अतः कृमिज हृदय रोग एवं शिरो रोग को एकेनीकोकस जन्य कहा गया रोग मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता।

चिकित्सा—

एकनीकोकस से उत्पन्न इस प्रकार के रोग की कोई चिकित्सा नवीन विज्ञान के पास नहीं है। मगर आयुर्वेद में कृमिज शिरो रोग की एवं कृमिज हृदय रोग की विशेष चिकित्सा है। चूंकि लेखक को इसके एक भी रोगी नहीं मिले हैं इसलिये इस पर प्रकाश डालने मे असमर्थ है। मगर एकेनीकोकस में यदि आयुर्वेद के औषधों का प्रयोग किया जाये तो लाभ की आशा रखता है।

वृक्क में होने पर—वृक्क का कृम्यिावुर्द उतना सांघातिक नहीं। जब तक यह फूटता नहीं है तब तक यह मूत्रालपता-मूत्रकृच्छ्र, वृक्कशूल आदि उत्पन्न करता है। फूटने पर यह मूत्र द्वारा बाहर निकल जाया करता है। कभी कभी गवीनी मे इसके सिस्ट के अटकने से उपद्रव खड़े होते हैं।

प्रजनन संस्थान में—यह पुसंत्व का नाश करता है और अर्बुद के अन्य लक्षणों को उत्पन्न करता है। इसमे भी यह सांघातिक होता है।

उदर्याकला में—उदर्या कला में होने पर गुल्मवत् लक्षण प्रकट करता है। ऊपर से देखने पर फफोले का स्पर्श होता है-पेट निकल आता है जैसे पानी भरा हो मगर वास्तव मे ऐसा नहीं रहता। फूटने पर सावातिक होता है।

फुफ्फुस में—यहां होने पर यह सांघातिक होता है। उरस्तोयवत् पार्श्व पीड़ा, श्वासकष्ट, कास-श्वास आदि उत्पन्न करता है। फूटने पर सांघातिक होता है।

ट्रेमाटोड्स [Trematodes]

इस शब्द की व्युत्पत्ति भी एक ग्रीक शब्द से है जिसका अर्थ होता है द्वार कपाट। याने चौडे पत्र की तरह के आकार-वाले जितने कृमि हैं वे इस नाम से सम्बोधित किये गये हैं। इसकी निम्नलिखित तीन जातियां हैं—

१. पलमोनरी डिस्टोमा (*Pulmonary distoma*)
२. हेपाटिक डिस्टोमा (*Hepatic distoma*)
३. हेयमिक डिस्टोमा (*Haemic distoma*)

पलमोनरी डिस्टोमा—

यह कृमि प्रायः ८-१६ मिलीमीटर लम्बी और ४-८ मिलीमीटर चौड़ी पतले कागज की तरह मोटी या चौरस होती है। देखने पर यह कला के एक टुकड़े सा मालूम पड़ता है। यह लाल या गुलाबी रंग का होता है और फुफ्फुस मे होता है। यह उष्ण कटिबन्ध (*Tropical*) देशों मे अधिक होता है विशेष कर एशिया के देशों मे।

यह सड़े गले गन्दे स्थानों मे स्वयं उत्पन्न होता है और वहां अण्डे देता है। हवा धूल के माध्यम से नासिका द्वारा मानव शरीर मे प्रवेश करता है। मानव शरीर भी इसकी वृद्धि के लिये अच्छा माध्यम है। यदि इसके कृमि ही फुफ्फुस मे पहुंच गये तो वहां वृद्धि प्राप्त करते हैं अण्डे देते हैं।

लक्षण—

यह फुफ्फुस मे पहुच वहां वायु प्रकोष्ठों मे अटक जाता है जिससे जीर्ण शुष्क कास उत्पन्न करता है। रस मे कृष्णाभ लाल (*Rusty*) कफ निकलता है जिसमे इसके अण्डे (*ova*) पाये जा सकते है। कभी कभी रक्त के साथ (मिला) कफ निकलता है। कभी कभी साधारण रक्त वमन भी होती है जो खांसते खांसते होता है। इसमें ज्वर आदि

नहीं होता है। हां स्वास्थ्य गिरने पर एवं रोग के बहुत पुराना होने पर होता है। अन्यथा साधारण स्वास्थ्य अच्छा रहता है सिवाय साधारण जीर्ण कास एवं कभी कभी रक्तमिश्रित कफ के अन्य कुछ नहीं होता है।

हेपाटिक डिस्टोमा -

इस जाति का कृमि अत्यन्त सूक्ष्म कृमि होता है। यह लगभग आध इन्च लम्बा तागे की तरह पतला एव चौरस होता है। सडे गले फलों पर यह अधिकतर होता है और उसीके माध्यम से मानव शरीर मे प्रवेश पाता है। यकृत इसका विशिष्ट स्थान है जहा यह वृद्धि प्राप्त करता है अण्डे देता है। ये अण्डे पित्त के माध्यम से ग्रहणी में आते है और मल द्वारा बाहर निकलते है। फिर मक्खियों के माध्यम से मानव शरीर में प्रवेश पाते हैं। यह अधिकतर बच्चों मे होता है जो गन्दे तरह के आहार विहार मे पलते है। यह भारतवर्ष मे बहुत होता पाया गया है। इसकी ६ जातियां होती हैं मगर सभी मे इसकी हेपाटिक जाति ही प्रमुख है। यह वहुधा एक परिवार के अनेक बच्चो को पकड़ता पाया गया है। कहीं कहीं तो समूचे गांव या कस्बे के बच्चे इससे पीडित हो जाते हैं। इसका प्रसार इसके अण्डों के कारण होता है जो इसके रोगी के मल से बाहर निकालते हैं।

लक्षण—

पहले इस रोग में कुछ दिनों का अन्तर देकर अतिसार होता है, इसके बाद रक्तप्रवाहिकावत् लक्षण उत्पन्न होते हैं। यकृत बढ़ जाता है और बालयकृत (*Infantile liver*) या यकृत शोथ (*Cirrhosis of liver*) के सभी लक्षण प्रगट होते हैं या इन रोगों मे परिवर्तन पाता है। पेट मे दर्द और कामला का बार बार आक्रमण होता है—१०-१५ दिन कामला रहता है फिर हट जाता है फिर आता है। ज्वर नहीं के बराबर रहता है। पेट हमेशा खराब रहता है। बच्चा दुर्बल, चिड़चिड़ा होता है, रक्ताल्पता होती है। जलोदर या हाथ पैर पर शोथ होता है। यह रोग छूट छूट कर पुनः पुनः होता रहता है और बहुत दिनों तक ५-६ वर्ष तक चलता रहता है। जिसमें छूट छूट कर नहीं होता उसमें प्रायः दो तीन वर्षों तक चलता है और सांघातिक सिद्ध होता है।

इस रोग का सन्देह मल परीक्षा द्वारा पुष्ट किया जा सकता है। मल मे इसके अण्डे बहुतायत से रहते हैं। इसके अण्डे अण्डाकार गोल और गहरे भूरे रङ्ग के होते हैं।

चिकित्सा—

नवीन विज्ञान मे इसकी चिकित्सा कोई अच्छी नहीं है। टारटार ऐमेटिक का प्रयोग ये कुछ हद तक सफलतापूर्वक करते है मगर वैसा सफल औषधि यह भी सिद्ध नहीं हुई है। लक्षणानुसार इसकी चिकित्सा होती है मगर रोग समूल नष्ट नहीं होता।

लेखक को इस रोग के कुछ रोगी मिले हैं। लक्षणानुसार लेखक ने अन्य औषधों का प्रयोग किया है और उसके साथ साथ प्रमुख रूप से निम्नलिखित योग का उपयोग किया है। इससे लेखक ने प्राय. ३०-४०% रोगियों मे सफलता प्राप्त की है। इसके साथ साथ अन्य आवश्यक (रोगलक्षणानुसार) भिन्न भिन्न प्रकार के औषध भी व्यवहृत किये गये है चूंकि इसमे सूखा रोग (*Rickets*), यकृत्, प्लीहा, शोथ, अतिसार, ग्रहणी, प्रवाहिका, रक्ताल्पता आदि अनेक लक्षण भी होते हैं।

स्वर्णभल्लातक रसायन—

स्वर्ण भस्म ½ तोला, स्वर्णमाक्षिक भस्म ¼ तोला, रौप्यमाक्षिक भस्म ¼ तोला, लौह भस्म ¼ तोला, ताम्र भस्म ¼ तोला, वंग भस्म ¼ तोला, अर्कमूल चूर्ण ½ तोला, चित्रकमूल चूर्ण १ तोला, गुलदाउदीमूल चूर्ण १ तोला, भिलावे की मींग २ तोला।

निर्माण—पहले भिलावे की मींग को खूब खरल कर स्वर्ण भस्म मिलाकर फिर खरल करें। इसके बाद शेष औषधियों को मिला कर खूब खरल



करे। बाद मे पानी से पीस कर इसमे १०० गोलिया बनाये।

उपयोग—

मात्रा—½–१ गोली एक बार मे २४ घंटे में दो बार मधु से।

इसका प्रयोग यकृत वृद्धि, बाल यकृत, यकृत-शोष, जीर्ण प्रवाहिका, जीर्ण ग्रहणी, रक्ताल्पता, कृमि, कृमिजन्य विभिन्न उपद्रव आदि मे लेखक करता आया है।

शोथ मे—मधु से औषधि खिला उपर से गोखरू फलों का पानी देना चाहिये।

चेतावनी—

इसके प्रयोग करने के पहले रोगी की मूत्र परीक्षा कर यह अवश्य देखना चाहिये कि मूत्र में ऐलब्युमिन (*Albumin*) है या नहीं। रहने पर इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

हेयमिक डिस्टोमा—

यह भारतवर्ष में प्रायः नहीं होता। यह मिश्र एवं अरब देशों मे होता है। इसके विकास के लिये एक जलजीव का जो कि मिश्र की नदियों मे ही पाया जाता है माध्यम आवश्यक है। इसके अंडे पानी मे तैरते हुये हफ्तों जिन्दे रहते हैं और स्नेल (*Snail*) नामक जन्तु इसे ग्रहण करता है। इसके आमाशय मे जाकर इसके अंडे फूटते है और भ्रूण के रूप मे आते है। ये भ्रूण उसके आमाशय का भेदन कर उनके शरीर से बाहर निकल जाता है और पुन. पानी पर तैरता रहता है। पानी इसके लिये अच्छा माध्यम है खासकर मलमूत्रादि मिला गन्दा पानी। इसके बाद यह भ्रूण मौल्युस (Molluss) नामक जल जन्तु या मनुष्य के सम्पर्क मे आने के बाद उनकी त्वचा का भेदन कर उनके शरीर मे प्रवेश करता है और रक्तस्रोतों द्वारा शरीर के अन्य भागों मे आता है। इसके विशिष्ट स्थान है मलाशय, मूत्राशय, एवं गुदनलिका के सिरायें या प्रतिहारिणी महाशिरा। इन स्थानों मे आकर यह रुक जाता है अपना पोषण ग्रहण करता है वृद्धि प्राप्त करता है और अंडे देता है।

यह लगभग ½ इन्च लम्बा एवं अत्यन्त पतला दुग्धवत् श्वेत वर्ण का होता है। यह इतना पतला होता है कि रक्तस्रोतों से आसानी से गुजर जाता है। इसके अंडे मल मूत्र दोनों से बाहर निकलते हैं।

लक्षण—

इससे मूत्र स्थान एवं गुदनलिका मे कण्डू होती है प्रदाह होता है पीडा होती है। इसके कारण गुदनलिका प्राचीर मोटा होता है और अर्शवत् लक्षण उत्पन्न करते है। मूत्रस्थान विशेषकर वस्ति में भी ऐसा होता है और मूत्रघातवत् लक्षण उत्पन्न करता है। जीर्ण होने पर वहां पर यह गुदार्श या वस्त्यार्श (*Cystitis*) उत्पन्न करते है। इन अर्शांकुरों में इसके अंडे भरे रहते है। ये अंकुर स्वयं फूट जाया करते है जिससे मल मार्ग या मूत्र द्वारा रक्तस्राव होता है। और रक्तार्श या रक्तप्रमेह से मिलते लक्षण उत्पन्न करता है। स्त्रियों में यह योनि सिराओं में अटक इस प्रकार योन्यर्श एवं एवं प्रदाह उत्पन्न कर भयानक रक्तप्रदर के लक्षणों से मिलता लक्षण उत्पन्न करता है। इससे उत्पन्न प्रदाह के कारण बहुधा वृक्काश्मरी या वस्त्याश्मरी धीरे धीरे विकास पाती है।

चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा लक्षणानुसार करनी चाहिए। लेखक का इस पर कोई अनुभव नहीं है चूंकि इसके रोगी हमें नहीं मिले हैं।

आयुर्वेद से समन्वय

आयुर्वेद में आमाशयज कृमियों में उन सभी कृमियों को स्थान दिया गया मालूम पड़ता है जिनके अंडों को भ्रूण के रूप मे आने के लिये आमाशय मे आना आवश्यक है और तब आमा-

शय से शरीर के विभिन्न भागों में जाकर रोग लक्षण उत्पन्न करें। जो कृमि केवल आन्त्रों एवं मलाशय में इस प्रकार आकर रोग लक्षण उत्पन्न करते है और वृद्धि प्राप्त करते हैं उनकी विशिष्ट संज्ञा पुरीपज दे दी गई है और इसके अतिरिक्त को आमाशयज कहा गया है और जिन कृमियों का विकास, पोषण, वृद्धि एवं अण्डे आदि देना तो मानव शरीर में हो मगर उनके अण्डों को भ्रूण के रूप में आने के लिए मानव आमाशय में आना आवश्यक नहीं है वे शरीर से बाहर ही भ्रूण के रूप में आते और मानव त्वचा का सम्पर्क मिलने पर उसी के सहारे या उसका भेदन कर रस रक्त-वह स्रोतों द्वारा शरीर के विभिन्न स्थानों में पहुंच रोग लक्षण उत्पन्न करे तथा रोग लक्षण उत्पन्न करने योग्य अवस्था में आने के पहले उन्हें रसवह स्रोतों का आश्रय आवश्यक हो वे रक्तज कृमि के नाम से जाने गये हैं। आयुर्वेद में वर्णित आकार एवं वर्ण से भी तुलना करने पर हम निम्नलिखित रूप से नवीन के साथ समयन्वय कर सकते हैं।

आमाशयज—

आकार—नाग, केंचुये, एवं धान्यांकुर के आकार से कुछ बड़े होते हैं। वर्ण—श्वेत या ताम्र वर्ण के होते हैं।

(१) ऐसकेरिस लम्बरीकोयाड्स (*Ascaris lumbricoids–Round worm*) आकार-१ फुट गोल लम्बा, वर्ण—श्वेत लाल, श्वेत नील,

(२) ओक्स्युरिस वर्मीक्युलरिस (*Oxyuris vermicularis Thread worm*), आकार—¼ इंच गोल लम्बा, वर्ण—श्वेत

(३) ट्रिकनीया स्पाइरलिस (*Trichnia spiralis*) आकार--धान्यांकुरनुमा ⅙ इंच

(४) ट्रिकनो सेफालस (*Trichno-cephalis*)- आकार लम्बा गोल ४ इंच

(५) स्ट्रोंगीलायड्स (*Strongyloids*)— आकार ३ इंच लम्बा

(६) टीनिया एकनीकोकस (*Taenia echinicocus*)—आकार--धान्यांकुरनुमा ⅙ इंच

रक्तज—

आकार—गोल, पतला, कोई नहीं दिखाई पड़ने वाला, पतला (लम्बा), वर्ण—ताम्र वर्ण

(१) ऐन्क्लोस्टोमा ड्यूडिनेल (*Ankylostoma duodenale-Hook worm*) आकार पतला, ½ इंच लम्बा, वर्ण ताम्र

(२) फाईलेरीइ (*Filariae*)—आकार ३½ इंच पतला तागे की तरह, वर्ण ताम्र

(३) पलमोनरी डिस्टोमा (*Pulmonary distoma*)—आकार ½ इंच गोल चक्रिका की तरह ताम्र वर्ण

(४) हेपटिक डिस्टोमा (*Hepatic disotma*)- आकार ½ इंच लम्बा पतला

(५) हेयमिक डिस्टोमा (*Haemic distoma*)- आकार ½ इंच गोल चक्रिका की तरह वर्ण श्वेत

पुरीपज—

आकार—चौड़े वृत्ताकार पतले, लम्बे, वर्ण—श्यामपी श्यामश्वेत।

(१) टीनिया सोलियम (Taenia Solium-Tape worm)—आकार ७-१२ फीट लम्बा, चिपटा, गोल, वृत्ताकार, वर्ण श्वेतपीत

(२) टीनिया सेगमेटा (Taenia Segmeta)- आकार १५-२० फीट लम्बा, चिपटा, गोल, वृत्तमय, वर्ण-श्वेतपीत

(३) डिब्रोथ्रायो सेफालस (Dibrothrioce-phalus)—आकार २५-३० फीट लम्बा, चिपटा, गोल, वृत्तमय, वर्ण-श्वेतश्याम

(४) ड्राकोनटियस (Dracontias)—आकार, ५० सेन्टीमीटर लम्बा, गोल, वर्ण-श्वेतपीत

चूंकि आयुर्वेद में हर कृमि का न तो आकार न वर्ण, न रोग लक्षण ही अलग अलग लिखा मिलता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता (निश्चित रूप से) कि नवीन विज्ञान के अनुसार किसे क्या कहा जा सकता है तथापि अनुमान

—शेषांश पृष्ठ २८६ पर

कृमि-रोग और उसकी चिकित्सा

श्री सन्तोषकुमार जैन A. M. S. आयुर्वेदाचार्य

इस जड़ एवं चेतनमय संसार का महान कारीगर प्रकृति ही है। यों तो इस उभयात्मक संसार के केवल जड़वर्ग की रचना पर ही यदि गम्भीरतापूर्वक विचार दृष्टि सन्निवेशित किया जाय तो आधुनिक चमत्कारिक वैज्ञानिक युग के बड़े बड़े वैज्ञानिकों, दार्शनिकों एवं विचारकों को आश्चर्य सागर में निमग्न होना ही पड़ेगा, फिर प्राणिवर्ग के छोटे बड़े जीवाणु, तृणाणु, कीटाणु, विषाणु, कृमियों एवं मानव वर्गों पर तो दृष्टि डालकर तथा उनका निगूढ़ गम्भीर अध्ययन करके महान आश्चर्य का सागर उमड़ पड़े तो इसका कहना ही क्या?

इस जड़-चेतनमय संसार के सम्पूर्ण वर्गों का प्रधान नियन्ता और शिरोमणि, विश्व की सारी सम्पत्तियों का अधिकारी व उपभोक्ता, प्रकृति की कारीगरी का दर्शनीय, मननीय एवं पठनीय नमूना तथा जीवाणुओं, कीटाणुओं, तृणाणुओं, विषाणुओं एवं कृमियों का आश्रय स्थल तथा शिकार यह मानववर्ग ही है, जिसका विशद सम्बन्ध एवं वर्णन सृष्टि के प्रारम्भ से ही है एवं आयुर्वेद वाङ्मय की आर्ष संहिताओं तथा उत्तरकालीन संग्रह ग्रन्थों में अन्वेषणात्मक दृष्टि से रोचक उल्लेख मिलता है। यदि इस ओर विशाल दृष्टिकोण से विचार किया जावे तो पराश्रयी जीवाणुओं [Parasites] के सम्बन्ध में दिव्यदर्शी असाधारण दृष्टि एवं बुद्धि के प्रतीक बड़े बड़े ऋषि महर्षियों के प्रत्यक्ष एवं अनुमानगम्य पर्याप्त सामग्री आयुर्वेद से ही उपलब्ध हो सकेगी ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। इस विषय के अन्तर्गत केवल उदर कृमियों (Worms) पर यदि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके लिखा जावे तो निश्चित ही पुस्तकाकार लेखमाला का प्रकाशन हो सकेगा। अभी तो सक्षेप में इन बाल उदर कृमियों का वर्णन एवं संक्षिप्त परिचय मात्र ही दिया जा रहा है।

प्राचीन महर्षियों ने जो कुछ वर्णन किया है वह एक असाधारण दृष्टि एवं बुद्धि का प्रतीक है। यद्यपि उस समय उनके पास सूक्ष्मदर्शक यन्त्र नहीं था तथापि उनके पास ज्ञानोपार्जन के अन्य साधन बहुत ही महत्वपूर्ण रहे होंगे जिनसे 'जले जीवा, स्थले जीवा, जीवा पर्वत मस्तके' का सूक्ष्म अध्ययन बखूबी प्रत्यक्ष रूप में किया है और उसीका वर्णन आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपने ढङ्ग से उनसे होने वाली बीमारियों (Diseases) का सम्बन्ध स्थापित करते हुए सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से सबको प्रत्यक्ष दिखाते हुए किया है और अब तो मानववर्ग के मुख नासिका अथवा गुदमार्ग द्वारा प्रत्यक्ष निर्गमन इन कृमियों का देखा जा रहा है और इनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियों से ग्रसित प्राणिवर्ग को प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। कृमियों से उत्पन्न व्याधियों की व्यापकता इनकी गम्भीरता की परिचायिका है। विश्व के समस्त प्रदेशों में सर्वत्र पाये जाने वाले भयोत्पादक रोगों से हमारा प्यारा भारत देश भी ग्रसित है। इसके आनूप क्षेत्रों तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी मण्डलों में तो इन रोगों का प्रसार अत्यधिक पाया जा रहा है। रोकथाम के लिये भी अनेक बाह्य प्रयत्न एवं औषधियों द्वारा आन्तरिक प्रयत्न किये जा रहे हैं जो आवश्यक ही हैं।

मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने वाले कृमियों के गोल कृमि, चपटे कृमि और पर्ण कृमि करके तीन वर्ग होते हैं। ये कृमि आन्त्र में निवास करके या धातुओं का आश्रय करके विकार उत्पन्न कर सकते हैं। सूत्रकृमि, गण्डूपद कृमि इत्यादि कुछ कृमि केवल आन्त्राश्रयी होते हैं। श्लीपद कृमि, स्नायुकृमि इत्यादि कुछ केवल धात्वाश्रयी होते हैं, कुछ

दोनों में विकृति (टीनिया सौलियम) कर सकते हैं। यहा पर केवल आन्त्राश्रयी कृमियों का विवरण दिया जा रहा है।

कृमि उपसर्ग सब देशों मे एकसा नहीं होता है और यह मुख्यतया जलवायु और स्थानिक स्वच्छता के ऊपर निर्भर है। जलवायु में वर्षा, स्थली (Soil) और वातावरण का ताप विशेष महत्व के होते हैं। स्थानिक स्वच्छता में मलनाशन का प्रबन्ध विशेष महत्व का होता है। आन्त्राश्रयी कृमियो के अन्डे मल के साथ शरीर के बाहर आते है और उन्हीं के द्वारा अन्य मनुष्यों मे प्रत्यक्षतया या अप्रत्यक्षतया उपसर्ग पहुचता है। इसलिये जिन स्थानों मे या प्रदेशों में खाद के लिये मैला प्रयुक्त होता है तथा जहां पर मल त्यागने का कार्य शौच कूपों या शौचस्थानो में न होकर इतस्ततः होता है वहा पर कृमिरोग अधिक हुआ करते हैं। कृमिरोग बचपन मे अधिक हुआ करते हैं और ४० वर्ष की अवस्था तक वे वैसे ही पाये जाते हैं। उसके पश्चात् उनका आपात (Incidence) कम हो जाता है। बचपन मे हो जाने के कारण उनमें स्त्री पुरुषों की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं होती। केवल अंकुश मुख कृमिरोग में लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक दिखाई देते हैं।

कृमि भेद -

साधारणतया कृमियों को दो भागों या भेदों में विभक्त किया गया है।[1] (१) वाह्य कृमि, (२) आभ्यन्तरिक कृमि। किन्तु इनके उत्पत्ति कारणों को मध्यनजर रखते हुए जन्म भेद से चार भेद माने गये हैं। (१) स्वेदज (२) कफज (३) रक्तज और (४) मलज। आगे इन चार भेदों के अतिरिक्त कृमियों की संख्या नाम भेद से २० बतलाई गई है। वैसे देखा जाय तो संसार मे इनकी संख्या अगणित है और इसीलिये इन सबका नामकरण आसानी से नहीं किया जा सकता है।[1] महर्षि चरक तो इन वीस कृमियों के अतिरिक्त सहज कृमियों के भी शरीर मे पाये जाने का संकेत कर रहे हैं और इन सहज कृमियों से शारीरिक विकारों की उत्पत्ति नहीं होती है फिर भी इनका संक्षिप्त विवरण आज की *Parasitology* मे बराबर मिलता है।[2] इस उपरोक्त वर्णन से हमे ज्ञात होता है कि प्राचीन ऋषि महर्षियों ने जो विस्तारपूर्वक गम्भीर अध्ययन करके वर्णन किया है वह एक असाधारण दृष्टि एवं बुद्धि का प्रतीक है। अथर्ववेद, सूर्य पुराण एव गरुड़ पुराण मे इन कृमियों का बड़ा रोचक एवं ऐतिहासिक वर्णन तथा वर्गीकरण यथास्थान देखकर ज्ञानवृद्धि की जा सकती है।

कृमियों का जीवन वृत्त -

कृमियों का विस्तार से जीवन वृत्त (*Life history*) एवं इनसे उत्पन्न होने वाले विकार (*Pathogenicity*) यदि वर्णन किया जाय तो विशेष पृष्ठों का अवलोकन करना पड़ेगा। अतः संक्षेपतः जीवन वृत्त निम्न प्रकार से वर्णित है—

(१) स्वेदज कृमि—स्वेदमल से उत्पन्न होने एवं पोषित होने वाले बाह्य कृमि तिल के प्रमाण की आकृति वाले या श्वेत वर्ण के होते हैं जो बचों एवं केशों मे रहते हैं। ये कृमि शरीर की त्वचा पर चकत्ते (*Urticarial rashes*), पिड़िका (*Boils*)

---

[1] क्रिमीणां स्थानादि भेदेन संख्यां दर्शयति—
(१) क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदत
(२) वहिर्मलकफासृग्विडजन्मभेदाच्चतुर्विधाः
(३) नामतो विंशतिविधा. बाह्यास्तत्र मलोद्भवा.

[1] इह खल्वग्निवेश। विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः।
—च चि स्था. अ ७

[2] Those endoparasites which live on superfluous fluids or solids in the hosts and are non pathogenic are called comminals. (Pasarites & Parasitology by Chattergee)



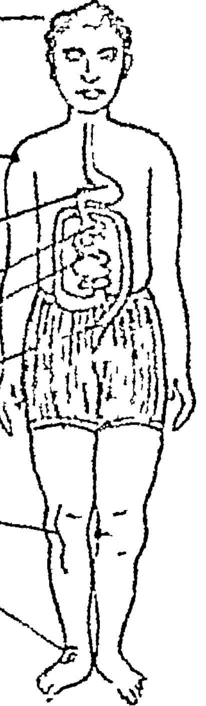
खुजली (*Itching or Scabies*) तथा लसिका ग्रन्थिशोथ (*Lymph Adenoiditis*) उत्पन्न करते हैं।[1]

(२) कफज कृमि—त्रिदोष सिद्धान्तानुसार शरीर में कफ की अधिकता होने से कफज कृमि आमाशय में उत्पन्न होकर वहां वृद्धिगत होते हुए उर्ध्व एवं अधोगति करते है। उनमें कुछ का आकार मोटी तांत के समान केंचुए (*Earth worms*) की भांति लम्बे एवं नवीन उत्पन्न हुए धान्य के अंकुरों के समान आकार वाले श्वेत या ताम्र वर्ण के होता है जिनको *Round worms* कहते है।

इनके प्रकार सात होते हैं। (१) अन्त्राद (२) उदरावेष्टा (३) हृदयाद (४) महागुद (५) चुरव (६) दर्भकुसुम (७) सुगन्ध। इस श्रेणी के कृमियों से निम्नोक्त लक्षण रोगियों में उत्पन्न होते हुये देखे गए हैं।[2] छर्दि (*Vomiting*), जी मिचलाना (*Tendency to vomit*), लालास्राव, अजीर्ण (*Irregular Appetite*), अरोचकता (*Dyspepsia*), आनाह (*Flatulance*), मूर्च्छा (*unconsciousness*), कृशता (*Debility*), छींक (*Sneezing*) एवं पीनस रोग (*Chronic Bronchitis*), उषपिप्रियता तथा श्वास (*Eosinophilia & Asthma*)

(३) रक्तज कृमि—रक्तोत्पन्न कृमि महास्रोतस वासी न होकर रक्तवह संस्थान में ही रहते हैं। ये रक्तवाही शिराओं में रहने वाले अतिसूक्ष्म पादरहित गोल तथा ताम्रवर्ण के नेत्रों से अदृश्य एवं सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (*Microscope*) से देखे जाने वाले होते हैं। प्राचीन समय के ऋषि महर्षियों ने इन अदृश्य जीवाणुओं का ज्ञान गम्भीर एवं तथ्यपूर्ण किया था जिसकी पुष्टि आज प्रत्यक्ष हो रही है। इनके ६ प्रकार देखे गये हैं।—(१) केशाद (२) रोमविध्वंस (३) रोमद्वीप (४) उदुम्बर (५) सौरस (६) मातृ।

शरीरस्थ कृमि के स्थान



चित्र नं० ७१

इस श्रेणी के कृमियों द्वारा रक्त विकार, चर्म विकार, खालित्य, पालित्य, शीतपित्त, कुष्ठादि विकारों की उत्पत्ति होती है। विषमज्वर (*Malaria*), आन्त्रिकज्वर-मन्थर ज्वर (*Typhoid*) लावरक ज्वर (*Kalazar*) श्वसनक ज्वर (*Pneumonia*) आदि ज्वर भी इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। थूक अक्षिस्राव, मस्तिष्क सौपुम्निक तरल में पाये जाने वाले कृमियों से क्षय (*Tuberculosis*) फुफ्फुस विकार, मस्तिष्क सुपुम्नाज्वर (*Meningitis*) आदि अनेक रोगों का उत्पन्न होना आधुनिक अन्वेषण द्वारा सिद्ध हो चुका है। अतएव प्राचीन मतानुसार इनको अदृश्य जीवाणु न कहकर दिव्य दृष्टिगम्य जीवाणु ही कहना उचित है क्योंकि प्राचीन साहित्य देखने से इनकी आज भी पुष्टि हो रही है तथा

[1] ते कोष्ठ पिड़िका कण्डू गण्डान् प्रकुर्वते।

—वाग्भट्ट निदान १४

[2] हृल्लास समास्यस्रवणम् विपाकमरोचकम्।
मूर्च्छा छर्दि ज्वरानाह कार्श्य क्षवथुपीनसान्॥

—वाग्भट्ट निदान १४

उसी के अनुसार चिकित्सा करते हुए रोगोन्मूलन में भी काफी सफलता मिल रही है।

(४) पुरीषज कृमि—इन कृमियों का उत्पत्ति स्थान पक्वाशय है। अधिक संख्या में होने पर ये अपने भोजन की तलाश में ऊपर की ओर आमाशय में जाते हैं और बढ़कर मोटे-गोल तथा छोटी या लम्बी आकृति के हो जाते हैं फिर उनकी गति हमेशा नीचे की ओर होती है।

विकृति—इन कृमियों के द्वारा रोगी में मलभेद, शूल, मलावरोध, कृशता, रूक्षता, पाण्डुता, रोमांच, अग्निमांद्य तथा गुदा में कंडू के लक्षण मिलते हैं एवं रोगी के श्वास एवं उद्गार में विष्टा (मल) के समान गंध आती है।

प्रकार—इनके ५ प्रकार देखने को मिलते हैं। [१] ककेरुक, [२] सौसुराद, [३] मकेरुक, [४] सशूल एवं [५] लेलिह।

नैदानिक प्रक्रियाओं को सुलभ एवं स्पष्ट करने के लिये आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से मुख्य उदर कृमियों का निम्न प्रकार से वर्णन जानना अत्यन्त आवश्यक है जो चिकित्सा की दृष्टि से भी बहुत महत्व का है।

गण्डूपदकृमि, केंचुए की बीमारी (Ascariasis)–

यह रोग आन्त्र में केंचवे के उपसर्ग से होने वाला होता है। इसका कारण बरसाती केंचवे की तरह का धूसर श्वेत या मैले श्वेत रंग का एक कृमि होता है। इसलिये यह कृमि भी केंचुआ (Round worm-Ascaris lumbricoides) कहलाता है। चरक में भी वर्णन मिलता है, कि 'केचिद् वृत्त परिणाहा गण्डूपदाकृतय. श्वेतास्ताम्रावभासाश्च।'(चरक) ये चौड़ाई में गोल और मोटाई में १ इंच तक होते हैं। पुरुष कृमि लम्बाई में १०-इंच होते हैं उसका पिछला सिरा नुकीला और मुड़ा रहता है। स्त्री कृमि लम्बाई में १२-१६ इंच लम्बा होकर पिछला सिरा सीधा और नुकीला होता है। अगला सिरा नुकीला किन्तु कुछ थोथा होता है। उस पर तीन गण्ड या ओष्ठ होते है और भीतर दांत होते हैं। इससे असंख्य अन्डे प्रतिदिन उत्पन्न होते है और मल के साथ बाहर निकलते हैं। इनकी लम्बाई ७० म्यू और चौड़ाई ५० म्यू होती है। पुरुष कृमि बहुत कम देखने में आते हैं। इसलिये यदि आन्त्र में पुरुष कृमि हो तो मल में अन्डे नहीं मिलते हैं। रोग का संक्रमण पाखाने में निकले हुये अन्डो के द्वारा होता है। केंचुये अधिकतर बालक, पागल तथा शुद्धता का जिनमें विचार और आचार न हो ऐसी गन्दी आदत वाले व्यक्तियों में पाये जाते हैं।

प्रतोदकृमि (Whip worm—Trichuris trichuria, Tricocephalus dispar)—

इसका उपसर्ग आन्त्र में होने से उत्पन्न हुआ विकार प्रतोद कृमि रोग कहलाता है। यह कृमि धूसर वर्ण का सिर की ओर ⅔ हिस्सा तन्तु के समान बहुत पतला, ⅓ भाग पुच्छ की तरफ का मोटा, चाबुक या घोड़े की भांति शरीर वाला होता है[1]। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न भिन्न होते हैं। स्त्री कृमि की संख्या पुरुष कृमि की अपेक्षा बहुत अधिक होती है एवं असंख्य अन्डे (लम्बाई में ५० म्यू और चौड़ाई में २५ म्यू) उत्पन्न करने वाले होते हैं तथा लम्बाई में पुरुष कृमि की अपेक्षा ज्यादा होते हैं। पुरुष कृमि की लम्बाई १॥ से २ इंच होती है। अन्डों के दोनों सिरे गाठदार होते हैं। ये तन्तु सदृश कृमि क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग में स्थूलान्त्र और आन्त्रपुच्छ की श्लेष्मल कला में अपने अगले भाग से चिपटे रहते हैं।

तन्तुकृमि (Thread worm—Enterobins vermicularis, Oxyuris vermicularis)—

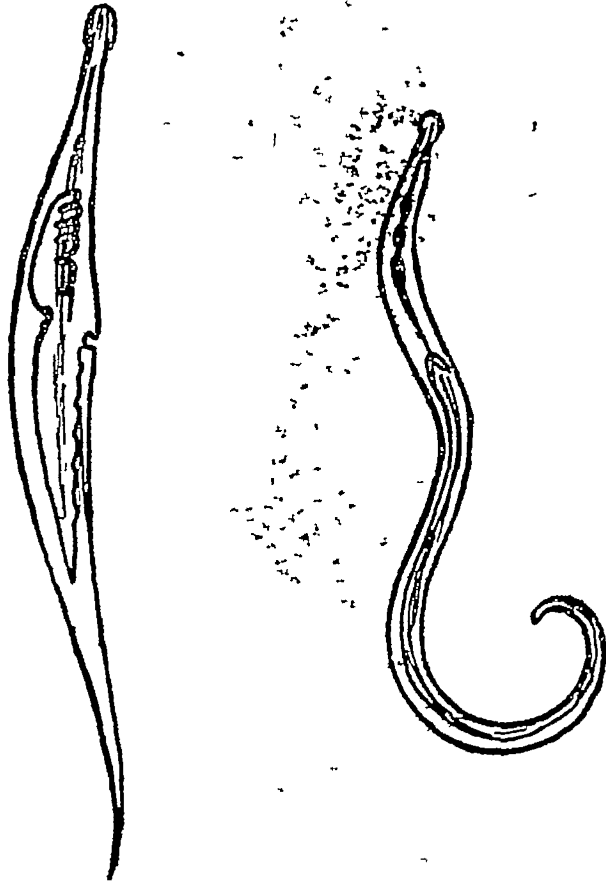
यह कृमि सूत के धागे के समान श्वेतवर्ण का

---

[1] सुश्रुत में वर्णन है कि—
तेषामेवापरे पुच्छे पृथवश्च भवन्ति हि॥
—सुश्रुत



होता है। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न भिन्न होते हैं। चरक मे इनका वर्णन है कि 'केचिदणवो दीर्घास्तन्त्वाकृतयः श्वेताः ॥' चरक ॥ स्त्री कृमि आधा इंच लम्बा, पतला और नोंकदार, पूंछवाला एवं असंख्य अन्डे उत्पन्न करने वाला होता है। पुरुष कृमि उसमे आधा थोथी गोल और कंटकयुक्त पूंछ वाला होता है। इनके अन्डे दीर्घवृत्त, वर्णहीन, तस्तरी के समान एक तरफ चपटे और एक तरफ उन्नत होते हैं तथा मल में बहुत कम मिलते हैं। इनके ऊपर का कोष पतला और भीतर मुडा हुआ भ्रूण होता है। अन्डे गुदा की आसपास की



चित्र नं० ७२—आक्सीयूरिस वर्मीकूलरिस ।

त्वचा पर लगे रहते हैं और कृमि अधिकतर स्थूलान्त्र के प्रारम्भिक भाग मे रहते हैं और क्षुद्रान्त्र के मध्य भाग मे भी पाये जाते हैं। स्त्री कृमि गर्भवती होने पर आन्त्र कुन्डलिका और मलाशय में चली जाती है और इसी कारण रात्रि मे गुदा के बाहर आकर वहां पर अन्डे देती है। इस कृमि का उपसर्ग प्रायः बच्चों में होता है।

अंकुशमुख कृमि (Hook worms–Ancylostomiasis)—

यह कृमि गोल, लम्बा, श्वेतधूसर वर्ण का होता है। पुरुष कृमि की लम्बाई ८-११ मिलीमीटर और स्त्री कृमि की १०-१३ मिलीमीटर होती है। मुख का सिरा कुछ नुकीला होता है। मुख मे चार अंकुश और दांत होते है जिनके द्वारा क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मल त्वचा मे चिपटे रहकर रक्त चूसते रहते हैं। एक स्थान से जब पर्याप्त रक्त निर्वाह के लिये नहीं मिलता है तब वे दूसरे स्थान पर चले जाते है। सिर मे दो ग्रन्थिया होती है जिनसे दंश स्थान पर विषैला पदार्थ स्रवता रहता है। दोनों का पिछला सिरा मोटा और थोथा होता है। पुरुष कृमि में छत्र सदृश चौड़ा होता है। स्त्री-कृमि से असंख्य अन्डे उत्पन्न होकर प्रतिदिन मल के साथ उत्सर्जित होते हैं। ये आकार मे दीर्घवृत्त ६० म्यू लम्वे और ४० म्यू चौड़े होते हैं। इनके ऊपर चिकना पारदर्शक पतला कोश होता है जिसके भीतर २-८ कोशाऐ दिखाई देती है जिनकी आन्त्र मे वृद्धि नहीं होती है।

कृमि के उत्सर्जित अन्डे शरीर के बाहर उष्णता आर्द्रता और वायु की अनुकूल परिस्थिति में १-२ दिन मे इल्ली मे (छोटे बच्चे के रूप में) परिवर्तित हो जाते है। तीसरे दिन उनकी लम्बाई ३०० म्यू होती है। उनके ऊपर एक कठिन आवरण बन जाने से आर्द्रता और छायायुक्त भूमि मे करीब ४ माह तक सजीव रह सकती है। इस अवस्था में इनकी लम्बाई ५५० म्यू हो जाती है। यदि उस अवस्था मे इनको मनुष्य शरीर में प्रवेश करने का मौका मिल जाय तो वे प्रवेश करके अपने इच्छित स्थान तक पहुंच सकते हैं।

इस कृमि के पाच प्रकार हैं, लेकिन इनमे दो ही वड़े महत्व के हैं—

(१) एङ्किलोस्टोमा ड्यूडिनेल (A. Duodenale) और (२) निकेटर अमेरिकन्स (Necator Americans)।

प्रथम प्रकार का कृमि दूसरे से अधिक लम्बा और मोटा होता है। दूसरे के अन्डे दीर्घवृत्त होने पर भी पहिले की अपेक्षा अधिक लम्बे और पतले होते हैं। उत्तर भारत में प्रथम प्रकार और दक्षिण भारत में दूसरा प्रकार अधिक होता है।

पट्ट या स्फीत कृमिरोग (Tape worm—Taeniasis)—

यह रोग अनेक फीते के समान चपटे लम्बे कृमियों के उपसर्ग से होता है। इस परिवार मे अनेक कृमि हैं। इनके कोष्ठ गाय, भैंस, सूअर, बिल्ली, कुत्ते, भालू, लोमड़ी, नौला, मछली, चूहे आदि के शरीर में मिलते हैं। भारतवर्ष मे यह कृमि नहीं मिलता है। इन जानवारों का मास खाने से उपसर्ग मनुष्य के आन्त्र में प्रवेश कर कृमि की उत्पत्ति करता है। इसका उपसर्ग नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड, साइवेरिया, चीन, जापान, अफ्रीका, अमेरिका मे होता है। इन कृमियों के परिमाण में बहुत अन्तर होता है। कुछ कृमि अत्यन्त छोटे तथा कुछ अत्यन्त वड़े होते है। इनके उपसर्ग से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। इनका संचयकाल (I. P.) ३-४ मास है। रक्त परीक्षा मे प्रायः श्वेत कायाणुओं की वृद्धि (Leucocitosis) विशेपकर उषप्रिय (Eousinophilia) की वृद्धि मिलती है। किसी किसी कृमि के उपसर्ग मे मल परीक्षा में कृमि के खंड (Segment–gravid proglottids) मिलते हैं तथा अन्य में अन्डे मिलते हैं। क्योंकि इनके अन्डे भारी होने के कारण परमबल लवण घोल पर तैरते नहीं किंतु नीचे चले जाते हैं। जब इनका सिर आन्त्र से निकल जाय तभी समझना चाहिये कि रोगी रोगमुक्त हो गया अन्यथा सिर आन्त्र मे रह जाने पर इनके शरीर की पुनः वृद्धि होने लगती है। इसलिये रोगी को विशिष्ट औषधि लेने के २४ घंटे पश्चात् तक मल का निरीक्षण करना चाहिये।

टीनिया सौलियम (Teania solium)—

टीनिया सौलियम के कोष्ठ प्रकृति मे सूअर के मांस मे मिलते हैं परन्तु कभी कभी इसके अन्डे भोजन द्वारा मनुष्य की आन्त्र मे प्रवेश करने पर मनुष्य के शरीर मे कोष्ठ बना सकते हैं। अन्डे आन्त्र में पहुचकर भ्रूण उत्पन्न करते हैं। ये भ्रूण (Embryo) मनुष्य के शरीर मे विशेषकर मस्तिष्क में जाकर कोष्ठ बन जाते है और आक्षेप आदि लक्षण होते है। ये कोष्ठ टीनिया सौलियम, टीनिया सेजिनाटा तथा टीनिया ऐकोनीकोकस के मिलते है। टीनिया ऐकोनीकोकस के कोष्ठ से बने रोगों को कृमिकोष्ठपुञ्ज (Hydatid) कहते हैं। ये प्रायः यकृत मे बनते हैं।

कृमियों की उत्पत्ति के कारण—

१–वस्त्रादि एवं शारीरिक अस्वच्छता के कारण स्वेदज कृमियों की उत्पत्ति होती है। शारीरिक उष्णता से स्वेद की उत्पत्ति होती है आंतरिक मैल वाहर निकलता है उसीसे इनकी उत्पत्ति होती है।

२–मांस मछली, गुड़, दूध, दही तथा सिरके से कफज कृमियों की उत्पत्ति होती है।

३–विरुद्ध भोजन जैसे मछली तथा दूध आदि के सेवन से एवं भोजनोपरांत पुनः भोजन करने से रक्तज कृमियों की उत्पत्ति होती है।[1]

४–उड़द पिष्टमय पदार्थ, अम्ल तथा लवणरस बहुल पदार्थ गुड़ तथा शाक इनके सेवन से पुरीषज कृमियों की उत्पत्ति देखी गई है।[2]

---

[1] माषपिष्टाम्ल लवण गुडशाकैः पुरीषजा।
मांसमत्स्य गुड क्षीर दधि शुक्तैः कफोद्भवा॥

[2] विरुद्धाजीर्ण शोकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि।
—सुश्रुत उ० ५४



आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से कृमि के उत्पत्ति कारणों का समान्य रूप से यही सर्वत्र वर्णन मिलता है—

[१] जल द्वारा—अशुद्ध जल का सेवन-स्थिर जल वाले तालाब या नहर मे स्नान करने से।

[२] भोजन द्वारा—कच्ची सड़ी गली शाक सब्जियों के सेवन से, मासादि विरुद्ध भोजन से, कच्चे गन्दे खाद्यों के सेवन से कृमि उदर मे पहुचते है और वहा वृद्धि को प्राप्त करते है।

[३] वस्त्र नाखून मलमूत्र हाथ मुंह एवं कृमिग्रस्त बालक बालिकाओं तथा पुरुष महिलाओं के माध्यम से मक्खियों मच्छरों व पिस्सू के द्वारा कृमियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक से दूसरे मे सक्रमण एवं प्रसरण होता है। कृमि के अडे बच्चे के घुटने चलने से एव फर्श पर लोटने व खेलने से उनके शरीर से लग जाते है और नाखूनों द्वारा खुजाने से स्थानान्तरित हो जाते हैं। रक्तवह तथा रसवह संस्थान द्वारा सक्रमण कर वृद्धि को प्राप्त होते है।

चिन्ह तथा लक्षण—[1]

[१] ज्वर—Fever.

---

[1] ज्वरो, विवर्णता, शूल हृद्रोग. सदन भ्रम। भक्त द्वै षोऽतिसारश्च सजात कृमि लक्षणम्॥ —सु० उ० ५४

सञ्जात कृमि लक्षण

चित्र नं० ७३

[२] विवर्णता—Discolouration of the skin & face, odema of the feet & Ankles, anaemia.

[३] शूल—Colic, constipation, diarrhoea

[४]हृदय रोग—Heart disease (Dyspnoea, palpitation of the heart)

[५] अङ्गों की शिथिलता—Pernicious anaemia.

[६] भ्रम—The patient may be stunted physically & mentally & in some cases anaemia may be severe.

[७] भक्तद्वेष—खाने मे अरुचि (Loss of Appetite)

[८] अतिसार—Dysentry, Diarrhoea.

इन उपरोक्त लक्षणो एवं चिह्नों की पुष्टि आधुनिक विज्ञान शास्त्र मे—Human Parasitology में वर्णित है। (देखें चित्र ७३)

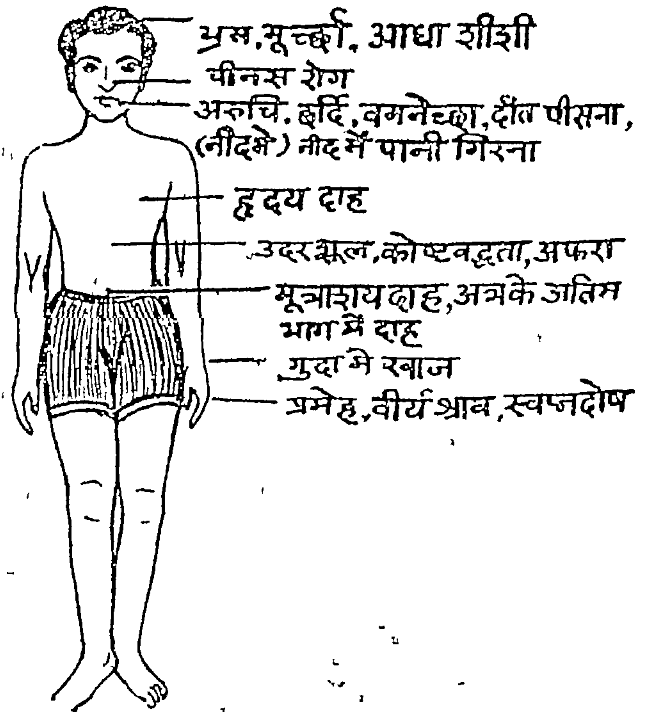
निदान —

(क) मल परीक्षा द्वारा—

कृमियों के अपने कोई खास लक्षण नहीं होते, जिनको देख कर उनका निदान किया जा सके। रोग निदान का एकमात्र साधन मलपरीक्षा है। मल में कृमियों का निश्चय दो प्रकार से संभव है। एक तो उसमे स्वयं कृमि और उनके पर्व दिखाई पडे और दूसरा उपाय मल मे प्राप्त हुये कृमि अण्डो का सूक्ष्मदर्शकयन्त्र द्वारा प्रत्यक्षीकरण हो।

(१) कृमियों को देखने के लिये रोगी को रात्रि मे तीव्र विरेचन चूर्ण या Saline purgative

कृमि के लक्षण



चित्र नं० ७४

दे देते है। प्रातःकाल या रात्रि मे मल त्याग के समय मल के साथ बाहर निकलते हुये कृमि और पर्व स्वयं दिखाई देने लगते है।

(२) छोटे छोटे कृमि अण्डजों का प्रत्यक्षीकरण एवं निश्चयकरण बिना सूक्ष्म दर्शकयन्त्र द्वारा नहीं हो सकता है अत. उनके प्रत्यक्ष के लिये निम्न विधियां काम मे लाई जाती है। अन्डों को देखने की दृष्टि से मल का गाढ़ा होना हितकर होता है। अत इस विधि मे विरेचन का कोई प्रयोग नहीं करना चाहिये।

[A) प्रथम विधि—Simple smear मे जल द्वारा मल को बहुत पतला करके उसे एक कांच की पटरी (Slide) पर बहुत पतला लगा देते है और उसे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के कम शक्ति के लैंस द्वारा देखते है। इससे सबका पता लग जाता है।

(B) द्वितीय विधि–विलीज मेथड (Willis method) के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहुत उत्तम

हल्लास आस्यसस्रवणमरोचकाविपाकौ ज्वरो मूर्च्छा जृम्भा क्षवथुरानाहोऽङ्गमर्दश्छर्दि कार्श्यं पारुष्यं चेति। पुरीषभेद कार्श्यं पारुष्यं लोमहर्षाभिनिर्वर्तन च, त एव चास्य गुदमुख परितुदन्त कण्डू चोपजनयन्तो गुदमुख पर्यासते, त एव जातहर्षा गुदनिष्क्रमणमतिवेल कुर्वन्ति।



एवं प्रचलित विधि है। किसी आधे औंस (१ तोला) के गहरे पात्र मे १ ग्राम मल को डालकर उसमें नमक का सच्युरेटेड घोल [Saturated salt solution] को बूंद बूंद करके डालते जाते हैं और शीशे या काच की नली द्वारा घोलते जाते हैं। इस प्रकार घोल [Emulsion] तैयार करते हुये जब वह पात्र किनारों तक भर जाता है तब उस पात्र के घोल के ऊपर ५–१० मिनट के लिये कांच की स्लाइड [Slide] को रख देते हैं। फिर सावधानी से एकाएक घोल न गिराते हुये उस स्लाइड को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के कम शक्ति के लैंस से फोकस करके देखते हैं। इससे सब मल मे रहे हुये कृमियों का और कृमियों के अन्डों का पता लग जाता है। मल परीक्षा इसीलिये रोग के निदान में अपना महत्व रखती है और प्राचीन वैद्यगण, प्राचीन जमाने मे रोगी के मल की परीक्षा कच्चे पक्के मल को पानी में प्रत्यक्ष देखते हुये और कृमियों के प्रत्यक्षीकरण के लिये करते ही रहे थे एवं अभी भी करते आ रहे हैं जिसका कि महत्व आजकल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा विशेष स्पष्ट हो रहा है।

रक्त परीक्षा—

रक्तगत उषसिप्रियों (Eosinophils) की बढ़ती हुई संख्या को खून परीक्षा द्वारा देखकर कृमियों के उपसर्ग का ज्ञान किया जा सकता है लेकिन यह विधि निश्चयात्मक नहीं है।

साध्यासाध्यता (Prognosis)—

कृमिग्रस्त रोगियों की चिकित्सा सुसाध्य है। लेकिन कृमियों का उपद्रव यदि मस्तिष्क में देखने को मिलता है अर्थात् मस्तिष्कगत कृमि यदि हैं और उससे रोगी को काफी तकलीफ हो रही हो तो ऐसे लक्षण मे कृच्छसाध्य ही है और फिर तो असाध्य ही समझना चाहिये।

सम्प्राप्ति—

कृमि रोग मे जो विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं उनकी सम्प्राप्ति निम्न प्रकार की होती है—

(१) स्थानिक प्रक्षोभ [Mechanical irritation]—कृमियो के अवस्थान से महास्रोत में प्रक्षोभ उत्पन्न होकर उससे जी मचलाना, वमन, प्रवाहिका, बेचैनी, पीड़ा, शूल, गुदकण्डू इत्यादि पचन संस्थान के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण न्यूनाधिकस्वरूप में प्रायः सब आन्त्रस्थ कृमियों के उपसर्ग मे होते है परन्तु केंचुवे मे अधिक दिखाई देते हैं।

(२) प्रत्याक्षिप्त क्रिया [Reflex action]—आन्त्रिक प्रक्षोभ का परिणाम मस्तिष्क के ऊपर होकर तद् द्वारा आक्षेप, अपस्मार जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते है। यह विकृति अधिकतर बालकों मे तथा अस्थिर स्वभाव वाले जवान मनुष्यों मे और गण्डूपद कृमि के उपसर्ग में दिखाई देती है।

(३) मार्गावरोध [Obstruction]—कृमियो की उपस्थिति के कारण कभी कभी महास्रोत का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। कभी कभी कृमि स्थानान्तर करके शरीर की अन्य प्रणालियो को भी अवरुद्ध किया करते हैं। यह विकृति गण्डूपद कृमियों के उपसर्ग मे दिखाई देती है।

(४) भ्रमण—केंचुआ आन्त्र से सम्बन्धित अनेक अङ्गों मे जाकर स्थानिक विकृतियां किया करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी और अंकुश कृमि की इल्लियां जब फुफ्फुसो मे से होकर आन्त्र मे आया करती हैं तब अनेक बार उनसे भी बिकार उत्पन्न किया करती है। जैसे फुफ्फुस पाक (Pneumonia), रक्ताल्पता (Anaemia)-बालक मे रक्ताणुओं के नष्ट होने से

(५) रक्तनाश—कृमि अपने अंकुशों से या चूषकों से आन्त्र की श्लेष्मकला में चिपट कर रक्त चूसते रहते हैं। कभी कभी ये गहराई में जाकर रक्तवाहिनी को खोलकर उससे रक्त ग्रहण करते हैं। जब एक स्थान से उनको पर्याप्त रक्त नहीं मिल पाता है तब वे उस रक्तहीन स्थान को छोड़कर रक्त वाले अन्य स्थान मे जा चिपकते है। इस प्रकार कृमियों



द्वारा रक्त चूसने से तथा त्यक्त स्थानों से रक्त और लसिका का स्राव जारी रहने से रक्तनाश होता है। जिसके फलस्वरूप रक्तक्षय (Anaemia) और पाण्डुता तथा स्थानिक लक्षण भू-विचर्चिका (Ground itch) उत्पन्न होते हैं। यह विकृति अंकुश कृमि के उपसर्ग मे विशेषतया दिखाई देती है।

(६) विष, विषमयता (Toxins-toxaemia)—कृमियों से कुछ विष भी बनता है जो शरीर में जाकर अनेक लक्षण उत्पन्न करता है। मछली के स्फीत कृमि से जो रक्तक्षय उत्पन्न होता है वह उसके विष का प्रभाव माना जाता है। बचपन मे अंकुश कृमि का उपसर्ग होने से शरीर की वृद्धि भलीभांति नहीं हो पाती है। यह परिणाम भी उसके विष के प्रभाव का ही है। इसके अतिरिक्त उपसिप्रियता (Eosinophilia) शीतपित्त इत्यादि अनूर्जता (Allergy) लक्षण भी विष के कारण ही हुआ करते है।

चिकित्सा (Treatment)

इसकी चिकित्सा का मूल सिद्धांत यह है—
कि 'निदानम् परिवर्जनम्'

"Prevention is better than Cure"

यह दो प्रकार से संभव है।

[१] एक तो बालकों के लिये दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली नित्य की क्रियायें जैसे स्नान वस्त्र शय्या शौचादि के सम्पर्क मे आने पर स्वच्छता से रहना रखना एव यदि कोई संक्रमण हो गया हो तो उससे खुद बचना एवं दूसरों को बचाना एवं संक्रमण दूर करने का तात्कालिक उपाय करना।

[२] दूसरे बालकों के जीवन के मुख्य एवं महत्वपूर्ण स्वच्छ एवं पौष्टिक तात्विक अंश को भोजन मे ग्रहण करवाना।

कृमि से उपसृष्ट जो भी बालक रहते हैं उनके इतस्ततः मल त्यागने से भूमि और जल दूषित होकर तद्द्वारा रोग का प्रसार होता है इसलिये रोग प्रतिबन्धन के लिये निम्न उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

(१) उपसृष्ट बालकों की चिकित्सा—जहां पर यह रोग जारी होता है (जैसे चाय काफी कोको केला नींबू मासभक्षी) वहां के बालकों व लोगों के मल का परीक्षण करके उपसृष्टों का पता लगाकर बराबर उनकी चिकित्सा करनी चाहिये तथा देशांतगमन करने पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये।

(२) शौचस्थानों का उपयोग—इतस्ततः मल त्यागने की आदतों को सुधारकर मलोत्सर्जन के लिये दोषिकटंकी (*Septic Tank*) के या नालीदार (*Bored hole*) के शौच स्थान बनाकर उनका प्रयोग किया जाना चाहिये।

(३) पादत्राणों (जूतों) का प्रयोग—घरके बाहर जाते समय बराबर जूतों का उपयोग करना चाहिए जिससे कृमि के उपसर्ग से बचने मे काफी सहायता मिलती है।

(४) जल, दूध, साग, फल इत्यादि को उबाल कर तथा अच्छी तरह धोकर सेवन करना चाहिये। मांस भक्षण करना बन्द कर देना चाहिये।

(५) रोग से बचने के लिये बच्चों को स्वच्छ आदते सीखनी चाहिये। नाखून ठीक से काटना, दात से नाखून को न काटना, गुदादि गदे स्थानों को नहीं खुजलाना, पाजामा चड्डिया आदि पहनने का सोते उठते बैठते प्रबन्ध रखना, भोजन के पूर्व हाथों को ठीक से धुलाना गुदा के सम्पर्क मे आने वाले वस्त्रों को प्रतिदिन साबुन से धोना, प्रतिदिन स्नान कराना, शय्या आदि की चादर, वस्त्रों को प्रतिदिन गरम जल में उबालना, धोबी को देकर भट्टी पर चढ़वाकर धुलवाना, मल परित्याग करने के पश्चात् गुदा तथा हाथों को साबुन से ठीक साफ करवाना आदि साधारण स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धांतों पर चलाकर बच्चों को उदर कृमियों के उपसर्ग से बचाना आवश्यक है।

सक्षेप में कृमि रोग से बचने के लिये शारीरिक एवं व्यवहारिक स्वच्छता रखना अत्यन्त आवश्यक

है। शारीरिक स्वच्छता मे बलों बालों, नाखूनों, हाथों दांतों, मुख तथा गुह्यांगो का विशेप रूप से स्वास्थ्य सिद्धान्तानुसार ध्यान रखना चाहिये। यदि परिवार मे एक भी व्यक्ति को कृमि रोग हो गया हो तो सभी की चिकित्सा करना कराना उचित है अन्यथा संक्रमण पुन एक दूसरे से होता चला जायेगा और रोग निवृत्ति संभव नहीं होगी।

आंत्रस्थ कृमियो का प्रधान चिकित्सा-सूत्र-

अपकर्षणमेवादौ कृमिणा भेषज स्मृतम्।
ततो विघात प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम्॥
—चरक वि० अ० ७ श्लोक ३१

वमनं विरेचनमास्थापनच, ह्यत्यपकर्षण विधिः।
—चरक

प्रकृति विघातस्त्वेषां कटुतिक्त कषाय क्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोग॥चरक॥

चिकित्सा करते समय ध्यान देने योग्य बातें-

कृमिसृष्ट रोगी की चिकित्सा २ प्रकार से की जाती है। (१) कृमि हरण (२) शोणित वर्धन। इसमे यह देखा गया है कि केवल कृमियों का नाश करने से रक्त की स्थिति मे आपसे आप जल्दी सुधार नहीं होता है अत रक्तक्षय की चिकित्सा भी करना आवश्यक हो जाता। यदि रक्तक्षय अधिक हो तो प्रथम शोणित वर्धन करके पश्चात् हरण चिकित्सा करना उचित रहता है। केवल एक प्रकार की चिकित्सा पर्याप्त लाभप्रद सिद्ध नहीं हो पाती है किन्तु इस सिद्धान्त को भी नहीं भूल जाना चाहिये कि कृमि पेट मे रहने, पर भी रक्तक्षय की चिकित्सा करने से रोगी की स्थिति मे सुधार तो हो जाता है फिर भी पुन स्थिति खराब हो जाया करती है अत प्रथम कृमियों की अपकर्पण करके पश्चात् रक्तक्षय की चिकित्सा करना आवश्यक होता है।

चिकित्सा प्रारम्भ करते समय यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि उदर कृमियों की चिकित्सा मे प्राय जो औषधिया प्रयोग की जाती हैं वे विषाक्त होती हैं और साथ साथ विरेचक (*Purgative*) औषधियों के कारण रोगी बालक अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं इसलिये रोगी को पौष्टिक आहार प्रोटीन (*Protin*), जीवतिक्तियां (*Vitamins A. B. C. D. E.*) केलशियम (*Calcium*) ग्लूकोज (*Glucose*) क्षार (*Alkali*) तथा अमायनोएसिड (*Aminoacid*) आदि देकर यकृत को विकृत होने से बचाना आवश्यक है। कभी कभी रोगी को अल्प मात्रा मे औपधि देने से कृमि क्रियाशील हो जाते हैं और रोगी बालकों को महान कष्ट होता है इसलिए औपधि को अवस्थानुसार पर्याप्त मात्रा में देना अच्छा है। विशिष्ट चिकित्सा का क्रम समाप्त होने के एक सप्ताह पश्चात् दो या तीन बार लगातार मल परीक्षा कर कृमि के अण्डों की उपस्थिति मल मे रहती है या नहीं देख लेना चाहिये। आवश्यकतानुसार पुनः विशिष्ट औपधि का प्रयोग करना चाहिये। इन औपधियों के देने के पश्चात् रोगी बालक को बिस्तरे पर आराम से रखना उचित है। रोगी को मलोत्सर्ग एक पात्र मे करावें जो पानी से आधा भरा हो। इसमे कृमियों को ढूंढ़ना चाहिये। यदि कृमि का सिर मिल जाय तो फिर औषधि देने का आवश्यकता प्रायः नही रहती है।

कृमि रोग चिकित्सा मे सबसे प्रथम कृमियो को निकालने के लिये औषधि प्रयोग द्वारा यथा विधान विवेचन एवं आस्थापन विधि द्वारा अपकर्षण क्रिया काम मे ली जाती है। दूसरी विधि कृमियों का प्रकृति विघात है जो कटु तिक्त कषाय और क्षार तथा उष्ण द्रव्यों के प्रयोग से किया जाता है। यहां पर प्रकृति से कारण का तात्पर्य भी निकलता है। कफ और पुरीष दोनों कृमि के उत्पन्न होने एवं निवास करने में कारण हैं अत. ये दोनों दूषित हुये हुये ही कारण होते है। इनका नाश या प्रतिकार करना विघात कहलाता है। अपकर्षण से उत्पन्न हुये हुये कृमियों को निकाल सकते है। परन्तु यदि कारण का नाश नहीं किया जाता

है तो वे कृमि पुनः उत्पन्न हो सकते है क्योंकि कारण के रहने पर कार्य अवश्यम्भावी है। अतएव अपकर्षण के पश्चात् प्रकृति विघात करना चाहिये।

तात्पर्य यही है कि सर्व प्रथम कृमियों का मूर्च्छन करना चाहिये अथवा कृमिघातक चिकित्सा करनी चाहिये। तदनन्तर कृमिपातन चिकित्सा करनी चाहिये। कृमिपातन के लिये अर्वाचीन चिकित्सा पद्धति मे लवण विरेचकों (*Mag. Sulph. Mixtures*) का प्रयोग होता है। और प्राच्य चिकित्सा शास्त्र मे एरण्ड तैल या जायफल तैल के प्रयोग का विधान मिलता है।

वस्ति प्रयोग (Enema)[1] का उल्लेख दोनों मतों से सम्मत एवं आशुलाभकारी माना गया है।

कृमिनाशक औषधियो के प्रयोग के पूर्व यथेष्ठ-मात्रा मे गुड़, पिंड खजूर या छुहारों का प्रयोग करना चाहिए जिसके खाने के लिये कृमियों को स्वस्थान छोडकर आमाशय की ओर आना पड़ता है और लगभग ½ घंटे बाद औषध का प्रयोग कराया जाता है जिससे एकत्रित हुये कृमियों पर उसका प्रभाव हो और वह मूर्च्छित हो जाय। कृमि मूर्च्छन के अनन्तर कृमिपातन विधि के लिये तीव्र विरेचनो (Drastic purgatives e. g, Saline) का प्रयोग उत्तम माना गया है। इस प्रकार के विरेचन से मूर्च्छित हुये कृमि मल मार्ग से विसर्जित हो जाते हैं अर्थात् बाहर निकल जाते है।

[1]वस्ति का प्रयोग कृमिनाशक द्रव्यों यथा क्वासा (Quasia) की लकड़ी या लवण जल (Nacl) का घोल अथवा साबुन तथा पानी के सम्मिश्रण से बने घोल द्वारा प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त Hexyl resorcinol २ ग्रेन को १० औंस जल में घोलकर अथवा टैनिक एसिड (Tannic acid) १ प्रतिशत या तूतिया (Copper sulphate) ०.०५ प्रतिशत का भी एनीमा लगा सकते हैं। अन्य औषधिया देने के पूर्व अथवा पश्चात् भी एनीमा द्वारा चिकित्सा कर सकते हैं।

आयुर्वेद मे कम्पिल्लक[1] (Kamala-कबीला) को कृमिघ्न और विरेचक औषधि वर्णित किया है और प्रत्यक्ष में इससे कृमि विकार मे काफी लाभ होता हुआ पाया गया है। इसके लिये रोगी को पूर्व कर्म और पश्चात् विरेचन कर्म कराने की जरूरत नहीं होती है और सौम्य होने से बालक और दुर्बल रोगियो में काफी उपयोगी होता है। मात्रा—२-३ ड्राम गुड़ दूध या मधु के साथ।

आयुर्वेद मे पारसीक यमानी[2]—कृमिघ्न चोर यमानी या किरमाणी (Artemisia *Maritima*) का पुष्प चूर्ण प्रयुक्त होता है। सैंटोनीन (*Santonin*) इसी वृक्ष के फूलों से निकाला जाता है। चूर्ण सस्ता और उतना ही कार्यकर होता है। बच्चों के लिये चूर्ण की मात्रा १०-२० ग्रेन और जवानों के लिये ३०-६० ग्रेन होती है। इसके सेवन के समय पूर्व एवं पश्चात् दोनो कर्म करवाना आवश्यक है। अर्थात् औषधि देने के एक दिन पूर्व कृमिवर्धक पदार्थों यथा तिल, गुड़, दूध, दही, मत्स्य, मिष्टान्न आदि का भोजन करावें जिससे कृमि कोष्ठ मे निकल आवें फिर इस के दूसरे दिन प्रात. विरेचन दे।[3]

१ कम्पिल्लको विरेचीस्यात् कटूष्णो व्रण नाशनः।
गुल्मोदर विबन्धाध्म श्लेष्म कृमि विनाशनः।
कम्पिल्ल चूर्ण कर्षार्धं गुडेन सह भक्षितम्।
पातयेच्च कृमीन सर्वानुदरस्थान्न संशयः॥
—भावप्रकाश

२ पारसीकयवानिका पीत्वा पर्युषित वारिणा प्रात।
गुड पूर्वा कृमिजातं कोष्ठगत पातयस्याशु॥
—चक्रदत्त

३ सेन्टोनीन् (Santonin)—
यह कैंचुओं के लिये अचूक औषधि है। जवानों के लिए १-२ ग्रेन स्वास्थ्य के अनुसार बालकों के लिए चौथाई ग्रेन प्रत्येक वर्ष के पीछे। यह एक तेज औषधि होने से खाली पेट कभी न दें एव, मल परीक्षा द्वारा कैंचुए के उत्सर्ग का ठीक निदान होने पर ही इसका उपयोग करें। इसके देने के पूर्व २४ घण्टे रोगी को हलका तरल आहार देना चाहिए और एक बार विरेचन भी दे दिया



दाडिमत्वक् अनार का दाना—मूल या स्कन्ध की छाल स्फीत कृमि (*Tape worm*)–जो भारत वर्ष में नहीं पाया जाता या बहुत कम अंश में मांस मछली, सूअर का मांस खाने वालो में देखा गया है, के लिये बहुत अच्छी साबित हुई है। वैसे सभी कृमिरोगों में देते है। मूलत्वक् में क्षार (*Alkaly*) की राशि अधिक होने के कारण अधिक गुणकारी होती है। त्वक् में पेल्लीटिरीन (*Pelletierine*) नामक कृमिघ्न क्षाराम्ल रहता है।

पैलेटिरीन टेन्नेट (*Pelletuine Tannate*)–यह औषधि अनार से ही बनी है इसकी ३ से ४ रत्ती औषधि मद्य (*Alcohol*) में घोलकर एक बार अथवा ३-४ बार में विभाजित कर एक मात्रा प्रति घंटे रोगी को देना चाहिये। दो घण्टे पश्चात् कोई विरेचन चूर्ण या मैगसल्फ (*Magsulph*) २-४ ड्राम देना चाहिये।

[1]अनार के वृक्ष की जड़ की छिलका ३ से ४ ½ औंस (८ से १० तोला) लेकर २० से ४० तोले जल मे भिगोकर १२ घण्टे रखना चाहिए। पश्चात् उबालना चाहिये और जब जल की मात्रा आधी रह जाय तब छानकर तीन मात्रा बराबर प्रति ½ या १ घण्टे के अन्तर से देना चाहिये। अन्तिम मात्रा के एक घंटे पश्चात् विरेचन चूर्ण या मेगसल्फ ३-४ ड्राम देना चाहिये। इस प्रकार इससे कृमि निष्कासन एवं मूर्च्छन करने में काफी लाभ होते देखा गया है।

काशीफल का बीज (*Pumphkin Seeds*)–बीज ताजा १-४ औंस (२॥ से १० तोला) लेकर उनको कुचलकर काफी पानी और चीनी के साथ मिलाकर दिये जाते है। पूर्व कर्म और पश्चात् विरेचन दिया जाता है। यह औषधि विषैली नहीं है और केचवे (*Round worm*) के ऊपर भी कार्य करती है इसलिये बालक दुर्बल वृद्ध और गर्भिणी इनको तथा जिनको सेन्टोनिन आदि विषैली औषधियों से फायदा नहीं होता है उनको भी बिना भय के देते हैं। लाल कोहड़े के बदले सफेद कोंहड़े (पेठा) के बीज का भी उपयोग किया जाता है।

इसी तरह तरबूजे के बीज (*Melon Seeds*) कृमियों के विकार मे औषधि रूप मे काम मे लाते हैं। बीजों का छिलका निकाल कर रोगी को १०-२० औंस की मात्रा मे खिलाया जाता है तथा २ घण्टे पश्चात् विरेचन दिया जाता है।

शास्त्रोक्त कृमिघ्न औषधियों के योग–

यथास्थान उनका वर्णन देखकर उपयोग में लाना चाहिए—

क्वाथ—मुस्तादि क्वाथ, कृमिघ्न क्वाथ (र. त. सा.)

उपयोग—(१) कृमिमुद्गर रस ३ रत्ती, नवायस लौह ३ रत्ती, शंख भस्म ३ रत्ती—३ मात्रा मधु के साथ।

(२) बिडगासव १½ तोला दो मात्रा समजल के साथ भोजन के बाद।

(३) पलाश बीजादि चूर्ण १ माशा, आरोग्य बर्धनी १ गोली मिलाकर १ मात्रा रात्रि को गुड़ के साथ।

चूर्ण—काम्पिल्ल चूर्ण पलास बीजादि चूर्ण

जाय तो अच्छा है।

सेन्टोनिन २ ग्रेन, कैलोमल ६ ग्रेन तथा सोडाबाईकार्ब १० ग्रेन।

उपयुक्त मात्रा सोने के पूर्व रात्रि में दे।

इस औषधि के साथ केलोमल (Caloma!) मिला देने से इसकी कृमिघ्न शक्ति विशेष बढ़ जाती है। १-२ सप्ताह के बाद दूसरी बार इसका प्रयोग करने से प्राय. उदरस्थ कैंचुओं का निर्मूलन हो जाता है।

इस औषधि को १-२ ग्रेन की मात्रा में २-४ ग्रेन कैलोमल मिलाकर बच्चों को चीनी के साथ रात के ६ या १० बजे कृमियों को मूर्च्छित करने को दिया जाता है। दूसरे दिन सुबह ६ बजे विरेचनार्थ मैगसल्फ (Magsulph) ३ से ४ ड्राम की मात्रा में पानी में घोलकर दिया जाता है जिससे सारे मूर्च्छित कृमि बाहर निकल जाते हैं।

[1] दाडिमत्वक् कृत क्वाथस्तिल तैलेन सयुत।
त्रिदिनात्पातयेत्येवं कोष्ठ कृमि जालकम्॥
—योगरत्नाकर

पाराशीयादि चूर्ण विडंगादि चूर्ण (शाङ्गधर) पलाशादि चूर्ण (शाङ्गधर)।

आसवारिष्ट—विडंगासव विडंगारिष्ट रक्तशोधकारिष्ट (शाङ्गधर)

सार—कचनारसार नीमसार वचसार।

तैल—विडंगाद्यतैल, वृहद् सोमराजी तैल का स्थानिक प्रयोग

वटी—कृमिपल्लादि वटी (भै. सार. संग्रह) कृमिघ्न गुटिका (र. तं. सा.) कृमिघातनी गुटिका (आ. वे. प्र.) वृद्धि घाविकावटी (भै. र.)

भस्म—ताम्रभस्म, पित्तलरसायन

रस—उदरघ्न (भै. र.), कीटमर्दरस (रसे. सा. सं.), कृमिकुठार रस, कृमिमुद्गर (भै. र.), कृमिहर रस(नारायण विलास), मुस्तादियोग (सिद्ध योगसंग्रह), योगराज रस, कृमिघ्न रस (रसेन्द्रसार संग्रह), कृमिकालानलरस, कीटारिरस, कृमिविध्वंसन रस (रसायन सग्रह), उदरजन्तुविध्वंस (रस सागर)

लौह—विडंगादि लौह

घृत—विडङ्ग घृत (चक्रदत्त)

आधुनिक विज्ञानोक्त कृमिघ्न चिकित्सा—

[१] कार्बन टेट्राक्लोर (*Carbon Tetrachlor*)
[२] टेट्राक्लोर एथिलीन (*Tetiachloi Ethylene*)
[३] सेन्टोनीन (*Santonin*)
[४] हैकेक्सिल रीसोरसीनाल(*Hexyl Resoicinal Crystloids S.* D.)
[५] एन्टीपार शर्वत (*Antipai Syiup B. W. &co.*)
[६] एन्टासील (*Entacyl B. D. H*)
[७] डायाफीनम (*Diaphenanum B P.*)
[८] मीथिलीन ब्लू (*Methylene Blue*)
१—बूटालोन (*Butalon*) (*'Ba'*)
२—निक्सोलान (*Nyxolan H. H. D.C.*)
[९] जैनशियन वायोलेट (*Gentian Violet*)
मेरोक्सिल (*Meioxl wan*)
[१०] हैट्राजान (*Hetrozon*)
[११] हैलमासिड शर्वत (*Helmacid Syiup*)
[१२] फीलिक्समास (*Filoxmas*)–यह दो प्रकार का होता है। नरल सत्व तथा शुष्क सत्व
(१) *Ext. Filicis liq.* ६० बूंद से १२० बूंद
(२) *Aspidium Oleoresin* ६० से ७५ ग्रेन
[१३] थाइमौल (*Thymol*)
[१४] चीनोपोडियम तैल (*Oil Chenapodium*)
[१५] टेट्राकैप (*Tetiacap ICI*)

इन उपरोक्त औषधियों की मात्रा, प्रयोग विधि एवं विशेष ज्ञातव्य बातें इन पर लिखे गए लिटरेचरों को पढ़कर यथास्थान ज्ञात करें। यदि मैं इन औषधियों की पूरी पूरी प्रयोग विधि लिखूं तो लेख काफी विस्तृत एव लम्बा हो जायेगा।

स्थानिक उपचार—

गुदादि गुह्य अङ्गों की बाह्य त्वचा में उत्पन्न हुई कण्डू पर कृमिनाशक तैल जैसे विड तैल, महामरिच्यादि तैल, कण्डूघ्न तैल या कृमिहर तैल, मलहर जैसे कैलोमल का १० से २० प्रतिशत का हाइड्राज अमोनियटा का २ से ३ प्रतिशत का मलहर लेप, धूम्रादि का प्रयोग अर्थावश्यक संभव उपायों द्वारा किया जाता है। कृमिव्रण के कारण पीडा होने पर न्यूपरकेन पेन्टोकेन नोवोकेन अथवा एन्थासान की २ से ५ प्रतिशत की मलहर काम में लाई जाती है। कहीं कहीं जर्मेक्स एवं स्केबेजीन की मलहर भी लाभकारी सिद्ध हुई है। स्वयं अनुभूत प्रयोग निम्न प्रकार से हैं—

कृमिघ्न क्वाथ—अनार की जड़ की ताजी छाल के टुकड़े कूटे हुए ५ तोला, पलाश बीज का चूर्ण ६ माशा, वायविडङ्ग का चूर्ण १ तोला और जल १ तोला ले। सबको मिलाकर ढक्कनदार कलई के बर्तन में १।। घण्टा तक आधा जल शेष रहने तक उबाल ले फिर शीतल होने पर छानकर बोतलों में भरलें।

मात्रा—५-५ तोला, ६ माशा शहद मिलाकर सुबह से आधा घण्टे पर ४ बार पिलावे।

उपयोग— यह क्वाथ उदरचेष्टा कृमि, चिपटे

कद्दाना कृमि (*Tape worm*),महागुदा गोलकेंचवे कृमि (*Round worm*) चुरव कृमि सूत्र कृमि (*Thread worm*), अन्त्रदाकृमि धान्यांकुर के सदृश गुदे हुये (*Hook worms*) इन सबको निकाल देता है। इन सब मे यह प्रयोग विशेषतः उदरावेष्टा के लिये है। यह कृमि अति कष्ट देने वाला है।

अनार के मूल की छाल मे कद्दाना को नष्ट करने का गुण अधिक है। पलाश बीज और वायविडङ्ग केंचवे और कद्दाना दोनो के निकालने मे सहायक है। वायविडङ्ग सूक्ष्म कृमियो का नाशक दीपन पाचन रक्तप्रसादन सारक चर्म रोग हर है।

इस क्वाथ के सेवन से कुछ बेचैनी होती है परन्तु वमन नहीं होती है। इस अवस्था मे कृमि स्थान च्युत होते हैं। फिर वे स्थिर न हो इसके लिये जुलाब देकर निकाल देना चाहिये। एरण्ड तैल का जुलाब विशेष हितकर है। यह आंत्र मे स्निग्धता लाता है कृमि और आम को निकालता है तथा विरेचन होजाने के बाद आंत्र को सकुचित होने में सहायक होता है।

कृमि रोग में बहुधा पाण्डु अग्निमान्द्य अरुचि वमन रक्त विकृति मासपेशियों और वातवाहिनियो की निर्बलता आदि अनुगामी विकार उत्पन्न हो जाते है इसलिये इस क्वाथ के सेवन के पश्चात् ताप्यादि लोह २ रत्ती, नवायस लोह ३ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती और ६४ पहरी पीपल ४ रत्ती का मिश्रण ३ मात्रा रोज कुछ दिनों तक सेवन करावे।

कृमिनाशनी वटी—

वायविडङ्ग १ तोला, खुरासानी अजवायन १ तोल, कबीला १ तोला, ढाक के बीज १ तोला, करज बीज की गिरी १ तोला, गुड़ ३॥ तोला।

सबको यथाविधि कपड़ चूर्ण करके मिलाकर २-२ रत्ती की गोलिया बनाले। प्रात सायम् १ से २ गोली की मात्रा मे शीतल जल के साथ सेवन कराने से पेट के प्रत्येक प्रकार के कीड़े नष्ट होते देखे गये हैं। यह अनुभूत प्रयोग है।

कृमिनाशक चूर्ण—

वायविडङ्ग १ तोला, हरड़ की बकली १ तोला, अजमोद १ तोला, छोटी पीपल १ तोला, जवाखार १ तोला, सेंधानमक १ तोला, सोंठ १ तोला घी में भुनी हुई हींग १ तोला।

समस्त औषधियो को कूट-पीस छानकर चूर्ण बनाले। आधा से १॥ माशे तक की मात्रा मे ताजा या गरम जल से सुबह शाम या भोजन के बाद सेवन करावे। इससे पेट के कीड़े नष्ट होते हैं उदरशूल, उदराध्मान, अपच तथा मन्दाग्नि लक्षण दूर होते हैं यह अनुभूत प्रयोग है।

कृमिघ्न मण्डूर—

मण्डूर भस्म १ तोला, कुटकी चूर्ण १ तोला, वायविडङ्ग चूर्ण १ तोला, हरड़ का चूर्ण १ तोला।

इन समस्त औषधियों को भली भांति खरल करके आधा माशा से १ माशा की मात्रा में १ तोला गोमूत्र २ तोला पानी के साथ सुबह शाम सेवन करावे। इससे पेट के कीड़े, पांडुरोग, ववासीर यकृद्विकार तथा मलावरोध दूर होते हैं। अनुभूत है।

कृमिकालकूट रस—

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध विष १ तोला, गंधक २ तोला, ढाक के बीज २॥ तोला, अभ्रक भस्म ३ तोला, कुड़ा की छाल ३॥ तोला, लोह भस्म ४ तोले, वायविडङ्ग चूर्ण ५ तोला, पारद गंधक की अत्युत्तम कज्जली करके समस्त भस्मो एवं काष्ठादि औषधियों के सूक्ष्म चूर्ण को मिलाकर अच्छी तरह खरल करके रखले। २ से ४ रत्ती तक की मात्रा मे प्रातः सायम् मधु या गरम पानी से सेवन कराते रहने से समस्त कृमिजन्य उदर विकार एवं पेट के कीड़े दूर होते हैं। यह भी अनुभूत है।

कृमि कुठार रस—

पारद गन्धक की कज्जली २ तोला, सोंठ, खुरासानी अजवायन, काली मिरच, ढाक के बीज, पीपल, खैरसार, चित्रक, करज बीजगिरी, हरड़ की बकली, शुद्ध गुग्गुल, दूधिया वच, हल्दी, शुद्ध

लहसुन, वायविडङ्ग, घी में भुनी हींग, मीठाकूठ, ईश्वरबोल, जीरा सफेद, सेंधा नमक, इन्द्रजव, काला नमक—प्रत्येक १-१ तोला लेकर यथाविधि कूट-पीस छानकर चूर्ण बनाकर एक एक रत्ती की गोलियां बनालें। १ गोली से २ गोली तक की मात्रा में मधु या ताजे जल के साथ प्रातः सायम सेवन करावें। इससे पेट के कीडे, उदर विकार तथा बाल-हिस्टेरिया रोग दूर होते हैं। अत्यन्त अनुभूत है।

—श्री सन्तोषकुमार जैन *A. M. S.*
आयुर्वेदाचार्य, राज० आयु० अस्पताल
त्रिपोलिया गेट, रतलाम (म० प्र०)

कृमिहर वस्ति

१—निम्बपत्र को जल में औटाकर छानलें। फिर उसमें नमक कुछ प्रमाण में मिलाकर एनीमा यत्र से बालक की गुदा में भरकर जितना अधिक समय तक रोका जाना संभव हो पानी को पेट में रोक रखें फिर निकल जाने दें। इस प्रकार सप्ताह में दो बार करें। समस्त चनूने मर कर निकल जावेंगे

२—कृमिग्रस्त बालक के उदर में कृमियों के इतने गुच्छे बन जाया करते हैं कि रेचन औषधियों एवं एनीमा का भी संतोषजनक प्रभाव नहीं होता। मृत्तिका भक्षण यदि बालक करता रहा है तब तो अधिक कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है। हमारे अनुभव के अनुसार एलोपैथिक औषधि पेट्रोलेगर अच्छा कार्य करती है। ½ से १ तोला तक पिलायें।

३—हिंग्वाष्टक चूर्ण अग्निमान्द्य की औषधि है ऐसा सबका अनुभव है। किन्तु कृमि को निर्जीव करने वाली निर्दोष औषधि के रूप में इसका अनुभव हमने किया है। परिवर्तन केवल इतना ही करना है कि हिंगु भर्जित करके न मिलाएं। मा. ४ रत्ती से १ माशा अनु गरम जल दिन रात में ३ मात्रा देकर एरंड तैल या पेट्रोलेगर का विरेचन दे। कृमि मरकर निकल जावेंगे।

—श्री उमाशंकर दाधीच साहित्यायुर्वेद विशारद
सनावद (उज्जैन)

पृष्ठ २७३ का शेषांश

निम्नलिखित अनुसार किया जा सकता है।

आन्त्रदा—इस नाम से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह आन्त्रो मे ही रहकर रोग लक्षण उत्पन्न करने वाला है और चू कि नवीन विज्ञान का ऐसकैरिस लम्बरीकोयाड्स (राउन्ड वर्म) भी ऐसा ही है। अत. इसे राउन्ड वर्म कह सकते हैं।

हृदयादा—इस नाम से यह अनुमान होता है कि हृदय आदि मर्म देश मे रहकर यह रोग लक्षण उत्पन्न करता है। टीनिया एकनीकोकस से इस कारण सादृश्य है। अत. इसे ऐकनीकोकस कह सकते हैं।

दर्भ कुसुम—इस नाम से यह अनुमान होता है कि जो दर्भ कुसुम की तरह गुच्छे गुच्छे हो, जो कि नवीन विज्ञान के ऑक्सीयूरिस वर्मीक्युलरिस से मिलता है। यह दर्भ कुसुम के आकार वर्ण आदि से मिलता है। अतः इसे ऑक्सीयूरिस वर्मीक्युलरिस या थ्रेड वर्म कह सकते हैं।

रोमविध्वंसा—इस नाम से यह अनुमान होता है कि इसके कारण रोमों का नाश होता है। ऐन्क्लोस्टोमा या हुकवर्म जिस स्थान यानी त्वचा पर व्रण बना (कुष्ठ जैसा) देता है वह स्थान व्रण छूटने के बाद रोम विहीन ही रहता है, वहा पर पुनः रोम नहीं होते। दूसरे जिसे ऐन्क्लोस्टोमा होता है उनके सिर के केश झरने लगते हैं डाढी मूंछ केश सभी की वृद्धि बाधित होती है। अतः इसे हुकवर्म कह सकते है।

केशाद—इससे यह अनुमान होता है कि यह केश की तरह है जो फाइलेरिआई से मिलता है। अतः इसे फाइलेरिआई कह सकते हैं।

पुरीषज—चूंकि तीनों टीनिया जाति के कृमि एक ही हैं अतः पुरीषज से टेपवर्म को ग्रहण किया जा सकता है।

—कविराज श्री लाला बदरीनारायण सेन
जी. ए. एम. एस मोतीझील (मुजफ्फरपुर)

अथर्व वेद में कृमि वर्णन्

आचार्य श्री दारोगाप्रसाद मिश्र

शिशुरोग के शारीरिक कृमियों के बारे में अथर्ववेद से लेकर आयुर्वेद के मौलिक ग्रन्थों में भी वर्णन आया है। अथर्ववेद मे तो स्पष्ट रूप से वर्णित है—

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीण धनपते जहि।
हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम ॥
अथर्व का० ५ सू. २३ ऋ. २

बच्चों मे विशेषत. सूत्रकृमि, यानि थ्रे डवर्म पाये जाते हैं। सूत्रकृमि को माधव निदान मे अंत्रादा कृमि कहा गया है। पाश्चात्यो ने इसे अन्य नाम भी दिये हैं जो आकृति ग्रहणात् जाति का पृष्ठ-पोषक है जैसे पीनवर्म (*Pin worm*) या, सीट-वर्म (*Seat worm*)।

इनके अतिरिक्त बच्चों मे जो हरिजन परिवार के होते हैं जैसे गौ खाने वाले चमार, सुअर खाने वाले मुसहर या दुसाध और घोड़ा खाने वाले डोम तथा भैंस, चूहे-गौह खाने वाले हलखोर, मेहतर, मांझी आदि हरजनों मे एवं गदहा खाने वाले किराती उनके बच्चों को स्फीत कृमि भी हो जाते हैं। स्फीत कृमि को हम महागुदा के नाम से जानते हैं। और डाक्टर लोग इसे टेप वर्म (*Tape worm*) नाम देते हैं। वकील, वैरिष्टर, प्रोफेसर, औफीसरों के बच्चो मे अंकुशकृमि हुकवर्म (*Hook-worm*) भी मैंने प्रत्यक्षतः देखा है एवं चिकित्सा भी की है। डाक्टर लोगो के हुकवर्म को आयुर्वेद मे चुरू क्रिमि या दर्भकुसुम कृमि नाम दिये जाते हैं।

राउण्ड वर्म [*Round worm*] कैल्सियम से रहित आहार वाले बच्चों में अक्सर पाये जाते हैं और जीवातिक्ति एवं प्रोटीन के अभाव मे ये स्थानिक लक्षण उत्पन्न कर देते है। राउण्ड वर्म को लोक में केंचुआ कहते है पर माधवकर ने उदरावेष्टा नाम दिया है। उदरावेष्टा नामक कीड़े बच्चों के मुख से भी कभी कभी आ जाते हैं। कभी कभी तो धोबियों के बच्चों में. पाखाने की गह मे आधा भीतर आधा बाहर अटक कर बड़ा तंग करते हैं। बच्चे के पास उसकी मां कीड़े को खींचने जाती है तो बच्चा चिल्लाता है और सांप सांप कह कर बड़ा हल्ला करता है। बड़े कष्ट से वह उसे खींचने देता है। कभी कभी वह बेहोश भी हो जाता है। इन कीड़ो को हम अपने आयुर्वेद में या वेद में कृमि रोग मे अन्तर्भावित कर लेते है। कृमिवाद का सिद्धान्त लाक्षणिक सिद्धान्त है मूल कारणवाद नहीं है। दोष कारणत्व की भी मीमांसा करने पर कृमिवाद न दोष में आते है और न कारण मे। कृमियों मे भी पंचभूत और आत्मा हैं। इनमे भी उत्तेज्य, समीकरण, वर्धन मलोत्पादन और सर्जन होते हैं। मेरा त्रिदोषवाद इन कृमिवाद से मूल का विषय है अतः रोगों का मूलभूत कारण कृमिवाद नहीं हो सकता है। साथ साथ क्षुधा, तृष्णा, राग, द्वेष, अरुचि, उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा, संन्यास, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, अभिमान, गृध्रसी वात (सियाटिका) आदि वात रोग के डाक्टरों के पास कोई भी कीटाणु नहीं होते है जिनसे ये रोग पैदा होते हैं। अतः मूलतः रोगों के कारण कीड़े नहीं त्रिदोष है। मैं कृमि के प्रसङ्ग में कृमिवाद पर कहने के बाद बाल कृमि पर कहूँगा।

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीण धनपते जहि।
हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम ॥
अथर्ववेद का० ५ सू० २३ ऋ. २

अर्थ यह है कि हे धनपते इन्द्र! (अस्य कुमारस्य क्रिमीण जहि) इस बच्चे के क्रिमियों को दूर करो (मम उग्रेण वचसा विश्वा. अरातय हता.) मेरे पास की उग्रगन्धावच से संसार के दुःखकर कीड़े मारे गये है। इस ऋचा मे पठित बचा पर

वैद्यों को रिसर्च करना चाहिए। उग्रगन्धा वच के बारे में भावप्रकाश ने कहा है कि "अपस्मार कफोन्माद भूत जन्तु अनिलाम् हरेत्" इसमें सन्धि से पृथक भूत और जन्तु शब्द रोग कृमी का ही पूर्णतः संतान कराते हैं।

बच्चे में कृमि रोग के आने के पूर्व गर्भ के ऊपर क्रिमियों का आक्रमण होता है एवं गर्भवती कृमि रोग से पीड़ित होती है। आप अथर्ववेद के काण्ड ८ सूक्त ६ के मन्त्र नवम का पाठ करें।

य. कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे नाशय स्याः कमलमञ्जिवम् ॥

इसमें प्रसूति के समय से स्त्रियों की सावधानी किम्वा मृतवत्सा स्त्री के गर्भ की रक्षा के वास्ते सावधानता बताई गई है। व्याख्या देखें—

"य. इमा स्त्रियं मृतवत्सां वा अवतोकां कृणोति" यानि जो दोष इस स्त्री को मृतवत्सा या गर्भपात होने वाली करते हैं तू इसके उस दोष का नाश कर गर्भ द्वार रूपी कमल को रोग रहित करो। अक्सर देखा जाता है कि जिनके गर्भाशय में सिफलिस या गोनोरिया के कीड़े आक्रान्त करके गर्भाशय को दुष्ट कर देते हैं वे स्त्रियां मृतवत्सा यानि गर्भ में ही बच्चे का मरना या अवतोका (गर्भपात हो जाना) हो जाती हैं। दूसरे १६ मन्त्र में भी आप पढ़ें—

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते स्त्रीभगो पिङ्गो गन्धर्वाण वातो अभ्रमिवाजतु ॥

व्याख्या—हे पिङ्ग औषधि! जो आधे उत्पन्न गर्भ को मारते हैं एवं जो प्रसूतिगृह में रहते हैं उन गन्धर्वाण स्त्रियों के भाग में रहने वाले रोग कृमियों को जैसे वायु मेघ को हटाती है वैसे हटा दो। यहा पिङ्ग औषधि के बारे में भाष्यकार सायनाचार्य ने अपने अथर्वभाष्य में श्वेत सर्षप पढ़ा है। ठीक है श्वेत सर्षप भी कृमिनाशक है। इसे भी राजनिघण्टु में देखें—

सिक्ता. तीक्ष्णोष्ण वातकफघ्न उष्णा' कृमि कुष्ठघ्न, भीतासित भेदने द्विधा। —राज०

रोगकृमियों का नाम —

(१) पलाल-अनुपलाल—मांस जिनको अनुकूल है या जो मांस रस से बढ़ते हो।

(२) शर्कु—हिंसक जो नाश करते है।

(३) कोक—काम को बढ़ा वीर्यनाश करने वाले

(४) मलिम्लुच—मलीनता से बढ़ने वाले, मलीनता में उत्पन्न होने वाले।

(५) पलीजक—पलित रोग को करने वाले।

(६) आश्रेय—किसी के साथ रहने वाले।

(७) प्रमीलन—सुस्ती लाने वाले।

(८) कृष्ण—काले रंग के किम्बा खींचने वाले।

(९) केशी—बालों वाले या जन्तु वाले।

(१०) असुर—प्राणाघात करने वाले।

(११) तुण्डिक—छोटे मुख वाले।

(१२) अराय—आरोग्यादि न देने वाले।

(१३) अनुजिघ्र—सूंघने से शरीर में प्रवेश करने वाले (नासिका मार्ग द्वारा फुफ्फुस में प्रवेश करने वाले)।

(१४) प्रमृशश—स्पर्शेन्द्रिय से प्रवेश करने वाले।

(१५) क्रव्याद—शरीर के रक्त-मांस खाने वाले

(१६) रेरिह—हिंसक, घातक या नाशक।

(१७) श्वकिष्की—कुत्ते के समान पीड़ाकारक

इन कृमियों का वर्णन अथर्ववेद काण्ड ८ सूक्त ६ के सोलह मंत्रों में सुस्पष्ट किया गया है। अथर्ववेद के काण्ड ५ और सूक्त ३ के तीसरे मंत्र से तेरह मंत्रों तक कृमियों का ही वर्णन है।

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥
सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्र कोकश्च ते हताः ॥
ये क्रिमय. शितिकक्षा ये कृष्णा. शितिबाहवः।
ये के च विश्वरूपास्तान क्रिमीण जम्भयामसि ॥

३-४-५ मन्त्रों की व्याख्या—जो आखों में भ्रमण करते हैं, जो नाक में प्रविष्ट होते हैं एवं जो दन्तों के मूलों में संक्रमित होते है उन क्रमियों को हम नाश करते है। कुछ ऐसे भी कीड़े है जो



दो समान रूप वाले और दो ही विरुद्ध रूप वाले भी हैं। और लाल एवं भूरा और भूरे कान वाले गृध्र एवं भेडिये के शरीर से उत्पन्न होने वाले कीड़े भी मारे गये। पांचवे मंत्र में लिखा है कि जो क्रिमि श्वेत कक्षावाले हों जो काले भुजा वाले हों और जो बहुरूपी हो उनका नाश भी हम करते है।

भावार्थ यह है कि इन मन्त्रों से यह सुस्पष्ट हो रहा है कि हमारे आचार्यों को अभिष्यन्द आदि नेत्र रोग की कीडियो का एवं पायरिया आदि दन्तमूल मे होने वाले रोगों के क्रीड़ों का पूर्ण ज्ञान था। आप जानते हैं कि माधव निदान के कुष्ठरोगाधिकार के अन्तिम पृष्ठ पर—

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच।
औपसर्गिक रोगांश्च संक्रमन्ति नरान्नरम्॥

का सुस्पष्ट कथाणक बताया गया है। कुष्ठ के सभी प्रभेद, ज्वर के सभी प्रभेद, राजयक्ष्मा के सभी प्रभेद और अभिष्यन्द आदि नेत्र रोग तथा औपसर्गिक रोग यानि चेचक, प्लेग, मम्प्स, बेरीबेरी, गोनोरिया, सिफलीस, हैजा आदि रोग भी कीटाणुजन्य हैं। यही कारण है कि ये दूसरे से तीसरे में फैल जाते हैं। ज्वर के प्रभेदो मे डेंग्यूफीवर (दण्डकज्वर) न्युमोनियां (श्वसनकज्वर), कालाअजार (कालाज्वर) मलेरिया (विषमज्वर) फैलेरिया (श्लैपदिकज्वर) और प्लेग (ग्रन्थिकज्वर) स्मालपाक्स (छोटी माता) चिकेणपाक्स (बड़ी माता) मीजल्स (रोमान्तिका) आदि सभी क़ीटाणु से ही उत्पन्न होते है। पर सिद्धान्त यह है कि आयुर्वेद कीटाणुओं को ही मूल कारण नहीं मान कर वात, पित्त, कफ, रक्त को मूल भूत रोगोत्पादक कारण मानता है। छठे मन्त्र से बताया है कि—

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टाश्च घ्नन्नदृष्टाश्च सर्वाश्च प्रमृणम् क्रिमीण॥६॥
येपावस कष्कषाश्च एजत्काः शिपवित्लुका।
दृष्टश्च हन्यातां क्रिमिरुहादृष्टश्च हन्यताम्॥७॥
हतो येवाप' क्रिमीणां हतोनदनिमोत।
सर्वान् निमष्मवाकर दृषदा खल्वा इव॥८॥
त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमि सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥९॥
अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्वज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा स पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥१०॥
हतो राजा क्रिमीणामुतैषा स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥११॥
हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयोहताः॥१२॥
सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥१३॥

व्याख्या इस प्रकार है—सूर्य आगे से चलते हैं वह विश्वदृष्ट है और सभी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कीड़ों को नाश करने वाले हैं। येवाष, कयकष, एजत्क और शिपवित्नुक नाम जो कीड़े है इनमें जो अदृष्ट हों या दृष्ट हो उन्हें सूर्य मार देते है। इन मन्त्रों से तात्पर्य यह प्राप्त होता है कि सूर्य की प्रखर किरण के द्वारा कीडों का नाश होता है, तथा सूर्य किरण चिकित्सा के द्वारा जीवाणु विज्ञान में साहाय्य प्राप्त हो सकता है। बैक्ट्रियलौजी के साथ सूर्य की किरणो का गहरा सम्बन्ध है इसलिये क्रिमियो के रंगो का वर्णन भी चौथे पांचवे मंत्रों में किया गया है। सूर्य मे भी सात रंगों की किरणे होती हैं। वैज्ञानिकों ने सूत्र रूप में उनका नाम स्मृत रहने के लिए "पानीस्याहपीनार" नाम दिया है। "पा" शब्द से पाटल रंग "नी" से नील, 'स्या' से स्वाह रग "ह" से हरित और "पी" से पीत रंग एवं "ना" से नारङ्गी रंग और "र" रक्त रंग लिये जाते हैं। इस तरह सातों रंगों की किरणों का प्रभाव विभिन्न रगों की क्रिमियों पर पड़ते हैं इस तरह से आठवें मन्त्र के बाद से सुस्पष्ट कहा गया है कि जो तीन शिर वाले, तीन नितम्ब वाले, सारङ्ग अर्जुन यानि चित्रविचित्र और श्वेत रंग वाले सभी कीड़े मारे गये। अत्रि ऋषि, जमदग्नि और कण्व ऋषि की तरह मैं उन कीड़ों को मारता हूँ। एवं अगस्त्य ऋषि के श्राप से रोग कीड़ों का नाश करता हूं। रोग कीड़ों के नर मारे गये, पिस्सू मारे गये और उनके मां बाप भाई बहन सभी मारे गये।

इनके घर वाले तथा क्षुल्लका नामक कीड़े थे वे सभी मारे गये। क्षुल्लका शब्द से क्षुधा स्थान के अन्नाद, उदरावेष्ट एवं महागुद कीड़ों का नाम आता है। माधवकर ने–

अन्नादा उदरावेष्टा, हृदयादा महागुदा।
चुरवो दर्भकुसुमा सुगन्धा तेचकथ्यते॥

के रूप मे राउण्डवर्म, टेपवर्म, हुकवर्म और थ्रेडवर्म का वर्णन किया है। उसमें वेद के क्षुल्लक भी आ जाते हैं। भगवान् आत्रेय ने चरक में 'विंशित क्रिमिजातयः' कह कर सूत्रस्थान के १९ अध्याय मे नामाङ्कन किया है और विभाग के सप्तम अध्याय मे कृमि रोग का सम्पूर्ण वर्णन ही आया है। मूलतः चार प्रकार की योनियों से चार प्रकार की कृमियां उत्पन्न होती हैं—पुरीषज, श्लेष्मज, शोणितज और मलज।

मलज कृमि का स्थान गन्दे कपड़ो मे चीलर के रूप में तथा शरीर गुह्येन्द्रिय स्थान के केशों एवं कक्षा वंक्षण मे आंठगोड़वा के रूप में और पक्ष्म मे श्मश्रु में, लोम, में ढ़ील-लीख के रूप मे इन्हे यूका लिक्षा पिपीलिका, अष्टपादिका और चीलर को परिवस्त्रा नाम से वैद्यक शास्त्रों में वर्णन है।

भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत मे मलज कृमियो का वर्णन उत्तर तन्त्र के ५४ वे अध्याय में किया है। उसमे उन्होंने स्वेदज की गणना नहीं की है। सुश्रुत ने आभ्यन्तर कृमियों मे पुरीषज, रक्तज और कफज की ही गिनती की है।

श्लेष्मज कीड़ों की गति मस्तिष्क मे, हृदय में एवं फुफ्फुस आदि कफ स्थानों मे भी हो जाती है। डाक्टरों ने भी बताया है कि टेपवर्म के भ्रूण मस्तिष्क में जाकर कोष्ठ बनाते हैं और ये कोष्ठ टीनिया सोलियम (*Taenia Solium*), टीनिया सैजनाटा और टीनिया ऐकौनीकौकस [*T. Echonicoccus*] मे मिलते हैं। इनके द्वारा हुए रोग को कृमिकोष्ठ पुञ्ज[Hydatid] कहते हैं। ये प्रायः यकृत मे बनते हैं। इनके वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि पुरीषज कृमि जैसे ककेरुक, मकेरुक, लेलिहा, सशूलका, सौसुरादा को कौकस, वैसिलस, अमीवा, वैक्टिरिया एवं स्फीत कीड़ों के मूल कारणों मे भी अन्तर्निहित किये जा सकते है। पुरीषज कृमि मे ही स्फीत कृमि, मूत्रकृमि और और आन्त्र कृमि एवं मलजकृमि भी आती हैं। श्लेष्मज कृमि को अगर हम मूलतः यक्ष्मा, न्यूमोनियां, श्वास, डिफ्थीरिया, सेप्टिक टौंसिल आदि कफज रोगों मे गणना करें तो बडा सुगम होगा। पर चरक या सुश्रुत मे कफज कृमियों को अन्त्रादा कहने के बाद हृदयादा भी कह दिया है। अन्त्रादा से जहाँ पुरीषज का आभास होता है, वहां हृदयादा से रक्तज कृमि भी गोचर होने लगती है। पढ़ने मे बड़ा भ्रम होता है। रक्तज कृमियों में वातरक्त, कुष्ठ, सिफलिस, गोनोरिया और अभिष्यन्द तथा विविध क्षुद्र रोग के कीड़े भी आ जाते हैं। चरक ने कहा है कि 'रक्तजानां स्थानं रक्त वाहिन्यः धमन्यः' और सुश्रुत ने भी कहा है कि 'धमन्यां रक्तजानां च प्रसवः प्रायशः स्मृत' माधव निदान में तो 'रक्तवाही-शिरास्थान रक्तजा जन्त षोडशाव' कहकर बड़े सुन्दर तरीके से रक्तज कीड़ों का स्थान निदर्शित किया है। यही पर 'सौक्ष्म्यात् केचिद् अदर्शगाः' कहकर यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीन युग मे भी माइस्क्रोप था। 'अदर्शनं लोपः' व्याकरण में सूत्र है जिसका भाष्य है कि 'प्रसक्तस्य अदर्शनं लोप संज्ञ स्यात्' यानी जो वर्तमान हो, पर देखा न जाय उसे लोप कहते हैं और लोप के लिये ही लोपदर्शन यन्त्र का निर्माण है। अतः रक्त कण, श्वेत कण, अणुचक्रिका आदि रक्त सैलों की तरह मलेरिया के रक्तज कीड़े जैसे प्लाजमोडियम का कोई भेद या प्रोटोजोवा (Protozoa) का कोई प्रकार या काला जार के लेशमान डोनोवाण बाड़ी और प्लेग के (P. Pestis) प्लेग दंडाणु और कुष्ठ रोग के रक्तज कीड़े जैसे कुष्ठ दण्डाणु [Mycobacterium Leprae]। आन्त्रिक ज्वर के एवरथीलिया टाइफोसा भी रक्तज जन्तु के अन्दर ही गिने जाते हैं। रोहिणी रोग यानी डिफ्थीरिया रोग तो विशे-



पकर बच्चों मे ही होता है और इसके कीड़े कोरोनी बैक्टीरीयम डिफ्थेरी तो बच्चों को शीघ्र ही मार देता है। इसे अगर हम बालरोग की घातक कृमि माने तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसे गांवों मे 'जम्भुआ जातना' कहते हैं। स्कन्दग्रह, पूतना, अन्धपूतना, स्कन्दापस्मार आदि बालरोग के नवग्रह भी नव प्रकार की कृमियों से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे डिफ्थीरिया यानी रोहिणी के कीड़े घातक होते हैं उसी तरह घातक इनके भी कीड़े होते हैं जिन्हे अथर्ववेद के पूर्वलिखित सूक्तों के कीड़ों से सामंजस्य देखे। डिफ्थीरिया भी कण्ठ का ही रोग है और बालरोग भी प्रायशः कण्ठ मे ही 'जम्भुआ जातकर' गला देश मे शोथ होकर या कण्ठनाली संकोच होकर पैदा हो जाते हैं। रक्तज कृमियों के प्रसार का मूल प्रमाण तो कृमिजन्य शिरोरोग कृमिज हृद्रोग और आंख, कान, नाक तथा व्रणों से कीड़ों का निकलना है। इसके परिसर्पण से नानाविध रोग होते हैं। सुश्रुत ने पुरीषज कीड़ों को अजया, विजया, किप्य, चिप्या, गंडूपदा, चुरव, द्विमुखा के नाम से बताये हैं और कफज कीड़ों को दर्भपुष्पा, महापुष्पा, प्रलूना, चिपिटा, पिपीलिका, दारुणा इत्यादि नाम दिये हैं।

रक्तज कीड़ों को किकिशा, दन्तादा, केश, रोम, नखादा, कुष्ठजा, सपरीसर्पा नाम से सुस्पष्ट हैं। चूंकि इनसे पूर्वोक्त वर्णित रक्तज रोग अवश्य ही होते हैं।

आयुर्वेद मे कृमि रोग के निदान और उसकी चिकित्सा के लिये भूतविद्या नामक अङ्ग का ही वर्णन है। भूताभिषगज ज्वर या उन्माद मे मूर्च्छा, संन्यास, अपस्मार मे भूत, यक्ष, रक्ष, अराति, पिशाच का वर्णन भी उन राक्षस कीड़ों का ही वर्णन है जिन्हे समन्वय की आवश्यकता है। बालरोगों की दवा और पथ्य पर भी इन राक्षसों का आक्रमण होता है। बच्चों की दूध पिलाई, स्त्री के स्तन पर तथा बच्चों के पिच्छावन पर भी इन कीड़ों का घातक आक्रमण होता है। बच्चों के बिच्छावन, खाट के समीप हवन करने का विधान है। इस विधान से रोग कीट का नाश करना ही मूल मे उद्देश्यनिहित मैं मानता हूँ। [अथर्ववेद काण्ड ६ सू. ३२ ऋचा १ से ३ तक पढ़े] उनमें रोग कीटाणुनाशक धूप का वर्णन करते हुये निम्न कीटों का नाम आया है जैसे—

[१] पिशाचा—मांस की क्षीणता करने वाले या रक्त क्षीणकारक।

[२] यातुधाना—शरीर मे यातना या पीड़ा उत्पन्न करने वाले कीड़े।

[३] राक्षसाः—क्षीणता उत्पन्न करने वाले कीड़े या क्षरासा भी।

[४] अत्रिण—'अरन्ति इति अत्रिणः' की व्युत्पत्ति से शरीर भक्षण करने वाले रोगजन्तु।

इसके लिये हवन की व्यवस्था करते हुये ईश्वर का वाक्य यह है "विश्वतो वीर्या वीरुत्" अत्यन्त गुणवाली वनस्पति से एवं धूप से इनका नाश होता है। अतः धूपण प्रमुख चिकित्सा बच्चों में होती है।

चिकित्सा—

हवन मे यव, तिल, गुड़, घी, देवदारु, छड़ीला, जटामांसी, कपूर और अगर, तगर, गुग्गुल का चूर्ण अत्यन्त बारीक करके जन्मकाल से ही प्रसवागार मे धूपन करें। बेर की लकड़ी की आग सूखे सेहुण्ड के अंगार हल जलाकर अंगार बना कर दिन रात मे सात बार धूपण करे। प्रसवागार के द्वार पर सेहुंड [थूहर-स्नुही] रख देवे। बन्दूक तलवार या लहसुन हींग कपड़े मे बांधकर रक्खें। काले कपड़े म सरसों, हींग, तुलसी का बीज, तिल, गुग्गुल, सरसों की खली बाधकर द्वार में लटका दे। प्रसूता की कमर में ठीक योनि के सामने बैंडेज बाध दे जिससे योनि मे कीड़े प्रवेश न करे। पेशाब, पाखाना विसंक्रमित स्थान पर करे। नारी मे कृमि हो जाने पर स्तन्य पर अदृष्ट कृमि से आक्रान्त होकर रक्तजकीट दुग्धपान से बच्चे मे आकर कंठनली को संकुचित कर देते हैं। बच्चे के हाथ

में गन्दगी न रहे, माता का या धात्री का नख वस्त्र साफ रहे। क्षीरासी बच्चों के बालग्रह में पूर्ण विसंक्रमरणयता रक्खे। गन्दे पैर से कोई न जाय या गन्दी चीजे न रहे। बच्चे के विछावन में पखाना, पेशाब हो जाने पर उसे पूर्ण विसंक्रमण करें। विसंक्रमणता के अभाव में नवग्रहों (स्कन्दग्रह आदि) के आक्रमण का भय रहता है। निराकार सूक्ष्म कृमियों से बच्चे को बचाना मूल उपचार माना गया है। निराकार कृमियों के प्रवेश होने पर ही गांवों में लोग भूत, प्रेत और डाइन (कात्यायनी) आदि का प्रवेश मानकर मूर्ख तान्त्रिकों के द्वारा झाड़ फूक कराते कराते बच्चों को मार देते हैं। इन निराकार कृमियों के बच्चों में प्रवेश होने पर बच्चे दूध नहीं पीते हैं, बहुत रोते हैं, भयभीत होते है, वमन करते हैं, पतला पखाना करते हैं, हाथ-पैर फेंकते हैं और मुट्ठी बांधकर शरीर को ऐंठते हैं। उनका पञ्जरा नथना फूलता है और कफ के मारे घर्र घर्र करते है, बेहोश हो जाते हैं तथा उनकी सुषुम्ना में लसीका संचय होकर मेनीञ्जाईटिस रोग होकर या कण्ठ में डिफ्थीरिया रोग होकर मृत्यु भी हो जाती है। कभी कभी इन अदृश्य सूक्ष्म कीड़ों के आक्रमण होने पर बच्चे में १०८% F. ज्वर हो जाता है। इनसे बचने के लिये बच्चों की खाट पर बकरी की पूंछ का केश, बिलाई की पूंछ का केश, बिलाई, बकरी का पाखाना प्रत्येक १-१ तोला, राई, सरसों, हिंग, अजवाइन, गन्धक, शिलारस १-१तोले, घी ५ तोला लेकर हवन करें और हवन की आग से हाथ तपाकर बच्चे की देह को सेक करे। कुमार कल्याण रस ½ गोली, कृमिमुद्गर ¼ गोली, पलास के बीज को पानी से पीसकर रसगार कर उसी में दवा घोलकर ३-३ घंटे पर या हालत खराब होने पर आदी के रस ८ आना भर में ३०-३० मिनट पर देते रहें। तुलसी के पत्तों का रस स्तन के चूचुक पर बच्चे को पिलाने में मां अवश्य लगाले या बच्चे को भी १-१ चम्मच तुलसी रस दे। कृष्ण के मामा कंस ने पूतना नामक अदृश्य कृमि को एक हृष्ट-पुष्ट नारी के स्तन चूचुक में लगाकर कृष्ण के घर में जाकर छल से कृष्ण को दुग्धपान कराकर मार देने की आज्ञा दी थी, पर भूतभावन भगवान कृष्ण ने दुग्ध-पीते पीते उस नारी के प्राण ही हर लिए। उस दिन से अज्ञातनामा नारी को लोग पूतना ही कहने लगे चूंकि पोस्टमार्टम में पूतना पाया गया होगा या उस युग के विकसित विज्ञान का कोई और चमत्कार होगा। राम के समय में, कृष्ण के समय में बैक्टिरियोलोजी भारतवर्ष में अधिक विकसित था। विज्ञान का सभी अङ्ग अभ्रचुम्बी बना हुआ था। कीटाणुओं के बाण बनाये जाते थे। देखिये भागवत कृष्ण और शंकर का युद्ध दशमस्कन्ध में। जो बच्चे क्षीरान्नाशी हों उन्हें चरक के सिद्धान्त से चिकित्सा करें।

अपकर्षणमेवादौ कृमीणां भेषजं स्मृतम्।
ततो विघातः प्रकृतेः निदानस्य च वर्जनम्॥

मतलब यह है कि कृमि रोग में कृमि अपकर्षक दवाओं से कृमि का अपकर्षण करे, उसके पश्चात् प्रकृति विघात और निदान परिमार्जन करना चाहिए। यदि बच्चों के पेट में कीडे हो गये हों तो पहले तिलकूट (तिलपिष्ट) तिलवा खिलावें एवं मछली खाने वाले को मछली दे, दूध, दही, मिष्ठान्न या लड्डू या कसार खिलावे। इनके खिलाने से कृमि कोष्ठ में आ जाते हैं और उसके ऊपर से बच्चे को विरेचक दवा दें। जैसे निशोथ को ८ आना भर लेकर पानी से पीसकर पिलावें या कालादाना को १० आना भर पीसकर पिलावे या मुस्तादि क्वाथ में दूध देकर आस्थापन वस्ति का प्रयोग करें। इनसे कीडे दूर न हों तो बच्चों को मुस्तादि क्वाथ १ तोले सुबह, दोपहर, शाम और रात को ६ बजे पिलावें या काम्पिल्ल चूर्ण ४ रत्ती मधु से चटावे या पानी से पीसकर औंटी दें। पलाशबीजादि चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा ४-४ घंटे बाद ४ बार लगातार तीन दिनों तक खिलाकर चौथे दिन प्रातःकाल एरण्ड तैल ½ औंस या १ औंस (२॥ तोला) की मात्रा में ५ तोले गाय के दूध में देकर पिलादें। पलाशबीजादि चूर्ण,



हरिद्राखण्ड को ४-४ रत्ती की मात्रा मे दूध से पीसकर औटी दे या विडङ्गाद्य तैल की वस्ति का प्रयोग करें। विडङ्गादि तैल २ औंस, दूध आधा सेर (१ पौंड) गरम करके पखाने की राह मे ७ दिनो तक सुबह मे चढ़ावे।

अगर बच्चे धनिक घर के हों तो उन्हें कृमि-मुद्गर रस ½ गोली, विडङ्गासव १ तोला में घोल-कर ४-४ घंटे पर ४ बार लगातार तीन दिनों तक दें, बाद मे बिरेचक दवा में जलाफा दो आने भर पीसकर पिलादे। पुन. लगातार इसी तरह ४ बार करें तो कीड़े नष्ट होकर कायाकल्प हो जायगा।

कीड़े के लक्षण—

कीड़े हो जाने पर बच्चों का शरीर पीला और उदास हो जाता है। पेट निकल आता है। बच्चे विशेषतः पेट के बल सोते हैं। रात में चेहा चेहा कर उठते है। भूंजा, मिठाई, सत्तू, दाल, अलुई, पापड़, गुड़, कच्चा चावल, कच्चा चना और भोजन अधिक मांगते हैं। चुराकर भी खाते रहते है। वेसन की चीजे ज्यादा खाते हैं। बाजार से कचरी घुघनी ज्यादा खरीदकर खाते हैं। चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं। उनके पाखाना से एवं अपान वायु के उत्सर्ग से बड़ी वदबू होती है। पाखाना पूरा पूरा और चित्र विचित्र एवं छोटी छोटी कृमियों से युक्त होता है। कभी कभी गुच्छे के गुच्छे टेपवर्म बच्चों के गुदा मे भर जाते हैं और बच्चे पाखाने की राह को नोंचते है एवं बुई बुई करके रोते चिल्लाते हैं। जो बच्चे दिन भर खाते रहें, मां के साथ खांय, बाप के साथ खांय, पिता-मह या मातामह के साथ खांय, पितामही या माता-मही के साथ, अकेले खांय या अन्य बच्चों के साथ खांय, पर ये आदत कृमियों के लिये घोर संक्रामक है। बच्चों को सिर्फ अकेले खिलावें। बाजार की चीजें न दे। मिट्टी खाने नहीं दे। अक्सर बच्चे मिट्टी को खाने लगते हैं।

इन लक्षणों से आक्रान्त कृमिजन्योपसर्ग मे बच्चों को निम्न दवा दे—कृमि कालानल रस ½ वटी, विडङ्गादि लौह ¼ वटी, विडङ्गासव १ तोला में घोल ४-४ घंटे पर ४ बार १५ दिनों तक दे। इसके बाद १५ दिनों तक क्रीटारि रस ½ वटी और नवायस चूर्ण २ रत्ती या आरोग्यवर्धिनी ½ वटी रात मे गुड़ से या मधु से या रसगुल्ला मे भर कर लगातार ४-४ घण्टे पर ४ बार खिलावें। इनसे पूर्वोक्त सभी लक्षण एक मास मे ठीक हो जांयगे।

शास्त्रों मे वामक, विरेचक औषधि भी स्नेहन, स्वेदन कराकर देने की आज्ञा है पर इन्हें बच्चों पर या राजा-महाराजा या बड़े लोगो के युवक, प्रौढ़ों मे नहीं दे अन्यथा असात्म्य होता है।

पथ्य—

बार्ली, अरारोट, मिश्री मिलाकर २ कप सुबह शाम दे। भात दे और करैली, कुन्दरी, त्रिकोल, चठैल, भिण्डी, अगस्त्य के फूल, गूमा के फूल, कचनार के फूल की भुर्री, सब्जी बनाकर दे। मूंग की दाल का पानी बायबिडिङ्ग का चूर्ण और घी, हींग से बघार कर दें। इन्द्र जौ के १ तोले को काढ़ेमें मिलाकर गाय का दूध भी दे सकते हैं। इन्हें भी जरूर दें। गरीबों को मांड भात दें और प्याज की भूज्जिया, लशुन की चटनी दें। साफ सुथरा रक्खे।

—आचार्य श्री दारोगाप्रसाद मिश्र
आयुर्वेदिक कालेज, मोतीहारी (चम्पारण)

गुदपाक-गुदभ्रंश व गुदार्श

वैद्य श्री नागेशदत्त शुक्ल आयुर्वेदाचार्य

गुदपाक

गुदपाक, गुदभ्रंश, गुदार्श ये तीनों रोग आयुर्वेद-क्षेत्र विचार सीमा की दृष्टि से कायचिकित्सा और शल्यतंत्र दोनों के अन्तर्गत आते हैं। इन तीनों रोगों में आभ्यन्तर व बाह्य, दोनों चिकित्साओं का आश्रय लिया जाता है। ये तीनों रोग बाल, युवा, वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होते हैं। काय चिकित्सा की दृष्टि से ये तीनों रोग परतंत्र (उपद्रवस्वरूप) होकर स्वतंत्र रोग के नाश के बाद नष्ट हो जाते हैं। गुदपाक पित्तज अतिसार व सन्निपातज अतिसार की तीव्रावस्था में उत्पन्न होता है। 'तृष्णा दाह स्वेद मूर्च्छा शूल ब्रिध्न संतापपाक परीत इति पित्तातिसारः। स्रस्तपक्वगुदं पतित गुदवलिम्।' च. चि. अ. ११ सू. ९-१३। पित्तातिसार में प्यास, जलन, पसीना, चक्कर, शूल, गुदा में जलन और पाक उत्पन्न होता है। सन्निपातज अतिसार मे गुदा शिथिल होजाती है, पक जाती है, गुदा का वलि स्थान भ्रष्ट हो जाता है। शिशुरोगाङ्क की दृष्टि से इस लेख में उक्त तीनों रोगों पर बाल रोगों की दृष्टि से विचार करना है। गुदपाक चिरकाल तक अतिसार रहने के कारण उत्पन्न होता है। यदि बालक को अतिसारजनित गुदपाक हो तो अतिसार चिकित्सा द्वारा अतिसार शान्त होने पर सामान्य स्थानिक चिकित्सा द्वारा गुदपाक मिट जाता है।

कभी कभी अतिसार के उपद्रव मे गुदपाक होने पर माता द्वारा प्रक्षालन प्रोच्छन की उपेक्षा के कारण गुदा व्रणित हो जाती है। ऐसी व्रणितावस्था मे अतिसार-चिकित्सा से अधिक स्थानिक चिकित्सा को महत्व दिया जाता है। गुद पाक की सामान्य व विशेष-दो सम्प्राप्ति मान्य हो सकती हैं।

अतिसार के अभाव मे भी बालकों को गुदपाक होता है। ऐसे गुदपाक का समावेश आयुर्वेदाङ्ग की दृष्टि से कौमारभृत्य व क्षुद्ररोगाधिकार में किया गया है। बालकों की आहार की दृष्टि से तीन अवस्थायें होती है--क्षीराद, क्षीरान्नाद, अन्नाद। वागभट्टाचार्य ने अष्टाङ्ग हृदय के उत्तरतंत्र मे लिखा है कि माता के दूध मे दोष होने के कारण बालक के पाचन संस्थान में दूध का पाचन ठीक ठीक नहीं होता, मलस्राव होता रहता है, मल गुदद्वार पर बहिर्भाग में लगा रहता है। स्वच्छता की असावधानी में गुदा पर लगा मल गुदा के चारों ओर के चर्म को दूषित करता है।

बच्चे की मां यदि चरपरे, गरम मसाले युक्त, तेल से तले, तेज़ पदार्थ खाती है, बीड़ी सिग्रेट पीती है, धूप मे काम करती है, पित्त संचय करने वाले पदार्थ खाती हैं तो पित्त संचित होकर दूध को दूषित कर दूध द्वारा बालक को प्राप्त होता है। ऐसे दूध मे द्रवत्व, तीक्ष्णता तथा उष्णता अधिक रहती है।

उष्ण तीक्ष्ण अम्लतायुक्त दूध से निर्मित स्थूलमल के गुदा में लगे रहने से गुदपरिसर चर्म पर तीक्ष्णता से गुदा का अन्तर्गत व बहिर्भाग लाल रंग का हो जाता है। चर्म पर पिडिकायें आजाती हैं या व्रण हो जाता है, खुजली होती है, दूध की उष्णता के कारण बालक की गुदा पर पसीना अधिक आता है। पसीने के न पौंछने से, स्नान न कराने से पसीना के क्षार से गुदापाक हो जाता है।

बालकों के इस गुदपाक के तन्त्रकारो ने अनेक नाम दिये है। माता के दुष्ट दूध के कारण इस रोग का एक नाम मातृकादोष है। इसे अहिपूतन, पृष्ठारु, गुदकुन्द, गुदकुट्टक कहते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने निदान स्थान के तेरहवें



अध्याय क्षुद्ररोगाधिकार मे अहिपूतन लिखा है। यदि मां ध्यान न दे तो बच्चे मलत्याग पाव पर बैठ कर नहीं करते है, ऐसी अवस्था मे मूत्र भी बहकर गुदा पर जाता है। मल मूत्र दोनो मिल कर गुदा चर्म पर लगे रहने से अपान स्थान को दूषित करते हैं। क्षारीय तीक्ष्णता से चर्मगत भ्राजक पित्त और आर्द्रता से कफ दूषित होता है जिससे त्वचा मे लाली और खाज पैदा होती है, फुन्सियां आती है बच्चा खुजलाता है, फुन्सिया फूट जाती है । फिर उन फूटी हुई फुन्सियों पर मलमूत्र लगता है। व्रण दूषित होकर पिड़िका हो जाते हैं।

माता के दूषित दूध से या मधुररस, पेपरमेन्ट, शक्कर, गुड़ आदि के बच्चों को अधिक सेवन कराने से बच्चों के पेट मे छोटे कृमि हो जाते हैं। वे कृमि मल के साथ बाहर आते है। और गुद बलि मे लगे हुये मल मे कृमि एकत्रित हो जाते हैं जिन्हें चुन्ने कहते हैं। ये कृमि गुदा की आभ्यन्तर त्वचा को काटते हैं। गुदा में खुजली होती है गुदा लाल रंग की हो जाती है। इस प्रकार कृमिज गुदपाक भी बालकों में प्रायः पाया जाता है।

इस प्रकार निदान व संप्राप्ति भेद से गुदपाक के तीन भेद हैं--अतिसारज गुदपाक, स्तन्यदोष व अस्वच्छताजनित गुदपाक, व कृमिज गुदपाक।

चिकित्सा—

अतिसारज गुदपाक प्रायः परतंत्र होता है। अतिसारज गुदपाक में बालकों की आहारावस्था की दृष्टि से चिकित्सा करनी चाहिये । यदि बालक केवल दूध पीता है तो बालक की माता की परीक्षा कर स्तन्य शुद्धि के लिये चिकित्सा करनी चाहिए। यदि माता को प्रसूतिका, अतिसार या ग्रहणी हो तो रोगानुसार चिकित्सा करनी चाहिये । मा को यदि अतिसार प्रबल हो तो मां का दूध बच्चे के लिए छुड़ा देना चाहिये। बच्चे को थोड़े ही दिनों की व्यायी हुई गाय के दूध पर रखना चाहिये। बच्चे को ४ गुंज(रत्ती) चातुर्भद्र चूर्ण को दूध मे कथित कर दिन में तीन बार देना चाहिये, या महागंधक रस के एक गुंज को तीन मात्रा मे विभाजित कर दिन रात मे देना चाहिये । स्थानिक चिकित्सा के लिए रसौत थोडे पानी मे गीला कर मधु मे मिला कर लगाना चाहिये। या बेर के हरे पत्तों को सिल पर बारीक पीसकर मधु मे मिलाकर लगाना चाहिये। जैसे जैसे बालक का अतिसार ठीक होता जाता है वैसे वैसे बालकों का गुदपाक ठीक होता जाता है, मिट जाता है।

जिन बालकों को अस्वच्छता के कारण गुदपाक हो जाता है उनकी स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि गुदपाक होकर ज्यादा दिन हो गये हों, या गुदपाक तीव्र हो ज्यादा लाली हो, दाह हो, चोष हो तो जौंक लगाकर रक्त निकाल देना चाहिए। रक्त निकल जाने से रोग शीघ्र शान्त हो जाता है।

गुदपाक जनित व्रण को त्रिफला बेर की पत्ती या पाकर (पीपल भेद) के पत्तों को पानी में उबालकर उस पानी से धोना चाहिये। व्रण ज्यादा बढ़ गया हो पीप हो तो हीराकशीश, गौरोचन, नीलाथोथा, मैनसिल, हरताल, रसौंत प्रत्येक एक एक माशा लेकर एक छटांक धोये हुये घी में या वैसतीन मे मलहम बनाकर घावों में लगाना चाहिये। घावों पर कपास रखकर गोफणबंध पट्टी से करना चाहिये।

यदि खुजली ज्यादा हो तो मुलेठी, सारिवा, शंखनाभि, कालासुरमा, सफेद सुरमा, असन की छाल सब समान भाग कूटकर कपड़े मे छानकर रख लेना चाहिये। इस सूक्ष्म चूर्ण को व्रण पर बुरकाना चाहिये और त्रिफला क्वाथ से धोना चाहिये।

सामान्यावस्था मे त्रिफला की कालीभस्म १ तोला, निम्ब तैल २॥ तोला मे मिलाकर लगाने से अस्वच्छताजनित गुदपाक शीघ्र चला जाता है।

गुदकुन्दक, अहिपूतनादि गुदपाकी बालक के माता के स्तन्य की परीक्षा करनी चाहिये । स्तन्य-

विपद् वातज, पित्तज, कफज जिस स्वरूप की हो उसके अनुसार स्तन्य संपत्ति के लिये यथादोष चिकित्सा करनी चाहिये। माता के वातज दुग्ध दोष के लिये पाढ़ी शुंठी देवदारु गुड़ बेल का एक तोला का क्वाथ पिलाना चाहिये। पित्तज में नागरमोथा, सारिवा चिरायता, कुटकी का क्वाथ, तथा कफज में मरोड़फली, इन्द्रयव, नागरमोथा का क्वाथ पिलाना चाहिये।

औषधि शुरू करने के पहले एक तोला मैनफल चूर्ण को सेर भर दूध में पकाकर बच्चे की मा को प्रातः ६ बजे भरपेट गले तक भोजन कराके वमन के लिये पिलाना चाहिये। वमन के बाद क्वाथ देने से शीघ्र लाभ होता है। उक्त औषधों का लेप मातृस्तनों पर करना चाहिये। एक घंटे लगे रहने के बाद गरम जल से धो देना चाहिये। इस प्रकार दूध की शुद्धि हो जाती है।

कृमिज गुदपाक में—कृमिनाशक चिकित्सा की जाती है। वायविडंग व कबीला को समभाग चूर्ण कर १ माशा चूर्ण व एक माशा हल्दी चूर्ण के साथ मा के दूध में एक मात्रा में लगातार तीन दिन देना चाहिये। इस दूध में थोड़ा मधु मिलाकर देने से बच्चे पी लेते हैं। उक्त औषधों का क्वाथ कर दूध में मिलाकर भी दिया जाता है।

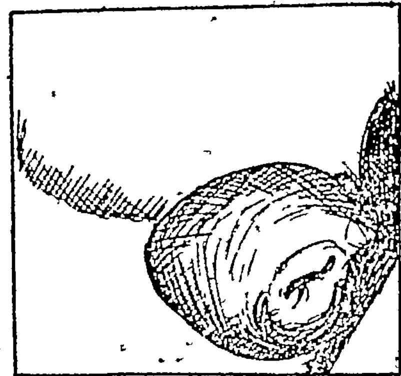
१ तोला वायविडंग चूर्ण को आधा सेर जल में चतुर्थांश क्वाथ कर ग्लेसरीन सिरिंज से वस्ति देनी चाहिये। बाद में २ गुंज कुचिला चूर्ण एक माशा कबीला को मधु में मिलाकर गुदा के अन्दर लगाना चाहिये। इस प्रकार कृमि नष्ट हो जाते हैं। बाद में स्थानिक चिकित्सा की दृष्टि से रक्तिमा को दूर करने के लिये के लिये तिल को पानी में भिगोकर पीस कर मधु में मिलाकर लगाना चाहिये।

गुदभ्रंश

वातज अतिसार में उपद्रवस्वरूप गुदभ्रंश होता है। 'भ्रष्ट गुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्।' च. चि. १९-७। वातज अतिसार बाल, युवा, वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होता है। वृद्धावस्था का अतिसार तो यूं ही असाध्य होता है यदि वातज प्रकृति हो, वातज अतिसार हो, और और गुदभ्रंश हो तो सर्वथा असाध्य है। इस लेख में बालगुदभ्रंश पर ही विचार करना है।

आचार्य सुश्रुत ने निदानस्थान के क्षुद्ररोगाधिकार में लिखा है कि पुरीष के वेग को बलात् उदीरण करने से चिरकाल तक अतिसार रहने के कारण से शरीर की रूक्षता व दुर्बलता के कारण गुदा बाहर गिरने लगती है। वातप्रकोप से गुदा की आकुञ्चन क्रिया शिथिल हो जाती है। गुद वलि की निर्बलता से गुदभ्रंश होता है जिसे कांच निकलना भी कहते हैं।

वातज अतिसार में मल आसानी से नहीं गिरता कूंथना पड़ता है। बार बार कूंथने से गुदवलि पर जोर पड़ता है। जबरदस्ती कूंथकर मल निकालने से काच बाहर पड़ने लगती, रूखे दुबले शरीर के बच्चों की गुदवलि में संधारण क्रिया शिथिल हो


चित्र नं० ७४—गुद-भ्रंश

जाती है, गुदभ्रंश हो जाता है। बलात् मलबिसर्जन, अधिक मल विसर्जन एवं दौर्बल्यजनित गुद असंधारण तीन भेद शास्त्रीय प्राप्त होते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि बच्चे स्वस्थ देखे जाते हैं, और उन्हें गुदभ्रंश होजाता है और गुदभ्रंश के बाद अतिसार शुरू हो जाता है और गुदभ्रंश ठीक होते ही अतिसार भी नष्ट हो जाता है।

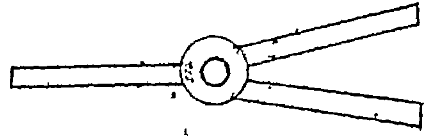


जिन बालकों को अश्मरी होती है या जिन्हें सनिन्नरुद्ध गुद पहले हुआ रहता है उन्हे मलत्याग को बल देकर कूंथना पड़ता है। उन्हें भी गुदभ्रंश हो जाता है। इस प्रकार गुदभ्रंश स्वतन्त्र भी है परतन्त्र भी है।

गुदभ्रंश के स्वरूप में भी अन्तर दिखाई पड़ता है। कुछ बालकों की गुदा का थोड़ा भाग, श्लेष्म-कला बाहर आती है। कुछ के गुदा की पूरी भित्ति बार आती है। इस प्रकार यह एकदेशीय और पूर्ण गुदभ्रंश के रूप मे दिखायी पड़ता है।

चिकित्सा

जब कांच बाहर पड़ जाती है तब फौरन गुदा को बैठाने का प्रथमोपचार आवश्यक है। नये रोगी की गुदा जब थोड़े प्रमाण में निकलती है तब गुदा को साधारण गरम जल या बृहत् पंचभूत के क्वाथ से धोकर गुदा को अंगुलि से ऊपर को उठाने से गुदा अपने स्थान मे बैठ जाती है। जब पूरी गुदा बाहर आजाती है, तब उसे बृहत्पंचमूल के साधारण गरम क्वाथ से सेकना चाहिये। या बड़े हल्डे के काढ़े से धोना चाहिये। हल्डे के काढ़े से गुदा में संकोचन क्रिया को सहायता मिलती है। बालक को पट्ट लिटाकर सेंकने के बाद एक गौज के टुकड़े से आत को पकड़कर गौज सहित अन्दर ढकेल कर बैठाया जाता है। बैठाने के बाद गुदा पर चमड़े का गोफण बंध करना चाहिए या 'T' पट्टी बांधनी चाहिये। गोफण बंध चमड़े का बनाया जाता है। किसान लोग खेतों से चिड़ियों को उड़ाने के लिये रस्सी की गोफन बनाते हैं। गोफन के मध्य भाग के आकार का गोफण बंध होता है। चर्म के मध्य मे मल और वायु निकलने के लिये छिद्र रहता है। एक चौडे चमड़े के टुकड़े में मध्य मे गुदा की गोलाई का छिद्र रहता है। पीठ के भाग मे ऊपर कमर मे लेजाने को एक चमडे की पतली पट्टी या बद्धी रहती है। नीचे के भाग मे दो इञ्च के अन्तर पर दोनों तरफ एक एक दो पट्टिया रहती हैं। नीचे की पट्टियों को सामने के भाग में अण्डकोष के दोनों तरफ से ऊपर की ओर लाकर कमर मे बांधा जाता है। कमर के पट्टे में



चित्र नं० ७९—गोफण-बन्ध

गोफण बंध बांधा जाता है, या क्लिप लगाते हैं। गोफणबंध के बांधने पर, कूंथने पर भी गुदा बाहर नहीं निकलती है। अन्दर का गौज मल के साथ बाहर निकल जाता है।

पहली बार इस प्रकार गुदा को बैठाने पर दुबारा भ्रंश पर या बिना भ्रंश के गुदा सुदृढ़ बनाने के लिये गाय की चर्बी या चूहे की चर्बी बड़ी उपयोगी है। चर्बी के चुपडने से गुदा का वायु सम हो जाता है। गुदभ्रंश पर चूहे के मांस को उबाल कर पोटली द्वारा सेकने से लाभ होता है। गंध मूसिक (छछुंदर) की आत को पृथक कर छछुंदर के मांस से सिद्ध तैल को चुपड़ने से गुदभ्रंश मिट जाता है। आयुर्वेद सेवा संघ नासिक द्वारा निर्मित गंध मूसिक तैल गुदभ्रंश के लिये उपयोगी है।

गुदभ्रंश रोगी बालक को मलत्याग के लिये उकडु मुकडु (उत्कटुक) नहीं बैठना चाहिये। लेटे लेटे दाहिने करवट मे मल त्याग कराना चाहिए। दोनों नितम्बों को हाथ से इकट्ठे रखना चाहिये। इस प्रकार बगैर कंथे मलत्याग हो जाता है।

साथ ही कायचिकित्या पर ध्यान दिया जाता है। यदि बालक को अश्मरी हो तो ४ गुंज (रत्ती) श्वेतपर्पटी, २ गुंज गोक्षुरादि गुग्गुल का सेवन कराना चाहिये। यदि सन्निरुद्ध गुद हो, मलद्वार छोटा हो तो सुअर या मगर की चर्बी गुदा में चुपड़नी चाहिये। गुदाद्वार के अनुसार लकड़ी या प्लास्टिक की छोटी नली चक्रतैल या घी में चुपड़ कर गुदा में प्रविष्ट करनी चाहिये। क्रमशः धीरे धीरे बड़े वृक्ष की काष्ठ नली प्रवेश करनी चाहिये।



इस क्रम से गुद द्वार बड़ा हो जाता है, मल आने की रुकावट दूर हो जाती है कूंथना नहीं पड़ता और गुदभ्रंश ठीक हो जाता है।

यदि बालक को विबन्ध हो, विबन्ध के कारण गुदभ्रंश हो तो अमलतास का गूदा दूध में मिला कर देना चाहिये। अतिसार न हो और विबन्ध ही कारण हो तो मल को पतला कर निकालने के लिये १ गुंज अश्वकंचुकी रस दूध में देना चाहिये। कुछ दिन नियमित देने से विबन्ध मिट जाता है।

यदि बालक को अतिसार मुख्य व्याधि हो तो चातुर्भद्र चूर्ण, मुग्ध रस, रसपर्पटी, या महागन्धक-रस में से किसी एक औषधि की योजना करनी चाहिये। अतिसार चिकित्सा व स्थानिक चिकित्सा से बालक अच्छा हो जाता है।

दुर्बल बालक को माता का दूध पूरा नहीं मिलता। अतः पोषक आहार देना चाहिए। गाय का दूध घी, मधु परमौषध हैं। शरीर पर चंदन बला लाक्षादि तैल या लाक्षादि तैल की मालिश करनी चाहिए। १ गुंज बालार्करस २ मात्रा दिन भर कुछ काल तक देते रहना चाहिए। धन्वन्तरि कार्यालय की कुमारकल्याण घुटी देनी चाहिये। साथ ही स्थानिक चिकित्सा करनी चाहिए।

कुछ सम्पन्न घरों में एक ही छोटा बच्चा होता है। मां प्यार के मारे आहार की अधिक मात्रा रोज देते रह कर भी तृप्त नहीं होती। जिससे बालक को मलबद्धता हो जाती है और मल बद्धता दूर करने को सारक औषधियां दी जाती हैं और गुदभ्रंश हो जाता है। ऐसी स्थिति में आहार पर नियन्त्रण करना चाहिये। साम मल को पचाने के लिये पाचक औषधियां देनी चाहिए।

पाचकाग्नि को ठीक करने और गुदभ्रंश की व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की दृष्टि से त्रिपतिया (चांगेरी), बेर, दही के पानी, सोंठ, सेंधानमक से सिद्ध चांगेरी घृत अत्यन्त लाभदायक है।

बाल गुदार्श

बालक के माता पिता के अर्श होने से, गर्भाधान काल में अर्श प्रकोप के रहने से गर्भस्थ संतति को भी अर्श हो जाता है जिसे सहज अर्श कहते हैं। आचार्य वाग्भट ने अर्श के उत्थान भेद से दो भेद बतलाये हैं, प्रथम सहज, दूसरा आहार विहारों के दोष से उत्पन्न होने वाला उत्तर कालज। सहज अर्श पैतृक दोषों से होता है। सहज अर्श का विकार, बालक को माता पिता के रज-वीर्य से प्राप्त होता है। यह याप्य होता है। इसके लिये जीवन भर संयम से रखकर ही स्वस्थ रखा जा सकता है।



चित्र नं० ७६
गुदार्श—मस्सा गुदा के अन्दर है।

अर्श के स्राव की दृष्टि से दो भेद हैं, एक सूखा, दूसरा स्रावी। दोष और उत्थान के भेद से वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्तज व सहज छः भेद होते हैं। बालकों के सहज अर्श होने पर भी दोष भेद से ही निदान और चिकित्सा की जाती है। साध्यासाध्य के लिये उत्थान का विचार आवश्यक है।

दोष भेद से अर्श पांच प्रकार का ही होता है। यदि उत्तरकालज अर्श हो तो बालकों का अर्श सुसाध्य है। 'तत्र अचिरकाल जातात्यल्प दोष लिंगोपद्रवाणि भेषज साध्यानि' सु. चि. ६-३। यदि अर्श थोड़े ही समय का हो तो दोष लिंग उपद्रव कम रहते हैं। अतः साध्य होता है।

वयस्क पुरुष के शरीर में अर्श का अधिष्ठान गुदा के साढ़े पाच अंगुल में होता है। पर शिशु के शरीर का विकास अल्प होता है। उसकी अंगुलियों के अनुपात से उतना ही होता है।

अधिष्ठान की दृष्टि से अर्श गुदा की तीन वलियों में होता है। प्रवाहिणी में, विसर्जिनी मे, संवरणी अर्थात् गुदा के नीचे के हिस्से मे। वयस्क



के एक अंगुल प्रमाण में शिशु की गुदा की तीनों वलियां रहती हैं। अर्श को वलि की दृष्टि से आभ्यन्तर और वहि: कहा जाता है। वच्चों का आभ्यन्तर अर्श भी साध्य है। अर्श अतिसार और ग्रहणी प्राय: अन्योन्य निदान होते हैं। ये तीनों रोग मंदाग्नि से उत्पन्न होते हैं। इन तीनों में समाग्नि स्थापित करने पर रोग नष्ट हो जाते हैं।

अर्श-त्रिदोष और रक्त या अन्यतम प्रकुपित होकर अपान संस्थानगत त्वचा, मांस और मेदोधातु को दूषितकर गुदा में मांसांकुरों को (कोम को) उत्पन्न करते हैं जिन्हें अर्श कहा जाता है।

अर्शस्वरूप—सहज अर्श देखने मे खराब, खड़-वड़े, ऊपर से धूलि लगे से दीखने वाले और अन्दर के भाग मे होते हैं। शरीर कृश, मन्दाग्नि, अल्पाहारी, सुस्त, शरीर की शिरायें देख पड़ती हैं। ऐसा रोगी नाक, आंख, कान, और शिर का भी रोगी होता है।



चत्र ०७७

गुदार्श—गुदा से बाहर मस्से निकले हुए हैं।

वातार्श—मांसांकुर सूखे हुये, गुलावी रंग के होते हैं कोम का मध्यभाग दवा हुआ होता है। स्वरूप कदम्ब के फूल कुन्दरू के आकार के होते हैं, रोगी का पेट, यकृत लीहा वढ़ी हुई होती हैं। गुदा मे, कमर मे, नाभि में पीड़ा होती है इससे वालक वहा हाथ का स्पर्श करता रहता है।

पित्तार्श—मांसांकुर पतले, फैले हुये, पीले, लाल, तोते की नोंक की शकल के या जोंक के मुंह की तरह होते हैं, गीले रहते हैं। रोगी का शरीर गरम, ज्वर, प्यास साथ रहती है।

कफार्श—मांसांकुर सफेद, वड़े, गोल, चिकने किशमिश के आकार के होते हैं। खुजली ज्यादा आती है। फूटते नहीं, वालक खुजाने को गुदा पर हाथ लगाता है। खुजाने पर वच्चे को अच्छा मालूम होता है। शरीर सुस्त रहता है गुदा पर सूजन रहती है।

सन्निपातजार्श—तीनों दोषों के एकत्रित चिन्ह रोगी में देख पड़ते हैं।

रक्तजार्श— मांसांकुर वड़ के पत्रांकुर की तरह मूंगे के रंग के, पित्तज अर्श के लक्षणों वाले होते हैं, रोगी के अर्श से कभी कभी दूषित रक्त ज्यादा प्रमाण मे निकलता है। ज्यादा रक्त निकलने से रक्तक्षय के चिन्ह बालक के शरीर में देख पड़ते हैं।

वालकों का अर्श संस्थान अल्पायतन होता है, इससे अंकुर भी अति परिगणित होते हैं।

चिकित्सा—

अर्श की चार चिकित्सायें आचार्य सुश्रुत ने वतलायी हैं—आभ्यंतर औषधि और वाह्य औषधि। अर्श संस्थान पर क्षारपात, अग्नि, दाह और शस्त्र द्वारा शल्यकर्म। क्षार प्रयोग के सम्बन्ध मे आचार्य ने वतलाया है कि "दुर्वल वाल स्थविरादि नैते क्षार कृत्या:"। वालकों के लिये क्षार प्रयोग असह्य है। अर्श के वाल रोगी क्षार प्रयोग के अधिकारी नहीं हैं। जब बच्चों के लिये क्षार क्रिया निषिद्ध है तब उससे वड़ी क्रिया अधिक निषिद्ध है। 'क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यात:' सु. सू. १२-३। अर्शपर शस्त्र क्रिया के सम्बन्ध में आचार्य का मत है कि 'तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्तिच शस्त्रेण' जिन मांसाकुरों की जड़ें सूक्ष्म गई हुई हों, उभरे हुए हों, गीले हों, उनकी चिकित्सा शस्त्र क्रिया द्वारा करनी चाहिये। अत: वच्चों के लिये 'तत्र अचिर काल जातात्यल्प दोष लिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि' श्रेष्ठ सूत्र है।

वातार्श में—वालक रोगी के उदर की परीक्षा करनी चाहिये। यदि वालक क्षीरान्नाद है तो माता और वालक दोनों को औषधि देनी चाहिये। यकृत

सीहा वृद्धि में बड़ी हरड़ को घिसकर पिलाना चाहिये। सूरण या भिलावें का क्षार १।४ गुंज, ३ माशा कुमार्यासव में मिला कर पिलाना चाहिये। 'नैते क्षार कृत्या:' से विशेष क्षार ही निषिद्ध हैं। इससे यकृत्सीहा विकार नष्ट होने के साथ ही अर्श भी नष्ट हो जाते हैं। मांसांकुर पर सुअर की चर्बी गरमकर लगानी मलनी चाहिये। चर्बी कमर मे मलने से दर्द दूर हो जाता है। गोमूत्र से सेंकना चाहिये। १ माशा गोरोचन और १ तोला पिप्पली का चूर्ण, २॥ तोला घी मे मलहम कर लगाना चाहिये।

पित्तार्श मे—बालक को ज्वर हो तो चातुर्भद्र चूर्ण २ गुंज गुडूची सत्व १ गुंज मिलाकर दूध में देने से ज्वर शान्त होजाता है। अर्श के लिये कुटजघन आधा गुंज अथवा कुटजारिष्ट ३ माशा दूध मे मिलाकर देना चाहिये। अर्श स्थान में काले तिल को भिगोकर पीस कर मधु मे मिलाकर लगाना चाहिये।

रक्तार्श में—चन्द्रपुटी प्रवालभस्म आध गुंज कुटजारिष्ट के साथ दूध में देना चाहिये। अथवा मधुमाण्डूर १/४ गुंज कुटजारिष्ट के साथ देना चाहिये। पित्तार्श मे वर्णित लेप लगाना चाहिये।

कफार्श में—बालकों को बालहल्डा को दूध में घिसकर रोज सायंकाल देते रहने से मल शुद्ध होता रहता है। सूरण मोदक २ गुंज, गोमूत्र ४ बूंद दूध में मिला कर रोज दो बार पिलाना चाहिये। कड़वी तुम्बी (लौकी) कडुवी सहपुतिया के अन्दर के मगज को बारीक चूर्ण कर मांसांकुर पर मलना चाहिए। या वृहत् काशीशादि तैल चुपड़ना चाहिये।

अर्श और गुदभ्रंश संकर—बाज बाज बालकों अर्श और गुदभ्रंश दोनों होते हैं। अगर अर्श अन्तर्वलि में हो तो और भी कठिनाई होती है। अन्तर्वलि में अर्श रहने पर जब गुदभ्रंश होता है तब मांसांकुर सूज जाते हैं और गुदा शीघ्र अन्दर नहीं जाती। ऐसी स्थिति मे वृहत्पंचमूल या दशमूल के क्वाथ से सेंकना चाहिये। सेंकने से सूजन कम हो जाती है। दशाङ्गलेप के सूक्ष्मचूर्ण को घी मे मिलाकर भ्रंश अंत्र पर लगाना चाहिये। बाद में एक गाज से गुदा को बैठाना चाहिये। ऊपर से गोफणा बंध करना चाहिये। मल को द्रव प्रवाहित करने लिये अमलतास का मगज, या बालहल्डा दूध मे रोज रात्रि मे देते रहना चाहिये।

बड़ी हरड़ के छिलके को रात्रि में जल मे भिगो देना चाहिये। और हल्डे के जल से आवदस्त कराना चाहिये। लसोड़े के फलों से सिद्ध घृत ग्लेसरीनसिरिंज द्वारा गुदा में पहुंचाना चाहिये। महागंधक रस आधा गुंज, भिलावे का क्षार ¼ गुंज मिलाकर दूध में देना चाहिये। साथ ही आहार मे द्रवपदार्थ ही देते रहना चाहिये। इस क्रिया से गुदभ्रंशयुक्त अर्श भी नष्ट हो जाते हैं।

—श्री नागेशदत्त शुक्ल आयुर्वेदाचार्य
जालना (महाराष्ट्र)

बालकों का गुदपाक

आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री एम. ए. विद्याभास्कर

गुदपाक रोग शिशु के लिये घोर कष्टदायक है। यह गुदामार्ग के अन्त: एवं बहि: दोनों ही स्थानों पर हो जाता है। इसमे बच्चों की गुदा पक जाती है और उसमें फोड़े फुन्सियां, छाले व घाव हो जाते है और उनमे से पूयस्राव, रक्तस्राव या जलस्राव होता रहता है। बालकों को तीव्र वेदना होती है। टट्टी जाते समय भयंकर पीड़ायें होती हैं। कभी कभी पके हुए व्रणों मे कृमि भी पड़ जाते हैं।

कारण —

मिथ्याहारविहार करने वाली, पित्त प्रधान आहार पेय आदि सेवन करने वाली एवं गरिष्ठ पदार्थ प्रयोग करने वाली और अत्यधिक पित्तोत्पादक परिश्रम करने वाली माता का दूध पीने से वा दूषित प्रतिकूल गोदुग्ध आदि के सेवन से या तीव्र पित्त प्रधान औषधों के सेवन से बालक के गुद स्थान के मलों को न धोने से गुदा पक जाती है। हरे, पीले, श्वेत व रक्त फोड़े टट्टी के स्थान पर उत्पन्न हो जाते हैं। भैषज्य रत्नावली के बाल रोगाधिकार में इसका स्पष्ट उल्लेख है—

दुष्टमन्नादिभिर्मातुः स्तन्यं सम्पिवतः शिशो।
यदाप्रकुपितं पित्तं गुदं समभिधावति ॥ १ ॥
तदा सञ्जायते तत्र जलौकोदर सन्निभः।
व्रणः सदाहो व्यक्तोष्मा तदास्यस्याज्ज्वरः परः ॥२॥
हरितं पीतकं वापि वर्चस्तेन भवेद्ध्रुवम्।
व्रणः पश्चाद्रुजोनाम व्याधिः परमदारुणः ॥३॥

गुदपाक रोग में प्रधानतया पित्त का ही प्रकोप होता है और उसके दूषित होने से गुदस्थली पर जोंक के पेट के समान व्रण बालकों के हो जाते हैं। इसमें दाह, उष्णता, ज्वर, हरे पीले अतिसार तथा बेचैनी होती है। इस रोग का नाम 'पश्चाद्र ज' है, यह अत्यधिक कष्टदायक है।

लक्षण —

बालक के मल निर्गमस्थान के भीतर तथा बाहर बड़े छोटे हरे पीले लाल, जोंक के पेट के समान पीले, चितकबरे, दाहयुक्त स्पर्श में उष्ण, कंडूयुक्त, स्राववाले, अलग अलग या एक छत्ते वाले फोड़े उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके उपद्रव ज्वर, दाह, बेचैनी, पीत हरित अतिसार आदि हो जाते हैं। इस रोग से दुःखित बालक दिन रात तड़फड़ाता रहता है। चिकित्सा ठीक न होने से व्रणों में कृमि भी पड़ जाते हैं, जिनसे घाव बहुत ही विकृत व कष्टसाध्य बन जाता है।

चिकित्सा —

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनम् विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥
चन्दनं सारिवे द्वे शखिनीति समायुक्तैः।
पश्चाद्र जे प्रलेपोऽय अवलेहस्तुशस्यते ॥
—भैषज्य०

योग रत्नाकर में भी निम्न प्रकार से चिकित्सा लिखी गई है—

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
शंख यष्टयञ्जन चूर्णं शिशूनां गुदपाकनुत् ॥
—योगरत्नाकर

छोटे बालकों के गुदपाक रोग में पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। विशेषकर रसौत का प्रयोग पान व लेप में हितावह है। चन्दन कृष्ण व श्वेत, अनन्तमूल तथा शंखिनी इनका लेप तथा अवलेह पश्चाद्र ज [गुदपाक] रोग को नष्ट करता है। योगरत्नाकर नामक आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी लिखा है कि बालकों के गुदपाक रोग में पित्तनाशक उपचार करना चाहिये। शङ्ख, मधुयष्टि और अञ्जन का चूर्ण शिशुओं के गुदपाक रोग को नष्ट करता है।

गुदपाक और अहिपूतन रोग—

आयुर्वेदोक्त ग्रन्थों में उक्त दोनों रोगों का उल्लेख मिलता है। दोनों की तुलना निम्न तालिका से की जा सकती है—

गुदपाक	अहिपूतनक
१—माता के दूषित आहार विहार के द्वारा प्रकुपित पित्त की दुग्ध द्वारा बालक के गुद मार्ग की ओर गति।	१—बालक के गुदा के मल मूत्र व पसीने को न धोने से दोषों का प्रकोप।

२—पित्त की प्रधानता से गुद स्थान पर व्रण दाह आदि का होना।

३—पित्त के दोष से उष्णता, दाहयुक्त फोड़े होना तथा ज्वर का होना (गुदस्थान पर)

४—पश्चाद्रुज नामक व्याधि अत्यन्त कष्टदायक है। इसी को गुदपाक कहते हैं।

२—स्नान के पश्चात् गुद स्थान के गीले रह जाने से क्लेद होना।

३—रक्त कफ दोष से कण्डू व स्फोट आदि की उत्पत्ति।

४—व्रणों का एकीभूत होना, इसी को अहिपूतन रोग कहते हैं।

गुदपाक व अहिपूतन की मीमांसा—

दोनों रोगों के कारण की वैभिन्यता होने पर भी, स्थान व आकृति में प्रायः कुछ समानता है। दोनों ही गुदस्थली पर होते हैं। दोनों ही व्रण व स्फोट रूप में उत्पन्न होते हैं, उपद्रव भी साधारणतया कुछ कुछ मिलते हैं। इतने से ही दोनों रोग एक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों रोगों के उत्पत्ति कारण भिन्न भिन्न हैं।

गुदपाक में माता के पित्त प्रधान दूषित दुग्ध से दुग्धपायी शिशु का पित्त प्रकोप से गुदपाक हो जाता है जबकि अहिपूतन में रक्तकफ दोष से रोगोत्पत्ति है। गुदपाक अन्त.दोषों के प्रकोप से होता है और अहिपूतन बाह्य मल मूत्र स्वेदादि से होता है अतएव दोनों रोग पृथक् पृथक् हैं, इनमें एकीभाव नहीं हो सकता। आयुर्वेद शास्त्र में दोनों का अलग अलग उल्लेख है। आचार्य वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय के उत्तर स्थान में लिखा है और दोनों रोगों पर कुछ प्रकाश डाला है—

> मलोपलेपात् स्वेदाद्वा गुदे रक्त कफोद्भव।
> ताम्रोवर्णोऽन्त. कण्डूमान् जायते भूयु पद्रव ॥१॥
> केचिन्न मातृका दोषाद् वदन्त्यन्येऽहिपूतनम्।
> प्रष्टारुगुदकुन्द च केचिच्चानमनामिकम् ॥२॥

उक्त पद्य सदर्भ में आचार्य ने केवल अहिपूतन को ही निश्चित नाम नहीं माना, अपितु भिन्न भिन्न मत दर्शाये हैं उनमें मातृका दोष की भी सम्पुष्टि है, अहिपूतन, प्रष्टास, अनामिक और गुदकुन्द ये नाम अन्य आचार्यों के मत में प्रसिद्ध हैं। गुदपाक दोनों ही रोगों में होता है, परन्तु निदान भिन्नता दोनों ही रोगों में भिन्नता प्रदर्शित करती है।

अहिपूतन व गुदपाक की चिकित्सा—

> तत्र धात्र्या. पय. शोध्य पित्तश्लेष्म हरौषधै.।
> गृतशीत च शीताम्बु युक्तमन्तर पानकम्।
> सक्षौद्र तार्क्ष्य शैलेन व्रणं तेन च लेपयेत् ॥

वाग्भट्टाचार्य ने सबसे पूर्व पित्तकफनाशक औषधियों से माता के दूध का शोधन लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि अन्य आचार्यों के असमान वाग्भट अहिपूतन को भी आन्तरिक दोष व बाह्य दोषों से दूषित मानते हैं। इसमें गुदपाक के समान ही रसौत व शीतल वस्तुओं के द्वारा उपचार विदित है। हीराकसीस, गोरोचन, नीला थोथा शुद्ध, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरिताल तथा शुद्ध रसौत को सूक्ष्म चूर्णकर बुरके या खटाई में पीसकर लगावे। मुलहठी, शङ्ख, सौवीराञ्जन, सारिवा को सूक्ष्म पीसकर लेप करे। इन औषधियों का विधान करते हुए वाग्भट ने एक महत्वपूर्ण निर्देश किया है।

> सर्व च पित्त व्रणजित् शस्यते गुद कुट्टके ॥
> —वाग्भट उत्तर अ० २

उक्त गुद कुट्टक रोग में पित्त व्रणों के समान ही चिकित्सा करनी चाहिये। यही चिकित्सा गुदपाक रोग में भी होती है जैसे—

> गुदपाकेतु बालाना पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ॥ —योग र०

अतएव दोनों की चिकित्सा वाग्भट के मत में समानता रखती है।

दोनों रोगों का अधिकार—

गुदपाक रोग बाल रोगाधिकार में पठित है। और अहिपूतन रोग क्षुद्ररोगों में तथा बाल रोगों में दोनों ही स्थानों पर पढ़ा गया है परन्तु इस रोग



का शिशुओं से ही उभयत्र सम्बन्ध है। अब संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् कुछ प्रयोग स्वानुभूत लिख रहा हूँ—

स्वानुभूत चिकित्सा–

गुदपाक पर जो चिकित्सा सफल हुई उसके कुछ बाह्य प्रयोग वैद्य बन्धुओं के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ—.

(१) मुर्दासङ्ग १। तोला, कासगरी सफेदा १। तोले दोनों को एकत्र पीस शतधौत शुद्ध घृत १। छटांक मे मिलाकर दिन मे तीन बार लगावे।

(२) सिन्दूर शुद्ध, चन्दन चूरा मलय, कत्था पपरिया, छोटी इलायची इनको समभाग लेकर चूर्ण कर शुद्ध घृत मे लगावे।

(३) शीतल चीनी, नीम के फूल, मुलहठी, पद्माख का सूक्ष्म चूर्ण कर शतधौत घृत से लगावें।

(४) मेहदी पत्र, नीम के पत्र, गेंदे के पत्र, अनार के पत्र इनको छायाशुष्क कर कपड़छन कर बुरके या शतधौत घृत में लगावे। केवल रसौत को गुलाब जल मे घोलकर लगाना भी लाभप्रद है।

(५) माजूफल, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, कत्था पपरिया, मुर्दासङ्ग, सिंदूर, कासगरी सफेदा इनका समभाग चूर्ण घृत या वैसलीन मे लगावे।

(६) कैलीमैना पिपरमेंट, जिंक आक्साइड, बोरिक एसिड इनको समभाग मिलाकर शुद्ध घृत में या बैसलीन में लगावें।

(७) पित्तनाशक औषधियों द्वारा माता का दूध अवश्य शुद्ध करावे। यदि मां का दूध न हो तो गौदुग्ध मे पानी मिलाकर मुलहठी, नीलोफर, गुलबनफ्सा, शङ्ख पुष्पी, मुनक्का या सालिवात्वक् डालकर पकावें और छान मात्रा से बालक को पिलावें।

विज्ञप्ति—प्रतिदिन औषधि लगाने से पूर्व नीम, चन्दन, वकायन या अनन्तमूल के क्वाथ से मृदु रुई से धोकर शुष्क करलें, पुन दवा का प्रयोग करें, चन्दन या नीम की धूनी देना भी हितकर है। विशेष अवस्था मे योग्य वैद्य की सम्मति लेना अत्यन्त आवश्यक है।

—आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री वैद्य
विद्याभास्कर, वेद-आयुर्वेद, व्याकरण-साहित्याचार्य
इन्द्र औषधालय, नाई की मंडी, आगरा।

कुछ सफल प्रयोग

[१]

गुदपाक

(१) मुरदासंग को कपड़छन करके गाय के नवनीत मे मिला मरहम तैयार कर लगावे।

(२) सल्फेनीलोमाइड भी नवनीत मे मिला लगाने से ठीक हो जाता है।

—श्री डा० रामप्रसाद मित्तल वैद्य विशारद
ढोढ़र (रतलाम)

[२]

गुदभ्रंश

[१] बालक के मूत्र से उसे शौच करावे।

[२] कड़ुवा तैल लगाकर जला और पिसा हुआ लिसोड़ा लगावें।

[३] आम और जामुन की छाल और पत्ती को पानी मे औटाकर उस पानी से शौच करावें।

—श्री रामभरोसेलाल धावाई
लवायन [जयपुर]

[३]

बच्चों की कांच बन्द करने वाली बूटी

अपराजिता कहीं कहीं इसकी बूटी का नाम कृष्णाकान्ता और योनि पुष्पी भी प्रचलित है। इस बूटी की जड़ को मंगलवार और रविवार के दिन लेकर बच्चे की कमर मे बांध दें तो कांच निकलना बन्द हो जाती है।

—श्री शारदाप्रसाद विशारद
सलेथू [रायबरेली]

डिफथीरिया

कविराज श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय

आयुर्वेद में रोहिणी नामक एक रोग का वर्णन है। वह गले में होता है, उसका समावेश डिफथीरिया में हो जाता है। उसकी सम्प्राप्ति मे लिखा है-

गलेऽनिलः पित्त कफौ च मूर्च्छितौ,
प्रदूष्यमांस च तथैव शोणितम् ।
गलोप संरोध करैस्तथांकुरै,
र्निहन्त्यसून्‌,व्याधिरियंतु रोहिणी ॥

अर्थात्—गले में पित्त वायु और कफ मूर्च्छित हो करके रक्त और मांस को दूषित करके गले को घेर लेने वाले या रोक देने वाले अंकुर या झिल्ली उत्पन्न कर देते हैं। यह रोहिणी रोग है और शीघ्र ही प्राणों का नाश करने वाला है। यह त्रिदोष—वात पित्त और कफ के बिगड़ने से उत्पन्न होता है। इसी कारण शीघ्र मारक है। त्रिदोषात्मक होने पर भी जिस दोष की विशेषता होती है उसी दोष के नाम से रोग माना जाता है। एलोपैथी के जितने लक्षण हैं सब ऊपर के एक श्लोक मे ही आ गये हैं। यह रोहिणी रोग पांच तरह का होता है—वातज रोहिणी, पित्तज रोहिणी, कफज रोहिणी, सन्निपातज रोहिणी और रक्तज रोहिणी।

वातज रोहिणी

इसमें जीभ मे चारों ओर वेदना होती है कण्ठ को रोक देने वाले मांसाकुर या झिल्ली उत्पन्न हो जाती है और वायु सम्बन्धी अनेक उपद्रव हो जाते हैं, आक्षेप आदि वात के उपद्रव हैं।

पित्तज रोहिणी

यह बड़ी जल्दी ही बढ़ती है जल्दी पकती है इसमें ज्वर बहुत तेज हो जाता है,इसी रोग में ज्वर १०४-५-६ तक जाता है।

कफज रोहिणी—

यह धीरे धीरे बढ़ती है, देर में पकती है ज्वर बहुत हल्का रहता है।

सन्निपातज-रोहिणी

इसमें तीनों दोषों के लक्षण उपस्थित रहते हैं अर्थात् ज्वर तेज, विक्षेप, जुकाम, अरुचि आदि होते हैं। यह रोग वेग से बढ़ता है और रोके नहीं रुकता। यह रोग बड़ा गम्भीर है।

रक्तज रोहिणी

इसमे पित्त के से लक्षण होते हैं, यह असाध्य है और इसमें स्फोट या फफोले भी निकल आते हैं।

इस रोग के साध्य-असाध्य के सम्बन्ध में यह ऋषियों का निर्देश है—

सद्यः त्रिदोषजा हन्ति, त्र्यहात्कफ समुद्भवा।
पचाहात् पित्त सम्भूता सप्ताहात् पवनोत्थिता ॥

आरम्भ में ही अच्छी चिकित्सा से वातज, पित्तज, और कफज रोहिणी अच्छी हो सकती है। यदि देर की जाय और उचित चिकित्सा की व्यवस्था न हो सके तो कफज तीन दिनों मे, पित्तज ५ दिनों मे, और वातज ७ दिनो में असाध्य हो कर मारक हो जाती है। परन्तु सन्निपातज रोहिणी आरम्भ से ही असाध्य है। अतः इसकी चिकित्सा ही नहीं है। फिर भी पथ्य की उचित व्यवस्था करनी चाहिये सम्भव है भाग्य से रोगी बच जाय।

डिफथीरिया—एलोपैथीमत

डिफथीरिया गले का रोग है। बच्चों को यह बहुत अधिक होता है परन्तु बड़ों को भी हो सकता है। आरम्भ में इसका पता नहीं लगता। क्योंकि अक्सर ऐसा होता है कि डिफथीरिया के आरम्भ में टांसिल में भी कुछ विकार आता है और चिकित्सक आरम्भ मे यही समझने लगता है कि टांसिल बढ रहे हैं।

इस रोग का प्रादुर्भाव कभी तो बहुत हलका होता है और कभी बड़ा साधातिक होता है। इस रोग मे अक्सर हलका ज्वर आता है। गले मे



खराबी रहती है और शक्ति क्षीणता के साथ साथ कमजोरी रहती है गले में टांसिल में प्रदाह रहता है और वह लाल रहता है। अकसर एक ही टासिल में प्रदाह रहता है, दोनों में प्रदाह हो ऐसा बहुत कम देखने मे आता है। एक टासिल पर एक झिल्ली दिखाई पड़ती है। इसका रङ्ग भूरा राख के रङ्ग का या ब्राउन किंचित लाल रङ्ग का होता है। यह झिल्ली किसी में मोटी होती है किसी में पतली होती है इसका आकार छोटा ही होता है परन्तु यह बढ़ती है। ऐसा भी सम्भव है कि यह झिल्ली बहुत न बढ़े और यह भी सम्भव है कि झिल्ली बढ़ कर पूरे गले को ढ़क ले। यह बढ कर नाक के छेद में प्रवेश कर सकती है और सास लेने के लिये हवा न मिलने के कारण प्राण निकल जाना सम्भव है। ऐसा भी सम्भव है कि झिल्ली बढ़ कर गले के नीचे लेरिंग्स मे भी चली जाय। यह भी सम्भव है कि झिल्ली एक टासिल पर ही रह जाय बढ़े नहीं।

डिफथीरिया का एक रूप और होता है। उसमें यह झिल्ली नहीं उत्पन्न होती, परन्तु टासिल मे प्रदाह हो जाता है, ज्वर रहता है और गले मे डिफथीरिया के कीटाणु मिलते है। रोगी मे कमजोरी रहती है। नाक मे जब रोग का संक्रमण हो जाता है तब गले की ग्रंथियां विशेष रूप से बढ़ जाती हैं रोग में रक्त की कमी के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं, दुर्बलता बढ़ जाती है। रक्त की कमी से शरीर पीला पड़ जाता है। दुर्बलता इतनी अधिक बढ़ती है कि हृदय भी कमजोर हो जाता है और हृदय की गति रुक जाने से भी मृत्यु होने का डर रहता है

गले की तालु मे इस रोग का संक्रमण होता है। ऐसी दशा मे उस पर सफेद, पीला या हरा धब्बा पड़ जाता है।

जब लेरिंग्स मे विकार चला जाता है तब उसे लेरिंग्स का डिफथीरिया कहते है और जब नाक में चला जाता है तब नाक का डिफथीरिया या नाजल डिफथीरिया। इस रोग का प्रारम्भ हल्के जुकाम, गले की खराश, हल्की खांसी के साथ होता है और ज्वर बहुत थोड़ा रहता है। नब्ज काफी तेज और कमजोर रहती है। इसे देखते हुए ज्वर कहीं कम होता है। इस रोग की उत्पत्ति क्लेब्स लोफ्लर नामक कीटाणु से मानी जाती है। रोग का संक्रमण होने के दो दिनों से लेकर १० दिनों के भीतर रोग उत्पन्न हो जाता है परन्तु अक्सर चौथे दिन ही रोग उत्पन्न हो जाता है।

रोग के कीटाणु मुख चूमने, बात करने, हंसने, खासने, और छींकने आदि कारणों से एक से दूसरे को लगते है। वायु के द्वारा भी रोग के कीटाणु एक स्थान को पहुंच जाते हैं और दूध आदि के द्वारा भी कीटाणुओं का संक्रमण होता है। दूसरे का रूमाल आदि इस्तेमाल करने से भी यह रोग संक्रमण कर सकता है। आरम्भ में इस रोग में जुकाम या खासी नहीं होती बल्कि ज्वर होता है।

एलोपैथ चिकित्सक रोगों की उत्पत्ति कीटाणु से ही मानते हैं। परन्तु जब तक उन कीटाणुओं को पनपने देने के लिए पहले से शरीर में विकार नहीं रहता ये कीटाणु शरीर में जाकर भी रोग नहीं उत्पन्न कर पाते। बहुत से बच्चों में और बड़े लोगों मे भी डिफथीरिया के कीटाणु काफी मात्रा मे मिलते हैं परन्तु सबको डिफथीरिया का रोग नहीं होता है। रोग केवल उन्हीं को होता है जिनके अन्दर गलत तरीके के भोजन के कारण विकार भरा है, खनिज लवण और विटामिनों से रहित भोजन करने के कारण जिनके रक्त की अम्लता बढ़ गई है, जिनके शरीर मे जीवनीय शक्ति का ह्रास हो गया रहता है वे ही कीटाणुओं से रोगी होते है। अत. किसी भी रोग से बचने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर की जीवनीय शक्ति बढाई जाय, उचित आहार विहार द्वारा शरीर निर्विष रखा जाय, रक्त में अम्लता न आने दी जाय।



जो कृत्रिम झिल्ली बनती है उसमे मवाद, रक्त कणिका, दैहिक सूत्र और मरे हुए कीटाणु प्रभृति रहते हैं। आरम्भ मे यह झिल्ली नरम रहती है फिर कड़ी हो जाती है और पीली पड़ जाती है। रोग यदि भयङ्कर हो तो यह झिल्ली श्याम वर्ण की भी हो जाती है। बीमारी यदि बहुत अधिक बढ़ जाय तो रोगी प्रलाप करता है, ज्वर १०५ से १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है।

रोग के अन्त मे कभी कभी लकवा मार जाता है कुछ दिनों तक गले के नीचे कष्ट रहता है नाड़ी की गति घट जाती है, ४० या ५० रह जाती है। मूत्राघात और मूत्र कृच्छ भी हो जाता है। कभी कभी दृष्टि मे विकार आ जाता है और एक ही चीज दो दिखाई पड़ती हैं।

चिकित्सा—

डिफथीरिया के इलाज के लिये डिफथीरिया का एक प्रतिविष आविष्कृत हुआ है। उनके इन्जेक्शन से कहीं-कहीं आश्चर्यजनक लाभ होता है। परन्तु इस प्रतिविष से जितने लोगों को लाभ दिखाई पड़ता है उससे कहीं अधिक लोगों को नुकसान होता है। बहुत से बच्चे ही नहीं जवान लोग भी इस प्रतिविष के प्रभाव से मरते देखे गये हैं। क्योंकि शरीर मे प्रविष्ट हो यह विष का ही प्रभाव अकसर दिखाता है। लोग मरते हैं विषैली के औषधि प्रभाव से और उनसे यह कहा जाता है कि ज्वर के कारण उनकी मृत्यु हो गई। किसी भी प्रकार का सीरम (रोग का पीव) शरीर मे प्रवेश करना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, विशेष करके बचपन में किसी का सीरम शरीर में प्रवेश करना मनुष्यता के साथ शत्रुता करना है। इस रोग का सीधा प्राकृतिक इलाज इस प्रकार होना चाहिये—

बच्चे को उपवास कराइये। उपवास मे सन्तरे का रस दीजिये अथवा मिल सके तो अनन्नास का रस दीजिये। दूध बिलकुल ही बन्द कर दीजिये। सवेरे शाम दोनों समय गरम जल का एनिमा दीजिये रोगी को चित्त मत लेटने दीजिये उसे उस करवट से लिटाइये जिस बगल डिफथीरिया का रोग हुआ है, जिधर झिल्ली बढ़ रही हो। जरूरत पड़े तो गरम पानी पीने को दीजिये। हर दो घंटे पर गले का पैक दीजिये। गले पर गीला कपड़ा लपेटकर ऊपर से फलालैन लपेट दीजिये। आप देखेंगे कि रोग घट रहा है और बच्चे का स्वास्थ्य लौट रहा है।

लहसुन का रस निकालकर उसमें थोड़ा सा गरम जल मिला कर गले में फ़ींसी मारने (स्प्रे) से बहुत लाभ होता है। परन्तु यह फ़ींसी मारने की क्रिया प्रत्येक १५-२० मिनट पर करनी चाहिए। अथवा यदि बच्चा बड़ा और समझदार हो तो उसके मुंह में लहसुन का जवा (टुकड़ा) डाल देना चाहिये और बच्चों से कह देना चाहिये कि थोड़ा थोड़ा कुचल कर लहसुन का रस हर समय गले मे पहुंचाता रहे और हर घंटे या आधे घंटे पर लहसुन का जवा बदलते रहना चाहिए। लहसुन के प्रयोग से झिल्ली बढ़ती नहीं, रुक जाती है और धीरे-धीरे रोग के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। तथा गले की ग्रन्थियों का प्रदाह शान्त हो जाता है और डिफथीरिया का रोग दबने लगता है।

अदरक और नमक डाल कर पानी गरम करके और उसकी भाप लेने से तथा उसी पानी से गरारा देने से भी लाभ होता है।

जब रोग शान्त हो जाय प्रदाह मिट जाय तब बच्चे को फल खाने को देना चाहिये और तीन दिन या आवश्यकतानुसार फलाहार कराने के बाद धीरे धीरे रोटी-सब्ज़ी पर आना चाहिये और बच्चे को उचित आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार का शुद्ध भोजन देना चाहिये जिसमें शरीर मे फिर विकार इकट्ठा न हो।

डिफथीरिया के इलाज मे किसी अनुभवी चिकित्सक से परामर्श और सहायता लेना अच्छा है। जहां कोई सहायता मिलनी सम्भव न हो वहां स्वयं ही इलाज हाथ मे लेने का प्रयास करना चाहिए।

जो लोग कीटाणुओं को मारने का प्रयत्न करते हैं वे औषधियों द्वारा रोग के कीटाणुओं का नाश तो कर डालते है किन्तु विषैला अंश जो शरीर मे पैदा हो गया रहता है, अथवा वह कीटाणु भी स्वयं उत्पन्न कर देता हैं उसे दूर करने का कोई भी उपाय वे नहीं करते। अत. भविष्य मे और भी भयानक रोगों के उत्पन्न होने के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया जाता है।

यदि रोग की रुकावट न हो सके तो रोगी की जान संकट मे पड़ जाती है और ट्रकियोटोमी नामक आपरेशन करने की आवश्यकता पडती है जिसमें थाईराइड ग्रन्थि मे सावधानी से आपरेशन करके श्वास नली मे शुद्ध वायु पहुंचाने की चेष्टा की जाती है। यह क्रिया कोई सिद्धहस्त सर्जन ही कर सकता है।

रोहिणी चिकित्सा

साध्य रोहणी की चिकित्सा रक्त निकलवाकर, वमन कराकर, औषधियों का धुवां पिला कर, कुल्ले और गरारे कराकर तथा नाक में औषधिया डालकर करनी चाहिये। इस रोग की प्रधान चिकित्सा वमन कर देना और रक्त निकलवा देना है। आजकल चिकित्सक लोग रक्त नहीं निकालते इसी कारण इस रोग से मृत्यु-संख्या अधिक होती है। जिस स्थान पर रोग आक्रमण कर रहा हो वहीं से रक्त निकालना चाहिये। इसके लिए बहुत अच्छे सर्जन की आवश्यकता रहती है।

वातज रोहिणी मे रक्त निकलवा कर नमक लगादे और बार-बार गरम घी या तेल या औषधियों से पकाये हुये तेल को मुंह में लेकर कुछ देर रखे। पित्तज रोहणी मे रक्त निकलवा कर शहद, प्रियंगु और मिश्री का लेप करे। कफज रोहणी में रक्त निकलवाकर सोंठ, मिर्च और पीपर का लेप करें। मैनफल, चमेली, वायविडंग, अपामार्ग और दन्तीमूल तथा सेंधानमक डालकर विधि से सिद्ध किये तेल से कुल्ले करे, मुंह में रखें और नाक मे टपकावे।

पथ्य वैसा ही रखे जैसे प्राकृतिक चिकित्सा में बताया गया है।

—कविराज श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय
महेन्द्र रसायनशाला, कटरा-इलाहाबाद

रोहिणी (Diphtheria)

श्री उमाशंकर त्रिवेदी वैद्याचार्य आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद मे इसे रोहिणी, एलोपैथिक मे डिफ्थीरिया तथा यूनानी लोग इसे खुनाक कहते हैं।

परिचय—यह एक अति संक्रामक रोग है। इस रोग मे प्रायः गले मे एक झिल्ली बन जाती है। इसी से उसके विषैले जीवाणु रक्त मे मिश्रित हो कर हृदय मे कार्यावरोध पक्षाघात आदि रोग उत्पन्न कर देते हैं।

कारण—

एलोपैथिक मत से इसका कारण एक प्रकार का दण्डाकार जीवाणु है जिसे वैसिलस डिफ्थीरिया कहते है। इसके साथ अन्य कीटाणु स्ट्रेप्टोकोकस भी प्रायः उपस्थित रहते है। यह जीवाणु प्रायः नासिका, कण्ठ की श्लेष्मा मे उपस्थित रहता है। यह जीवाणु श्वास प्रश्वास द्वारा एक दूसरे प्राणी पर जाकर गले में शोथ तथा झिल्ली उत्पन्न कर देता है। यह रोग अति तीव्र संक्रामक होता है। यह प्रायः बच्चों को ही होता है। यह प्रायः २ वर्ष से १० तक के बच्चों को ही होता है।

इस रोग में जीवाणु कण्ठ में जाकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। कण्ठ की श्लेष्मिक कला की सेलें मर जाती हैं। तथा वहां पर एक प्रकार का स्राव होता है। यह स्राव जम जाता है। स्राव के जमने से मृत सेलों में श्वेताणु एवं रक्ताणुओं के जाने से एक झिल्ली बन जाती है जो दृढ़ श्वेत तथा चमकीली होती है। इस झिल्ली में अनेक कीटाणु होते हैं। जितनी यह अधिक हो उतना ही रोग भयानक होगा तथा उतना ही विप अधिक बनेगा। विप रक्त में मिलकर अन्य उपद्रव पैदा करता है। विप का प्रभाव निम्न अङ्गों पर पड़ता है—

हृदय—हृदय की मांसपेशी क्षीण हो जाती है। हृदय विस्तृत हो जाता है। रोग काल में हृदय के कार्यावरोध का भय रहता है।

फुफ्फुस—कभी कभी फुफ्फुस में दाह होजाता है। फुफ्फुस प्रदाह केवल विप के कारण से ही नहीं अपितु अत्यन्त संख्या में कीटाणुओं के उत्पन्न होने से भी होता है।

वृक्क—इसमें सूक्ष्म प्रणालियों की सेलें क्षीण होकर मर जाती हैं। मूत्र प्रणाली भी दूपित हो जाती है। इस रोग का कुछ मतानुसार परिपाक काल दो दिन से सात दिन तक माना है परन्तु महर्षि चरक का कथन है कि—

> वातपित्तकफायस्य युगपत्कुपितास्त्रय,
> जिह्वामूले तिष्ठन्ते विदहन्त समुच्छ्रिता।
> जनयन्ति भृशं शोथं वेदनाश्च पृथग्विदा,
> तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणीं केति विनिर्दिशेत।।
> त्रिरात्र परमन्तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्,
> कुशलेनत्वनुक्रान्त विप्र सम्पद्यते सुखी।।
> —च० सू० अ० १८

वात, पित्त, कफ यह तीनों दोप कुपित होकर जिह्वा के शोथ मूल में स्थित हो जाते हैं। वहां पर जलन दारुण उत्पन्न शोथ करके अनेकानेक प्रकार की पीड़ा देते हैं यह अति संक्रामक रोग है। इसे रोहिणी कहते हैं। इस रोग के कारण मानव केवल तीन दिन तक जीवित रहता है। इस समय कुशल वैद्य से चिकित्सा कराने पर फल अच्छा होता है अर्थात् रोगी बच जाता है।

> गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ,
> प्रथक समस्ताश्चत तथैव शोणितम्।
> प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान्,
> सृजन्ति यान सासुहाशु रोहिणी।
> —सु० नि० अ० १६

वात, पित्त, कफ कुपित होकर गले में अनेक प्रकार के मांसांकुर उत्पन्न कर देते हैं। उसे रोहिणी कहते हैं। यह आचार्य सुश्रुत का मत है।

विशेष लक्षण—

इस रोग में कभी थोड़ा कभी तीव्र ज्वर होता है। गर्दन—ग्रीवा जकड़ी रहती है। उस रोगी की लसीका ग्रंथियां जो कि गले में स्थित हैं उनमें शोथ हो जाता है। कहीं कहीं पर झिल्ली ही रोग का कारण बनती है। प्रारम्भ में यह बड़ी आसानी से उखाड़ी जा सकती है। कभी कभी यह बहुत ही बढ़ जाती है। उस समय बलपूर्वक उखाड़ देने पर रोगी के रक्तस्राव होने लगता है। पुनः यह धीरे धीरे नीचे बढ़कर स्वर यन्त्र को रोक देती है। तत्पश्चात् यह रोग बढ़ जाता है तथा विष का प्रभाव हृदय पर, फुफ्फुस, वात संस्थान एवं वृक्कों पर होता हुआ प्रतीत होने लगता है। इसमें ज्वर मन्द कभी तीव्र तथा कभी किंचित् मात्र भी नहीं रहता है।

उपद्रव—

इस रोग का सबसे भयानक उपद्रव हृदय का कार्यावरोध होना ही है। हृदय कार्यावरोध में प्रायः नाड़ी मन्द अनियमित तथा तीव्र चलने लगती है। कभी कभी हृदय कार्यावरोध शीघ्र अचानक भी हो जाता है।

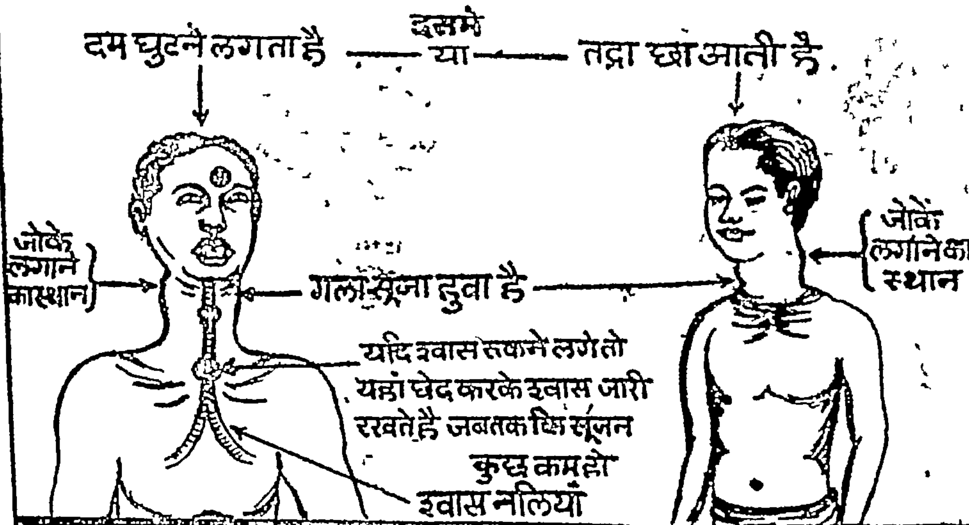
चिकित्सा —

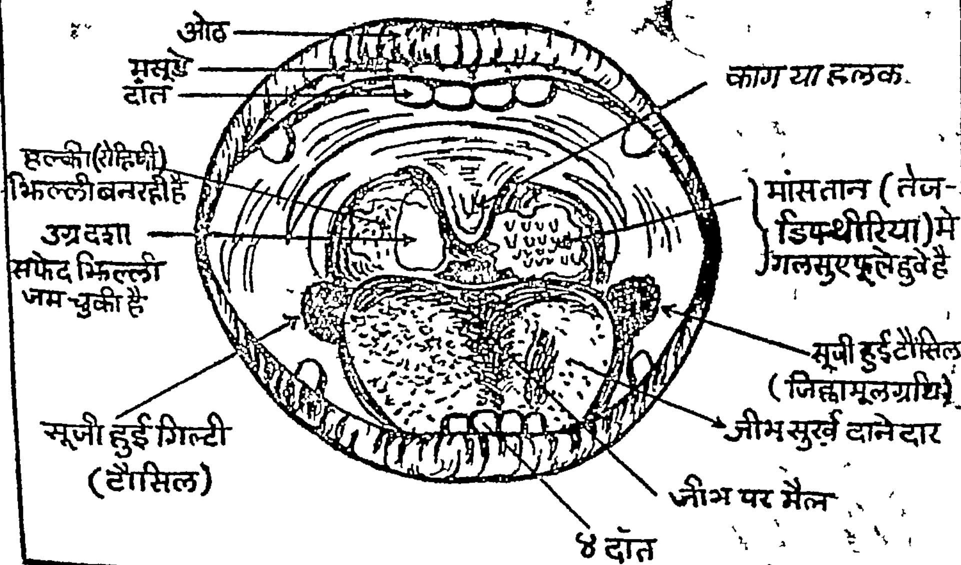
आयुर्वेद के महान ग्रन्थों में असाध्य रोग की चिकित्सा करने का विधान नहीं है। यथा—

साध्यासाध्य विभागज्ञो, ज्ञान पूर्व चिकित्सकः ।
कालेचा रमते कर्म, यतत् साधयतिध्रुवम् ॥
अर्थ विद्या यशो हानिमुपक्रोशमसग्रहम् ।
प्राप्नुयान्नियत वैद्यौ. यो साध्य समुपाचरेत् ॥

—च० सू० अ० १०

जो चिकित्सक साध्यासाध्य का ध्यान रखकर चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त होता है वह उत्तम वैद्य है। नहीं तो असाध्य की चिकित्सा करने वाला वैद्य अर्थ विद्या यश की हानि कर जगत में निन्दनीय बनता है। अतः महर्षि सुश्रुत का मत है कि–





चित्र नं० ७६

साध्याना रोहिणीनान्तु,
हितं शोणित मोक्षणम्।
मर्दन धूम्रपानश्च,
गण्डूषं नस्य कर्म च ॥
सुखोष्णाग स्नेह गण्डूषान,
धारयेन्चापि भीक्षणश. ।
पतग शर्करा क्षौद्रै
पोतिकी प्रतिसारयेत् ॥
द्राक्षापरुषक क्वाथ,
हितो च कवलग्रहे ।

—सु० चि० अ० २२

साध्य रोहिणी में रक्तमोक्षण कराना चाहिये। तैल मर्दन, धूम्रपान, उष्ण तैल की गण्डूष, एवं नस्य कर्म कराना चाहिये या पतग, शर्करा, क्षौद्र, पोतिकी से प्रतिसारण करना चाहिये या सैंधव नमक से प्रतिसारण करना चाहिये या एरण्ड काकड़ी, पपीता के दूध का पिचु रोहिणी की झिल्ली पर लगाना परम लाभकारी सिद्ध हुआ है। या आगार धूम, कुटकी का चूर्ण जल से अथवा कुछ गरम दूध के साथ सेवन करना चाहिये।

—शेषांश पृष्ठ ३१५

शीर्षाम्बुरोग

श्री पं० विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज

मद्यातिपानाद्विशैत्ययोगाद्
विरुद्धभोज्यादनिल प्रदोपात ।
दुष्टाम्बुपानादभिघाततश्च
तथान्त्रमध्ये कृमि समवाच्च ॥
शिरोगतस्नेहवृत्तौ क्रमेण
सचायते सोयमतिप्रभूतम् ।
शीर्षाम्बुनामापद एप पूर्वै
प्रकीर्तितः कृच्छ्रतरोभिषग्भि ॥
प्रायशः शैशवे व्याधिर्विविधाहितसेवनात्
तथादन्तोद्गमवेरेप बाहुल्येनाभिजायते ॥

अर्थ—मद्य के अति पान से, अधिक शीत के कारण विरुद्ध भोजन से, वायुरोग से, विदूपित जलपान से, चोट लगने से, आंतों में कृमि होने से, शिरोगत स्नेह (मस्तुलुङ्ग) के जमने पर अन्दर करोटिका में जल संचय होने लगता है। पूर्वाचार्य इस शीर्षाम्बुरोग को कृच्छ्रसाध्य मानते हैं।

यह बीमारी प्रायः बच्चों में १ से ३ साल तक अहित सेवनजन्य या दांत निकलते समय देखी जाती है।

तस्यपूर्वरूपम्-

जिह्वालिप्ताति निद्रश्च दौर्बल्य श्वासपूतिता ।
गाढ़विट्ता च तस्मिस्तु भविष्यति भविष्यति ॥

जीभ पर सफेदी (मलावृत), ज्यादा निद्रा आवे, दुर्बलता बढ़े, श्वास मे दुर्गन्धि, पाखाना कड़ा यह उसके होने से पूर्व होते हैं।

तल्लक्षणम्-

शिरसोवेदनाघोरा श्रुतेर्दृष्टश्च तीक्ष्णता ।
मूत्राल्पत्व कृष्णविट्क धमनीवेगवाहिनी ॥
त्वग्रूक्षोष्णा दृष्टिविषमा च कनीनिका ।
कोपित्वं मुखवैवर्ण्यं निद्राया दन्तघर्षणम् ॥
कण्डूरोष्ठस्यनासिकया आक्षेपो रक्तनेत्रता ।
पक्षाघात प्रलापश्च शीर्षाम्बुगद लक्षणम् ॥

शिर मे कठिन पीड़ा, नेत्र ज्योति, श्रवण शक्ति मे तीव्रता, भूख में कमी, काला मल निकले, नाड़ी तेज हो, चमड़ी रूखी, वमन, आंख की क्रिया विषम हो जाय, क्रोध ज्यादा हो, मुख की कांति विवर्ण हो, नींद मे दांत घिसे, ओष्ठ और नाक मे खुजली, आक्षेप हों नेत्र लाल हो, पक्षाघात, प्रलाप हो, शिर बहुत बड़ा हो जाता है (वेडोल) यह शीर्षाम्बु रोग के लक्षण हैं।

चिकित्सा —

भेषज रेचन यच्च
यन्मूत्रस्य प्रवर्तनम् ।
रक्तदोषहरं यच्च
तच्छीर्षाम्बुगदे शमम् ॥

रेचक, मूत्र प्रवर्तक, रक्तदोषहर औषधियां शीर्षाम्बुरोग मे हितकर हैं। शिर के बाल उस्तरे से साफकर गर्म कपड़े से ढक रखें और नारियल जल पिलावे। रस चूर्ण

शीर्षाम्बु (हाइड्रो सिफ़ेलस) की -





चित्र नं० ८०



का सेवन करावें, रस तैल सिर मे मले, यदि शान्त न हो तो त्रिकूर्च यन्त्र से पानी निकाल दे। यह कार्य प्रवीण चिकित्सक का ही है।

रसचूर्ण [सलिलशोषण चूर्णम्]

रस चूर्णं यवक्षारं पीतमूलीं त्रिजातकम्।
भार्गीमेलां तथा लव्वींमभयामिन्द्रवारुणीम्॥
समांशेन पुष्टयाथ प्रयुञ्ज्यात् पयसासह।
शीर्षाम्बुतेन्निराकुर्यात् चूर्णं सलिलशोषणम्॥

रस पुष्प [शास्त्रीय रस कर्पूर भेद--यह शीशी में वालुका यन्त्र से उड़ाया जाता है] यवक्षार, रेवंद चीनी, दालचीनी असली, वडी इलायची, पत्रज, भारङ्गी, इलायची छोटी के बीज, हरड़ गुठली रहित, इन्द्रायण मूल बरावर ले। रस पुष्प को छोड़कर इनका चूर्ण कपड़छन कर खरल मे डाल रसपुष्प मिला एक दिन घोटें। ३-३ रत्ती की मात्रा से मधु मे मिला चटावें, प्रातःसायं दो वार दे।

रस तैल

धत्तूर बीज, धाय के फूल, मूर्वामूलकन्द, मुलहठी, महुआ पुष्प, विडनमक, सोंठ, नील की जड़, पीपल छोटी, कायफल, कुटकी, सुगन्धवाला ३-३ माशे, कडवा तैल ४० तोला में महीन पीस डाल मुख वन्द कर सात दिन रक्खें। वाद में छानकर १ तोला पारा गन्धक की कज्जली मिला रक्खें और वालहीन सिर पर मलें। [आ० त्रि०]

मस्तिष्क चयापचय—

देहस्वभावाद् दृष्टयाच वर्द्धतेमस्तुलंगकः।
करोटिरपि वालाना युगन्चापि कदाचन॥
मस्तिष्कस्य करोटेश्च यदिवृद्धिद्व योभवेत्।
न चिन्हं दृश्यते किंचित् प्रायशः समवर्द्धनात्॥
मस्तिष्कस्यैव चेद्वृद्धिर्न करोटेस्तथाभवेत्।
तदानिपीड़नात तस्यजायन्तेविविधारुज॥
शिरसोतिरुजा तीव्रा दौर्बल्यं भ्रममूर्च्छने।
पक्षाघातस्तथाक्षेप स्ततोमरणमेव च॥
ह्रासमायाति मस्तिष्कं देहदोषाद्दृष्टत।
एकपार्श्वं ह्सेत् यच्चेन्न शीघ्रं जीवन क्षय॥
समन्वात ह्रसनात् तस्य प्राणान्तस्त्वरयाभवेत्॥

देह के स्वभाव से, भाग्य से, मस्तुलुङ्ग (शिर के अन्दर की धातु) वढ़ती है, कहीं सिर्फ करोटि प्रदेश ही वढ़ता है, वालकों का कदाचित् ही जवानों का भी। मस्तुलुङ्ग और करोटि प्रदेश दोनों की वृद्धि एक साथ हो तो कोई भी चिन्ह विशेष नहीं मालूम देता। यदि केवल मस्तुलुङ्ग की ही वृद्धि हो और करोटि की वृद्धि न हो तो दवाने से पीड़ा होती है, स्थान पिलपिलाता है। सिर में अधिक तीव्र पीड़ा, दुर्वलता, भ्रम, मूर्च्छा, पक्षाघात, आक्षेप और मृत्यु होती है। यदि मस्तुलुङ्ग का ह्रास देह दोष या भाग्य [पूर्व जन्मार्जित पाप] से हो तब सिर का एक भाग ही सूखता है पर शीघ्र मृत्यु नहीं होती। परन्तु करोटि और मस्तुलुङ्ग दोनों की एक साथ वृद्धि होने से जीवन क्षय जल्द हो जाता है।

चिकित्सा—

मस्तुलुंगस्य संवृद्धिर्जायते मरणाय हि।
नौषधं तत्र चेत् सेव्यं तथापि च रसायनम्॥
पेयमत्र पंचगव्य घृत मधुयुतं तथा।

मस्तुलुङ्ग की वृद्धि होने पर निश्चित मरण होता है। अतः यहां औषधि सेवन करे, केवल रसायन औषधियों का सेवन करे। पंचगव्य घृत मधु के साथ पीना परम लाभदायक है।

मस्तिष्कस्य यदि ह्रासो मरणायैवजायते।
तदाप्यत्र सदासेव्यं भैषज परिवृंहणम्॥

मस्तिष्क ह्रास होने पर भी मृत्यु होती है। वृंहण दवाइयों का सेवन लाभकारी होता है।

चन्दनादि क्वाथ

चन्दनं द्वितयं मूर्वा श्यामाद्वन्द्वं निशाद्वयम्।
लाक्षा वांसी गैरिकं च जीवन्तीमधुकवरी॥
वाजिगन्धावचा कृष्णा काकोली जीवकर्षभौ।
क्वाथ एषां पिवेत्प्रायः मस्तिष्क ह्रास शान्तये॥

मस्तिष्क ह्रास के लिये चन्दन सफेद, चन्दन लाल, मूर्वा, अनन्तमूल सफेद, अनन्तमूल काला, हल्दी, दारुहल्दी, पीपर की लाख, वंशलोचन, गेरू, जीवन्ती, मुलहठी, शतावर, असगन्ध, वच मीठी, पीपल, काकोली, जीवक, ऋषभक का २ तोले का क्वाथ वना दूध मे मिलाकर ३—४ वार में दें।

वाताधिकारोक्त तैल, घृतों का प्रयोग करे या अपस्माराधिकारोक्त औषधियों का प्रयोग करे। पथ्य में पोषक अन्नपान का सेवन करावें।

शीर्षाम्बुरोग में जो अन्य दवाइयां न बना सके वह निम्न क्वाथ का प्रयोग भी कर सकते हैं। यथा—

रेवंद चीनी, निशोथ, दोनों अनन्तमूल [कृष्ण श्वेत], हर्र गुठली रहित, आमला गुठली रहित, कपूर कचरी, जवासामूल, मुलहठी, मोंथा, धनिया, कुटकी, हल्दी, दारु हल्दी, दालचीनी, इलायची बड़ी के बीज, पत्रज का क्वाथ १-१ तोला, २० तोले पानी में पका ५ तोले रहने पर लाल यवक्षार १-१ रत्ती मिला दिन में ३-४ बार प्रयोग करे।

पथ्य—हलका, पुष्टिकर अन्नपान दे।

वह्निभास्कर रस

स्वर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, वैक्रान्त भस्म ३-३ माशा, लौहभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण माक्षिक भस्म १-१ तोला ले। प्रथम पारा गन्धक की कज्जली बनाकर अन्य द्रव्य १-१ कर मिलालें। और रक्त चित्रक मूल रस की और ब्राह्मी के रस की २१-२१ भावना दे १-१ रत्ती की गोलियां बना मधु से प्रातः सायं दें, रस तैल का मर्दन करें, निश्चय रोग दूर होता है। गरीबों के लिये सलिल शोषण चूर्ण, रस तैल ही काफी हैं अनुभूत भी हैं।

—श्री पं० विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज
सम्पादक-अनुभूत योगमाला,
बरालोकपुर (इटावा)



:: रोहिणी ::

एलोपैथिक मत से चिकित्सा—

झिल्ली को देखकर उसे उतार देना चाहिये, रोगी को सदा पृथक रखना चाहिये। तथा रोग मुक्ति के तीन सप्ताह बाद तक, तथा जब तक मुख से श्लेष्मा आती रहे तब तक रोगी को अन्य बच्चों से न मिलने देना चाहिए।

रोग का सन्देह होने पर ही तत्काल सीरम (*Serum*) का आधी सी० सी० का इन्जेक्शन लगा देना चाहिये। रोगका वास्तविक निर्णय हो जाने पर तत्काल ही एन्टीडिफ्थीरिया सीरम (*Anti-Diphtheria serum*) का ४०० से १२०० युनिट्स का इन्जेक्शन ४० से १२० सी० सी० तक मासा-

:: पृष्ठ ३१२ का शेषांश ::

न्तर्गत लगा देना चाहिये। पुनः बारह घण्टे बाद पुनः इतनी ही मात्रा का इन्जेक्शन लगा देना चाहिये। इस रोग की जितनी विलम्ब से चिकित्सा का अवसर आये तो अधिक मात्रा का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। यदि स्वरयंत्र अवरुद्ध हो जावे तो शल्य कर्म विशेषज्ञ द्वितीय स्वर यन्त्र भी बनाकर श्वास कार्य संचालन कर देते है। सीरम के साथ स्ट्रेप्टोकोकस (*Streptococus*) जीवाणु के नाश के लिए टेरामाइसिन (*Terramycin*) का मांसान्तर्गत का इन्जेक्शन लगाना चाहिए।

—श्री प्रेमशंकर त्रिवेदी वैद्याचार्य, आयुर्वेद रत्न
पिलखना (अलीगढ़)





का सेवन करावें, रस तैल सिर मे मले, यदि शान्त न हो तो त्रिकूर्च यन्त्र से पानी निकाल दें। यह कार्य प्रवीण चिकित्सक का ही है।

रसचूर्ण [सलिलशोषण चूर्णम्]

रस चूर्णं यवक्षार पीतमूलीं त्रिजातकम्।
भार्गीमिला तथा लघ्वींमभयामिन्द्रवारुणीम्॥
समांशेन पुष्टया॥थ प्रयुञ्ज्यात् पयसासह।
शीर्षाम्बुवेन्निराकुर्यात् चूर्णं सलिलशोषणम्॥

रस पुष्प [शास्त्रीय रस कर्पूर भेद--यह शीशी मे बालुका यन्त्र से उड़ाया जाता है] यवक्षार, रेवंद चीनी, दालचीनी असली, वड़ी इलायची, पत्रज, भारङ्गी, इलायची छोटी के बीज, हरड़ गुठली रहित, इन्द्रायण मूल बराबर ले। रस पुष्प को छोड़कर इनका चूर्ण कपड़छन कर खरल मे डाल रसपुष्प मिला एक दिन घोटे। ३-३ रत्ती की मात्रा से मधु मे मिला चटावे, प्रातःसायं दो वार दे।

रस तैल

धत्तूर बीज, धाय के फूल, मूर्वामूलकन्द, मुलहठी, महुआ पुष्प, विडनमक, सोंठ, नील की जड़, पीपल छोटी, कायफल, कुटकी, सुगन्धवाला ३-३ माशे, कडवा तैल ४० तोला में महीन पीस डाल मुख बन्द कर सात दिन रक्खे। बाद मे छानकर १ तोला पारा गन्धक की कज्जली मिला रक्खें और वालहीन सिर पर मलें। [आ० वि०]

मस्तिष्क चयापचय—

देहस्वभावाद् दृष्टयाच वर्द्धतेमस्तुलंगकः।
करोटिरपि वालाना युवान्वापि कदाचन॥
मस्तिष्कस्य करोटेश्च यदिवृद्धिर्द्वयोभवेत्।
न चिन्हं दृश्यते किंचित् प्रायशः समवर्द्धनात्॥
मस्तिष्कस्यैव चेद्वृद्धिर्न करोटेस्तथाभवेत्।
तदानिपीडनात् तस्यजायन्तेविविधारुजः॥
शिरसोतिरुजा तीव्रा दौर्बल्य भ्रममूर्च्छने।
पक्षाघातस्तथाक्षेप स्ततोमरणमेव च॥
ह्रासमायाति मस्तिष्क देहदोषाददृष्टत।
एकपार्श्वं ह्रसेत् यच्चेन्न शीघ्रं जीवन क्षय॥
समन्तात् ह्रसनात् तस्य प्राणान्तस्त्वरयाभवेत्॥

देह के स्वभाव से, भाग्य से, मस्तुलुङ्ग (शिर के अन्दर की धातु) वढ़ती है, कहीं सिर्फ करोटि प्रदेश ही वढ़ता है, वालकों का कदाचित् ही जवानों का भी। मस्तुलुङ्ग और करोटि प्रदेश दोनों की वृद्धि एक साथ हो तो कोई भी चिन्ह विशेष नहीं मालूम देता। यदि केवल मस्तुलुङ्ग की ही वृद्धि हो और करोटि की वृद्धि न हो तो दवाने से पीड़ा होती है, स्थान पिलपिलाता है। सिर मे अधिक तीव्र पीड़ा, दुर्वलता, भ्रम, मूर्च्छा, पक्षाघात, आक्षेप और मृत्यु होती है। यदि मस्तुलुङ्ग का ह्रास देह दोष या भाग्य [पूर्व जन्मार्जित पाप] से हो तब सिर का एक भाग ही सूखता है पर शीघ्र मृत्यु नहीं होती। परन्तु करोटि और मस्तुलुङ्ग दोनों की एक साथ वृद्धि होने से जीवन क्षय जल्द हो जाता है।

चिकित्सा—

मस्तुलुंगस्य सवृद्धिर्जायते मरणाय हि।
नौषधं तत्र चेत् सेव्यं तथापि च रसायनम्॥
पेयमत्र पंचगव्य घृत मधुयुतं तथा।

मस्तुलुङ्ग की वृद्धि होने पर निश्चित मरण होता है। अतः यहां औषधि सेवन करे, केवल रसायन औषधियों का सेवन करे। पंचगव्य घृत मधु के साथ पीना परम लाभदायक है।

मस्तिष्कस्य यदि ह्रासो मरणायैवजायते।
तदाप्यत्र सदासेव्यं भैषजं परिबृंहणम्॥

मस्तिष्क ह्रास होने पर भी मृत्यु होती है। बृंहण दवाइयों का सेवन लाभकारी होता है।

चन्दनादि क्वाथ

चन्दनं द्वितय मूर्वा श्यामाद्वन्द्वं निशाद्वयम्।
लाक्षा वांसी गैरिकं च जीवन्तीमधुकवरी॥
वाजिगन्धावचा कृष्णा काकोली जीवकर्षभौ।
क्वाथ एषा पिबेत्प्राय मस्तिष्क ह्रास शान्तये॥

मस्तिष्क ह्रास के लिये चन्दन सफेद, चन्दन लाल, मूर्वा, अनन्तमूल सफेद, अनन्तमूल काला, हल्दी, दारुहल्दी, पीपर की लाख, वंशलोचन, गेरू, जीवन्ती, मुलहठी, शतावर, असगन्ध, वच मीठी, पीपल, काकोली, जीवक, ऋषभक का २ तोले का क्वाथ वना दूध मे मिलाकर ३—४ वार मे दें।

वाताधिकारोक्त तैल, घृतों का प्रयोग करें या अपस्माराधिकारोक्त ओषधियों का प्रयोग करें। पथ्य में पोषक अन्नपान का सेवन करावें।

शीर्षाम्बुरोग में जो अन्य दवाइयां न बना सके वह निम्न क्राथ का प्रयोग भी कर सकते हैं। यथा—

रेवंद चीनी, निशोथ, दोनों अनन्तमूल [कृष्ण श्वेत], हर्र गुठली रहित, आमला गुठली रहित, कपूर कचरी, जवासामूल, मुलहठी, मोथा, धनिया, कुटकी, हल्दी, दारु हल्दी, दालचीनी, इलायची बड़ी के बीज, पत्रज का क्वाथ १-१ तोला, २० तोले पानी में पका ४ तोले रहने पर छाल यवक्षार १-१ रत्ती मिला दिन मे ३-४ बार प्रयोग करें।

पथ्य—हलका, पुष्टिकर अन्नपान दे।

वह्निभास्कर रस

स्वर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, वैक्रान्त भस्म ३-३ माशा, लौहभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण माक्षिक भस्म १-१ तोला ले। प्रथम पारा गन्धक की कज्जली बनाकर अन्य द्रव्य १-१ कर मिलालें। और रक्त चित्रक मूल रस की और ब्राह्मी के रस की २१-२१ भावना दे १-१ रत्ती की गोलियां बना मधु से प्रात. सायं दें, रस तैल का मर्दन करें, निश्चय रोग दूर होता है। गरीबो के लिये सलिल शोषण चूर्ण, रस तैल ही काफी है अनुभूत भी हैं।

—श्री पं॰ विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज
सम्पादक-अनुभूत योगमाला,
बरालोकपुर (इटावा)

:: रोहिणी ::

.·. पृष्ठ ३१२ का शेषांश .:

एलोपैथिक मत में चिकित्सा—

झिल्ली को देखकर उसे उतार देना चाहिये, रोगी को सदा प्रथक रखना चाहिये। तथा रोग मुक्ति के तीन सप्ताह बाद तक, तथा जब तक मुख से श्लेष्मा आती रहे तब तक रोगी को अन्य बच्चो से न मिलने देना चाहिए।

रोग का सन्देह होने पर ही तत्काल सीरम (*Serum*) का आधी सी॰ सी॰ का इन्जेक्शन लगा देना चाहिये। रोगका वास्तविक निर्णय हो जाने पर तत्काल ही एन्टीडिफ्थीरिया सीरम (*Anti-Diphtheria serum*) का ४०० से १२०० युनिट्स का इन्जेक्शन ४० से १२० सी॰ सी॰ तक मांसान्तर्गत लगा देना चाहिये। पुनः बारह घण्टे बाद पुनः इतनी ही मात्रा का इन्जेक्शन लगा देना चाहिये। इस रोग की जितनी विलम्ब से चिकित्सा का अवसर आये तो अधिक मात्रा का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। यदि स्वरयंत्र अवरुद्ध हो जावे तो शल्य कर्म विशेषज्ञ द्वितीय स्वर यन्त्र भी बनाकर श्वास कार्य संचालन कर देते हैं। सीरम के साथ स्ट्रेप्टोकोकस (*Streptococus*) जीवाणु के नाश के लिए टेरामाइसिन (*Terramycin*) का मांसान्तर्गत का इन्जेक्शन लगाना चाहिए।

—श्री प्रेमशंकर त्रिवेदी वैद्याचार्य, आयुर्वेद रत्न
पिलखना (अलीगढ़)



उपजिह्विकाओं की विकृतियां

[Affections of the Tonsils]

श्री डा० अनन्तराम शर्मा शास्त्री D. I. M. S.



यस्यश्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते।
आशु संजनयेत् शोथं जायतेऽस्योपजिह्विका॥

अर्थात्–प्रकुपित होने के उपरात श्लेष्मा जिह्वामूल में स्थित होता है जहां वह शीघ्र ही शोथ उत्पन्न कर देता है यह विकार 'उपजिह्विका' कहलाता है

उपजिह्विका (*Tonsils*) ग्रन्थियां क्षुद्र कोलफल की गुठलियों की आकृति सदृश होती हैं तथा ये गले में दोनों ओर अग्रपश्चिम स्तम्भिकाओं के मध्य स्थित होती है। रोगोत्पादक जीवाणुओं से शरीर की रक्षा करना तथा श्वेत कोषाणुओं के निर्माण मे सहायता करना इनका कार्य होता है। किन्तु जीवाणुओं को नष्ट करने की इनकी शक्ति अल्पमात्र होने से ये इस प्रयत्न में प्राय शोथग्रस्त हो जाती है। इनके इस प्रकार के शोथात्मक विकार बालकों मे अधिक पाये जाते हैं।

ऊपर चरकानुसार वर्णित उपजिह्विका विकार तीव्र उपजिह्विका शोथ (*Acute tonsillitis*) भी कहलाता है। यह सक्रमण के परिणामस्वरूप होता है। इस शोथात्मक प्रक्रिया मे तालु, महातोरणिकायें (*Fauces*) और ग्रसनिका भित्तियां (*Pharyngeal walls*) भी सम्मिलित हुई होती हैं। इस अवस्था मे पाये जाने वाले जीवाणुओं में स्ट्रेप्टो कोकाई, न्यूमोकोकाई, स्टेफिलोकोकाई आदि होते हैं। शोथ के उपरांत पूय निर्मित हो जाने की अवस्था का चरक ने 'तालुविद्रधि' के नाम से वर्णन किया है। यह तालुविद्रधि दो प्रकार (मर्मीय और स्राव कोषीय) की होती है किंतु इन भेदों मे परस्पर अन्तर करना आसान नहीं होता।

तालुविद्रधि—

स्यात्तालु विद्रध्यपिदाहराग
पाकान्विता तालुनिसा त्रिदोषात्। —च. चि.

अर्थात् तालु में त्रिदोष से होने वाली दाह, राग और पाक युक्त विद्रधि 'तालुविद्रधि' कहलाती है। यह विद्रधि दो प्रकार की होती है।

(१) तीव्र मर्मीय उपजिह्विका शोथ (Acute Parenchymatous Tonsillitis)

इसके कारण अङ्ग का आकार बड़ा हो जाता है और वह वर्ण मे धूमिल रक्त हो जाता है। जिन रोगियों मे दोनों ओर की उपजिह्विकायें बढ़कर मध्यरेखा में मिल जाती हैं उनमे निगलने मे और कभी कभी श्वास लेने में भी कष्ट होता है। ताप उच्च (*High*) होता है, ग्रन्थिहनुकोण के नीचे बढ़ी हुई और स्पर्श सहिष्णु होती है, जिह्वा घन और श्वेत आवरण से आच्छादित होती है। और विबन्ध उपस्थित होता है। कुछ रोगियों मे स्थानिक रूप से विष सचार भी पाया जाता है।

(२) तीव्रस्रावकोषिय उपजिह्विका शोथ (Acute Folliculicular Tonsillitis)

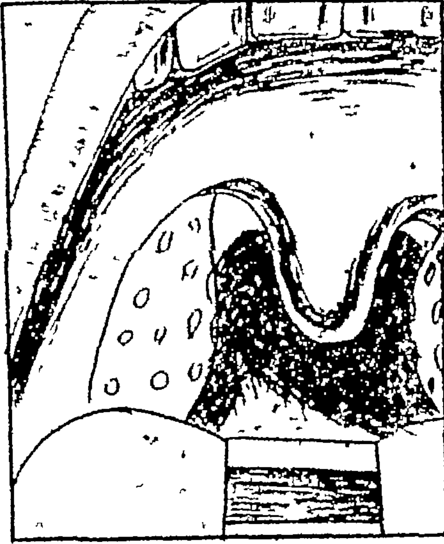
इसमे उपजिह्विका के कोष रोगग्रस्त हुए होते हैं जिनमें से पीले रंग का स्राव निकल कर ग्रन्थि पृष्ठ पर जम जाता है और एक प्रकार के आवरण सा प्रतीत होता है तथा रोहिणी (*Diphtheria*) के आवरण सदृश लगता है। इस आवरण को हटाने से रोहिणी के आवरण की तरह इसमे शोणित स्राव नहीं होता है।

शोथ का यह प्रकार लीन (*Buried*) उपजिह्विकाओ मे अधिक पाया जाता है और पूर्व वर्णित मर्मीय प्रकार उभरी हुई (*Prominent*) उपजिह्विकाओं में अधिक होता है।

परि–उपजिह्विकीय विद्रधि (Peritonsillar Abscess or Quinsy)

यह तीव्र उपजिह्विका शोथ का उपद्रव है जिसमे

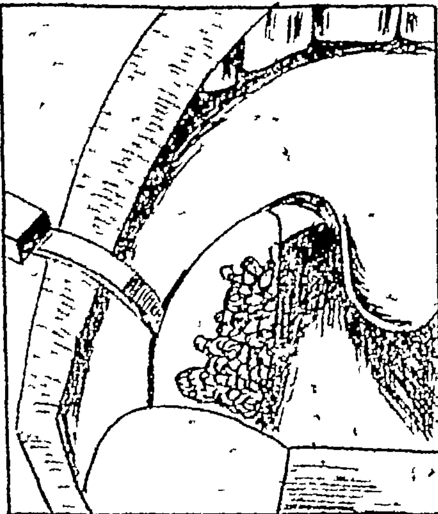
ग्रन्थि के चारों ओर पूयोत्पादन होता है। सामान्यतः विद्रधि का स्थान ग्रन्थि का ऊर्ध्वशिखर होता है,



चित्र नं० ८१

तीव्र स्रावकोषीय उपजिह्विकाशोथ (Acute follicular tonsillitis)

सक्रमण ऊर्ध्वउपजिह्विकीय खात (*Fossa*) में से होकर कोष के स्तरों में प्रविष्ट होता है। कभी कभी ग्रन्थि के अन्दर भी विद्रधि पायी जाती है। शोथ



चित्र नं० ८२

तीव्र स्रावकोषीय उपजिह्विका-शोथ—स्राव निकल कर ग्रन्थि पर जम गया है और एक आवरण सा प्रतीत होता है।

दोनों ओर उपस्थित होता है किन्तु पूयोत्पादन एक ओर ही होता है, यदि दोनों ओर हो तो पहिले एक उपजिह्विका पीड़ित होती है तदनन्तर दूसरी। पूय उत्पन्न होने में तीन से सात दिन लग जाते हैं। तालु उभर आता है और रोगग्रस्त पार्श्व की ओर से गतिरहित होता है, गलशुण्डिका (*Uvula*) उत्सेध और आर्द्र शोथयुक्त होती है तथा इसका तीक्ष्णाग्रभाग विद्रधि की ओर होता है। उत्सेध के बढ़े होने के कारण निगलना और सास लेना दोनों में कष्ट होता, ताप उच्च, वेदना अत्यधिक और ग्रैवेयक ग्रन्थियां (*Cervical glands*) स्पष्ट रूप से बड़ी हुई होती हैं। तन्त्री द्वार (*Glottis*) का आर्द्र शोथ भी हो सकता है। इसके अन्य लक्षण ऊपर वर्णित अन्य लक्षणों के अनुसार होते हैं। यदि चिकित्सा न की जाय तो विद्रधि शीघ्र या विलम्ब से मृदुतालु में उपजिह्विका के ऊपर या बहि पार्श्व में विदीर्ण हो जाती है जिससे रोगी को तत्काल लाभ पहुँचता है। त्रिदोष कोप से होने वाले इस विकार को चरक ने 'तालुविद्रधि' कहा है (स्यात्तालुविद्रध्यपि दाह दाग पाकान्विता तालुनि सा त्रिदोषात्—च. चि. १२)।

रोगनिर्णय—

लोहित (*scarlet*) ज्वर पिडकाये उपस्थित होती हैं और जिह्वा का रङ्ग लाल होता है, रोहिणी में आवरण संसक्त हुआ होता है तथा रोहिणी के जीवाणु पाये जाते हैं। तीव्र उपजिह्विका शोथ में ताप उच्च होता है।

चिकित्सा—

शान्ति नयेद्दोपहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदन भेद दाहैः।

—च. चि. १२

रोगी को सनामिका (सनाय) चूर्ण ४ माशा या कैलोमल १॥-२ ग्रेन के प्रयोग से कोष्ठ शुद्धिकर ज्वर तथा वेदनाहर औषधियां, संजीवनी वटी १-२ गोली या सोडा सेलिसिलेट १० ग्रेन दिन में दो बार देना चाहिए। मेन्थल ३ ग्रेन को उष्ण जल में



(१८०° फा) डालकर उसका वाष्प लेने से भी रोगी को पर्याप्त आराम मिलता है। ग्रन्थि पर मधुसौभाग्य, कालक चूर्ण मधु या *Guaiacol* का ग्लिसरीन में ५ प्रतिशत घोल उपजिह्विका पर प्रलिप्त (*Paint*) करने से भी लाभ होता है। यह (अन्तिम) योग जीवाणु वृद्धिनिरोधक और स्थानिक मंज्ञाहर दोनों हैं। रोग की तीव्रावस्था मे सल्फोनेमाइडस या पेनिसिलीन का प्रयोग करना चाहिये। यदि विद्रधि को पहिले ही रोक दिया जाय तो जीर्ण प्रस्रवण अवस्था (chronic leaking state) के होने की आशंका होती है। ग्रन्थि के पृष्ठ को कोकेन (१० प्रतिशत) और एड्रेनेलीन को समभाग लेकर तथा पिचु से लगाकर चेतनाहीन कर लेने के उपरान्त भेदन करते हैं तथा पूय को निकाल लिया जाता है। भेदन बहुत गहरा और बाहर की ओर को अधिक नहीं होना चाहिये। शस्त्रकर्म से पूर्व तथा पश्चात् भी ग्रीवा तथा कण्ठ पर उष्ण स्वेद करना चाहिये। और रोगी को पर्याप्त तरल तथा बल्य (tonics) औषधियां देनी चाहिये। उपजिह्विका शोथ को पुनः होने से रोकने के लिये ग्रन्थि को रोग के प्रशमनकाल में निकलवा देना चाहिये।

उपद्रव (Complications) —

संक्रमण उपजिह्विका के कोष से बाहर भी फैल कर उपग्रसनिका प्रदेश (parapharyngeal space) को भी ग्रस्त कर लेता है। ताप उच्च बना रहता है और रक्तिमा तथा उभार सन्मुखीण त्रिकोण (anterior triangle) मे उपस्थित होती है, कभी कभी पूय तरंग भी प्रतीत की जाती है। संक्रमण का मध्यान्तराल (mediastinum) फैल जाना एक भयंकर अवस्था है, किंतु अधिकतर अन्तर्ग्रीविका (internal jugular) सिरा या उसकी किसी शाखा की घनास्रसिराशोथता (Thrombophlebitis) पायी जाती है। कभी कभी किसी धमनी वा सिरा का कोथ (slough) हो जाता है और जब शोथयुक्त उपजिह्विका को खोला जाता है तो भयंकर शोणित स्राव होता है। उपग्रसनिका विद्रधि में पन्टिबायोटिक्स प्रयोग करना चाहिये।

जीर्ण उपजिह्विका शोथ—

यह अवस्था रोग के तीव्र आक्रमणों के बाद पायी जाती है किन्तु प्राथमिक अवस्था (primary condition) के रूप में भी हो सकती है। उपजिह्विका न्यूनाधिक मात्रा में बढ़ी हुई होती है और उसका रङ्ग स्वस्थावस्था की अपेक्षा अधिक लाल होता है। ग्रन्थि के कोष्ठ खंडों (crypts) में स्राव उपस्थित होता है। विशेषकर जब उपजिह्विका लुप्त (buried) प्रकार की होती है। यह अवस्था अधिकतर बालकों मे पाई जाती है जो इसके अतिरिक्त ग्रसनिका ग्रन्थि (adnoicds) विकार से भी पीड़ित होते हैं। उपजिह्विका यक्ष्मा का केन्द्र भी हो सकती है। ग्रीवा की ग्रन्थियां भी संक्रमणग्रस्त होकर आकार में बढ़ जाती हैं, इनमें विद्रधि भी पायी जा सकती है-जो अधिकतर यक्ष्माजन्य होती है। कभी कभी शोथ साधारण भी होता है।

बढ़ी हुई उपजिह्विकायें और ग्रसनिका ग्रन्थियां (Enlarged tonsils & Adenoids)—

यह अवस्था बालकों मे बहुत अधिक पायी जाती है, विशेषकर निर्धन परिवारों में जो बड़े बड़े शहरों में छोटे छोटे मकानों मे रहते हैं। इस विकार के साथ साथ उनकी ग्रैवेयक लसिका ग्रन्थियां भी बढ़ी हुई होती हैं और बार बार निरन्तर ठंड लगने से उनकी नाक बहती रहती है। उनका रहन सहन अस्वास्थ्यकर स्थानों मे होता है और उनके आहार मे कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थों [चावल, गेहूँ, आलू आदि] की अधिकता होती है। उष्ण तथा उष्ण आबहवा मे ग्रसनिका ग्रंथियां अपेक्षाकृत कम पायी जाती है। ग्रसनिका विकारो के साथ साथ लोहित ज्वर, रोमान्तिका और अन्य संक्रमणजन्य रोगों के परिणामस्वरूप भी यह विकार पाया जाता है। नासावरोध के कारण बालक मुख से सांस लेता है और कभी कभी उसकी आवाज

भी भारी हो जाती है। सोते समय बालक खर्राटे लेता (snore) है और शोथात्मक विकार का श्रुतिसुरंगा (eustachian tube) की अन्तः श्लैष्मिक कला तक फैल जाना संभव है जिससे श्रुतिसुरंगा का अवरोध या मध्यकर्ण के उपद्रव हो सकते हैं।

ग्रैवेयक ग्रन्थियों के विकार द्वितीयक (secondary) होते हैं जिसका कारण उपजिह्विका का इस रोग से पीड़ित होना है। उपजिह्विका के संक्रमण का कारण विकृतदन्त भी हो सकते हैं और शस्त्रकर्मसे पूर्व यह आवश्यक है कि मुख स्वस्थावस्था में हो। तीव्र उपजिह्विका के शोथ के आक्रमण से कम से कम तीन सप्ताह बाद ग्रन्थि को निकालने के लिये शस्त्रकर्म करना चाहिये।

ग्रसनिका ग्रन्थियों और उपजिह्विका को निकालने में पूर्व नासा का भी सावधानीपूर्वक परीक्षण कर लेना चाहिए जिससे यह निश्चय हो जाय कि मुखद्वारा सांस लेने का कारण प्राचीर (septum) के अतिवर्धन (Diviation) या कंटक (spur) से उत्पन्न अवरोध नहीं है।

चिकित्सा —

सामान्य रूप से पीड़ित व्यक्तियों में सर्वप्रथम शुद्ध वायु या समुद्र के किनारे की आवहवा की व्यवस्था करनी चाहिये और शारीरिक दौर्बल्य को दूर करने के लिये लौह और मत्स्य तैल (काडयकृत् तैल) का प्रयोग करना चाहिये। इसके साथ साथ उपजिह्विका पर पिचु द्वारा जीवाणुवृद्धिनिरोधक या ग्राही (astringent) औषधियों को लगाना चाहिये। ऐसे रोगियों को लिक्विर आर्सेनिकेलिस [संखिया योग] को अल्पमात्रा में देना उपयोगी होता है।

उपजिह्विका और ग्रसनिका ग्रन्थियों की जीर्ण वृद्धि में जब विकृति-शारीर-संबन्धी तथा विशिष्ट प्रकार के लक्षण उपस्थित हो तो उन्हें निकाल देना ही उत्तम है। प्राचीनकाल में किया जाने वाला ग्रन्थि का आंशिक छेदन कभी नहीं करना चाहिए।

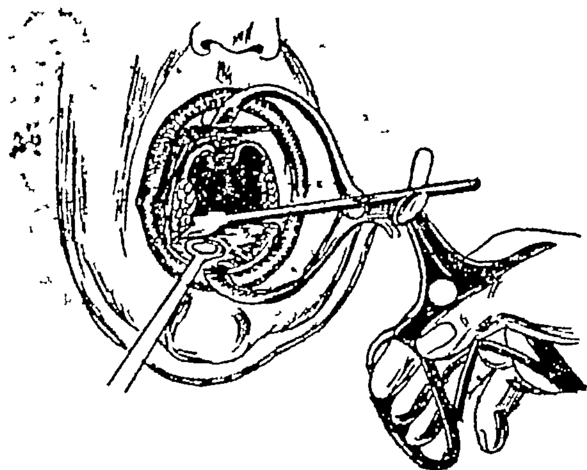
पूर्ण उपजिह्विका-छेदन (Complete tonsillectomy or enucleation)—

यह छेदनकर्म निम्न वर्णित दो विधियो द्वारा किया जा सकता है—

१. गिलोटिन (Gillotine) द्वारा उपजिह्विका छेदन—

रुग्ण बालक को शस्त्रकर्म से एक दिन पूर्व चिकित्सालय में प्रविष्ट कर लिया जाता है जिससे हृदय, फुफ्फुस और मूत्र की परीक्षा की जा सके। रोगी को पूर्व ही अति मृदुरेचन (aperient) दे देना चाहिए। बालकों में संज्ञाहरण के लिये ईथिल क्लोराइड का प्रयोग करते हैं और शस्त्रकर्म के लिये रोगी को पीठ के सहारे लिटाते हैं तथा कन्धों के नीचे तकिया रख दिया जाता है। शल्य चिकित्सक रोगी के दाहिनी ओर खड़ा होता है और डायेन के मुखविस्फारक [*Doyen's Gag*] को रोगी के बायें गाल पर से लगाकर मुख खुला रखा जाता है।

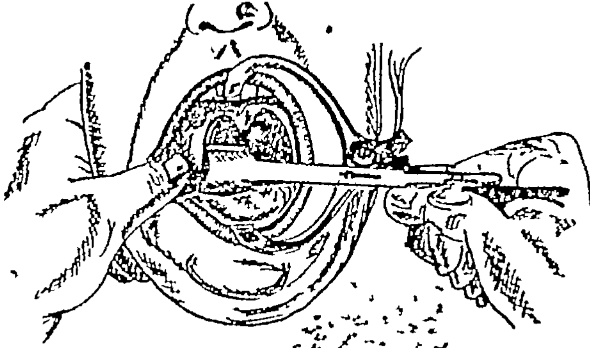
तदनन्दर हीथ के गिलोटीन [*Heath's Guillotine*] को प्रयोग में लाया जाता है जो कि उत्तम उपकरण है और साथ ही यह पर्याप्त कुण्ठित भी होता है। चिकित्सक इसे दाहिने हाथ में लेकर सर्व



चित्र नं० ८३
सर्व प्रथम गिलोटीन की मुद्रिका को उपजिह्विका के नीचे के सिरे से लगायें।

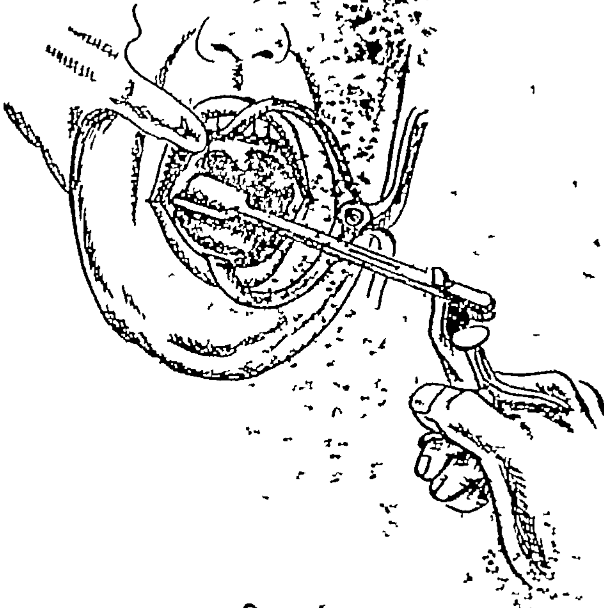


प्रथम इसकी मुद्रिका [*Ring*] को दक्षिण पार्श्व की उपजिह्विका के चारों ओर लगाता है और ग्रन्थि



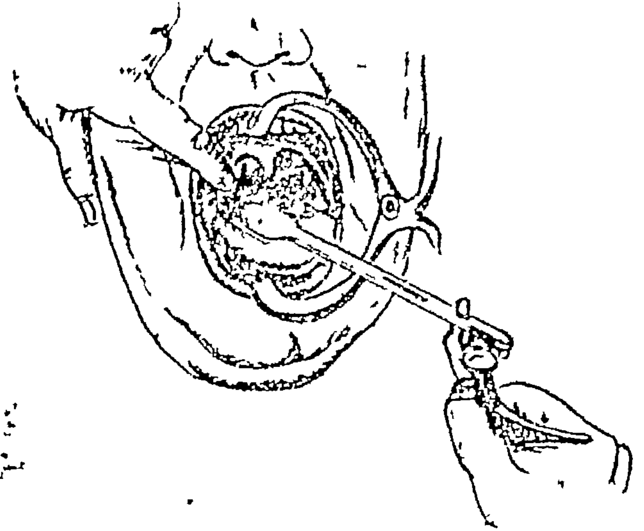
चित्र नं० ८४
तत्पश्चात् ग्रन्थि को सामने तथा ऊपर की ओर उठायें।

को उसके स्थान से सामने और ऊपर की ओर को उठाता है। दूसरे हाथ की तर्जनी अंगुली के अग्र-



चित्र नं० ८५
तदनन्तर दूसरे हाथ की तर्जनी अंगुली के अग्र भाग से गलतोरणिका की पुर स्तम्भिका के बाहर की ओर लगे भाग पर दबाव डालते हैं।

भाग से गलतोरणिका की पुर. स्तम्भिका के बाहरी ओर के लगे भाग पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार ग्रन्थि पूर्ण रूप से उपकरण की मुद्रिका में चली जाती है। तत्पश्चात् गिलोटीन के ब्लेड को दाहिने हाथ के अंगुष्ठ के दबाव से धीरे धीरे नीचे की ओर बन्द कर देते हैं। इस संबन्ध में नितान्त सावधानी वर्तनी चाहिए कि पुर.स्तम्भिका भी मुद्रिका में न चली जाय क्योंकि वाम हस्त के अधिक



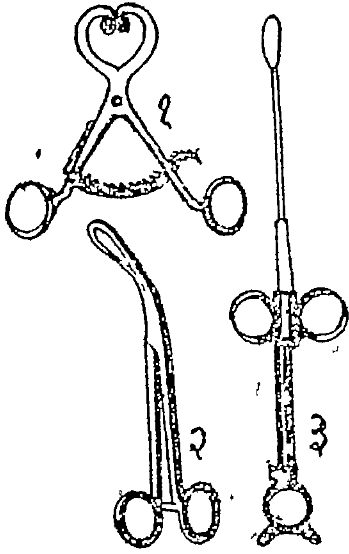
चित्र नं० ८६
ग्रन्थि को सावधानीपूर्वक अंगुली द्वारा हटाते हैं।

दबाव से ऐसा आसानी से हो जाया करता है। इस प्रकार ग्रन्थि पूर्णतः पृथक् हो जाती है।

यन्त्र का ब्लेड ग्रन्थिकोष और ग्रन्थि के आधार में स्थित सौत्रिकतन्तु स्तर के मध्य भाग से अपना मार्ग बनाता है। आरम्भ में रुधिर स्राव अधिक होता है किन्तु इसे संदंश से निगृहीत पिचु के दबाव से नियन्त्रित कर लिया जाता है। यदि कोई बडी रक्तवाहिनी कट जाय तो उसे उपयुक्त संदंश से पकड़कर बांध देते हैं।

वाम पार्श्व की उपजिह्विका को निकालने के लिये यन्त्र को चिकित्सक बायें हाथ में लेकर ग्रन्थि का निर्हरण करता है। बायें हाथ से काम करने में असुविधा हो तो चिकित्सक को रोगी के सिर की ओर खड़ा होना चाहिए।

ग्रसनिका ग्रन्थियों को भी निकाल कर शस्त्रकर्म पूरा कर दिया जाता है और तत्पश्चात् शीघ्र ही बालक को अधोमुख सुला (*Prone position*)



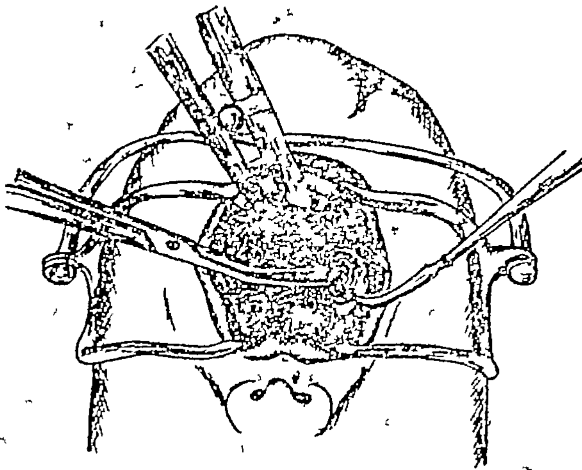
चित्र नं ८७

१—डायेन का मुख विस्फारक
२—वुल्सैलम सदंश
३—टान्सिल स्नेभर

में लिटा दे जिससे मुख व नासा में स्थित रुधिर निकल जाय। होश मे आने के उपरांत वालक को स्वतः ही मुख साफ कर लेने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। रोगी को एक या दो दिन शय्या पर विश्राम कराया जाता है। मृदु जीवाणु वृद्धि नाशन घोल से गले को साफ करते रहना चाहिये, तरल आहार भी दिया जाता है।

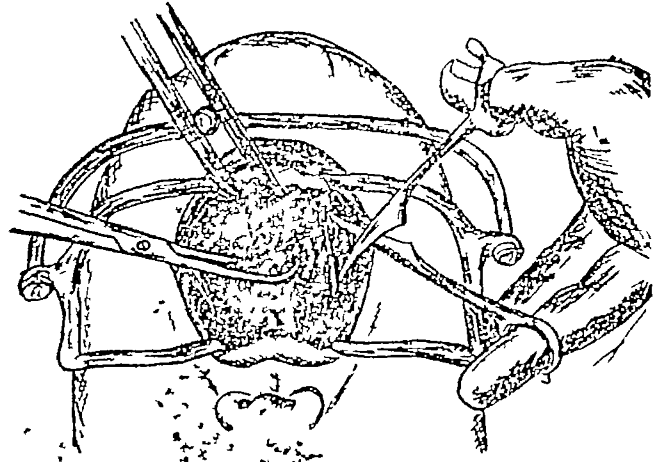
(२) उपजिह्विका का क्रमिकच्छेदन
(Enucleation by Dissection)—

जब गिलोटीन को प्रयोग में लाना अनुपयुक्त होता है तो अन्य विधियों द्वारा ग्रन्थि का निर्हरण



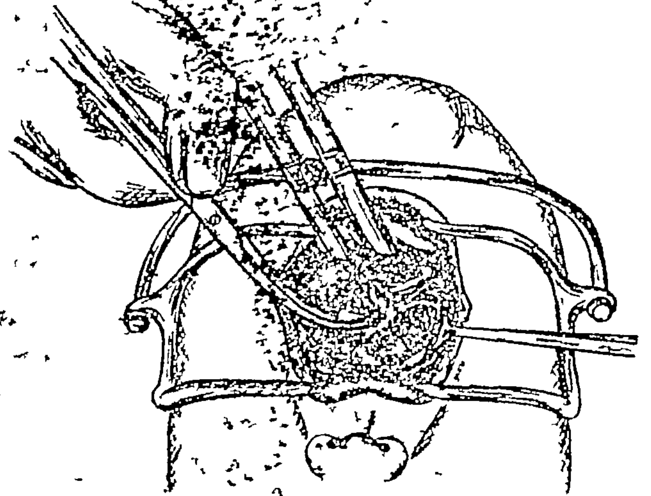
चित्र नं० ८८

पुरः स्तम्भिका(Anterior piller)मे चीरा लगाया जा रहा है (वुलसेलम सदंश से प्रथम ग्रन्थि को खींचते है।)



चित्र नं० ८९

पुरः स्तम्भिका में लगाये गये चीरे मे कैंची को प्रविष्ट कर चौड़ा देते हैं जिससे चीरा स्वत बढ़ जाता है।

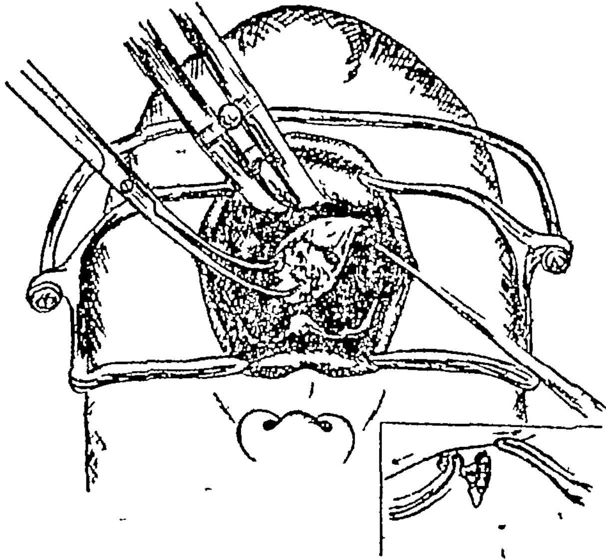


चित्र नं० ९०

ग्रन्थि को अपने आधार से प्रथक कर लिया गया है। ग्रन्थि का मूल भाग (pedicle) अभी नीचे के सिरे से लगा हुआ है।

करते हैं। सर्व प्रथम वलसेलम संदंश (*Vulsellum Forceps*) से ग्रन्थि को उसके स्थान में से ऊपर उठाते हैं। तदनन्तर गलतोरणका की सन्मुखीन स्तम्भिका और ग्रन्थि के स्वतन्त्र पृष्ठ के मध्य की श्लैष्मिक कला को विभक्त कर देते तथा कोप को नग्न कर लेते हैं। इसके पश्चात् ग्रन्थि को आधार (*Bed*)पर से हटाते हैं और कुण्ठितच्छेदन(*Blunt*





चित्र नं० ६१

ग्रन्थि मूल को स्नेग्रर-द्वारा हटाया जा रहा है। कोने में-स्नेग्रर द्वारा हटाने से पूर्व बन्धन किस प्रकार लगाना चाहिये यह दिखलाया है।

dissection) द्वारा उसे पृथक कर देते हैं। तालु और जिह्वा से संबन्धित भागों को स्नेअर (*Snare*) की सहायता से हटाते हैं और अन्त में आवश्यकता होने पर रुधिर स्राव को रोकने के लिये रक्त वाहिनियों का बन्धन कर दिया जाता है।

चाहे किसी भी पद्धति को अपनाया जाय, शस्त्रकर्म के समय अथवा उसके पश्चात् अत्यधिक शोणितस्राव होता ही है। इसको विकेशिका (*Gauze*) की या रूई की गद्दी का दबाव डालकर रोका जा सकता है। अंगुलियों द्वारा ग्रीवापर प्रतिनिपीडन (*Counter pressure*) भी एतदर्थ सहायक होता है। शस्त्रकर्म के उपरांत तथा सीवन से पूर्व रोगी को शान्त रखने के लिये अहिफेनसत्व और ग्रीवा पर हिम पोटली (*Ice bag*) का प्रयोग किया जा सकता है। उपजिह्विका खात (*Tonsil fossa*) पर थ्रोम्बिन को स्थानिक रूप से लगाने से भी रुधिर स्राव रुक जाता है। इतने पर भी यदि रुधिर स्राव न रुक सके तो आवश्यकतानुसार रोगी का संज्ञाहरण कर रक्तवाहिनी का बन्धन कर दिया जाता है।

इन विकारों के अतिरिक्त उपजिह्विका में फिरङ्ग सम्बन्धी (*Syphlitic*) विकार और साधारण तथा घातक अर्बुद भी पाये जाते हैं।

चरक ने दोषहर, आलेपन, भेदन (पूय होने पर) छेदन (समस्तग्रन्थि के निर्हरण के लिये) चिकित्सा के अतिरिक्त उपजिह्विकाओं की दहन चिकित्सा भी उल्लिखित की है (अलेपनच्छेदन भेद दाहैः— च. चि. १२)।

—डा० अनन्तराम शर्मा *D. I. M. S.* शास्त्री
प्राध्यापक–ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज, हरिद्वार

बच्चों में मोतीझला

श्री चन्द्रकान्त प्रभुशंकर शुक्ल

आप सौराष्ट्र के प्रसिद्ध वैद्य हैं। सफल चिकित्सक हैं। कच्छ वैद्य सभा के अनेक वर्षों तक प्रमुख रहे हैं एवं वर्तमान में गुजराथ राज्य की आयुर्वेदिक फैकल्टी के सस्मानित सदस्य हैं तथा अनेक परीक्षा समितियों के परीक्षक हैं। —सम्पादक।

बच्चो की तीन अवस्था मानी गई हैं। क्षीराद, क्षीरान्नाद और अन्नाद। जो केवल स्तन्यपान करते हैं उनको क्षीराद कहा जाता है। सामान्यतया ६ मास तक यह अवस्था मानी जाती है। इसके वाद थोड़ा भोजन करता है और स्तन्यपान भी चला करता है। इसको क्षीरान्नाद कहा जाता है। और वाद मे स्तन्य विलकुल छोड़ करके आहार लेता है इसलिये इस अवस्था को अन्नाद कहा जाता है। १६ वर्ष की आयु तक वाल्यावस्था मानी गई है। मोतीझरा वर्धमान आयु तथा युवावस्था मे अधिक होता है। वृद्धावस्था में भी मिलता है। इस प्रकार यह सब अवस्था मे मिलता है। यहां तक कि जरायु द्वारा भी इस रोक का संक्रमण होते हुये देखा गया है।

नामकरण—

आन्त्र की पैयर्स पैचज नामक कला विभाग मे विशेष विकृति होने से इसको आन्त्रिक ज्वर या एन्टरिक फीवर कहते हैं। आयुर्वेद मे तो सब ज्वरों को आमाशय-समुत्थ: माना गया है। परन्तु इसमें अन्नवह स्रोतस् मे प्रधानतया विकृति होने से आन्त्रिक ज्वर कहा जाता है।

बोईड नामक विकृति विज्ञान के तज्ञ ने इसको रक्तगत व्याधि माना है क्योंकि संक्रमण के बाद इस रोग के जीवाणु तथा जीवाणु से उत्पन्न विष रक्त मे जाता और सर्व शरीर में संचार करता है।

टाईफायड यह नाम ग्रीक भाषा से बनाया है जिसका अर्थ है मनोग्लानि की अवस्था। इस रोग मे यह लक्षण प्रधान होने से इसको टाईफायड कहते हैं। और इसके जीवाणु टाईफायड वैसीलस कहे जाते है।

महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन ने इस रोग का नाम आन्त्रिक ज्वर दिया है। इसके पूर्व और आजकल भी लोक व्यवहार मे इस रोग को 'मोतीझरा' कहा जाता है क्योकि रोग काल में शरीर पर मोती जैसे विशिष्ट प्रकार के दाने शरीर मे विशेषतया पूर्व भाग में उत्पन्न होते हैं।

रोगाधिष्ठान की दृष्टि से ऊपर जो भेद बताया है वह आयुर्वेद की दृष्टि से संपूर्णतया संगत है। जैसे ज्वर की सामान्य संप्राप्ति मे आमाशय समुत्थ तथा सन्तत ज्वर की दृष्टि से विशेष संप्राप्ति में 'सन्ततो रसरक्तस्थ:' ये दोनों स्वरूप से बताये गये हैं। क्योंकि आमाशय के एक देश मे विकृति का संबंध है अत: आन्त्रिक ज्वर कहना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

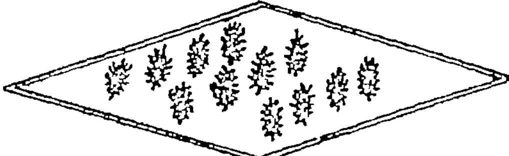
प्रत्यात्म लक्षण —

यह ज्वर तीव्र प्रकार का है, और निश्चित जीवाणु से उत्पन्न होता है। ज्वर की विशेषता यह है कि यह धीरे धीरे बढ़ता है। अहोरात्रि में कभी भी ज्वर रहितावस्था नहीं होती अर्थात् सन्तत ज्वर रहता है। इसके साथ आमविष के लक्षण तथा शरीर पर गुलाबी वर्ण की पिडकाये उत्पन्न होती हैं। ज्वर के जो प्रत्यात्यलक्षण कहे गये हैं वे भी इसमे निश्चित रहते हैं। ज्वर के प्रत्यात्म लक्षण निम्न हैं—

> स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वांग ग्रहणं तथा।
> युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥

अर्थात् स्वेद नहीं आना, और सर्वांग का ग्रह

मंथर ज्वर के कृमि
"Bacillus Typhosus"



यह जीवाणु आंतो मे पहुँचें तो शोथ और क्षत पैदा कर देते है ॥

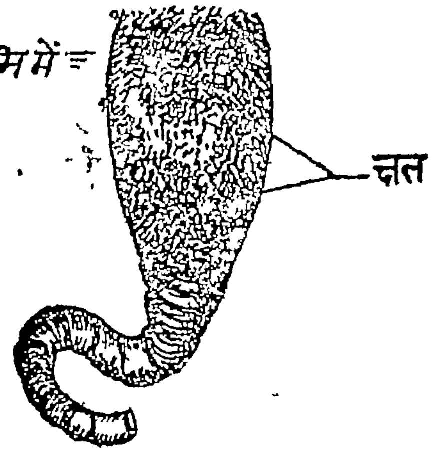
१ मंथर ज्वर में अंत्र शोथ

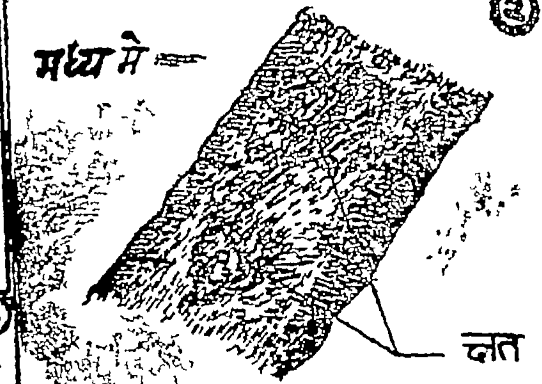


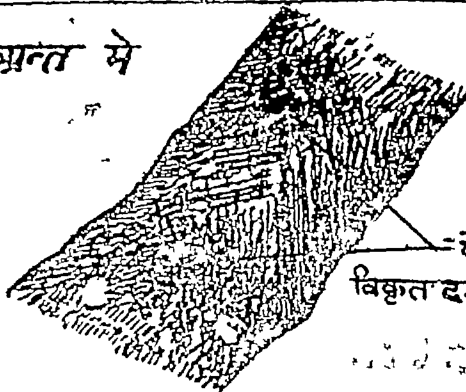
चित्र में नं० १,२ बिन्दु वाला स्थान शोथयुक्त है

मंथर ज्वर में आंतों के क्षत

चित्र नं० १,२,३ देखे







विकृत दशा मे

आतें चीर कर देखने पर चित्र नं० १,२,३ की तरह दिखलाई देते हैं।

चित्र नं० ६२

मे तीनों लक्षण एक साथ रहते हैं । यहां सन्ताप शब्द का कुछ अधिक विवेचन आवश्यक है। चरक कहता है 'ज्वर प्रत्यात्मिक लिङ्ग सन्तापो देहमानसः (च. चि. ३) और 'देहेन्द्रियमनस्तापी' अर्थात् देह, इन्द्रिय और मन इन तीनों का सन्ताप सामान्यतया सब ज्वरों मे होता ही है और विशेषतया आन्त्रिक ज्वर में। इनसे निम्न लक्षण उपस्थित होते हैं—

देह सन्ताप से शरीर की उष्मा बढ़ना, अरुचि,



तृष्णा, अङ्गमर्द और हृदयव्यथा[1]। मनस्ताप से वैचित्य, अरति-बैचेनी और ग्लानि और इन्द्रिय-सन्ताप से इन्द्रियों की अर्थ ग्रहण शक्ति का नाश या विकृति होती है[2]।

स्वेदावरोध अर्थात् पसीना नहीं आना यह लक्षण स्वेदवह स्रोतों के अवरोध से होता है[3]।

लक्षण—

ज्वर ३ या ४ सप्ताह तक रहता है। जीवाणु प्रवेश के बाद इसका संचय काल १० से १४ दिन तक माना गया है। कभी अधिक या कम समय का भी हो सकता है। तीनों दोषों के प्रकोप के लक्षण भी इसमें मिलते हैं इसलिए सन्निपात ज्वर कहा जाता है। सन्तत प्रकार का ज्वर होने से तथा धातु में दुष्टि मिलने से इसको सन्तत ज्वर कहना अधिक उचित है। जब दोष का पाक नहीं होता तब तक ज्वर रहता है। इस ज्वर की निश्चित मर्यादा भी है—

> सप्तमी द्विगुणी चैव नवम्येकादशी तथा ।
> एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥

इस कालमर्यादा के आधार पर कुछ सप्ताह तक सामान्यतया तीन से चार सप्ताह तक यह ज्वर चालू रहता है।

सामान्यतया प्रथम सप्ताह में ज्वर धीरे धीरे बढ़ता है। प्रातःकाल की अपेक्षा सायं ज्वर प्रतिदिन अधिक होता जाता है। और सप्ताह के बाद दूसरे और तीसरे सप्ताह में अहोरात्रि में ज्वर तापक्रम में बहुत कम अन्तर रहता है। दोष पक्व होने पर अर्थात् तीसरे या चौथे सप्ताह में ज्वर धीरे धीरे उतरता है। इसको अदारुणमोक्ष कहा जाता है।

प्रथम सप्ताह में अन्य लक्षण—ज्वर धीरे धीरे बढ़ते जाना, प्रातः ज्वर की अपेक्षा सायं ज्वर अधिक रहना, ज्वरमान के अनुपात से नाड़ी का न बढ़ना अर्थात् सामान्यतया एक डिग्री ताप बढ़ने पर नाड़ी दस प्रति मिनट बढ़ती है परंतु आन्त्रिक ज्वर में यह क्रम निश्चित नहीं रहता। नाड़ी मृदु रहती है। उपरांत शिरःशूल, अरति, दौर्बल्य, ईषत् कास, निद्रा कम होना और कभी कभी नासागत रक्तस्राव। अरुचि, हृल्लास, उदर में अस्वास्थ्य प्रतीति, आध्मान, दक्षिण प्रदेश में ईषत् शूल और गड़गड़ाहट, आनाह या कभी अतिसारवत् द्रव मल प्रवृत्ति होती है। जिह्वा साम अर्थात् श्वेत वर्ण के शुष्क मल से लिप्त रहती है और इसकी किनारी लाल रहती है। यह निश्चित लक्षण है।

प्रथम सप्ताह में रक्त परीक्षण करने से जीवाणुमयता अवश्य मिलती है। एक विशिष्टता यह भी है कि श्वेतकण की संख्या कम होती है।

ऊपर जो प्रथम सप्ताह के लक्षण बताये हैं वे प्रायः ज्वर की सामावस्था के ही लक्षण हैं। चरक ने सामावस्था के लक्षण निम्न दिए हैं—

> अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ।
> हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्राचालस्यमेव च ॥
> ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणाम् प्रवर्तनम् ।
> लालाप्रसेको हृल्लासः क्षुन्नाशो विरस मुखम् ॥
> स्तब्धसुप्त गुरुत्व च गात्राणा बहुमूत्रता ।
> न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणं ॥
>
> —च चि ३·१३३ से ३५

चरकोक्त आम ज्वर के लक्षण अधिक स्पष्ट हो ऐसा प्रतीत होता है। यदि 'ज्वर बलवान्' का अर्थ ज्वर प्रतिदिन बलवान् होता जाता है ऐसा लिया जाय तो अधिक स्पष्ट होता है। 'बहुमूत्रत्वम्' सामान्यतया कम मिलता है। बाकी के सब लक्षण प्रायः मिलते हैं। इस प्रकार प्रथम सप्ताह के लक्षण आमज्वर के लक्षणों मे अधिक तुलना रखते हैं।

द्वितीय सप्ताह के लक्षण—इस सप्ताह में रोगी की अवस्था के मुख्य लक्षण निम्न हैं—

---

[1] सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदिव्यथा ।
—च० चि० ३–२६

[2] वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्ताप लक्षणम् ।
इन्द्रियाणा च वैकृत्यं ज्ञेय सन्तापलक्षणम् ॥
—च० चि० ३–३६

[3] स्रोतसां सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं नाधिगच्छति ।
—च० चि० ३–१३२

ज्वर वेग अधिक होता है । १०३° फा से १०५° फा तक ज्वर रहता है । ज्वरमान में अहोरात्रि में खास परिवर्तन नहीं होता । नाड़ी ज्वर के अनुपात मे नहीं बढ़ती और मण्डूकगति (dicrotic) होती है । रक्तभार कुछ कम रहता है । सात से बारह दिन के अन्दर शरीर पर गुलाबी वर्ण की पिडका उत्पन्न होती हैं । पिडिका २-३ दिन मे नष्ट हो जाती हैं और प्रतिदिन नयी नयी उठती हैं । ये मृदु और दबाने पर नष्ट होती हैं । सामान्यतया उदर पर होती है । शेष मध्य शरीर पर भी होती हैं । मुख तथा शाखा पर तो कदाचित् ही होती हैं । ये इतनी छोटी रहती है कि मशक दंश मे भी भूल हो सकती है । ये पिडिका मोती के दाने जैसी लगने से इसको मोतीझरा या मोतीज्वर कहते हैं ।

प्लीहावृद्धि सामान्यतया मिलती है । परंतु बहुत बड़ी न होने से, मृदु होने से तथा उदर वातपूर्ण होने से स्पर्शोपलब्धि मे कठिनाई होती है । चर्मों मे आकोटन परीक्षा करने पर मन्द ध्वनि मिलने पर प्लीहावृद्धि का अनुमान कर सकते हैं । दैन्य अधिक होता है । तन्द्रा अधिक होकर मूर्च्छा जैसी अवस्था भी आती है । प्रलाप, श्वास आदि भी मिलते हैं जिसे अभिन्यासावस्था (typhoid state) कहते हैं ।

प्रथम सप्ताह के बाद चणक यूष जैसी पतली मल प्रवृत्ति होती है । आध्मान और दक्षिण वस्ति प्रदेश में गुड़गुड़ाहट । इनको प्रत्यक्ष करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है अन्यथा स्पर्श परीक्षा में जरा से भी अधिक पीडन से आन्त्र मे भेद हो जाता है क्योंकि रोग के परिणाम से आन्त्र की दीवाल पहले से ही पतली हो जाती है । मुख शुष्कता, तृष्णा और जिह्वा पर शुष्क मल जमता है । बाद मे जब मल साफ होता है तब जिह्वा चमकीली, लाल एवं श्लक्ष्ण हो जाती है । मूत्र में श्वेति (albumin) भी निकलता है ।

इन लक्षणों की तुलना पच्यमान ज्वर के साथ की जा सकती है । पच्यमान ज्वर के लक्षण निम्न हैं—

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशो पच्यमानस्य लक्षणम् ॥
—च० चि० ३-१३५

कभी कभी उपर्युक्त लक्षण तीसरे सप्ताह में भी चालू रहते हैं । इसके बाद की अवस्था चतुर्थ सप्ताह में शुरू होती है ।

चौथे सप्ताह के लक्षण—इस अवस्था में निम्न लक्षण मिलते हैं—

प्रतिदिन ज्वर धीरे धीरे कम होता जाता है । इस प्रकार से ज्वर के उतरने को चरक ने 'अदारुण मोक्ष' कहा है । जिसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये ।
तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम् ॥
—च० चि० ३-३२८

अर्थात् दोष प्रकोप होने पर ज्वर होता है और बाद मे दोषपाक होने पर क्रमपूर्वक ज्वर उतरता है उसको 'अदारुण मोक्ष' कहते हैं । मोतीझरा में इस सप्ताह में ठीक इसी तरह अदारुण मोक्ष होता है इसको 'स्टैप-लेडर फाल' कहते हैं ।

शारीरिक और मानसिक सन्ताप की जगह क्रमशः स्वस्थता और रुचि उत्पन्न होती है । बुभुक्षा बढ़ती है और लघुता होती है ।

बद्धमल प्रवृत्ति होती है और दोष मूत्र और पुरीष के साथ निकलने लगता है । इस अवस्था में अन्नवह स्रोतस के व्रण मे से दोष निकलने के कारण कभी कभी छिद्रोदर या रक्तस्राव की भी संभावना होती है । ये उपद्रव बहुत गम्भीर हैं इसलिये उपस्थाता को उपचार करने में विशेष ध्यान देना आवश्यक है ।

उपर्युक्त लक्षण ज्वर की निरामावस्था के हैं ऐसा प्रतीत होता है । चरक ने निराम ज्वर के निम्न लक्षण दिये हैं—



क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वर लक्षणम्॥
—च० चि० ३–१३७

यह "अष्टाह:" शब्द निर्देश मात्र समझना चाहिए परंतु चक्रपाणि ने खरनाद का वचन देकर बताया है कि क्षुत्क्षामता आदि ही निराम ज्वर के लक्षण हैं। देखिये–

न च निःसप्ततैकेका निराम ज्वर लक्षणम्।
चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपात ज्वरे मला॥
सप्तरात्रातिवृत्तिं च क्षामतादि च लक्षणम्।
तस्मादेतद्द्वयं दृष्ट्वा निराम ज्वरमादिशेत्।
—च० चि० ३–१३२

आन्त्रिक ज्वर बच्चों में जवान या वृद्ध जितना दारुण नहीं होता। कभी कभी क्रमशः वृद्धि न होकर सहसा ज्वर १०३–१०४° फा तक हो जाता है और कभी कभी ज्वर शांति द्वितीय सप्ताह के अन्त मे भी होती है।

निदान निश्चिति–

विशिष्ट प्रकार का ज्वरताप क्रम, मन्द नाड़ी गति, जिह्वा सामता, अत्यन्त दैन्य और ग्लानि, पिडिकोत्पत्ति और प्लीहावृद्धि इतने लक्षण निदान-निश्चिति में महत्व के हैं।

प्रथम सप्ताह में रक्त परीक्षण मे जीवाणुमयता मिलती है। श्वेताणु संख्या कम होती है। सामान्यतः संक्रामक ज्वर मे श्वेताणु संख्या बढ़ती है। यदि श्वेताणु संख्या कम और ज्वर ताप अधिक हो तो अधिक ज्वर की संभावना रहती है।

१० दिन के बाद रक्त में प्रसमूहि द्रव्य (aglutinins) उत्पन्न होने से विडाल टेस्ट मिलता है। तृतीय सप्ताह के अन्त मे मल और मूत्र के द्वारा जीवाणु बाहर निकलते हैं। इसलिये मल-परीक्षण में इस रोग के जीवाणु मिलते है।

निदान या कारण––

इस रोग का कारण एक विशिष्ट प्रकार के जीवाणु है। इनका नाम 'टाईफाइड बैसिलस' है। मल और मूत्र आदि द्वारा यह फैलता है। जीवाणु द्वारा जल के उपसृष्ट होने पर यह एक जनपदोद्ध्वंस रोग का स्वरूप ले लेता है। आइस्क्रीम तथा दूध के द्वारा भी फैलता है। इस रोग से आक्रान्त रोगी के आमाशय, मूत्राशय, पुरीषाशय, फुफ्फुस, पित्ताशय आदि मे जीवाणु की उपस्थिति रहती है। इसलिये उपस्थाता आदि जो रोगी की परिचर्या करते हैं उनके रोगग्रस्त होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिये इनको विशेष सावधान रहना चाहिए। मक्खी जीवाणु की निश्चित वाहक है।

मोतीभरा संवाहक—पित्ताशय (gall bladder) इस रोग के जीवाणु का विशेष आश्रय स्थान है और समय समय पर पित्त के साथ आन्त्र मे जीवाणु का त्याग करता है और बाद मे ये जीवाणु मल के साथ बाहर आते हैं जिससे रोग फैलता है। ये संवाहक सबसे अधिक भयानक हैं।

बच्चों में उपर्युक्त कारणों के अलावा जीवाणुयुक्त मिट्टी पर खेलने से भी संक्रमण होता है। सद्योजात शिशुओं में जरायु द्वारा भी संक्रमण होता है।

सम्प्राप्ति–

जीवाणु पानी, दूध आदि के द्वारा सर्वप्रथम ऊर्ध्व आमाशय में पहुंचते हैं। सामान्यत. यहां स्थित पित्त जो अम्ल स्वाभाव वाला है, इससे जीवाणु का नाश होता है। परंतु जब इनका नाश नहीं होता है और वे पच्यमानाशय मे पहुँच जाते हैं, तब इनको अनुकूल वातावरण मिलने से इनकी संख्यावृद्धि होती है। संचयकाल १० से १४ दिन का है। इसके बाद ये जीवाणु रस के द्वारा सर्व शरीर मे घूमते हैं। इस अवस्था को जीवाणुमयता कहा जाता है। बाद मे ये आन्त्र की पित्तधरा कला और उण्डुक की पुरीषधरा कला में स्थान संश्रय करते है। स्थान संश्रय होने पर वहां शोथ उत्पन्न होता है तब तीनों अवस्था अर्थात् आम, पच्यमान एवं निरामावस्था



(पक्वावस्था) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह तीनों ही अवस्था 'व्यक्ति' कही जाती हैं। रस के साथ परिभ्रमण करने पर शरीर मे किसी भी धातु में ये जीवाणु स्थिति कर सकते हैं परतु उपर्युक्त कला ही इनका मुख्य स्थान है।

आयुर्वेद की दृष्टि से इस रोग की संप्राप्ति का विचार आवश्यक है। ज्वर के कारणभूत विशिष्ट जीवाणु हैं यह प्रथम बताया गया है। ये जीवाणु जब अग्नि मन्द होती है तब वृद्ध होते हैं। जीवाणु की वृद्धि मे अनुकूल वातावरण, जीवाणु का पोषण तथा व्यक्ति की व्याधिक्षमत्व की न्यूनता-ये तीन अत्यन्त आवश्यक होते हैं। जीवाणु का प्रवेश तथा वृद्धि होने पर एक दो या तीनों दोषो का प्रकोप होता है जिनके फलस्वरूप इस रोग मे जो लक्षण बताये हैं वे पित्तवृद्धतम, वातवृद्धतर और कफवृद्ध होने पर जो लक्षण होते हैं वे उत्पन्न होते हैं और जठराग्नि मन्द होती है। जिससे आमदोष उत्पन्न होता है। दोष और आम 'आद्य आहार परिणाम-धातुं रस नामानमन्ववेत्य' अर्थात् रस धातु में जाकर सर्व शरीर में फैलता है। रसवह और स्वेद-वह स्रोतों का अवरोध उत्पन्न करता है जिससे धातुओं का पोषण नहीं होता और स्वेदावरोध उत्पन्न होता है। बाद मे वे आमाशय मे स्थानसंश्रय करके शोथ उत्पन्न करते हैं। इस शोथ की आम, पच्यमान और पक्वावस्था होती हैं और इन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षणों का विवेचन पूर्व मे कर दिया गया है। बाद मे भेदावस्था मे ज्वर के उपद्रव हो सकते हैं।

सम्प्राप्ति संक्षेप मे क्रमानुसार—

दोषों का आमाशय मे प्रवेश—आमाशय में संचय—आमाशय मे प्रकोप—रस द्वारा प्रसर—अन्नवह स्रोत मे स्थान संश्रय—व्यक्ति-प्रथम सप्ताह आमज्वर—द्वितीय पच्यमानज्वर—तृतीय-निरामज्वर—भेद-उपद्रव या दीर्घकालानुबन्ध या मरण।

दोष-पित्तवृद्धतम, वातवृद्धतर और कफवृद्ध।

दूष्य-रस (मुख्य) और

यथा धातुस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्ततं ज्वरं॥
—च० चि० ३

स्रोतस—अन्नवह और रसवह, स्वेदवह

स्रोतोविकृति—सङ्ग—उसके परिणामस्वरूप आमदोष।

उपद्रव -

४ से १० साल के बच्चों में लाभ होने की सम्भावना अधिक रहती है। २ साल के नीचे की अवस्था तथा ६० के ऊपर के वृद्धों में अधिक दारुण है। छर्दि, अतिसार, आध्मान, रक्तस्राव आदि उपद्रव होने पर दारुणतम है।

रोग के प्रधान उपद्रव ये हैं—

(१) छिद्रोदर—जब पेयर्स पैचेज में से सड़ा भाग निकलता है तब आन्त्र मे एक छिद्र बन जाता है। इस अवस्था मे—उदरच्छदा का शोथ, उदर काठिन्य, मूर्छा, तृष्णाधिक्य, ज्वरताप सहसा कम होना, दैन्य, नाडीगति अतिद्रुत और क्षीण, आंत्र की गति का नाश और बाह्य रक्ताभिसरण का नाश—

ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) रक्तस्राव-दूसरा दारुण उपद्रव है। यह उपद्रव भी उपर्युक्त कारण से होता है। उत्पन्न होते ही इसमें हाथ-पैर ठंडा होना, उष्णतामान सहसा कम होना, नाड़ी गति अतिद्रुत और क्षीण होती है। यदि रोगी जीवित रहे तो गुदमार्ग से रक्तस्राव भी होता है। सुश्रुत ने आभ्यन्तरीय रक्तस्राव का बहुत अच्छा वर्णन किया है।

तत्रान्तर्लोहितं पांडुं शीतपादकराननम्।
शीतोच्छ्वास रक्तनेत्रमाद्धं च निवर्जयेत्॥
—सु० चि० २-२१

ये दोनों उपद्रव आयुर्वेदीय दृष्टिबिन्दु से ज्वर सन्ताप के परिणाम से पित्तप्रकोप होने पर उत्पन्न

होते हैं।

(३) बच्चों में खण्डकीय फफ्फुसपाक (*Broncho-pneumonia*) और बच्चों तथा बड़ों में श्वसनक ज्वर-ये उपद्रव होते है।

(४) शरीर के अन्य स्थानों मे व्रणशोथ या विद्रधि-जैसे कर्णमूलशोथ, मज्जाविद्रधि, पित्ताशय शोथ, महाशौषिर, सव्रण स्वरभेद आदि। चरक ने कर्णमूलशोथ का वर्णन इस प्रकार दिया है—

सन्निपात ज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥
—च. चि. ३-२८७

(५) ज्वरमुक्त होने के बाद भी ज्वर का पुनरावर्तन हो सकता है। यदि अति आहार, क्रोध और विबंध हो जाय तो पुनरावर्तक ज्वर होता है। ज्वर के बाद आहार, आचार, चेष्टा आदि में असावधानी रखने पर यह होता है। चरक ने पुनरावर्तक ज्वर के कारण इस प्रकार से दिये हैं—

असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते।
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः॥
दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते।
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः॥
—च चि. ३-३३३से३४

यदि आहर आदि के दोष से ज्वर चिरकालीन हो जाय तो जीर्ण ज्वर विषमज्वर या मरण भी हो जाता है। चरक कहता है—

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बल हीनतेजसम्।
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागत॥
अथवाऽपि परिपाक धातुष्वेव क्रमान्मला॥
यान्ति ज्वरमकुर्वन्वस्ते तथाप्यपकुर्वते।
—च० चि० ३-३३५ से ३६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आन्त्रिक ज्वर दारुण व्याधि है। चिकित्सा में भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। चिकित्सा के सिद्धांत का विचार आयुर्वेदीय दृष्टि से किया जायगा।

चिकित्सा—

आन्त्रिक ज्वर की चिकित्सा दो विभाग में विभाजित है। (१) रुग्णावस्था में (२) स्वस्थ पुरुष में रोगप्रतिबन्धक। सुश्रुत ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन भी बताये हैं-'इह खलु आयुर्वेद प्रयोजन स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं व्याधितानां व्याधिपरिमोक्षः।'

पहले व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्व की दृष्टि से विचार करना चाहिए—

सब प्रकार के ज्वर औपसर्गिक बताये हैं। इस लिए उपसर्ग होने के कारण का त्याग करना चाहिये। उपसर्ग के कारण निम्न बताये गये हैं—

प्रसङ्गागात्रसंस्पर्शात् निश्वासात् सहभोजनात्।
एकशय्यासनाश्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम्॥
—सु० नि०

इस प्रकार से रोग का संक्रमण होता है। इसलिए बड़ी सावधानी के साथ रोगी की परिचर्या करनी चाहिए। बहुत विस्तार न करके संक्षेप में कहा जाय तो परिचारक को बहुत शुद्धि रखनी चाहिए।

पहले बताया जा चुका है कि इसका उपसर्ग जल या दूध आदि के द्वारा होता है। इसलिए इसको उबाल करके प्रयोग करना चाहिए। शृतशीत जल का उपयोग तो रोगी के लिए भी अति उत्तम है। इससे रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश होता है, वात, मूत्र पुरीष का अनुलोमन होता है, अग्नि प्रदीप्त होता है, स्रोतों की शुद्धि और ज्वर भी कम करता है। इसलिए दूध, पानी आदि पेय पदार्थ तथा आहार भी उष्ण लेना चाहिये।

मक्खी इस रोग की वाहक है इसलिए घर में तथा आसपास स्वच्छता रखना आवश्यक है।

बल बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। 'बल' ह्यल' निग्रहाय दोषाणाम्' अर्थात् बल से दोषों का निग्रह होता है। बल तीन प्रकार का है-सहज, युक्तिकृत और कालकृत। युक्तिकृत बल का अर्थ है युक्तिपूर्वक उत्पन्न किया गया बल। यह आहार, आचार, चेष्टा, रसायन के प्रयोग से बढ़ता है। अन्य उपाय भी जिनसे व्याध्युत्पाद प्रतिबन्धकत्व बढ़े, उनका



प्रयोग आवश्यक है। पाश्चात्य विज्ञान में 'टी. ए. बी. वैक्सिन' का प्रयोग एक प्रकार का युक्तिकृत बल है। इसी प्रकार से सुपाच्य तथा लघु और पौष्टिक आहार भी युक्तिकृत बल उत्पन्न करता है। चिकित्सा व्यवसाय में यह देखा गया है कि मोतीझरा का उपद्रव शुरू होने पर यदि रोगी के परिचारक या आसपास रहने वालों को चिरायता प्रतिदिन दिया जाय तो इस रोग की उत्पत्ति नहीं होती।

'रोगा सर्वेऽपि मन्देग्नौ' आयुर्वेद का यह सूत्र चिकित्साशास्त्र में महत्वपूर्ण है। इसलिये यदि अग्नि प्रदीप्त रखने के लिये और मलप्रवृत्ति साफ लाने की चेष्टा की जाय तो भी इस रोग के संक्रमण से बच सकते है।

खास करके उपस्थाता को विशेष सावधान रहना चाहिए।

व्याधिपरिमोक्ष के लिये चिकित्सा—

ज्वर की सामान्य चिकित्सा आर्ष ग्रन्थों में बताई गई है वह इस रोग मे सर्वांश मे उपयोगी है। आम, पच्यमान और निरामज्वर का चिकित्सा सूत्र महत्व रखता है। इसलिये—

लघनं स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस'।
पाचनान्यविपक्वाना दोषाणां तरुणे ज्वरे॥
—च. चि. ३-१४२

इस चिकित्सासूत्र के आधार पर चिकित्सा करने से अवश्य लाभ होता है। लंघन में प्रधानतया उपवास (अभोजन) मुख्य है। ज्वर आमाशयसमुत्थ है और आमदोष के पाचनार्थ लंघन और पाचन दो मुख्य हैं। चरक में यद्यपि दशविध लघन बताया है परन्तु मोतीझरा मे उपवास ही कराना श्रेष्ठ है। विरेचन आदि संशोधन कभी भी और किसी भी अवस्था मे नहीं देना चाहिये। संशोधन देने से छिद्रोदर, अन्तर्लोहित, हृद्रोग, आनाह आदि उत्पन्न होकर के रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। वाग्भट विरेचन आदि सशोधन का प्रसुप्त कृष्णसर्प को छेड़ने के साथ तुलना करता है।

पाययेद्दोषहरणं मोहादाम ज्वरे तु य।
प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत॥
—अ. हृ. चि. १

लंघन से दोषक्षय होता है, अग्नि प्रदीप्त होती है, ज्वर प्रतिदिन कम होता जाता है और गात्रलाघव होता है। बुभुक्षा भी बढ़ती है।

लंघन कराते समय बल की रक्षा करना आवश्यक है क्योंकि बल टिकाये रखने से दोषों का निग्रह होता है।

लंघन के अयोग से दोष शांति न होकर ज्वररहितावस्था नहीं आती और यदि अतियोग होगा तो धातुपाक हो जाता है इसलिये ज्वर उतरने तक लंघन कराना इस रोग मे अत्यन्त आवश्यक है।

पीने के लिये शृतशीत जल या षडङ्गपानीय देना चाहिए। आदर्श तो यह है कि स्वतन्त्र भेषज न देकर के षडङ्गपानीय के रूप में औषधि देना चाहिए। 'भेषज ह्यामदोपस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्।' स्वतन्त्र भेषज देने से ज्वरवृद्धि होती है। और शृतशीत जल या षडङ्गपानीय दीपन, पाचन, ज्वरघ्न, स्रोतःशुद्धिकर, शोधन, बल्य, रुचिप्रद और स्वेदोत्पादक है पिपासा शान्त होती है और दोषों का पाक होकर के ज्वर उतरता भी है।

फलरस—यद्यपि उपवास इस रोग की मुख्य चिकित्सा है परन्तु यदि रोगी न रह सके तो पित्तघ्न फलों का रस मात्रा में देना चाहिए। पित्तघ्न फल निम्न प्रकार के है–,

द्राक्षादाडिमखर्जूर प्रियालैः सपरूषकैः।
तर्पणार्हेषु कर्तव्यं तर्पणं ज्वरनाशनम्॥
—च. चि. ३-१५५ पर चक्रपाणि

आन्त्रिक ज्वर पित्तप्रधान होने से द्राक्षा को जल में भिगोकर पानी बनाकर देने से ग्लूकोज से भी अधिक लाभ होता है। द्राक्षा स्वयं ज्वरघ्न और अनुलोमन है। मौसंवी का रस भी दिया जाता है। परन्तु हमारे अनुभव मे द्राक्षा अधिक लाभदायी है।

काल—इस रोग में दोषपाक के लिये तथा स्रोतः शुद्धि के लिये निश्चित समय माना गया है इसलिए इसको पाचन के अन्तर्गत लिया गया है।

तिक्तरस—

ज्वरित षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम्।
पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेद्भिषक्॥
—च. चि. ३

ज्वरघ्न रसों में सब से उत्तम तिक्तरस है इस लिए तिक्तरस प्रधान द्रव्य चिरायता, गुडूची आदि का क्वाथ देना चाहिये। यदि आमदोष का पूर्ण रूप से पाचन न हुआ हो तो पाचन कषाय देना और यदि पाचन हो गया हो तो दोषशमन कषाय देना चाहिए। आंत्रिक ज्वर पित्तप्रधान होने से तिक्तरस वाले द्रव्य का क्वाथ देना अधिक उचित है। मधुर रस पाचन में गुरु होने से पित्तघ्न होने पर भी सावधानी से प्रयोग करना चाहिए और कषाय रस दोषों का स्तम्भन करता है और पाचन नहीं होता है, अग्निमन्द भी करता है इसलिए इसका कभी प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'षडहेऽतीते' यहां छः दिन निर्देशमात्र हैं। चक्रपाणि ने इस सूत्र की टीका मे अन्य ग्रन्थों का उद्धरण देकर बहुत विवाद किया है। इसका तात्पर्य यह है कि पच्यमान या पक्वावस्था मे क्वाथ देना युक्ति युक्त है।

पथ्यापथ्य—

सबसे महत्वपूर्ण है पथ्य का सेवन और अपथ्य का त्याग। ज्वर मे निम्न अपथ्य बताये गए हैं—

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्।
क्रोधप्रवातव्यायाम कषायांश्च विवर्जयेत्॥
—च० चि० ३

सुश्रुत ने दूध को भी अपथ्य बताया है। दूध के लिए सुश्रुत कहता है—

तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम्।
—सु उ ३९

व्यायाम—किसी भी प्रकार का परिश्रम नहीं लेना चाहिए।

मलप्रवृत्ति की ओर ध्यान देना चाहिए। अहोरात्रि मे एक बार मलप्रवृत्ति होनी ही चाहिए। यदि न हो तो ग्लीसरीन सिरिंज देकर या वर्ति से मल त्याग करना चाहिए।

यदि सावधानी से चिकित्सा की जाय तो रोग स्वयमेव ३-४ सप्ताह मे शान्त होजाता है। ज्वर उतरने के बाद रोगी को सामान्य आहार पर कैसे लाना है यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके लिए चरकोक्त सूत्र मार्गदर्शक है—

ज्वरे पेया कषायाश्च क्षीरं सर्पि· विरेचनम्।
षडहे देयं काल वीक्ष्यामयस्य च॥ —च. चि. ३०

इस सूत्र मे 'षडहे षडहे' अर्थात् छः छ. दिन का समय महत्वपूर्ण है समझके आहार पर लाना चाहिए। ज्वर उतरने के बाद मण्ड, पेया, यवागू, चावल, शाक, रोटी, क्षीर, घी आदि छः छः दिन के अन्तर से बढ़ाने से कोई विकृति नहीं होती ऐसा दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं। अन्यथा पुनरावर्तक ज्वर या अन्य उपद्रव होने की सम्भावना रहती है।

पाश्चात्य विज्ञान मे क्लोरेम्फिनेकोल या क्लोरोमाइसेटीन नामक औषधि का व्यवहार होता है। ज्वर को शांत करने के लिये यह उत्तम औषधि है परन्तु पुनरावर्तक ज्वर, पांडु तथा अन्य रोग भी इससे उत्पन्न होते है। इसलिए इस औषधि का भी सावधानी से व्यवहार करना चाहिए। इस औषधि के सम्बन्ध में बहुत कुछ लाभ अलाभ आदि लिख सकते है परन्तु विषयान्तर के भय से नहीं लिखते मेरे मत में आयुर्वेदिक चिकित्सासूत्र के अनुसार चिकित्सा करने से इस रोग मे बहुत लाभ होता है। उपद्रव भी नहीं होते और बल भी तुरन्त आ जाता है। अन्त में ज्वर से मुक्त के लक्षण देकर लेख समाप्त करेंगे।

विगतक्लमसन्तापमव्यथ विमलेन्द्रियम्।
युक्त प्रकृतिसत्वेन विद्यात् पुरुपमज्वरम्॥ —च.चि.३

—श्री चन्द्रकांत प्रभुशंकर शुक्ल
प्रोफेसर—काय चिकित्सा
पोष्ट ग्रेजुएट सेन्टर इन आयुर्वेद, जामनगर।

शिशुओं का मोतीझरा या मोतीज्वर

वैद्य श्री शङ्करदत्त शास्त्री काव्यतीर्थ भिषग्रत्नम्



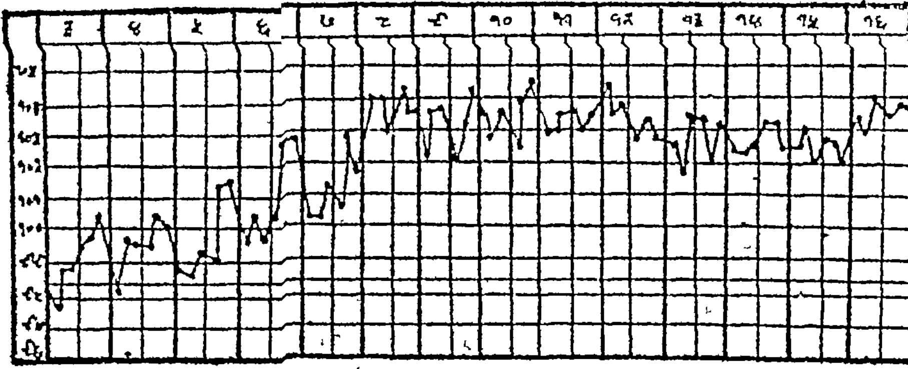
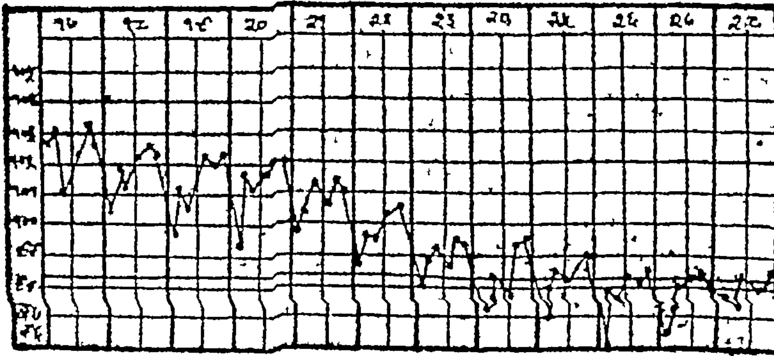
बालको मे "मोतीझरा" एक भयानक व्याधि है। इसको मंथर ज्वर, मोतीझारा, मियादि बुखार, निकालाझरी आदि नामो से पुकारते हैं। डाक्टर लोग इसको एण्टेरिक फीवर, टाईफायड़ फीवर इन नामों से स्मरण करते हैं।

कारण—माता अथवा धात्री या स्वयं को सडा-गला भोजन करने से, दुर्गन्धित स्थान मे रहने से, वर्षा में भीगने से, जुखाम वगैरह होने से और स्वास्थ्योपयोगी उचित खान पान का ध्यान छोड़ कर लापरवाही से जो आगे आवे वही खिला देने या खालेने से वर्षा आतप शीत वातादि में नंगे पैर, नंगे शिर, नगी देह घूमने फिरने एवं सम्यक् देख भाल न रखने से बात पित्तादिक दोष कुपित होते हैं। और कुपित होकर ज्वर पैदा करते हैं वही ज्वर अविसर्गी होकर मोतीझरे का कारण बनता है।

लक्षण—

यह ज्वर सात दिन चौदह दिन, नौ दिन अठारह दिन, ग्यारह दिन बाईश दिन, दश दिन बीसदिन, बारह दिन चौबीस दिन किसी किसी समय तो यह ज्वर तीन-तीन मास मास तक चलता है। इसमे ग्रीवा पर छोटी छोटी पिडिकायें पोस्त के दाने के आकार की श्वेत वर्ण की दीखने लग जाती हैं। वे धीरे धीरे ग्रीवा से छाती पर, पेट पर, कमर पर और पैरों पर होती हुई ढल जाती हैं और शिशु स्वास्थ्य लाभ करता है। किसी किसी को इसमे प्रलाप, बैचेनी, पतले दस्त, उदराध्मान (अफरा), ज्वर के अकस्मात् उतर जाने से शरीर मे शीतलता, नाड़ी लोप आदि होकर शिशु के मारक हो जाते हैं। यह अवस्था बड़ी भयानक होती है। अत इस अवस्था मे वैद्य को धैर्यपूर्वक बड़ी सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर प्रात काल की अपेक्षा साम को अधिक होता है। बालक अपने शिर को इधर उधर चलाता चौंक कर उठ बैठता है और संज्ञाहीन होकर अंट संट असंबद्ध बकता है। जिह्वा सफेद मलयुक्त कड़ी खुरदरी कर्कश प्रतीत होती है। नेत्रनिस्तेज तथा अस्वाभाविक रहते है।

डाक्टर लोग इसमे एक प्रकार के कीटाणु को कारण मानते है। वह बी.टाइफोसस(B. *Typhosus*) नामक कीटाणु है जो रोगी के मल मूत्र मे मिलता है। इसकी अवधि ३ से ६ सप्ताह की होती है। त्वचा पर गुलाबी रंग के छोटे छोटे दाने निकल आते है, सीहावृद्धि आंव मे व्रण हो जाते है, उदराध्मान, पतले दस्त-आदि आदि लक्षण उपस्थित होते है। रोगी के मल मूत्र से यह रोग फैलता है अतः मल मूत्र को अच्छी तरह नष्ट कर देना (जमीन के अंदर गाड़ देना) चाहिये। रोगी की सेवा करने वाले का कर्त्तव्य है कि अपने हाथ पैर आदि अंगों की सफाई ठीक ढंग से करते रहे, अन्यथा वे भी इस रोग से पीडित हो जावेंगे। रोगी के स्थान वस्त्र आदि को साफ रखना चाहिए। मक्खी वगैरह को रुग्ण स्थानीय वस्तुओं पर न बैठने देना चाहिए। दूषित खाद्य पेय द्वारा यह जीवाणु मुख द्वारा आंतों मे चला जाता है वहा रोग पैदा करता है अतः खाद्यपेय पदार्थों की शुद्धि का विशेष ध्यान रखना चाहिए। वैसे तो यह सब समय होता है परन्तु इसका खासः प्रकोप काल ग्रीष्म, वर्षा, शरद ऋतुओं में है। आंतों में व्रण होने से आंते शोथयुक्त होती है और जब मल त्याग के समय रक्तस्राव होता है तो इस रोग को असाध्य श्रेणी में प्रविष्ट हुआ समझते हैं। ज्वर साम को १०४, १०५, १०६ डिग्री तक पहुंच जाता है प्रात. १००, १०१, या ९९ तक भी नीचे उतर जाता है। यह ज्वर स्तनन्धय बालक को बहुत कम होता है। यह कभी कभी वोदरी (खसरा) निकलने के पश्चात् निक-

चित्र नं० ६३
आन्त्रिक ज्वर का चार्ट

की बुद्धि को भी चकरा देते हैं। यह भुक्त भोगी ही जान सकते हैं अतः शिशुओं की चिकित्सा करते समय उपर्युक्त सभी बातो का और मात्रा, देश, काल, सामाजिक जीवन आदि का भी विशेष रूप से ध्यान रखना जरूरी है। इस रोग मे रोगाक्रान्त शिशु को अन्य स्वस्थ शिशुओं से पृथक रखना चाहिए। रुग्ण के खान पान के पात्रों मे स्वस्थ बालको को कदापि खाने पीने न देना चाहिए। प्रथमतः साधारण ज्वर होता है वही आठवें दिन मंथर ज्वर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है और पूर्व कथित अवधि तक बराबर चलता रहता है। स्वल्प लक्षण वालों को शीघ्र आरोग्य हो जाता है पूर्ण लक्षण वाले रुग्णों में से कदाचित ही कोई बच सकता है। क्योंकि शास्त्र में कहा है—

दोषेविबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्ण लक्षणः।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छसाध्यस्ततोऽन्यथा॥

लता है या मोतीझरा निकलने के बाद बोदरी (खसरा) निकलती है ऐसा होना भी एक असाध्य लक्षण ही है। चिकित्सक को सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्स्य बालक तीन प्रकार के है (१) स्तन्यजीवि (२) स्तन्यान्नजीवी, और (३) अन्नजीवी, इनमे से प्रथम स्तन्यजीवी के लिये उसकी माता या धाय को दवा देवे। हा साधारण घूटी वगैरह बालकोपयोगी औषधि देने में तो कोई आपत्ति न होनी चाहिए। दूसरे दुग्धान्न जीवी के लिए माता एव शिशु दोनों के लिये दवा का प्रयोग कर सकते हैं। तीसरे अन्नजीवी के लिए औषधि बालक को ही देनी चाहिये परन्तु यह ध्यान रहे कि उग्रवीर्य या अत्युष्ण औषध अत्यावश्यकता के विना न देनी चाहिये। क्योंकि बालक स्वभावतः कोमल प्रकृति के होते हैं। उनको कई दफे ऐसी दवाओं के प्रयोग से कई उपद्रव खडे हो जाते हैं जो चिकित्सक

चिकित्सा —

वैसे तो इस रोग में विशेष दवाइयां देनी ही नहीं चाहिए। चिकित्सक को इस रोग के पीछे पीछे चलना चाहिए। अगर ठीक ढंग से ज्वर वगैरह चलते रहें तो ज्वर को यथासमय स्वयं ही दोष परिपाक काल में उतरने देना चाहिये, बीच मे उतारने की चेष्टा करना भयंकर खतरा खरीदना है। कोई उपद्रव अकस्मात् खड़ा न हो जावे इसके लिये प्रथमतः ही सन्नद्ध रहना चाहिए। चिकित्सक की थोड़ी सी लापरवाही से उपद्रवों के उठने में बिलम्ब नहीं होता अतः उपद्रवों की तरफ विशेष लक्ष्य रखना अत्यावश्यक है।

संजीवनी वटी आधी रत्ती, प्रवाल भस्म आधी रत्ती, मुक्तापिष्टि या भस्म ¼ रत्ती—तीनों को मिला कर एक मात्रा।



बना लेनी चाहिये। इसी प्रकार अन्य मात्रायें भी बना लेनी आवश्यक है। दिन में दो बार लवङ्ग जल के साथ यानी एक दो लवंगों को पीसकर थोड़े से पानी मे छानकर सूक्ष्म गरम करके लेना चाहिए। उपर्युक्त दवा के मिश्रण को प्रातः सायं लेना चाहिये और दोपहर को रात को—

प्रवाल पिष्टी १ रत्ती, गुडूची सत्व १ रत्ती दोनों को मिलाकर मधु से देना चाहिये।

खांसी की अधिकता में बीच बीच में—अष्टाङ्गावलेह ४ रत्ती, शुद्ध टंकण २ रत्ती मिलाकर अद्रक स्वरस और मधु के साथ दें।

तन्द्रा, प्रलाप, निद्राधिक्य, मत्तता आदि उपद्रव हों तो रोगी को—वृहत् कस्तूरी भैरव ¼ रत्ती, मुक्तापिष्टी ¼ रत्ती, शुद्ध टङ्कण १ रत्ती। तगरादि क्वाथ के अनुपान से उपर्युक्त औषध मिश्रण देना चाहिए। हिक्का की अधिकता में बालकों को बड़ी बेचैनी होती है और हिक्का एक असाध्य लक्षण भी है। अतः हिक्का शमनार्थ निम्नांकित मिश्रण देना पर्याप्त लाभकारी है। यथा—

मयूरापिच्छ भस्म १ रत्ती, पिप्पल्यादि लोह चौथाई रत्ती, मुक्तापिष्टी ½ रत्ती।

यह एक मात्रा है। इसी प्रकार अन्य मात्रायें बना लेवें। अनुपान मधु है।

इस रोग मे पतले दस्त भी एक भयानक उपद्रव है। इसमें भी बच्चे को बडी सावधानी से बचाना चाहिये। क्योंकि पतले दस्त होने के कारण शरीर की गर्मी बाहर निकल जाती है तथा उस गर्मी के निकल जाने से मोतीझरे की फुन्सिया नहीं भरने नहीं पातीं और शीतलता आ उपस्थित होती है। मोतीझरे मे ठण्डापन नितान्त खराब है। इससे बचाने के लिये बालक को निम्नलिखित औषधि देनी चाहिए—

सर्वाङ्ग सुन्दर रस ¼ रत्ती, कंवू १ रत्ती, अतीस चूर्ण २ रत्ती। यह भी एक मात्रा है।

अनुपान—बेलगिरी, जायफल, मीठा अतीस, सुपारी प्रत्येक एक एक आने भर पानी में घिसकर थोडे पानी मे मिलाकर सूक्ष्म गर्मकर देना चाहिये। किंवा—

सिद्ध प्राणेश्वर रस १ रत्ती, कंवू १ रत्ती, भ्रष्टजीरक चूर्ण २ रत्ती। यह एक मात्रा है।

अनुपान—मधु।

मोतीझरे में पसीना भी किसी किसी को आने लगता है सो यह भी उपद्रवों का राजा ही है। इसको शमन करने के लिए योग इस प्रकार है—

प्रवाल भस्म ½ रत्ती, मुक्तापिष्टी ½ रत्ती, मकरध्वज वटी ½ रत्ती—यह एक मात्रा है।

अनुपान—मधु और बाह्य प्रयोगार्थ कपर्द भस्म लेना चाहिए। कपर्द भस्म को थोड़ा थोड़ा लेकर शरीर में उद्धूलन करके हलके हाथ से मसल देना चाहिये और पिपासा की अधिकता एवं अन्तर्दाह हो तो धनिया २ आने भर को १ तोला पानी में भिगोकर २–३ घंटे रखदें। तदनन्तर हाथ मे मसल छानकर थोड़ी देशी चीनी डालकर पीने को देनी चाहिए।

पिपासा की अधिकता मे रुग्ण बालक को षडङ्गपानीय ४ आने भर और जल १ सेर दोनों को औटाकर छानकर ठण्डा करके पीने को दें।

पीपल की छाल सूखी १ सेर को अलग किसी बर्तन में जला देना चाहिए। जब कोयले हो जावें तब उन सबको १ सेर पानी मे बुझा देना चाहिए। ठंडा होने पर वस्त्र से छानकर पिलाना चाहिये। जी मचलने, उल्टी होने मे अथवा हरी पीली उल्टी होने में रुग्ण बालक को निम्नांकित मिश्रण अत्युपयोगी सिद्ध हुआ है—

जहरमोहरा खताई पिष्टी १ रत्ती, प्रबाल पिष्टी ½ रत्ती, पिच्छ भस्म ½ रत्ती।

अनुपान—लवंग जल मिश्री।

इस रोग मे खांसी की अधिकता से एवं वात

पित्त, कफ इन तीनों ही दोषों की उल्बणता से दैवयोग से कफ की वृद्धि हो जाने से किसी किसी को श्वास का वेग अधिक हो जाता है और श्वास का वेग होना एक भीषण उपद्रव है। उसकी शांति के लिये निम्न प्रयोग काम में लावे–

विषाण, गोरोचन, मयूरपिच्छ १-१ रत्ती। एक मात्रा है।

अनुपान–बहेड़े की मिंगी और शहद मिलाकर चटाना चाहिए। बीच बीच में 'शृंग्यादि चूर्ण १ आने भर और शुद्ध टङ्कण २ रत्ती मिलाकर मधु से चटाना चाहिए। किंवा–अष्टाङ्गावलेह ½ रत्ती और मधुयष्टी चूर्ण ३ रत्ती मिला शहद में चटायें।

उदराध्मान होने पर रुग्ण शिशु को निम्न योग देना हितकारी है। यथा–

चतुर्मुख रस ¼ रत्ती, हिंग्वाष्टक चूर्ण ६ रत्ती यह एक मात्रा है।

मधु से अथवा कवोष्ण जल से देना चाहिये। पेट पर दारुषट्कलेप को खट्टी काजी, किंवा खट्टी छाछ में पीस कर कपड़े पर लगाकर रखना चाहिए। शीतल होने पर पुनः उष्ण करके पेट पर लगायें।

नाड़ी दौर्बल्य किंवा नाड़ी लोप प्रतीत होने पर–

चन्द्रोदय मकरध्वज ¼ रत्ती, मुक्ता पिष्टी ¼ रत्ती, कस्तूरी ½ रत्ती, भीमसेनी कपूर १ रत्ती, अम्बर ½ रत्ती। यह भी मात्रा है।

अनुपान—पान के रस और शहद के साथ देना चाहिये। आधाघटा, १ घंटा बाद पुनरपि ऐसी ही एक मात्रा देनी चाहिये।

संज्ञाहीनता मे जब रुग्ण शिशु कपड़ों में ही मल मूत्र त्याग देवे किसी को पहिचाने नहीं तब निम्नांकित योग आशातीत लाभकारी हैं। यथा—

ब्राह्मी वटी १ वटी।

अनुपान—ब्राह्मी बूटी, शखपुष्पी, जटामांसी, सफेद बच और लवङ्ग, दशमूल मिश्रित क्वाथ के साथ देना चाहिये। बुद्धि भ्रम होने पर यही वटी किंवा 'संजीवनी वटी' मुक्ता पिष्टी का योग करके जवासा, शतावरी, असगन्ध, ब्राह्मी, बचा के मिलित क्वाथ के साथ देना चाहिये। परंतु इन सभी योगों में ज्वर का अधिक ख्याल रखना चाहिये। इस रोग मे सामान्यतः ज्वर का बना रहना अत्यावश्यक है। तापमान नीचा गिरना एवं तीव्र तापमान होना भी भयंकर दशा है। इन सभी बातों का ख्याल चिकित्सक को अपने मन मे रखना चाहिए और सर्वदा सतर्क रहना भी बहुत जरूरी है।

शिरःशूल की अधिकता मे—

नारदीय लक्ष्मी विलास रस ¼ रत्ती, गोदन्ती भस्म ½ रत्ती। अदरख रस और मधु से दे।

अथवा—

शिरःशूलादि वज्ररस १ रत्ती, गोदन्ती भस्म ½ रत्ती। पान के रस मधु के साथ देवे।

बाह्य प्रलेपार्थ–दूध का मावा आध पाव लेकर उसको हाथ में मसल गांठ साफ कर थोड़ा गर्म करके एरण्ड के पत्रों मे बिछाकर माथे पर बांध देना चाहिये। ३-४ घंटे प्रतीक्षा करने के बाद फिर दूसरा मावा (खोवा) बाध देना चाहिये और समस्त शरीर टूटता हो या सपूर्ण शरीर मे दर्द हो तो उस समय रुग्ण को रामबाण रस ½ रत्ती अद्रक स्वरस एवं मधु से देवे।

प्राय. इस रोग में कर्णमूल मे शोथ हो जाया करता है। उसकी शान्ति के लिये जोंक को हल्दी के जल से शुद्ध करके शोथ स्थान पर लगा देना चाहिए। जोंक जब दूषित रक्त खींच लेगी तब स्वतः ही स्थूल होकर गिर जावेगी अतः उसको बीच मे खींचकर नहीं उतारना चाहिये। इस रोग मे न जाने किस समय कौन उपद्रव उठ खड़ा हो जावे एतदर्थ वैद्य का कर्त्तव्य है कि बड़ी सावधानी से चिकित्सा करे और घर वालो को भी सान्त्वना देता रहे और स्वय भी धीर होकर लक्षण चिकित्सा मे लापरवाही न करे। औषधि अपने तत्वावधान में ठीक ढङ्ग से दिलावे। ईश्वर कृपा से सफलता अवश्यम्भावी है।

—वैद्य श्री शंकरदत्त शास्त्री काव्यतीर्थ
भिषगरत्नम्, माधोगढ़

मौक्तिक ज्वर की चिकित्सा

श्री शिवकुमार वैद्यशास्त्री



चिकित्सक को उचित है कि चिकित्सा करने से पूर्व इन नियमों का पालन अवश्य करायें—

(१) रोगी को वायुरहित स्वच्छ स्थान में रखना चाहिए। यदि स्थान पक्का हो तो नित्य फिनायल से धोना और यदि कच्चा हो तो नित्य प्रातः लिपवा देना चाहिये।

(२) ओढ़ने बिछाने और पहनने के वस्त्र धुले हुये नित्य बदलवाने चाहिये। रंगीन वस्त्र रोगी को नहीं देने चाहिये।

(३) रोगी के पास गर्भिणी स्त्री और बिल्ली का जाना निषेध है। गर्भिणी स्त्री को भी इससे हानि होना संभव है।

(४) पीने का पानी ग्रीष्म ऋतु में मिट्टी के बर्तन में दो चार बार उबाल कर वस्त्र से छान मिट्टी के पात्र में ठंडा किया देना चाहिए। वर्षा और शीत में चांदी या कलई के पात्र में ठण्डा किया हुआ पानी सेर का तीन पाव शेष रहने पर पिलाना चाहिये। और जल में शुद्ध चांदी का टुकड़ा आग में गर्म कर बुझाना भी श्रेष्ठ है। जल के औटाते समय दो लौंग, ६ माशे खूबकला, दो मुनक्का या चार छः तुलसी की पत्ती डाल के औटावें। प्रातःकाल का शाम को और सायंकाल का औटा रात्रि को दें।

(५) रोगी की खाट के निकट गूगल की धूनी दें, या अन्य सुगन्धित औषधियों का हवन करें।

(६) जब तक ज्वर रहे किसी प्रकार का अन्न नहीं चाहिये। ऋतु अनुसार तथा रोगी की दशानुसार मीठे अनार का रस तथा मौसमी का रस ठंडा व गर्म करके दें। औटाये जल में मुनक्कों का यूष बना कर दें। वार्ली वाटर (जौ का पानी) व गौदुग्ध दें। यदि अतिसार साथ में हो और रोगी अधिक निर्बल हो तो दुग्ध फाड़ कर उसका पानी दूध की शक्कर (Sugar of milk) डाल कर देते रहना चाहिए।

औषध चिकित्सा—

यह सन्निपातिक रोग है। अतः चिकित्सा करने के पूर्व चिकित्सक को अवस्थानुसार ऋतु काल बला-बल का पूर्ण विचार कर लेना परम आवश्यक है। गुलाब जल में घुटे मोती, गुलाब जल में घुटी प्रवाल पिष्टी तथा गौदन्ती भस्म तीनों एक एक रत्ती की मात्रा में मिला कर दिन में तीन बार मंथर ज्वर का निश्चय होते ही प्रारंभ से देने पर प्रायः सात्म्य रहती है। दोष उग्र हों तो इसी में अभ्रक भस्म भी मिला दें। यदि उदर में पीड़ा आदि प्रतीत हों तो इसी में संजीवनी वटी कज्जली मिश्रित योग वाली भी मिलादें। यदि ज्वर तीव्र हो या रोगी को साथ में प्रलाप भी हो तो ईख का सिरका या अंगूर का सिरका, अर्क गुलाब या अर्क सुदर्शन तथा काहू का तैल या गुलरोगन तीनो कलई के पात्र में रखलें और इसमें महीन वस्त्र की पट्टी तर करके रोगी के सर और माथे पर रख कर बार बार डुबो कर बदलते रहना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में बर्फ पर द्रव का पात्र रखलें। यदि ज्वर के साथ अतिसार भी हो तो कर्पूर रस, कर्पूर आसव या अहिफेन वाली भैरव वटी आदि अन्य औषधियों के साथ आवश्यकतानुसार देते रहना चाहिये। यदि दस्त अधिक हों तो साथ में पानी में अफीम, जायफल पीस नाभि के चारों ओर पेट पर पतला लेप करे। यदि अफरा विशेष हो तो पानी में तारपीन का तेल उबालकर इसमे कपड़ा निचोड़ ले और इससे सेक करे। इसी प्रकार दो तीन तोला दशमूल क्वाथ दो सेर जल में औटा कर आधा शेष रहने पर इसमे महानारायण तैल या तारपीन का तैल डाल कर सिकाई करने पर भी पर्याप्त लाभ होता है। दस्तों के साथ मूत्र भी संख्या में अधिक हो तो १-१ रत्ती की मात्रा रजत भस्म उत्तम बनी हुई मुक्ता, प्रवाल, अभ्रक के साथ मिला कर दें।



यदि आंतों में शोथ के कारण उदर में विशेष पीड़ा हो तो सिंदूर ६ माशे घृत ३ माशे में मिलाकर गर्म कर नाभि को छोड़ पेट पर लेप कराये अथवा केशर उत्तम, लौंग और रूमी मस्तंगी—तीनों तीन तीन माशा बारीक चूर्ण कर चकले पर पानी में पीस आंतों पर लेप कर पतला कपड़ा लगायें। यह कपड़ा प्लास्टर की भांति चिपक जायेगा उसे दूसरे दिन छुटाकर यदि आवश्यक हो तो पुनः इसी प्रकार बनाकर लेप लगावें। आंतों का शोथ अवश्य दूर होगा और पीड़ा शान्त होगी।

यदि हृद् दौर्बल्य, श्वास वेग, नाड़ी क्षीणता आदि हो तो सञ्जीवनी सुरा तथा ब्रांडी और कोरामिन की बूंद पीने के पानी में डाल कर दें। अथवा स्वर्ण मकरध्वज मुक्ता या कस्तुरी भैरव रस भी इसमें मिलाकर देते रहना चाहिए।

यदि मूत्रावरोध तो सोरा, नौसादर दोनों को ठंडे पानी में मिलाकर कपड़ा भिगोकर और निचोड़ कर वस्ति स्थान पर रखें पेशाब हो जायगा।

यदि कई दिन तक दस्त न हो और आवश्यक हो तो ग्लेसरीन की वत्ती लगाकर दस्त करादें अथवा साबुन आदि की वत्ती लगाकर करादें।

यदि प्यास या उल्टी हो तो नारियल की जटा की भस्म, सोना गेरु, बड़ी इलायची के दाने तीनों मिलाकर तैयार करलें तथा रोगी को थोड़ी थोड़ी बार बार शहद में चटायें। यदि दाने पूरे न निकलें हो तो विशाखा भस्म, संजीवनी वटी, मुक्ता पिष्टी तीनों का मिश्रण खूबकला ६ माशा मुनक्का दो तुलसी पत्र पांच लौंग तीन इसके काढ़े से प्रात सायं देने से दाने निकल आयेंगे।

मंथर ज्वर की ठीक ठीक चिकित्सा के अभाव में तथा अपथ्य आदि के कारण कभी कभी यह क्षय के रूप में भी परिवर्तित हो जाता है। ऐसी दशा में मंथर ज्वर की चिकित्सा करने पर ही यह क्षय रोग शान्त होता है ऐसे भी उदाहरण मिले हैं। इसके लिए कछुये की खोपड़ी को पीस छान बारीक किया हुआ चूर्ण १ तोला मुनक्का बीज निकले एक तोला इनको बारीक पीस चने के बराबर गोली बनाकर के रखलें और एक गोली प्रातः एक गोली सायं द्राक्षा खूबकला के क्वाथ के साथ दी जाय। साथ ही में मुक्ता पिष्टी, संजीवनी बटी, अभ्रक भस्म आदि भी देते रहें। विकृत मंथर ज्वर जन्य जीर्ण ज्वर या क्षय दूर होगा। अन्दर के दाने निकल कर साफ हो जायगे। इसी प्रकार मंथर ज्वरजन्य जीर्ण ज्वर या क्षय की दशा में स्वर्ण वसन्त मालती, चतुर्मुख रस, स्वर्ण सिन्दूर, लक्ष्मीनारायण रस, शेखर रस, सितोपलादि चूर्ण, अमृता सत्व, सुदर्शन अर्क आदि शास्त्रीय अनुभूत औषध यथावश्यक व्यवहार करनी चाहिये। यदि रक्तस्राव का उपद्रव हो तो रसतन्त्रसार ग्रन्थ वर्णित नाग शर्करा शुभ्रा भस्म का यथोचित सेवन करना चाहिये।

क्लोरोमाइसिटीन (*Chloromycetin*) तथा ओरोमाइसीन दें। इनके सेवन से मंथर ज्वर, उपमंथर ज्वर आशुकारी फुफ्फुस प्रदाह आदि के लिए महत्वपूर्ण लाभकारी बतलाई गई है।

इन औषधों के सेवन कराने पर रक्तचाप पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि इन दोनों के सेवन करने से रक्तस्राव न्यून हो जाता है। कुछ को रेचन (दस्त) भी आने लगते हैं। रक्तचाप न बढ़े इसके लिए साथ में कस्तूरीभैरव दें।

—श्री शिवकुमार वैद्यशास्त्री,
श्री शिव चिकित्सालय, आगरा।



मोतीझरा के तीन रोगियों की चिकित्सा

श्री हुकमचन्द्र जी प्रेमी

[१]

नाम–गजानन भाऊ, उम्र २ वर्ष, पिता–पटेल घनश्यामदास जी, निवास कोयछारी, जिला भंडारा।

लक्षण—ज्वर का तापमान १०४° था, दाह और मूर्च्छा के साथ साथ पतले दस्त २४ घंटे में करीब २५-३० हुआ करते थे। वमन ने तो रोगी की हालत बहुत ही नाजुक कर दी थी, दवा आदि जो कुछ भी दी जाती वह सब बाहर फेंक देता था। नींद भी नहीं लगती थी। गर्दन इधर उधर हिलाता और कपड़ो को हाथों से अलग करता, रो भी दिया करता था। मुंह रक्तवर्ण थे। गर्दन एवं पार्श्व पर सरसों के समान फुन्सियां निकल रही थीं।

चिकित्सा–सर्व प्रथम वमन को रोकने के लिये और हृदय की सुरक्षा के लिये ब्राह्मी वटी (सु.) ½-½ रत्ती, प्रवाल पंचामृत १-१ रत्ती, कामदुधा (मौक्तिक) १ रत्ती, स्वर्ण सूतशेखर ½ रत्ती, शहद के साथ दिन में ३ बार १-१ घंटे बाद।

अतिसार रोकने के लिये गंगाधर रस ½ रत्ती दिन में ३ बार की दवा देकर कहा अब किसी की कोई भी दवा नहीं देना।

दूसरे दिन जब श्री घनश्यामदास जी पोद्दी आये तो हंसकर कहने लगे कि अब हालत कुछ ठीक है, वमन तो कतई बन्द हो गई किन्तु दस्त ३-४ अभी होते ही हैं। बुखार भी मामूली कम पड़ा है। आप चलकर पुन देख लें। मैं गया और देखा तो तापमान १०३ था। गर्दन और पार्श्व पर पिडिकायें पूर्ण रूप से निकल चुकी थीं। अत मैंने उक्त प्रयोग में सूत शेखर की जगह मुक्तापिष्टी ½ रत्ती प्रति मात्रा मिलाकर ३ पुड़िया दीं। गंगाधर रस बन्द कर दिया गया। तीसरे दिन देखा तो तापमान १००° पर आ गया था, दस्त भी बंद हो चुके थे। मैंने ३ दिन की वही दवा और दे दी।

[२]

रोगी–वच्छला बाई, पिता टीकाराम जी बिसेन (कॅशियर), उम्र २॥ साल, बरगांव (भंडारा)

लक्षण तो पूर्व के समान ही थे किन्तु विशेषता यह थी कि उसको अतिसार के बजाय मलावरोध था, उदर में पीड़ा भी होती थी। पित्त की उष्मा बहुत बढ़ी हुई थी। अत 'विरेचनं पित्तहराणां श्रेष्ठम्' के अनुसार विरेचन तो नहीं दिया किन्तु ग्लेसरीन बत्ती लगाने से दस्त साफ हो गया और तापमान कम करने के लिये वही पुराना योग दिया गया। रात को करीब २ बजे से रोगी की हालत बिगड़ गई। अतिसार भी १५-२० तक बढ़ गया और पेट भी फूल गया, बजाने से अफरा जैसा करता था। पहले मलावरोध, फिर अतिसार तथा अफरा। अत. अतिसार तथा अफरा को रोकने के लिये गङ्गाधर रस ½ रत्ती एवं जायफल, लवंग, जावित्री का समभाग चूर्ण बनाकर ४ रत्ती तथा १ रत्ती शङ्खभस्म मिलाकर दिन में २–३ बार दिया गया। उड़द की दाल को आटे जैसी पीसकर अजवाइन मिला रोटी बनाई गई तथा उसका सुहाता सुहाता सेंक किया गया। साथ में तापमान कम करने के लिये प्रवाल भस्म २-२ रत्ती, मुक्ता पिष्टी ½ रत्ती, संजीवनी १ रत्ती, प्रवाल पंचामृत १ रत्ती उक्त दवा के १ घंटे बाद दिया गया।

शाम को जब देखने गया तो अतिसार, आध्मान जाता रहा। तापमान भी कम हो गया। तीसरे दिन से केवल प्रवाल वाला योग ५ दिन तक दिया गया। इस प्रकार भयंकर उपद्रवों से युक्त रोगी ७ दिन में खेलने, कूदने लगा।

[३]

रोगी–गोदन बाई, उम्र ४ वर्ष, पिता–गोपाल भगवत, निवास भजेवार (भंडारा)



इस रोगी को कोई विशेष गड़बड़ी तो नहीं थी किंतु रक्तातिसार हो गया था। दिन मे १५-२० दस्त रक्त मिश्रित हुआ करते थे। तापमान १०३° था। अत. तापमान को कम करने के लिये उपरोक्त मुक्तापिष्टी वाला योग दिया गया तथा १ घंटे बाद गंगाधर रस, कैल्शिलम लेक्टेट, प्रवाल भस्म चन्द्र पुटी १-१ रत्ती—मिलाकर २४ घंटे मे ३ मात्रा दी गई। कैल्शियम लैक्लेट के अभाव मे सर्जरस या स्फटिका चूर्ण एवं लाक्षा चूर्ण प्रति मात्रा ½ माशे मिला कर लाभ उठाया जा सकता है।

नोट—[१] इस रोग के कई रोगी मुझे ऐसे भी मिले जिनकी उम्र १० वर्ष से ऊपर की थी किंतु प्रलाप करते थे, अतः यदि प्रलाप उग्र तापमान की वजह से है तो बर्फ से ठंडे किये गये जल मे कपड़े की पट्टी ४-५ तह की हुई भिगोकर रखने से शान्त हो जाता है तथा यदि वायुजन्य है तो सौभाग्य वटी या हिंगु कर्पूरादि वटी, बृ. कस्तूरी भैरव रस आदि। मात्रा—अवस्थानुसार देने से अनुपान शहद या दाड़िमावलेह के साथ मुझे शत प्रति शत लाभ मिला है उन प्रयोगों से। आप भी प्रयोग कर देखें।

[२] मैने अनुभव किया है कि इस रोग का रोगी २॥-३ माह तक कष्ट पाता है। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि एक बार निकल कर पुनः २५-३० दिन बाद निकलता है। किसी किसी को ज्वर २-३ दिन तक बना रहता है अन्त मे जीर्ण ज्वर मे परिणित हो जाता है। इस प्रकार इसकी अन्यान्य अवस्थायें हैं। अत. वैद्य गणों को सोच विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए।

—श्री डा. आचार्य हुकमचन्द प्रेमी
सरकारी आयु. अस्पताल
वड़ेगांव तिरोड़ा [भंडारा] महाराष्ट्र

मोतीझला पर एक सिद्ध प्रयोग

आयुर्वेदाचार्य डा० सत्यनारायण खरे



मृत्यञ्जयरस १ रत्ती, त्रिभुवन कीर्ति रस ½ रत्ती, गोदन्ती भस्म १ रत्ती, प्रवाल भस्म ½ रत्ती मोती भस्म नं १ ½ रत्ती, सिद्धमकरध्वज ½ रत्ती, नवायस लौह ½ रत्ती। १ पुड़िया।

इसी प्रकार ३ पुड़िया बनाकर दिन मे ३ बार मधु के साथ खिलाना चाहिये। यह मात्रा २ वर्ष से ८ वर्ष तक के बच्चों के लिये है। २ साल से कम उम्र वाले बच्चों को इसकी आधी खुराक कर देनी चाहिये। यह मोतीझला का सर्वोत्तम सैकड़ों रोगियों पर परीक्षित योग है। यदि इसको ज्वर के प्रारम्भ होते ही दिया जावे तो रोगी सात दिन के अन्दर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। यदि दूसरे सप्ताह से प्रारम्भ की जावे तो २१ दिन मे आत्र ज्वर पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है। क्लोरोमाइसिटीन कैप्सूल एवं पामीटेट से तो असफलता मिल सकती है परंतु इस योग के सेवन करने से कोई सन्देह नहीं रहता है। इस योग के २ दिन ही सेवन करने के बाद रोगी को किसी भी कष्ट का अनुभव नहीं होता है वह अपने को पूर्ण स्वस्थ समझता है और दाने स्वतः समयानुसार शान्त हो जाते हैं। इसमें स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। इस योग के सेवन से कोई उपद्रव उत्पन्न नहीं हो पाता है।

—आयुर्वेदाचार्य डा. सत्यनारायण खरे
ए०, एम० बी० एस०
सेवक औषधालय, ककवारा (झांसी)



मसूरिका

श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार

"याः सर्वगात्रेसु मसूरमात्रा
मसूरिका. पित्तकफात् प्रदिष्टाः"

मसूरिका नाम से इतना स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध 'मसूर' के साथ कुछ है। अत्रि पुत्र ने मसूरिका का उल्लेख करते हुए पिढिकाओं का रङ्ग ताम्रवर्ण बताया है। मसूर के समान इनका रंग लाल-भूरा होता है, साथ ही ये पिडिकायें चपटी होती है। यह स्थिति सहसा इनमें नहीं आती, यह तो पीछे से आती है, जबकि पिडिकाओं के अन्दर भरा द्रव भाग बट्ट बनकर इसका केन्द्र का उभरा स्थान नीचे बैठ जाता है, तब इनकी यह स्थिति आजाती है। पीछे से इनके ऊपर जो शुष्क खुरण्ड बनता है, वह भी लाल रंग का ही होता है। इसे इसी समानता से मसूरिका कहा है।

इसको बंगला में वसन्त कहते हैं, क्योंकि प्रायः करके यह रोग वसन्त ऋतु से फैलता है। वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है, इसलिए इस ऋतु मे प्राय जो रोग होते है, उनका सम्बन्ध कफ से रहता है। कफ का एक रोग ददर्द है, जिसमें फुन्सी निकलती हैं। इनको कोठ भी कहते है। जिनमे पस या पानी भरता है, उनको पिड़िका कहते है। वसन्तऋतु में होने वाले रोगों में कफ की प्रधानता रहती है, पित्त का संयोग रहता है। वायु का प्रकोप प्राय. कम होता है।

मसूरिका में भी यही स्थिति आती है। मसूरिका जिसे सामान्य बोलचाल मे छोटी माता या बड़ी माता रूप से पहिचानी जाती है, इसे शीतला भी कहते हैं। यह रोग भारतवर्ष में पहिले था, परन्तु इसका वास्तविक प्रसार पुर्तगाल के आगमन से कहा जाता है। शीतला शब्द १४ वीं शदी से पहले के ग्रन्थों में मेरे देखने मे नहीं आया। सम्भवत. यह शब्द सबसे प्रथम भावप्रकाश या पुराणों मे मिलता है। पुराणों मे शीतला स्तोत्र एवं टीके का भी उल्लेख आज मिलता है। गाय के स्तनों के साथ इस टीके का सम्बन्ध बताया है।

यह रोग जनपदोध्वंसी है, इस रोग का फैलाव वायु से होता है, वायु से बचना मनुष्य के लिये सरल नहीं, क्योंकि वायु जीवन है, इसलिए मनुष्य भले ही अपनी वैयक्तिक स्वास्थ्य रक्षा करले परन्तु बाहर की वायु से बचना असम्भव रहता है। इसमें काल स्वभाव भी सहायक होता है। ऋतु मे होने वाला परिवर्तन इसमे रोगोत्पन्न करता है। हेमन्त मे संचित कफ वसन्तऋतु मे सूर्य की किरणों से पिघलकर रोग उत्पन्न करता है।

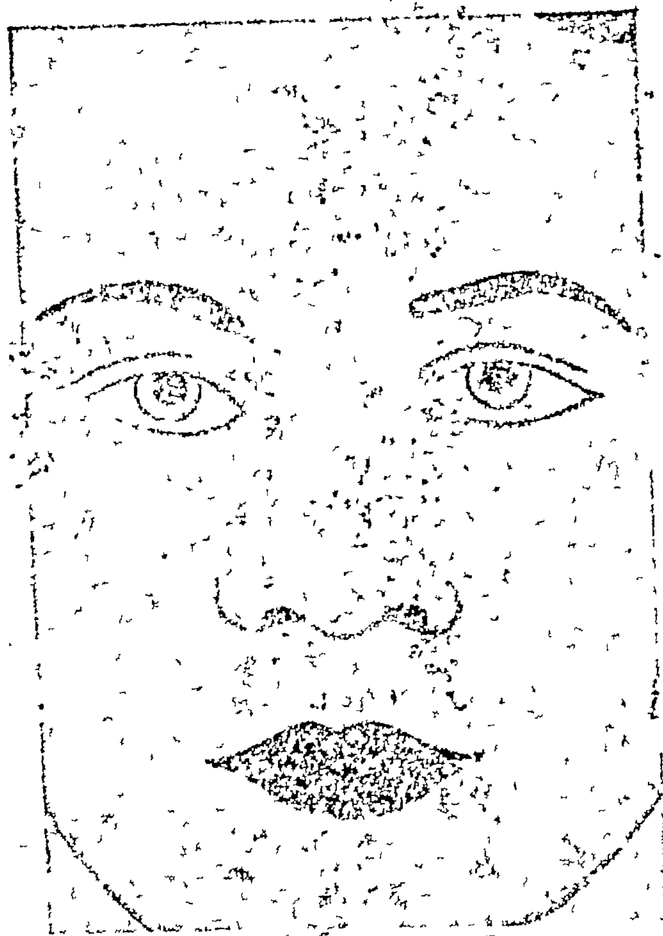
इस रोग मे शरीर रोग का क्षेत्र या भूमि है, वसन्त ऋतु मे काल स्वभाव से यह क्षेत्र बीज की उत्पत्ति के लिए उचित क्षेत्र-बीज ग्रहण योग्य होता है। बीज वायु मंडल मे से रोगी के शरीर में पहुंचता है। यह बीज रोगी के लिए निःश्वास, उसके वस्त्र आदि में आश्रित रहता है, वहा से वायु मे में संचरित होता है, वायु से उर्वरा बने मनुष्य देह रूपी क्षेत्र मे आकर पनपते हैं और रोग उत्पन्न करता है।

इन अवस्थाओं मे आहार का न पचना, शीत लगना, रोगी के सन्निकर्ष मे आना आदि बातें बढ़ा देती है जिनसे रोग विशेष रूप से उत्पन्न होता है। इस रोग मे दूसरे संक्रामक रोगों की भांति विशेषता यह है कि रोग फैलने के समय इस मे तीव्रता रहती है, मध्य में कुछ कमी होती है और पीछे साधारण स्थिति आजाती है। इसलिए मृत्यु संख्या रोग के प्रारम्भ में अधिक होती है और अन्त में कम होती है।

रोग का संक्रमण होने पर उत्पन्न होने का समय सामान्यत १० से १४ दिन है, प्राय. करके बारह

दिन है। इस रोग का विष छालों के द्रव में विशेष रूप से रहता है। इसलिए जब यह द्रव बाहर आता है (रोगी के खुजाने से या रगड़ से जब छाले फूटते हैं) तब यह रोग विशेष रूप से फैलता है। पहले यह रोग मुख्यतः बच्चों में होता था, परन्तु अब कुमार एवं युवकों को भी होता है।

रोगी के देखने पर—रोगी बच्चा होता है या युवा होता है, वह सहसा रोगी हो जाता है उसे कंपकपी या सरदी लगती है, शिर दर्द, कमर में दर्द, चक्कर आना, जी मचलाना, वमन और अतिशय निर्बलता कई बार रहती है।

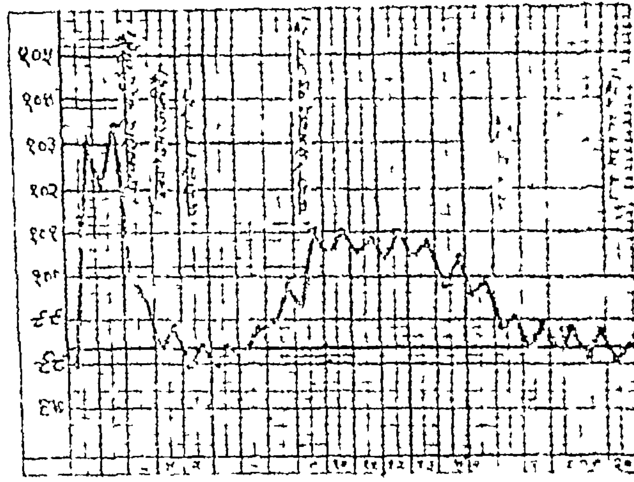


चित्र नं० ६४—चेचक
चेहरे के दाहिने भाग में चेचक की पिडिकायें निकलने के दूसरे दिन की अवस्था, तथा बायें भाग में छठवें दिन की अवस्था दिखलाई गई है।

परीक्षा करने पर—रोग उत्पत्ति के मध्यवर्त्ति समय में रोगी थका हुआ होता है, ताप परिभ्रमण प्रथम दो दिनों में १०२° से १०४° फा. तक पहुच जाता है। शरीर पर उभरे हुए दाने कोठ भी इस समय दीखते हैं, ये दाने इस समय बहुत बारीक बारीक होते हैं जैसा कई बार शीत पानी से स्नान करने पर निकल आते हैं। ये छोटे चमकने वाले, काले होते हैं। ये कक्षा में भी होते हैं, त्वचा में लालिमा आजाती है, प्लीहा कुछ बढ़ जाती है, वास्तविक दाने तीसरे दिन निकलते हैं। ये पहिले शुष्क फुंशी के रूप में होते हैं, पांचवें-छठे दिन पानी आकर छाले का रूप धारण कर लेते हैं। इनमें पूय का रूप नवें दिन आता है, बारहवें दिन पूय के ये छाले फूट जाते, सोलहवें दिन इनमें छिलका पपड़ी बननी प्रारम्भ हो जाती है। दाने सबसे पहले माथे पर दिखाई देते है फिर शिर पर, पीठ पर, कलाई में, सारे मुख पर तथा सामने के भाग में हाथ पैर छाती पर दीखते हैं। दाने प्रायः करके बाह्य पृष्ठ भाग पर जो प्रायः नंगा रहता है तथा जहा पर दबाव पड़ता है, वहा पर निकलते है। कक्षा में भी प्रायः फैल जाते हैं, अधिकतर उदर पर, वंक्षण में, ग्रीवा में, शाखाओं की संधियों में निकलते है। हाथों की अपेक्षा टागों पर कम निकलते है। इसमें भी हाथ पैर में ऊपर के भाग में नीचे के भाग की अपेक्षा दाने कम निकलते हैं। दाने हथेली और पैर के तलवे पर भी निकल आते हैं कनीनिका तथा मुख के अन्दर भी निकलते हैं।

दानों का आकार अलग अलग रहता है। यह काले लाल (या. सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा) होते है जो कि जल्दी ही कठोर गोली के आकार की फुंसी बन जाते हैं। छाले बनने पर इनका आकार मोती के समान हो जाता है। इनका केन्द्र जरा दबा रहता है। पूय पड़ने पर इनका रङ्ग पीला हो जाता है, इस के चारों ओर लाल चक्कर बन जाता है चारों ओर की त्वचा मोटी हो जाती है। छाला फटने के पीछे





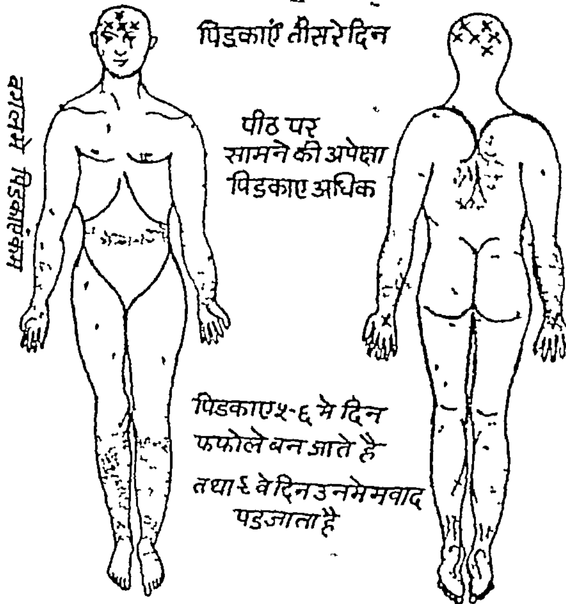
चित्र नं० ९५
चेचक का तापमान-चार्ट

भूरी काली पपड़ी बन जाती हैं, जोकि सामान्यतः २ से तीन सप्ताह मे अलग होती है। इसके पीछे निशान रह जाता है, जो कि प्रायः स्थायी होता है।

छालों की उत्पत्ति के समय बहुत विक्षोभ खुजलाहट होती है, त्वचा कठोर हो जाती है, इसमें दर्द होता है, इस समय रोगी के शरीर से बहुत दुर्गन्ध आती है। जब वास्तविक दाने निकलें, तब सामान्यतः ताप परिमाण घट कर ९८° या इससे भी कम आजाता है और जब छाले बनने लगते हैं तब पुनः बढ़कर १०४° तक पहुंच जाता है। इसके पीछे तीसरे सप्ताह के बीच में यह धीरे धीरे कम होकर सामान्य अंश पर आजाता है। रोग की तीव्रावस्था में रोगी बहुत निर्बल दीन रहता है, नींद नहीं आती और प्रलाप भी हो सकता है (इस समय कस्तूरी मुलेठी को तगरादिक्वाथ या ब्राह्मी रस के साथ देना चाहिए)। मूत्र में थोड़ा सा एल्बुमिन आता है।

विद्वानों की मान्यता है कि यदि टीका ठीक प्रकार से किया गया है तो चेचक का होना सम्भव नहीं, यदि टीके की सफलता की परीक्षा करली जाय तो रोग के दूसरे दिन परीक्षा करने से चेचक का सन्देह निकल जाता है।

सामान्यतः रोग तभी भयानक या घातक होता है जब रक्तस्राव या अन्य उपद्रव साथ में हो जाता है। उपद्रवो मे स्वरयंत्रशोथ, कास, ब्रोंको-निमोनियां, हृदय की निष्क्रियता, अस्थि शोथ, कनीनिकाव्रण, व्रणशोथ, कर्णशोथ, कर्ण विद्रधि, अण्डशोथ, शय्या व्रण, छाले आदि हैं। इस रोग मे १२ वे से १४ वां दिन बहुत चिन्तापूर्ण होता है। प्रारम्भिक ज्वर जितना हल्का रहता है, उतना ही इसका पूर्ण कथन अच्छा होता है।



चित्र नं० ९६
चेचक की पिडिकाओं तथा स्थलों के निकलने का क्रम, तथा विभिन्न भागों में उनकी स्थिति

चिकित्सा—

रोग प्रतिरोध के रूप मे टीका इस रोग का उचित प्रतिबन्धक बताया जाता है। टीके का ठीक समय ३ से ६ मास की आयु है, इस समय यदि टीका सफलापूर्वक होजाता है, तो पाच-सात वर्ष तक रोग की सम्भावन्ना नहीं रहती है। दूसरी बार ठीक ७ वें और १४ वे वर्ष मे कर देना चाहिए, अथवा रोग जब बहुत व्यापक रूप मे फैल रहा हो तब करना चाहिए। रोगी के घर को पूर्णतः स्वच्छ कराना चाहिये। रोग होने पर रोगी को पृथक रखना चाहिए। जब तक सब पपड़ी न उतर जाये और व्रण भर न जाये।



रोग शांति उपाय–रोगी को शांत खुली वायुयुक्त घर में रखना चाहिए, इसके ऊपर सीधी धूप नहीं आने देनी चाहिए। रोग प्रारम्भ होने पर एक लाख इकाई की मात्रा से पैंमलीन प्रति चार घंटे के अन्तर से देना चाहिए। ज्वर की अवस्था में दूध देना चाहिए, जब ज्वर उतर जावे तब आहार की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। स्वच्छता–शिर के बालों को कटवा देना चाहिए, दिन में दो बार गरम पानी से त्वचा को साफ करना चाहिए। सबसे प्रथम त्वचा पर पोटासियम परमैंगनेट के घोल का सान्द्र घोल त्वचा पर लगा देना चाहिए, इसको दूसरे दिन या पीछे से १%घोल से पुन. गीलाकर देना चाहिए। छालों के फूटने के समय पोटासियम परमैंगनेट का यह रंग बहुत महत्वपूर्ण होता है। विष इस घोल से [१०००० में १ भाग] नष्ट हो जाता है। मुख को बर्फ के शीतल जल में भिगोये पतले वस्त्र से ढांक कर ऊपर से केले का नरम पत्ता रख देना चाहिए। दुर्गन्ध के लिये पोटासियम परमैंगनेट के स्थान पर कार्बोलिक एसिड का घोल बरत सकते हैं। आखों पर वैसलीन लगा देनी चाहिए और दिन में दो बार आंखों को बोरिक लोशन से धो देना चाहिए। यदि आंख में कोई दाना हो जाये तो इसके लिये एक औंस वैसलीन में हाइड्रार्जराई ऑक्साईड-पालेवा ८ ग्रेन और एट्रोपीनसल्फेट १६ ग्रेन मिलाकर बनाई वेसलीन लगानी चाहिए। यदि अब भी सूजन हो तो प्रति चार घन्टे के अन्तर से १% एल्व्युसिड बूंद डालनी चाहिए।

कमर या शिर दर्द को कम करने के लिये एस्परीन १० ग्रेन और फिनास्टीन ७ ग्रेन की पुड़ियां देनी चाहिये। नींद लाने के लिये पोटासियम ब्रोमाईड ३० ग्रेन, डोवर्स पाउडर १० ग्रेन देना चाहिए। प्रलाप के लिये हायोसीन हाईड्रोब्रोमाईड १/१०० ग्रेन का इञ्जैक्शन देना चाहिए। गले की सूजन के लिये १ पाइन्ट पानी में टिंचर बैंजोयन की ६० बूंद डालकर उसका वाष्प लेना चाहिए। प्रत्येक भोजन के पीछे मुख को ग्लेसरीन थायमोल के फोये से साफ कर देना चाहिए।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

इसमें चिकित्सा विभाग इस प्रकार से किया गया है–पिडिका निकलने में प्रथमावस्था, पूय सचार होने पर द्वितीयावस्था तथा छिलका उतरने में तृतीयावस्था। इसी क्रम से चिकित्सा विधि है।

प्रथमावस्था में—स्वल्प लक्ष्मीविलास या कफ चिन्तामणि देना चाहिए, यदि ज्वर प्रबल हो और रोगी में प्रलाप हो तो कस्तूरीभूषण देना चाहिए। इसके स्थान पर रससिन्दूर या स्वर्णसिन्दूर २ रत्ती मात्रा में दे सकते हैं। सामान्यत: तुलसीपत्र रस या पान का रस देते हैं। कफ की अधिकता होने पर आर्द्रक या बिल्वपत्र रस देते हैं। दिन में तीन चार बार देना चाहिए। भोजन में लाजामण्ड, साबूदाना, मूंग का पानी देना चाहिए।

द्वितीयावस्था में—जब दाने निकल आये तब सब औषधि बन्द करके रोगी को वमन या विरेचन देना चाहिये (ज्वर उतरने पर)। इसके लिये नीम की छाल और परवल के पत्तों के क्वाथ में मैनफल का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये। हिंचा शाक का रस और मधु या करेला का रस और हल्दी का चूर्ण देना चाहिए। हिंचा शाक का रस या करेले के रस की मात्रा ८ तोला तथा मधु २ तोला देना चाहिए। वमन के पीछे लाजमण्ड देना चाहिए। मंड में बेदाना या नारियल का पानी मिलाकर दे सकते हैं। २ तोला किशमिश को आधा सेर दूध में पकाकर इसे लाजमण्ड के साथ मिलाकर दे सकते हैं। पिडिका निकलने पर दूध मिश्रित पथ्य देना उचित है। अवस्था भेद से घी मिश्रित मूंग या चने का यूष तथा एक समय दूध मिश्रित लाजमण्ड या यवमण्ड देना चाहिए। रोगी को अतिशय दाह होता हो तो मूंग और आंवले का यूष बहुत लाभ करता है। एक समय मूंग और आंवले का यूष और एक समय दूध और लाजमण्ड देना चाहिये। औषध में रससिंदूर या कज्जली को देना चाहिये,

वातिक लक्षणों में दशमूलादि, पैत्तिक लक्षणों में द्राक्षादि और कफ के लक्षणों मे किराततादि क्वाथ देना उत्तम है। यदि दोष निर्णय न हो सके तो निम्बादि क्वाथ देना चाहिये। अमृतादि क्वाथ पटोलादि क्वाथ, खदिराष्टक क्वाथ सब प्रकार की मसूरिका में लाभ-प्रद हैं। विरेचन के लिये त्रिफला क्वाथ तथा निशोथ का चूर्ण उत्तम है।

तृतीय अवस्था—निर्बलता तथा वायु का प्रकोप विशेष होता है, इसके लिये प्रतिदिन गुडूच्यादि क्वाथ देना चाहिये। सोंठ का चूर्ण और गुड़ साथ में देने से रोग में शांति होती है। ज्वर हो तो इन्दुकलावटी देनी चाहिए। प्रातःकाल पटोलादि क्वाथ और सायंकाल इन्दुकलावटी दें। पथ्य—अन्नमण्ड, लाजमण्ड, घी से संस्कृत दूध देना चाहिए।

उपद्रव चिकित्सा—

ज्वर तीव्र होने पर सन्निपात ज्वर या वात-श्लैष्मिक ज्वरों के लक्षणों मे कस्तूरी भूषण देना चाहिए। जब तक लक्षण शांत न हों इसको देना चाहिये। कास-श्वास, गले में घर्घराहट होने पर अष्टांगावलेहिका देनी चाहिये। गले में व्रण हो तो जात्यादिक्वाथ मे मधु डालकर गण्डूष करने चाहिए। स्वच्छता के लिये अष्टांगधूप मकान मे रोगी के पास जलाना चाहिए। जब छाला फूट जाय तो चादर पर उपले की बारीक राख कपड़छन करले उस पर रोगी को लिटा देना चाहिये, इसे फिर समय पर बदलते रहना चाहिये।

प्यास अधिक होने पर मुलहठी और सौंफ से सुवासित जल या शृतशीत जल रोगी को देना चाहिये। अरुचि होने पर आंवले का या दाडिम का रस देना चाहिये। श्लेष्मा शुष्क हो तो वासा, मुलहठी, किशमिश, मरिच इनका क्वाथ देना चाहिये। कास अधिक होने पर चन्द्रामृत रस या तालीशादि चूर्ण देना चाहिए। आँख में पिडिका हो जाय तो मधुकादि प्रलेप और आश्च्योतन (हल्दी, लोध, हरड़, कपूर का) बरतना चाहिए। मकरध्वज का प्रयोग उपद्रव शान्ति के लिये उत्तम है। अतिसार होने पर मोथे का जल देना चाहिए। गले में व्रण या पीड़ा हो, आवाज न आये तब राल, देवदारु, चन्दन, अगरु, गुग्गुल इनका धूप देना चाहिये। शरीर से क्लेद बाहर आने पर पंचवल्कल चूर्ण [पीपल, गूलर, पिलखन, वट तथा अम्लवेतस या इमली] इनकी छाल का वस्त्र में छना चूर्ण शरीर पर डालना चाहिए।

छिलके उतरने पर कच्ची हल्दी और कोमल नीमपत्र पीसकर इसका उबटन शरीर पर लगाकर स्नान करवाना चाहिये।

पथ्यापथ्य—जब तक पिडिकायें बाहर न आये तब तक नवज्वर की भांति जलसागु, (जल से साधित साबूदाना) जलबालि, लाजमण्ड, मसूर, मूंग का यूष देना चाहिये। इनमे मिश्री या निम्बू का रस, अनारदाना मिलाकर देना चाहिये। पिडिका निकलने पर लाजमड, यवमड, उत्तम है। अपथ्य—परिश्रम, थकान, धूप, आलू, मत्स्य, अम्ल, लवण, असमय आहार, अपथ्य है।

—श्री अत्रिदेव जी आयुर्वेदालङ्कार
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मसूरिका (शीतला) की चिकित्सा

श्री पं० केशवदेव शर्मा आयुर्वेदाचार्य

आहार विहार परिचर्या तथा उपद्रव के सम्बन्ध में सतर्कता आदि उपायों द्वारा चिकित्सा करें।

रोगी को एक स्वतन्त्र हवादार मकान में रखा जाता है। कुछ विद्वानों की राय है कि लाल रंग की

किरणों से पूयभवन कम होकर त्वचा पर दाग भी कम हो जाते हैं इसलिये रोगी के कमरे के दरवाजों एवं खिड़कियों पर लाल रंग के पर्दे टांगे जाते हैं।

आरम्भ में रोगी को विरेचक औषधि देकर कोष्ठ शुद्ध किया जाता है। उसके विस्तरे और ओढ़ने के कपडे हलके एवं मुलायम होने चाहिये, उसका कमरा तथा खाने के पदार्थ शीतल रखने का प्रयत्न करना चाहिये। खुजलाने से त्वचा का दूषित होने का भय रहता है इसलिये त्वचा को खरोचना उचित नहीं है, बच्चों को रोकना बहुत कठिन है इसलिये उनके पंजे कपडे या खाट से बांधकर रखें।

खुरंट उतरने के दिनों में प्रतिदिन कार्वोलिक घोल या जन्तुघ्न तैल लगाकर पश्चात् गर्म पानी से स्नान कराया जाता है। जब तक खुरंट पूर्ण तरह से नहीं उतरते तब तक अन्य लोगों से मिलना जुलना बन्द कराया जाता है तथा उपद्रवों की लाक्षणिक चिकित्सा की जाती है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा -

इस रोग को लोक में प्राय रोग न मानकर शीतला नामक (सेड़) देवी का प्रकोप मानते हैं और इसकी चिकित्सा नहीं कराते। चिकित्सा कराने पर देवी के कुपित होने का भय उनके हृदय में घुसा रहता है। किन्तु आज का युग ज्ञान का और विज्ञान का युग है। उन सभी को यह समझ लेना चाहिये कि यह रोग प्रकृति देवी के ऊपर है क्योंकि इस रोग के होजाने पर बिना किसी चिकित्सा कराये प्रकृति देवी के नियमानुसार चलने से अर्थात् मिथ्या आहार विहार न करने से स्वतः ठीक हो जाता है।

यदि चिकित्सा की आवश्यकता पड़े तो फिर निम्न चिकित्सा करनी चाहिये-

(१) मसूरिका के आरम्भ में ही हुलहुल के पत्तों के स्वरस में चन्दन के कल्क को डालकर पीना, अथवा केवल हुलहुल के पत्तों का स्वरस पीने से इसका भय नहीं रहता। इसकी मात्रा आवश्यकतानुसार बच्चों को ३-३ माशे रस दो बार दिन में।

(२) नीम के बीज, बहेड़े के बीज और हल्दी इनको शीतल जल के साथ अच्छी तरह पीसकर पीने से फिर मसूरिका नहीं निकलने पाती।

(३) ज्वर आने पर मसूरिका की शंका होने पर केले के खम्बे का रस, मुलहठी का चूर्ण मिलाकर पीने से शीतला सम्बन्धी विकार नष्ट हो जाते हैं।

(४) मसूरिका के आरम्भ में रोगी के वय और बलानुसार वमन विरेचन से कोष्ठ शुद्धि करानी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से संचित दोष नष्ट हो जाते हैं और मसूरिका स्वयं ही सूख जाती है। किन्तु पित्तजन्य मसूरिका एवं पित्त प्रकृति वाले कमजोर और डरपोक एवं गर्भिणी को वमन रेचन इस रोग में नहीं करावें।

वमन के लिये—परवल के पत्ते, निम्ब की छाल और वासा इनको समभाग लेकर क्वाथ बनाकर देने से वमन हो जाती है।

—अथवा ब्राह्मी रस में शहद मिलाकर दोनों की मात्रा १ तोला श्रेयस्कर है।

धूप—बांस की छाल, तुलसी, लाख, बिनौला की मिंगी, जौ की भुसी और वच, ब्राह्मी--इनकी धूप रोगी के कमरे में देनी चाहिए जिससे रोग का प्रसार कम हो जाता है।

दोषभेदानुसार -

वातमसूरिका में—दशमूल, रास्ना, आमला, खश, जवासा, गिलोय, धनियां, मोथा इन औषधियों का क्वाथ रोज पिलाने से वातज मसूरिका शान्त होती है।

पित्तज एवं रक्तज मसूरिका में निम्नांकित क्वाथ—नीम की छाल, पित्तपापड़ा, पाठा, परवल के पत्ते, कुटकी, दोनों चन्दन, वासा, आमला, इनके क्वाथ को करके और खूब ठण्डा मिश्री मिलाकर पीने से दोनों तरह की मसूरिका शान्त होती है।

पित्तजन्य मसूरिका में शोधन कभी नहीं करना चाहिए। अर्थात् वमन विरेचन नहीं कराना चाहिए केवल संतर्पण (खीलों का चूर्ण मिश्री सहित



निम्बादि क्वाथ के साथ) देना चाहिए।

रक्तज मसूरिका-रक्तमोक्षण कराना उचित है।

कफजन्य मसूरिका-अडूसा, नागरमोथा, चिरायता, हरड़, आमला, इन्द्रजौ, जवासा, परवल के पत्ते, नीम की छाल इन सब औषधियों का क्वाथ शहद मिलाकर पीने से कफजन्य मसूरिका ठीक होती है।

सिरस और गूलर की छाल, खैर और नीम के पत्ते इनको पीस कर लेप करने से कफ़जन्य एवं पित्तजन्य मसूरिका ठीक होती है।

सन्निपातजन्य—मसूरिका में उपरोक्त निम्बादि क्वाथ का सेवन श्रेष्ठ है।

यदि निकली हुई मसूरिका पुनः अन्तःप्रविष्ट हो गई हो या अच्छी तरह न निकली हो तो कचनार की छाल के क्वाथ को स्वर्ण माक्षिक का चूर्ण मिलाकर पिलाने से फिर बाहर निकल आती है।

—चिरायता, नीम की छाल, कुटकी, पित्तपापड़ा इनका क्वाथ पीने से कच्ची मसूरिका भर जाती है तथा पकी हुई शीघ्र ठीक हो जाती है। इससे उत्तम इस रोग की ज्वर एवं उपद्रवों को शान्त करने वाली अन्य औषधि नहीं।

मुख एवं गले में यदि व्रण उत्पन्न हो गये हों तो आमले और मुलहठी के क्वाथ में मधु मिला कर कुल्ले करने से ठीक हो जाते हैं।

आंखों में यदि मसूरिका उत्पन्न हो गई हो तो मुलहठी, त्रिफला, मूर्वा, दारुहल्दी की छाल, नीलकमल, खश, लोध्र एवं मजीठ इनको पीस कर लेप करने से अथवा इनके क्वाथ द्वारा आश्च्योतन करने से आंखों में उत्पन्न हुई मसूरिकायें नष्ट होती हैं तथा फिर से उत्पन्न नहीं होती। अथवा—

लिसौड़े की छाल को पीस कर आंखों पर लेप करने से नेत्रगत मसूरिका नष्ट होती है।

कीले जीरे के पत्तों के क्वाथ में हल्दी का चूर्ण मिलाकर पीने से रोमान्तिका मसूरिका ज्वर विसर्प व्रण नष्ट होते हैं।

१. गांव में या मुहल्ले में मसूरिका (चेचक) फैलने पर ऊंटकटेरा (कटेली का भेद) को उखाड़ कर घर के दरवाजे पर लटका देना चाहिये। और उसी का एक फूल (कोई कोई मूल ग्रहण करते हैं) रोगी के पीने के जल में डाल देना चाहिए। और प्यास लगने पर उक्त जल को छानकर पिलाने से मसूरिका शीघ्र ही निकल आती है और उसमें कोई उपद्रव नहीं उठने पाता।

२. बच्चों के मसूरिका (चेचक) निकलने पर रोगी को उत्तम केशर ½ रत्ती से १ रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार गंगाजल में मिश्रित कर पिलाना चाहिये जिससे दूषित रक्त शीघ्र ही चेचक के दानों में निकल कर खुरन्ट पड़ जाते हैं।

३. चेचक वाले रोगी के कमरे में चारों ओर लाल रङ्ग का कपड़ा टांग देना चाहिये। ऐसा करने से चेचक में पूय (मवाद) पड़ने की शंका नहीं रहती और शीघ्र ही आराम हो जाता है।

४. चेचक रोग में रक्त अपामार्ग (ओंगा) की जड़ शुभ दिन में प्रातः लाकर उसे गंगाजल से धोकर साफ किये हुये पत्थर पर चन्दन की तरह घिस कर थोड़ी सी रोगी के मस्तक पर तिलक सदृश लगाना चाहिये एवं शरीर में उसके छींटे देने चाहिये। तथा थोड़ा सा गंगाजल मिलाकर एक छोटी चम्मच रोगी को पिला देनी चाहिए एवं उस जड़ का थोड़ा सा टुकड़ा एक लाल वस्त्र में बांधकर रोगी शय्या (पलङ्ग) से बांध देना चाहिए। ऐसा करने से सोपद्रव चेचक भी शीघ्र ठीक हो जाती है।

५. मसूरिका ठीक होने के पश्चात् भी मसूरिकाजन्य व्रणों में खुजाने से अधिक घाव हो जाते हैं। उनमें रक्त अपामार्ग के पत्तों को गंगाजल से पीस कर लेप करने से घाव शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं और उनमें खुजली भी नहीं चलती।

६. मसूरिका की शंका होने पर रोगी को मुनक्का के ९-१० दाने (बीज) गंगाजल में पीस कर पिलाने से चेचक नहीं निकलने पाती या अन्त प्रविष्ट हो

तो दूसरे दिन और उसी तरह पिलाने से शीघ्र निकल आती है।

७. करेले के पत्तों का रस उसके पूर्वरूप में पिलाने से मसूरिका नहीं निकलती।

८. घर में किसी बच्चे को चेचक निकलने की सम्भावना होने पर या चेचक निकल आने पर निम्न प्रयोग को काम में लेना चाहिये—

किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे नीम के वृक्ष (अर्थात् अपने घर का पेड़ न हो) से एक डाली तुड़वा कर उसमें से प्रत्येक बालक को २१ पत्ती के हिसाब से मच गेरू से रंगे हुए वस्त्र की चीर में बाध कर हरेक बच्चे के पैर में २१ पत्ती बंधी हुई उक्त चीर बाध देनी चाहिए। ऐसा करने से प्रथम तो चेचक निकलती नहीं। यदि निकलती भी है तो बहुत न्यूनाऽवस्था में, जो कि ज्वराधिबाधा रहित शीघ्र शान्त हो जाती है। तथा—

९—जपहोमोपहारैश्च दानस्वस्त्ययनार्चनैः।
विप्रगोशम्भु गौरीणां पूजनैस्ताशमं नयेत् ॥
स्तोत्र च शीतला देव्या पठेत् शीतलिकान्तिके।
ब्राह्मणः श्रद्धया युक्तस्तेन शाम्यन्ति शीतला ॥

जव होम बलिदान स्वस्ति वाचन पूजन और विप्र गौ भगवान शंकर गौरी का पूजन करने से शीतला शान्त होती है। शीतला से पीड़ित रोगी के पास किसी ब्राह्मण द्वारा श्रद्धापूर्वक शीतलादेवी के स्तोत्र पाठ कराया जावे तो शीतला देवी शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त होती है। जनहित के लिए स्तोत्र निम्न प्रकार से है—

अथ शीतला स्तोत्रम्

ओ३म् अस्य श्री शीतला स्तोत्र मंत्रस्य महादेव ऋषिस्त्रिष्टुप छन्द श्री शीतला देवता शीतलोपद्रव शान्त्यर्थं जपे विनियोगः।

स्कन्द उवाच—
भगवन् देवदेवेश ! शीतलायास्तवंशुभम्।
वक्तुमर्हस्यशेषेण विस्फोटक भयापहम् ॥

ईश्वर उवाच—
वन्देऽहं शीतला देवी रासभस्थां दिगम्बराम्।
यामासाद्य निवर्तेत विस्फोटक भय महत् ॥

शीतले शीतले चेति यो ब्रूयाद्दाह पीडितः।
विस्फोटकं भय घोरं क्षिप्रं तस्यप्रणश्यति ॥
यस्त्वामुदकमध्येतु ध्यात्वा सम्पूजयेन्नरः।
विस्फोटकभय घोर कुले तस्य न जायते ॥
शीतले ज्वर दग्धस्य पूतिगन्धयुतस्य च।
प्रनष्टश्चक्षुषः पुंसस्त्वामाहुर्जीवितौषधम् ॥
नमामि शीतला देवी रासभस्थां दिगम्बराम्।
मार्जनी कलशोपेतां शूर्पालङ्कृत मस्तकाम् ॥
शीतले तनुजान् रोगान्नृणां हरसि दुस्तराम्।
विस्फोटक विदीर्णानां त्वमेकामृतवर्षिणी ॥
गलगण्ड ग्रहारोगा ये चान्ये दारुणानृणाम्।
तदनु ध्यान मात्रेण शीतले यान्ति ते क्षयम् ॥
न मंत्रं नौषध किंचित् पाप रोगस्य विद्यते।
त्वमेका शीतले धात्री नान्या पश्यामि देवताम् ॥
मृणाल तन्तु सदृशीं नाभिहृन्मध्यसंस्थिताम्।
यस्त्वां सञ्चिन्तयेद्देवीं तस्यमृत्युर्न जायते ॥
अष्टकं शीतला देव्या य. पठेन्मानवः सदा।
विस्फोटक भयं घोरं कुले तस्य न जायते ॥
श्रोतव्यं पठितव्य च नरैर्भक्ति समन्वितैः।
उपसर्ग विनाशाय पर स्वस्त्ययनं महत् ॥
शीतलाष्टकमेतद्धि न देय यस्यकस्यचित्।
किन्तु तस्मै प्रदातव्य भक्ति श्रद्धान्वितोहि यैः ॥

इति श्री काशी खण्डे शीतलाष्टक स्तोत्र सम्पूर्णम्।

आठवां और नवां प्रयोग उनके लिए हैं जो कि उक्त रोग में औषधि कराने में भय करते हैं एवं रूढ़िवादी है। उनके लिए तथा सबके लिए दोनों प्रयोग बहुत ही लाभदायक हैं।

१०. मसूरिकाजन्य व्रणों पर जङ्गली (अरण्य) कण्डे की राख भुरकने से वे शीघ्र सूख जाते हैं।

पथ्यापथ्य

चेचक वाले रोगी के पथ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये क्योंकि बिना पथ्य के कोई औषधि लाभ नहीं पहुंचा सकती और रोग वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। औषधि अथवा वैद्य को उसकी बदनामी भोगनी पड़ती है। यथा—

सन्तापयन्तिकमपथ्यभुग न रोगाः।

अतः सर्व प्रथम रोगी का पथ्य सेवन करना आवश्यकीय है। पीने के लिये रोगी को विपुल जल



देना चाहिये। जौ का यूष, फलों का रस, ग्लूकोज आदि हलके पदार्थ देने चाहिये, विरेचन से कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिए।

भुने चना, गुड़, मुनक्का आदि हल्के शीघ्र पचने वाले पदार्थ देने चाहिये। दूध नहीं देना चाहिए, इससे पूय पड़ने की शका रहती है, नमक मिर्च नहीं देना चाहिये इनसे व्रणों मे खुजली बढती है, व्रणों पर मक्षिकापात नहीं होने देना चाहिये उन्हे नीम की डाली से उडाते रहना चाहिये। रोगी को शुद्ध वायु एव प्रकाश में रहना चाहिये। उसके पास एक पवित्र व्यक्ति रहना चाहिये और अन्य किसी को उसके पास नहीं जाने देना चाहिए। रोज ही धूप देनी चाहिये।

वेक्सीन (Vaccin)–

चेचक के लिए चेचक के टीके का प्रयोग किया जाता है, इसके बचपन मे प्रयोग से बाल्यकाल में तो चेचक नहीं निकलती किन्तु फिर युवावस्था में उसका आक्रमण हो जाता है। वह भी जब हर दूसरे वर्ष २-३ वार टीके का प्रयोग हो जावे तो, किन्तु सम्प्रति जिनके दो तीन बार टीका लगा है उनके भी चेचक निकलती देखी गई है।

—श्री० पं० केशवदेव शर्मा आयुर्वेदाचार्य
कोसी (मथुरा)

लघु मसूरिका-खसरा [Measles]

श्री दाऊदयाल गर्ग A., M. B. S. सह०–सम्पादक "धन्वन्तरि"

कारण —

इसका कारण एक बहुत सूक्ष्म जीवाणु (Virus) होता है। यह जीवाणु रोगी की नासिका मे होने वाले स्राव मे तथा रक्त में प्राप्त होता है। जिन रोगियों को इस रोग के ग्रसित होने पर मस्तिष्क शोथ (Encephalitis) भी हो गया हो उनके मस्तिष्क मे भी यह जीवाणु पाया जाता है। इस जीवाणु का प्रसार रोगी की नासिका से होने वाले स्राव तथा खासी के पश्चात् आने वाले थूक से होता है। रोगी खसरा के दाने निकलने से एक सप्ताह तक संक्रमणशील रहता है अत. बच्चों को इस बीच रोगी से दूर रखना चाहिये। खसरा के रोगी में प्राय स्ट्रेप्टोकोकाई तथा न्यूमोकोकाई नामक कीटाणु का सक्रमण हो जाता है जिसके कारण अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं। खसरा के एक वार हो जाने पर रोगी मे इसके प्रति जीवनपर्यन्त रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है। ३ मास से ५ मास के बच्चे मे यह रोग अधिक होता है।

लक्षण–

लघु–मसूरिका का संम्प्राप्तिकाल (Incubation period) ७ से १४ दिन है और प्राय: लक्षण संम्प्राप्तिकाल की समाप्ति पर ही होते हैं। कभी कभी संक्रमण होने के कुछ घण्टे पश्चात् कुछ ठंडी सी लगती है। त्वचा मे कुछ शोथ तथा नेत्रों मे लाली हो जाती है।[1]

पिडिका निकलने से पूर्व के लक्षण—यह लक्षण प्राय: पिडिका निकलने से ४ दिन पूर्व से प्रारम्भ होते है। प्रारम्भ मे आंख तथा नाक से पानी निकलता है, छींक अधिक आती हैं, खासी तथा गले मे खरास हो जाती हैं, आखे लाल हो जाती है, तापक्रम प्रथम दिन ही १०२ या १०३ डिग्री हो जाता है। टांसिल बढ़ जाते हैं. उनमे दर्द होता है तथा कभी कभी उनसे स्राव भी निकलता है। कभी कभी बच्चे को ज्वर अधिक नहीं होता और उस

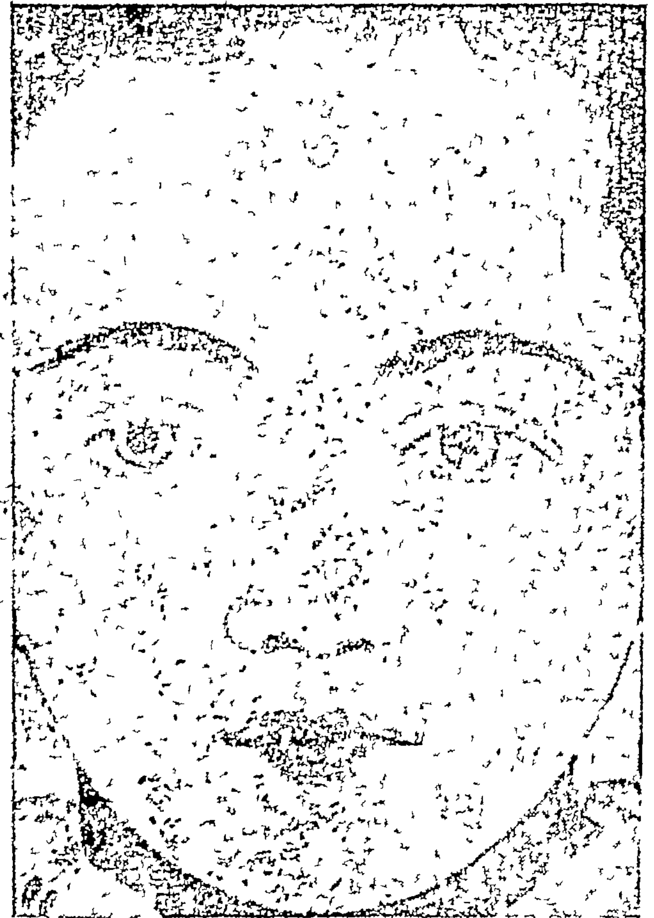
१ तासा पूर्व ज्वर कण्ठूर्गात्रभङ्गोरतिभ्रम ।
त्वचि शोथ सवैवर्ण्यो नेत्र रागश्च जायते ॥

समय लक्षण साधारण प्रतिश्याय जैसे होते हैं।

प्रारम्भिक लक्षणों के तीन दिन पश्चात् मुंह के अन्दर की श्लेष्मिककला पर चर्वणक (Molar) दन्तों के सम्मुख जहां पर कि कर्णमूलिक लाला-ग्रन्थि की नलिका आकर खुलती है उसके चारों ओर छोटे छोटे दाने से दिखाई देते हैं जो कि कापिलिक के स्पोट्स (Koplic's spots) के नाम से प्रसिद्ध है। यह कृत्रिम प्रकाश की अपेक्षा दिन के प्रकाश मे आसानी से दिखाई देते हैं तथा किसी एक ओर के गाल पर दूसरे की अपेक्षा अधिक होते हैं। यह पिन की नोक के बराबर होते हैं। तथा प्रत्येक के चारों ओर लालिमा होती है। यह रगड़ने से मिटते नहीं हैं। कापलिक के स्पौट्स ६० प्रतिशत रोगियों मे मिलते हैं अतः मसूरिका(खसरा) का संदेह होने पर यह अवश्य देखे जाने चाहिये।

रोगी की जिह्वा पर मैल जमा होता है। बच्चा देखने पर बहुत दयनीय लगता है। प्रकाश मे आंखें कठिनाई से खोल पाता है।

पिडिका निकलने के पश्चात् लक्षण—प्रारंभिक लक्षण प्रारंभ होने पर प्रायः तीन दिन पश्चात् या कभी कभी ४ दिन पश्चात् पिडिकायें निकलती हैं। प्रारंभ में पिडिकायें कान के पीछे, शङ्ख प्रदेश, गर्दन तथा सामने मस्तिष्क पर बालो के पास निकलती है। कुछ घण्टों मे पिडिकायें पूरे चेहरे पर निकल आती हैं। (देखे चित्र ६७) तथा २४ घंटे के अन्दर यह पिडिकायें सम्पूर्ण शरीर पर निकल आती हैं। (देखें चित्र नम्बर ६८) सर्वाधिक पिडिकायें बच्चे की छाती पर दिखाई देती हैं। यह पिडिकायें प्रारंभ मे एक लाल सा धब्बा जैसा होता है तथा थोड़ी देर मे ही यह धब्बे ददोरों का रूप धारण कर लेते हैं। ददोरों वाली त्वचा को यदि उंगली से दबाया जाय तो त्वचा की लालिमा गायब हो जाती है तथा दो ददोरों के बीच सफेदी आ जाती है। लेकिन दबाव हटाने पर फिर पहले जैसा ही रंग आ जाता है। ऊपर हमने जो कापलिक के स्पोट्स बताये हैं वह शरीर पर पिडिकाओं की निकासी के साथ साथ समाप्त होजाते हैं।



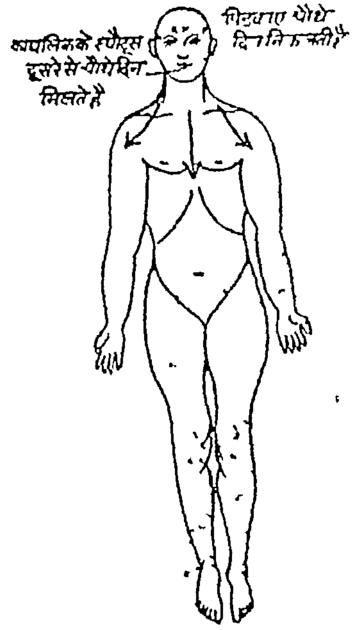
चित्र नं० ६७—खसरा

पिडिकाएं निकलने के १८ घंटे पश्चात् का चित्र

पिडिका निकलने के २ से ५ दिन के अन्दर अन्दर पिडिकायें गायब होनी प्रारंभ हो जाती हैं। जिस स्थान पर पिडका सबसे पहले निकलती है उस स्थान की पिडिकायें सबसे पहले गायब होती हैं तथा देर से निकलने वाले स्थान की पिडिकायें बाद मे गायब होती हैं। पिडिकायें समाप्त हो चुकने पर भी त्वचा में कुछ लालिमा रह जाती है। जब पिडिकायें गायब होना प्रारंभ होती है तो देह से बहुत हल्के हल्के पर्त से झरते हैं।

पिडिकायें निकलने के साथ साथ रोगी के तापक्रम में १ या २ डिग्री की वृद्धि होती है तथा





चित्र नं० ६८
खसरा में पिडिकाओं की स्थिति

यह वृद्धि दो या तीन दिन तक रहती है। रोगी के पिडिका निकलने के बाद २ या ३ दिन सब से अधिक तकलीफ रहती है। पिडिका समाप्त होना प्रारंभ होने पर रोगी का तापक्रम एकदम कम होजाता है। यह तापक्रम प्रायः प्रारंभिक लक्षण प्रारंभ होने के छठे, सातवें या आठवें दिन कम होता है तथा साथ ही रोगी के अन्य लक्षण (तकलीफ) भी कम हो जाते है।

खसरा के प्रकार–

(१) साधारण—इसमे लक्षण बहुत अल्प होते हैं। कभी कभी टीका लगवाने के पश्चात् भी खसरा हो जाता है। ऐसी मसूरिका (खसरा) मे लक्षण अल्प होते हैं। तीन माह से कम के बच्चों को खसरा नहीं होता है तथा ४ माह से कम के बच्चो को खसरा होने पर उसमे अल्प लक्षण होते हैं। इस साधारण प्रकार मे तापक्रम की वृद्धि २४ घंटे से अधिक के लिये नहीं होती है, कापिलिक के स्पोट्स नहीं मिलते हैं, पिडिकायें थोड़ी दूर दूर तथा कम लालिमायुक्त निकलती हैं। इस प्रकार में उपद्रव भी नहीं होते हैं।

(२) तीव्र प्रकार—सौभाग्यवश यह प्रकार कम ही मिलता है। यह बहुत घातक होता है। प्रत्येक लक्षण इस प्रकार में अपनी तीव्रावस्था में पाया जाता है। पिडिकाओं में रक्तस्राव होजाता है। इस प्रकार की मसूरिका (खसरा) से ग्रसित बच्चे की प्रायः मृत्यु हो जाती है। पिडिकायें प्रायः कम निकलती हैं लेकिन विषमयता बहुत अधिक होती है।

(३) फुफ्फुसीय प्रकार—प्रथम बच्चे को वात श्लैष्मिक ज्वर (*Pneumonia*) होता है तथा ज्वर के मध्यकाल मे इसका भी संक्रमण पहुंच जाने पर बाद में खसरा हो जाता है। खसरा का यह प्रकार प्रथम प्रकार की अपेक्षा अधिक, तथा द्वितीय प्रकार की अपेक्षा कम घातक है।

उपद्रव–

(१) खसरा के रोगी को सर्वाधिक होने वाला उपद्रव वात-श्लेष्म ज्वर है। (२) स्वर-यंत्र शोथ, तथा बहुत कम अवस्थाओं मे स्वर यत्र का आक्षेप (*Laryngitis or Laryngismus*) या स्वर यन्त्र रोहिणी (*Laryngeal diphtheria*) (३) तीव्र मध्य-कर्ण शोथ (*Acute Otitis Media*) (४) नेत्राभिष्यन्द, कनीनिका पर व्रण या उसमें छिद्र हो जाना (*Corneal ulcer or perforation*) (५) तीव्र आन्त्रशोथ (६) मस्तिष्क-शोथ (*Encephalitis*)—यह प्रायः मसूरिका का ज्वर उतर जाने के पश्चात् होता है। बच्चे को यकायक आक्षेप आने लगते हैं।

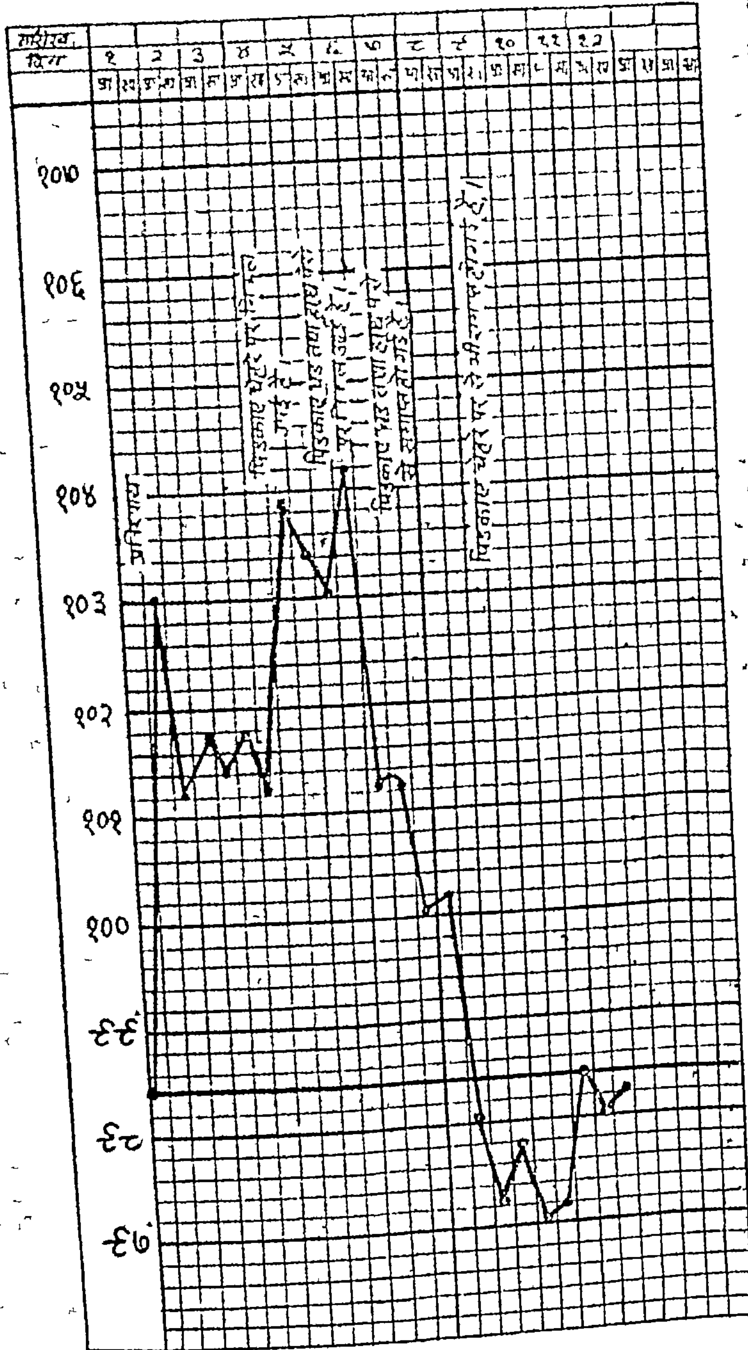
आयुर्वेद में निम्न उपद्रव बताये हैं—

मसूरिकान्ते शोथ स्यात् कूर्परे मणिबन्धके।
तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः॥

चिकित्सा–

(१) प्रतिषेधात्मक—५ वर्ष से कम उम्र के तथा कमजोर बच्चों मे विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। रोगी बच्चे को पिड़कायें निकलने के दिन से चौदहवें दिन तक अन्य बच्चों में विशेषतः ५ वर्ष से कम उम्र के बच्चों में नहीं मिलने देना चाहिए।

कनवेलसैन्ट सीरम (*Convalescent serum*)–यह ५ सी. सी. की मात्रा मे ५ वर्ष तक के बच्चे को मांसान्तर्गत (*intramuscular*)



चित्र नं० ६६
खसरा का तापमान चार्ट

लघु मसूरिका के फैलने पर प्रतिरोध के लिये दिया जाता है।

(२) औषधि चिकित्सा–रोगी को चारपाई में आराम करना चाहिए तथा ज्वर उतरने के दो दिन पश्चात् तक उसे चारपाई मे ही रहना चाहिए। कमरे का तापक्रम ६० से ६५ डिग्री रहना चाहिए। रोगी का मुंह उधर की ओर नहीं रखना चाहिए जिधर से प्रकाश आ रहा हो। क्योंकि इससे रोगी को चकाचौंध सा रहता है तथा उसे विशेष परेशानी महसूस होती है। जिस कमरे में रोगी रहे उसमें वायु खूब आनी जानी चाहिये,लेकिन रोगी के शरीर पर सीधी वायु न लगे। यदि रोगी को उपद्रवस्वरूप वातश्लेष्म ज्वर हो गया हो तो कमरे के वायु मण्डल में कुछ नमी रहनी चाहिये और इसके लिए अंगीठी पर पानी को उबलता रहने दें। यदि रोगी को ज्वर अधिक हो अथवा उसे बेचैनी अधिक हो तो दिन में एक या दो बार उसका शरीर गीले तौलिये से पोंछवा दें। यदि पिडिकायें ठीक प्रकार से न निकली हो तो रोगी के शरीर पर रबड़ की गरम पानी की थैली में गरम पानी भर कर सेक करना चाहिए। आंखों को बोरिक एसिड के घोल से दिन में ३-४ बार धोकर पलकों में अन्दर वैसलीन लगा देनी चाहिए।

रोगी की अवस्थानुसार सल्फाडाइजीन का प्रयोग करें। प्रोकेन पैन्सलीन का ४ लाख यूनिट का मासान्तर्गत सूचीवेध प्रतिदिन एक बार तथा यदि आवश्यकता समझें तो दो बार करे। तीव्र मध्य-कर्ण शोथ उत्पन्न होने से रोकने के लिये या उत्पन्न होने पर कान में पैन्सलीन घोल (१ सी.सी. में १००० यूनिट) बूंदें प्रति ४ घंटे बाद डाले, यदि तीव्र मस्तिष्क शोथ हो गया हो तो कटि वेधन (*Lumber Puncture*) करना चाहिए।

रोगी को चाहिए कि वह ऊंचे, प्रशस्त तथा शुष्क गृह मे रहे और भारी एवं गरम वस्त्रों को पहिने। शीतल वायु, शीतल जल, आग सेकना, आतप सेवन, मैथुन, दिन मे सोना, अधिक चलना फिरना, रात्रि जागरण–इनका त्याग करना चाहिए।



खदिर काष्ठ, त्रिफला, नीम की छाल, पटोल पत्र, गिलोय, अड़ूसाछाल—इनका क्वाथ रोमान्तिका, मसूरिका, कुष्ठ, विसर्प तथा कण्डू आदि को नष्ट करता है। इसे "खदिराष्टक" कहते हैं।

ऊषणा चूर्ण (भै. र.) १ माशा की मात्रा मे उष्ण जल से प्रात. साय सेवन कराये। इसके सेवन से विस्फोट, लोहित ज्वर, रोमांतिका, खसरा तथा जीर्णज्वर नष्ट होता है।

सर्वतोभद्र रस, दुर्लभ रस या इन्द्रकला वटिका इनमे से किसी एक को १ रत्ती प्रातःसायं शहद मे चटाये। छोटे बच्चे को कम मात्रा दें। सजीवनी वटी, लक्ष्मीविलास रस, महालक्ष्मीविलास रस लघुमालती वसन्त यह योग भी मसूरिका में उत्तम कार्य करते हैं।

पथ्य—पुराने साठी गेहूं शालि चावल, मूंग, मसूर, जौं, परवल, करेला, पुनर्नवा, केला, अंगूर अनार पथ्य हैं।

अपथ्य–मैथुन, स्वेदन, परिश्रम, तैल से बने पदार्थ, भारी भोजन, मटर, आलू, नमक, पत्र शाक।

—श्री दाऊदयाल गर्ग A., M. B.S.
सह–सम्पादक धन्वन्तरि,
विजयगढ़ (अलीगढ़)

टीका लगाना (Vaccination)

श्री खूबचन्द मिश्र वैद्यशास्त्री

संसार के प्राणी वर्ग में चेचक (*Small pox*) से प्रतिवर्ष असंख्य जीवधारी आक्रान्त होते हैं और २५ प्रतिशत मृत्यु के मुहं में पड़ जाते है। यह रोग बड़े मनुष्यों की अपेक्षा बालकों को अधिक होता है अतः शिशुरोगांक मे इसका विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह रोग हमेशा अधिकतर बसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र बैसाख से विशेष फैलता है अतः इसे बसन्त रोग भी कह सकते हैं और प्रति ५ वर्ष मे इसका संक्रमण होता है। जब यह रोग फैलता हैं तब गाव एव जनपद सभी जगह उग्र रूप धारण करके हाहाकार मचा देता है।

यह एक छूत से फैलने वाला रोग है जो इस रोग से पीड़ित बच्चे के सम्पर्क में आता है उसको यह होकर ही रहता है किन्तु एक बार निकलने पर यह फिर दोबारा कभी भी किसी को नहीं होता है। इस संक्रामक व्याधि से बचने के लिये आयुर्वेदीय ग्रन्थ सुश्रुत आदि मे कई विधियो का उल्लेख पाया जाता है। किंतु उन सबसे सुलभ एवं लाभदायक विधि चेचक का टीका लगवाना परमोत्तम है। जोकि हमारी विशुद्ध भारतीय देन है जिसे पाश्चात् और कुछ अविज्ञ लोग पश्चिम की देन मानते हैं।

वस्तुतः टीका लगाने की विधि शताब्दियों पूर्व भारत मे प्रचलित थी और भारतीयों द्वारा इसका प्रयोग किया जाना देखकर पश्चिमी लोगों ने इस पर अनुसंधान कर अपने देशों मे इसका प्रचार करके तभी से यह प्रत्येक राष्ट्र मे अनिवार्य घोषित किया गया। यह बात श्री डा० मुखर्जी की हिस्ट्री आफ इन्डियन मैडीसन (*History of Indian medicine*) मे जनवरी १९०५ के बृटिश मेडिकल जनरल (*British medical Journal*) के उद्धरण से स्पष्ट जानी जा सकती है जिसका विवरण इस प्रकार से है–

श्री जे० जैड हालवेल एफ० आर० सी० एम० जो उस समय ईस्ट इन्डिया के बंगाल मे गवर्नर थे ने सन् १७६७ मे रायल कालेज आफ फिजिशियन लंदन के सामने भाषण देते हुए कहा था कि भारत मे



भारतीय लोग चेचक (*Small pox*) के आक्रमण से बचने के लिये जिस विधि का उपयोग करते हैं वह इस प्रकार है कि वृन्दावन, काशी, प्रयाग आदि से टीका लगाने ब्राह्मण (वैद्य) लोग भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त मे जाते हैं जब कि मसूरिका (चेचक) की बीमारी महामारी के रूपमें फरबरी मार्च (अर्थात् चैत्र वैसाख दिनो मे जो प्रति पांच या सात वर्ष मे पुनराक्रमण से फैलकर घर घर में हाहाकार मचा देता है। ये लोग वहां वहां जा-जाकर आक्रमण से पहिले टीका लगवाने के इच्छुक व्यक्तियों को संयत आहार विहार रख कर उनको टीका लगाते हैं। इसके विपरीत जब तक लोग इस प्रकार इनके कथनानुसार आचरण यानी आहार बिहार नहीं करते थे लोग उनको टीका नहीं लगाते। इस प्रकार यह टीका लगाने वाले घर घर घूम कर पूंछते थे कि मसूरिका (चेचक) से बचने का टीका (चीरा) लगवाओगे क्या और साथ ही उनका यह भी कहना होता था कि कितने विस्फोट (दाने) निकलवाना चाहते हो एवंविधि उसी के अनुसार टीका लगाते थे।

ये लोग पुरुषों के कोहनी और पहुंचे के बीच भाग पर तथा स्त्रियों के कंधे और कोहनी के बीच बाहु भाग पर टीका लगाया करते थे। टीका लोहे फौलाद की बनी सूचिकाओं द्वारा १५-१६ छोटी छोटी रेखायें खुरचते थे और उस खुरचे हुए स्थान पर एक वर्ष पहिले के बीच मसूरिका पूय से मिश्रित चिथड़े को लगभग ६ घन्टे तक रख छोड़ते थे और फिर उसे गगा जल से भिगो दिया करते थे। इसके पूर्व गगा जल डालने से पहिले व्रण स्थान को मलते थे। इस क्रिया से कुछ कालोपरांत ज्वर उत्पन्न हो जाता था और फिर विस्फोटक (दाने) निकल आते थे। इन पर से खुरंट उतरते थे तब तक रोगी पर शीतल जल डालते रहते थे। इसके साथ १ मास तक संयत आहार पर रखते थे। विस्फोटकों के शिखिर को नुकीले कांटे जैसे शस्त्र से खोलते थे। रोगी को कमरे के बाहर सहन मे खुली हवा में रखते थे। ज्वर प्रायः साधारण होता था जिसमें किसी विशेष उपचार की आवश्यता नहीं रहती। इस प्रकार एसे टीके लगाने से ५० से कम और २०० से अधिक दाने नहीं निकलते थे और यह क्रिया कभी असफल नहीं होती थी।

हालवेल के इस भाषण से स्पष्ट है कि टीके का प्रचलन भारत द्वारा पश्चिमी लोगों ने प्राप्त किया। इसका और भी प्रमाण हमारे प्राचीन ग्रन्थों मे पाया जाता है जो कि बिलकुल आज के वक्सीनेशन जैसा ही है यथा—

धेनुस्तस्यमसूरीवा नराणांच मसूरिका।
शस्त्रे णोत्कृत्यपूयं तत् बाहुमूले विचारयेत्॥
तत्पूयंरक्त मिलितं स्फोटक ज्वर सम्भवम्।

—धन्वन्तरि शाक्तेय (शब्दकल्पद्रुम)

अर्थात् गाय की मसूरिका (विस्फोटक) अथवा मनुष्य की मसूरिका से शस्त्र द्वारा पूय लेकर अन्योन्य व्यक्तियों के बाहुमूल में खुरच पैदा कर रक्त में प्रविष्ट किया जावे जिससे ज्वरपूर्वक विस्फोट उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार मसूरिका निकलने का भय नहीं रहता।

टीका के निर्माण की विधि—

गोमसूरिका अर्थात् चेचक का टीका जिसे (*Vaccina Cowpox*) कहते हैं जो मनुष्य की तरह पशुओं में भी होती है और जिसे गोमसूरिका कहा करते हैं तथा इसका जीवाणु भी मनुष्य मसूरिका की जाति का ही होता है। अथवा किसी किसी के मत से मनुष्य मसूरिका का जीवाणु गौ आदि पशु मे जाकर मृदु हो जाता है और गौ मसूरिका उत्पन्न कर देता है। अतः गाय, भैंस तथा गर्दभ आदि पशुओं के नाभि स्थान के पास शस्त्र से खुरच बनाकर तत्स्थान पर निकले हुए रुधिर मे मसूरिका तरल का सूचिकाभरण कर दिया जाता है जिससे गौशीतला उत्पन्न होकर उसमें तरलमय पिडिकायें बन जाती हैं जिनको छीलकर उनसे निकले हुए तरल अर्थात् जीवाणु से भरी हुई लसीका को शुद्ध पात्र मे ले लिया जाता



है। फिर उसे पूयोत्पादक अन्य कीटाणुओं से बचाकर कार्बोलिक ग्लेसरीन मे मिलाकर छोटी छोटी शीशियों मे भर कर रख लेते हैं जिसे आधुनिक युग मे लिम्फ (Lymph) नाम से पुकारा जाता है। जिसे सुरक्षा के हेतु बर्फ आदि मे रखकर उपयोग मे लाया जाता है।

टीका लगाने की विधि -

चेचक के संक्रमण से बचने के लिये यथा संभव ३ मास की आयु से १ साल तक के बच्चे को टीका लगवाना विशेष उपयोगी है जिससे मसूरिका का भय नहीं रहता। इसके उपरांत ११ वें तथा १६ वें वर्ष मे पुन. दूसरी बार टीका लगवाना नितान्त आवश्यक है।

जिसके टीका लगाना होता है उसके बाहुमूल के स्थान को प्रथम साबुन से धोकर साफ कर लेना चाहिए। पश्चात् स्प्रिट लगाकर कुन्द चाकू अथवा सूचिका पुंज द्वारा २ या ३ जगह पर त्वचा को खुरचकर स्पेचुला से लिम्फ को लगाकर रक्त में मिला दिया जाता है जिससे ५ दिन मे उस स्थान पर पिडिकायें निकल आती हैं जोकि मसूरिका की तरह तरलयुक्त विस्फोट बन जाते हैं और १० या १२ दिन मे मुरझा कर खुरट बन जाते है। इस अवधि में २–३ दिन के लिये ज्वर भी हो जाया करता है। इसमे विशेष सावधानी इन विस्फोट के तरल पूय की देह में अन्योन्य भाग पर लगने से रखनी चाहिए। कारण कि यह पूय तरल जहा जहां लगेगा वहीं वहीं पर विस्फोट उत्पन्न हो जाया करते है। इस अवस्था मे इनके ऊपर जस्ते का फूल (Zinc powders) मक्खन मे मिलाकर रखने से आश्चर्यजनक लाभ होता है।

टीका लगाने से लाभ-

मसूरिका और गौ मसूरिका का विष एक है अतः गौमसूरिका को उत्पन्न करके मसूरिका को रोकने के लिये प्रतिविष उत्पन्न कीटाणुओं को सूक्ष्म बनाया जाता है जिससे शीतला निरोधक शक्ति उत्पन्न होकर चेचक निकलने का भय जाता रहता है।

यदि शीतला का संक्रमण होने के अर्थात कीटाणुओं के प्रवेश के ४ दिन पीछे तक भी टीका लगा दिया जाय तो भी शीतला से रक्षा हो जाती है। क्योंकि इसका परिपाककाल १२ दिन तक होता है अत. ४ दिन के अन्दर अन्दर टीका लग दिये जाने से शीतला निकलने से पूर्व ही उसके विष को उदासीन करने के लिये प्रतिविष उत्पन्न हो जाता है जिससे विस्फोट (दाने) थोडे निकलते है तथा विशेष कष्ट भी नहीं होने पाता है। अत टीका लगाना सर्वथा निरापद एवं हानिरहित है। इसके द्वारा कभी भी किसी प्रकार का भय करना नितान्त भूल है। यह विधि विशुद्ध भारतीय और आयुर्वेद सम्मत है। जो लोग इसे पाश्चात्य एलोपैथिक की देन समझते हैं उनकी यह निरी भूल है।

—श्री खूबचन्द मिश्र वैद्यशास्त्री
कुण्डपुरा (मुरैना) म. प्र.

एक स्वानुभूत प्रयोग

नीम का बान्दा घिस कर देह मे लेप करें। कुछ थोड़ा पिला देवें तथा धुवा भी कर देवे। एकदम घबड़ाया हुआ रोगी कुछ घण्टों में ही शांति अनुभव करने लगता है। ग्रामीण गुरुजनों का कथन है कि इसको अग्नि मे जलाकर घर के प्रत्येक कमरे के कोने मे धुवां देकर बाहर फेक दें और इसकी छोटी सी लकड़ी घर के मूल दरवाजे में खोंस देवें तो घर मे रहा भयंकर जिद्दी भूत भाग जाता है, पुन. मकान में प्रवेश नहीं कर पाता।

माता के समय इसकी लकडी चन्दन के समान घिसकर पिलाते रहने से माता की निकासी रुक जाती है।

—श्री रामफल मिश्र आयुर्वेद विशारद
खलारी भीमखोल (रायपुर)

शीतपित्त [Urticaria]

श्री ज्ञानचन्द्र जैन *A. M. B. S., H. P. A. (Jam.)*

बाल्यावस्था का जीवन उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द होने के कारण बालक निश्चित रूप से मनोनुकूल आहार विहारादि करते हुए अपने को आनन्दमय बनाये रखता है। इस अवस्था में बालक के शरीरांगावयव भी मृदु ही रहते हैं और इसी कारण उस पर जलवायु एवं ऋतु परिवर्तन का प्रभाव भी मनुष्य की अपेक्षा शीघ्र हो जाता है। जीवन के इस शैशव काल में माता पिता का स्नेह भी उसे पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। इस कारण बालक के मिथ्याहारविहार करने पर भी स्नेहवशात् उस पर नियन्त्रण नहीं किया जाता है। अतएव बालकों को होने वाली व्याधियों में प्रकृति परिवर्तनजन्य शीत एवं उष्णता से मिश्रित रूप में उत्पन्न होने वाला रोग पित्ती उछलना सर्वसाधारण रूप में पाया जाता है। इसकी शास्त्रीय संज्ञा शीतपित्त है। व्याधि के विषय में विचार करते समय व्याधि क्षेत्र किंवा बालक को समझ लेना परमावश्यक है।

शिशु शास्त्र के आचार्य महर्षि जीवक ने अपने तन्त्र 'काश्यपसंहिता' में आयु को यौवन, मध्यम एवं वृद्ध इन तीन अवस्थाओं में विभक्त करते हुये यौवनावस्था को ३४ साल तक सीमित किया है।[1] पुनः यौवनावस्था में भी १६ वर्ष तक की अवस्था को बाल्यावस्था की संज्ञा प्रदान की है। हमारे विचारणीय क्षेत्र बालक की बाल्यावस्था की भी आचार्य जी ने विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है—

बाल्यावस्था को गर्भ, बाल तथा कुमार इन तीन भागों में विभक्त किया गया है[2]—

गर्भावस्था—इस विषय में स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।

बाल अवस्था—एक वर्ष तक अथवा जब तक शिशु केवल दुग्धाहार पर जीवन यापन करता है उसे क्षीरप अथवा बाल कहते हैं।[1]

कुमारावस्था—इसके बाद अन्न सेवन प्रारंभ करने के समय से लेकर १६ साल तक की अवस्था कुमारावस्था कहलाती है।[2]

लगभग इसी तरह का विवरण सुश्रुत[3] एवं चरक[4] से भी प्राप्त होता है।

रोग प्राप्ति—

व्याधि की संम्प्राप्ति के विषय में बृहत्त्रयी (चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट) में विवरण प्राप्त नहीं होता। लघुत्रयी में दृष्टिपात करने पर भावप्रकाश एवं माधवनिदान में उल्लेख मिलता है। माधवकर जी निम्न विवरण देते हैं—

शीतल वायु के स्पर्श से कफ और वायु प्रकुपित होकर (अपने हेतु से) पित्त के साथ मिलकर त्वचा तथा आंतरिक रक्तादि धातुओं में फैलकर शीतपित्त उत्पन्न करते हैं।[5]

उक्त विवरण को सरलता से समझने के लिए

---

१ वयस्त्रिविधा . . . । वर्धमानैश्चतुस्त्रिशद्युवा वर्षाण्युदर्कत ॥ —का० स० खिलस्थान अ० ६/७१

२ गर्भबालकुमाराख्यमित्येतत्त्रिविध वय । —का० स० खिलस्थान अ० ६/७२

---

१ वर्षावर क्षीरंप स्याद्यावत् पिबति . वा पय. । वयस्तद्बालम् . . . ॥ —का० स० खिलस्थान अ० ६/७३

२ . . . अस्माच्च यावत् षोडशवार्षिक । अन्नाद. सर्व एव स्यात् कौमारे वयसि स्थित. ॥ —का० स० खिलस्थान अ० ६/७४

३ वयस्तु त्रिविध . . . परतो अन्नाद इति । —सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५

४ चरक सहिता विमान स्थान अ० ८/१२४

५ शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ । पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥ —मा० नि० ५०–१



हम इसे व्याधि उत्पन्न होने के लिये आवश्यक ७ मूल भूत वस्तुओं एवं ६ अवस्थाओं मे विभक्त करेंगे—

आवश्यक मूलभूत वस्तुये

१. उद्भव—नाभि, २. संचार—रसायनी, ३. स्रोत—रक्तवह, ४. अधिष्ठान—त्वक्, ५. दोष—पाचकपित्त, क्लेदक कफ, समानवायु, ६. दूष्य—रस, रक्त, ७. सम्मूर्च्छना जनित द्रव्य—आम।

अवस्थायें

१. संचय, २. प्रकोप, ३. प्रसर, ४. स्थान-संश्रय, ५. व्यक्ति और ६. भेद।

(१) संचय—मिथ्याहार विहार रूप पित्तवर्धक द्रव्यों के सेवन से अग्निमांद्य हुआ। अग्निमांद्य के कारण आमोत्पत्ति हुई। मिथ्याहार विहार पित्तल होने से पित्त कुपित हुआ और यही पित्त आगन्तुक दोष हुआ। इसके साथ अग्निमांद्यजनित आम का सम्मिश्रण हो जाने से इसकी संज्ञा सामदोष हो गई। अग्निमांद्य के कारण आमाशय मे स्रोतो वैगुण्य हो जाने से आमदोष यहा संचित हो गया। संचय के साथ ही यहीं पर प्रकोपावस्था का भी उद्भव हुआ।

(२) प्रकोप—पूर्व कथनानुसार इस अवस्था का उद्भव भी आमाशयस्थल है। चूंकि यह नाभि प्रदेश में आने से उद्भवस्थान नाभि माना गया है।

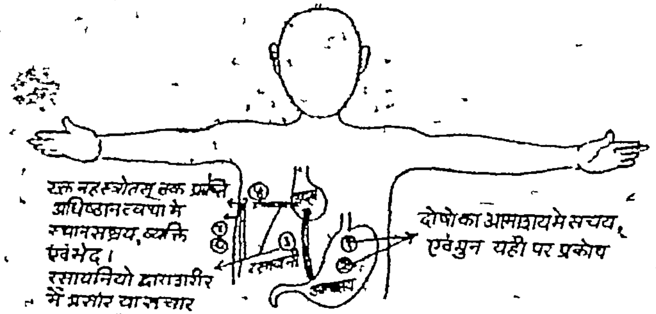
(३) प्रसर—कुपित हुए सामदोष ने शरीर मे रसायनियों द्वारा प्रसार करना प्रारम्भ किया और प्रसरित होते हुए रक्तवहस्रोतों तक पहुंचे।

(४) स्थान संश्रय—प्रसरित होते हुए दोषों ने शरीर में अवयव वैगुण्य के स्थान पर निवास अथवा स्थान संश्रय किया। अवयव वैगुण्य त्वचा मे होता है तथा यही रोगाधिष्ठान भी है।

(५) व्यक्ति—अवयव वैगुण्य (त्वचा) गत स्थान पर आगन्तुक दोष स्थानिक दोष एवं दूष्य से सम्मूर्च्छित होकर व्याधि को व्यक्त करते हैं। प्रथमतः त्वचाश्रित स्थानीय सूक्ष्म रक्तकेशिकाओं का विस्तार होता है। पुनः नाड़ी प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा त्वचा संबद्ध रक्तवाहनियों का भी विस्तार होकर उनकी भित्तियो की प्रवेश क्षमता में वृद्धि होकर रक्त रस की वृद्धि द्वारा त्वचा मे वरटीदंष्ट (ततैया काटने) सदृश शोथ उत्पन्न हो जाता है।[1]

लक्षण—

व्याधि असह्यनीय कंडूयुक्त मंडलों द्वारा पहिचानी जाती है। इसमें शोथ के साथ खुजली, वमन, ज्वर तथा विदाह के लक्षण परिलक्षित होते हैं।[2] ये मण्डल गोल अथवा अन्डाकार तथा वायु की अधिकता के कारण शुष्क होते हैं, त्वचा को खरोंचने पर केन्द्र में श्वेत हो जाते है तथा कुछ घंटे रहते है[3]।



चित्र नं० १००
शीतपित्त की सम्प्राप्ति

(६) भेद—स्थानिक दोष की प्रधानतावश उसी

---

¹ Local and direct dilatation of minute skin vessels, dilataion of the larger vessels by nervous reflex with flushing of the adjacent skin, local increased permeability of the vessel walls, leading to exudation of serum.

—Savil's System of clinical Medicine

२—वरटीदष्ट सस्थानः शोथ. संजायते बहि।
सकंडूतोद बहुलश्छर्दिज्वर विदाहवान्॥
वाताधिकतम विद्याच्छीतपित्तमिमं भिषक॥
भा. प्र. म खं चि. ५४-३

³ Urticaria is a generalised eruption which consists of firm round or oval, pink



के लक्षण व्याधि मे मिलेगे। चूंकि शीतपित्त मे वायु प्रधान होने से इसका शोथ रूक्ष एवं चुभनयुक्त होता है और कफ प्रधान होने से उदर्द मे खुजली व वमन के लक्षण प्राप्त होते है।[1] यही विशिष्ट संप्राप्ति के द्योतक है। इससे पूर्व की अवस्था सामान्य संप्राप्ति के अन्तर्गत समाविष्ट होती है।

चूंकि शीतपित्त त्रिदोषजन्य होता है अतः इसमें आमाशयस्थ उद्भव के कारण पाचकपित्त, क्लेदक कफ, समान वायु ये दोष तथा रस और रक्त ये दो दूष्य कार्य करते हैं। यहीं पर आयुर्वेदोक्त अंशांश कल्पना का संकेत मिलता है।

प्रकार–

(१) तीव्र—यह कुछ घण्टों अथवा दिवस तक रहता है।

(२) तीव्र—इसका आक्रमण पुनः पुनः होता रहता है।

(३) कोठ एवं उत्कोठ—रक्त वर्ण के कण्डूयुक्त अनेक चकत्ते त्वचा पर पड़ जाते हैं। यह अधरत्वक् धातु तक विस्तार करते हैं। यदि जिह्वा अथवा स्वरयंत्र पर उत्पन्न हो जांय तो जीवन अरक्षित हो जाता है। अर्वाचीन भाषा में इसे *Angioneurotic Oedema* या *Giant urticaria* कहते हैं।[2] यही स्थिति बार बार उत्पन्न होती रहे तो उत्कोठ संज्ञा मे परिवर्तित हो जाता है।[1]

(४) शिशुओ को होने वाली स्थिति इस प्रकार है—

Lichen urticatus or papular urticaria affects infants and young children. Red transient blotches appear with a central papule, very itchy, which lasts several days. Occasionally it has a vesicle or a bulla on the top (bullous urticaria).

—Savils System of Clinical Medicine

(P. 737)

चिकित्सा–

संप्राप्ति के वर्णन से ज्ञात होता है कि शीतपित्त में त्रिदोषजन्यत्व रहता है। अतएव कफ पित्त एवं वात तीनों का शमन चिकित्सा का उद्देश्य होना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से भावप्रकाशकार श्री भावमिश्र ने चिकित्सा का विधान किया है।[2]

पंचकर्म—वमन विरेचन प्रशस्त हैं।

१. वमन—शीतपित्त की शांति के लिये पटोल, अरिष्टक एवं वासा द्वारा वमन कराना चाहिए। मदनफलयोग ½ से आधा तोला श्रेष्ठ है।

२. पित्तशमन हेतु स्नेहन व स्वेद—त्रिफला व

---

swellings, white in Centre when scratched.

—Savil's System of clinical Medicine
Page 787 (1952)

१—वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिक.।

—मा० नि० ५०।४

२ Angioneurotic oedema or Giant urticaria has very large swellings involving the loose subcutaneous tissue Each lesion may last a few hours or days There may be danger to life, especially when the mucous membrane of the tongue or larynx is involved.

—Savil's System of Clinical Medicine
Ed 1952 (Page 787.)

१ मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनिच।
उत्कोठ. सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते॥

—मा. नि. ५०।६

२. शीतपित्ते तुवमनं पटोलारिष्ट वासकैः।
त्रिफलायुवकृष्णाभिर्विरेकश्च प्रशस्यते॥
अभ्यग. कटुतैलेन सेकश्चोष्णेन वारिणा।
त्रिफला क्षौद्रसंयुक्तं खादेश्च नवकार्षिकम्॥
नवकार्षिको यथा–

त्रिफलायुटकृष्णानां त्रिपल्चैकाशयोजिता।
गुटिका शीतपित्तार्शो भगन्दरवतांहिता॥
आर्द्रकस्य रस पेयः पुराणगुडसंयुत.।
शीतपित्तापहः श्रेष्ठो वलिमांद्यविनाशन॥
भावप्रकाशमध्यमखण्ड चिकित्सा प्रकरण
शीतपित्तोदर्द कोठ —८।४४



पिप्पली द्वारा विरेचन प्रशस्त है। विरेचन कषाय उत्तम है।

३. कटु (सर्षप) तेल का अभ्यंग करके उष्ण जल से सेक करना चाहिए।

४. नवकार्षिक का सेवन त्रिफला एवं मधु के साथ करना चाहिए।

५. आर्द्रक का रस पुराने गुड़ के साथ पीना चाहिये। यह शीतपित्तनाशक श्रेष्ठ योग है।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त शास्त्रीय योगों का निर्देश यह है-

[१] हरिद्राखण्ड-आधा तोला मात्रा, अनुपान उष्ण जल। एक सप्ताह तक प्रातः सायं सेवन करें।

[२] बृहद्धरिद्रा खण्ड-आधा तोला उष्ण जल से।

[३] आर्द्रक खण्ड का सेवन उपयुक्त है।

[४] शीतपित्त भंजन रस—२ रत्ती गुड के साथ दें।

इस औषधि के सेवनकाल के समय शीतल जल स्नान, वायु सेवन, जागरण एवं विदाही अन्न का प्रयोग निषिद्ध है।

[५] विश्वेश्वर रस— मात्रा १ माशे मधु से।

[६] श्लेष्मपित्तांतकोरस—मात्रा, १ माशे शक्कर तथा शहद के अनुपान से।

उपर्युक्त योगों का पाठ भैषज्य रत्नावली में उदर्दशीतपित्त कोठ चिकित्सा प्रकरण में है।

अर्वाचीन मतानुयायी शीतपित्त या urticaria में विशेष हेतु अनूर्जता (Allergy) को मानते हैं और उनके विज्ञान के अनुसार अनूर्जताजन्य प्रतिक्रिया से देह हिस्टामिन (Histamine) नामक द्रव्य प्रसरित होकर शीतपित्त उत्पन्न करता है। अतएव अर्वाचीन चिकित्सक प्रायः हिस्टामिन विरोधी औषधियां [Antihistaminic drugs] उपयोग में लेते हैं। यथा—[1]

(१) Benadryl Capsules 50 mg. दिन में ३ बार। इसके साथ ही Lertigon का सूचीवेध भी देना चाहिए।

(२) Antistin tablets or Injections.

(३) Anthisan.

(४) Phenergan.

परंतु इन औषधियों के सतत प्रयोग करने पर इनका प्रभाव कम हो जाता है और नवीन लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। अतः इनको रोकने के लिये Ephedrine, Caffeine या Benzedrine का प्रयोग करना चाहिये।

प्रयोग—१ औंस जल में ५ से १० बिंदु Adrenaline डालकर वाष्प सेवन से लाभ होता है। अथवा Ephedrine $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ gr पेशीगत सूचीवेध भी लाभप्रद सिद्ध होता है।

बाह्य प्रयोग में Soda bi Carb. मलने पर पर्याप्त लाभ होता है।

स्वानुभूत—

प्रबाल पंचामृत, स्वर्णमाक्षिक, लौहभस्म, सूतशेखर रस का योग वय के अनुसार निर्माण कर दिवस में ३ बार मधु के साथ सेवन करना चाहिए। यद्यपि यह योग शास्त्र में नहीं मिलता, परंतु युक्ति योजना द्वारा व्यवहारिक रूप में शारीरिक बल एवं क्षमता वृद्धि हेतु उत्तम कार्य करता है और लाभदायक प्रतीत हुआ है।

अभ्यङ्ग योग—

कायफल, गेरू, सोंठ, अजवायन, बच, मेंथी

[1] Benadryl (50 mg T D S followed by a course of injections of Lertigon), Antistin, Anthisan and Phenergan After a time these drugs becomes less effective When side reactions follow, give small doses of Ephedrine, Caffine or Benzedrine Urticaria can be aborted by 5 to 10 drops of adrenaline in one ounce water, or Ephedrine gr 1/3 to 1/2 twice daily

—Savil's System of Clinical Medicine Page 789.

इन द्रव्यों को समान मात्रा लेकर कूट पीसकर चूर्ण बनाकर तिल तैल में पाक करना चाहिए। इससे स्वेदागमन होकर रोगी को तत्काल शान्ति का अनुभव होता है। अभ्यङ्गकाल में वात स्पर्श सर्वदा निषिद्ध है। रोगी को कम्बल से ढककर बन्द कमरे में ही अभ्यङ्ग करना चाहिए। स्वेदागमन होने पर तत्काल तौलिया से पसीना पोंछ देना चाहिये। इस प्रकार पसीना आते रहने तक पोंछते जाय। जब पसीना आना बन्द हो जाय तब रोगी के कपड़े बदल देना चाहिये। यह अभ्यङ्ग दिवस में दो बार प्रात एवं सायंकाल करना चाहिए।

यह अभ्यङ्ग छोटी आयु के शिशु को असह्य होगा। अतः उन्हे सर्षप तैल में पिपरमेंट डालकर अभ्यङ्ग करने से ही यथोचित लाभ होगा।

उपर्युक्त चिकित्सा के साथ ही यदि अत्यन्त शीघ्र लाभ प्राप्त करने की आकांक्षा हो तो Adreno-ephedrine ½ gr. का पेशीगत सूचीवेध देना चाहिए।

—श्री ज्ञानचन्द्र जैन A., M. B. S.
H. P.A. (Jam.), अनुसंधान विभाग
शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय,
ग्वालियर (म० प्र०)

शीतपित्त

कविराज श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री एम. ए. वैद्यवाचस्पति

परिभाषा–

साधारण भाषा में इस रोग को पित्ती उछलना कहा जाता है। शास्त्रीय संज्ञा 'शीतपित्त' है। इस रोग मे प्रथम तीव्र खाज (कंडू) होती है। वह लाल, या पीत या भूरे (कपिल) वर्ण का गोल या अण्डाकार शोथ उत्पन्न हो जाता है जो दबाने पर कठोर प्रतीत होता है। यह कभी कभी गांठदार भी हो जाता है। कभी कभी शोथ या चकत्ते, पित्ती या गाठों का अभाव भी पाया जाता है। किन्तु सुई पिन तिनका या नाखून से खुजलाने पर तुरन्त यह उत्सेध उत्पन्न हो जाता है। यह उत्सेध (उठाव, शोथ) इस प्रकार का होता है जैसा कि बर्र (ततैया) के काटने पर हो जाता है। आचार्यों ने इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

वरटी दंष्ट स कास, शोथ संजायते बहिः।
सकण्डूस्तोद बहुलच्छर्दि ज्वर विदाहवान्॥
उदर्दमिति न विद्यात् शीतपित्तमथापरे।
—माधव

यहां पर उदर्द तथा शीतपित्त को एक ही रोग समझ लिया जा सकता है। अतः इस भ्रम के निराकरणार्थ तुरंत ही आचार्यों ने उनका भेद भी बता दिया है—

वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिक. ॥

अर्थात् शीतपित्त में वात की अधिकता होती है जबकि उदर्द में कफ की। इसलिये शीतपित्त जिस तीव्र गति से आता है उसी गति से शान्त भी हो जाता है। इसके पुनः पुनः वेग होते रहते हैं। उदर्द मन्दगति, अधिक शोथ वाला तथा अधिक कठोर होता है। यह प्राय. बचपन मे ही प्रारंभ होता है किन्तु कभी कभी युवावस्था मे भी होता है।

निदान–

शीतमारुत संस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्त विसर्पत ॥
शीतपित्तं तु कुर्वन्ति कण्डूस्तोद वमनात्मकम्॥

वात तथा कफ शीत तथा शीतवायु के स्पर्श से दुष्ट हो जाते हैं और पित्त के साथ मिलकर देह मे स्रोतों मे भ्रमण करते हुए बाहर (त्वचा मे) एवं अन्दर (आन्त्र आमाशयादि की कला में) शीत-

पित्त उत्पन्न कर देते हैं। इसमें कंडू, तोद (सुई चुभने की सी पीड़ा) तथा कभी कभी वमन हो जाता है।

आयुर्वेद ने सूत्र रूप में उक्त निदान कह दिया है। नव्य विज्ञान उसीका भाष्य कर देता है। सम्यक्‌तया समझने के लिये यह भाष्य अत्यन्त आवश्यक है। अतः उसे यहां दिया जाता है। सम्प्राप्ति तथा निदान दोनों का ही समावेश इसमें हो जाता है।

जब किसी भी कारणवश (बाह्य या आन्तरिक) त्वचा को क्षोभ [आघात] पहुंचता है तो वात नाड़ियों तथा रक्त वाहिनियों की प्रतिक्रियास्वरूप शीतपित्त का उत्सेध उत्पन्न हो जाता है।

त्वचा में संक्षोभ उत्पादक कारण बाहर से स्पर्श में तथा अन्दर से भक्षण करने के पश्चात् भी अन्तः विष (Internal toxaemia) के रूप में दोषोत्पादक हेतु बनते हैं। यह कारण रासायनिक पदार्थ उष्णता उत्पादक विद्युत तथा मशीनों के कल पुर्जे; धूल, धूम्र आदि होते हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग (Allergy) के रूप में यह कारण त्वचा को प्रभावित कर निम्न प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न करते हैं—

(१) स्थानीय सूक्ष्म रक्त वाहिनियों का विस्तार।

(२) वातनाड़ियों को प्रभावित कर बड़ी रक्त वाहिनियों को विस्तृत करना तथा आसपास की त्वचा को भी लाल कर देना।

(३) स्थानीय प्रभावित रक्तवाहिनियों की प्रवेश क्षमता को प्रभावित करना जिससे रक्त में से कुछ अंश (सीरम) निकलकर आसपास फैल जाता है। इस प्रकार यह शीतपित्तीय उत्सेध बन जाता है।

बाह्यकारण—

[१] शीतता, उष्णता, स्नान, तीव्र धूप, विद्युत तथा मुष्टि आघात आदि।

[२] कीटदंष्ट—खटमल, मच्छर, टीड़ी आदि के दंष्ट।

[३] किन्हीं पुष्प, तृणादि विशेष की गन्धादि।

अन्त कारण—

[१] मानसिक तथा वातनाड़ियों को प्रभावित करने वाले भाव, क्षोभ, भयादि।

[२] असात्म्यता—व्यक्तियों तथा परिवारों में भी किसी विशेष वस्तु के प्रति असहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। यह जन्मजात होती है। श्वास विचर्चिकादि रोग भी इससे उत्पन्न हो जाते हैं।

अनेक भोज्य पदार्थों से भी यह असात्म्यता उत्पन्न होती देखी गई है।

[३] दुष्ट आहार—यथा सड़े गले मांस, मछलियां, अन्डे, फल, भाजी आदि—इनसे अन्त्र तथा आमाशय में विष उत्पन्न हो जाते हैं। जिनसे क्षुभित हो कर शीतपित्त उत्पन्न हो जाता है।

[४] उदर कृमिजन्य—चुरने, वन्त्र तथा स्फीति कृमि भी तथा उनके अण्डे भी यह रोग उत्पन्न करते हैं। इन कृमियों के निकाल देने पर यह रोग चला जाता है।

[५] संक्रामक कीटाणु—पुराना कर्णस्राव नाना-स्राव, तथा टूटे और खार हुये दांत भी शीत-पित्त उत्पादक सिद्ध हो चुके हैं इनकी उचित चिकित्सा करने पर यह रोग नष्ट हो जाता है।

[६] किन्हीं औषधियों के दुष्प्रभाव से भी शीतपित्त हो जाता है।

[७] अधिक तम्बाकू खाने या पीने से।

[८] विरल तथा वस्ति (*Enemata*) देने के पश्चात् 'वस्ति' के द्रव्यों की प्रतिक्रियास्वरूप यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

भेद—

(१) क—तीव्ररूप-यह तीव्र वेग से होता है। तथा कुछ घन्टों में या दिनो में ही समाप्त हो जाता बार बार इसके वेग आते हैं।

ख—जीर्ण रूप में यह बारबार आता है तथा अधिक समय तक रहता है।

(२) शिशु शीतपित्त—यह प्रायः बच्चों को तथा कुमारों को होता है। इसमें तीव्र कण्डुयुक्त लाल पित्ती उछल आती है जो प्राय. कई दिनों रहती है।

(३) वातनाडीज संक्षोभज—इसमे उत्सेध या शोथ वहुत बडा होता है तथा त्वचा के साथ साथ मांस आदि धातुओं को भी प्रभावित करता है। प्रत्येक उत्सेध कुछ घन्टों से कुछ दिनों तक रह सकता है। यदि इस उत्सेध मे श्लेष्मिककला भी दूषित हो जाये तो जीवन को भी भय हो जाता है।

(४) सवर्ण शीतपित्त—सूचीवेध द्वारा सीरम देने पर यह प्रकार उत्पन्न होता देखा गया है।

पूर्वरूप—

पिपासारुचिहृल्लास सादांगगौरवम्।
रक्तलोचनता, तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम्॥

प्यास लगना, अरुचि, जी मिचलाना, शरीर मे शिथिलता, काम करने की अनिच्छा, अंगो मे भारीपन, नेत्रो का लाल होना—यह पूर्वरूप हैं।

लक्षण—

लगभग एक वर्ष की अवस्था से ही शीतपित्त बच्चों मे प्रारम्भ हो जाता है। यह रोग गुप्तरूप मे अथवा सहसा ही उत्पन्न होता देखा गया है। शीतपित्त के उत्सेध से पूर्व लाली आ जाती है। पुन. उत्सेध उत्पन्न हो जाते हैं। ये साधारणतया गांठ के रूप मे भी पाये जाते हैं। एक रोगी में उत्सेधों का स्वरूप तथा परिमाण एक जैसा ही होता है। यद्यपि विभिन्न रोगियों मे इसका स्वरूप भिन्न भिन्न हो सकता है। सामान्यत: इनका व्यास ¼ इंच के लगभग पाया जाता है। विरलतया आधा इंच या पौना इच भी हो सकता है। स्वरूप मे गोल या अण्डाकार अथवा लम्बे के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनकी सीमा सुस्पष्ट होती है। ये गले के चारो ओर या पशुकाओं के ऊपर, वर्ण कपिल या हरिताभ, रगड, गर्मी, ज्वर, भावावेश से इनकी अभिव्यक्ति अच्छी तरह हो जाती है। यदि गुप्त शीतपित्त हो तो भी त्वचा पर रगड़ने से गर्मी, ज्वर, भावावेश से इनकी अभिव्यक्ति अच्छी तरह हो जाती है। यदि गुप्त शीतपित्त हो तो भी त्वचा पर रगड़ने से वह व्यक्त हो जाता है। उत्सेधों के अतिरिक्त सारे शरीर मे शोथ भी हो सकता है। साधारणत एक बार रोग देखने पर इसे भूला नहीं जा सकता।

साध्यासाध्यता—

यदि शिशु काल में यह रोग हो गया हो तो कुमार अवस्था प्राप्त करते करते प्राय: शान्त हो जाता है। किन्तु कभी कभी ३०--४० वर्ष तक चलता रहता है। आयु वढ़ने के साथ साथ रोग के लक्षण तथा तीव्रता घटती जाती है। प्रौढ व्यक्ति को यदि रोग हो जाय तो प्राय: सारी आयु न्यूनाधिक रूप में चलता रहता है। बीच मे शान्ति हो जाती है पुन: वेग हो जाते हैं।

चिकित्सा—

निम्न सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर चिकित्सा करनी चाहिये।

(१) हेतु का परित्याग-यदि कोई पदार्थ वाहर या अन्दर से क्षोभ उत्पन्न कर रहा हो तो इसे सेवन न करना चाहिये। भावावेश, अन्त्रों के विषादि, उदर कृमियों आदि को निकाल देना चाहिये।

(२) शरीर शुद्धि—वमन तथा विरेचन द्वारा

१. पटोल पत्र तथा निम्वपत्र और अरिष्टक फल से वमन करानी चाहिये।

२. त्रिफला में पिप्पली तथा गुग्गुल मिलाकर या त्रिफला क्वाथ में मधु मिलाकर विरेचन कराये।

३. अभ्यंग--अ-कड़वा तेल तथा सैन्धव मिला कर लेप करादें।

ब-खर्पर विलयन (*Lotio Calamina*) लेप लगाना भी उत्तम है। अथवा कड़वे तेल मे कपूर मिलाकर लेप करें।

सुश्रुतोक्त एलादिगण के चूर्ण से उद्वेष्टन करें।

औषधि चिकित्सा—

उदर कृमियों को निकालने के लिए सिद्धयोग संग्रह का कृमिघ्न चूर्ण प्रयोग मे लाना चाहिये।

विडंग, काम्पिल्लक, पलाशबीज और गुड मिलाकर ४-४ रत्ती की वटी वना दिन मे ४ बार दें।

—शेषांश पृष्ठ ३७१ पर।

सहजफिरङ्ग [Congenital Syphilis]

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी *B. A.* आयुर्वेदाचार्य A. M. S.

माता या पिता के पापमय घृणित व्यभिचार-परायण जीवन का मूर्तरूप शिशु का सहज फिरङ्ग है। यह आधुनिक सभ्यता का अभिशाप पुरातन काल में नहीं मिलता था। अधिकतर फिरङ्गी बालक अपने गर्भकालीन जीवन में ही फिरङ्ग से पीडित होते हैं तथा बहुत कम ऐसे फिरंगी बालकों की संख्या है जो जन्मोत्तर काल में इस रोग से आक्रांत होते है। यदि दुग्धप्रदात्री फिरङ्ग पीडिता है तो यह निश्चितरूपेण स्तनपायी शिशु को फिरङ्ग से पीडित कर देती है। इसका उलटा भी देखा जा सकता है। कभी कभी फिरङ्गोपसृष्ट पात्रों या वस्त्रों के सम्पर्क में रहने से भी बालक फिरङ्गपीडित हो सकता है। इन अवस्थाओं मे अर्थात् जन्मोत्तर-कालीन उपसर्ग हो जाने पर बड़ों की तरह ही फिरङ्ग की अवस्थायें चलती हैं–१-२॥ मास के पश्चात् प्राथमिक व्रण (*Primary sore*) उत्पन्न होगा. समीपस्थ लसग्रन्थियां प्रवृद्ध हो जावेंगी। उसके २-३ मास पश्चात् द्वितीयावस्था प्रारम्भ होगी जिसमे त्वक्स्फोट, व्रणीभवन, मुख और गुद के समीप छत्राकार्श (*Condylomata*), गलतोरणिका (*Fauces*) या स्वरयंत्र का प्रसेक (*Catarrh*) तथा लसग्रन्थियों में सार्वदैहिक प्रवृद्धि। फिर कुछ वर्ष पश्चात् तृतीयावस्था प्रारम्भ होती है जिसमें अङ्गों का विस्तृत तन्तूत्कर्ष (*Diffuse fibrosis of the organs*) तथा विषगण्डकों (*Gumma*) की उत्पत्ति देखी जाती है। आयुर्वेदज्ञों ने–

> गन्धरोग फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्।
> फिरङ्गिणोऽङ्गसंसर्गात् फिरङ्गिण्या प्रसंगतः॥
>
> —भा० प्र०

फिरङ्ग को एक गन्ध रोग माना है तथा फिरङ्गी के अङ्ग संसर्ग मात्र से ही इस रोग की जो उत्पत्ति बतलाई है वह बालकों पर विशेषतः लागू होती है। यह तो हुआ बालकों के द्वारा प्राप्त फिरङ्ग (*Acquired syphilis*) का वर्णन जो प्रायः बहुत कम मिलता है। परन्तु इस प्रकरण मे मुख्यतया जिस फिरङ्ग का वर्णन किया जाने वाला है वह है सहज फिरङ्ग, जिसमे जन्म से ही फिरङ्ग का उपसर्ग लेकर माता-पिता के अभिशाप रूप मे बालक जन्म लेता है।

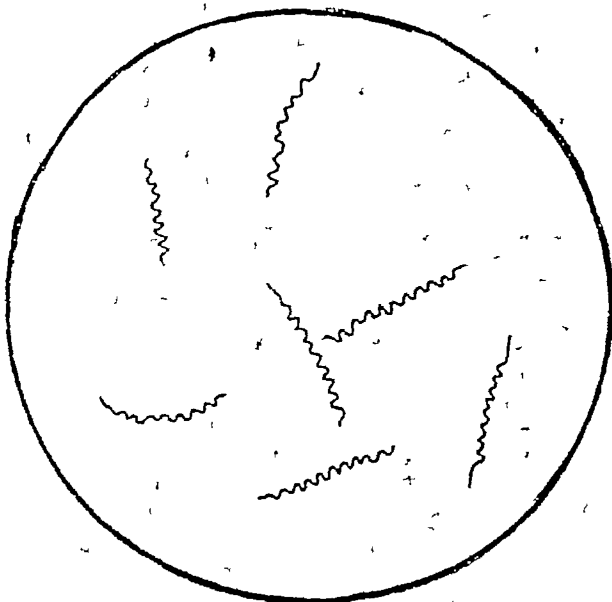
गर्भ का उपसर्ग माता वा पिता किसी से भी हो सकता है, परन्तु नियमतः उपसर्ग माता में अपरा में होकर ही होता है–*The foetus may be infected by either parent, but as a rule the infection takes place from the mother via the placenta*. यह भी सम्भव है कि यदि पिता का वीर्य दूषित हुआ तो सीधा पिता के द्वारा भी गर्भ फिरङ्ग से पीड़ित हो सकता है। किन्तु जब तक शिशु का जन्म होता है तब तक माता भी फिरङ्ग से पीड़ित हो जाती है और फिरङ्ग निदर्शक 'वासरमेन' परीक्षा माता में भी प्राप्त होने लगती है अतः फिरङ्गी शिशु को जन्म देने वाली माता निश्चितरूपेण फिरङ्ग से पीडित रहती है यह पूर्णतः सत्य है।

अवस्थाओं पर विचार करने से फिरङ्ग जन्म के पूर्व ही प्राय. शिशुओं में उत्पन्न होने के कारण उसकी प्रथमावस्था (*first stage*) प्रगट नहीं होती। यदि माता पिता के द्वारा मैथुन क्रिया के सम्पन्न होने के तुरन्त पश्चात् गर्भ को फिरङ्ग का उपसर्ग लग जावे तो निश्चित से वह गर्भाशय में ही (*inutero*) मर जावेगा तथा तुरन्त गर्भपात (*miscarriage*) हो जावेगी। उसे मृतगर्भ या मृतवत्स (*still birth*) भी कहते है। यदि उपसर्ग कुछ देर से हुआ तो शिशु अपूर्णतया (*prematurely*) जन्म लेगा। इस अवस्था मे शिशु के शरीर मे फिरङ्ग की द्वितीयावस्था के सब लक्षण मिलेंगे।

इस प्रकार के अप्रगल्भ या अपूर्ण शिशु कुछ दिनों या सप्ताहों मे मर जाते हैं। पर प्राय: यह वात आमतौर पर मिलती है कि जन्म के समय वालक को कोई भी रोग या शिकायत नहीं होती। पर धीरे-धीरे एक या कई मास पश्चात् फिरङ्ग के अन्य लक्षण प्रगट होते हैं। इन लक्षणों में फिरङ्ग की द्वितीयावस्था तथा तृतीयावस्था दोनों के मिश्रण लक्षण देख पड़ते हैं। अर्थात् त्वचा में जहा विस्फोट और गुद मे छत्राकार्श (*condylomata*) मिलते हैं वहां अस्थिशोथ तथा परिकोषीय यकृद्दाल्युदर (*Pericellular cirrhosis of the liver*) भी मिलते हैं। सहज फिरङ्ग में साधारण फिरङ्ग की भांति द्वितीय एवं तृतीयावस्था को पृथक् पृथक् निदर्शित नहीं किया जा सकता।

हेतुकी–

जैसा कि ऊपर के वर्णन से विदित होगा यह रोग माता-पिता के फिरङ्ग द्वारा उपसृष्ट होने के



चित्र नं० १०१—फिरग के चक्राणु (T.Pallidum)

परिणामस्वरूप ही वालकों मे होता है। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि यह रोग फिरङ्ग के चक्राणु (*Spirochaeta Pallida*) द्वारा होता है, जिसे फिरङ्ग सुकुन्तलाणु (*Treponema Pallidum*) भी कहा जाता है।

रोगस्य लक्षणानि–

एक सहजफिरङ्गी में अधोलिखित लक्षण देखे जा सकते हैं—

क–सलिङ्ग शिशु जन्म—अ–शिशु की लम्वाई स्वाभाविक से कम होती है (*undersized*)। आ–वह दुर्वल होता है (*Puny*)। इ–उसकी त्वचा में झुर्रियां पड़जाती है (*Wrinkled skin*)। ई–मुखमण्ठल परिशुष्क हो जाता है (*Wizened face*)। उ–शिशु अति तनु और कृश दिखलाई देता है (*thin and wasted*)। ऊ–उसके शरीर पर विस्फोट (*eruptions or bullae*) पूयरहित या सपूय (*pustules*) देखे जा सकते हैं जिनके आधार (*base*) लाल रङ्ग के होते है। उनके स्राव मे सुकुन्तलाणु (*Spirochaeta Pallida*) उपस्थित रहते हैं।

यदि इस समय उचित व्यवस्था की गई तो शिशु के स्वास्थ्य मे पर्याप्त सुधार करके विकृत शरीर को प्रकृत बनाया जा सकता है।

ख–जन्मोपरांत लिङ्ग (*Symptoms in infancy*)–शैशवकाल मे फिरङ्ग अनेक प्रकार के लक्षणों को जन्म देती है। उनमे बहुत से जन्म के समय देखे जाते हैं। परन्तु कभी एक ही लक्षण मिलता है। इन लक्षणों को यथाक्रम नीचे दिया जाता है—

१–घ्राणास्राव (*Snuffles*)–यह एक प्रकार का प्रसेकी स्राव है जो घ्राणकलाशोथ (*Rhinitis*) के कारण होता है। कभी कभी रक्ताधिक्य (*Congestion*) तथा अवरोध से नासा इस कदर वन्द हो जाती है कि वालक को श्वास लेना कठिन हो जाता है। यही नहीं वालक को दुग्धपान करने के लिये क्षण भर रुकना पड़ता है, अत: उसके पोषणक-प्राप्ति के कार्य से भी वाधा उत्पन्न होजाती है। घ्राणास्राव जन्म के समय या उसके कुछ सप्ताह पश्चात् प्रगट हो जाता है। उसके साथ साथ





चित्र नं० १०२—फिरङ्ग जनित गलित व्रण



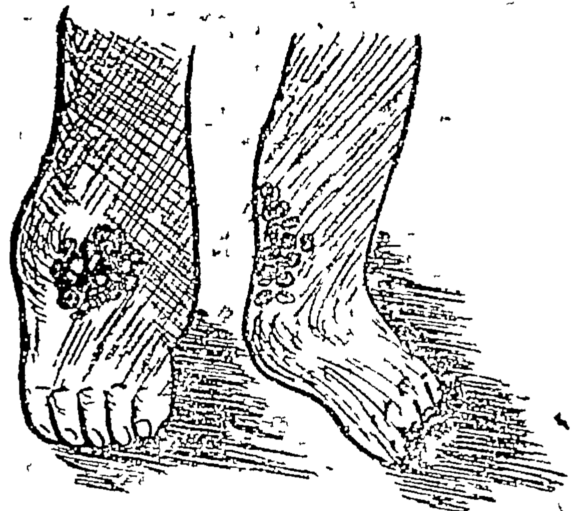
चित्र नं० १०३—फिरङ्ग जनित त्वक्-विकार

बालिका का शरीर रक्तहीन, मलिन तथा क्षीणतापण है। चर्म पर कण्डू चलती है। शरीर पर असंख्य पिडिकायें निकली हुई हैं। अधिकांश पिडिकायें पूयुक्त हैं।

नासातरुणास्थियों (*Nasal cartilages*) का विनाश (*Necrosis*) भी आरम्भ हो जाता है, जिसके कारण नासासेतुनति (*Depressed bridge of the nose*) भी देखी जाती है। यह लक्षण फिरङ्गी बालकों में दूर से ही पहचान लिया जाता है।

२--स्वरयन्त्र-विद्रधि (*Ulceration of the Larynx*)--प्राय. स्वरयन्त्र भी व्रणीभूत हो जाता जिसके कारण स्वरकार्कश्य (*Harshness of the voice*) हो जाता है। बालक का गला बैठ जाता है और वह ऊंचे स्वर से रो या चीख नहीं सकता।

३--त्वग्विस्फोट (*Skin rashes*) बहुत अधिक देखे जाते है। नियमत इस विस्फोट का आधार एक लाल रग का विस्फोट (*Blotchy erythema*) है। इसमें त्वचा से छिलके से उतरते हैं। यद्यपि समस्त शरीर की त्वचा का इस परिवर्तन से सम्पर्क रहता है, परन्तु स्फिक्-प्रदेश विशेषत. प्रभावित होता



चित्र नं० १०४—फिरङ्गजन्य श्लीपद

पाद के पृष्ठ प्रदेश, तथा एडी के चारों तरफ श्लीपदाकृति का मांस-पिण्ड हो गया है।

हुआ देखा जाता है। पैरों के तलवों तथा हाथों की हथेलियों में भी ये देखे जाते हैं। फिरङ्गजन्य त्वग्विस्फोट और साधारण अहिपूतना (*Napkin rash*) में अन्तर करना बहुत कठिन बात है। परन्तु अहिपूतना का सम्बन्ध उसी भाग से रहता है जहां तक बालक का गुद वस्त्र (*napkin*) होता है। पर फिरंगजन्य त्वग्विकार त्वचागत मोड़ों (*Creases*) में लेकर गुद पर्यन्त मिलता है। गुद के चारों ओर किनारों पर विदार बन जाते हैं जो ऐसे लगते हैं मानों किसी पहिए के आरे (*Spokes of a wheel*) हों। किनारों के समीप ही अविच्छेद के उन्नत (*Raised*), धूसर [*Greyish*] भाग या छत्राकार्श [*Condylomata*] उत्पन्न हो जाते हैं।

४–ओष्ठ-शोणाक (*Rhagades*)—मुख के किनारों पर रेखाकार विद्रधियां मुख के कोणों में उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें आगे व्रणवस्तु बन जाती है।

५–कभी कभी शरीर पर बड़े बड़े फफोले पड़ जाते हैं। जिनके अन्दर जल पूयीय (*Sero-purulent*) द्रव भरा रहता है। इन्हें फिरङ्गी विस्फोटक (*Syphilitic Pemphigus*) कहते हैं।

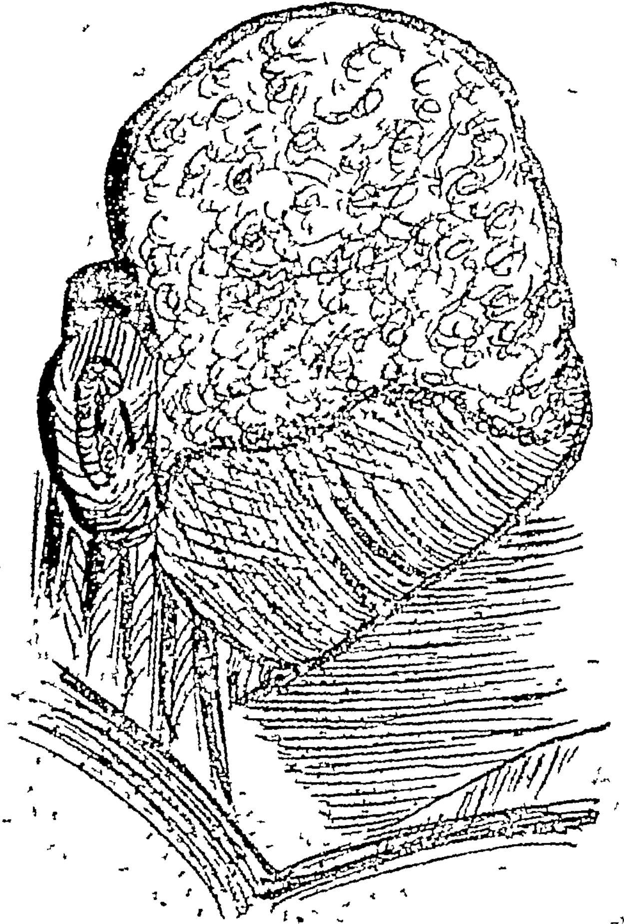
६–कभी कभी बड़ी और कठिन पिडिकायें (*Boils*) निकल आती हैं, जिनमें से कभी कभी पतला द्रव निकलने लगता है।

७–कभी कभी चिप्प(*Syphilitic Onychia*) हो जाता है—

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम्।
करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत्॥

इसमें जैसा कि श्लोक से विदित है नख-शय्या में व्रणशोथ (*Inflammation*) होता है तथा नख तक नष्ट हो जाता है।

८–रक्तक्षय (*Anaemia*)—बालक में रक्तक्षय विशेष मिलता है जो उसके वर्ण को पीला सा कर देता है। रक्तचित्र देखने से ये द्वितीयक प्रकार का रक्तक्षय होता है, जिसमें लालकण तथा शोणवर्तुलि दोनों की संख्या तथा मात्रा प्रायः कम होजाती है।

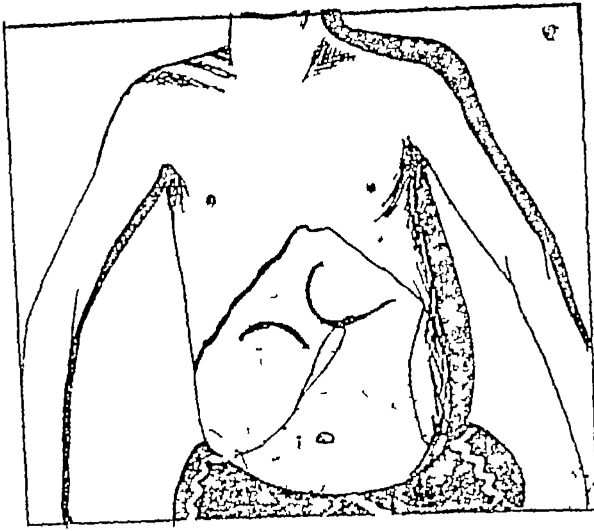


चित्र नं० १०५
फिरङ्गजन्य केशहीनता–रोगीके कपाल और मस्तिष्क पर असंख्य सर्पाकार पिडकायें निकल आई हैं जिनमें से अधिकांश पूययुक्त हैं। पिडकाओं के सूखे हुए स्थान के बाल गिर गये हैं चेहरे की त्वचा में सलवटें पड़ गई हैं।

९–यकृदभिवृद्धि—यकृत की वृद्धि नाभि पर्य्यन्त देखी जाती है। यकृत कठिन, सुचिक्कण धरातलयुक्त होता है, परन्तु स्पर्शाक्षम नहीं होता। यद्यपि साधारणतया कामला उत्पन्न नहीं होती, किन्तु जब यह प्रगट हो जावे तो समझना चाहिए कि रोग पर्याप्त गम्भीर है। सलिङ्ग उत्पन्न होने वाले शिशुओं में यह देखा जाता है।

मृत्युत्तर–परीक्षा (*Post-mortem examination*) करने पर यकृत का वर्ण नीललोहित (*Reddish purple*) या कुछ पाण्डु दिखलाई देता है।





चित्र नं० १०६.

सहज फिरङ्ग में यकृत एव प्लीहा वृद्धि

सूक्ष्म रचना-विज्ञानदृष्ट्या(*Histolgically*) याकृत् कोषाओं के बीच के अवकाश मे तान्तवधातु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तुओ (*Fine flibrils*) का जाल बन जाता है—(*Pericellulai cirrhosis*) इसके अतिरिक्त यकृत मे अनेक विनष्ट क्षेत्र (*Small foci of neciosis*) मिलेंगे जहां लसकायाणुओं (*Lymphocytes*) का जमघट रहता है। ये असंख्य विषगण्डकों (*Miliary gummata*) की ओर इङ्गित करते है।

१०--प्लीहाभिवृद्धि—यह पर्शु कीय सीमा से २ अंगुल नीचे तक देखी जाती है। यह मसृण (*Smooth*) होती है, परन्तु पर्याप्त कठित्त भी।

११–वृक्क-विकार—इस रोग मे वृक्कों का भी सहयोग देखा जाता है। जिसका उदाहरण मूत्र मे शुक्लि, निर्मोक और रक्त के कणों का पाया जाना है तथा शरीर पर शोथ होना है।

१२—फुफ्फुसोपसर्ग—जिसे श्वेतश्वसनक (*Pneumonia alba*) कहते हैं-प्रायः बहुत कम देखा जाता है। फुफ्फुस भारी हो जाते हैं, जिसमें स्थान स्थान पर श्वेत घनीभूत क्षेत्र मिलते हैं जो अत्यधिक तन्तूत्कर्ष के निदर्शक हैं।

१३—वृषणशोथ (*Orchitis*)—यह जन्म के कुछ समय पश्चात् मिलता है। इसमें वृषण बढ़ जाते हैं पर उनमें शूल नहीं होता। लक्षण से रोग निदान मे बहुत सहायता मिलती है।

१४–तारामण्डलशोथ (*Iritis*) तथा कर्बु शोथ (*Choroidits*) नामक नेत्र रोग देखे जाते हैं।

१५—कभी कभी श्लीपद, तथा कभी कभी केशहीनता पाई जाती है।

१६–वातविकार–इस रोग में अनेक वात विकार भी मिलते हैं जैसे मस्तिष्कच्छदपाक (*Meningitis*) जिसके कारण कम या अधिक उदकशीर्ष (*Hydrocephalus*) भी देखा जाता है जिससे सिर का आकार शनैः शनैः बढ़ता चला जाता है। तथा कपाल पर सिरायें फूल जाती हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना जल का पीडन भी बढ़ जाता है। उसमे प्रति घन मि० मी० मे सौ के अनुपात से लसकायाणु बढ़ जाते हैं। उसमे वर्तुलि (*Globin*) बढ़ जाती है तथा वासरमेन की प्रतिक्रिया मिल जाती है। कभी कभी अनुगामी रोगों (*Sequelae*) के रूप मे उद्वेष्टनीय पक्षाघात (*Spastic paralysis*), धीभ्रम, आवेग तथा पीयूषग्रन्थि का अनियमन विशेष करके मिलता है।

१७–अस्थिविकार—शैशव मे लम्बी अस्थियों मे फिरङ्ग के कारण अवश्य विकार होते हुये दिखलाई देते हैं। ये विकार जन्म के २–३ मास पश्चात् प्रगट होते हैं। विकार लम्बी अस्थियो में विशेष करके देखे जाते हैं। उनमें भी जङ्घास्थि का ऊपरी भाग विशेष प्रभावित होता है। इसमे अत्यधिक शूल उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण पैर उठाना या चलना दुर्लभ हो जाता है। इस कारण इस अवस्था को कूट पक्षाघात (*Pseudo-paralysis*) नाम भी दिया गया है। परीक्षा करने पर अस्थियों के सिरे अत्यधिक स्पर्शाक्षम मिलते हैं तथा उनमें शोथ अत्यल्प होता है। अधिक गम्भीरावस्था मे

परिवर्तनशील तरुणास्थि (*Epiphysis*) पूर्णतः पृथक् हो जाती है तथा अस्थिसन्धिरेखा भी विकृत हो जाती है। क्ष-किरणों से एक विशेष प्रकार का चित्र मिलता है। यह चित्र यह भी प्रगट करता है कि जब तक अस्थिविकार के निदान-ज्ञापक लक्षण उत्पन्न होते हैं उससे बहुत पहले अस्थियां विकृत हो जाती हैं। चित्र द्वारा ऐसा प्रगट होता है कि तरुणास्थि की रेखा अनियमित है वहा से अस्थि मे अनेक विरल भाग हुये हैं मानों कि नवनिर्मित अस्थि का कुछ भाग तोड़ कर फेंक दिया हो। अस्थियों मे पर्यस्थपाक (*periositis*) भी देखा जाता है।



चित्र नं० १०७

फिरङ्ग जनित पूययुक्त अस्थि—फिरङ्गाणु अस्थि को विकृत कर उसमें घुसकर चुके हैं। अस्थि के अन्दर की मज्जा का क्षय हो वह खोखली हो गई है।

फिरङ्गजन्य प्रवृद्धमान अस्थिशिरः पाक (*Syphilitic epiphysitis*) का निदान क्ष-किरण-चित्र, शूल, गतिहीनता तथा अन्य सहज फिरङ्गी-लक्षणों से ही हो सकता है। परन्तु अस्थिशूल और गतिनाश शैशवीय प्रशीताद (*Infantile scurvy*) मे भी देखा जाता है। दोनों का पृथक्करण सरलता से किया जा सकता है क्योंकि फिरङ्गजन्य लक्षण जीवन के प्रथम छै मासों मे मिलते हैं और प्रशीताद बाद के छै महीनो मे होती है।

इसी प्रकार शैशवकालीन बहुतीव्र पूयीय सन्धिपाक (*Multiple suppurative arthritis*) और फिरङ्गजन्य सन्धिपाक मे भी पार्थक्य किया जा सकता है क्योंकि पहले मे उच्च सन्ताप, तथा गम्भीर अवस्था के साथ सूजन और शूलसन्धियों में होता है जबकि फिरङ्ग का एक भी लक्षण उसमें नहीं मिलता।

अन्य अस्थिगत विकारो मे अंगुलिपर्वपाक (*Dactylitis*) भी प्रायः देखा जाता है। साधारणतया एक या दो अंगुलियों के ऊपरी पर्वों (*Proximal phalanx*) पर प्रभाव पड़ता है। जिससे गर्जराकार (*fusiform*) शोथ उत्पन्न हो जाता है। क्ष-किरण-चित्र से अस्थिपर्यस्थपाक (*Osteo-periostitis*) की उपस्थिति प्रगट होती है।

फिरंग का प्रभाव करोटि (*Skull*) की अस्थियो पर भी पड़ता है। कभी अनेक विषगण्डकों के निर्माण से चित्र मे कई वैरल्य क्षेत्र (*Areas of rarefaction*) दिखलाई देते है, किन्तु अधिकतर स्थानो मे अस्थि-स्थौल्य ही बढ़ जाता है।

बाल्यकालीन लक्षण (*Symptoms in childhood*)

शैशवकालीन लक्षणों के पश्चात् कुछ काल तक फिरंग प्रशान्त हो जाता है। यह शान्ति ६ वर्ष की अवस्था तक चलती रहती है। उसके पश्चात् सहज-फिरंग के शेष लक्षण प्रगट होने लगते हैं। प्रशान्तावस्था मे भी शोणमूत्रता (*Haematuria*), अङ्गुलिपर्वपाक (*Dactylitis*) तथा आक्षेप (*Convulsions*) समय समय पर आते रहते है। जो यह प्रदर्शित करते हैं कि उपसर्ग शनैः शनैः प्रवृद्ध हो रहा है।

बाल्यकालीन फिरंग के निम्नाङ्कित लक्षण देखने मे आते हैं—

१-अन्तरालीय स्वच्छमण्डलशोथ (*Interstitial keratitis*)—यह स्वच्छमण्डल (*Cornea*) के



है। उससे पहले प्रायः रोगियों में फिरंग के अन्य लक्षण मिलते भी नहीं है। शेल्डन ने एक ११ वर्षीया लड़की का वर्णन करते हुए बतलाया है कि उसे उसके पूर्व फिरङ्ग का एक भी लक्षण नहीं प्रकट हुआ था। एक दिन सिनेमा में उसे चक्कर (Giddiness) आने लगे। एक घंटे पश्चात् वह मूर्च्छित हो गई और ६ घंटे पश्चात् जब वह होश में आई तो उसे पक्षाघात (Hemiplegia) तथा अर्द्धाङ्ग संज्ञानाश (Hemianaesthesia) हो चुका था। परीक्षा करने पर वासरमेन प्रतिक्रिया सबल मिली। आगे चलकर उसके दक्षिण हाथ और पैर में कुछ उद्वेष्टन (Spasticity) शेष रह गया था।

जहां बड़ों में टेबीज डार्सेलिस (पृष्ठकार्श्य) अत्यधिक मिलता है वहां पर सहजफिरंगी बालकों में अङ्गघात (General paralysis) विशेष मिलती है। वास्तविक फिरंग २० वर्ष की आयु के पश्चात् होती है। पर एक रोगी ४ वर्ष की अवस्था में भी इससे पीड़ित देखा जा चुका है।

वातिक फिरंग में नैदानिकीय विशेषतायें तथा म० सु० जल (Cerebrospinal fluid) के परिवर्तन बड़ों की भांति ही देखे जाते हैं।

वातिक फिरंगी बालक का स्वभाव विचित्र हो जाता है। लज्जा (Shyness) उससे दूर हो जाती है, वह चपल, नटखट, गन्दा तथा चारित्रिक दृष्ट्या पतित हो जाता है। इस रोग की प्रवृत्ति शनैः शनैः मारक होती है।

रोग निदानम् (Diagnosis)—

फिरंग का निदान वासरमेन प्रतिक्रिया (Wasserman reaction) से होता है। यद्यपि यह जीवन के प्रथम कुछ सप्ताहों में नहीं मिलती। उस दशा में माता के रक्त की परीक्षा करनी चाहिये। जिन बालकों में फिरंग के अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं उनमें ९० प्रतिशत बालकों तथा जिनमें लक्षण नहीं मिलते उनमें ८० प्रतिशत बालकों में यह प्रतिक्रिया देखी जाती है। वातिक फिरङ्ग होने पर इसमें म० सु० जल (मस्तिष्क सुषुम्ना जल) की परीक्षा करनी चाहिये।

फिरंग की दूसरी और अधिक सूक्ष्मवेदी परीक्षा कान की कसौटी (Kahn's test) है। परन्तु यह बहुत से फिरंगी बालकों में न मिलने से वासरमेन प्रयोग अधिक होता है।

फिरंग के निदान में बालक की लम्बी अस्थियों की क्ष-किरण परीक्षा भी बहुत महत्व रखती है।

इनके अतिरिक्त लाक्षणिक परीक्षा के द्वारा फिरंग के पहचानने में सहायता मिलती है।

साध्यासाध्यता—

यदि नवजात शिशु में सक्रिय फिरंग (active syphilis) के लक्षण मिलने लगें तो वह निश्चित् रूप से रोग गाम्भीर्य का सूचक है। ऐसे बालक चिकित्सा होने पर भी कुछ सप्ताहों में ही काल-कवलित हो जाते हैं। पर यदि लक्षणों का आरम्भ जन्म के २३ मास पश्चात हो तो अवश्य ही जीवित रहने की संभावना होती है। कुछ रोगी तो पूर्णतः स्वस्थ हो सकते हैं परन्तु कुछ में फिरङ्ग के कुछ चिन्ह आजीवन देखे जाते है। इन चिन्हों में नासासेतुनति, बाधिर्य, नेत्रविकार मुख्य हैं। वातिक फिरंग की चिकित्सा असन्तोषजनक रहती है।

सहजफिरङ्गस्य चिकित्सा--

फिरंग की चिकित्सा में ४ औषधियों का उल्लेख आता है— १. सेन्द्रिय सोमल (Organic arsenic), २. चपल या बिस्मथ (Bismuth), ३. पारद (Mercury) तथा ४. पेनसिलीन (Penicillin)

परन्तु आजकल पेनसिलीन के द्वारा पूर्ण लाभ हो जाने से शेष औषधियों का व्यवहार कम या खतम हो गया है। सहजफिरंगी को जितना शीघ्र पेनसिलीन का उपयोग किया जाता है उतनी ही उसकी जीवन की आशा तथा सर्वाङ्ग सुरक्षा बढ़ती जाती है। पेनसिलीन की टोटल मात्रा सहजफिरंग में इस प्रकार समझें—

३ मास से नीचे की अवस्था वाला शिशु— १२ लाख यूनिट

६ मास तक का शिशु—२४ लाख यूनिट

१ साल का शिशु—३० लाख यूनिट

१॥ वर्ष का शिशु—४८ लाख यूनिट

उपर्युक्त मात्रा क्रिस्टलीन प्रोकेन पेनसिलीन जी के रूप में पेशीवेध करके कुल मात्रा ८ दिनों में प्रातः सायं लगाई जा सकती है या पेनसिलीन इन आइल पेशी द्वारा ३-४ सुईयों द्वारा हर तीन या चार दिन बाद दे सकते हैं या अन्य किसी प्रकार की पेनसिलीन का उपयोग किया जा सकता है। यदि पेनसिलीन जी से प्रतिक्रिया की सम्भावना हो तो पेनसिलीन ओ का व्यवहार करें।

२ वर्ष से ऊपर के बालकों में छः लाख यूनिट प्रोकेन पेनसिलीन क्रिस्टलीन जी प्रतिदिन ८ दिन तक देने का विधान है इस प्रकार ४८ लाख यूनिट देना चाहिए। हर माह सहज फिरंगी का परीक्षण और लेबोरेटरीज में जांच करानी चाहिये।

वातिक सहजफिरङ्ग होने पर क्रिस्टलीन पेनसिलीन जी ६ लाख यूनिट १० दिन बराबर दें और हर ३-६-१२-१८ मास पर रक्तपरीक्षण करावें। स्वच्छ मण्डलपाक रोकने के लिये एट्रोपीन तथा कौर्टीजोन के आईड्राप्स (नेत्रबिन्दु) टपकाने चाहिए या एट्रोपीन और कौर्टीजोन का मलहम लगाना चाहिये। पेनसिलीन से इस रोग में कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता है। नासास्राव को दूर करने के लिये निम्न तैल दिया जा सकता है—

मैन्थोल ½ रत्ती, यूकेलिप्टस तैल २ बिन्दु, लिक्विड पैराफीन २॥ तोला। इस तैल की २-४ बिन्दु प्रत्येक नासारन्ध्र में डाल सकते हैं।

सहजफिरंग की प्रतिषेधात्मक चिकित्सा भी की जा सकती है। इसके लिये माता को प्रतिदिन ६ लाख प्रोकेन पेनसिलीन की पेशीवेध द्वारा दी गई मात्रा १० दिन तक या प्रोकेन पेनसिलीन इन आइल १२ लाख यूनिट सप्ताह में २ बार ५ सुईया या बेंजाथीन पेनसिलीन जी का २४ लाख यूनिट की एक सुई दे। यदि गर्भावस्था के प्रारम्भिक काल से ही उपचार किया गया तो फिरंगहीन सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। माता को [बाद की सगर्भावस्थाओं में शिशुओं की फिरङ्ग से रक्षा करने के लिये] प्रतिक्रिया के ऋणात्मक होने पर भी पेनसिलीन का प्रयोग करा सकते हैं। वास्तव में सहज फिरङ्ग की विभीषिका से निवृत्त होने के लिये माता की चिकित्सा करना सबसे बड़ी बुद्धिमानी है।

आयुर्वेदज्ञों ने फिरङ्ग के प्रतीकारार्थ पारद और मल्ल का प्राचीनकाल में पर्याप्त व्यवहार किया था। आधुनिक युग में पेनसिलीन की अमोघता और अल्पदोषोत्पादक शक्ति होने के कारण उनकी उपयोगिता नगण्य हो गई है।

—श्री रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी B.A., A.M.S.
आयुर्वेदाचार्य, जामनगर।

पृष्ठ २६१ का शेषांश ::

कृमि के अतिरिक्त अन्य कारण होने पर निम्न औषधियां उत्तम हैं।

(१) अमृतादि गुग्गुल ४-४ रत्ती की मात्रा में पटोलपत्र क्वाथ से—

(२) महातिक्तकघृत ६ माशा दूध में मिलाकर।

(३) हरिद्राखण्ड ४ माशा प्रवालपिष्टी ४ रत्ती दिन में तीन बार करेले के स्वरस से।

(४) कफ प्रधान होने पर अजवायन+गुड़ मिलाकर उष्ण जल से।

तिक्तवटी में रसौत हरिद्रा, गुडूचीसत्व, प्रवाल तथा निम्ब पंचाङ्ग का समान भाग लिया जाता है। यह हमारा अपना योग है।

पथ्यापथ्य –

शुष्क मूल, कुलत्थरस, दोषानुसार शीतल या उष्ण अन्नपान, दूध सर्वोत्तम आहार है। उष्णजल या अत्यन्त शील जल से स्नान, खुरदरे कपड़े पहनाना छोड़ देना चाहिए।

कविराज श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री *M. A.*
वैद्यवाचस्पति आयुर्वेदाचार्य, बम्बई

रात्रि को डरना

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल

बालकों का रात्रि मे डरना यह विषय मनोवैज्ञानिक है। इस समस्या का हल मनोविज्ञानद्वारा अनेक विद्वानों ने किया है कि बालक रात में सोते समय या अंधेरे मे डरकर चीख मार कर रोने लगते है। भय की प्रवृत्ति बच्चों मे विशेषतः दृष्टिगत होती है। भय विषयक भावनाये जब बच्चों के सुकोमल मस्तिष्क मे अपना आश्रय बना लेती है तो उन्हें सोते जागते प्रत्येक दशा मे भय का ही भूत सवार रहता है।

हमारे प्राचीन महर्षियो ने इस विषय मे प्रथम ही पूर्णज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्होंने बालरक्षा के लिये जो उपदेश किये है वे सर्वथा सत्य एवं श्रेयस्कर है। उन्हीं का आश्रय ले बच्चों का स्वास्थ्य समुन्नत बना उन आचार्यों की वैज्ञानिकता की सत्यता एवं श्रेष्ठता अनुभव की जा सकती है। शास्त्रीय उपदेश है कि—"न ह्यस्य वित्रासन साधु। तस्मात्तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षस पिशाच पूतनाद्यानांनामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहण न कार्यं स्यात्।"

इस शास्त्रीय उपदेश के विपरीत यह देखा जाता है कि बच्चों में भय की भावनायें उनके अभिभावकों द्वारा ही भरी जाया करती हैं। जब बालक अधिक रोता, हठ करता या घर के काम काज मे रुकावट डालता है तो उनकी मातायें या अन्य जन बालक को भाति भाति के भय दिखाकर उसे शात करती हैं। इसका प्रभाव उनके चित्त पर बुरा पड़ता है। उन्हे जिन जिन वस्तुओं से डराया जाता है उनकी प्रत्यक्ष मूर्ति उनके पास निरन्तर निवास करने लगती है। बस यही बात उनके मस्तिष्क मे भय का बीजारोपण करती है।

यह स्मरणीय है कि एतद्विषक चिकित्सा की सफलता का श्रेय जितना अथर्व वेद वित ब्राह्मणों को प्राप्त है उतना अन्य चिकित्सा शास्त्रियों को नहीं। चरक के जातिसूत्रीय नामक अष्टम अध्याय मे जहां सूतिका के रक्षाकृत्य का वर्णन है इस प्रकार का कई बार उल्लेख है जिसमे अथर्व वेद विद् ब्राह्मणों की कौमारतन्त्र विषयक सर्वोत्कृष्टता, सिद्ध है। वास्तव में यह लोग भूत विद्या ग्रहोपचार संमार्जन (झाड़) प्राण-चिकित्सा (फूंक) आदि कलाओं के पूर्ण मर्मज्ञ होते है।

समय के परिवर्तन के साथ बाल रक्षोपयोगी मार्जन और प्राणचिकित्सा आदि क्रियाओं का पाश्चात्य-चिकित्सा प्रेमियों के द्वारा उपहास कर इस विद्या को लुप्त प्राय कर दिया गया किन्तु यह सर्वथा लुप्त न हो यत्र तत्र बच्चों को मृत्यु मुख से निकाल कर अपनी परमोच्चता का पुनीत परिचय प्रदान करती रहती है। अथर्ववेदवित ब्राह्मणों का उक्त बाल रोग से चिकित्सा विषयक यह मत है कि—

१—जो बालक अचानक चीख मार कर रात में या अन्य समय शयनादि काल मे रो पड़ता हो उसके लिये यह आवश्यक है कि गौरोचन को तावीज मे भरकर गले मे धारण करे तथा केवल रेशमी ही वस्त्र पहिने। इसका रहस्य यह है कि गोरोचन प्रभावत. भयघ्न एव मंगल्य है। तथा रेशमी वस्त्र बच्चों के बाह्य प्रयुक्त अभिचार पर नियन्त्रण रखता है।

२—गोपुच्छ मार्जन इस दिशा मे पर्याप्त प्रयोज्य चिकित्सा है। प्रयोक्ता गायत्री-मन्त्र से बच्चे की पीठ व सिर पर गोपुच्छ फेरे। गोपुच्छ भयोत्पादक परमाणुओं का विनाश करती है।

—शेषांश पृष्ठ ३७५ पर।

मिट्टी खाना

[इससे उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी चिकित्सा]

कविराज श्री अम्बिकादत्त जी० ए० एम० एस०



मुझे अपने चिकित्साकाल मे मिट्टी खाने वाले रोगियों की सख्या काफी मिली है—बाल, वृद्ध, युवा और नारी। बहुतो को मिट्टी खाते देखा, कोई-कोई गर्भवती स्त्री तो बड़े चाव से मिट्टी एवं ठीकरों को खाती हैं लेकिन इसका परिणाम अच्छा नहीं।

प्राय देखा जाता है कि छोटे-छोटे बच्चों को मिट्टी खाने की आदत हो जाती है। प्रारम्भ से माता-पिता अभिभावकों का ध्यान नहीं हुआ तो बच्चे भयंकर पाण्डु, कृमि आदि रोगों से ग्रसित रहते हैं। क्योंकि खाने से कोई दोष (वात पित्तकफादि) कुपित हो जाते हैं। और मिट्टी अपनी रूक्षता के कारण खाये हुए पदार्थों एवं रसादि धातुओं को रूखा बना देती है। मिट्टी तो पचती नहीं है अतः अपक्व ही स्रोतो को अवरुद्ध कर देती है जिससे इन्द्रियों का बल, तेज, वीर्य, ओज आदि नाश करके बलवर्ण अग्नि का नाश करने वाला निम्न लक्षणों से युक्त मृत्तिका भक्षणजन्य पांडु रोग को शीघ्र उत्पन्न कर देता है।

> मृद्भक्षणाद्भवेत् पाण्डुस्तन्द्रालस्यनिपीडित।
> सकास श्वास शूलार्त सदारुचि समन्वित॥
> शूनाक्षि कूट गण्डभ्रू शून पान्नाभि मेहन।
> कृमिकोष्ठोऽति सार्यंत मलं सासृक कफान्वितम्॥'

अर्थात्—तन्द्रा आलस्य से युक्त कास श्वास उदरशूल से पीड़ित पांडु रोगी को सदा अरुचि बनी रहती है। इसके गंड प्रदेश, अक्षिकूट, भ्रू प्रदेश, पैर, नाभि लिंग मे सूजन हो जाती है तथा-उदराभ्यन्तरस्थ कृमि हो जाने के कारण बच्चा नमकीन पदार्थ तरकारी भूंजा वगैरह खाने के लिये बराबर लालायित रहता है। रक्तसहित कफयुक्त मल, तथा कृमियुक्त मल निःसारित होता रहता है। किसी किसी को अतिसार और किसी को कोष्ठबद्ध हो जाता है। पेशाब करने के बाद पेशाब जमीन पर चावल के धोवन के समान उजला जम जाता है। यकृत् बढ़ जाने से उदर बाहर की ओर निकल आता है। आंखे मटमैली हो जाती हैं बहुतो को नक्तान्ध [रतौंधी] हो जाती है। आंखे बहुत दिनों तक बन्द करते रहने से मांडा भी हो जाता है। बालक चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है।

चिकित्सा—

चिकित्सा करने के पहले बच्चों को मिट्टी खाने की आदतों से अभिभावकों को सावधान रहना चाहिए। क्योंकि मिट्टी खाने की आदत बिना छुड़ाये चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये मिट्टी खाने की आदत छुड़ाने के लिए यदि महर्षि चरक द्वारा व्यक्त किया हुआ उपचार प्रयोग में लाया जाय तो बच्चे बहुत हद तक मिट्टी खाने की आदत से मुक्ति पा सकते है।

> मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्यादपि निवर्त्तितः।
> द्वेषार्थभावितां कामं दद्यात् तद्दोष नाशनै॥
> विडंगैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया।
> वार्ताक्यै कटुरोहिण्या कौटजैमूर्वयाऽपि वा॥

जीभ चटून के कारण रोगी मिट्टी खाना न छोड़े तो मिट्टी से द्वेष करने के लिये उस दोष की नाशक औषधि–बिडङ्ग, एला, अतीस, नीम्बू के पत्ते, पाठा, बैंगन, कुटकी, इन्द्रजौ और मूर्वा के स्वरस से मिट्टी को भावित करके देवे। उपर्युक्त उपचार से मिट्टी खाने की आदत छूटेगी।

सर्व प्रथम चिकित्सा काल मे युक्तिपूर्वक बालक के बलाबल को देखकर खाई हुई मिट्टी को तीक्ष्ण शोधनों से शरीर से निकालने का आदेश महर्षि चरक ने दिया है।

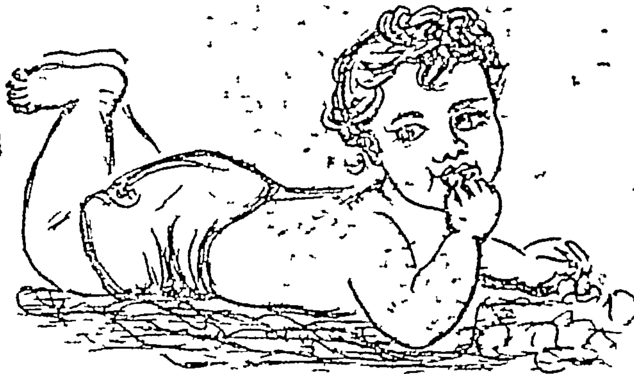


निपातयेच्छरीरास्तु मृत्तिका भक्षिता भिषक् ।
युक्तिज्ञ: शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ॥

संशोधन कराने के बाद महर्षि चरक ने बलप्रद सिद्ध घृतो का प्रयोग करने को कहा है—

शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत् ।
व्योष बिल्व हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ॥
मुस्तान्ययोरज पाठा विडंग देवदारूच ।
वृश्चिकालीच भार्गीच सक्षीरैस्तै समं घृतम् ॥
साधयित्वापिबेधुक्त्या नरोमृद्दोषपीडित ।
तद्वत्केशरयष्ट्याह्वपिप्पली क्षार शाद्वलै ॥

इस तरह व्योषादि घृतों का प्रयोग बलकारक दोषशामक है। किन्तु मिट्टी खाने वाले बच्चे तीक्ष्ण संशोधन के लायक बहुत मुश्किल से मिलते हैं। वे इतने बलहीन रहते हैं कि संशोधन क्रिया बर्दास्त नहीं कर सकते । इसलिये समय समय पर विरेचन न दे देकर चिकित्सा करते रहना चाहिए । इसके लिये मृदु विरेचन का प्रयोग अत्युत्तम है ।



चित्र नं० ११०—मिट्टी खाता हुआ बालक ।

मृदु विरेचन चूर्ण का निर्माण–

शुद्ध गंधक २ तोला, शुद्ध मुर्दासंग २ तोला, छोटी इलायची १ तोला, सौंफ ३ तोला—सबको यथाविधि चूर्ण बनाकर शीशी मे रक्खें। मात्रा १ रत्ती से ४ रत्ती तक गरम दूध के साथ दो तीन बार देने से पेट साफ हो जाता है। कदाचित पाखाना न हो तो कुटकी १ ड्राम लेकर पानी में पीसकर कल्क की तरह तैयार करें। बाद में एरंड तैल डालकर आग पर गरम करलें । सुखोष्ण लेप पेट पर दो तीन बार चढ़ाते रहने से आसानी से दस्त हो जाता है ।

रेचन के बाद निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग प्रारम्भ कर देना चाहिये—

[१] ताप्यादि लौह १ रत्ती से २ रत्ती तक गौ-मूत्र के साथ अथवा मूली के स्वरस मिश्री के साथ मिलाकर २-३ बार प्रयोग मे लावें । साथ-साथ लोहासव पुनर्नवासव दोनों बराबर आध औंस समान जल या पुनर्नवा के पानी के साथ दें ।

[२] पुनर्नवा मण्डूर या मण्डूर भस्म २ से ४ रत्ती तक पुनर्नवा के रस मधु के साथ २-३ बार पर्याय क्रम से लोहासव, कुमार्यासव और पुनर्नवा तीनों सम्मिलित आधा औंस समान पानी देकर देने से बहुत लाभ होता है ।

[३] बलक्षीण, कास, ज्वरादि उपद्रव बढ़ने पर मधुमालती वसन्त १ रत्ती, मण्डूर भस्म २ रत्ती, प्रवाल भस्म १ रत्ती, शृङ्ग भस्म ४ रत्ती–इनकी आठ मात्रा बनाकर सायं प्रातः मधु के साथ अथवा पान के रस, पुनर्नवा के रस या गुडूची के रस मधु से प्रयोग मे लाने से आशातीत लाभ होता है । दो बार–द्राक्षासव ½ औंस लौहासव ½ औंस दोनों को एकत्र करके पानी के साथ दें ।

यह द्राक्षोमाल्ट "धन्वन्तरि" के अप्रैल १९५९ वे अंक मे भी उद्धृत है । बलकारक औषधि है ।

[४] यकृत् दोष हो जाने पर–नवायसलौह २ रत्ती से ४ रत्ती तक सहजन के छाल के रस मधु-के साथ दें और दो बार लौहासव रोहितकारिष्ट सम्मिलित समान जल के साथ देते रहने से यकृत् दोष में बहुत लाभ पहुचता है ।

दो बार यकृत् का स्वेद गोमूत्र से अवश्य करे ।

[५] उदरस्थ कृमियों के आक्रमण से अतिसार प्रवाहिका, शोथ आदि उपद्रव बढ़ने लगते हैं, इसके लिये कृमिमुदगर रस या कृमिकुठार रस अथवा पुनर्नवा मण्डूर मधु के साथ खिलाकर ऊपर से अजवाइन के पर्युषित [वासी] पानी दो चार चम्मच से पीने को दें। अथवा फरहद के पत्र स्वरस मधु में प्रयोग में लावें। अजवाइन के काथ में सोडावाईकार्ब ४ रत्ती की मात्रा देते रहने से पेट का वायु विकार शमन रहता है। शंखवटी गरम जल से देना भी लाभदायक होता है।

[६] रक्त एवं कफ मिश्रित मल निकलते रहने पर--शुंठी ४ रत्ती, सौंफ की भुसी ४ रत्ती, लोध्र ४ रत्ती, मिश्री १२ रत्ती—सबों को एक साथ कूट चूर्ण कर शीशी में रखें। इसकी ८ मात्रा बना कर बकरी के दूध के साथ, आंवले की पत्ती के रस मिश्री के साथ, या तन्डुलोदक के साथ प्रयोग में लावें। अनियमित मल निकलते रहने पर यह प्रयोग बहुत उपकारी है।

[७] सर्वाङ्गशोथ होने पर पुनर्नवा मडूर और लौहभस्म उत्तम १-१ रत्ती की मात्रा के साथ खाकर ऊपर से पुनर्नवाष्टक क्वाथ पीते रहने से सर्वाङ्गशोथ में आशातीत लाभ पहुचता है।

अजवाईन अमरलता गोमूत्र में डालकर औटावें। वाष्प उठने पर निर्वात स्थान में बैठकर वाष्प सेवन करें, इससे पसीना चलेगा लेकिन यह क्रिया एक सप्ताह करते रहने से चाहे जिस अङ्ग में शोथ हो तत्काल दूर होगा।

नेत्र विकार हो जाने पर चन्द्रोदय वर्ती या निर्मली बकरी के दूध से घिसकर अंजन की तरह आंखों में लगाते रहने से नेत्र विकार में लाभ पहुचता है, रतौंधी में भी अच्छा लाभ करता है।

उपर्युक्त चिकित्सा के अतिरिक्त बीच बीच में विरेचन के लिये पंचानन वटी, प्राणवल्लभ रस का प्रयोग चलाया जा सकता है। तारा मण्डूर आदि अनुपान भेद से औषधियों का उपयोग करना चाहिए।

पाश्चात्य चिकित्सा के अनुसार लिवरएक्सट्रेक्ट का इन्जेकशन, विटामिन बी. कम्पलेक्स वगैरह दिया जाता है।

पथ्य—लवणरहित भोजन, बार्ली, दूध, शोथ रहने पर मूंग की दाल की खीचड़ी, टमाटर वगैरे की चटनी, पुनर्नवा, द्रोणपुष्पी (गुम्मा) वगैरह लाभप्रद हैं। सेव विदाना, मौसम्मी केला नींबू दिया जा सकता है।

--श्री अम्बिकादत्त मिश्र जी. ए. एम. एस.
राष्ट्रीय आयुर्वेद कार्यालय
आवगीला, (पुनपुन) पटना (बिहार)

पृष्ठ ३७२ का शेषांश

३—देवदारु, हल्दी, बच, खस तथा केतकी पुष्प—इनसे युक्त जल में स्नान, रात्रि में डरना, बुरे स्वप्न देखना ग्रह दोष आदि बाधाओं से मुक्त करता है।

बच्चों को सुन्दर सुखद मनोरम एवं रुचिप्रद वातावरण में रक्खें। उन्हें भयङ्कर खिलौने न दें। उन्हें लेकर कूप शून्यगृह, जैन मन्दिर देवालय, चतुष्पथ अथवा जलाशय नदी आदि के समीप न जाये। किसी भी प्रकार से उनको न डरवाना ही इस रोग की सर्वोत्तम चिकित्सा है। किसी प्रकार प्राण-शक्ति युक्त प्रभावशाली पुरुष की सद्योफलदायिनी प्राण चिकित्सा (फूंक) इस स्थिति में पर्याप्त प्रशंसनीय है।

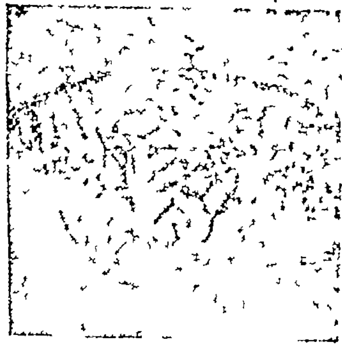
—श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल आयुर्वेदाचार्य
मन्धना (कानपुर)

मुख पाक

श्री शिवकुमार व्यास आयुर्वेदाचार्य

लालास्रवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिव्यथा ।
पीतमुद्गिरति क्षीरं नासाश्वासी मुखामये ॥

उपर्युक्त शब्द उस मूक-अबोध-प्रकृति के पावन स्वरूप शिशु की मर्मभेदी वेदना को व्यक्त कर रहे हैं जो मुख वेदना से सतप्त है। वास्तव में ही मुखपाक होने पर वह बालक अत्यधिक वेदना को सहन करता है, जिसको सहन करने में वह समर्थ भी नहीं होता। लाला के अत्यधिक स्राव, से हर समय गल-पट गीला, व्यथा के भय से क्षुधित होकर भी स्तन से द्वेष, दुग्धपान कर उससे उत्पन्न शूल को न सहन कर दुग्धवमन तथा मुख को वस्तु स्पर्श से बचाते हुये व्यथा को न बढ़ने देते हुये नासिका से ही श्वास लेता हुआ बालक मुखपाक से व्यथित होता है।



चित्र नं० ११९
जीभ में दरारें पड़ गई हैं

आज बालकों को यह रोग अधिक पाया जाता है। यहां राजधानी (दिल्ली) के शिशुओं को होने वाले रोगों में मुखपाक अपना महत्व पूर्ण स्थान रखता है। मुखपाक को शास्त्र की दृष्टि से निम्न भेदों में बांट सकते हैं—

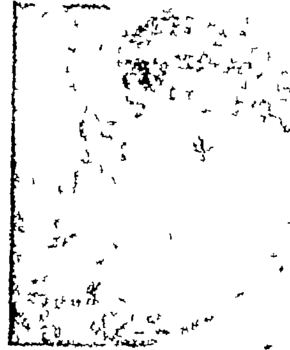
१. प्रसेकी मुखपाक (Catarrhal stomatitis)

२. क्षुद्र स्फोटी मुखपाक (Herpetic stomatitis)

३. सव्रण मुखपाक (Ulcerative stomatitis)

४ सकोथ मुखपाक (Gangrenous stomatitis)

५. श्वेत मुखपाक (Thrush)



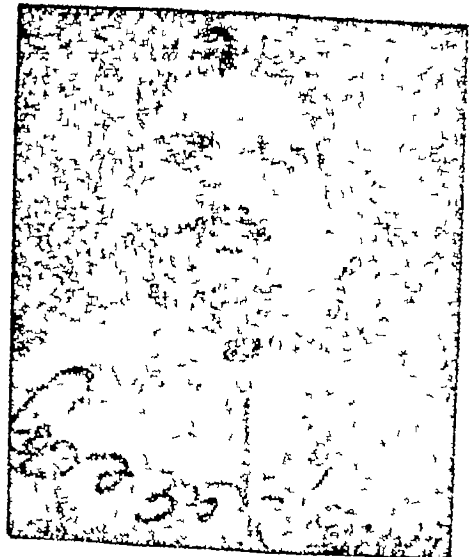
चित्र नं० ११२
मुखपाक

यों तो अनेक प्रकार के मुख पाक के रोगी मिल जाते हैं, तो भी चिकित्सा के लिए आने वाले रोगियों में मुख्यतः दो प्रकार के मुखपाकी शिशुओं की संख्या सर्वाधिक होती है और वह हैं—

१. क्षुद्र स्फोटी मुखपाकी, तथा

२. श्वेत मुखपाकी।

इनके पश्चात कुछ कम रोगी प्रसेकी मुखपाक से पीड़ित मिलते हैं तथा व्रण एवं कोथयुक्त मुखपाकी अल्पसंख्यक होते हैं। वास्तव में सव्रण मुखपाक एव सकोथ मुखपाक एक साधारण रोग को परिलक्षित न करते हुये एक भयानक विभी-



षिका के परिचायक हैं जो प्राय: उपद्रवावस्था समझनी चाहिये। अत. हम शेष तीन प्रकार के मुखपाक का विस्तार से वर्णन करते हैं।

क्षुद्रस्फोट मुख पाक (Herpetic Stomatitis)

मुखपाक के इस प्रकार को साधारण भाषा में 'लाल मुंह आना' कहा जाता है। जब रोगी बालक के अभिभावक चिकित्सक के पास जाते हैं तो मुख्य व्यथा यही कहते हैं कि बच्चे का मुंह लाल-लाल छोटे-छोटे दानों से भरा पड़ा है, जो जीभ पर हैं। इससे पानी गिरता है, बच्चा स्तन नहीं पीता और रोता है। आम जनता की धारणा है कि यह पेट की गर्मी है और उसके कारण यह मुखपाक हुआ है।

इस प्रकार के लक्षणों (Symptoms) को जान कर जब चिकित्सक शिशु की परीक्षा करता है तो वह पाता है कि लाल वर्ण के क्षुद्र कठोर स्फोट हैं जो जिह्वा पर, ओष्ठों पर एवं तालु में तथा कपोल के आन्तरिक (मुख वाले) भाग में हैं। इनमें आधार (Base) पर रक्तिमा है तथा गोल किनारे के हैं। उस बालक का मुख लाला से परिपूरित है अत हम कहेंगे कि क्षुद्रस्फोटी मुखपाक में निम्न लक्षण एवं चिन्ह होंगे।

लक्षण (Symptoms)—

१. लाल स्राव होना, २. स्तन त्याग, ३. अरति युक्त, ४. पका मुख एवं, ५. कोष्ठबद्धता से पीड़ित किसी बालक में ऐसा भी देखने में आता है कि आमातिसार से पीड़ित होते हैं और उसको यह मुखपाक हुआ होता है।

चिह्न (Signs)—

१. लालास्राव पूरित मुख २. क्षुद्र कठोर स्फोट (Small and tender vesicles) ३. गोल किनारे एवं लाल वर्ण के आधार के स्फोट।

इन लक्षणों एवं चिन्हों के द्वारा इसको पहचानने में कोई असुविधा नहीं होती। देखा गया है कि इस प्रकार के मुखपाक में पुनरावृत्ति पाई जाती है। अभी कुछ समय पूर्व मुखपाक हुआ—चिकित्सा की और कुछ समय पश्चात् मिट गया तथा पुन: उसी प्रकार से रोग का आवर्तन हो गया। शास्त्र की दृष्टि से ऐसा माना जाता है कि यह रोग विषाणु (Virus) जन्य है। कुछ भी हो इतना मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त लक्षण एवं चिन्हों को पाते हुए उसे स्फोटी मुखपाक या लाल मुखपाक कहने में कोई शंका नहीं रह जाती।

श्वेत मुखपाक (Thrush)—

यह श्वेतवर्ण का मुखपाक लोक की दृष्टि में स्फोटी मुखपाक की अपेक्षा अधिक भयानक माना जाता है। ऐसी धारणा है कि इस प्रकार के मुखपाक होने से बच्चे के जीवन को भय हो जाता है। यदि आयुर्वेदीय दृष्टि से (Medically) देखा जाय तो यह रोग एक उपसर्ग से उत्पन्न होता है और इसका साक्षात् जनक इण्डियन ऐल्बीकेंस है। यह उपसर्ग प्राय. उन बच्चों को होता है जो शीशी से दूध पीने वाले हों। भलीभाति स्वच्छता का ध्यान न रहने से बालक को यह उपसर्गज रोग हो जाता है जिसका प्रभाव पाचक तन्त्र पर पड़ता है और पाचक प्रणाली के उपसर्ग को व्यक्त करता हुआ यह मुखपाक होता है।

इसकी सम्प्राप्ति की ओर यदि ध्यान करें तो पायेंगे कि रोगी बालक के मुख की श्लेष्मिक कला, जिह्वा तथा आंत्रनलिका एक प्रकार के दधिवत् द्रव्य से आच्छादित हुई है, जिसमें बारीक बारीक स्फोट से भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह अवस्था अन्त्रनलिका के आमाशयिक भाग तक होती है और इसके कारण पाचक स्राव भी स्वस्थवत् स्रवित नहीं होते।

श्वेत मुखपाकी के चिन्ह एवं लक्षण हम क्षुद्रस्फोटी की अपेक्षा अलग पाते हैं। जब रोगी के अभिभावक आते हैं तो उनका कहना होता है कि बालक को मुखपाक हुआ है। यह हर समय रोता रहता है। दुग्धपान करने में असमर्थ है। यदि दूध पी भी लेता है तो उसे पचा नहीं सकता, प्राय:

वमन कर देता है। इसको मल भी अपचन का आता है।

इन सभी लक्षणों को सुनकर जब परीक्षा की जाती है तो पाते हैं कि बालक के मुख की श्लेष्मिक कला एवं जिह्वा ऐसी श्वेत पड़ी है जैसे दही जमा हुआ हो। उसके बीच बीच में कुछ छोटे छोटे दाने है। लालास्राव इतना अधिक नहीं जितना कि क्षुद्र-स्फोटी में होता है। बच्चा मुख खोलते ही रोता है।

इन सभी लक्षणों एवं चिन्हों के साथ एक विशेष बात जो दृष्टिगोचर होती है वह यह कि प्रायः मन्द मन्द ज्वर रहता है। उसका शरीर कम-जोर हो जाता है। बालक का स्वभाव भी चिड-चिड़ा हो जाता है।

प्रसेकी मुखपाक (Catarrhal stomatitis)—

जैसा कि इसके नाम से ही पता चल जाता है, यह रोग प्रसेकाधिक्य द्वारा लक्षित होता है। अत्य-धिक लालास्राव, नासिका द्वारा स्राव इसमें होता है। बालक के मुख की श्लेष्मिक कला एवं जिह्वा उपाडयुक्त रक्त वर्ण की होती है। किसी प्रकार के स्फोट आदि प्रायः नहीं दिखाई देते। रोगी बालक को स्राव बहुत पीड़ित करता है। प्रत्येक समय मुख से, नासिका से बहता हुआ स्राव शिशु की सौख्यता को नष्ट कर देता है।

निदान सम्बन्धी इतना वर्णन करने के बाद उचित समझता हूँ कि माधव के वचन इस प्रसङ्ग में और उद्धृत करूं कारण कि निदान सम्बन्धी बातों मे उसका अपना स्थान है। माधव निदान में आया है—

> स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्य-
> स्याचितं सर्वसरः स वातात्।
> रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतै-
> र्यस्याचितं चापि सपित्तकोपात॥
> अवेदनैः कन्डुयुतैः सवर्णै-
> र्यस्याचित चापि स वै कफेन॥

अर्थात जिसमें तोदयुक्त स्फोटों से सारा मुख व्याप्त हो, वह वातज सर्वसर है। जो लाल, दाहयुक्त, पतले और पीले स्फोटो से व्याप्त हो वह पित्तज सर्वसर है और जिसमे वेदनारहित खुज-लाहटयुक्त सवर्ण स्फोट हो वह कफज है।

चिकित्सा (Treatment)—

मुखपाक का उपचार करते समय हमें दो सिद्धान्तों पर चलना होगा—

[१] स्थानीय (Local application)
[२] पचन तन्त्रीय उपचार (Treatment of the digestive tract)

स्थानीय उपचार करते समय हमारे सम्मुख दो ध्येय रहते हैं—प्रथम स्वच्छता (antisepsis) और द्वितीय रोपण (healing)।

मुख को स्वच्छ रखने के लिये प्रायः दो विलयों का प्रयोग करते हैं—

[१] पोटेशियम क्लोरेट का घोल।
[२] बोरेक्स का घोल।

इन घोलों से मुख को धोया जाता है। ध्यान रहे कि मुखपाक मे शूल तो पहले से ही होता है अतः विलयन का स्पर्श होने से ही अधिक दर्द होने लगता है। बहुत ही कोमलता के साथ रूई के द्वारा घोल का प्रयोग करना चाहिये। घोल मे भिगोया हुआ रूई का टुकड़ा मुख भाग पर लगाकर उस भाग को पौंछ लेना चाहिये।

लगाने के लिये बोरो ग्लिसरीन का प्रयोग किया जाता है। बोरो ग्लिसरीन बनाने के लिये एक भाग बोरेक्स [सुहागा] लीजिये और उसे बारीक पीसकर छः भाग ग्लिसरीन को जरा सी गर्म खरल मे डालकर मिला लीजिये। यह बोरो ग्लिस-रीन दिन मे तीन या चार बार मुखपाक मे एवं क्षुद्र स्फोटी मुखपाक मे अच्छा लाभ करती है। इसी प्रकार शुद्ध टंकण को [भुने सुहागे] को मधु में मिलाकर लेप करने से भी लाभ होता है।

मैंने अपने चिकित्सालय में मैन्डाल्स पेन्ट का प्रयोग करके देखा है। श्वेतमुखपाक एवं क्षुद्र स्फोटी मुखपाक में यह लाभ करता है। इसमे एक कठिनाई है कि यह अन्य लेपों की अपेक्षा अधिक क्षोभक (Irritaint) है। साधारण जनता मे एक और औषधि प्रयोग करने का रिवाज है और वह है नीली दवा। यह दवा जैंसन वायलेट का विलयन है। इसको मुख में लगाने से वालक को कुछ ठंडक पड़ जाती है और साथ ही साथ कुछ रोपण भी करता है।

इन पेन्टस के अतिरिक्त जो स्थानिक उपचार किया जाता है उनमे प्रथम स्थान आता है चूर्णन का। मुखपाकी को पेनसिलीन लौंजिन्जेज के चूर्ण का चूर्णन (dusting) कराया जाता है। मैंने देखा है कि पैंट करने के वाद यह चूर्ण लगाया जाय तो मुखपाक शीघ्र ठीक होने लगता है। खदिरादि वटी को वारीक पीसकर उसका चूर्ण भी में प्रयोग करता हूँ और वच्चे को अच्छा लाभ होता है। अन्त मे कास्टिक टच भी किया जाता है।

मुखपाकी को इन सवके अतिरिक्त सल्फा औषधियां दी जाती हैं। पेनसिलीन का मुखद्वारा अथवा इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग किया जाता है। इनके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह कितना लाभ करती है तो भी इतना अवश्य है कि इनके प्रयोग से भी कुछ मुखपाकी ठीक होते हैं।

इन सभी उपचारों के साथ साथ पाचन तंत्रीय उपचार भी आवश्यक है। सर्व प्रथम देखना चाहिए कि मलवद्धता तो नहीं है। मलबद्धता हो तो मृदु-रेचक देने चाहिए एतद् कैलोमल, रेवन्द चीनी और सोडावाई कार्व यथावश्यक दिया जाता है। एरण्ड तैल या लिक्विड पैराफीन भी लाभ करता है। यदि अजीर्ण के कारण अतिसार हो तो पाचक औषधि दीजिए। वालक को ग्राइप मिक्चर देने से पाचन में अच्छा सुधार हो जाता है।

मुखपाक मे खाद्योज (vitamin) वी एवं सी का प्रयोग वहुत लाभ करता है। वालक को खाद्योज वी कम्लेक्स का सीरप नियमित रूप से एक-एक चम्मच दिन मे चार वार पिलाइये। यह बहुत अच्छा लाभ करता है। गोली के रूप मे अथवा सूचीवेध द्वारा भी प्रयोग करा सकते हैं। इन खाद्योजों के उपयोग से पाचन भी ठीक होता है साथ ही साथ मुखपाक में भी लाभ करते है। इनके अतिरिक्त पुष्टिकारक खाद्योज भी दिये जा सकते हैं।

आयुर्वेदीय योगों मे मैंने परीक्षा की है कि निम्न योग की दिन मे तीन मात्रायें दी जांय तो अच्छा लाभ होता है—

पुनर्नवा मण्डूर या नवायस लौह, वंशलोचन १-१ रत्ती, शंखभस्म ½ रत्ती। मधु से तीन मात्रायें

इस योग के साथ साथ स्वर्णमाक्षिक भस्म एवं मुक्तापिष्टी आदि का प्रयोग भी लाभ करता है।

औषधि चिकित्सा के साथ आहार का भी विचार रखना आवश्यक है। यदि शिशु माता के ही दुग्ध पर रहता हो तो मां को चाहिये कि लघु आहार करे। सुपाच्य भोजन ही उसके लिये आवश्यक है। यदि मां को अजीर्ण आदि हो तो उसका उपचार करना भी आवश्यक है। यदि शिशु को ऊपर का दूध मिलता हो तो गाय का दूध हलका करके पिलाना चाहिये। मीठा अनार, मौसमी का रस अवस्थानुसार देना चाहिये।

—कवि० श्री पं. शिवकुमार व्यास आयु०, भिषगाचार्य
५, देवनगर, करौलवाग,
नई दिल्ली



बाल मुखपाक [Stomatitis]

श्री सोमदेव शर्मा सारस्वत साहित्यायुर्वेदाचार्य एम. ए., ए. एम. एस., डी. एस. सी. (ए)



बालकों को यह मुख पाक [मुख के छाले] रोग बहुत अधिकता से होता है। इस रोग मे ओष्ठ, दन्त-मूल, दांत, जीभ, तालु गला और गले का प्रारम्भिक भाग यह मुख के सात [1]अङ्ग, रोग की अवस्थानुसार थोडे थोड़े अथवा बहुत आक्रांत हो जाते है, इसलिये सम्पूर्ण मुख मे फैलने के कारण ही यह मुखपाक रोग 'सर्वसर[2]' नाम से भी प्रख्यात रहा है। इस रोग के भेदों के विषय में प्राचीन आचार्यों के कई मत हैं। यथा

[१] आचार्य विदेह--यह केवल एक रक्तज मुख पाक मानते हैं।

[२] सुश्रुत मुनि--यह १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज के भेद से चार प्रकार का मुखपाक मानते हैं।

सर्वसरास्तु वातपित्तकफ शोणित निमित्ता।

—सुश्रुत निदान अ० १६

[३] आचार्य वाग्भट और शाङ्गधर--यह दोनों आचार्य १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज, ५-सन्निपातज पांच प्रकार का मुखपाक मानते हैं।

[४] आचार्य माधव आदि १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज भेद से,तीन प्रकार का मुखपाक मानते हैं।

१—[अ] मुखगलौष्ठादि सप्तस्थान व्यापकतया सर्वसरत्व ज्ञेयम्

—माधवनिदान मधुकोश व्याख्या

[आ] सर्वसर इति ओष्ठगलताल्वादि सर्वस्थान व्यापक.।

—अष्टांग हृदय, उत्तर अ. २१ शिवदासकृत व्याख्या

२—[क] सर्वसरा मुखपाका उच्यन्ते।

—माधवनिदान-मधुकोष व्याख्या

[ख] सर्वस्मिन मुखे ये भवन्ति ते सर्वसरा।

—सुश्रुत संहिता निदान उल्हणकृत व्याख्या

[ग] सर्वमुखेषु सरतीति सर्वसर।

——ता-आढमल्ल व्याख्या

वास्तव मे यह उक्त तीन भेद सुश्रुत मुनि के मत के आधार पर किये गये है, क्योंकि सुश्रुत मुनि ने पहले चार भेद लिखकर आगे स्पष्ट रूप से निर्देश कर दिया है कि 'रक्तज' भेद स्वतन्त्र नहीं हैं किन्तु पित्तज भेद के अन्तर्गत है जैसे--

रक्तेन पित्तोदित एक एवकैश्चित्प्रदिष्टोमुखपाकसंज्ञः।

—सुश्रुत निदान अ० १६

लक्षण

वातज मुखपाक--वायु के प्रकोप से होने वाले इस वातज मुखपाक के छालों मे सुई चुभने के समान पीड़ा हुआ करती है।

पित्तज मुखपाक--पित्त के छाले लाल रङ्ग के होते हैं इनमे दाह हुआ करती है। यह लाल मुखपाक (लाल छाले) के नाम से प्रसिद्ध है।

कफज मुखपाक--कफ के छालो मे पीड़ा नहीं होती है परन्तु खुजली रहती है और इनका रंग जीभ आदि की श्लैष्मिक कला के रङ्ग के समान होता है जो प्रायः सफेद होता है। यह श्वेत मुखपाक या 'सफेद छालों' के नाम से प्रसिद्ध है।

एलोपैथिक मत

पाश्चात्य चिकित्सक तीन प्रकार का मुखपाक मानते हैं। यथा—

१. साधारण मुखपाक (*Simple stomatitis*)

२. श्वेत मुखपाक (*Thrush or parasitic stomatitis*)

३. भीषण मुखपाक (*Cancrumoris or gangrene stomatitis*)

नोट—इन तीनों भेदों के अतिरिक्त पारद जनित मुखपाक (mercurial Stomatitis) एक भेद और माना जाता है परन्तु वह अधिकतर फिरंगोपदंश के रोगियों को होता है। केवल बच्चों को नहीं होता है इसलिए यहां उसका वर्णन हमने नहीं किया है।

तुलनात्मक विवेचन—प्राच्य तथा पाश्चात्य चिकित्सकों के लक्षणों पर विचार करके तुलना करने से निम्नलिखित समानता प्रतीत होती है—

१. साधारणमुखपाक (*Simple stomatitis*)	१. पित्तज तथा रक्तज मुखपाक (लाल छाले)
२. श्वेतमुखपाक (*Thrush*)	२. कफज मुखपाक (सफेद छाले)
३. भीषण मुखपाक (*Cancrumoris or Gangrene stomatitis*)	३. सन्निपातज, मुखपाक, वातज मुखपाक भी इसके अन्तर्गत हैं।

विशद विवेचन--

१-पित्तज या रक्तज मुखपाक (साधारण मुखपाक *simple stomatitiS*)

(अ) दांत निकलने से पहले होने वाला मुखपाक-जिन बालकों का पालन पोषण ठीक न होने के कारण कोष्ठबद्धता आदि अन्य उदर विकार होते रहते हैं, उनके दांत निकलने के समय मुखपाक हो जाता है। ऐसे बालक कृश और कमजोर होते हैं।

(आ) दांत निकलने के पश्चात् होने वाला मुखपाक-दांतों की स्वच्छता न रहने के कारण जिन बच्चों के दांतों में कृमि पड़ जाते हैं तब उन कृमियों से भी मुखपाक हो जाता है।

लक्षण—मुखपाक में मुख की भीतरी झिल्ली और मसूढ़ों में शोथ हो जाता है, पीड़ा रहती है और मोटे व्रण हो जाते हैं। तीव्र मुखपाक की दशा में कपोल तल, जिह्वा, तालु आदि सब स्थानों पर शोथ, छाले और व्रण हो जाते हैं, मुख से लाला स्राव होता रहता है, थूक बहुत आता और कभी कभी ज्वर भी हो जाता है।

चिकित्सा—

[१] यदि रोग का कारण कोष्ठबद्धता हो तो उसकी चिकित्सा के प्रारम्भ में और फिर आगे भी आवश्यकता पड़ने पर एरण्ड तेल (*Caster oil*) या किसी दूसरे विरेचन से पेट साफ करके अग्नि-कुमार रस या अष्टाग लवण का व्यवहार कोष्ठ-बद्धता (कब्ज) नष्ट करने के लिये प्रतिदिन करना चाहिये तथा मुख में खदिरादि वटी रखे। भोजन लघु सुपाच्य देना चाहिये। छाले शांत होने पर भी जठराग्नि दीपन चिकित्सा करते रहना चाहिए जिससे कोष्ठबद्धता न होने पावे।

[२] यदि दांतों में मैल जमने से कृमि पड़ने के कारण मुखपाक रोग हुआ हो तो दांतो और मुख को साफ करें तथा भोजन मे सावधानी रखें और तरल पदार्थ खावें। भोजन करने के पश्चात्--

(अ) पञ्चवल्कल अथवा त्रिफला के क्वाथ मे शीतल होने पर शहद मिला कुल्ला कर मुख को साफ करें।

(आ) टंकणक्षार को शहद मे मिलाकर छालों पर लगावें अथा बोरोग्लिसरीन (*Boroglyceirne*) दिन में तीन बार लगावें।

[३] यदि व्रण हो गये हों तो--

(क) चमेली के पत्ते, गिलोय के पत्ते, मुनक्का जवासा, दारूहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आमला इन सब को कूट कर क्वाथ करें और शीतल होने पर शहद मिलाकर [१]गण्डूप धारण धारण करे।

[ख] इरिमेदादि तेल के कुल्ला करे और उसको छालों पर भी लगावे।

[ग] फिटकरी, खैर और बबूल [कीकर] की छाल के क्वाथ का गण्डूप धारण करें।

---

[१]औषधि के क्वाथ आदि तरल पदार्थों को मुख में इतना भरकर धारण करें कि वह मख में घूम सके। यह गण्डूष कहलाता है।



[घ] ८० ग्रेन पोटासियम क्लोरास को एक पाव पानी मे डालकर कुल्ले करावे तथा १० ग्रेन की मात्रा में दिन मे ३ या ४ वार खिलावें।

[ङ] व्रणों पर ४% या ६% कास्टिक लगाये।

[च] क्रोमिक एसिड (*Cromic Acid*) का ५% लोशन भी लगाया जाता है।

२–कफज या श्वेत मुखपाक (*Thrush or Parasitic stomdtitis*) लक्षण-

यह रोग सदैव बोतलों के द्वारा दूध पीने वाले बच्चों को विशेषतया हुआ करता है। दूध पीने के पश्चात् बोतल को साफ न करने से उसमें विशेष के कीटाणु प्रविष्ट हो जाते है, जो बढ़कर मुखपाक रोग को उत्पन्न करते हैं। मुख मे सर्व प्रथम जीभ पर फिर कपोलों के अन्दर तालु और कण्ठ मे भी श्वेत वर्ण के छोटे छोटे छालें पड़ते हैं जो धीरे धीरे बढ़कर मिल जाते है जिनसे सम्पूर्ण मुख शोथग्रस्त ज्ञात होता है, परन्तु इसमे साधारण मुख पाक की भांति लालस्राव नहीं होता है।

चिकित्सा–

दूध पिलाने वाली बोतल को सदैव स्वच्छ रखना चाहिये। मुखपाक रोग होजाने पर सोडियम सल्फाइट सोल्यूशन (*Sodium sulphite solution*) १ ड्राम लेकर १ औंस जल मे घोलकर उससे मुख को स्वच्छ करे तथा बालक के साधारण स्वास्थ्य का ध्यान रखे।

१. कोष्ठबद्धता होने पर प्रारम्भ में तथा बाद मे भी आवश्यकता पड़ने पर एरण्ड तेल देकर रेचन कराना चाहिये।

२. यदि अतिसार हो तो शृंग्यादि चूर्ण देना चाहिए। तथा भोजन करने के बाद लवणभास्कर चूर्ण देना चाहिये।

३ शरीर दुर्बल होने पर मण्डूर बटक दें।

४. २॥ तोला शहद मे १० से २० रत्ती तक टंकणक्षार मिला छालों पर लगावे।

सूचना–यदि बच्चा गाय, बकरी आदि का दूध पीता हो तो उस दूध मे चूना का पानी (लाइम वाटर *Lime water*) थोडा सा मिला कर देना चाहिये। यदि बच्चा केवल माता का दूध पीता हो तो पीने से पहिले और पीछे माता के स्तनो को भलीभांति धोना चाहिए।

३–सन्निपातज अथवा भीषण मुखपाक– (Gangrenous Stomatitis)

कारण—

इस रोग का यथार्थ कारण अभी तक भली भांति ज्ञात नहीं हुआ है। जिन बच्चो का पालन पोषण ठीक नहीं होता तथा स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों पर ध्यान नहीं दिया जाता उन बच्चो को दो से पांच वर्ष तक की अवस्था मे यह रोग अधिक हुआ करता है। रोमान्तिका (*Measles*-खसरा) तथा आन्त्रिक ज्वर आदि बालकपन के छूतदार रोगों के कुफलस्वरूप भी यह रोग उत्पन्न होता है।

लक्षण–

यह रोग प्रायः ३ से ६ वर्ष तक के बालकों मे होता है। इस रोग का प्रारम्भ धीरे धीरे होता है। मसूरिका, लाल ज्वर (*scarlaet fever*) तथा कुकुरखांसी (हूपिंगकफ *Whooping cough*) आदि रोगों के पश्चात् मुख मे कपोलों के भीतरी पृष्ठ पर डिफथीरिया रोग की भांति एक छोटा सा व्रण बन जाता है जिसके बीच मे मृततन्तु होते हैं और उसके चारों ओर साधारण प्रदाह होता है तथा उसमें से सड़ा हुआ भाग पृथक् होता जाता है। यह व्रण शीघ्रता से आगे, पीछे तथा अन्दर से बाहर की ओर बढ़ने लगता है यहां तक कि ७ से १० दिन मे कपोल के आरपार हो जाता है और कभी कभी सड़ांयद बढ़कर बाहर नेत्रों तक और मुख के अन्दर जीभ, दांत, जबड़ा, कपोल की हड्डी तक पहुंच कर फैल जाती है। जब कपोल के भीतर एक बड़ा व्रण दृष्टिगोचर होता है तब उसकी चिकित्सा की चिन्ता होती है। कपोल अधिक कठोर होता है तथा अन्य शारीरिक लक्षण भी प्रकट

हो जाते हैं। यद्यपि ज्वर साधारण होता है परन्तु वह सांघातिक रूप धारण कर लेता है। ज्वर दुर्बलता आदि लक्षण बहुत तीव्र होजाते हैं, नाड़ी तीव्र चलती है। कभी कभी अतिसार तथा फुफ्फुस प्रदाह भी हो जाता है और रोगी ६ से १० दिन मे मर जाता है। साध्यावस्था में व्रण २ या ४ दिन मे स्वयं भरने लगता है तथा ज्वर आदि शारीरिक लक्षण कम होने लगते है और रोगी १० या १२ दिन मे अच्छा हो जाता है।

चिकित्सा—

सड़ायंद (सड़ने की क्रिया) रोकने के लिये पोटासियम परमेंगनेट से मुख के व्रण युक्त भाग को शुद्ध करें और गर्म सेक तथा पुल्टिस के प्रयोग से सड़ भाग निकाल दें। रोग होते ही उस स्थान पर कार्वोलिक एसिड (*Carbolic Acid*) २% या स्ट्रोंग नाइट्रिक एसिड (*Strong Nitric Acid*) अथवा स्ट्रोंगसिलवर सोल्यूसन (*Strong silver Solution*) लगावें। कार्वोलिक एसिड का प्रयोग अधिक उत्तम माना जाता है। नाइट्रिक एसिड लगाने के कुछ मिनट बाद स्ट्रोंग सोल्यूशन आफ कार्बोनेट आफ सोडा से वह स्थान धो देना चाहिये। सड़ा भाग निकल जाने पर टिंचर फैरी पर क्लोराइड लगावे।

रोगी पूर्ण विश्राम करे तथा खाने के लिये दूध तथा अन्य पोषक तरल पदार्थ ले और बल बढाने के लिये औषधि के रूप में टिंचर फैरी परक्लोराइड अथवा किसी आयुर्वेदिक लोह घटित प्रयोग का सेवन करें तो शीघ्र लाभ होता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

१. त्रिफला, पाठा, मुनक्का और चमेली के पत्तो का क्वाथ करें तथा शहद मिलाकर मुख धोने के लिये प्रयोग करे।

२. भोजनोपरात कुठेरादि गण का प्रयोग करें।

३. वातज मुखपाक मे छोटी पीपल, सेंधा नमक तथा इलायची के चूर्ण से प्रतिसारण (घर्षण) करें अथवा वायु नाशक पदार्थो से सिद्ध तेल का कवल धारण करें और नस्य ले।

४. पित्तज, रक्तज और कफज तथा सन्निपातज मुखपाक मे इन दोषों के नाशक द्रव्य प्रयोग करे।

—श्री सोमदेव शर्मा सारस्वत, साहित्यायुर्वेदाचार्य
एम० ए०, ए० एम० एस०, डी० एस सी० ए०
प्रिन्सीपल—गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज,
रायपुर (म० प्र०)

---

[2] उपर्युक्त औषधियां लगाते समय सावधानी रखें कि कहीं रुग्ण स्थान की जगह स्वस्थ श्लैष्मिक कला न जल जाय। इसके लिये तेल लगावें और पोटासियम कार्बोनेट का गाढ़ा सोल्यूशन लगावें। इससे विकृति दूर हो जायगी। मुख को शुद्ध करने के लिये फार्मासिष्ट की टिकिया ४-४ घण्टे बाद व्यवहार में लावें।

मुखपाक नाशक सफल प्रयोग

[१]

इसमें त्रिफला के क्वाथ से अथवा पान, द्राक्षा, चमेली के पत्तों के क्वाथ से कुल्ले करे। कुठेरादि गण की औषधिया चबाकर थूकें। मुखपाक मे खदिरादि से साधित इरिमेदादि तेल से कवल तथा नस्य लें। अनार के फूल, छोटी इलायची, कपर्द भस्म, लोध्र, तवाशीर, कत्था का धूड़ा लगावे। खदिरादि वटी चूसे। कालक चूर्ण अथवा पीतक चूर्ण को मधु के साथ मुख मे धारण करे। गेरू को मधु से मिलाकर चटावे। रसौत लगावें। पीपल वृक्ष की छाल का चूर्ण मधु मे मिलाकर लेप करें। सुहागे की भस्म मधु में चटावे। लक्ष्मीविलास रस



दें। कब्ज न रहने दें। गर्म गर्म चीजें न खिलावें।

—श्रीमती यशोदादेवी वैद्याचार्या
बाड़ा हिन्दूराव, देहली-६

[२]

अतिसारयुक्त मुखपाक में—

थालाजौल टिकिया १, ऐन्टीरोवायोफार्म १ टिकिया, मलफागुआनिडीन २ टिकिया, विटामिन सी १ टिकिया, पेलोनीन २ टिकिया, ईस्ट १ टिकिया, सोडावाई कार्व २० ग्रेन, ग्लूकोज २० ग्रेन।

विधि—इन सबको पीसकर एक वर्ष के बालक को ८ पुड़िया बनावें और २-२ घंटे के अन्तर से ताजे जल मे घोल कर बालक को देते रहे और मुख के भीतर लगाने के लिये १ तोला ग्लेसरीन में १ माशा सुहागे का फूला मिलाकर रखलें और फुरैरी से अनेक बार लगावे। यह प्रयोग बिगड़े से बिगडे मुखपाक मे एवं दस्त पेचिश मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

—श्री डा० बुद्धिप्रकाश आर्य वैद्य विशारद
देशी हितकारक फार्मेसी,
सरायतरीन [मुरादाबाद]

[३]

टंकण [सुहागा] का चूर्ण बना मधु में मिलाकर चटावे या बोरिक ग्लेसरीन बनाकर चटावें। मधु मे अरारोट मिलाकर चटावें। या छोटी इलायची १ माशा, बड़ी इलायची १ माशा, गिलोय सत्व ३ माशा, तवाशीर ३ माशा, मिश्री २ तोला सभी का वस्त्रपूत चूर्ण कर मुख के छालों पर बुरकते रहे या मधु मिलाकर चटावे।

तीव्र मुखपाक पर—सिलवर नाईट्रेट दो प्रतिशत का घोल लगावे। बोरिक ग्लेसरीन चार बार लगावें। या तुथ छालो पर लगाकर ऊपर बोरिक ग्लेसरीन लगावे। पोटाश क्लोराइड के द्वारा गरारे करावें। बाकी वैद्य या चिकित्सक अवस्थानुसार उपचार करें।

नमक के गरारे भी लाभदायक है। फुलर्की के गरारे भी लाभदायक हैं।

—कवि० श्री जगदीशचन्द्र भारद्वाज B. A. M. S.
राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय,
जोधका [हिसार]

[४]

गोंद ढाक [पलास] और संग सफेद [संगजराहत] दोनों ही बराबर बारीक पीस कपड़छनकर लें और दिन में २-४ बार बच्चे के मुंह से चुटकी द्वारा डालें। अथवा—

गोंद ढाक का लोशन बना फुरैरी द्वारा मुंह मे लगाये।

लोशन बनाना—

गोंद २ तोला, पानी २ तोला उबाल छानकर रख लें। यही लोशन है।

—श्री डा० रामप्रसाद वैद्य विशारद
ढोढर [रतलाम] म० प्र०

[५]

बच्चो को यह रोग अक्सर होता है। यह रोग गर्मी से उत्पन्न होता है। इस रोग मे नीचे लिखा नुस्खा बहुत ही फ़ायदा करता है—

ग्लेसरीन ४ तोले, टेनिक एसिड १ तोला।

निर्माण विधि—दोनों को खरल मे खूब घोटकर एक रस करके शीशी मे भरले।

लगाने की विधि—रूई के फाहे से बालक के मुंह मे लगाकर उसे गोद मे उल्टा सुलाले। इससे बच्चे के मुह के अन्दर की लार बाहर निकल जायगी।

दवा लगाने का समय—सुबह, दोपहर और शाम को दवा लगानी चाहिये। दवा मे पेट चली जाने पर भी कोई नुकसान नहीं देती। इस दवा को २-३ दिन लगाने से बच्चे का रोग जड से नष्ट हो जायगा। दवा परीक्षित है। इस दवा से बच्चे के मुंह के अन्दर के पड़े हुए छाले बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं।

—श्री सीताराम शिल्पकार
दथोह [भिंड]

सर्दी और उसकी चिकित्सा

श्री डा० कुलरञ्जन मुखर्जी

नाक और मुंह के रास्ते से श्लेष्मा के बहिर्गमन का साधारण नाम है सर्दी, जुकाम या नाक बहना। संस्कृत भाषा में इसे प्रतिश्याय कहा जाताहै।

बार बार छींकना, नाक में रक्ताधिक्य, नाक से पानी के समान बलगम निकलना, नाक का रास्ता बन्द हो जाना, नाक की घ्राणशक्ति विलोप, स्वर-भंग और सर्व अङ्गों में दर्द तथा कंपकंपी आदि सर्दी के साधारण लक्षण हैं। कभी कभी इसके



चित्र नं० ११२—सर्दी ग्रसित बालक

साथ थोड़ा सा ज्वर भी वर्तमान रहता है। साधारणतया दूसरे या तीसरे दिन से बलगम गाढ़ा होने लगता है और यदि कोई इलाज नहीं किया जाय तो ५-७ दिनों तक नाक से बलगम बराबर निकलता रहता है।

यह अनुमान किया जाता है कि हरेक जीवाणु से सर्दी उत्पन्न होती है। वास्तव में बलगम के भीतर विभिन्न कीड़े पाये जाते है। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि वे सब जीवाणु हमेशा स्वस्थ नाक के भीतर भी दिखाई पड़ते हैं। हम लोग सांस के साथ हमेशा सर्दी के कीड़ो को शरीर के भीतर लेते है। परन्तु इससे हम लोग सर्दी से आक्रांत नहीं होते।

साधारणतया ठंड लगकर ही सर्दी होती है। ठंड लगने के कारण देह के रोमकूप बन्द हो जाते हैं। तब रोमकूप के मार्गों से शरीर के विष जो बाहर होते है वे बाहर नहीं हो सकते। तब प्रकृति श्वास नली या नासिका की श्लेष्मिक झिल्ली में रक्ताधिक्य तथा स्फीति उत्पन्न करती है तथा उससे श्लेष्मा के रूप में वे विष रक्त के पानीला अंश के साथ बाहर हो जाते हैं। इसका प्रचलित नाम नाम ही सर्दी है।

किंतु थोड़ी सी ठंड लगने पर ही सर्दी हो जाती है ऐसी कोई बात नहीं। अगर देह लघु, आंत साफ और मूत्रस्रोत स्वाभाविक हों एव उसके फलस्वरूप शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता सबल रहे तब साधारणतया ठंड लगने पर भी कुछ भी नहीं होता। शरीर सहज में ही अपने को आप ठीक कर लेता है।

जब देह विभिन्न दूषित, विषैले तथा परित्यक्त पदार्थों से भारी हो जाय और देह के अपनयनमूलक यन्त्र देह को साफ रखने में अक्षम हो जाते हैं तभी केवल सर्दी लग जाती है। बहुत छोटे बच्चों के रोग प्रतिरोध क्षमता कम रहती है जिससे कि मामूली कोष्ठबद्धता आदि सामान्य कारणों से ही सर्दी से वे आक्रांत हो सकते है। इसलिये सिर्फ ठंड लगने से ही सर्दी होती है ऐसी बात नहीं, भीगे घर में रहना, सांस के साथ धूल, धूआ और बदबूदार गैस का ग्रहण करना और जनतापूर्ण स्थान में रहना आदि कारणों से सर्दी हो जाती है।



वास्तव मे अन्यान्य बहुत रोगो के समान देह को दोषमुक्त करना ही सर्दी प्रकृति का एक कौशल है। जब शरीर हरेक दूषित पदार्थों से भारी हो जाता है तब प्रकृति हरेक तरीके से देह को दोषमुक्त करने की चेष्टा करती है। जब बलगम के आकार मे प्रकृति उसे बाहर करने की कोशिश करती है तभी उसे सर्दी कही जाती है। सर्दी के समय जो छींक आती हैं और बलगम निकलता है उससे यही प्रमाणित होता है कि प्रकृति घर साफ कर रही है।

इसलिये जबरदस्ती करके सर्दी को रोकना बहुत भ्रम है। बल्कि जिन कारणों से सर्दी हुई है उनको हटाकर सर्दी को मिटाना चाहिए। घर मे मैल जमा हो जाने पर घर की मोरी को बन्द कर देना जैसा खराब है, सर्दी लगने पर बलगम का बाहर आना बन्द कर देना भी वैसा ही हानिकारक है। बच्चों के कोमल शरीर में विष डालकर शायद जादू की तरह ही सर्दी बन्द की जा सकती है। किंतु उससे रोग का मूल कारण नष्ट नहीं होता। उसके फलस्वरूप वह कुछ दिन दबा रहता है। उसके बाद जो आसान था वही सौ गुना भयंकर होकर किसी मुश्किल रोग के रूप मे फिर दिखाई देता है।

इसलिये किसी भी कारण से सर्दी क्यों न हो पहले ही शरीर के विभिन्न रास्तों से देह को भारमुक्त करना कर्त्तव्य है। हमारे शरीर मे हमेशा ही हरेक विष उत्पन्न होते हैं। प्रकृति उसे शरीर के विभिन्न रास्तों से बाहर निकालकर हम लोगो को हमेशा स्वस्थ रखती है। रोग होने पर भी प्रकृति के उन सब रास्तों से देह के मैल बाहर निकालकर हम लोग पुनः रोगमुक्त हो सकते हैं। आयुर्वेद के पच कर्म के भीतर इसका अचूक निर्देश रहा है।

सर्दी होने पर पहले ही अविलम्ब बच्चों के कोष्ठ साफकर लेना जरूरी है। बच्चा बहुत छोटा होने पर उसके मलद्वार के भीतर पान का डठल प्रविष्ट करा देने से अपने आप ही मल बाहर निकल जाता है। डण्ठल के सिरे पर पहले थोड़ा सा नारियल का तेल लगा लेना चाहिये। किंतु बच्चा यदि कुछ बड़ा हो तो आवश्यकता होने पर मध्यम आकार के चम्मच से १ चम्मच शहद सम मात्रा में गरम पानी में मिलाकर कांच की पिचकारी से उसके मलद्वार मे प्रविष्ट करा देना चाहिए। शहद भीतर चले जाने के बाद मलद्वार को एक आध मिनट के लिये दबा रखना चाहिये। इसके बाद छोड़ देने से ही काफी मल बाहर आता है या पानी मे शहद या नीबू का रस मिलाकर बच्चे को डूश दिया जा सकता है। इससे कुछ भी हानि नहीं होती और पेट मे जिसकी आवश्यकता नहीं होती केवल उसे ही साथ लेकर डूस का पानी बाहर निकल आता है। जुलाब देने की अपेक्षा इस डूस को देना बहुत अच्छा है।

बच्चे का पेशाब जिससे सरल रहे उस पर भी ध्यान देना बहुत जरूरी है। नीबू के रस के साथ पानी पिलाने से पेशाब सरल हो जाता है। तरुण सर्दी मे हर घंटा बाद बच्चों की उम्र के अनुसार २ से ६ औंस तक पानी पिलाना उचित है। जाड़ा और कंपकंपी रहे तो हमेशा गरम पानी पिलाना चाहिये और उसके बाद गुनगुना पानी पिलाना कर्त्तव्य है। किन्तु अगर बच्चा नीबू का पानी पीना स्वीकार न करे तो बदले में उसे मधु का पानी दिया जा सकता है।

किन्तु इसकी प्रधान चिकित्सा ही है छाती की लपेट। सर्दी होने से ही बच्चे को एक घंटे के लिये एक छाती की लपेट प्रयोग करना उचित है। कुछ समय के लिये लपेट रखने से ही लपेट के भीतर थोड़ा सा ताप का संचार होता है। इसके फलस्वरूप रोमकूप खुल जाते है और शरीर मे जमा हुये विष रोमकूप के रास्तों से बाहर हो जाते है। अतः प्रकृति को उलटे रास्ते से शरीर के विष बाहर करने की आवश्यकता नहीं होती एवं सर्दी की स्वाभाविक मौत होती है। एक छोटा पतला कपड़े का टुकड़ा गरम पानी में डुबोकर और अच्छी तरह निचोड़कर उससे नाभी से गला तक सभी



स्थान छाती तथा पीठ ढक कर आवृत कर देना चाहिए और उसके बाद ही एक ऊनी कपड़े से उसे इस तरह आवृत करना चाहिये जिससे लपेट के भीतर गर्मी पैदा हो जाय। इस लपेट को सिर्फ १ घंटा रखने से ही सर्दी के समूचे रोग लक्षण दूर हो जाते हैं। एवं ज्वर रहने पर भी ज्वर चला जाता है।

बच्चों का सिर दिन में तीन बार धुला देने के बाद सारा शरीर ठंडा या गुनगुना पानी में डुबा हुआ तथा निचोड़े हुए गमछे से पोंछ देना जरूरी है। सुबह, दोपहर और रात में ऐसा कराना चाहिये, किंतु रोगी के शरीर में जाड़ा या कंपकंपी रहे तो कभी ऐसा नहीं करना चाहिये। शरीर पोंछने से पहले तो चमड़ा थोड़े समय के लिये सिकुड़ जाता है। इसके बाद जब प्रतिक्रिया आ जाय तब सारे शरीर में खून को दौड़ा बढ़ जाता है। इस प्रतिक्रिया को लाने के लिये शरीर पोंछने के बाद ही बच्चों के तमाम शरीर को रगड़कर शरीर को पुनः गरम कर लेना चाहिए।

सर्दी लग जाने पर पहले से ही बच्चों को बिछौने में रखकर पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है। सर्दी के साथ ज्वर रहे तो ऐसा करना जरूरी कर्त्तव्य है। इससे सर्दी के फलस्वरूप कोई उपसर्ग आ नहीं सकता और रोग का भोग काल कम होता है।

सर्दी के समय बच्चों को घर के भीतर ऐसे स्थान में रखना चाहिये जिससे उनके शरीर में हवा के झोंके न लगें। किन्तु घर के भीतर जिससे हवा का आवागमन हो, इसकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। रोग मिटने के बाद बच्चों को खुली हवा में खेलने के लिये उत्साह देना चाहिये और रात में घर को तमाम खिड़कियां खुली रखें।

कोई कोई आदमी ऐसे हैं जो ठंड लगने के डर से अपने बच्चों को हमेशा ऊनी कपड़ों से ढक कर रखते हैं। बहुत आदमी ऐसे हैं जो सर्दी के डर से बच्चों को हमेशा गरम पानी पिलाते हैं और गरम पानी में नहलाते हैं। इन बच्चों की सर्दी कभी नहीं छूटती। सर्दी से छुटकारा मिलने का उपाय ठंडे से परहेज रखना नहीं, बल्कि आहिस्ते आहिस्ते शरीर को ठंडे में अभ्यस्त कर लेना है। मछुओं तथा नाविकों के समान बच्चों के शरीर को भी ऐसा कर लेना चाहिये जिससे ठंड लगने पर भी ठंड न लग जाय।

कोई कोई बच्चे वर्ष भर पुरानी सर्दी से कष्ट भोगते रहते हैं। किसी किसी बच्चे को तो वर्ष भर नाक से बलगम निकलते रहते हैं। बच्चों के माता पिता इसकी परवाह ही नहीं करते। लेकिन फौरन सर्दी का इलाज न किया जाय तो श्वास नली आदि यन्त्र इससे खराब हो जाते हैं और बहुत अवस्थाओं में सर्दी पुराने रोग के आकार में बदल जाती है। साधारणतया सर्दी को सामान्य रोग जैसा गिना जाता है। किन्तु सर्दी को जितना सामान्य रोग समझा जाता है। वह इतना सामान्य रोग नहीं है। सर्दी तो आती है बहुत जल्दी किंतु बहुत जल्दी नहीं चली जाती। सर्दी होने के बाद अगर जल्दी कोई व्यवस्था नहीं की जाय तो पुनः सर्दी का आक्रमण होने की संभावना पैदा होती है।

इसलिये पुरानी सर्दी में कोष्ठ आदि साफ रखकर बार बार छाती की लपेट प्रयोग करनी चाहिए। इससे बच्चे बहुत जल्दी अच्छे हो जाते हैं।

जिन सब बच्चों के सामान्य कारणों से ही नाक बहना शुरू हो जाता है, कुछ दिन तक उनके नाक के ऊपर गरम ठंडा प्रयोग करना चाहिये। आधा मिनट गरम सेक के बाद आधा मिनट काल नाक ठंडे पानी से भीगे गमछे से पोंछ देना चाहिए और एक ही समय में ऐसा तीन बार और दिन में एक बार करना उचित है।

बच्चों के पथ्य के ऊपर भी ध्यान देना बहुत आवश्यक है। तरुण रोग के समय बच्चों को सिर्फ साथ रीकेट रोग का भी होना बुरा लक्षण है। शारीरिक रोग निवारक शक्ति क्षीण करके स्कर्वी

—शेषांश पृष्ठ ३६२ पर

स्कर्वी या प्रशीताद (Scurvy)

श्री पद्मदेव नारायण सिंह एम. बी., बी. एस.

परिभाषा-

स्कर्वी एक हीनता या न्यूनताजनित (*Deficiency disease*) है जो आहार मे विटामिन-'सी' या स्कौर्बिक एसिड की कमी के कारण और केशिकाओं की भृ गुरता मे परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है, जिसके विशिष्ट लक्षण हैं-शरीर के विभिन्न अङ्गो और अवयवो मे रक्तस्राव, मसूढ़ों से खून निकलना, दांतो का हिलना, शरीर में खून की कमी और क्लान्ति तथा अत्यधिक दुर्बलता आदि।

हेतु विज्ञान—

इस रोग मे केशिकाओं की दिवालें कमजोर और भृ गुर हो जाती है जिससे चमड़ी के नीचे, पर्यास्थि और अस्थियों के बीच, श्लैष्मिककलाओं के नीचे, हृद्‌यावरक या फुफ्फुसावरक गुहा में, सन्धियों मे, तथा अन्य स्थानो मे रक्तस्राव होता है। रक्तोत्पत्ति तथा अस्थियों की वृद्धि और विकाश भी अवरुद्ध हो जाते हैं।

आहार—आहार में किसी विशेष तत्व की कमी के कारण स्कर्वी रोग की उत्पत्ति और ताजे फलों या सन्तरा, नारङ्गी का रस पीने से उसके अच्छा हो जाने के बारे में बहुत पहले समय से लोगों को मालूम था। पुराने जमाने मे नाविकों मे यह रोग बहुत अधिक पाया जाता था क्योंकि बहुत अधिक समय तक उन्हें हरा या ताजा फलमूल सागसब्जी आदि खाने को नहीं मिल पाती थी और उन्हे केवल डिब्बे मे बन्द तथा सुखाई हुई सागसब्जियों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। बाद मे पता चला कि यह आवश्यक स्कर्वी रोधक या निवारक तत्व विटामिन 'सी' है जो ताजे फलो और संतरा नारङ्गी, आमला, टोमेंटो तथा अंगूर जैसे फलों मे सविशेष परिमाण मे पाया जाता है। इसलिये इस रोग से रक्षा के लिये आजकल शिशुओं, बच्चो और वयस्कों को इन फलों का रस दिया जाता है। माता के दूध में शिशु के लिये पर्याप्त विटामिन सी रहता है इसलिए स्तनपायी शिशुओं मे यह रोग प्राय: नहीं पाया जाता है। बकरी, गाय और भैंस के ताजे दूध में भी यह विटामिन पर्याप्त मात्रा में रहता है किन्तु उबालने और पास्चुरीकरण क्रिया द्वारा इसका अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। इसलिये पाउडर दूध, सघनित दूध या डिब्बे मे बन्द दूध और उबलते हुए या अन्य प्रकार के दूध पर पलने वाले शिशुओं को विटामिन 'सी' की कमी पूरा करने के लिए उनके साथ साथ फलो या टोमैटो का रस भी जरूर देना चाहिए।

विटामिन 'सी' आंवला, टोमैटो, हरीमिर्च, आलू, नारङ्गी, सन्तरा, निम्बु, अंकुरित अनाज, हरे साग सब्जियो में अधिक पाया जाता है। कृत्रिम रूप से भी इसका संश्लेषण किया जाता है। शरीर के अन्दर कुछ अवयव भी इस विटामिन का निर्माण करते हैं जिससे शरीर की इस विटामिन की आवश्यकता की आंशिक पूर्ति भी होती है।

स्कर्वी रोग के दो प्रकार हैं—(१) बालस्कर्वी (*Infantile scurvy*) और (२) वयस्क स्कर्वी (*Adult scurvy*)।

आयु और लिङ्ग—बाल स्कर्वी साधारणत: ८ महीने के आयु मे प्रारम्भ होता है यद्यपि ६-१८ महीनों के बीच यह कभी भी पाया जा सकता है। ६ महीनों के पहले विरले ही यह रोग कभी देखा जाता है। बालक बालिकाओं मे समान रूप से पाया जाता है। बयस्कों मे बहुत अधिक समय तक विटमिन सी की कमी होने पर यह किसी भी आयु मे पाया जा सकता है।



लक्षण और चिन्ह -

[का] बाल स्कर्वी—

यह रोग साधारणतः धीरे धीरे प्रारम्भ होता है और शुरू मे बच्चो मे परिक्लान्ति, विवर्णता या विरक्तता, चिड़चिड़ापन या खिन्नता देखी जाती है नहीं तो साधारणतौर पर वह बाहर से स्वस्थ्य ही ही दिखाई पड़ता है। इसके बाद उसके पैरों में पीड़ा और स्पर्शकातरता पायी जाती है जिसके कारण वह उस अङ्ग को व्यवहार नहीं करता और उसे स्थिर या निश्चल रखता है और किसी तरह जरा भी अङ्ग मे छू जाने या गोद मे उठाने पर जोर से चीख उठता है। नहलाने के बाद तौलिया से अङ्ग पौछते समय या और कभी बच्चे को उठाते समय पीडित अङ्ग दब जाये तो उसके कराह उठने पर लोगों का ध्यान इस अवस्था की ओर आकर्षित होता है।

इस रोग के लक्षण मुख्यत. लम्बी हड्डियो के पर्यास्थि के नीचे, मसूढ़ों में, सन्धियों मे और अन्तराङ्गों मे रक्तश्राव के कारण उत्पन्न होते है। पीड़ा के कारण शिशु विस्तरे पर मेढ़क की स्थिति में यानि जंघो और घुटनों को मोड कर पैर को पेट में सटाये हुये पड़ा रहता है। अचल होने के कारण मालूम पड़ता है कि उस अङ्ग पर लकवा का असर हो गया हो किन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं होता।

इस रोग का अस्थि संस्थान पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जंघास्थि और प्रजंघिक (*Femur and Tibia*) और उनके पर्यास्थियों के बीच अधिक रक्तस्राव होने से पर्यास्थि उठ कर विलग हो जाता है, जानुसन्धि [*knee*] मे बहुविस्तृत सूजन हो जाती है जिससे वह तकु आकार (*Drum shaped or spindle shaped*) या ढोल के समान दिखाता है। पेशियो के अन्दर भी रक्तस्राव हो सकता है और बहिरागत क्षरितरक्त भी उनमें प्रवेश कर सकता है। ऐसी हालत मे वह अङ्ग सूज जाता है और कभी कभी शोथ भी पाया जाता है। स्पर्श द्वारा परीक्षा करने पर पर्यास्थि-रक्तस्राव (*subperiosteal haemorrhage*) का पता चलता है। निम्नाङ्गों मे जंघास्थि तथा प्रजंघिका के नीचले भागों मे तथा ऊर्ध्वांगो मे बहिष्प्रकोष्ठिका (*Radius*) के दूरस्थ भाग की ओर रक्तस्राव अधिकतर पाया जाता है। कभी कभी अस्थिशिर या प्रान्तास्थि और अस्थिगात्र (*Epiphysis and diaphysis*) के बीच भी रक्तस्राव पाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अस्थिशिर अस्थिगात्र से बिलग हो जा सकता है। इस सूजन के ऊपर की चमड़ी तनी हुई और चमकदार दिखलाई देती है। मसूढ़ो से रक्तस्राव एक साधारण लक्षण है किन्तु यह केवल दात निकलने के बाद ही देखा जा सकता है। गम्भीर अवस्था में मसूढ़ा बहुत सूज जाता है और दांत शिथिल होकर गिर सकते है। नेत्रकोटर मे रक्तस्राव और रक्तसंचय होने के कारण नेत्र गोलक प्रलम्बित (*Proptosis*) हो जाता है और पलकों मे भी खून जमा हो जा सकता है। छाती की परीक्षा करने पर पर्शु काओं मे अस्थिकौटिल्य पर्वमाला(*Scorbutic beading*) देखा जाता है जो कि उरःफलक और उपपर्शु काओं के पीछे या अन्दर की ओर दब जाने के कारण बन जाता है। स्कर्वीजनित अस्थिकौटिल्य और रीकेट रोग (*Ricket*) जनित अस्थिकौटिल्य, जिसके विशिष्ट गुण निम्नलिखित हैं, विभेद करना आवश्यक है। रीकेट में पर्वमालागठन तकु आकार और पर्शु काओं के अन्त से होता है और उपपर्शु-कायें तथा उर.फलक अन्दर की ओर दबा हुआ नहीं होकर बाहर की ओर निकला हुआ होता है। मूत्र संस्थान मे रक्तस्राव होने पर रक्तमेह (*Haematuria*) पाया जाता है जो अतिसूक्ष्म या प्रत्यक्ष हो सकता है।

मल के साथ रक्तस्राव, श्लैष्मिक कला या त्वचा वा अन्तराङ्गों मे रक्तस्राव जो वयस्कों में साधारणतः पाया जाता है, शिशुओं मे बहुत बिरले ही कभी देखा जाता है।

रक्तालपता यद्यपि रक्तस्राव के कारण भी

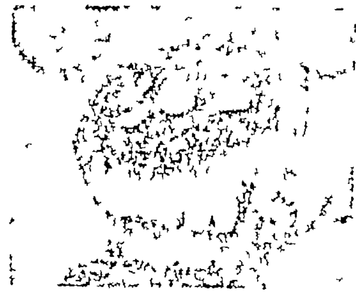


हो सकती है। फिर भी इसका मुख्य कारण विटामिन—'सी' की कमी है जिसके कारण रक्ताणुगठन क्रिया ठीक ठीक नहीं हो पाती। विटामिन 'सी' देने पर आशातीत लाभ होता है। इस रोग के कारण शिशु का शारीरिक विकाश भी अवरुद्ध हो जाता है। लम्बी हड्डियों के छोर पर अधिक खटिककण या कैल्शियम जमा होने के कारण एक्स-रे परीक्षा करने पर "श्वेत रेखा" (*White line of scurvy*) दिखायी देती है। इस अवस्था को रीकेट रोग के एक्सरे चित्रण से विभेद करना चाहिए जिसमें अस्थि का अन्त भाग विस्तारित चीपिट या गहरा और विषम बढ़ जाता है जबकि स्कर्वी में अस्थि सम और सीधी बनी रहती है। अस्थि और पर्यस्थि के बीच मे रक्तस्राव होने के कारण पर्यस्थि अस्थि से विलग होजाता है जो एक्सरे मे दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त अगर रक्तक्षरण २-३ सप्ताह हो चुका हो तो उसमें अस्थियन या अस्थिगठन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है जिससे पर्यस्थि उस एकत्रित रक्त के ऊपर एक पतली रेखा के रूप मे दिखाई देता है। निरुपद्रविक स्कर्वी मे साधारणतः ज्वर नहीं पाया जाता किन्तु अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कभी कभी १०२° फा तक ज्वर पाया जाता है।

[ख] वयस्क या युवाकालीन स्कर्वी (Adult scurvy)—

विटामिन 'सी' की कमी होने पर वयस्कों में स्कर्वी रोग के लक्षण प्रगट होने में ४-८ महीनों या इससे अधिक समय लगता है।

इसके अतिरिक्त अधिकतर इस विटामिन की कमी एकाएक न होकर धीरे धीरे होती है जिससे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जिसे हम उपस्कर्वी (*Subscurvy*) कह सकते हैं। ऐसी हालत मे चोट लगकर, जल कर, या आपरेशन द्वारा कटने या घाव होने पर उसके भरने में बहुत अधिक समय लगता है और उसमे रक्तस्राव भी हो सकता है। मसूढ़ो से भी खून आता रहता है। स्कर्वीरोग का प्रारम्भ बहुत धीरे धीरे होता है और शुरू मे रोगी को सुस्ती, थकावट और कमजोरी महसूस होती है। शिर मे चक्कर और कभी कभी मसूढ़ों से खून आता है। बाद मे मासपेशियों और पैर की पिंडलियों मे आक्षेप या ऐंठन और पीड़ा मालूम पड़ती है, चेहरा विवर्ण या कांतिहीन होजाता है और आंखों के चारों ओर एक काला घेरा बन जाता है। कुछ समय के बाद मसूढ़े फूल जाते हैं, उन पर घाव बन जाते है, और उनमे से एक दुर्गन्धपूर्ण स्राव या रस निकलने लगता है। दांत हिलने लगते हैं और कभी कभी गिर भी जाते हैं।



चित्र नं० ११४
स्कर्वी में मसूढ़ों की दशा

त्वचा में और त्वचा के नीचे भी सूक्ष्म या प्रत्यक्ष रक्तस्राव होता है। पहले बालो की जड़ों के पास अरुणाभ छोटे छोटे दाने निकल आते हैं जो बाद में नीले और हरे हो जाते, अन्त मे विलुप्त हो जाते और वहां पर चमड़ी का ऊपरी स्तर गिर जाता है। ये दाने पैरों, हाथो और वस्त्रों के साथ संघर्ष होने वाले अन्य स्थानों पर अधिक देखे जाते हैं। बहुत से दानों के मिलने से चकत्ता जैसा ही बन जाता है। चमड़ी के नीचे अधोत्वगीय सौत्रिक तन्तुओं या मासपेशियों के अन्दर रक्तस्राव स्वतः या मामूली चोट लगने पर भी होता है। सबसे अधिक रक्तस्राव पैरों मे, घुटनों के पीछे या कोहनियों के सामने तथा टखनों के पास मे होता है। उस स्थान पर शोथ उत्पन्न होता है। स्थानिक त्वचा तप्त और अरुणाभ हो जाती है। दाबने पर पीड़ा होती है और वहां पर गढ़ा बन जाता है। सूजन के कारण सन्धियों के आसपास के स्वाभाविक गढ़े भर जाते हैं और सन्धि के कार्य मे बाधा पहुचती है। श्लेष्मिक

कलाओं के नीचे भी रक्तस्राव हो सकता है जैसे नाक से खून निकलना या विनाय फूटना, मुंह से खून आना, आंखों में खून आना आदि। कभी कभी मूत्र, थूक या मल के साथ भी इसी कारण से रक्त आ सकता है। रोग बढ़ने के साथ साथ रक्ताल्पता भी गम्भीर होती जाती और रक्ताणुओं की संख्या तथा हिमोग्लोबिन के प्रतिशत मान में बहुत अधिक कमी हो जाती है। बहुत से रोगियों में पचन पाचन के विकार भी देखे जाते हैं। शारीरिक रोग निवारक शक्ति में कमी हो जाने के कारण रोगी को अन्य रोग भी आसानी से घेर दबाते हैं जिससे उसका प्राणान्त हो जा सकता है।

निदान और विभेदात्मक निदान –

उपरोक्त सभी प्रारूपिक लक्षणों की उपस्थिति में निदान में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। खासकर शिशुओं में जबकि उनके जीवन के पहले वर्ष के उत्तरार्ध अङ्गों या निम्नाङ्गों में स्पर्श कातरता विद्यमान हो। इस दशा मे बच्चों में अस्थिकौटिल्यज पर्वमाला और रक्तमेह की विद्यमानता तथा दन्तोद्गमन के बाद मसूढ़ों से रक्त आना आदि लक्षणों से काफी सहायता मिलती है।

इस रोग के विभेदात्मक निदान मे—

[१] उग्र आमवात (Acute rheumatism)

[२] उग्र अस्थिप्रदाह (Osteomyelitis)

[३] सार्कोनामा नामक अर्बुद (Sarcoma)

[४] उपदंशज अस्थिशिर, प्रान्तास्थि प्रदाह (Syphlitic epiphysitis)

[५] उग्र सुषुम्ना प्रदाह या बाल पक्षाघात (Acute anterior poliomyelitis or infantile paralysis)

[६] दन्तोद्गम (teething) आदि को ध्यान मे रखना चहिये।

उग्र आमवात—साधारणत. ३ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों मे नहीं पाया जाता। उग्र अस्थिप्रदाह की अवस्था मे बच्चा बहुत गम्भीर रूप मे बीमार होता है, ज्वर अधिक रहता है, केवल एक हड्डी या अङ्ग प्रभावित होता है और स्कर्वी रोग के अन्य लक्षण नहीं पाये जाते। इसी तरह सारकोमा नामक अर्बुद एक ही अङ्ग मे पाया जाता है और स्कर्वी के कोई लक्षण नहीं देखे जाते। उपदंशज प्रान्तास्थि प्रदाह (epiphysites) ६ माह से कम आयु वाले बच्चों मे पाया जाता है और इसके साथ साथ वंशगत उपदंश के अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं। बाल पक्षाघात मे रुग्ण अङ्ग मे सूजन नहीं होती और पक्षाघात के कारण कंडरा प्रतिक्षेप [tendon reflexes] लुप्त हो जाते हैं जबकि स्कर्वी मे ये प्रतिक्षेप यथावत् बने रहते हैं और उस अङ्ग मे पक्षाघात के कोई चिन्ह नहीं पाये जाते। दन्तोद्गम के समय मसूढ़ों से खून नहीं निकलता।

निम्नलिखित दो तथ्य भी स्कर्वी के निदान मे बहुत सहायक होते हैं—

[१] रोगी के आहार के बारे मे सावधानीपूर्वक जिज्ञासा करने से पता चल जाता है कि उसमें विटामिन सी की कमी है।

[२] यथोचित मात्रा मे विटामिन सी देने पर १-२ दिन के अन्दर ही रोग और रोगी के लक्षणों में आशातीत लाभ दिखाई पड़ता है।

भावीफल और साध्यासाध्यता—

स्कर्वी रोग सुसाध्य होता है और विटामिन सी का इस रोग पर चमत्कारी प्रभाव होता है। इञ्जेक्शन द्वारा देने पर १ दिन और मौखिकमार्ग से देने पर २-३ रोज के अन्दर ही विटामिन सी के लाभदायी गुण प्रभाव दिखाई पड़ते हैं २-३ दिन के अन्दर स्थानीय पीडा और स्पर्शकातरता तथा १ सप्ताह के अन्दर मसूढ़ों से खून आना या मूत्र में खून आना बन्द हो जाता है। इसके कारण उत्पन्न थोड़ा क्षरित रस तो प्राय. १ सप्ताह मे अवशोषित हो जाता है। किन्तु अधिक रहने पर २-३ महीने का समय लग सकता है। स्कर्वी के साथ



रोगी को अन्य आनुसगिक सक्रमणों और रोगों के प्रति रोगगम्य बना देता है, वह आसानी से उनका शिकार हो जाता है जैसे वृक्कप्रदाह, अतिसार, न्यूमोनिया आदि । क्षीण और दुर्बल शिशुओं में ऐसा अधिक होता है ।

चिकित्सा —

बच्चे को पीड़ित अङ्ग के हिलने डुलने, छुए जाने या दब जाने के कारण बहुत कष्ट होता है। इसलिये उसे मुलायम गद्देदार शय्या पर सुलाना चाहिये और उस अङ्ग को रूई मे लपेट कर किसी चीज के सहारे स्थिर रखना और बच्चे को प्यार करने या अन्य किसी अनावश्यक कारणवश हिलाना डुलाना नही चाहिये। यदि ढीला ढाला वस्त्र पहनाया जा सके तो अच्छा ही है नहीं तो बच्चे को पलना मे सुलाकर पलने ही को वस्त्र से इस प्रकार से ढका जा सकता है कि वस्त्र का भार उसी पर पड़े, बच्चे के पीड़ित अङ्ग पर नहीं ।

स्कर्वी चिकित्सा का आधार मूल सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा मे विटामिन सी देना है। प्रारम्भ में ५० मिलीग्राम विटामिन सी का इन्जेक्शन नस मे या मासपेशियो मे देना चाहिये। बाद मे मौखिक मार्ग से ५०-१०० मिलीग्राम विटामिन सी प्रतिदिन देना चाहिए। चिकित्सारम्भ के १-२ दिनों के अन्दर ही पर्याप्त लाभ दिखाई देताहै। इसके साथ साथ शिशु के दैनिक आहार में भी अपेक्षित सुधार करना चाहिये और उसे एक नारगी या टोमैटो का रस या १ छटाक अंगूर का रस या इतना ही या इससे अधिक मात्रा मे अन्य फलो का रस देना चाहिये। यदि बच्चा पाउडर दूध या उबाले हुये दूध पर पल रहा हो तो यथासम्भव माता या धात्री का दूध या गाय का या बकरी का ताजा दूध पिलाना चाहिये। कुछ अधिक आयु वाले बच्चों को दूध उबाला हुआ आलू मसल कर लेई के समान बनाकर भी दिया जा सकता है।

बाल स्कर्वी मे प्रतिरक्षा-

माता का दूध पीने वाले बच्चो मे स्कर्वी रोग बहुत बिरले ही पाया जाता है। गाय, भैंस का दूध उबालने पर उसका विटामिन सी नष्ट हो जाता है। इसलिये इन पर पलने वाले बच्चों को विटामिन सी देने के लिये फलों का रस, सन्तरा या अंगूर का रस या सस्ता और सर्वसुलभ टोमैटो का रस आवश्यकतानुसार थोड़ी चीनी मिलाकर या यूंही अवश्य देना चाहिये। दो महीने की आयु के बाद ही उन्हे देना आरंभ कर देना चाहिए। शुरू मे १ चाय चम्मच भर नारंगी के रस से आरम्भ कर ६ महीने की आयु तक एक पूरी नारंगी या सन्तरा का रस देना चाहिये। इससे किसी किसी बच्चे को कुछ पतला दस्त आता है किन्तु इससे घबराने की कोई बात नहीं। जो बच्चे नारंगी या सन्तरे का रस नहीं ले उन्हे अंगूर या टोमैटो का रस देना चाहिये। चूंकि सुखाये हुये फलो और साग सब्जियो मे विटामिन सी का अधिकाश भाग नष्ट हो जाता है इसलिये ताजे फलो और सब्जिओं का ही व्यवहार करना चाहिये।

—श्री डा० पद्मदेव नारायणसिंह एम. बी., बी. एस.
सिन्दरी (धनबाद) बिहार

:: पृष्ठ ३८७ का शेषाश ::

फल, फलों का रस, मधु पानी, तरकारी की सूप तथा मां का दूध पिलाकर रखना चाहिये। मधु सर्दी मे बहुत लाभदायक है। पानी के साथ मधु पीने से किसी भी दवा से जल्दी ऊर्ध्व श्वासनली से बलगम निकल आते हैं। सर्दी मिटने के बाद उनको चोकर समेत कोमल रोटी, ढेकी से कुटा हुआ चावल का भात, उबाला हुआ साग और गाय का दूध आदि सहजसे पचने वाली चीजे देनी चाहिए।

कुछ दिन तक रोगी को बर्फ, आईसक्रीम पुराना दही तथा डाभ के पानी से परहेज रखना बहुत आवश्यक है।

—श्री डा० कुलरंजन मुखर्जी
प्राकृतिक चिकित्सालय,
११४/२ बी, हाजरारोड, कलकत्ता—२६

बाल स्कर्वी [Infantile Scurvy]

श्री पं० रामस्वरूप वैद्य आयुर्वेदाचार्य



आजकल नवीन सभ्यता मे पले पाश्चात्य शिक्षा से शिक्षित और दीक्षित वर्ग की ऐसी धारणा है कि आयुर्वेद मे बहुत थोड़े मे रोगों के विषय में ही विवेचन किया गया है यथा जीव-तिक्ति (*Vitamin*) की न्यूनता से होने वाले रोगों का वर्णन तो आयुर्वेद में हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्राचीन काल मे भारतवासियों को जीवतिक्ति सम्बन्धी ज्ञान बिलकुल नहीं था। क्योंकि इसकी खोज का समय सन् १९१२ ई० से प्रारम्भ होता है। इस विषय पर *Hopking Osborm* और *Mendal* ने अपनी शोधें प्रकाशित की थीं। सन् १९१३ मे *Funk* नामक वैज्ञानिक ने इन पदार्थों का नामकरण किया तथा उसका नाम जीवन के लिये आवश्यक होने से जीवतिक्ति (*Vitamin*) रख दिया गया। प्रिय पाठकगण यह बात नहीं है, क्योंकि हमारे आचार्यगण पूर्वकाल से ही इस तत्व के पूर्ण ज्ञाता थे और इसी जीवन शक्ति को वह प्राणतत्व नाम से भी कहा करते थे। उन्होंने इस तत्व का प्रत्येक पदार्थ मे, उसकी न्यूनता और बाहुल्यता का ज्ञान प्राप्त कर किया था। आयुर्वेद के प्रत्येक आचार्य ने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ इसी तत्व को सन्मुख रखकर किया है, यथा चरके—

अथातो दीर्घं जीवनीयमध्यायं व्याख्यास्याम ।
दीर्घ जीवितमन्विच्छन भरद्वाज उपागमत् ॥

आदि सभी ग्रन्थों मे दीर्घ जीवन प्राप्त करने के उपायों का ही निर्देश किया है। जिन औषधियो में यह जीवतिक्ति सम्पूर्ण प्रकार की विशेष मात्रा मे होती है उन्हीं मे से कुछ औषधियों को लेकर उनका नाम "जीवनीयगण" रखा है और आयुर्वेद की सम्पूर्ण रसायन औषधिया इन्हा जीवतिक्तियों का संग्रह है। यद्यपि पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी ए बी, सी, डी, ई, इन पाच ही जीव तिक्तियो का पता लगा सके हैं किन्तु केवल चरक संहिता मे ही सूत्र स्थान के चौथे अध्याय मे जीवनीय, बृंहणीय आदि पंचासत जीवतिक्तियो का वर्णन संक्षेप से किया है। जीवनशक्ति संसार के प्रत्येक द्रव्य मे विद्यमान है। भगवान श्रीकृष्ण महाराज ने स्वयं श्रीमद् भगवत गीता मे इस जीवन शक्ति को पराप्रकृति के नाम से कहकर उसका निर्देश किया है—

भूमिरापोऽनलो वायु ख मनोबुद्धिरेवच ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितिस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् ।
जीव भूतां महा बाहो ययेदं धार्यते जगत ॥

इन श्लोकों के अन्तिम पाद मे 'जीव भूता महाबाहे पयेद धार्यते जगत' यह अर्द्ध श्लोक स्पष्ट बता रहा है कि संसार के प्रत्येक प्राणी और संसार की स्थिति इसी तत्व पर निर्भर हैं। आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने इस गुत्थी को द्रव्यों के गुण, रस, वीर्य, विपाक, शक्ति और वातादि दोषघ्न औषधियों का विवेचन करके सुलझा दिया है किन्तु आज के वैद्य वर्ग इन महर्षियों की सूत्रात्मक भाषा का तत्व न समझकर समझ लेते है कि आयुर्वेद मे बहुत सा विषय नहीं था जिसको आधुनिक पाश्चात् वैज्ञानिकों ने ही सुलझाया है किन्तु आयुर्वेद मे सूत्रात्मक भाषा मे सर्व विषय आयुर्वेद सम्बन्धी उपस्थित हैं जिसको अब भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों को उससे बहुत कुछ सीखना है। आयुर्वेद की उक्ति "यदि हास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्तिन तत्क्वचित्" अक्षरश. सत्य है।

इस रोग को आजकल के विद्वान "प्रशीताद" नाम से कहते हैं। क्योंकि शीतादि रोग जो सुश्रुत ने मुख रोगान्तर्गत कहा है, उसके लक्षण होकर भी कुछ विशेष लक्षण इस रोग मे होते है। यह असात्म्योद्भव रक्त रोगों के अन्तर्भूत है। इस बात को आजकल के वैज्ञानिक चिकित्सक भी मानते है और आयुर्वेद मे यह रोग "रक्तपित्त" मात्र का



प्रारंभिक भेद मात्र ही है जिसकी गणना चरकाचार्य ने रक्तगत रोगों में की है। रक्तस्राव कराने वाले जितने भी रोग हैं उनकी चिकित्सा रक्तपित्तानुसार ही हो सकती है तथा वह रोग रक्तपित्त के अन्तर्गत ही है, भेद केवल इतना ही है कि कुछ रोग स्थानिक रक्तस्राव कराते हैं और उनके उस स्थान विशेष के रक्तस्राव कराने पर उस स्थान की रोग गणना मे कर उनका विशेष नाम रख दिया है। उन्हीं रोगो मे शीतादि रोग हैं जिसका स्थान मुख है। अतः सुश्रुताचार्य ने अपनी सहिता में इस रोग को मुख रोगान्तर्गत रोगो मे कहा है यथा—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्य यस्मात्कस्मात् प्रवर्तते।
दुर्गंधीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीन मृदूनि च॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफ शोणित संभवः॥

अर्थात् मसूढ़ों से अकारण ही रक्तस्राव होता है, दुर्गन्धित काले क्लेदयुक्त और मृदु होकर मसूढ़े गल गलकर गिरने लगते हैं तथा एक दूसरे को पकाते हैं। इस कफ रक्तज व्याधि का नाम शीताद है। कुछ आचार्यों ने शीताद को ही स्कर्वी नाम दिया है। स्कर्वी रक्तपित्त का ही रूप है। उसमे कफ का दोष होने पर मनुष्यों के मसूढ़ों में शीताद होने की संभावना रहती है जबकि उस रोगी को दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris) हो चुका हो क्योंकि यह रोग भी "दुष्टशोणित संभवः" रोग है। अर्थात् दुष्टशोणित संभव. रोग सभी के लक्षण इस स्कर्वी (शीताद) रोग में हो सकते हैं।

आजकल की वैज्ञानिक चिकित्सानुसार यह रोग जीवतिक्ति की न्यूनता के कारण होता है। जीवतिक्ति (Vitamin) की न्यूनता अथवा अभाव के कारण दन्त सम्बन्धी सर्वरोग जैसे दांतों का हिलना, मसूढ़ों का फूल जाना, दांतो से रक्त गिरना, पायरिया (दन्तवेष्ट), आमाशय रोग, अतिसार, वातरक्त (गाउट), मुख तथा नाक से रक्त गिरना (ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त), शरीर का भार कम होते जाना, बेचैनी, अस्थिदौर्बल्य (रिकेट्स), घावों का शीघ्र भरना, मन्थर ज्वर, आंत्र ज्वर आदि रोगों का प्रादुर्भाव होता है। जीवतिक्ति सी का नाम भी आधुनिक विद्वान "प्रशीताद प्रतिरोधक" (Scurvy Preventing factor) कहते हैं। यह रोग असात्म्य भोजन के कारण धीरे धीरे शरीर मे अपना प्रभाव जमाता जाता है और धीरे धीरे रोगी के बल का ह्रास होता जाता है। मुख की कांति निस्तेज कृष्णाभ, पीतवर्ण अथवा हरितवर्ण की हो जाती है। रोगी को थोड़े परिश्रम से श्वास फूल जाती है। दन्तवेष्ट में शोथ होकर उन्हें थोड़ा भी दबाने या न दबाने पर भी रक्तस्राव होने लगता है तथा धीरे धीरे दांत गलने लगते हैं और रोगी की श्वास में दुर्गन्ध आने लगती है। किसी किसी रोगी के मस्तिष्क में उष्णता की अधिकता होने पर रात्र्यन्धता का रोग भी हो जाता है। कभी कभी रोगी के पैर, गुल्फ और सन्धियों पर शोथ हो जाता है। किसी किसी को उदरशूल कोष्ठबद्धता भी कष्ट देते रहते हैं, मूत्र निग्रह की शान्ति बिलकुल क्षीण हो जाती है जिससे रोगी को मूत्र करने के पश्चात् भी मूत्र की बूंदें निकल जाती हैं, किसी रोगी को श्वासोच्छ्वास मे कष्ट भी होता है किन्तु फुफ्फुसों की परीक्षा करने पर फुफ्फुस पूर्ण स्वस्थ पाये जाते है जोकि वास्तव मे श्वासरोगी नहीं होता किन्तु इसी रोग के कारण होता है। हृदय मे ध्वनिवाहक (स्टेथिस्कोप) द्वारा परीक्षा की जाय तब शरीर में रक्त न्यूनता के समान ध्वनि आती हैं।

अतिशय बलक्षय, दन्तवेष्ट विकृति, स्थान स्थान पर रक्तस्राव और शोथ से ही इस रोग का पूर्ण निश्चय हो जाता है। इस रोग की बढ़ी हुई दशा मे शरीर से रक्तस्राव विशेष होने लगता है इसी कारण से व्रण होने पर उससे रक्तस्राव विशेष होता है और वह क्षत बड़ी देर में भरता है. शरीर की अस्थियो के जोड़ खुल जाते हैं, रोगी विशेष दुर्बल हो जाता है। यदि इस रोग मे त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura) हो जावे तब रोग असाध्य ही हो जाता है। यह रोग बड़े मनुष्यों की अपेक्षा बच्चो



मे विशेष रूप मे पाया जाता है। इसका नाम बाल स्कर्वी (Infantile scurvy) है। आजकल की मातायें पाश्चात्य सभ्यता के कारण अपने बच्चों को अपना दूध न पिलाकर केवल गाय, भैंस का उबाला हुआ दूध अथवा डिब्बा का बना हुआ दूध पिलाया करती हैं या निशास्तादार शक्कर वाले भोजन देती रहती हैं जिनमें जीवतिक्ति सी का पूर्ण अभाव होता है। अपना दूध पिलाने वाली मातायें जो शारीरिक श्रम नहीं करतीं और गीले, गन्दे मकानों की अशुद्ध हवा मे रहतीं अथवा जो मातायें फल और शाक न खाकर केवल दाल रोटी और मास का भोजन करती हों उनके बच्चों को भी यह रोग हो जाता है। अथवा अधिक अवस्था बढ़ जाती है तब तक माता का दूध पीते रहने या माता का दूषित दूध पीते रहने पर भी बच्चों को यह रोग हो जाता है। जिन गर्भिणी माताओं की गर्भावस्था के भोजन मे उन फलों और शाकों का अभाव होता है तथा जीवतिक्ति सी का अभाव होता है, उनके दूध मे भी इसका अभाव रहने से उनका दूध पीते रहने पर भी उनके बच्चों को यह रोग हो जाता है। सारांश यह है कि बच्चों के भोजन मे जीवतिक्ति सी और चूने (Calcium) के अभाव से स्कर्वी (प्रशीताद) बालशोष (रिकेटस) आदि रोग हो जाते हैं। बाल-स्कर्वी बच्चों को छः महीने की अवस्था से एक वर्ष की अवस्था और कभी कभी १॥ वर्ष की अवस्था तक भी होते देखा गया है।

लक्षण —

बड़े मनुष्यों के लक्षणों के तुल्य जिनको हम पूर्व में लिख चुके हैं शिशुओं में भी लगभग समान होते हैं। कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार भी होते हैं- शरीर का रंग फीका पड़कर बच्चों को सूखा (बाल-शोष) हो जाता है। उसको थोड़ा भी छूने पर उसके शरीर में दर्द होने से रोता है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, अपने हाथ पैर अच्छी तरह नहीं हिला सकता। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं बच्चे को पक्षाघात तो नहीं हो गया किंतु ऐसा नहीं होता। ध्यानपूर्वक देखने से बच्चे के एक या दोनों पैरों पर शोथ प्रतीत होता है, त्वचा मे चमक सी प्रतीत होती है, कभी कभी हाथों मे भी ऐसी ही दशा होती है, कभी कभी मस्तिष्क पर भी शोथ मालूम होता है। संधियों पर इस शोथ का कोई प्रभाव नहीं होता, धीरे धीरे पांडुता और निर्बलता बढ़ती जाती है। कभी कभी नाक, मुंह, आमाशय तथा आंतों से रक्तस्राव होने लगता है, उसी समय पर रोकथाम न की जावे तो बालक प्रतिदिन निर्बल होता जाता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

रोग परिणाम—यदि ठीक प्रकार समय पर चिकित्सा की जावे तब बच्चा स्वस्थ हो जाता है नहीं तो परिणाम बुरा ही होता है।

चिकित्सा —

हम पूर्व मे लिख चुके हैं कि यह रोग जीवतिक्ति सी के अभाव से होता है। इस जीवतिक्ति सी की हीनता प्रायः बच्चों में पाई जाती है। शीघ्र उत्सृष्ट हो जाने के कारण बच्चों को इसके प्रयोग करने की प्रतिदिन आवश्यकता रहती है। उसके अभाव मे बच्चों को स्कर्वी रोग हो जाता है जिसके नष्ट होने पर उसका प्रभाव जीवनपर्यन्त बना रहता है जो रक्तस्राव की असाधारण प्रवृति (haemophilia) रोग मे परिवर्तित हो जाती है उसी को आयुर्वेद मे रक्तपित्त कहते हैं।

बच्चों को मातायें अपना ही दूध पिलावें और शारीरिक थोड़ा बहुत परिश्रम अवश्य करें और शुद्ध वायु में रहें क्योंकि माताओं के दूध मे ही जीवतिक्ति सी विशेष होती है, केवल गाय ही के दूध १॥ प्रतिशत होती है। वह भी दूध गर्म करने से नष्ट हो जाती है, अतः बच्चों का ठीक प्रकार से पोषण माता के प्रेममय दूध से ही ठीक हो सकता है। यदि यह संभव न हो सके तब धाय का दूध जो स्वस्थ हो उसका बच्चा भी बच्चे की ही अवस्था का हो तो पिलाना चाहिए। धाय के लक्षण भावमिश्र



ने इस प्रकार कहे हैं—

पीताय यदि बालस्य विदध्यादुपमातरम्।
सुविचार्य गुणान्दोषान्कुर्याद्धात्री तदेदृशीम्॥
सवर्णां मध्यवयसा सच्छीलामुदितां सदा।
शुद्ध दुग्धा बहुक्षीराम् सवत्सामतिवत्सलाम्॥
स्वाधीनामल्प सन्तुष्ण कुलीनां सज्जनात्मजम्।
कैतवेन परित्यक्ता निज पुत्रदृशं शिशौ॥

अर्थात् जो बच्चों को दूध पिलाने के लिये धाय रक्खी जावे तब गुण और अवगुणों को सोच समझ करके इस तरह रक्खे कि अपने वर्ण की, तरुणावस्था वाली, सर्वकाल में आनन्दित रहने वाली, शुद्ध तथा अधिक दूध वाली जीवित सन्तान-युक्त, अधिक प्रीति करने वाली, कुलीन सज्जन पुरुष की कन्या, छल कपट से रहित और अन्य बालक को अपना पुत्र समझने वाली हो, ऐसी ही स्त्री को धाय के लिये रखना योग्य है।

यदि किसी कारणवश दूध वैद्य को धाय की परीक्षा करने पर दूषित प्रतीत हो तब उसको पथ्यपूर्वक रखकर यह क्वाथ पिलावे और जब तक परीक्षा करने पर दूध शुद्ध न हो जावे, यह क्वाथ ही पिलाते रहें। भावप्रकाश—

पटोल निम्बासन दारुपाठा,
मूर्वा गुडूची कटुरोहिणी च।
सनागरं त्व क्वथितं च तोये,
धात्री पिबेत्स्तन्य विशुद्ध हेतो॥

पटोल पत्र, नीम की छाल, पीतशाल, देवदारु, पाठा, मूर्वा, गिलोय, कुटकी और सौंठ—यह क्वाथ धाय दुग्ध शुद्ध करने के लिये पीवे।

जब बच्चों को इस रोग का प्रारम्भ मालूम पड़े तभी से बच्चे को भोजन औषधि आदि में वही द्रव्य प्रयोग कराने चाहिये जिनमें जीवतिक्ति सी की बाहुल्यता हो। भोजन पदार्थों में आवला, नीबू, नारंगी, संतरा, अंगूर, प्याज, मिठ्ठा, मौसमी, माल्टा आदि के ताजे रसों को अधिक प्रयोग बच्चे की अवस्थानुसार करना चाहिये। आलू को उबाल कर गाय के दूध में फेंटकर चम्मच से बार बार देने से इस रोग में लाभ होता देखा गया है। किंतु आलू कुछ दुष्पाच्य होने से बच्चे की अग्नि का ध्यान करके देना चाहिये। आंवले में जीवतिक्ति सी सबसे अधिक मात्रा में अर्थात् ६ सौ इन्टर नेशनल यूनिट की मात्रा में होती है। "कुनूर" की अनुसंधानशाला में परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ है कि ताजे आवलों के फलों में इस जीवतिक्ति सी को प्राप्त करने के आज तक के सब ही साधनों से २० गुना अधिक जीवतिक्ति सी होती है। आंवले में यह भी विशेषता पाई गई है कि कितना ही गर्म किया जाय इसकी प्रभावशाली जीवतिक्ति नष्ट नहीं होती। सन १६४० में जिला हिसार (पंजाब) में जब दुर्भिक्ष पड़ा था तब वहां स्कर्वी रोग (प्रशीताद) अधिक फैला था। तब आवले के ताजे फल प्रयोग में लाने से इस रोग पर सफलता से चिकित्सकों ने विजय प्राप्त की थी। आंवले से न्यून जीवतिक्ति सी नीबू और संतरा में होती है। लिंड (Lind) नामक विद्वान ने स्कर्वी रोग पर एक पुस्तक लिखी थी जो सन् १६५६ में छपी थी। उसने नीबू के रस को स्कर्वी प्रतिरोधक बताया है। जीवतिक्ति सी का नाम भी इस रोग का प्रशामक होने के कारण Scurvy preventive factor है। प्याज में स्कर्वीनाशक गुण होता है। सर्जन "कैमेरोन" ने स्कर्वी से बचने के लिये प्याज को बहुत लाभदायक बतलाया है। किन्तु यह गुण कच्चे प्याज में ही होता है। अत: प्याज का रस भी बच्चे को दिन में १-२ बार निरन्तर देना बहुत लाभप्रद है। प्याज में लौह तत्व रहने से वह बच्चे की निर्बलता और शरीर की पीतवर्णता को भी दूर करता है और पौष्टिक भी है। लहसन में भी जीवतिक्ति सी विशेषरूप से पाई जाती है किन्तु वह वातशामक उष्ण होता है जिस समय स्कर्वी रोग के कारण बच्चा अपने हाथ पैरों को न हिला सकता हो, जिसका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं, उस समय बच्चे को लहसुन का रस मधु मिलाकर या लशुन आसव १०-१२ बूं दें अवस्थानुसार थोड़ा जल मिलाकर दें तथा उसको दूध पिलाने वाली धाय को



शिशुरोगाङ्क

रसोनपाक ६-६ माशे से १ तोला तक गाय के दूध से दें। बच्चे के शरीर से महानारायण तैल का मर्दन करावें।

इन कन्द और फलों के सिवाय हरे पत्र वाले शाकों और तरकारियों मे भी यह जीवतिक्ति विशेष पाया जाता है। अतः बच्चे की माता को हरे पत्र वाले हरे शाक और हरी तरकारियां विशेष खानी चाहिये और बच्चों को भी उसके रस निकालकर उचित मात्रा में देना चाहिये।

जीवतिक्ति सी पानी में घुल जाती है। क्षार, लवण और गर्मी इसको नष्ट कर देती है। अत लवण इसकी प्राप्ति के लिये शाक वगैरह में हमें खनिज लवण और क्षार नहीं मिलाने चाहिये और न उनको आंच पर विशेष गर्म करके छौंकना भूनना चाहिये।

हरे फल और शाकों के अतिरिक्त त्रिफला, गोमूत्र, पाठा, दशमूल, दारुहल्दी, कुटकी, खैर-सार, वांसा, गोखुरु, मोचरस, बट, आयमाशा, पलाश, गूलर, मूर्वा आदि में भी जीवतिक्ति सी पाया जाता है। अत इन औषधियों के बने प्रयोग भी इस रोग मे अवस्थानुसार लाभप्रद है।

आयुर्वेदाचार्यों ने इसी कारण प्रसूता स्त्रियों के लिये दशमूल क्वाथ, दशमूलारिष्ट आदि औष-धियों का विधान किया है जिससे उनके शरीर में यह तत्व बढ़कर दूध के द्वारा उनके बच्चे को प्राप्त होकर इस रोग से बचा रहे। रोग की विशेष उप-द्रवों की अवस्था मे चिकित्सक शास्त्र निर्णीत तत्वों के आधार बच्चों की चिकित्सा करें। इस रोग में धातु भस्मो मे लौह, स्वर्ण, स्वर्ण माक्षिक, रससिंदूर प्रयोग अवस्थानुसार मात्रा में दें।

मकरध्वज, अभ्र, माडूर भस्म, मुक्तादि ऐसी औषधिया हैं जिनमे सब प्रकार की जीवतिक्तिया हैं, लौह, माडूर, माक्षिक मे जीवतिक्ति सी विशेष हैं। अभ्र, मकरध्वज, रससिंदूर मे सब प्रकार की जीवतिक्तियां हैं। प्रवाल, मुक्ता, शखादि, खटिक वर्ग मे जीवतिक्ति डी विशेष मात्रा मे होती है।

बच्चों के दांत निकलते समय भी बच्चों में जीवतिक्ति सी और डी की विशेष न्यूनता होने से भी बच्चों को यह रोग और बालशोष (रिकेटस) होने की विशेष संभावना रहती है। अत. ऐसी अवस्था में "दन्तोद्भेद गदान्तक" देने की व्यवस्था आयुर्वे-दाचार्यों ने की है। बच्चों के सब प्रकार के रोगो और इस रोग मे "कुमारकल्याण रस" बहुत ही उत्तम है। इसमें आज तक की ज्ञात सब ही जीव-तिक्तियों की न्यूनता को दूर करने की शक्ति है।

इस रोग मे बच्चे की माता और बच्चे को उचित मात्रा मे 'च्यवनप्राश्यावलेह' में माडूर या लौह भस्म बढ़िया बनी हुई उचित मात्रा मे दूध के साथ दे। अथवा यूनानी प्रयोग 'न्योशदारु' दे तब विशेष लाभ होगा। शरीर मे पीलापन विशेष होने पर आमलक्यादि लौह या आमलक्याद्यवलेह का प्रयोग करायें। यदि बच्चे के शरीर पर शोथ प्रतीत होने लगे तब "पुनर्नवादि मांडूर" का प्रयोग विशेष उपकारी होगा। सिद्धात यह है कि बच्चे और बच्चे की माता को रक्तपित्तशामक आदि प्रयोग अथवा अन्य उपद्रव होने पर हमारे पूर्व मे बताये हुए प्रयोगों द्वारा जिनमे जीवतिक्ति सी विशेष है, देना चाहिये। अब आपके समक्ष एक प्रयोग लिखता हूँ—

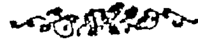
ताजे आमले छाया में सुखाये हुये उनका सूक्ष्म चूर्ण बनाकर उसमे ताजे आवलों के रस ही की अधिक से अधिक भावना देनें से उसका शक्तिवर्द्धन होता है किन्तु २१ भावना से कम न दें। यह आंवला का चूर्ण ३० भाग, कांतलौह भस्म ३ भाग, मांडूर भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म, अभ्रभस्म, प्रबाल भस्म, प्रत्येक ३-३ भाग इन सबको खूब घोटकर रखले।

मात्रा—बडे आदमी को १ से १॥ माशे तथा बच्चे को १ से २ रत्ती मधु से देकर दूध पिलावें।

—श्री पं. रामस्वरूप वैद्य आयुर्वेदाचार्य
अध्यक्ष-गोपाल आयुर्वेद भवन
उखलाना [अलीगढ़]

हकलाना या तुतलाना

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य



बालक के मन में जो भाव सदा उठते हैं उनका प्राकट्य उसकी चेष्टाओं ही हुआ करता है। भोजन शयनादि आवश्यक कार्यों की इच्छायें बालक की चेष्टा देखकर तुरन्त ही जानी जा सकती हैं। किन्तु ज्यो ज्यो उसका शरीरिक व बौद्धिक विकास होता है त्यों त्यों उसमे वाणी के द्वारा अपने भाव प्रकट करने की क्षमता आती जाती है। बोलने में कुछ विशेष त्रुटिया होना वाणी की विकृति हैं। हकलाना या तुतलाना इसी वाणी के विकृत स्वरूप है।

हकलाना अर्थात् रुक रुक कर या अस्पष्ट शब्दाच्चारण वायु प्रधान दोष से तथा तुतलाना अर्थात् शब्दों का विकृत उच्चारण श्लेष्म प्रधान दोप से हुआ करता है। किन्तु जब शब्दोत्पादक जिह्वा, तालु कण्ठमूर्धादि अङ्गों मे कोई विशेष विकृति स्वभावतः होती है अथवा यह सब अङ्ग विकसित अवस्था मे रह जाते हैं तो वह बालक अपने सभी भाव चेष्टाओं से ही व्यक्त कर सकता है। बोलने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती यह अवस्था तो मूकता या गूंगापन है।

बच्चों के अस्पष्ट एवं विकृत शब्दोच्चारण में कारण प्रथम तो अधिकाश उनके मातापिता आदि ही हैं जो अधिक लाड़ प्यार के कारण बच्चों को तुतला कर बोलना सिखा देते हैं। जिससे वे उन्हीं का अनुकरण करने लगते हैं। दूसरे सङ्गति के प्रभाव से भी बच्चों मे हकला या तुतला कर बोलने की आदत पड़ जाती है। अतएव बालकों को इन दोषों से बचाने के लिये इन बातों से उन्हे दूर रखना चाहिये।

अनुभव से यह भी देखने में आया है कि जिन बालकों के माता पिता कफ प्रधान मुख रोगों से पीड़ित हैं उनकी संतानें भी मुख के आभ्यन्तरिक अवयवों मे कफ अधिक होने के कारण तुतलाकर बोलने वाली उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि सुश्रुत ने हकला कर अर्थात् रुक रुक कर अव्यक्त शब्द उच्चारण करने मे वायु के प्रकोप को ही कारण बताया है जैसा कि उस श्लोक मे स्पष्ट है—

> गर्भो वाय प्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते।
> भवेत् कुब्ज'कुणि' पगु मूको मिन्मिन एवच॥

सामान्यतः तुतले बालक कण्ठ स्थानीय क वर्ग को मूर्धा स्थानीय ट वर्ग मे, तथा दन्तस्थानीय त वर्ग को ट वर्ग में ही बदल देते हैं। किन्तु कुछ ट वर्ग को त वर्ग मे बोलते हैं। कोई कोई र को ल और श, स को छ उच्चारण करते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से तो इसमें कोई भेद नहीं किन्तु निदान की दृष्टि से तत्तत्स्थानीय विकृति ही समझनी चाहिए जिससे कि विवश हो बालक स्वस्थानीय वर्णों को अन्य स्थानीय वर्णों मे बदल कर बोलता है।

जिन बालकों में यह दोष देखे जाय और वह सुधार की स्थिति मे न पहुंचे तो अवश्य ही चिकित्सा के योग्य हैं। निम्न योग इस दोष की निवृत्ति के लिये पूर्ण लाभदायक सिद्ध हुए हैं—

१—कल्याणक चूर्ण—हल्दी, बाल बच, छोटी पीपल, सोंठ, सफेद जीरा, अजमोद, मुलेठी, मीठा कूठ बारीक पीसकर घी व शहद के साथ प्रातः और सायं ६ रत्ती से लेकर १ माशे तक अवस्था के अनुसार सेवन करें।

२—सुवर्ण भस्म १ भाग, प्रवाल भस्म २ भाग बगला पान के स्वरस मे शहद के साथ खिलावें। सुवर्ण भस्म के स्थान पर सुवर्ण वङ्ग भी अच्छा लाभ दिखाती है।

३—कुलंजन (पान की जड़) का वस्त्रपूत चूर्ण ३ रत्ती पुराने गुड मे मिलाकर कुछ दिन लगातार सेवन करायें।

४—केवल चूने व कत्थे से लगा हुआ पान पत्थर पर महीन पीस कर घूंटी के रूप में देने से भी बच्चों का हकला और तुतलाकर बोलना ठीक होता हुआ देखा गया है।

५—श्यामा तुलसी का पत्र स्वरस ३ माशे शहद से चाटकर ऊपर से कदुष्ण काली बकरी का दूध पीने से शब्दोत्पादक अङ्गों में सुधार हो स्वर की सुन्दरता बढ़ जाती है।

—श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
मन्धना (कानपुर)

तुतलाना या हकलाना

श्री नन्दलाल शर्मा वैद्य

प्राणीमात्र जन्मतः अभिव्यक्ति होता है। मानव ही नहीं प्रत्युत पशु-पक्षी भी अपनी अपनी भाषा में अपने मनोभावों को दूसरों पर अभिव्यक्त करने के लिये उत्सुक रहते हैं। अभिव्यक्ति का यह कार्य होता है जिह्वा के द्वारा। यदि जिह्वा न होती तो न जाने संसार किस अवस्था में होता।

जिह्वाहीन व्यक्ति, जिसकी जिह्वा कट गई हो या रोग विशेष के कारण या जन्मतः विकृति होने पर गूंगा या मूक कहलाता है। यद्यपि बुद्धिशील होने से मूक व्यक्ति भी संकेतों से या लिखकर अपने भावों को दूसरों पर प्रगट करता है तो भी इससे वक्ता तथा श्रोता दोनों को सन्तोष नहीं होता। अतः प्रत्येक व्यक्ति आत्माभिव्यक्ति करना चाहता है जिसके लिये जिह्वा का स्वस्थ होना आवश्यक है। स्वस्थ रखने के अनेक नियम हैं जिनको पूर्ण करने लिये इसके शारीर ज्ञान का होना आवश्यक है।

जिह्वा की रचना में कई तत्व भाग लेते हैं जिनमें मांससूत्रों का मुख्य स्थान है। ये मांससूत्र श्लेष्मिक-कला के द्वारा आच्छादित रहते हैं। मांससूत्रों के अतिरिक्त इसकी रचना में नाड़ी सूत्र, सौत्रिक तन्तु तथा रक्तकेशिकायें भी भाग लेती हैं।

जिह्वा के तीन महत्वपूर्ण कार्य हैं—

१. अन्न चवर्ण में सहायता २. रसग्रहण ३. बोलना। किन्तु हमारा विषय केवल बोलने से ही सम्बन्धित है अतः वर्णन भी उसी का अभीष्ट है।

शब्दोत्पत्ति श्वासपथ (*Trachea*) के ऊर्ध्व भाग से होती है। इस भाग को स्वरयन्त्र (*Larynx*) कहा जाता है। स्वरयन्त्र की रचना तरुणास्थियों से होती है। इन तरुणास्थियों के सयोग से निर्मित गुहा में स्थितिस्थापक तन्तुओं से निर्मित दो पंक्तियां होती हैं जिन्हें स्वरतंत्री (*Vocal cords*) कहते हैं। साधारणावस्था में ये तन्त्रियां कण्ठ से चिपटी रहती हैं किन्तु बोलने की इच्छा होने पर इनमें तनाव आ जाता है। तनाव आने पर निर्बाध चलने वाले वायु में बाधा आने से वह इन तंत्रियों से टकराता है। इसी टकराव से उत्पन्न कम्पन के द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है। पुनः जिह्वा की विविध चेष्टाओं से वर्णोच्चारण होता है।

जिह्वा के इस कार्य में दो शीर्षण्य नाड़ियां भाग लेती हैं। (१) कंठरासनी नाड़ी (*Glosso-pharyngeal Nerves*) (२) जिह्वामूलिनी नाड़ी (*Hypoglossal Nerves*) इनमें भी प्रथम का विशेष महत्व है।

कोई भी कारण हो हकलाने में सभी का प्रभाव एक ही होता है। वह है उक्त नाड़ियों की स्तब्धता या अकर्मण्यता। होता यह है कि विशेष परिस्थितियों में जिह्वा तालु के साथ चिपक जाती है जिससे शब्द का उच्चारण बिलकुल ही नहीं या अस्पष्ट होता है। परिस्थितिवश उक्त नाड़ियों की शक्ति क्षीण हो जाती है फलतः जिह्वा उनके निय-



न्त्रण मे नहीं रहती। जिह्वा की इस परिस्थिति अर्थात् हकलाहट के अनेक कारण है जैसे—

१. बोलने की कला मानव को प्रकृति की प्रेरणा से प्राप्त हुई है। आदि मानव बादलों की गर्जना, पवन की सांयसांय तथा समुद्र की गर्जना, नदियों की कलकलाहट से पहले तो भयभीय हुआ किन्तु प्रति दिन के अभ्यास से वह प्रकृति के इन शब्दो से प्रेरित हो इनकी प्रतिध्वनि करने लगा। प्रकृति की प्रेरणा से सर्व प्रथम उसने आ आ ऊं ऊं आदि करना सीखा। इसी प्रकार का निरन्तर अभ्यास करने से उसे स्पष्ट वाणी का उच्चारण करना आया। फलतः संगीत आदि की उत्पत्ति हुई। आदि मानव का यही रुप जन्मतः मानव मे पाया जाता है। पहले पहल बालक ऊंचे शब्दों से धमाकों से भयभीत होता है किन्तु धीरे धीरे उनका अभ्यास होने से वह स्वयं भी वैसी ही ध्वनि निकालने का प्रयत्न करता है। मा-मा-मा आ-आ-आ उसके सर्व प्रथम प्रयत्न होते है। बालक की इस प्रकार की क्रियाओ से यदि माता-पिता प्रसन्न हों तो उसका उत्साह बढ़ता है। वह और भी सफलापूर्वक ऐसा ही करता है और भविष्य मे स्पष्ट बोलता है।

इसके विपरीत यदि माता-पिता या अन्य सभी व्यक्ति उसकी इस प्रवृति का विरोध करे तो भयभीत होकर वह शब्दोचारण या तो करता ही नहीं, और यदि करता है तो रुक रुक कर। इसी से भविष्य मे तुतलाहट उत्पन्न होती है।

२. बालक के साथ कठोरता से बात करना, उसके प्रत्येक कार्य मे टोकना तथा उसे ताड़ना तुतलाहट को उत्पन्न करता है।

३ परिवार के बालको के साथ भेदपूर्ण व्यवहार करना भी तुतलाहट का कारण होता है। जब एक बालक देखता है कि उसके अभिभावक उसकी अपेक्षा दूसरे से अधिक प्रेम करते हैं तथा उसके साथ कठोरता का व्यवहार करते हैं तो वह प्रेम से वंचित होने के भय से विक्षिप्त सा होकर बोलने लगता है। प्राय देखा जाता है कि माता पिता बड़े की अपेक्षा छोटे मे अथवा छोटे की अपेक्षा बड़े से अधिक प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं। यही भेदभाव की रीति उपेक्षित मे तुतलाहट उत्पन्न करती है।

४. आरम्भ मे जब बालक बोलना आरम्भ करता है तो प्रायः अशुद्ध एवं तुतलाकर बोलता है। यदि अभिभावक शीघ्र शुद्ध एवं स्पष्ट बोलने के प्रयत्न में कठोरता बरते तो यह आदत और भी बढती है। अत. ऐसा नहीं करना चाहिये।

५. परिस्थिति विशेष मे भला चङ्गा व्यक्ति भी तुतलाने लगता है। जैसे अपने से बड़े व्यक्ति के सामने, भयदायक परिस्थिति मे, अत्यन्त प्रसन्नता मे आदि आदि।

६. अति चिन्ता में, अपराध करते समय या अपराध करने पर।

१. घरेलू परिस्थितियां जैसे पत्नि के साथ सुखी न होना आदि। यहा विषय बालकों का है अतः इस ओर अधिक विस्तार मे जाने की आवश्यकता नहीं।

८. कुछ कुछ तुतलाने का कारण स्वभाविक विकृति भी होती है किन्तु नहीं के समान।

चिकित्सा—

संक्षेपतः क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्।

इस चिकित्सा सूत्र के अनुसार तुतलाहट के कारण का पहले निवारण करना चाहिए—

(१) आरम्भ मे बालक की प्रत्येक क्रिया की प्रशंसा करनी चाहिए। जब बालक अज्ञात शब्द निकाले तभी उसी तरह माता को भी करना चाहिए जिससे बालक उत्साहित होकर अधिक स्पष्ट बोलने का प्रयत्न करें।

(२) बालक को अपने कार्य मे मगन रहने देना चाहिए, निर्बाध होकर कार्य करना उसके मानसिक तथा बौद्धिक विकास मे अत्यन्त सहायक होगा। वह स्पष्ट बोलेगा।

(३) परिवार में सभी बालको के साथ समान

—शेषांश पृष्ठ ४०८ पर।

बाल-यकृत् वृद्धि

कविराज श्री एस. एन. बोस



आयुर्वेद शास्त्र में "बाल यकृत् वृद्धि" का विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। "यकृद्दाल्युदर" में जो वर्णन मिलता है उससे बालकों में यकृतवृद्धि की सूचना विशेष रूप से ज्ञात नहीं होती तथापि यह रोग आज के युग मे एक विशेष महत्व का हो गया है। सैकड़ों बालक प्रतिवर्ष इस रोग से ग्रसित होकर काल कवलित होते हैं और यह एक खेद का विषय है। साधारणतौर पर यह कहा जा सकता है कि शिशुओं के खाद्य पदार्थों तथा तत्सम्बन्धी नियमों की अवहेलना इसका प्रधान कारण है—अतः अनायास यह आशा की जा सकती है कि प्रारम्भ से ही इन बातों पर ध्यान रखने से इस भयंकर रोग से बालकों को बचाया जा सकता है। अतः बालयकृत् विवृद्धि के निदान तथा प्रतिरोधात्मक चिकित्सा प्रधानत. माताओं के ध्यान योग्य है और अवशिष्टांश चिकित्सकों के लिये विशेष रूप से संग्रहणीय है।

बालकों में यकृतवृद्धि विभिन्न कारणों से विभिन्न रूप लेकर उत्पन्न हो सकती है—जिसका ज्ञान हमे पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र के वर्णन से उपलब्ध हो सकता है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र में भी बालयकृत् वृद्धि (Infantile cirrhosis of liver) के नाम से किसी रोग विशेष का वर्णन नहीं मिलता है, परन्तु यकृत् पाली विवृद्ध अथवा संकुचित (Hypertrophic or Atrophic cirrhosis of liver) उभय क्षेत्र के वर्णन प्रसंग में बालको मे इस रोग की उत्पत्ति का ज्ञान अवश्य ही मिलता है। जिन क्षेत्रों में बालकों मे यकृत् विवृद्धि का वर्णन अधिकतर रूप में मिलता है वे है—

1. Portal or mululobular Cirrhosis of liver. 2. Primary hypertrophic biliary Cirrhosis 3. Cogenital Syphilis of the liver.

संक्षेपतः इनका वर्णन निम्न प्रकार है—

[1] Portal or Multi-lobular cirrhosis of liver.

साधारणतः Cirrhosis of liver कहने से इस रोग की ही प्रतीति होती है। यद्यपि यह रोग अधिकांश क्षेत्र मे वयस्कों में ही दिखाई पड़ता है। परन्तु बालकों मे भी इसका विशेष आक्रमण सचराचर दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि वयस्को में इस रोग का कारण साधारणतः अत्यधिक मात्रा में मद्य सेवन के साथ पर्याप्त मात्रा मे आमिष जातीय पदार्थों के भोजन का अभाव बताया गया है। तथापि यह रोग बालकों में साधारणतः संतुलित भोजन के अभाव में ही उत्पन्न होता है। शिशुओं को अधिक मात्रा मे बाजार से प्राप्त महिषी दुग्ध जोकि अधिकतर चर्बी जातीय पदार्थयुक्त होता है' उसका सेवन कराना, कृत्रिम दुग्ध का उपयोग कराना जो कि साधारणतः किसी न किसी प्रकार से आदर्श दुग्ध रूपी भोजन से हीन गुण विशिष्ट होता ही है अथवा शिशुओं को उसके लिये अनुपयुक्त भोजन देना जिससे यकृत् के ऊपर सहनातीत दबाव पड़ता है—ये तीनों ही प्रधान कारण हैं। इनके अतिरिक्त मलेरिया, अमीबाजनित प्रवाहिका आदि रोगों के संक्रमण के फलस्वरूप यकृत् विवृद्धि की परिणित भी यकृत् पाली विवृद्धि अथवा संकोच के रूप में हो सकती है।

लक्षण—

प्रथमत. इस क्षेत्र मे यकृत् चर्बी जातीय पदार्थ का संग्रह होता है और बाद मे यकृत मे कोषाणुओं का क्षय और सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissue) की वृद्धि होती है जिससे यकृत् एक ठोस तथा कठिन पदार्थ के रूप मे प्रतीत होता है। इस



रोग के लक्षण प्रारम्भ से बालकों मे क्षुधामांद्य, कभी कभी पित्त मिश्रित श्लेष्मिक जातीय पदार्थ का वमन, आध्मान, कभी कोष्ठबद्धता, कभी अतिसार, गात्रचर्म रूक्ष तथा शुष्क, कभी कभी नेत्रपटल मामूली हरितपीताभ और जिह्वा मलिन श्वेताभायुक्त के रूप में दिखाई पड़ता है। क्रमश. यकृत् की विवृद्धि दृष्टिगोचर होती और उदर के आकार मे भी वृद्धि होती है। अधिकाश क्षेत्र मे कामला रोग का मामूली आक्रमण दिखाई पड़ता है और प्लीहा मे भी वृद्धि होती है। इसके बाद उदरगुहा मे स्रावसंचय होकर जलोदर होता है और बलमांस क्षय के साथ उदराकार मे वृद्धि बालयकृत् वृद्धि की विशिष्ट आकृति का द्योतक बन जाता है। कभी कभी पैरों मे शोथ भी दिखाई पडता है। मूत्र का परिमाण कम हो जाता है और अधिकांश क्षेत्र



चित्र न० ११९—यकृत् वृद्धि

में मामूली ज्वरताप वृद्धि भी परिलक्षित हो सकती है विशेषत: द्रुत रोग प्रगति मे यह लक्षण विशेष रूप से प्रकट होता है। रोगी क्रमश: दुर्बल तथा शक्ति व उत्साहविहीन होता जाता है। अन्त मे देह में विषक्रिया के प्रभाव से अस्थिरता, चिड़चिड़ापन, प्रलाप तथा संज्ञाहीनता आदि लक्षणों की उत्पत्ति से मृत्यु हो जाती है। यकृत् विवृद्धि की अवस्था मे विभिन्न रोग जीवाणुओं से अनुसंक्रमण हो मृत्यु हो सकती है।

[2] Primary hypertrophic biliary Cirrhosis.

यह यकृत् की एक प्रकार की जीर्ण विवृद्धि है जो कि बच्चों तथा तरुणों मे सचराचर दिखाई पड़ती है। इस व्याधि के प्रारम्भ मे क्षुद्राकार पित्तनलिकाओं में चारों ओर सौत्रिक तन्तुओं का उप्लम होता है जिसके कारण इसका उक्त नामकरण किया गया है। परन्तु अन्त मे यकृत् कोषों मे भी आक्रमण होता ही है और यकृत् का वैकृतिक परिवर्तन प्रायश. Portal Cirrhosis के समान ही दिखाई पड़ता है। यकृत् अत्यधिक विवृद्ध, श्लक्ष्ण (मसृण) तथा हरितवर्ण का हो जाता है साथ ही साथ प्लीहा की भी वृद्धि होती है। इस रोग का निदान अभी तक निश्चित नहीं है परन्तु पित्तनलिकाओ के प्रदाह के रूप में एक विशिष्ट परिवर्तन सभी क्षेत्र में मिलता है जो कि पित्त संचय के कारण ही होता है।

लक्षण—

रोग का प्रारम्भ धीरे धीरे ही होता है और इस रोग में कामला एक विशिष्ट लक्षण है। सर्वाङ्ग पीताभ हो जाता है और अन्तिम समय तक यह लक्षण प्रकट रहता है। अवश्य कभी कम और कभी ज्यादा भी हो सकता है परन्तु बिलकुल मिट जाना दिखाई नहीं पड़ता है। मूत्र का वर्ण भी गहरा पीत होता है क्योंकि मूत्र के साथ काफी मात्रा में पैत्तिक लवणाश का क्षरण होता है। कभी कभी ज्वर अथवा रोग वृद्धि के कारण शारीरिक

स्वास्थ्य के ऊपर प्रभाव पड़ता है तथापि साधारणतः स्वास्थ्य ठीक ही रहता है। उदरशूल में वृद्धि हो सकती है। उदर का आकार यकृत् व प्लीहा की विवृद्धि के कारण काफी बढ़ जाता है और उदराध्मान सदा ही बना रहता है। दीर्घ दिन तक रोगभोग के पश्चात् रोगी जीर्ण, क्षीण हो जाता है और रक्तस्राव रूपी उपसर्ग से स्वास्थ्य के ऊपर विशेष असर पड़ता है। यह रोगी साधारणतः ५ वर्ष के भीतर ही मृत्यु का शिकार बन जाता है, औपसर्गिक व्याधि के आक्रमण के कारण शीघ्र ही मृत्यु हो सकती है।

[3] Congenital syphilis of the liver.

सहज (जन्मजात) फिरंग रोगाक्रांत शिशुओं में से ५० प्रतिशत क्षेत्र में यकृत् फिरंगरोग जीवाणुओं से आक्रान्त होता है। माता के रक्त के द्वारा ये रोग जीवाणु अपरा व नाभिनाल के मार्ग से भ्रूण के यकृत् में सबसे पहिले पहुंचते हैं और वहां ही इनको स्थान संश्रय का प्रथम अवसर मिल जाता है, इसलिये ही अधिकांश क्षेत्र में यकृत ही आक्रान्त होता है। यकृत् में सार्वाङ्गिक विवृद्धि, श्लक्ष्णता, काठिन्य तथा अस्वाभाविक पाण्डुता आदि परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। इस रोग में प्लीहा में वृद्धि व काठिन्य, तथा वृक्क, अग्न्याशय, वृषणग्रन्थि, फुफ्फुस तथा अधिवृक्कग्रन्थियों मे सौत्रिक परिवर्तन अथवा मामूली विवृद्धि दिखाई पड़ती है।

लक्षण—

इस व्याधि में प्राथमिक यकृत रोग का सदेह नहीं होता है बल्कि शिशु की अन्य रोग परीक्षा के अवसर पर साधारण कठिन व विकृत यकृत चिकित्सक का ध्यान आकृष्ट करता है। शिशुओं मे यकृत् का आकार साधारणत. ही कुछ विवृद्ध रहता है परन्तु वह कोमल होता है। यकृत के आकार मे वृद्धि के साथ असाधारण काठिन्य रोग का सन्देह उत्पन्न करता है। ऐसे क्षेत्रों में वृद्धि के साथ सहजफिरङ्ग रोग के अन्य लक्षण भी मिलते हैं। इस व्याधि में कामला प्रायशः दिखाई नहीं पड़ता है। परन्तु जहां सहज फिरङ्ग के अन्य लक्षण दिखाई नहीं पड़ते हैं वहां रक्त परीक्षा के द्वारा रोग निर्णय सरल बन जाता है।

यद्यपि ये तीनों प्रकार की यकृत विवृद्धि बालकों में मिल सकती है तो भी प्रथमोक्त दो प्रकार की बाल यकृत विवृद्धि विशेष रूप से हमारा विचारणीय विषय है। सहज फिरङ्गज यकृत विवृद्धि मे सहज रोग की चिकित्सा ही विशेष रूप से लाभदायक होती है। परन्तु यकृत कोषों का सौत्रिक परिवर्तन अथवा पित्तवाहिनी नलिकाओं के आसपास का सौत्रिक परिवर्तन—इन दोनों क्षेत्र मे आयुर्वेदीय चिकित्सा विशेष लाभदायक हो सकती है।

चिकित्सा—

बालयकृत विवृद्धि की चिकित्सा का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम रोग प्रतिषेधिका चिकित्सा के ऊपर ही अधिकतर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। यकृत वृद्धि में एक बार सौत्रिक परिवर्तन होने के बाद उन यकृतकोषों को पुनः स्वस्थावस्था में लाना असम्भव सा हो जाता है और चिकित्सा मे सफलता मिलना मुश्किल सा हो जाता है—एतदर्थ जिससे बालकों में यकृत विवृद्धि न होने पावे—इस ओर ध्यान रखना ही अत्युत्तम चिकित्सा है। यह कार्य कोई विशेष कष्ट साध्य भी नहीं है और शिशुओं के भोजन के ऊपर ध्यान रखने से ही उन्हे इस भयानक व्याधि से बचाया जा सकता है।

शिशुओं के भोजन के लिये मातृदुग्ध के समान कोई पथ्य नहीं है। अवश्य माता स्वास्थ्यवती होनी चाहिए—अन्यथा मातृदुग्ध से भी शिशु रोगग्रस्त हो सकता है। माता के स्वास्थ्य के ऊपर ध्यान देना अथवा स्तन्यदुष्टि की चिकित्सा करना सर्व प्रथम कर्तव्य होता है। कुछ माताओं मे स्तन्य का अभाव भी दिखाई पड़ता है—परन्तु स्तन्यवर्द्धक आहार व औषध से इस अभाव का निराकरण हो सकता



है। कुछ आधुनिक शिक्षिता माताएं शिशु को स्तन्यपान कराना कई कारणों से नहीं चाहती हैं और तदनुसार प्रारम्भ से ही स्तन्य निवृत्ति के लिए व्यवस्था करते है तथा बच्चों को बोतल से गो अथवा माहिषी दुग्ध अथवा कृत्रिम दुग्ध पिलाने की आदत डाल देते हैं। इन सब अस्वाभाविक अवस्थाओं से ही अनेक शिशु बाल यकृतवृद्धि का शिकार बन जाते हैं। शिशुओं को स्तन्यपान कराना माता का धर्म व कर्तव्य है–भारतीय संस्कृति यही शिक्षा हमें देती है, इस शिक्षा की अवहेलना से ही हमें दुःख भोगना पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र में भी मातृस्तन्य पान की विविध उपकारिता—माता एवं शिशु दोनों के लिये विस्तृत रूप से वर्णित है। एक स्वस्थ माता अपने शिशु को न्यूनाधिक ६-७ मास केवल अपने स्तन्य से पालन कर सकती है, बाहरी दूध देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। परंतु अगर इतना न भी हुआ तो ४ मास आयु तक शिशु को मातृस्तन्य के ऊपर अनायास रखा जा सकता है और ऐसा शिशु काफी हृष्ट पुष्ट हो सकता है। इस समय शिशु के लिये जो ऊपरी दूध की व्यवस्था करनी पड़ती है वह दूध अगर माता को दिया जाय तो मा के स्तन से उससे भी अधिक मात्रा में दूध मिल सकता है और ऊपरी दूध से जो हानि की संभावना रहती है वह माता के दूध से दूर हो जाती है। अतः प्रत्येक माता को यह चेष्टा करनी चाहिये कि वे अपने स्तन्य से ही ६ माह नहीं तो कम से कम ४ माह तक शिशु का पोषण पूर्णतया कर सके और इसमे सफलता प्रत्येक माता के लिये मिलना असंभव नहीं है। स्वस्थ मातृस्तन्य शिशु के लिये परम सात्म्य, सुपाच्य तथा पूर्ण भोजन है जिससे शिशु के भविष्य जीवन के स्वास्थ्य की भित्ति मजबूत हो जाती है। गर्भावस्था से ही इस ओर ध्यान देना आवश्यक है नहीं तो प्रसवान्त प्रचेष्टा सभी क्षेत्र में सफल नहीं भी हो सकती है। विशेष रूप से माता के स्वास्थ्य के ऊपर ही उनके स्तन्य का परिमाण व गुणदोष निर्भर है। अतः शिशु के स्वास्थ्य को उत्तम बनाने के लिये प्रथमतः माता के स्वास्थ्य के ऊपर ही ध्यान देना आवश्यक है।

माता के स्वास्थ्य ठीक न रहने से अथवा मातृ दुग्ध से शिशु का प्रयोजन पूर्ण न होने के क्षेत्र में आयुर्वेद शास्त्र मे धात्री दुग्ध की व्यवस्था के लिये उपदेश दिया गया है। धात्री के निर्णय के सम्बन्ध मे भी आयुर्वेद शास्त्र में विस्तृत उपदेश मिलता है। परन्तु आजकल न तो उसके रीति रिवाज हैं और न ऐसी धात्री ही अनायास मिल जाती है। अधिकांश माता ही अपने बच्चे का प्रयोजन पूरा नहीं कर पाती है, उनके पास दूसरे के बच्चे के लिये स्तन्य ही कहा रह जाता है? इसलिये आजकल सहज लभ्य गाय अथवा महिषी के दूध अथवा कृत्रिम दुग्ध की व्यवस्था ही की जाती है। मातृस्तन्य के अभाव में गोदुग्ध काफी हद तक काम दे सकता है, परंतु उसके लिये घर में गाय का पालन करना आवश्यक है। पालतू गाय को उपयुक्त भोजन देकर ही उससे आवश्यक स्वास्थ्योपयोगी दूध निकाल लिया जा सकता है। बाजारू गाय के दूध के ऊपर भरोसा करना मुश्किल है, सामने दुहाकर लेने के बावजूद गाय के भोजन के सम्बन्ध में ज्ञान न रहने से उस दूध के ऊपर पूर्णतया भरोसा नहीं किया जा सकता है। परन्तु अभाव में सभी सहन करने पड़ते हैं। दूध में पानी मिलाने के अलावा महिषी के दूध में काफी पानी मिलाकर गाय का दूध बताना अथवा मक्खन निकालकर गाय का दूध कहकर बेचना आजकल अक्सर दिखाई देता है। शिशु के स्वास्थ्य के लिए ये सब ही हानिकर है। अगर घर मे गाय को पालना संभव नहीं हो तो कम से कम अपने सामने कम उम्र के बछड़े वाली एक ही गाय के दूध दुहाकर लाने का प्रबन्ध करना चाहिये। इस तरह से सुबह शाम दोनों समय दूध का संग्रह करना चाहिये। सुबह का दूध रात तक शिशु को पिलाना उचित नहीं है। दूध कभी भी शिशु को खालिश देना नहीं चाहिये। कई

मातायें ऐसी हैं जो सोचती हैं कि जब वे काफी मात्रा में दूध शिशु के लिये खरीद सकती हैं तो बच्चों को क्यों पानी मिलाकर पिलावें। यह धारणा बिलकुल गलत है। दूध उबालते समय उसमें कुछ न कुछ जल अवश्य ही डालना चाहिए। जो जल दूध उबालते समय वाष्प होकर उड़ जाता है। अगर पानी न डाला जाय तो दूध से पानी का हिस्सा उड़ जाने के कारण दूध कुछ गाढ़ा हो जाता है जो कि शिशु के लिये गुरु पाक बन जाता है। इसके अलावा ऐसा पानी डालकर उबाला हुआ दूध भी अकेला नहीं देना चाहिए। दूध का एक प्राकृतिक गुण है कि उससे पेट में गैस उत्पन्न होती है। दूध की मात्रा मामूली भी ज्यादा होने के कारण शिशुओं में अतिसार, उदराध्मान आदि हो सकता है। विशेषतः शिशुओं की वृद्धि के लिये कुछ शर्करा जातीय श्वेतसार (Carbohydrate) पदार्थों की भी आवश्यकता रहती है। एतदर्थ शिशु के दूध में अल्पाधिक मात्रा में बार्ली का पानी अथवा साबूदाने का पानी और मामूली शक्कर डालकर देना ही आवश्यक तथा उचित है। बार्ली का पानी मल को थोड़ा सा बांधता है और साबूदाने का पानी मल को थोड़ा सा नरम कर देता है। किसी किसी शिशु मे इसका विपरीत दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में मातायें अति अल्पकाल मे ही अभिज्ञता अर्जन कर सकती हैं। शिशुओं के भोजन मे आवश्यकतानुसार ½, ⅓ अथवा ⅓ भाग बार्ली अथवा साबूदाने का पानी व थोड़ा सी शक्कर मिलाकर नियमित समय पर दूध देना चाहिये। बोतल में दूध पिलाना सरल है परन्तु बोतल व Nipple ठीक तरह से साफ न करने के कारण शिशु अक्सर बीमार हो जाता है। प्राचीनकाल मे चम्मच से दूध पिलाने की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु इसका भी दोष है। मातायें चम्मच से शिशुओं को जबरदस्ती आवश्यकता से अधिक दूध पिला देती हैं जो कि बच्चे के लिये बाद में दुखदाई हो जाता है। कटोरी व चम्मच साफ करना अति सरल है परन्तु अगर मातायें बच्चों की आवश्यकता के ऊपर ध्यान देकर उसकी इच्छानुसार दुग्ध पिलाकर तृप्त कर सकती हैं तो यह तरीका सबसे उत्तम है। कोई भी बुद्धिमती माता इस कार्य को अनायास भलीभांति निभा सकती है। अगर बोतल की ही व्यवस्था करनी है तो उसकी सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना परमावश्यक है। याद रखना चाहिये कि बार बार अतिसार होना अथवा कोष्ठबद्धता होना, बालयकृत विवृद्धि का पूर्व लक्षण है और शिशु की यकृत्विवृद्धि से बचने के लिये इस चेतावनी के ऊपर ध्यान देना ही चाहिये। प्रत्येक शिशु में भोजन की मात्रा विभिन्न है परन्तु निर्धारित समय पर भोजन कराना माता का परम कर्त्तव्य हो जाता हैं। अनेक शिशु मातृ स्तन्य के साथ ही साथ ऊपर का दुग्ध पीते हैं ऐसे क्षेत्र में ऊपर के दुग्ध का मात्रानिरूपण माता की बुद्धि पर ही निर्भर है। परन्तु जो माता शिशु के रोदन पर ही उसे दुग्ध पिलाने बैठ जाती हैं चाहे वह स्तन्य हो या ऊपर का दुग्ध, वे शिशु को हानि ही पंहुचा रही हैं इसमें संदेह नहीं है। शिशु विभिन्न कारणों से रोदन करता है परन्तु उनमे से केवल सच्ची भूख के कारण ही जब रोता है तब ही उसे भोजन देना चाहिये अन्य समय नहीं।

शिशु के दांत निकलने के बाद उसे थोड़ी सी अधिक मात्रा में श्वेतसार जातीय भोजन (Carbohydrate food) देना प्रारम्भ करना चाहिये। ४–६ दांत निकल जाने के बाद उसे कुछ मामूली चबाने के योग्य भोजन देना चाहिये जिससे उसके मसूढ़े कुछ मजबूत होने लगें। दांत निकलते समय अक्सर शिशुओं मे ज्वर, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं। साधारणतः इस समय के इन रोगों को दांत निकलने के कारण बताया जाता है। शास्त्र में भी इसका वर्णन है। अपनी अभिज्ञता से मैं यह कहना चाहता हूँ कि स्वस्थ बच्चों मे दांत निकलते समय कोई भी व्याधि नहीं होनी चाहिये। हो सकता है कि उस समय कुछ रोग प्रवणता हो।



परन्तु शिशुओं के आहार विहार के ऊपर पर्याप्त ध्यान रखने से इस विपत्ति से अनायास बचा जा सकता है। उस समय के आहार में मामूली गड़बड़ी के कारण ज्वर या अतिसार हो जाता है और उसकी उपेक्षा से वह भयानक रूप धारण कर सकता है, परन्तु यह बात भी सत्य है कि मामूली सावधानी से इन रोगों को दूर रखा जा सकता है। दांत निकलते समय शिशुओं में जो अक्सर तकलीफ दिखाई देती है, उनमें से अधिकांश आहार विहार के नियमों की अवहेलना के कारण ही उत्पन्न होती हैं और इस ओर मैं माताओं का ध्यान अधिक आकृष्ट करना चाहता हूँ। क्योंकि अधिकांश क्षेत्र मे इन रोगों की परिणित में ही यकृत् विवृद्धि होती जाती है।

शिशु जिस समय से अन्न का ग्रहण प्रारम्भ करता है, उस समय हमारे घरों मे उसे बार बार परिवार के सब ही लोगों के साथ कुछ न कुछ खिलाया जाता है। लोग प्यार से यह कार्य करते है और उसका फलभोग शिशु को करना पड़ता है। बार बार भोजन कराना अथवा वयस्क व्यक्तियों के लिये जो भोजन उपयुक्त है उसका कुछ अंश शिशुओं को देना—यह दोनों ही कार्य निन्दनीय है। स्मरण रहे कि शिशुओं में पाचन शक्ति उम्र के अनुसार ही होती है और पाचन शक्ति के ऊपर दबाव डालने का ही मतलब है यकृत् के ऊपर दबाव डालना, जिसके फलस्वरूप यकृत् मे विकृति अनायास ही आ जाती है। अत शिशुओं पर प्यार करने का यह हानिकर उपाय सर्वथा वर्जनीय है। अन्न के प्रारम्भकाल मे बच्चों को दूध के साथ ही रोटी की पापड़ी, गला हुआ या नरम चावल अथवा पतली खिचड़ी (मिर्च मसाला वर्जित) मूंग या मसूर की दाल का पानी या पतली दाल देनी चाहिये। इस समय बालक नमकीन पदार्थ अधिक पसंद करता है परन्तु अधिक नमकीन या मिर्च मसालायुक्त अथवा तली हुई चीजें उसके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। तैल या घी युक्त पदार्थों का अधिक उपयोग भी उसके लिये हानिकर है। धीरे धीरे अन्न की मात्रा बढ़ानी चाहिए, परन्तु दुग्ध बिलकुल बन्द करना कदापि उचित नहीं है।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि माता के दूसरे गर्भ धारण के बाद भी बालक का स्तनपान चालू रहता है। इससे माता के स्वास्थ्य के ऊपर प्रभाव पड़ता है, परन्तु बालकों में अजीर्ण आदि उपद्रव आ जाता है। कभी कभी माता दूसरे गर्भ धारण के कारण बालकों को स्तन्यपान से विरत करने के लिये शीघ्रातिशीघ्र अन्न ग्रहण के लिये बाध्य करती है और शिशुओं के उपयुक्त भोजन सम्बन्धी ज्ञानाभाव के कारण अथवा आर्थिक कठिनाइयों के कारण बच्चे के लिये विशेष भोजन व्यवस्था नहीं कर पाती है। यह स्थिति भी खतरनाक है और इस प्रकार से पालित बालक अधिकांश क्षेत्र मे सूखारोग अथवा बालयकृतवृद्धि के शिकार बन जाते है। अतः बाल यकृत् विवृद्धि की प्रतिषेधात्मक चिकित्सा के लिये हमें प्रथमतः ध्यान शिशुओं के भोजन पर ही देना परमावश्यक है जिससे हम कम से कम ८० प्रतिशत रोगाक्रमण से मुक्ति दिला सकते हैं।

औषधि चिकित्सा

बच्चे के अजीर्ण, अग्निमांद्य के ऊपर शुरू से ही ध्यान देना आवश्यक है। बारबार अतिसार अथवा दीर्घकाल से कोष्ठबद्धता बाल यकृत विवृद्धि का पूर्वरूप है। अत. ऐसे क्षेत्र मे लगातार चिकित्सा आवश्यक है। रोगी की पाचन शक्ति के ऊपर ध्यान देकर पथ्य निर्देश करना चाहिए और साथ ही साथ पाचक औषधियों का उपयोग करना चाहिए। बालकों के लिये प्रारम्भ में तीक्ष्ण वीर्य औषधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती है, लवण भास्कर, शुभ्र पर्पटी या वज्रक्षार युक्त लवण भास्कर, भुवनेश्वर रस, स्वल्पगङ्गाधर चूर्ण, दाडिमाष्टक चूर्ण आदि हितकर हैं। परन्तु बार बार अतिसार का आक्रमण होते रहने से श्रीरामबाण रस ½ रत्ती से ¼ रत्ती, महा-

गन्धक १ से २ रत्ती के साथ मिलाकर नागरमोथा चावल का पानी व शहद के अनुपान से दिन में २-३ बार देने से लाभ होता है। मल में दुर्गन्ध रहने से प्रसारणी को हरी पत्ती का स्वरस उसमे मिला देने से दुर्गन्ध नष्ट होती है। भैषज्य रत्नावली मे अग्निमान्द्याधिकारोक्त लवगादि वटी १ रत्ती, शुभ्र-पर्पटी ½ से १ रत्ती मिलाकर मुनेजीरे को पानी के साथ देने से साध्मान अतिसार मे पर्याप्त लाभ होता है। दुग्ध बन्द करके उसके स्थान पर बार्ली का पानी अथवा फटा हुआ दुग्ध का पानी पथ्य के रूप मे देना चाहिये। कोष्टबद्धता रहने से बालक को बार बार जुलाब नहीं देना चाहिए। दूध मे अजीर, तथा मुलेठी अथवा मुनक्का या किसमिस उबालकर पिलाने से कोष्टबद्धता नहीं हो पाती है। साबूदाना उबालकर दूध मे मिलाकर पिलाने से भी कोष्ठ-बद्धता नहीं हो पाती है। आवश्यकता पड़ने पर सप्ताह में १ बार १ या २ चम्मच विशुद्ध एरण्ड तैल दूध या गर्म पानी के साथ देना पर्याप्त होता है। उसके बाद से उपर्युक्त साधित दूध देते रहने से कोष्टबद्धता नहीं होगी। यकृत विवृद्धि को देखते ही रोगी को मक्खन निकाला हुआ दूध देने की व्यवस्था करनी चाहिए। यकृत की वृद्धि में चर्बी जातीय भोजन सबसे अधिक हानिकर हैं। रोगी को लोकनाथ रस (ताम्र घटित) ½ रत्ती से १ रत्ती तक, कपर्द भस्म १ से २ रत्ती तक दिन भर मे २ बार मधु के साथ अथवा दारुहरिद्रा (पानी मे पीसकर) और शहद के साथ देना चाहिये। लोकनाथरस का प्रयोग खाली पेट नहीं करे इससे जी मिचलाना, वमन आदि उपसर्ग हो सकते हैं। अजीर्ण अधिकारोक्त-'क्रव्यादरस' बालयकृत वृद्धि मे एक विशेष उपयोगी औषधि मानी जाती है। यह भी ताम्रघटित औषधि है अत. इसके प्रयोग के समय भी उपरोक्त बात ध्यान मे रखनी चाहिए। कुमारी आसव बालयकृत विवृद्धि की एक विशिष्ट औषधि है। कुमारी आसव १ से २ चम्मच की मात्रा मे रोगी को दिन में २ बार देने से काफी लाभ होता है। प्लीहा की विवृद्धि रहने से रोहितकारिष्ट मिला कर अथवा पाण्डुता के क्षेत्र मे लोहासव मिलाकर भी दिया जाता है। कामला के लक्षण उपस्थित रहने से लोकनाथ रस, क्रव्यादरस व कुमारी आसव के समवेत प्रयोग से विशेष लाभ होता है। वृ. लोक-नाथ रस और भी उपयोगी औषध है। इनके अलावा चित्रकादिलौह, पाडुपञ्चानन रस, यकृदरि लोह शोथ की उपस्थिति मे लौहभस्म पुनर्नवा मण्डूर; शोथारि मण्डूर आदि के प्रयोग से लाभ होता है। मात्रा के ऊपर विशेष ध्यान रखे।

बालयकृत विवृद्धि मे गोमूत्र का प्रयोग बड़ा ही लाभदायक होता है। प्रतिदिन प्रात. काल ताजा गो-मूत्र ५ से १५ बूंद तक पानी अथवा दूध के साथ शिशु को पिलाने से आश्चर्यजनक फल मिलता है। इसके अलावा गोमूत्र से यकृत प्रदेश मे स्वेदन भी विशेष लाभदायक होता है। स्वेदन खाली पेट में ही करना चाहिए। ताजा गोमय का प्रलेप भी हितकर है। गोमय अथवा गोमूत्र के अभाव मे सरसों की खल्ली का पोटलीबद्ध सेक अल्पकाल के लिये किया जा सकता है। सरसो की खल्ली तीक्ष्ण गुण विशिष्ट होने के कारण शिशु के शरीर मे प्रत्यक्ष संसर्ग में नहीं लानी चाहिये। इनके अथवा *Anti-phlogistine* के नियमित प्रलेप से भी लाभ हो सकता है।

पाश्चात्य मतानुसार बालयकृत विवृद्धि मे चर्बी जातीय पदार्थों का त्याग और आमिष जातीय पदार्थ का अधिकतर उपयोग इस व्याधि के लिये हितकर है। एतदर्थ यकृत, अस्थिमज्जा, प्लीहा आदि को काफी देर तक उबालकर उसके सोरवा का अल्पा-धिक प्रयोग करना हितकर है। नमक व हल्दी डाल-कर २ घण्टा उबाल के बाद मामूली घी का छौंक देकर छानकर रोगी को दिया जाता है। याद रहे कि इसके प्रयोग के कम से कम २ घण्टे आगे पीछे दुग्ध का प्रयोग न किया जाय। रोगी के बलाधान व क्षय पूरक दृष्टि से *Liver Extract* का प्रयोग चाहे वह मुखमार्ग से हो अथवा सूचीवेध के द्वारा

हो विशेष लाभदायक होता है। विदामिनों का प्रयोग भी लाभदायक है।

शोथ अथवा जलोदर की उपस्थिति मे तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को नमक बन्द करके दुग्धान्न पर रखना ही युक्ति युक्त है। विरेचन के लिये बालकों मे इच्छाभेदी आदि जयपाल घटित तीक्ष्ण औषधियो का प्रयोग करना उचित नहीं है। ऐसे क्षेत्रो मे पुनर्नवाष्टक क्वाथ से ही लाभ मिल सकता है। आवश्यकता के अनुसार उसमे कुटकी, हरीतकी की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है अथवा अमलतास के गूदे को मिलाया जा सकता है। इससे ही पर्याप्त विरेचन हो जाता है। बालकों के शोथ अथवा जलोदर के क्षेत्र मे मूत्रल औषधियों का अधिक उपयोग लाभदायक है।

बाल यकृत विवृद्धि मे हिमालय ड्रग कम्पनी द्वारा निर्मित *Liv–52* की गोलियां भी काफी लाभदायक सिद्ध हुई है। यह पूर्णरूपेण आयुर्वेदीय औषध है। इसके प्रयोग से यकृत विवृद्धि, यकृत की क्रिया शैथिल्य तथा यकृत विकारजन्य शोथ या उदर रोगों मे विशेष लाभ होता है ऐसा देखा गया है।

—कविराज श्री एस. एन. बोस.
प्रिन्सिपल–दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज,
जालन्धर

:: पृष्ठ ४०० का शेषांश ::

व्यवहार करे। सबकी बातों को समान रूप से सुनें तथा यथासम्भव उत्तर देने का प्रयत्न करें।

(४) शीघ्र स्पष्ट एवं शुद्ध बोलने के लिये कठोरता के स्थान में नम्र होकर स्पष्ट बोलना सिखायें।

(५) प्रयत्न करना चाहिए कि बालक कभी भी भयभीत न हो। सदा ही ऐसी परिस्थितियों में बचाव का प्रयत्न होना चाहिये।

यदि तुतलाहटपन आ ही जाये तो—

१–उग्रगन्धा २-४ रत्ती मधु में मिलाकर उसकी जिह्वा पर मल दे।

२ स्मृतिसागर रस २ रत्ती, मुक्ता भस्म २ रत्ती दो मात्रा मधु के साथ।

३–सर्पगन्धा १ रत्ती, एकांगवीर रस १ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती या २ रत्ती मधु के साथ।

इसमें से प्रथम दो स्वानुभूत हैं। इन्हीं के समान अन्य वातनाशक एवं बलकारक योगों का सेवन, ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि का स्वरस, बादाम का अवलेह सेवन अत्यन्त हितकर है। अश्वगंधारिष्ट तथा अरविन्दासव भी लाभदायक हैं।

इनके अतिरिक्त जिह्वा की स्वच्छता दातुन आदि से अवश्य करनी चाहिए। बालकों को सदा निर्भय एवं आत्मविश्वासी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

—श्री नन्दलाल शर्मा वैद्य
अध्यक्ष–राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय
कोड़वा खुर्द (अम्बाला)

बालयकृत रोग चिकित्सा

श्री विद्याभूषण वैद्य आयुर्वेदाचार्य B.A.

परिभाषा —

यकृतोऽवस्थितिरनिशं दक्षिणतःस्यादधो हृदयात्।
तत्र तु विविधा रोगाजायेरन् भूरिदुःखदा नियतम्॥
—माधव परिशिष्ट

अर्थात्—हृदय के नीचे दक्षिण भाग में यकृत् (*Liver*) की अवस्थिति है जिसमे अनेक प्रकार के अत्यन्त दुःख देने वाले रोग उत्पन्न होते हैं।

बाल यकृत् (*Infantile cirrhosis of Liver*) एक ऐसा रोग है जो ६ माह से ५ वर्ष के बीच की अवस्था के ही बालकों को होता है।

बालक जब माता के उदर से बाहर आता है तो उसका पेट बड़ा होता है और यकृत भी बढ़ा हुआ होता है अर्थात् यह कुल शरीर का अठारहवां (१/१८) भाग होता है जबकि प्रौढ़ (*Adult*) मनुष्य का यकृत् कुल शरीर का चालीसवां भाग होता है किंतु धीरे धीरे बालक का यकृत् जन्म के पश्चात् घटता जाता है और उचित आकार में आजाता है।



चित्र नं० ११६

निदान—

बाल यकृत् (*Infantile Liver*) का निदान समझने के लिए हमको गर्भस्थ शिशु (भ्रूण) का रक्त परिभ्रमण जानना आवश्यक है। इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ ४० पर देखें।

गर्भस्थ शिशु के रक्तभ्रमण के उस विवरण पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारे आपके तो हृदय और फुफ्फुस अधिक कार्य करते हैं। अर्थात् फुफ्फुस शरीर के प्रयोग में आने के कारण अशुद्ध हुये रक्त को शुद्ध करके हृदय में भेज देता है और हृदय उसको सारे शरीर में आवश्यकतानुसार बांट देता है, किन्तु गर्भावस्था में फुफ्फुस तो बिलकुल ही कार्य नहीं करते उनका सारा काम कमल (*Placenta*) करता है और हृदय का बहुत सारा कार्य यकृत करता है। यकृत् को कमल से नाभि सिरा द्वारा रक्त ग्रहण करके याकृत् सिरा द्वारा उद्गामी महासिरा (*Ascending vena cava*) में भेजना पड़ता है। बच्चे के उत्पन्न होते तथा उसके श्वास लेते ही नाभिनाल का रक्त प्रवाह स्थगित हो जाता है तथा नाभि सिरा क्रियाहीन हो जाती है। इस परिवर्तन का प्रभाव हृदय के आकार तथा परिमाण पर पड़ता है और हृदय पूर्व से बढ़ने लगता है और जो यकृत अब तक स्वाभाविक आकार से बढ़ा हुआ था अब काम हो जाने के कारण घटने लगता है। तथाच—

अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः।
मलवृद्धया प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु॥



मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोष संचयः ।
प्राणाग्न्यपानान्संदूष्य मार्गान्विरुद्धोत्तरोत्तरान् ॥
त्वङ् मासान्तरमागम्य कुक्षिमाध्मापयन्भृशम् ।
जनयत्युदर तस्यहेतु शृणु सलक्षणम् ॥
—चरक चि० अ० १३

अर्थात् गर्भावस्था मे स्वभाव से बढ़े हुये यकृत् वाले बालक को मातायें अज्ञान के कारण अधिक दूध पिलाकर अथवा विकृत् दूध पिलाकर उसकी जठराग्नि दूषित कर देती हैं। उस जठराग्नि के दोष से बालकों के शरीर मे अनेक रोग उत्पन्न होते है और विशेष कर अग्नि के विकार से मल की वृद्धि होकर उदर रोग उत्पन्न होते है। मन्दाग्नि मे दूध पीने से उस दूध का पाचन नहीं होता उससे दोषों का सचय होता है। इस प्रकार संचित हुये दोष प्राणवायु जठराग्नि और अपान वायु को दूषित कर ऊपर नीचे के मार्गों को रोक देते हैं और त्वचा तथा मास के मध्य मे प्राप्त होकर दोनों कुक्षियों मे अफरा करते हुए यकृत वृद्धि(*Infantile cirrhosis of liver*) उत्पन्न कर देते है।

बालकों की अग्नि स्वभाव से ही स्वल्प होती है इसीलिये उनका भोजन दूध मात्र कहा गया है जबतक दो वर्ष तक दात पूर्ण रूप से न निकल आवे तब तक बालक को यत्नपूर्वक दुग्धपायी ही रखना चाहिए। यद्यपि दूध लघु भोजन होता है किन्तु मात्रा गुरु तो यह भी हो सकता है अर्थात् बालक को अधिक मात्रा में या बारबार पिलाने से हानिकर होता है।

प्राय. देखा गया है कि मातायें बच्चे के तनिक रोने पर दूध पिला देती हैं यह हानिकारक है। (*Homeopathic family practice*) हौमियोपैथिक फैमिली प्रैक्टिस में लिखा है कि–*It is the height of unwisdom to interpret each cry as due hunger, very often the reverse is the course* अर्थात् यह तो मूर्खता की चरम सीमा है कि बच्चे के हर रोने को भूख के कारण रोना समझा जावे, अधिकतर तो कोई दूसरा ही कारण होता है। यदि बच्चे को स्वस्थ रखना है तो इस बात को खूब ध्यानपूर्वक याद रखना चाहिये कि चार घंटे से पूर्व बच्चे को कदापि दूध न पिलाया जावे।

दूसरी बात बच्चे को बलात् (जबर्दस्ती) कभी दूध नहीं पिलाना चाहिये। बच्चा दूध नहीं पीता और मातायें टांगों मे दबाकर चम्मच से बलात् दूध उसके मुंह मे उडेले जाती हैं। वह रोता है, कभी कभी ठसका तक लग जाता है तो भी वह अपना अभियान जारी रखती है यह भी हानिकर है। भूख लगेगी तो कब तक बालक दूध नहीं पीवेगा।

पूर्वरूप—

क्षुन्नाशः स्यादतिस्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात ।
भुक्तं विदाह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥
सहते नाति सौहित्यमीषच्छोफश्चपादयोः ।
शश्वद्बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥
पुरीषनिचयोवृद्धि उदावर्त कृता च रुक् ।
वस्तिसन्धौरुगाध्मान वर्द्धते पाटयतेऽपि च ॥
आतन्यते च जठरमपिलध्वल्प भोजनात् ।
राजीजन्मवलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥
—चरक चि० अ० १३

बालक जब जन्म लेता है तो यकृत बढ़ा हुआ तो अवश्य होता है किन्तु वह कोमल होता है और कोई विकृति का चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। जब शिशु यकृत् होने को होता है तो यकृत् तथा उदर स्पर्श मे कठोर हो जाता है। बालक को भूख नहीं लगती इसलिये वह समय पर और अपनी इच्छा से दूध नहीं पीता, चिकने और भारी दूध (यदि भैंस का हो अथवा अन्य प्रकार से दूषित हो तो) का परिपाक बहुत विलम्ब से होता है और वह दूध विदग्ध होकर जलन डालता है अतः बालक बेचैन रहता है। और ठण्डे स्थान पर लेटना पसन्द करता है। जहां उसको ठण्डा स्थान लगा चट सर झुकाकर लेट जाता है। दूध पच गया या नहीं ऐसा बालक को कभी नहीं मालूम होता अर्थात् स्वेच्छा



से रुचिपूर्वक दूध कभी नहीं पीता, पेट भर कर दूध कभी नहीं पीता थोड़ा सा पीकर छोड़ देता है, दोनों पैरों पर थोड़ा सा शोथ प्रगट होता है। बल का शीघ्र नाश हो जाता है थोड़ी सी भी क्रिया करने पर जल्दी जल्दी श्वास आने लगता है। पेट में मल का सचय हो जाता है अत. पीड़ा के कारण बालक पेट में घुटने देकर हर समय रोता है किसी भी प्रकार चुप नहीं होता। मूत्राशय (Bladder) तथा जोड़ों में पीड़ा होने लगती है। अतः बालक मूत्र त्यागते समय अधिक रोता है और उसका शरीर कोई छू दे तो भी अधिक रोता है वैसे तो हर समय ही रोता रहता है। पेट मे अफरा बढ़ता जाता है थोड़ा सा दूध पीने पर पेट तन जाता है और ऐसा मालूम होता है मानों फट जावेगा अत. बालक सहलाने तथा सेक से शान्ति अनुभव करता है। पेट मे रेखा (राजी सी) उत्पन्न हो जाती हैं (यह रोम की होती है) और मुलायमी और सलवट दूर होकर कपाल की तरह तन जाता है। यह सब लक्षण तब होते हैं जब बालयकृत (Infantile cirrhosis of liver) होने को होता है।

सम्प्राप्ति—

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहानि दोषा स्रोतांसिसञ्चिता।
प्राणापानान्हि संदूष्य जनयन्त्युदर नृणाम् ॥
—चरक ॥

अर्थात् सचित हुये दोष स्वेदवाही तथा जलवाही स्रोतों मे अवरोध उत्पन्न करके तथा प्राणवायु और जठराग्नि को विकृत करके उदर रोग अथवा यकृतवृद्धि उत्पन्न करते हैं। (बालयकृत् त्रिदोषज होता है।)

स्वेदवह स्रोतों का मूल मेद, रोमकूप तथा स्वेद ग्रंथियां हैं "स्वेदवहानां स्रोतसा मेदो मूलं रोमकूपाश्च" —चरक विमान अ० ५। स्वेद ग्रंथियों के द्वारा स्वेद की उत्पत्ति होती है उनमें वातादि दोषों के कारण रुकावट हो जाती है। और यथोचित रूप से स्वेद बाहर नहीं निकलता। इसी प्रकार जलवाही स्रोतों का मूल तालु तथा क्लोम हैं "उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च" तालु (तालुस्थित वातनाड़ियां) तथा क्लोम मे विकार होने से शरीर का नियन्त्रण अनियमित हो जाता है। इस प्रकार स्वेद और जल दोनों ही शरीर के अन्दर बढ़ जाते हैं। यह दोनों ही जलीय द्रव्य हैं इसलिए शैत्यगुण से समानधर्मी वायु अर्थात् प्राण और अपान को दूषित कर देते हैं। और विपरीत गुणवाली पाचकाग्नि (Hydrochloric acid and other gastric secretions) को नाश कर देते है। इन सब कारणों से शिशु यकृत तथा अन्य उदर रोग-उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—

आध्मानं गमनेऽशक्ति दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता।
शोथ: सदनमङ्गानां सङ्गोवातपुरीषयो. ॥
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥
—सुश्रुत निदान अ० ७

अर्थात्—बालयकृत में बालक का पेट फूला हुआ, चलने फिरने मे असमर्थ (चलने की इच्छा होने पर बालक रोने लगता है।), दुर्बलता (चिड़चिड़ा हो जाता है), अग्नि की मन्दता (दूध नहीं पीता), शरीर में शोथ, अंगों मे शिथिलता (बालक हिलना डुलना भी नहीं चाहता), वायु तथा मल का अवरोध, दाह (शरीर मे दाह होने के कारण बालक हर समय शीतल स्थान पर लेटना चाहता है और शीतल स्थान मिलते ही आराम से सर झुका कर चट लेट जाता है। यदि आप एक स्थान से उठालें तो अवसर पाते ही दूसरे स्थान को हाथ से टटोल कर फिर लेट जाता है यह क्रिया देख कर हंसी आती है।) तथा तन्द्रा यह सामान्य लक्षण बालयकृत् में पाये जाते है।

तथा च—दौर्बल्यारोचकविपाकवर्चोमूत्रग्रहतम पिपासाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्या—स्यवैरस्यपर्वभेदकोष्ठवातशूलान्यपिचोदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नील हरित हारिद्र राजिमद्भवति एवमेवयकृदपि दक्षिण पार्श्वस्थं कुर्यात्तुल्य हेतुलिङ्गौषधिस्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदर विद्यात्। —चरक चि० अ० १३

अर्थात्—दुर्बलता, अरुचि, दूध ठीक से न

पचना अथवा भोजन का ठीक परिपाक न होना, मल मूत्र रुकना, नेत्रों के आगे अन्धकार प्रतीत होना, प्यास अधिक लगना, अंगड़ाई, वमन, मूर्च्छा शरीर में भारीपन, खांसी, श्वास, मन्द ज्वर, अफरा, अग्नि का नाश, कृशता, मुख का विरस होना, गाठों में दर्द होना, उदर में वायु के कारण पीड़ा, और पेट का लाल अथवा देह के समान वर्ण होना और नीले, हरे वा हल्दी के रंग की रेखा और नसों के जल से पेट का घिरना यह प्लीहा वृद्धि के सामान्य लक्षण होते है। इसी प्रकार दाहिनी बगल में यकृत भी प्लीहा के समान बढ़कर उदर रोग को प्रगट करता है परन्तु प्लीहा और यकृत् के हेतु, लक्षण और औषध में तुल्यता होने से दोनों के यही लक्षण समझना चाहिये।

विशेष लक्षण—

यकृत्क्रिया मान्ध के लक्षण—

जब बालक के यकृत् की क्रिया में न्यूनता हो जाती है अथवा पित्त कम बनता है तो मल की प्रवृत्ति न होना, पित्त की कमी, अत्यन्त तृषा, मूत्र का गदला होना, शरीर का वर्ण कीचड़ की तरह हो जाना, पाण्डुता (Bloodlessness), आध्मान, अवसाद (बालक का निश्चेष्ट पड़ा रहना), वमन, अग्नि की मन्दता, प्रातः काल मुख का कडुआ रहना, जिह्वा का अधिक मलयुक्त रहना, अत्यन्त उद्गार, नाड़ी की गति कठिन होना, खींचने की सी पीड़ा होना, वमन करने की इच्छा होना आदि लक्षण होते हैं।

यकृत वृद्धि के लक्षण—

जब बालक का यकृत् बढ़ जाता है तो छाती की अस्थि, दक्षिण स्कन्ध, और दक्षिण पैर में अधिक पीड़ा होती है जिससे बालक हर समय रोता रहता है और छाती या कन्धा अथवा दांया पैर छूने नहीं देता दाहिना हाथ बेकार सा हो जाता है, मल बद्धता [थोड़ी सी] आखों में पीलापन, बायें करवट लेटने से चैन मिलना, निद्रा,नाश, कामला, तोदभेद, दाह, शोथ और तृष्णा आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—

(1) *An increased amount of antidiuretic substance is found in the urine of pateints suffering from cirrhosis of liver. (The Indian Journal of medical sciences Bombay, Feb. 1961)*

अर्थात् यकृतवृद्धि के रोगी के मूत्र में अस्वाभाविक पदार्थ पाये जाते है। अतः मूत्र गदला हो जाता है।

(2) *In the 6 cases of infantile cirrhosis of liver investigated in present series a reduction of blood and plasma volume was observed, the diminution being 11.7% in the plasma & 24.4% in the blood volume when compared with the control table 4. In one case in whom clinical oedema had increased at the time of second estimation both blood & plasma volumes showed further diminution. (The Indian journal of medical sciences Bombay, Feb. 1961)*

अर्थात् छः शिशु यकृत् के रोगियों की परीक्षा की गई तो उनके रक्त के आयतन [आकार] तथा रक्त के द्रवांश में अत्यधिक कमी हो गई। रक्त द्रव में ११.७ प्रतिशत तथा रक्त के आयतन में २४.४ प्रतिशत कमी हो गई। एक रोगी की पुनः रक्त परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि थोड़ा सा शोथ हो जाने के कारण उसके रक्त में और अधिक कमी हो गई। अतः शिशु यकृत् में पाण्डुता होती है।

(3) *Several studies of the infantile cirrhosis of liver have revealed a hypo-albuminemia with a normo or hyper-*

proteinema. (Indian journal of medical sciences Feb. 1961)

अर्थात् अनेक शिशु यकृत् के रोगियों की परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि उनके शरीर मे एल्ब्यूमिन नामक शर्करा की कमी हो गई है और प्रतनक की मात्रा ठीक है अथवा बढ़गई है [इसके कारण शरीर मे अत्यधिक दुर्बलता हो जाती है।]

(4) *All the cases of cirrhosis of liver had jaundice clinically.* (The Indian journal of med. scien. Feb. 1961)

अर्थात् शिशु यकृत् के सभी रोगियों मे कामला विद्यमान था।

एलोपैथिक के अनुसार बालयकृत्
(Infantile liver)

परिभाषा तथा परिचय—

बाल रोगों की चिकित्सा औषध विज्ञान की संभवतः सबसे कठिन समस्या है। क्योंकि सारी ही बातें रोगी की ठीक ठीक पहचान के विरोध में होती हैं। प्रायः माता पिता ऐसे इतिहास के सम्बन्ध मे मौन रहते हैं जिसका रोग से कोई सम्बन्ध हो सकता है। बच्चा अपनी बीमारी के लक्षण कभी भी बतला नहीं सकता और डाक्टरी लक्षण मिलने कठिन होते हैं क्योंकि बच्चा किसी अनजान के द्वारा छेड़ा जाना पसन्द नहीं करता। केवल बच्चों मे ही पाया जाने वाला और बालमृत्यु के लिये काफी उत्तरदायी बालयकृत् [*Infantile cirrhosis of liver*] है जिसकी परिभाषा निम्नलिखित रूप मे कर सकते हैं--

Infantile cirrhosis of liver–[बाल-यकृत् रोग] एक ऐसा रोग है जो केवल ६ माह और ५ वर्ष की आयु के ही बच्चों को होता है।

लक्षण—इसमे निम्न लक्षण होते हैं—

मैदे व आतो के रोग [जैसे कब्ज अथवा दस्त, अथवा उलटिया होना] ज्वर, यकृत् का बढ़ जाना,



चित्र नं० ११७

यकृत् वृद्धि के कारण जलोदर–उदर एवं वक्ष पर त्वचा में नसें उभर आई हैं।

और कभी कभी प्लीहा [तिल्ली] का भी बढ़ जाना, पीलिया, जलोदर और सूजन [जैसे पैरों, हाथों इत्यादि की सूजन] और यदि ठीक से उपचार न किया जाये तो परिणाम घातक हो सकता है।

रोग का इतिहास–

आयुर्वेद औषध प्रणाली ने इसे एक प्रथक रोग माना है परन्तु इसके उपचार के विषय मे विवरण बहुत ही कम दिया है। हां एलोपैथिक प्रणाली ने पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ भाग में इसे एक प्रथक रोग माना और तभी से इसका ठीक ठीक निदान करने और इसका सफलतापूर्वक उपचार करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं परन्तु अभी तक कोई सफल उपचार ज्ञात नहीं हुआ।



इस रोग में विशेष कर प्रथम अवस्था में मलेरिया के कारण जिगर का बढना, कालाजार (*kala azai*), हड्डी का सूखा रोग (*Rickets*), जन्म-जात उपदंश और पीलिया (*Acholuric Jaundice*) का भ्रम हो सकता है। इसके इस शीघ्रता-पूर्ण और छलपूर्ण प्रारम्भ से ही मलेरिया से इसकी भिन्नता ज्ञात हो जानी चाहिए जिसमें कि ज्वर आकस्मिक होता है और कुनैन उसे दूर करने मे असमर्थ। कालाजार के विषय मे तो विशेष रूप से २४ घन्टों मे दो दो बार तापक्रम का बढ़ना इतना स्पष्ट होता है कि पहचानने मे त्रुटि नहीं हो सकती। वर्षों तक चलने वाला लम्बा रोग, हड्डियों के मुलायम पड़ने और परिणामस्वरूप मुड़ने तुड़ने से अस्थिक्षय (Rickets) और बालयकृत् (Infantile cirrhosis) में भेद हो जाना चाहिये जिसको यकृत् (Liver) को यदि अपने ढंग से चलने दिया जाय तो ५ या ६ माह मे घातक सिद्ध हो सकता है। जन्म जात उपदंश से बढ़ा यकृत शरीर के अन्य भागों मे उपदश के प्रभाव और वासरमैन प्रक्रिया के द्वारा पहचाना जा सकता है। मूत्र में पित्त की अनुपस्थिति पीलिया (Acholuric gaundice) को बालयकृत् (Infantile cirrhosis) से प्रथक् कर देती है।

भारत में विस्तार के स्थान—

यह रोग किसी एक प्रदेश तक ही सीमित नहीं है अपितु सारे भारत में व्याप्त है तथापि दक्षिण भारत, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, और बम्बई मे इसकी प्रधानता देखी गई है।

एक विचार ऐसा भी प्रचलित प्रतीत होता है कि अधिक ऊंचाई और सम जलवायु विरोधक का कार्य करती है। हमारा निजी अनुभव इसे निश्चित रूप से निर्मूल सिद्ध करता है।

जाति और रोग—

अन्य जातियों तथा धर्मों की अपेक्षा हिन्दू या शाकाहारी बच्चे इस रोग से अधिक ग्रसित होते हैं। माताये प्रायः स्वास्थ्य के आधारभूत नियमों से अनभिज्ञ होती हैं और उनकी उपेक्षा करती हैं। वात्सलय मे वह अपने बच्चों को अनियमित अन्तर से प्रत्येक संभव समय पर भूख से अधिक खिलाती हैं। यह वात्सलय प्रायः प्रथम सन्तान या प्रथम लड़के पर प्रदर्शित किया जाता है। परिवार के अन्य बच्चों को छोड़कर इन ही में अधिक मात्रा मे फैले इस यकृत् रोग से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि अनियमित और भूख से अधिक भोजन से यकृत् असामान्य रूप से क्रियाशील होता और बढ़ जाता है। अनुपात मे मांसाहारियों मे यह रोग कम होता है।

एक अशक्त मा के बालक इस रोग से क्रमानुसार ग्रसित होते देखे गये हैं कारण यह कि बच्चे का जीवन प्रथम दश महीनो मे जटिल रूप में अपनी माता से जुड़ा रहता है और क्योंकि ठीक यही आयु रोग से ग्रसित होने की है इसी से माता की अस्वस्थता और अपूर्ण आहार से समय रहते सचेत होना आवश्यक है।

स्वस्थ मां के दूध पर पले हुए अथवा जिनकी पालन पोषण व्यवस्था ठीक रहे, ऐसे बच्चे इस बुरे रोग से कम ग्रसित होते हैं और इस रोग से पीड़ित लगभग सभी बच्चों का इतिहास कृत्रिम दूध और कुपाच्य ठोस भोजन का उपयोग सिद्ध करता है। ऐसे माता पिता जो अपने बच्चे को वही सब खिलाते हैं जो वह स्वय खाते पीते हैं यह रोग का एक दूसरा कारण है।

कारण—

इस प्रकार इस रोग के मुख्य कारण संभवतः यह हैं—

(१) गर्भावस्था, तथा बच्चों को दूध पिलाने में माता की अस्वस्थता या ठीक भोजन न मिलना।

(२) अधिक मात्रा में निशास्ता (*Starch*) हरा भोजन (*Carbohydrates*)

न होना ।

(३) कम मात्रा में अथवा अस्वस्थ माता का दूध जिसके कारण कृत्रिम दूध और भोजन की आवश्यकता पड़ती है ।

(४) माता पिता द्वारा बच्चों को अनियमित और भूख से अधिक भोजन दिया जाना ।

(५) बच्चों के अयोग्य भोजन ।

रोग की प्रगति सूचक अवस्थायें (Stages)

प्रमुख बाह्य लक्षणों के अनुसार इस रोग की प्रगति को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है—

(१) बच्चा साधारण से भी अधिक स्वस्थ (अत्यधिक मोटा) प्रतीत होता है वह अधिकाधिक मात्रा में भोजन करता है, उछलता कूदता है और प्रसन्न प्रतीत होता है परन्तु उसके शरीर के तापक्रम में कभी कभी वृद्धि हो सकती है जिसको माता पिता कठिनता से ही अनुभव कर सकते हैं। फिर बच्चा कभी कभी कब्ज से पीड़ित होना प्रारम्भ होता है और कुछ कम प्रसन्न रहता है यह अवस्था अनजाने ही निकल जाती है ।

(२) दूसरी अवस्था प्रारम्भ होते ही बच्चे के तापक्रम में काफी वृद्धि हो जाती है । यकृत् और पेट बढ़ने लगते हैं। बच्चा अधिकतर मुंह बल के ठण्डे तल से पेट चिपकाये पड़े रहना पसन्द करता है । बच्चे को या तो काफी कब्ज रहता है या फिर दिन में काफी दस्त आते हैं। कभी कभी उलटी (वमन) हो सकती है । उसकी भूख और चपलता नष्ट हो जाती है बच्चा चिड़चिड़े स्वभाव का और दुर्बल हो जाता है । उसका रंग मलिन और पीला तथा मूत्र भी रंगदार हो जाता है । जैसे जैसे रोग की यह अवस्था बढ़ती है आंतों में कब्ज बढ़ता जाता है। दस्त अधिक मात्रा में और मटमैले से होते हैं हरे रंग के भी हो सकते हैं । अन्त में यह सफेद रंग के और बदबूदार हो जाते हैं। मूत्र सूखने पर थोड़ी देर पश्चात् सफेद रंग का धब्बा पड़ जाता है ।

(३) यकृत् का स्थान बड़ा दर्द करने लगता है, ज्वर उतार चढ़ाव के साथ तेज रहता है । ज्वर अविराम भी रह सकता है। हलका हलका पीलिया प्रथम बार भासित होता और बाद में अधिक हो जाता है त्वचा, नेत्र व मूत्र गहरे पीले रंग के होजाते हैं। हाथ पैर और कभी कभी मुख पर सूजन आ जाती है और जलोदर रोग भी हो जाता है । इस अवस्था में रोग बढ़ने पर पेट पर मोटी नीली नसें उभर आना साधारण बात है । इस अन्तिम अवस्था में प्रायः प्लीहा भी बढ़ जाती है अब जब अधिक बढ़ जाती है तो आमाशय के ऊपरी प्रदेश में (*Epigastric region*) कोई कठोर सी वस्तु प्रतीत होती है । रोगी चिड़चिड़ा और नींद में भरा रहता है और अचेतनावस्था में ही उसकी मृत्यु तक हो सकती है। मृत्यु के कुछ पूर्व ऐंठन भी प्रारम्भ हो सकती है। (बालयकृत् रोग और उसकी चिकित्सा श्री जम्मीवेङ्कटरमणय्याकृत) ।

हौम्योपैथिक के अनुसार शिशुयकृत् रोग—

साधारणतः प्रसूता के दूध में दोष रहने के कारण अथवा प्रसूता को अम्लपित्त (*Hyperacidity*) की बीमारी हो जाने पर उसका दूध पीने पर बच्चे को शिशुयकृत् हो जाता है । बच्चे को मलेरिया हो जाने पर भी हो जाता है ।

लक्षण—

(पूर्वलक्षण) प्रथम अवस्था में बच्चे को नित्य रात में ज्वर हो जाता है । ज्वर मध्य रात्रि के समय आता है और प्रातः काल छूट जाता है । संरक्षकों को भी ठीक पता नहीं लगता । कुछ दिन बाद ज्वर प्रातः काल भी नहीं छूटता । अब बच्चे का शरीर गरम देखकर मालूम पड़ता है कि बच्चे को ज्वर आया है । अब क्रमशः जितने भी दिन बीतते जाते हैं ज्वर बढ़ता जाता है और किसी भी समय नहीं छूटता दिन रात बना रहता है। अब चिकित्सक की



आवश्यकता पड़ती है। अब चिकित्सक का क्या कर्तव्य है? चिकित्सक को चाहिये कि सबसे पहले बच्चे का इस प्रकार का ज्वर देख कर यकृत् पर दृष्टि डाले। यदि यह देखने मे आवे कि यकृत् वाली जगह दबाने से बच्चा रोता है, उसे दर्द मालूम होता है, दिन रात ज्वर बना रहता है, ज्वर बिलकुल नहीं घटता, कब्जियत बनी रहती है या बकरी की मेंगनी की तरह कड़ा या राख अथवा मिट्टी के रंग का दाना-दाना जैसी टट्टी होती है यकृत् का आयतन (बिस्तार या *Volume*) बढ़ता जाता है धीरे धीरे मूत्र तथा आखों का सफेद अंश पीला होता जाता है यदि ऐसा दिखाई तो समझ लेना चाहिये कि शिशुयकृत् (*Infantile liver*) है। यह बच्चो की साघातिक बीमारी है।

द्वितीय अवस्था मे आख, मुख, समूचा शरीर, मूत्र, पसीना प्रभृति पीले रहते है। इसके साथ ही यदि शोथ हो जावे अर्थात् हाथ पैर फूल जावे तो समझले कि जीवन की आशा बहुत कम है। परन्तु शोथ या कामला के पहले यदि ठीक से चिकित्सा की जाय तो जीवन की आशा की जा सकती है ऊपर जो यकृत् शोथ (*Cirrhosis of liver*) के विषय में कहा गया है उसमे भी अन्तिम अवस्था में हाथ पैर सूज जाते हैं, यकृत् छोटा हो जाता है पेट में पानी इकट्ठा हो जाता है। इन्हीं लक्षणों में मृत्यु भी हो जाती है।

"यह रोग तीन वर्ष तक के बालक को होता है। प्रारम्भ मे यकृत् बढ जाता है। पश्चात् यदि बालक ठीक नहीं होता है तो यकृत् कठोर हो जाता है और सिकुड़ कर छोटा हो जाता है तथा बच्चो मे रक्ताल्पता, शोथ और कामला हो जाता है। कभी कभी यकृत् से आमाशय तथा आन्त्र द्वारा रक्तागम होता है। जब रक्त बार बार आता है तो बच्चे की मृत्यु हो जाती है। इस रोग के प्रारम्भ में त्वचा रूखी रूखी हो जाती है, ज्वर निरन्तर बना रहता है, भूख बिलकुल नहीं रहती, शरीर का मास सूख जाता है, रक्ताल्पता हो जाती है और हर समय अजीर्ण बना रहता है। टट्टी का रंग मिट्टी जैसा अथवा सफेद होता है। (होमियोपैथिक प्रक्टिस)

चिकित्सा--

कुछ चिकित्सको की यह धारणा है कि यह रोग प्रारम्भिक अवस्था के अतिरिक्त किसी भी ज्ञात उपचार अथवा चिकित्सा प्रणाली से ठीक नहीं होता किन्तु हमारा चिकित्सा क्षेत्र मे २२ वर्ष का व्यवहारिक अनुभव इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करता है। इस रोग की अवधि एक वर्ष तक की हो सकती है और किसी भी समय घातक परिणाम वाली गम्भीर जटिलताये प्रारम्भ हो सकती हैं। इस विषय मे निम्नाङ्कित आयुर्वेदिक चिकित्सा की सफलता असंदिग्ध है। यह अनुभूत चिकित्सा है और ऐसी सभी अवस्थाओं में कि जहा गम्भीर जटिलतायें आरम्भ नहीं हुई है निश्चित् रूप से पूर्ण उपचार है।

एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि जिन स्त्रियों के पहले बच्चे यकृत् रोग से पीड़ित रहे हो उन्हें गर्भावस्था में ही यकृत् रोग नाशक तथा यकृत् वृद्धि प्रकृति विघातक [*for eliminating the tendency of infantile cirrhosis of liver*] औषध निरोधक तथा शक्ति वर्द्धक के रूप मे सेवन करानी चाहिए। यह सुझाव आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के अनुसार इस तथ्य पर दिया गया है कि चरक गर्भस्थित शिशु की अंग रचना मे यकृत् तथा प्लीहा की रचना माता ही करती हैं, ऐसा मानते हैं— "यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च मातृत. सभवन्ति" चरक शारीर अध्याय ३ ॥

चिकित्सा सूत्र—यकृत् वृद्धि अथवा शिशुयकृत् की चिकित्सा के विषय मे महर्षि चरक ने लिखा है कि "दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतसा सन्निरोधनात् सम्भवन्त्युदराण्येवमतो नित्यं विशोधयेत्" अथवा "विरेचयेत् इति पाठान्तरम्" अर्थात् दोषों के अत्यन्त इकट्ठा हो जाने से और स्रोतों के रुक

जाने से ही उदर रोग अथवा बालयकृत् उत्पन्न होते हैं। इसलिए इस प्रकार के रोगी को नित्य विरेचन करावे किन्तु–अविरेच्यन्तुयं विद्यात् दुर्बलं स्थविरं शिशुम। (चरक चिकित्सा अ० १३) अर्थात् दुर्बल तथा बालक को विरेचन नहीं करावे। "तं भिषक् शमनैः सर्पियूषमांसरसौदनैः वस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुध.॥ चरक चि० अ० १३॥ अर्थात् इस प्रकार के रोगियों को जिन्हें विरेचन नहीं दिया जा सकता उन्हें औषधियों से सिद्ध किये घृत, यूष तथा मांस रस, संशमन द्रव्य, वस्ति, अभ्यङ्ग, अनुवासन और औषध सिद्ध दूध देने चाहिए।

प्रयोग नं० १—

बालक को ऐसी औषध देनी चाहिए जो विरेचक तो न हो किन्तु टट्टी खुलकर आती रहे। इसके लिए पिप्पली चूर्ण तथा सर्वाङ्ग सुन्दर रस मिला कर बड़ा सुन्दर काम करता है। इससे शौच शुद्ध आता है साथ ही यकृत् रोग भी ठीक हो जाता है।

पीपल का चूर्ण शहद के साथ मिलाकर देने से खांसी, श्वास तथा ज्वर को शांत करता है, प्लीहा वृद्धि तथा हिक्का रोग में अत्यन्त लाभकारी है। विशेषत. बालकों के लिए प्रशस्त है। शास्त्रीय विधान के अनुसार पीपल दो वर्ष पुरानी लेनी चाहिए। यद्यपि 'प्लीहा हन्ति' पाठ है किन्तु चरक के अनुसार प्लीहा और यकृत् की एक ही चिकित्सा है अत. पीपल बालयकृत् में भी लाभ करती है और यह प्रत्यक्ष सिद्ध भी है।

सर्वाङ्ग सुन्दर रस [रसेन्द्रसार संग्रह]—

शुद्ध पारद २½ तोला, शुद्ध गंधक २½ तोला दोनों की कज्जली करके मृदु पाक से पर्पटी बनावें। [तुरन्त बनाई गई कज्जली की पर्पटी बढ़िया होती है २-३ दिन रखी हुई कज्जली की भी बनाई जा सकती है इसके पश्चात् पर्पटी बनाना ठीक नहीं] इस प्रकार पर्पटी बना कर फिर उसको बारीक पीस लें। पश्चात् उसमें जायफल दक्खिनी, जावित्री, लवङ्ग, नीम के पत्ते, सम्भालु के (निगुण्डी) और छोटी इलायची के बीज इनमें से प्रत्येक का चूर्ण २½ तोला इन सबको (पर्पटी चूर्ण तथा जायफल आदि का चूर्ण) इकट्ठा मिला कर पीसें। फिर जल से अच्छी प्रकार गूंथ कर दो सीपों में पुटपाक की भांति बन्द करके कपड़मिट्टी करके सुखालें। पश्चात् इसको १५, २० जंगली उपलों का पुट दें। जब गन्धक की गन्ध निकलने लगे तभी निकाल कर शीतल होने पर पीस कर शीशो में रखलें। इसका नाम महागन्धक है। यदि इसको पुट न दिया जावे तो सर्वाङ्ग सुन्दर कहाता है। मैं प्राय. सर्वाङ्ग सुन्दर ही प्रयोग करता हूँ।

गुण—यह औषधि ५ वर्ष तक के बालक के लिए अमृत तुल्य है। इससे बच्चों का ज्वर दूर होता और अग्नि दीप्त होती है बल बढ़ाती है। बच्चों के किसी भी उदररोग में विशेषत यकृत् वृद्धि में अद्भुत कार्य करती है।

मात्रा तथा सेवन विधि—पिप्पली चूर्ण की पूर्ण मात्रा १ से ३ माशा तक है और सर्वाङ्ग-सुन्दर रस की पूर्ण मात्रा ६ रत्ती है। १ से ४ वर्ष के बच्चे को २–३–४ रत्ती तक पिप्पली चूर्ण तथा १ रत्ती सर्वाङ्ग सुन्दर यह एक मात्रा है। इस प्रकार की ३ अथवा ४ मात्रायें दिन भर में चौगुने दूध में घोल कर देनी चाहिए।

यह औषध बालयकृत् रोग की प्रथमावस्था में सफलतापूर्वक प्रयोग को जा सकती है और परिणाम भी सन्तोषजनक होगा।

प्रयोग नं० २—

शोथ भस्म लौह + ताप्यादि लौह (भैष० र०)

शोथ भस्म लौह—

सोंठ, मिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, द्राक्षा (मुनक्का), पौकर मूल, सुगन्धवाला, कचूर, लौह भस्म, घुड़बच, लौंग, काकड़ासिगी, दालचीनी, सौंफ, बहेड़ा, वायविडंग, धाय के फूल—प्रत्येक २ तोला लेकर कपड़छन चूर्ण करके फिर इस चूर्ण में मण्डूर भस्म ३८ तोला मिला कर कम से कम ३ घंटे घिसे। फिर कुटज (कुडे) की छाल के स्वरस



अथवा क्वाथ में घोट कर गोला बनावें। इस गोले के चारों ओर जामुन के कोमल पत्ते लपेटे। अब इस पर मिट्टी का एक अगुल मोटा लेप करें और सूखने पर लघु पुट से पकावें। शीतल होने पर औषध निकाल कर पीस कर शीशी में रक्खें। पूर्ण मात्रा २ रत्ती।

लाभ—सारे शरीर के शोथ को विशेषत शोथ-युक्त ग्रहणी रोग को नाश करती है, आठों उदर रोगों विशेष रूप से बाल यकृत् मे चमत्कारी है। साधारणतः अन्त्रशोथ, यकृत्शोथ, प्लीहा शोथ, गर्भाशय शोथ इन सब मे लाभकारी है। बालयकृत् मे एक सप्ताह में ही लाभ दिखाती है।

ताप्यादि लौह—

हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मिर्च, पीपल, चित्रकमूल, बायविडंग प्रत्येक १½ तोला, नागरमोथा १½ तोला, पीपलमूल, देवदारु, दारुहल्दी, दालचीनी और चव्य १-१ तोला, शुद्ध शिलाजीत, सुवर्णमाक्षिक भस्म, रौप्य भस्म तथा लौह भस्म प्रत्येक १० तोला, मण्डूर भस्म २० तोला और मिश्री ३२ तोला—इन सबको मिला कर घिसे, अर्थात् प्रथम हरड़ से लेकर चव्य तक द्रव्यों का चूर्ण कर फिर उसमें अन्य द्रव्य मिलाकर घिसें।

लाभ—पाण्डु, कामला, यकृत्, बालयकृत् आदि मे परम लाभकारी है।

प्रयोग—शोथ भस्म लौह तथा ताप्यादि लौह २-२ रत्ती मिला कर एक पूर्ण मात्रा बनती है। एक वर्ष के बालक को एक पूर्ण मात्रा की ८ मात्रा, २ वर्ष के को ६ मात्रा और ४ वर्ष के को चार मात्रा करके दिन मे तीन या चार बार आवश्यकतानुसार दूध के अनुपान से देना चाहिए।

प्रशसा—बालयकृत् की द्वितीय अवस्था में अत्यन्त उपादेय है—यह परीक्षित है।

प्रयोग न० ३

(शोथ भस्म लौह + वृ० लोकनाथरस)

(१) वृ०लोकनाथरस (भैष्यरत्नावली)

शुद्ध पारद १ तोला और शुद्ध गधक २ तोला लेकर खरल में कम से कम ३ घंटा घोटे (मर्दनं गुण बर्धनाय, अधिकन्नैव दोषाय—अर्थात् मर्दन करने से औषध के गुणों मे वृद्धि होती है अधिक घोटने से कोई दोष नहीं) फिर अभ्रक भस्म १ तोला मिलाकर कुमारीस्वरस मे ३ घंटे घोटें। फिर ताम्र भस्म २ तोला और लौह भस्म २ तोला मिला कर मकोय के स्वरस से ३ घंटे घोटे। फिर इन सबका एक गोला बना ले, अब कौड़ी भस्म को ६ तोला लेकर उसे नीबू के स्वरस मे ३ घंटा घोटे। फिर इस प्रकार घिसी हुई कौड़ी भस्म को उस गोले के चारों ओर इस तरह लगावें मानों कौड़ी भस्म की मूषाओं मे उपरोक्त गोला बन्द कर दिया गया है। फिर इसे सुखा कर एक मिट्टी की हाडी मे बन्द करके गजपुट में रखकर फूंक दे। शीतल होने पर निकाल कर पीस कर शीशी मे रखें।

मात्रा—½ रत्ती से २ रत्ती तक।

लाभ—प्लीहावृद्धि तथा प्लीहा शोथ, यकृत्वृद्धि तथा यकृत् शोथ, प्लीहा अथवा यकृत् का अग्रमास और किसी भी प्रकार की यकृत् विकृति, जीर्ण ज्वर, गुल्म तथा दारुण कामला रोग इस औषध से शान्त होते हैं।

प्रयोग विधि—शोथ भस्म लौह २ रत्ती + वृ० लोकनाथ रस १ रत्ती यह एक पूर्ण मात्रा है। बालक को अवस्थानुसार प्रयोग नं० २ लिखे अनुसार देनी चाहिए। अनुपान—दूध

अपने २२ वर्ष के चिकित्साकाल के व्यवहारिक अनुभव के आधार पर मैं यह बात निश्चित रूपेण कहता हूँ कि शिशुयकृत अथवा प्रौढ़ यकृत के लिये विश्व की सारी औषधें मिलकर भी इस एक प्रयोग से हलकी रहेगी।

साध्यासाध्यता—

> जन्मनैवोदर सर्वं प्राय. कृच्छ्रतमं मतम्।
> बलिनस्तदजातम्बु यत्न साध्य नवोत्थितम्॥
>
> —चरक चि० अ० १३

अर्थात् प्राय सब प्रकार के उदररोग (विशेषत.



शिशुयकृत) उत्पन्न होते ही अत्यन्त कष्टसाध्य होते हैं परन्तु यदि शरीर में शक्ति हो और उदर में जल प्रकट न हुआ हो तो वह प्रारम्भ से ही विधिवत् चिकित्सा करने से साध्य हो सकता है।

श्वयथु सर्वमर्मोत्थः श्वासोहिक्कारुचिः सतृट्।
मूर्च्छा छर्द्यतिसारश्च निहन्त्युदरिणनरम्॥ चरक॥

अर्थात् जिस यकृत रोगी शिशु के मर्मस्थानों में शोथ हो जाय, श्वास, हिचकी, अरुचि, प्यास, मूर्च्छा, वमन और अतिसार यह उपद्रव हों उसका ठीक होना असम्भव है।

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमपक्लिन्नतनुत्वचम्।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणञ्च सत्यजेत्॥
—चरक

अर्थात् जिस यकृत रोगी बच्चे की आंखों पर सूजन आजाय, मूत्रेन्द्रिय टेढ़ी होजावे, त्वचा क्लेदयुक्त और पतली पड़ जाय, बल, रक्त, मांस और जठराग्नि क्षीण होजाय ऐसे बालक की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

पथ्य (भोजन)—

शिशु यकृत् के रोगी बालक को केवल दूध और यदि सम्भव हो तो केवल बकरी का दूध श्रेष्ठतम भोजन है क्योंकि 'वात पित्तहरंगव्यं, त्रिदोषघ्नमजा पयः" अर्थात् गाय का दूध वातपित्तहर है जबकि बकरी का दूध तीनों दोषों को शांत करता है। दूध की उदर के समस्त रोगों में प्रशंसा करते हुये भगवान चरक कहते हैं–

प्रयोगाणाञ्चसर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत।
दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च॥
प्रयोगापचिताङ्गानां हितमुदरिणां पयः।
सर्वधातुक्षयार्तानां देवामृत यथा॥
—चरक चि० अ० १३

अर्थात् उदर रोग के रोगी को सब औषधों के अनुपान स्वरूप दूध का ही प्रयोग करना चाहिए। दूध के सेवन से दोषों का अनुबन्ध नहीं होता और शरीर के बल तथा स्थिरता की रक्षा होती है। औषधि प्रयोग से कृश हुये उदर रोगियों के लिये दूध इस प्रकार हितकारी है जैसे सारी धातुओं के क्षय होजाने से दुःखी हुए देवताओं के लिये अमृत हितकारी होता है।

प्रयोग—

शिशु को दूध कैसा देना चाहिए इस पर विचार करते हुए एक प्रसिद्ध डाक्टर लिखते हैं—

Fresh milk if utilized for infant feeding will require adequate dilution till bady is old enough to digest whole milk. Half strength milk i. e. equal parts of milk and water before three months, three fourth strength i.e thee parts of milk to one part of water ofter five months. Add a tea-spoonful sugar to every four ounce mixture. Full strength milk should be given after five months.

(*The Bombay Hospital Journal, Jan. 1961*)

अर्थात् यदि शिशु को ताजा दूध दिया जाय तो उसमें पर्याप्त जल मिलाना चाहिए। जब तक बालक इतना वयस्क न हो जावे कि वह विशुद्ध दूध को पचा सके। तीन माह से पूर्व आधा दूध और आधा जल औटाकर देना चाहिये। पाच माह के बाद तीन भाग दूध एक भाग जल मिलाकर देना चाहिए। इस प्रकार दूध तथा जल के आधा पाव घोल में ४ से ६ माशा तक बूरा या चीनी डालनी चाहिए। विशुद्ध दूध (*Mndistilled*) पाच माह के बाद देना चाहिए।

आजकल शिक्षित समुदाय प्राय दूध मे ग्लूकोज (*Glucose*) मिला कर प्रयोग करता है। यह प्रयोग मेरी समझ मे गुणागुण विवेचन के बिना देखा देखी हो रहा है। सुना तो यहां तक गया है कि कुछ वैद्य बन्धु सितोपलादि मे सिता के स्थान पर ग्लूकोज (*Glucose*) डालते हैं। यह



अत्यन्त आपत्तिजनक है। ग्लूकोज का इस प्रकार प्रयोग ठीक नहीं इस विषय में मैं एक उद्धरण देना आवश्यक समझता हूँ—

Glucose produces gas and colic and occasionally causes diarrhoea if given in excess, hence it should be avoided. (Dr. Udanni. The Bombay Hospital Journal, Jan. 1961)

अर्थात् ग्लूकोज उदरशूल तथा पेट में वायु पैदा करता है, कभी २ अतिसार भी हो जाता है यदि इसको अधिक परिमाण में ले लिया जावे। अत. इसे प्रयोग नहीं करना चाहिये।

इसके स्थान पर मधु दूध में डालकर देना हितकारी है। एक विद्वान डाक्टर का कथन है कि हजारों ग्लूकोज एक शहद पर न्यौछावर हैं। देखिये एक एलोपैथिक समाचार पत्र की सम्मति है—

Among the sugars the most convenient and cheap is cane sugar. Honey could be used to sweeten water which could be given to babies in between feeds It is a laxative and hence should be avoided in children with dirrhoeal tendency. (The Bomby Hospital Journal, Jan 1961)

अर्थात् शर्कराओं में सबसे अधिक सुविधाजनक तथा सस्ती गन्ने से बनी शक्कर है। बच्चे को दूध के बीच बीच में यदि मीठा देना हो तो मधु जल मे मिलाकर दिया जा सकता है। मधु मृदु विरेचक होता है अत ऐसे बालकों को नहीं देना चाहिए जिन्हें बहुधा दस्त होजाते हों।

उन बच्चों के विषय मे जो अवस्था में बहुत ही छोटे हैं अथवा जिन्होंने अभी रोटी खाना सीखा ही नहीं है उपरोक्त व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु कुछ बच्चे जो रोटी खाने लगे हैं किसी भी प्रकार नहीं मानते अत. उनके लिये निम्न प्रकार की भोजन व्यवस्था करनी चाहिये—

सर्वमेवोदर प्रायोदोपसंघातजं मतम् ।
तस्मात्त्रिदोषशमनीं क्रिया सर्वेषुकारयेत् ॥
दोषैः कुक्षौ हि सम्पूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति ।
तस्माद्भोज्यानि योज्यानि दीपनानि लघूनि च ॥

पथ्य—

रक्तशालीन्यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्चमृगद्विजान् ।
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधु शीधूंस्तथासुराम् ॥
यवागूमोदनवापियूषैश्चाद्यरसैरपि ।
मन्दाम्लस्नेहकटुभिर्यच्च मूलोपसाधितैः ॥

—चरक चि० अ० १३

अर्थात् प्रायः सम्पूर्ण उदररोग तीनों दोषों के संघात से ही उत्पन्न होते है। इसलिये इनमे त्रिदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। दोषों के कोप से कुक्षि परिपूर्ण होकर अग्नि मन्द हो जाती है इसलिये सब उदर रोगो मे हलका और दीपन भोजन कराना चाहिए तथा लाल साठी के चावल, जौ, मूंग, हरिण का मांस रस, गाय का दूध, बकरी का दूध, गोमूत्र, आसव, अरिष्ट, शहद, गन्ने का सिरका (छिरका) और सुरा का सेवन करावें और चरपरे (सोंठ, मिर्च, पीपल, चव्य तथा चीते की छाल) द्रव्य डालकर पतली लप्सी, भात अथवा परवल, करेला और पुनर्नवा का शाकरस अथवा बकरे या हरिणी का मास रस, किंचित खट्टे पदार्थ, नींबू आदि तथा घृत डालकर अग्निबल विचार कर सेवन करावे।

अपथ्य—

औदकानूपजं मासं शाकं पिष्टकृत तिलान् ।
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानञ्चवर्जयेत् ॥
तथोष्ण लवणाम्लानि विदाहीनिगुरूणि च ।
माधादन्नानिजठरी तोयपानञ्च वर्जयेत् ॥

—चरक चि० अ० १३

अर्थात् जल मे रहने वाले जीवों (हंस, बगुला, जल मुर्गावी, सारसादि) का मास, अनूपसंचारी जीवों (हाथी, गौ, भैंस, सूअर, चकवा, चकई, घोंघा, केंकड़ा, कछुआ, मछली आदि) का मास, शाक (पत्ती वाले शाक यथा पालक, मेथी, नारी



आदि)पिट्ठी के बने द्रव्य (बडे, मिगौडी, घेवर आदि) तिल, व्यायाम, भ्रमण, दिन में सोना, घोड़ा आदि सवारी पर चढना (आदि शब्द से साईकिल पर भी बच्चे को नित्य बैठाना न चाहिये) इन सबको त्याग देना चाहिये तथा अधिक गर्म (यथा दही, वैजीटेवल-वनस्पति घी, मूंगफली आदि), नमकीन, खट्टे, जलन डालने वाले, भारी पदार्थ और अधिक पानी का पीना ? इन सबको भी प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये।

शिशु यकृत् रोग में तक्र का प्रयोग—

मधुतैलं वचाशुण्ठी शताह्वा कुष्ठसैन्धवैः ।
युक्तं प्लीहोदरी जातं ॥ —चरक चि० अ० १३

अर्थात् प्लीहा वृद्धि या यकृत् वृद्धि में मधु (शहद), तिल का तैल, घुड़बच, सौंठ, सौंफ, कूट और सैंधानमक मिलाकर तक्र पिलावें।

गौरवारोचकार्तानां समदाग्न्यति सारिणाम् ।
तक्रं वातकफार्तानामसृतत्वाय कल्पते ॥
—चरक।

अर्थात् जो रोगी गुरुता, अरुचि, मन्दाग्नि, अतिसार और वात कफ के रोगों से पीड़ित हों उनको तक्र अमृत के समान गुणकारी है।

—श्री विद्याभूषण वैद्य B. A. आयुर्वेदाचार्य
घंटाघर मार्ग, एटा (यू. पी.)



बाल यकृत रोग

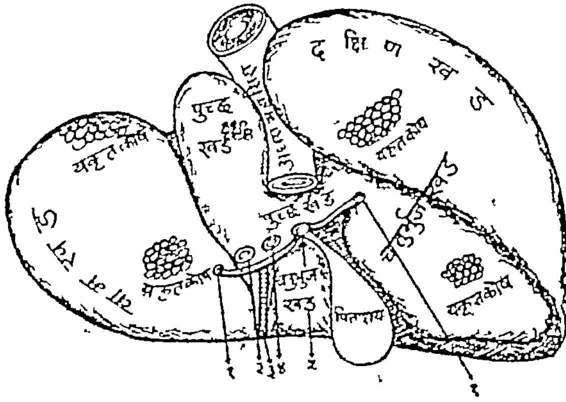
कविराज श्री लाला बदरीनारायण सेन जी. ए. एम. एस.

जैसा कि नाम से ही ईङ्गित होता है—यह रोग ५-६ वर्ष तक की आयु वाले बच्चों मे ही होने वाला रोग है और केवल बालकों में होने वाला है बालिकाओं में यह नहीं के बराबर होता है। यह रोग अपने जिद्दी किस्म के यकृत प्लीहा अभिवृद्धि के कारण इस नाम विशेष से मशहूर है। इसमें जिद्दी किस्म के यकृतप्लीहा अभिवृद्धि के साथ अन्य अनेक जीर्ण रोगों के लक्षण भी वर्तमान रहते हैं। इसमें यकृतप्लीहा अभिवृद्धि के अतिरिक्त जीर्ण प्रवाहिका या अतिसार मास क्षय विशेष कर हाथ पैर नितम्ब एवं गर्दन के मन्द विषम ज्वर, कास, जलोदर आदि रहा करते हैं जिनका विशद वर्णन आगे होगा। चूंकि यह रोग यकृत सम्बन्धित रोग है अतः यकृत से पूर्ण रूपेण परिचित रहना, इसे पहचानने एवं इसकी चिकित्सा की कल्पना के लिये अत्यन्त आवश्यक विषय है।

यकृत (चित्र संख्या ११८)—

यह शरीर का सबसे बड़ा ग्रन्थि अवयव है जो उदर प्रदेश के सबसे दाहिनी ओर अवस्थित है। यह दक्षिण की ओर दाहिने पार्श्व से लेकर उर:फलक के सामने तक आमाशय ग्रीवा को स्पर्श करता हुआ, का स्थान घेरे है। ऊपर यह दक्षिण फुफ्फुस के अधो भाग से लेकर नीचे ग्रहणी शरीर तक स्थान घेरे हैं। बयस्कों मे यह उर.पंजर के अन्तिम ३-४ दक्षिण उपपर्शुकाओं के नीचे रहता है। उपपर्शुका से आगे यह विकृत अवस्था में ही आता है मगर बच्चों में यह स्वभाविक रूप से ½ इञ्च से १ इञ्च तक उपपर्शुका के आगे तक रहा करता है। बच्चो मे यह प्राय. ६ इञ्च लम्बा एवं ४ इञ्च चौड़ा हुआ करता है। बयस्कों में यह समूचे बदन के कुल बजन का $\frac{1}{३४}$ वा भाग होता है मगर बच्चों में यह इस अनुपात से कुछ अधिक अनुपात मे बजनी होता है।





चित्र नं० ११८

१– पित्तस्रोत २– याकृतीधमनी
३– नाभी नाल खात। ४– प्रतिहारिणी सिरा
५– पित्तनलिका

यह त्रिकोणाकार गोल आकार का है जिसका चौड़ा भाग दक्षिण पार्श्व की ओर एवं लम्वा तथा पतला भाग आमाशय की ओर हुआ करता है। यह दो खण्डो में विभक्त है–एक दक्षिण खण्ड (Right lobe) जो सवसे अधिक बड़ा चौड़ा एवं दक्षिण ओर को है और दूसरा वाम खंड (Leff lobe) जो दक्षिण खंड से सटा उससे बायें आमाशय की ओर है। दक्षिण खड पुन: दो उपखंडों में विभक्त है– एक चतुर्भुज खड (Quadrate lobe) जो प्राय: चतुर्भुजाकार है और इस का दक्षिणतम खंड है। दूसरा योजनिका या पुच्छ खंड (Caudate lobe) जो चतुर्भुज खंड एवं वाम खंड के बीच इन दोनों को जोड़ने का काम करता है, यह आकार मे गोदुमाकार सा है इसीलिये इसे पुच्छ खंड भी कहते हैं। यह वीच से किंचित नतोदर सा हो एक खात का निर्माण करता है जिससे सटती हुई अधरा महासिरा (Superior Vena Cava) गुजरती है। इसे महासिरा खात कहते हैं। इस खात के नीचे के भाग से याकृती धमनी (Hepatic Artery) एव प्रतिहारणी सिरा (Portal vein) यकृत मे भीतर प्रविष्ट हुई हैं और इसी के बगल से पित्त नलिका (Bile duct) यकृत से बाहर निकली है खात के मध्य से याकृतीसिरा (Hepatic vein) यकृत से बाहर निकल उससे सटकर ऊपर की ओर जाती हुई अधरा महासिरा से आ जुटी है।

यकृत के भीतर अनेक कोप भरे पडे हैं बल्कि यों कहे कि यह कोपों का संघात है। इन कोपों को याकृतीकोप (Lobules) कहते हैं। ये कोप गोल मण्डलाकार होते हैं जिनका व्यास प्राय: $\frac{1}{20}$ इञ्च होता है। ये कोप यकृत मे इस प्रकार पंक्तियों मे तमाम सजे पड़े हैं कि प्रत्येक कोष के चारों ओर स्रोत हैं (चित्र ११९) ये स्रोत याकृती-धमनी प्रतिहारिणी शिरा पित्तनलिका एव याकृती सिरा की शाखा प्रशाखा है। बल्कि यों कह सकते हैं कि प्रत्येक कोप स्रोतों के आक्रोश मे रहा करता है। इन कोषों मे सहस्रो की संख्या में एक विशिष्ट प्रकार के परमाणु भरे रहते है जिन्हें याकृती परमाणु (Liver cells) कहते हैं। यकृत की सारी क्रिया इन्हीं परमाणुओं की क्रिया पर निर्भर करती है बल्कि यों कहे कि यकृत की सारी क्रियाओं का वास्तविक कर्त्ता यही है।

याकृती धमनी एव प्रतिहारणी सिरा यकृत मे प्रविष्ट हो सहस्रों शाखा प्रशाखाओं से विभक्त हो समूचे यकृत मे फैल गयी है। मगर जिधर भी इसके स्रोत गये हैं दोनों ही स्रोत याने याकृती धमनी एवं प्रतिहारणी सिरा के शाखा प्रशाखा एक साथ गये हैं। ये यकृत कोपक की पंक्तियों के बीच बीच से होते हुए गये हैं। इनके इस तरह एक साथ साथ चलने से यकृत के भीतर कोषपंक्तियो के वीच से एक मार्ग का निर्माण हो जाता है जिसे कोषमार्ग या स्रोत मार्ग (Portal cannal) कहते हैं। इन स्रोतो से उपशाखाये निकल कर कोपों मे प्रविष्ट होती हैं और कोषों मे जाकर ये केशिकाओ के रूप मे आ सारे कोष मे फैल जाती है और अपने अपने रक्त से इसे आसावित करती हैं। याकृती धमनी एवं प्रतिहारणी सिरा के इन उपशाखाओं की केशिकायों को जिसके रूप मे ये कोपों में आते हैं उसे कोपकेशिका (Sinosoids) कहते है। कोष के चारों



ओर से आकर कोष केशिकाये एक स्थान पर आकर मिल जाती है जो प्राय कोष के केन्द्र मे होता है। इस स्थान को कोष केन्द्र (Lobular centre) कहते है इस स्थान से ये एक होकर एक सिरा के रूप में जिसे कोषसिरा (Lobular vein) कहते हैं कोष से बाहर निकलते है। अन्य कोषों से निकली कोष-सिरा एक दूसरे से मिलती हुई एक सिरा का रूप लेती हैं जिसे कोषान्तरसिरा (Intra-lobular vein) कहते है। ये कोषान्तर सिरा पुन. परस्पर मिलती हुई याकृती सिरा (Hepatic vein) के रूप मे आती है और यकृत से बाहर निकल अधरा महासिरा से आ मिलती है।

यकृत धमनी का रक्त तो शुद्ध रक्त रहता है। इसकी उपशाखायें कोषों मे कोष केशिकाओं के रूप में अपने रक्त से कोष एवं कोषस्थ परमाणुओं (Liver cells) को सींच उनको पोषण प्रदान करती हैं एवं उनके दोषों को ग्रहण कर संवाहित कर कोषों से बाहर ले आती है। मगर प्रतिहारणी शिरा का रक्त शुद्ध रक्त नहीं होता। यह आन्त्रों के रसांकुरों (Villies) द्वारा शोषित आहार रस एवं आन्त्रों को पोषण प्रदान करने के बाद वापिस लौटने वाला अशुद्ध रक्त दोनो का मिश्रण होता है चूंकि दोनों ही एक ही सिरा स्रोत से आन्त्रों से बाहर निकलते हैं। एक तो इस वापस लौटने वाले रक्त में कुछ अशुद्धियां रहती है कुछ कमी भी रहती है चूंकि आन्त्र तन्तु इसमे से बहुत कुछ स्वपोषणार्थ ग्रहण कर लेते है। दूसरे आहार रस भी एक नियमित रस नहीं होता—आहार द्रव्य एवं उनकी मात्रानुसार इसमे बहुत कुछ रहते भी हैं कुछ नहीं भी रहते, कुछ मात्राधिक्य रहते तो कुछ न्यून, कुछ उपयोगी तो कुछ अनुपयोगी, कुछ ग्राह्य तो कुछ अग्राह्य एवं हानिकर। अत इसे नियमित होना पड़ता है—उसे अनुकूल होना पड़ता है जिसके अनुसार शरीर के लिये आवश्यक है। यह मिश्रित रक्त जब प्रतिहारणी शिरा की शाखा प्रशाखाओं के उप-शाखाओं द्वारा कोष में आता है और केशिकायों द्वारा सारे कोष मे छाता है तब कोष के यकृत पर-माणु इस कार्य को सम्पादित करते हैं। यकृत पर-माणु रस मिश्रित रक्त में से—

(क) हानिकर वस्तुओं को नष्ट कर या उन्हे उसमे से छानकर पृथक कर

(ख) उपयोगी वस्तुओं में से जो मात्राधिक्य है उन्हे काट छांट कर मात्रा मे लाकर तथा अवशेष मे से कुछ को अपने पास रख, शेष को पृथक कर—

(ग) जो उसमें कमी है उसे अपने पास से मिलाकर— -

इसे नियमित कर इस रूप में ले आते हैं जिस रूप में इसे शरीर के लिये रहना चाहिये। इस प्रकार प्रतिहारणी सिरा का रक्त जब कि कोष केशिकाओं में संवाहित होता रहता है—यकृत पर-माणुओं द्वारा परिवर्तन पाता हुआ आवश्यक रूप में आता है और कोष केन्द्र में आकर याकृती धमनी की केशिकाओं से आ मिलता है और तब दोनों का रक्त मिलकर कोषसिरा से संवाहित होता हुआ बाहर निकलता हैं। अत. यकृत परमाणु निम्न-लिखित कार्यों को करते हैं—

(१) आहार रस द्वारा आये विषो एव हानिकर कीटाणुओं को नष्ट करना।

(२) आहार रस द्वारा आये मात्राधिक्य क्षार, अम्ल, लवण आदि को छांट कर अलग करना।

(३) आहार रस द्वारा आये मात्राधिक्य शर्करा को छांट कर अपने पास रखना तथा उसे तोड़कर शरीरोपयोगी बनाना।

(४) आहार रस द्वारा आये वसा एव प्रोटीन को तोड़कर शरीरोपयोगी बनाना।

(५) रक्त (प्रतिहारणी सिरा के) द्वारा आये श्रमाम्ल (Sarcolactic acid) तथा अन्य त्याज्य वस्तुओं को जैसे रंजक पदार्थ (Bile Pigments) आदि को छान कर अलग करना।

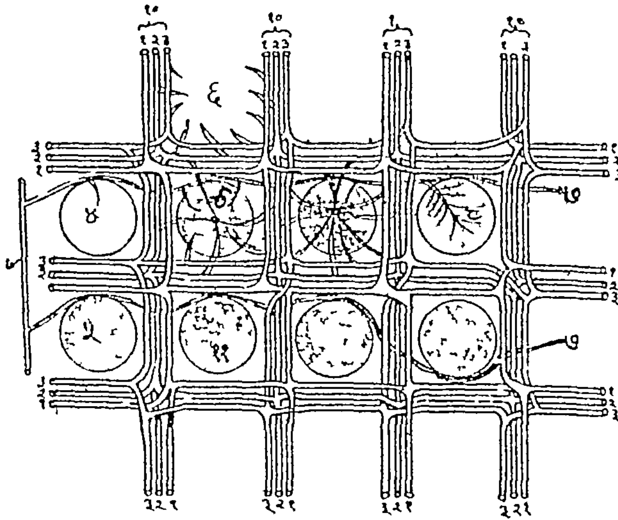
(६) रक्तकणों का निर्माण करना तथा उन्हे रंजक पदार्थ जैसे लोह ताम्र आदि देना।

(७) रक्त में रक्त को जमाने वाले पदार्थ जैसे फ्राइब्रिन आदि को मिलाना।

(८) रंजक पदार्थों जैसे हीमोग्लोबिन आदि का तथा यूरिक ऐसिड का निर्माण करना।

इस प्रकार यह यकृत विविध प्रकार के कार्यों को कर प्रतिहारणी शिरा द्वारा आये रक्त को शरीरोपयोगी बनाने का कार्य करता है।

पित्त का निर्माण—यकृत परमाणु इस प्रकार प्रतिहारणी सिरा द्वारा आये मिश्रित रक्त में से जो कुछ भी काट छांट कर अलग कर देते है याने जिसे न तो यह अपने पास रखना है और न उसे रक्त मे ही रहने देना चाहता है उन्हे वह एक दम पृथक



चित्र नं० ११६

१– प्रतिहारणी सिरा (Portal vein)
२– पित्त नालिका (Bile duct)
३– याकृति धमनी (Hepatic artery)
४– याकृति कोष (Lobules)
५– यकृत परमाणु (Liver cells)
६– कोष केशिकायें (Senusoids)
७– याकृती सिरा (Hepatic vein)
८– कोष जालक (Lobular veins)
९– पित्तस्रोत (Bile canaliculi, bile capillaries)
१०– कोषपथ (Hepatic cannal)
११– कोष केन्द्र (Lobuar centre)

कर देता है। ये वस्तु एक अन्य सूक्ष्म स्रोतों से बाहर निकल जाती है। इन स्रोतों को पित्त स्रोत कहते हैं। ये पित्त स्रोत उन्हीं मार्गों का अनुसरण करते हैं जिस मार्ग से प्रतिहारिणी शिरा एवं यकृत् धमनी शाखा की प्रशाखा यकृत् मे चली हैं। कोषों से बाहर निकल परस्पर संयुक्त होती हुई यह उत्तरोत्तर मोटी होती जाती है और याकृति धमनी एवं प्रतिहारिणी सिरा की शाखाओं के आने वाले मार्ग का अनुकरण करती हुई ठीक उसी स्थान के पार्श्व मे निकल आती हैं जहा पर से वे दोनो यकृत् के भीतर प्रविष्ट हुई है। इस प्रकार यकृत् मे तीन स्रोत-याकृतिक धमनी, प्रतिहारिणी सिरा एवं पित्त स्रोत जहां कहीं भी है एक साथ है। इन तीनो स्रोतों के एक साथ चलने से यकृत् के भीतर एक मार्ग का निर्माण हो जाता है जिसे यकृत् पथ (Portal canal) कहते हैं। इस पथ के ऊपर नीचे अगल-बगल यकृत् कोष रहते हैं। (चित्र ११९)

यकृत् परमाणुओं की एक विशेषता यह है कि प्रतिकूल वस्तुओं का संयोग पा ये या तो उसका ही विनाश कर देते हैं या स्वयं ही विनष्ट हो जाते हैं। ये शोथ युक्त (Hypertrophied) नहीं होते है। अतः यकृत् की आकार वृद्धि कभी भी इसके परमाणुओ के शोथ के कारण नहीं होती। यह तभी होती है जब या तो इसमें किसी भी विजातीय वस्तु का संचय हो या इसमे अश्माश (Cast) आदि का निर्माण हो। इसके परमाणुओं की यह विशेषता है कि एक के नष्ट होते फौरन ही दूसरा नवीन परमाणु तैयार हो जाता है अत यहा शोथ की संभावना नहीं है।

उपरोक्त वर्णन से यह व्यक्त होगा कि यकृत् की जो कुछ भी क्रिया है उसे हम चार वर्गों मे रख सकते हैं–

[१] आहार रस को इस योग्य बनाना कि शारीरिक तन्तु उसका शोषण कर सके और यह उन्हें कोई क्षति नहीं पहुचा सके। (Metabolism)

[२] कुछ ऐसी विशेष वस्तुओं का निर्माण जिसकी अवश्यकता है जैसे फाइब्रीनोजिन (Fibrinogen)

[३] हानिकर वस्तुओं का विनाश (Detoxication) एवं उदाशीकरण।

[४] पित्त का निर्माण एवं निष्कासन।

विकृति -

बालयकृत् रोग की मुख्य विकृति है इसके भीतर विजातीय द्रव्यों का एकत्रित होना। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें आने वाली यह विकृति किन कारण विशेषों से आती है और कैसे कैसे आती है मगर इतना अवश्य निश्चित है कि इसमें ऐसे विजातीय द्रव्य सञ्चित होते है जो शीघ्र ही विलीन नहीं हो पाते और क्रम क्रम से उनका संचय जारी रहता है। यकृत कोषों में विजातीय द्रव्यों का संचय अधिकतर निम्नलिखित कारणों से हुआ करता है—

१. उपदंशज विष, २. राजयक्ष्मा, ३. आहार विष, ४. कृमि, ५. जीर्ण प्रवाहिका, ६. जीर्ण उदर्य्याकलाप्रदाह।

उपदंशजविष मे यदि यकृतस्थ रक्तस्रोत जालक क्षत अवस्था में आ जाये तब वहां पर रस रक्त का संचय होने लगता है और वहा पर एक प्रकार के विष का निर्माण होता है जिससे यकृत् एवं प्लीहा के तन्तु दोनों ही आक्रान्त होते है। बहुधा उपदशज विष के कारण यकृत् एवं प्लीहा दोनों ही के कोष (Capsules or lobules) तरुणास्थिवत् कड़े होने लगते हैं जिसे कोषकाठिन्य (Polyserositis) कहते हैं। इस कोषकाठिन्य से यकृत् के संवहन कार्य में (Circulation) बाधा पहुँचती है और यकृत् में संवाहित होने वाला तरल पदार्थ इस बाधा के कारण अपने-अपने स्रोतों में मात्रा से अधिक मात्रा मे हो जाता है जिससे वे विस्फारित हो जाते हैं, फूल जाते हैं। इससे यकृत् का आकार बड़ा हो जाता है। बहुधा इससे यानी अधिक दबाव के कारण कोई कोई सूक्ष्म स्रोत फट भी जाते हैं जिससे वहां पर रस रक्त चू कर यकृत कोषों को नष्ट भी कर देते है।

राजयक्ष्मा जनित प्रभाव यदि यकृत् के कोषों पर हुए तो स्वभाविक रूप से आक्रात स्थलों पर खटिक जमाव (Calcification) होने लगता है और कोषकाठिन्य होने लगता है जिससे पूर्वोक्त विकार होने लगते हैं।

आहार दोष में यह होता है कि जब आहार मे अत्यधिक प्रदाहक वस्तु या किसी किस्म की विषज वस्तु की उपस्थिति अधिक मात्रा मे रही तो यकृत् परमाणु इसे छान फैंकने मे स्वयं भी नष्ट होने लगते हैं और इनका विनाश इनके नव निर्माण की अपेक्षा अधिक बलवान होता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रतिहारिणी सिरा द्वारा आये रस रक्त का शोधन एवं परिवर्तन सम्यक् रूप से नहीं हो पाता है और कोषों में सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissues) का संचय होने लगता है। इससे यकृत् का आकार बड़ा होने लगता है।

हेपाटिकाडस्टोमा नामक एक विशिष्ट प्रकार का कृमि होता है जिसका मुख्य स्थान पक्वाशय एवं पुरीषाशय के रक्तवह सिरा होते हैं। यदि यह कृमि प्रतिहारिणी सिरा में प्रवेश पा गया तो उससे यह यकृत् मे भी प्रवेश पा जाया करता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म पतले तागे जैसा और लगभग आध इञ्च लम्बा होता है। इसकी विशेषता यह है कि यह उदर की सिराओं मे रहता है और इसकी मादा जब गर्भवती होती है तब यह शिरा केशिकाओ की ओर बढ़ जाती है और वहा अन्डे देती है। प्रतिहारिणी शिरा मे आने के बाद इसके लिये अनुकूल स्थान यकृत् ही मिलता है जहा आकर वह आसानी से अन्डे देती है। इन अन्डो से प्रतिहारिणी सिरा के कोषस्थ जालक भर उठते हैं और इनका सवहन कार्य बाधित होने लगता है। जिसका परिणाम यह होता है कि केशिकाओं की जिस किसी शाखा



मे यह एकत्रित होता है वह शाखा अवरोध के कारण तथा ऊपर से संवहन के दबाव के कारण बहुधा फट जाया करती है या स्रोत कोई दूसरा मार्ग पकड़ लेता है और वह अंश जिसमे अन्डे अटके है वे सड़ने (Necrosis) लगते है और यकृत् कोषों के अन्दर विजातीय द्रव्य का सचय होने लगता है। जो अन्डे स्रोतो के फूट जाने से बाहर निकल आये, वे तो पित्त स्रोतों द्वारा बाहर निकल आते है। इनके अन्डे २६ से ३० म्यू (अल्फा) लम्बे एवं १५ से १७ म्यू (अल्फा) चौडे गोल अडाकार और गहरे बादामी (Dark brown) रग के होते हैं और इस रोगी के मल मे पाये जाते हैं। विजातीय द्रव्यो के संचय से यकृत् का आकार बढने लगता है। इस संचित विजातीय द्रव्य के विपज प्रभाव से प्लीहा भी आक्रान्त होती है और उसमे भी इस प्रकार का विकार हो सकता है। उसके आकार की वृद्धि होने लगती है।

प्रवाहिका से (Amoebaesis) से बहुधा यकृत् व्रण (Liver abscess) हुआ करता है। मगर बहुधा ऐसा भी होता है कि उससे ऐसा व्रण नहीं भी होता है जिसमे पूय आ जावे। साधारण सा व्रण होता है और स्वभावत. उसका रोपण भी हो जाता है। यदि इसका क्षेत्र बड़ा हुआ तो व्रण स्थानो पर सौत्रिक तन्तुओ के होने से एक बडा सा क्षेत्र निष्क्रिय जैसा हो जाता है और वहा विजातीय द्रव्य एकत्रित होने लगते हैं। चू कि व्रण के कारण स्थानीय 'यकृत् परमाणुओं का विनाश हो गया रहता है और रस रक्त का शोधन एक बड़े क्षेत्र मे नहीं पाता हो है।

जीर्ण उदर्य्याकला प्रदाह (Chronic peritonitis) मे भी यकृत् संवहन बाधित होता है। याकृति धमनी विशेप रूप से इससे आक्रान्त होती है और यकृत् को पोषणार्थ शुद्ध रक्त की कमी होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि पोषणाभाव के कारण यकृत् परमाणु निर्बल पड़ने लगते हैं और उनकी क्रिया बाधित होने लगती है। उनका नव निर्माण तथा शक्ति क्षीण होने लगती है और धीरे धीरे यकृत् कोषों में यकृत् परमाणुओं की निर्बलता के कारण विजातीय द्रव्यों का संचय होने लगता है।

इस प्रकार यकृत् में विभिन्न कारणों से विजातीय द्रव्यों का संचय होता है। इन सब कारणों में से किस कारण विशेष से या इसके अतिरिक्त किसी अन्य कारण विशेष से बालयकृत् नामक रोग मे यकृत् के भीतर विजातीय द्रव्य का संचय होता है निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हा इतना निश्चित रूप से अवश्य कहा जा सकता है कि इस रोग मे यकृत् के भीतर ऐसे किसी विजातीय द्रव्य का सचय होता है जो घुलनशील नहीं होता है। इसमें सौत्रिक तन्तुओं का, जो एक विशिष्ट जाति के होते हैं (Fiberous tissues of special quality) जमाव क्रम क्रम से होने लगता है। साधारणतया यह संचय बहुत धीरे धीरे होता है और प्राय २-३ वर्षों मे यह समूचे यकृत् को भर देता है जिससे यकृत् का अपना स्वभाविक काम एकदम बन्द हो जाता है। इन विजातीय द्रव्यों का जमाव या वृद्धि रोगी की शक्ति एवं रोग के ऊपर निर्भर करता है जिसमे रोग बलवान है और रोगी की शक्ति क्षीण होती है उसमें यह रोग अल्पकाल मे भी संघातिक अवस्था में आ जाता है।

लक्षण —

यकृत् एवं प्लीहा की वृद्धि, कभी ज्वर का होना कभी नहीं होना, कभी मन्द ज्वर, कभी तीव्र ज्वर, कभी २-३ हफ्ता तक लगातार तीव्र ज्वर, कास, दैन्य आकृति, कभी कामला, कभी प्रवाहिका, कभी अतिसार, किसी किसी को कोष्ठबद्धता, सूखा काले रग का और बदबूदार मल, रक्ताल्पता या साधारण सा कामला, (किसी किसी को इतना साधारण किस्म का कामला रहता है कि आख साधारण पीताभ रहती हैं, कभी कभी इसमें तीव्र ज्वर के साथ प्रलापादि भी होता है जो बहुधा



२-३ हफ्ता तक रह कर दूर हो जाता है। इसका मूत्र कुछ अधिक पीला होता है, मूत्र में पित्त (Bile) रहता है) यकृत् क्षेत्र में मन्द मन्द पीड़ा-यह पीड़ा कभी होती है कभी नहीं होती है, कभी कभी यह पीड़ा तीव्र होती है और उसके साथ साथ कभी कभी उत्क्लेश या वमन भी होता है। पीड़ा के बाद कामला लक्षण में अभिवृद्धि, यकृत् एवं प्लीहा का बढ़कर नाभि स्थान तक चला आना और इनका पर्याप्त रूप से कड़ा होना, पेट का बहुत बड़ा होना, उस पर हरी नीली सिराओं का उभार स्पष्ट रूप से होना, मांसपेशियों का विशेष कर नितम्ब पेशियों का सूखना, किसी किसी में मुंह नाक या गुदा मार्ग से रक्त का निकलना, बदन में खुजली या यत्र-तत्र छोटे छोटे व्रण का निकलना, किसी किसी में गुदपाक या गुदव्रण का होना, नोचनी, चमड़े पर नोचनीयुक्त चकत्ते का होना (Xanthoma), नोचनीयुक्त दानों का निकलना (Lichen), त्वचा की रक्त केशिकाओं (Cappillaries) का विस्फारित होना (Telangiectasis) आदि होता है। त्वचा वर्ण का गहरा पड़ना। किसी किसी में दाहिना कंधा कुछ धंसा सा दिखाई देता है।

इसमें बहुधा रोगी की मृत्यु हलीमक या तीव्र कामला के आक्रमण के साथ प्रलापादि के होने से होती है या अत्यधिक रक्तस्राव (Haemorrhage) से होती है या विषज प्रभाव से (Profound cachexia) या विषज प्रभाव से किसी मार्मिक अवयव के आक्रांत होने से होती है।

इसमें बहुधा कृमि के लक्षण भी उपस्थित होते हैं। कभी रक्तातिसार के लक्षण प्रगट होते हैं। रोगी दुर्बल एवं क्षीणकाय होता जाता है। जलोदर, हाथ पैर आदि का शोथ भी होता है। इसमें कभी रोगी बहुत हल्ला गुल्ला मचाने लगता है। या बिना वजह खूब रोने चिल्लाने, जिद करने लगता है, चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। क्षुधानाश होता है, अरुचि होती है।

चिकित्सा—

इसकी कोई निश्चित औषधि नहीं है। लक्षणानुसार इसमें निम्नलिखित औषधियों का व्यवहार करना चाहिये-

बृ० लोकनाथ रस (भैषज्य रत्नावली)—

यह यकृत् परमाणुओं को सबल बनाता है और यकृत् में जमने वाले विजातीय द्रव्यों को विलीन करता है, उनका शोषण करने में सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह यकृत् प्रदाह को दूर करता है, स्वस्थ रक्तकणों के निर्माण में सहायक होता है।

प्लीहार्णव रस (भै० र०)—

बृहत् लोकनाथवत् ही इसका प्रभाव विशिष्ट रूप से प्लीहा पर होता है साथ ही साथ यह यकृत् पर भी अपना प्रभाव डालता है।

महामृत्युञ्जय लौह (भै० र०)—

यह यकृत् में जमने वाले विजातीय द्रव्यों को विलीन कर उनका शोषण कराता है, यकृत् तन्तुओं (Tissues) को सबल बनाता है उन्हें नवजीवन प्रदान कर उन्हें सकुचित होने से बचाता है तथा विजातीय द्रव्यों को जमा होने से रोकता है। यक्ष्माजनित विषज प्रभाव को जो यकृत् पर विशिष्ट रूप से पड़ते हैं उनका उदासीकरण करता है।

त्रिनेत्राख्य रस (भै० र० शोथ)—

इसमें आने वाले जलोदर के लिये तथा हाथ पैर की सूजन को दूर करता है। इसे गदपुर्ना (पुनर्नवा) के स्वरस एवं मधु से चटाकर ऊपर से गोखरू फला पानी पिलाना चाहिये।

इस रोग में आये शोथ के लिये मूत्र रेचक औषधि एवं आप्य शोषक औषधियों का ही व्यवहार करना उचित है। त्रिनेत्राख्य रस के अतिरिक्त मूत्र कृच्छ्रातक रस एव वारिशोषण रस (भै० र०) का प्रयोग करना चाहिये। इन तीनों में मूत्र कृच्छ्रातक रस वृक्क उत्तेजक है और रक्त से जलीयांश को



छानकर वाहर करता है। वारिशोषण रस जलीयाश का शोषण करता है। त्रिनेत्राख्य रस रक्त जालकों (cappillaries) के अवरोध को दूर कर रक्त सवहन व्यवस्था को सम्यक् रूप से चालू रखता है।

मैंने अब तक सात रोगियों पर उपरोक्त औषधियों का व्यवहार आवश्यकतानुसार किया है और उसके साथ साथ निम्नलिखित दो कल्पित योगों का व्यवहार किया है और ७ केशों में से ४ केशों में पूर्णतया सफल रहा हूँ। इनमें से मैं ने नियमित रूप से जिन औषधियों का जैसा व्यवहार किया है उसे नीचे दे रहा हूँ। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार उपद्रव शमनार्थ अन्य औषधियों का भी व्यवहार हुआ है मगर मूल रूप से निम्नलिखित औषधि ही बराबर चलते रहे हैं—

प्रात.सायं—स्वर्ण भल्लातक रस १ गोली मधु से

दोपहर रात—महामृत्युञ्जय लौह १ गोली, चित्रकमूल चूर्ण ३ ग्रेन, गुलदाऊदी मूल चूर्ण ३ ग्रेन मिलाकर एक मात्रा मधु से।

६ बजे दिन ३ बजे दिन—वृ० लोकनाथ रस ३ ग्रेन, पीपर चूर्ण २ ग्रेन, रोहितक चूर्ण ४ ग्रेन मिलाकर एक मात्रा मधु से।

नोट—काकमाची (मकोय) मिल सके तब इन तीनों औषधियों को काकमाची के स्वरस एव मधु के साथ (अनुपान में) दें अन्यथा केवल मधु से दें।

इनमें स्वर्ण भल्लातक एक कल्पित योग है जिसका नुस्खा नीचे दिया गया है।

स्वर्ण भल्लातक रसायन—

स्वर्ण भस्म ½ तोला, स्वर्ण माक्षिक भस्म, रौप्यमाक्षिक भस्म, लौह भस्म ताम्र भस्म प्रत्येक ½–½ तोला, वगभस्म ½ तोला, अर्कमूल चूर्ण ½ तोला, चित्रकमूल चूर्ण १ तोला, गुलदाऊदी मूल चूर्ण १ तोला, शुद्ध भिलावे की मींग २ तोला।

निर्माण—पहले भिलावे की मींग को खूब खरल करें, बाद में उसमें स्वर्ण भस्म मिलाकर खरल करें। इसके बाद इसमें शेष सभी औषधियों को मिला पानी से खरल कर १०० गोलियां बनावें।

उपयोग—मात्रा—½ गोली से १ गोली तक एक बार में २४ घण्टे में दो बार। अनुपान—मधु।

बालयकृत्, जीर्ण प्रवाहिका, रक्ताल्पता, जीर्ण ग्रहणी, कृमि (विशेषकर हेपाटिक डिस्टोमा जो यकृत् में होता है) यकृत् विद्रधि (Cancer) एवं अर्श तथा पाण्डु रोग में लेखक इस योग का व्यवहार कर रहा है।

नोट—जिसे वृक्क प्रदाह का लक्षण हो या जिसमें Albumin मूत्र से आता है उसमें सम्हल कर प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से यदि मूत्र गहरे रङ्ग का (Deep coloured) हो जाये तब इसका व्यवहार नहीं करना चाहिये। ऐसे को यह औषधि अनुकूल नहीं पड़ती है।

चित्रक लौह—

चित्रक मूल १ तोला, रोहितक मूल १ तोला, अर्क मूल, बिडङ्ग, लौह भस्म ½–½ तोला, ताम्र भस्म ½ तोला।

निर्माण—घृत कुमारी के रस में १५ दिन तक खरल करें यानी १५ भावना देकर इसमें १०० गोलियां बनावे।

उपयोग—मात्रा—१-२ गोली २४ घंटे में दो बार, गन्धाविरोजा के सूखे सत्व ५ से ८ ग्रेन के साथ मिलाकर पानी से खायें।

यह यकृत् में आये हर अवरोध को दूर करता है यानी सुद्दे को बिखेरता है विशेषकर पित्तस्रोतों का। लेखक इसका व्यवहार यकृत वृद्धि के साथ होने वाले कामला, कुम्भकामला, हलीमक में करता है। यकृत पर शीत (Chill) लगने से या अन्य कारणों से उत्पन्न बालयकृत, यकृतव्रण (Liver abscess) या यकृत पर चोट लगने से जो यकृत वृद्धि या यकृत शूल होता है एवं उपद्रवस्वरूप इसमें जो कामला होता है उसमें इसका प्रयोग होता है।

इन सबों के अलावा अन्य औषधियों का प्रयोग आये उपद्रवानुसार भी किया गया है। पथ्य में

यदि केवल दुग्धाहार रखा जाये तो सर्वोत्तम अन्यथा तेल, घी, मिरच एवं खट्टा छोड़कर सब आहार दिया जा सकता है।

इसमें उपद्रवस्वरूप आये रक्ताल्पता में 'शिलाजत्वादिलौह' (भै. र. यक्ष्मे) ताप्यादिलौह (सिद्धि-प्रयोग संग्रह) एवं कुमार्यासव तथा पुनर्नवासव को एक साथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

इसमें उपद्रव स्वरूप यदि ज्वर के साथ अतिसार या प्रवाहिका हो तो 'पुटपक्व विषम ज्वरान्तक लौह' (भै. र. ज्वरे) व्यवहार करें। यदि केवल मन्द ज्वर अपराह्न के बाद हो तो 'बृ० सर्व ज्वरहर लौह' या 'चन्दनादि लौह' (भै. र. ज्वरे) का व्यवहार करना चाहिये।

यदि इसमें गुदमार्ग से या मुंह नाक से रक्तस्राव हो तो निम्नलिखित योग का व्यवहार करना चाहिये। यह एक मंघातिक उपद्रव है अतः इसका किंचित सन्देह होते ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिये। इसकी अवहेलना कभी भी न करें।

शोणितार्गल:—

कहरुवा शमई (तृणकांत) पिष्टी १ तोला, स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध काला डेला सुरमा (अंजन), लाक्षा चूर्ण, खूनखराबा चूर्ण, अनार कली का चूर्ण, पोश्तदाने के कोष का चूर्ण-प्रत्येक आधा-आधा तोला।

निर्माण—

वाकस, गूलर और विशल्यकर्णी के पत्तों के रस की ६-६ भावना देकर इसमें १०० गोलियां बनावें।

काले सुरमे के डेले को लेकर भृङ्गराज के रस में खूब खरल करें, इतना खरल करें कि उसमें जरा भी चमक नहीं रहे और सुखाले। भृङ्गराज रस से इसे सात बार खूब खरल कर सुखालें। यही शुद्ध काला डेला सुरमा है।

उपयोग—

मात्रा—१ से २ गोली एक बार में हर ४-४ घण्टे पर। अनुपान—मधु।

इसका व्यवहार रक्तयुक्त अतिसार या प्रवाहिका में या मुंह नाक से रक्त स्राव होने में करे।

—कवि. श्री लाला बदरीनारायण सैन G. A. M.S.
मोतीझील, मुजफ्फरपुर

पाण्डु

श्री दुर्गाविजयसिंह D.I.M.S.

परिभाषा—

बालकों में अम्ल, लवण, तीक्ष्ण पदार्थ के सेवन तथा मृद् भक्षण करने से यकृद् रोग के पश्चात्, रक्त विषमयता, ग्रहणी के पश्चात्, हृदरोग में, वृक्क रोग में बहुधा यह देखा जाता है। आयुर्वेद मत से होता क्या है कि पित्त दुष्ट होकर रक्तगत हो जाता है फलतः रक्त की लालिमा का लोप हो जाता है और शरीर पीताभ शोथयुक्त दीखने लगता है। इस प्रकार रंजक पित्त की हीनता होती है और वह रक्त को रंगने का कार्य बंद प्राय. कर देता है। नव्य मतानुसार इस रूप का नाम रक्तगत ब्लीरियुबिन की अधिकता है। प्रायः यह स्वस्थ अवस्था में शरीर मे अहानिकर मात्रा ०.२ और ०.८ मि. ग्राम प्रतिशत सी सी. मे रहती है और विकृति होने ३० मिलीग्राम प्रतिशत सी. सी. तक बढ़ जाती है

पर्याय—

कामला, पांडु, कुम्भाह्वय, लाघरक, अलसक



पूर्वरूप-

त्वक स्फोटन, ष्ठीवन, गात्रसाद, मृद् भक्षण करना, अक्षिकूट शोथ, मलमूत्र का पीलापन, अविपाक (सु. उ. ४४-५) हृदस्पदंन, रौक्ष्य, स्वेदाऽभाव, श्रम (च० चि० अ० १) आदि लक्षण पूर्वरूप मे प्रकट होते हैं।

रूप-

प्राय: पाण्डु के नाम से ही माना जाता है कि अमुक पांडु रोगी के नख, नेत्र, त्वचा, मल, मूत्र तथा स्वेद, आसू और थूक भी पीताभ हैं। प्रारम्भ मे हलका शोथ बाद में बढ़कर अधिक शोथ हो सकता है। हलका ज्वर, त्वचा में कंडू तथा रूक्षता, स्फोटन होता है। शारीरिक बल को हानि। मल-सारण तथा उससे उत्पन्न विष के लक्षणों युक्त होता है।

बालकों में आमाशय स्थान पर पीड़ा जो दबाने से प्रतीत होती है, शिरः शूल, अनिच्छा, हृल्लास, वमन, कभी विबन्ध तथा कभी अतिसार होता है।

यकृत बढ़ा हुआ प्रतीत होता है कभी कभी प्लीहा भी बढ़ी तथा स्पर्शाऽसह्यता युक्त होती है।

जिह्वा पीत फूली हुई मोटी होती है। नेत्र पीताभ चमकीले तथा भ्रू उभरे हुये शोथयुक्त प्रतीत होते हैं। मूत्र यदि कपड़े में लग जाय तो पीले रंग का गहरा दाग लग जाता है जो धोने से भी नहीं छूटता है। नक्तान्ध भी उत्पन्न हो जाता है। कभी कभी रुग्ण बताता है कि हमको पीला ही दिखाई देता है। नाड़ी पूर्व में धीमी तथा बाद में साधारण हो जाती है। यह संक्रमण से भी होता है यथा—फिरङ्ग से, विषम ज्वर से, यकृत के रोग से, इन्फ्लूएन्जा से, न्यूमोनियासे, मंथर ज्वर इत्यादि संक्रमण में भी देखा जाता है। यह औषधियों के प्रभाव से भी होता है यथा—*N. A. B. (M.B.) Sulphaisenol)* सुर्मा के योगों के प्रयोग के बाद, सेंटोनीन, फिलिक्समास, सुरा के अत्यधिक पान करने से, क्लोरोफार्म, कार्बनटेट्रा क्लोराइड, फासफोरस, ऐटोफारस जैसी कोलतार से निकली औषधियों के प्रयोग से आजकल यह रोग होता देखा जाता है। वैद्य को इन बातों का ज्ञान होना चाहिये कि रोगी की चिकित्सा उपर्युक्त औषधियों के द्वारा हुई है या नहीं।

निदान—

(१) लक्षणों के द्वारा, (२) मूत्रपरीक्षा के द्वारा (३) रक्त परीक्षा के द्वारा, (४) रोगों की आपस में तुलना करके, (५) यकृत की परीक्षा करके, मल-परीक्षा करके उसमे रग तथा विश्लेषण के द्वारा (६) रोगी के इतिहास से तुलना करके (७) आयु की समानता करके क्योंकि वृद्धावस्था में यह एक स्वभाविक अवस्था मे होती है। (८) दोषों के सहज निदान के लिये, पांडु के रूप मे दोषों में रंग की प्रधानता की परीक्षा करके यथा वात के कृष्णवर्ण की, पित्त में पीताभ से और कफ की शुक्लता की प्रधानता से ज्ञान करना चाहिये।

उपद्रव-

अरुचि, पिपासा, वमन, ज्वर, शिर शूल, अग्निसाद, शोथ, कंठक्षीणता, मूर्च्छा, क्लम, हृदय-पीड़ा, उपद्रवों की तीव्रता के द्वारा साध्य, असाध्य कष्टसाध्य का ज्ञान भी कर लेना चाहिये।

—सु० उ० ४४।१३

असाध्यता-

रोगी के हाथ पैर सूजे हों परन्तु शरीर कृश हो या इसके विपरीत हो गुद, वृषण, लिंग में शोथ हो, मूर्च्छा, विसंज्ञा, अतिसार, ज्वर से आक्रांत पांडु रोगी को त्याग देना चाहिए ऐसी शास्त्र सम्मति है—(सु० उ० ४४।३९, ४०)

चिकित्सा —

शास्त्र ने मुख्य रूप से स्नेह में साधित औषधियों के द्वारा वमन, विरेचन बताया है। इसके लिये हल्दी, त्रिवृत, त्रिफला आदि से साधित घृतों का वर्णन तथा उसका विधान शास्त्रों में है। साथ

साथ औषधियों के रूप में मंडूर, लौह, गौमूत्र का वर्णन भी मिलता है। अनेक परीक्षित प्रयोगों का वर्णन भी है। यथा—नवायस लौह (चूर्ण), पुनर्नवा मंडूर, धात्री लौह, निशा लौह, ताप्यादि लौह, मृदुरेचन रस (र० च०), पाण्डु पंचानन इत्यादि।

(१) पाण्डु रोगी का जब यकृत् बढ़ा हो, ज्वर हो, मेद हो तो नवायस लौह का उपयोग गुडुच, कुटकी इत्यादि के अनुपान से देना चाहिए।

(२) शोथ में पुनर्नवा मंडूर, पुनर्नवाष्टक काथ के साथ देना।

(३) ज्वर हो तो स्वर्ण बसन्त मालती का अन्य पाण्डुहर योगों के साथ प्रयोग कराना।

(४) रक्ताल्पता एवं रक्तहीनता और अतिसार में लौहों का अन्य स्तम्भक औषधि के साथ सेवन।

(५) कास इत्यादि उपद्रवों की चिकित्सा साथ साथ यथा दोषानुसार करनी चाहिये तथा इनका इन कास अधिकार में वर्णित ढङ्ग से प्रयोग करना चाहिए।

नव्य मतानुसार यकृत् के कार्य तथा रंजक पित्त को उत्तेजित करने के लिये हेक्जालीन, लिवर एक्सट्रेक्ट, लौह, कुपीलु का मुख तथा सूचीवेध के द्वारा प्रयोग किया जाता है। अवस्था, ऋतु, रोगी की स्थिति, शक्ति इत्यादि को देखकर औषधियों का मात्रा में सेवन कराना चाहिये। पाण्डु में नस्य के लिये वन्ध्या कर्कोटक मूल तथा घोषालता के फल का नस्य देने से पीला पानी निकलकर रोग शान्त हो जाता है। त्वचा के स्नेहन के लिये तैल मालिश करनी चाहिये। यथा—वृ० मूलकाद्य तैल, शुष्क मूलकाद्य तैल, पुनर्नवा तैल से लाभ होता है तथा ज्वर कास शोथ के उपद्रव भी शात होते हैं। आसवों में लौहासव, पुनर्नवासव, धात्र्यारिष्ट इत्यादि का पान करना चाहिये। इससे अग्नि प्रवृद्ध होती है। पित्त का शमन होता है और रोग शात हो जाता है।

पथ्य—पुराने चावल, गेहूँ, मूंग, अरहर, जांगल पशु पक्षियों का मांसरस, परवल, कच्चा केला, पेठा, पुनर्नवा शाक, पका मीठा आम, गोमूत्र, घी, तक्र, तैल, मक्खन, चन्दन, हल्दी, यवक्षार, लौह भस्म इत्यादि पथ्य हैं।

—श्री दुर्गविजयसिंह D. I. M. S.
चिकित्साधिकारी—राजकीय आयु. चिकित्सालय,
हरदोई गूजर [जालौन]

बच्चों का घातक रोग वृक्क शोथ[1]

वैद्य श्री अम्बालाल जोशी साहित्यरत्न

क्या कभी आपने सोचा है कि आपके हंसते खेलते फूल के सदृश कोमल बालक कभी कभी पीत वर्ण के बन कर शोथयुक्त हो जाते हैं। और इस प्रकार वे एक लम्बी बीमारी से आक्रान्त हो कर डाक्टरों द्वारा असाध्य करार कर दिये जाते हैं। यह सब क्यों होता है। यह एक सहज रोग है जो बालकों को छुप कर आक्रान्त कर लेता है और बहुत अर्से तक अज्ञात रूप में आपका बालक इस पाजी रोग से ग्रसित हो गया है। यह तब पता चलता है जब यह रोग अपनी उग्र अवस्था को ग्रहण कर लेता है—यह रोग है वृक्क शोथ।

[1] आधुनिक मतानुसार सर्व प्रथम इस रोग की पहचान डाक्टर ब्राइट ने की। इसलिए इस रोग का नामकरण डाक्टर ब्राइट के नाम पर ब्राइट् डिजीज (Bright's disease) किया गया। मूत्र में अलब्यूमिन का जाना तथा जलोदर का सम्बध वृक्कशोथ के साथ है। ऐसा सर्वप्रथम डाक्टर ब्राइट ने बताया।



बालक स्वयं कफ प्रकृति होते हैं।[१] अतः थोड़े थोडे ऋतु परिवर्तन जो कफ को विकृत् करते हैं बालकों में शीघ्र ही कफज रोग उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार बालकों से कफज रोग कृच्छ्र साध्य होते हैं। ये पैदा होकर अपनी स्थिरता प्राप्त कर लेते और इसीलिये उचित चिकित्सा करते हुए भी देर से ठीक होते हैं। प्रथम तो बालकों में जब यह रोग पैदा होता है तब अभिभावकों या चिकित्सकों को सहज में यह पता भी नहीं चलता कि उसे यह रोग हो गया है। परन्तु कालान्तर में जब यह ज्ञात होता है तब तक यह अपना स्थायित्व प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि यह रोग प्रौढों को भी होता है परन्तु बहुत कम। बालकों को समप्रकृति होने के कारण यह अधिक दबा लेता है। देखा गया है कि यह रोग ३ से १० वर्ष के बालकों को अधिक होता है। बालक क्योंकि अपनी पीड़ा की व्याख्या नहीं कर सकता अत. उसकी रोग परीक्षा में अनुमान[२] का स्थान प्रधान रहता है। ये लक्षण हम आगे बतलावेंगे।

आयुर्वेदीय मतानुसार वृक्क शोथ एक कफज रोग (शोथ) है। क्योंकि वृक्क मेद तथा रक्त के सार से उत्पन्न माना गया है।[३] और इसका कार्य जठरस्थ मेद की पुष्टि करना है। चरक के मतानुसार भी "मेदो वहनां श्रोतसामवृक्को मूलम" समर्थित होता है। इस प्रकार यदि हम उपरोक्त मत से अपनी सहमति निश्चित करलें तो वृक्क शोथ एक कफज व्याधि ही मानी जाती है। क्योंकि मेद तथा कफ का समान गुण धर्म है।

इस प्रकार इस वृक्क शोथ का प्रभाव दो धातुओं पर पड़ता है (अ) मेद तथा (व) मूत्र। वृक्क शोथ के कारण मेद तथा मूत्र दोनों ही क्षय को प्राप्त होते हैं। इसी ओर संकेत करते हुए आयुर्वेद शास्त्रों ने मेद क्षय के लक्षणों में कटिस्वाप, प्लीहा वृद्धि, कृशांगता आदि माने है।[४] तथा मूत्राशय के लक्षणों में मूत्राल्पता, मूत्र-कृच्छ्र, मूत्र वैवर्ण्य, मूत्र-रक्त आदि[५] को स्वीकार किया है।

इस संपूर्ण विकृति के गर्भ में कफ दुष्टी ही प्रधान मानी गई है। मूत्र के साथ अलव्यूमिन निक्षेप का आना स्थानीय कफ का व्यय होना है। इस प्रकार धीरे धीरे कफ का भी क्षय होना स्वाभाविक ही है। अतः श्लेष्माक्षय के लक्षण श्लेष्माशयों में शून्यता (विशेष तौर से वृक्क में शून्यता) व संधि शैथिल्य होकर हृद्रव हो जाता हैं।[६]

वृक्क शोथ के आयुर्वेदीय लक्षण सपूर्ण रूप से उपरोक्त तीनों दृष्टि लक्षणों पर आधारित है। इसीलिए तो वृद्धि शोथ में कटिस्वाप, प्लीहायकृद् वृद्धि, कृशागता, मूत्राल्पता, मूत्र वैवर्ण्य, मूत्रकृच्छ्र, मूत्ररक्तता, हृदय, संधि शैथिल्य, शून्यता, पाण्डुता, अरुचि. प्रसेक, अग्निमांद्य, श्लेष्मज शोथ (शीत समय में, दवाने पर खड्डा न भरने वाला) आदि लक्षण स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं।

वृक्क रचना--

इस रोग को समझने के पूर्व यह आवश्यक

---

१ वयोदंतमध्य प्रथमे वात पित्त कफ.मयो.।
—च० चि० ३० । ३११

२ वालकानाम वचसा विविधा देह वेदना।
प्रादुर्भुता कथ वैद्यो जानीयाल्लक्षणैर्थित:॥
—काश्यप सहिता

अर्थात वालकों की वाणी के विकास के अभाव के कारण वे अपनी विविध वेदना को प्रगट नहीं कर सकते अत. उनकी विविध चेष्टाओं तथा लक्षणों को देख कर ही वेदना का पता लगाना चाहिए।

३ मेदो शोणित जौंसाराद वृक्कायोर्गुगल भवेत्।
—भावप्रकाश

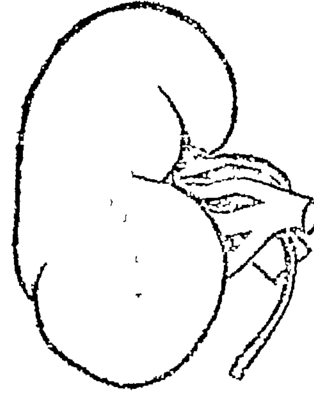
४ मेदसी स्वपनम् कटया प्लीन्हो वृद्धि, कृशाङ्गता।
—अष्टाङ्गहृदयम्

५ मूत्रल्प मूत्रयेत्कृच्छ्राद विवर्णम् साश्रभवेवा।
—अ० हृ०

६ श्लेष्माशयानां शून्यत्व हृद्रवश्लथ सधिता।
—अ० हृ०

है कि हम वृक्कों की तत्सम्बन्धी रचना तथा विकृति सम्यक् प्रकार से अध्ययन करलें। वृक्क हमारे शरीर की मूत्र निर्माता उभय ग्रन्थियां हैं। महा-महोपाध्याय डाक्टर गणनाथसेन सरस्वती ने आयुर्वेदीय मत से यह स्पष्ट किया है कि प्राचीन आयुर्वेदीय तत्सम्बन्धी अवतरणों में लिपीकारों की असावधानी के कारण अर्थ का अनर्थ हो गया है। उनके अनुसार "सूक्ष्म स्त्रोतसाघ्मन्ते मुखा-न्यास सहस्रस." द्वारा मूत्र निर्मात्री सूक्ष्म प्रणालियों का ही उल्लेख सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तर्पयन्ति सदावृक्कौ' के स्थान पर "तर्पयन्ति सदा-मूत्र" होना चाहिए। पुनश्च "घटी यथा तथा विद्धि वस्ति मूत्रेण पूर्यते" के स्थान पर "घटौ यथा तथा वृक्कौ ततो वस्तिश्च पूर्यते" पाठ होना चाहिए था।

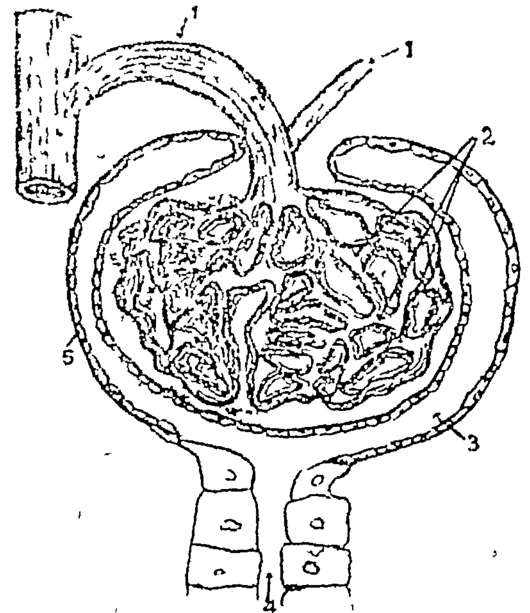
यदि उपरोक्त तर्कों को प्रमाणित स्वीकार करलें जैसा कि है भी तो आयुर्वेद शास्त्रियों को मूत्रोत्पत्ति तथा वृक्कद्वय सम्बन्धी आयुर्वेदीय ज्ञान के प्रति न्यूनता के आरोपों का स्वत ही खण्डन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि शास्त्रों में उक्त विषय सम्बन्धी ज्ञान उपलब्ध है। वृक्क की दोनों ग्रन्थियां[1] हमारे पृष्ठ भाग में बायें तथा दाहिने रहती हैं। प्रत्येक वृक्क के पृष्ठ भाग में १२ वीं पसली रहती है। वृक्क के दो पृष्ठ होते हैं। एक सामने तथा दूसरा पीछे का, दो किनारे होते हैं एक रीढ़ के पास रहता है तथा दूसरा उससे परे। दो सिरे होते हैं, दोनों ही पुष्ट उभरे होते हैं। इसका आकार नीचे से छोटा तथा ऊपर से बड़ा होता है। तथा एक वृक्क कुछ ऊपर की ओर रहता है। वृक्क के ऊपर एक सौत्रिक तन्तु से निर्मित एक झिल्ली रहती है। उसे वृक्क कोष कहते हैं। वृक्क वसा से सुरक्षित रहता है। यदि हम वृक्क के दो खड़े भाग करें तो कटा हुआ आधा भाग सब जगह एकसा दिखाई न देगा। उनका पृष्ठों



चित्र न० १२०—वृक्क

के पास का भाग मध्यस्थ भाग की अपेक्षा हलके रंग का होता है। मध्य का भाग कई मीनारों जैसे भागों में विभाजित हैं। इन मीनारों की शिखरें मूत्र प्रणाली की ओर रहती हैं और उनकी नलियां पृष्ठों की ओर। इन मीनारों की शिखरों में अनेक छोटे छोटे छिद्र होते हैं। जो वृक्क की बड़ी बड़ी नालियों के मुख हैं। ये रक्त में मूत्र को मनुष्य के सोते जागते सभी अवस्थाओं में छानता रहता है।

हमारे रोग संप्राप्ति का स्थल यही है। सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र से ज्ञात हुआ है कि उभय वृक्कों में अनुमानत २० लाख शिखराकार आन्त्र नालियां



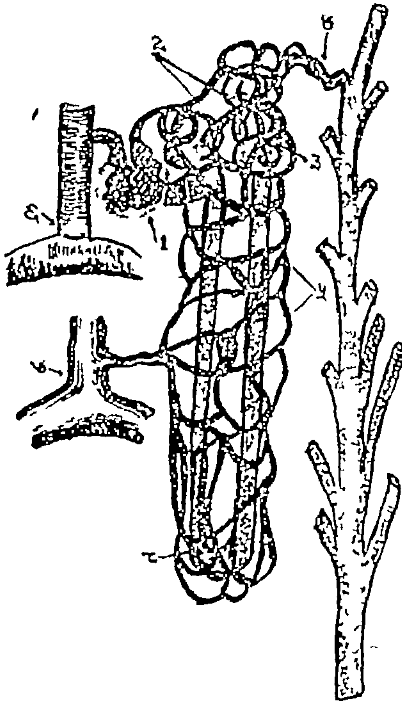
चित्र १२१—वृक्कों में स्थित आन्त्रकोष का चित्र

१—धमनी तथा शिरा। २—रक्त केशिकायें
३—आन्त्रकोषों की गहराई। ४—मूत्रस्रोत और
५—आन्त्र कोष

[1] वृक्कौ मांस पिण्डद्वयं। एको वाम पार्श्वस्थित द्वितीयो दक्षिण पार्श्वस्थित ॥ —सुश्रुत निदान

हैं[1] जो स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं तथा एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं है। इन्हे अंग्रेजी मे नेफ्रान्स (*Nephrons*) कहते हैं। ये सभी नलियां स्वतन्त्र रूप से दो बड़ी नलिकाओं से सम्बन्धित रहती हैं और अपने द्वारा रक्त मे से छान कर निकाले गये मूत्र को इन्हीं नालियों मे छोड़ती हैं। प्रत्येक नली की लम्बाई १५ मिलीमीटर तथा इसका व्यास ·०५ मिलीमीटर है। इस प्रकार सभी सूक्ष्म नलिकाओं की (सब मिलाकर) लम्बाई ७० से १०० किलोमीटर तक रहती है।

श्रुति अंत्र (नेफरोन) की लम्बाई अनुमानतः



चित्र १२२—आंत्र के चित्र

१—रक्त केशिकायें। २—शाखामूल केशिकाओं के गुच्छे। ३—मूत्र निर्गम स्रोत। ४—मूत्र वह स्रोत। ५—केशिकायें। ६—वृक्क की पोषकअनुवृक्क धमनियां। ७—वृक्कीय शिरायें। ८—मध्यम उपस्थम्भत भाग।

[1] वृक में स्थित मूत्र निर्मात्री प्रणालिया प्रत्येक प्रारम्भ में क्षुद्र आंत्रों के कुण्डल्याकृति तथा पश्चात् स्थूल आंत्रों के सदृश सरल होती हैं। आंत्रों के सदृश होने के कारण इन्हे 'श्रुतिआंत्र' कहा है।

३५ से ५० मिलीमीटर तक रहती है। ये सम्पूर्ण नेफरोन (*Nephions*) मूत्रनलिका तक आकर समाप्त हो जाती हैं। नेफरोन्स सैलों से युक्त होती हैं जिनसे रक्त मे से मूत्र छन कर मूत्र प्रणाली तक[2] पहुच जाता है। यह रक्त वृक्क मे धमनी तथा शिराओ से आता जाता रहता है। वृक्क शोथ में वृक्क का बाह्य भाग ही प्रभावित होता है तथा यहां की श्रुति अंत्र (नेफरोन्स) सम्पूर्ण या अशरूप में शोथयुक्त हो जाती है। इस प्रकार वृक्क का बाह्य भाग तो शैल से प्रभावित होता ही है साथ ही कभी कभी दूसरा भाग भी प्रभावित हो जाता है।

वृक्क शोथ—

वृक्क शोथ दो प्रकार के होते हैं—(१) तीव्र वृक्क शोथ तथा (२) जीर्ण वृक्क शोथ। जीर्ण वृक्क शोथ पुन दो प्रकार का होता है (१) जीर्ण नालीस्थ शोथ तथा (२) जीर्ण औपस्तम्भिक शोथ।

तीव्र वृक्क शोथ—

वृक्कों की सूक्ष्म प्रणालियों एवं उनके प्रारम्भिक भाग और अपस्तम्भिक भाग में शोथ होना तीव्र वृक्क शोथ है।

अभी तक यह पता नहीं चल पाया है कि इस शोथ का विशेष कारण क्या है परन्तु सामान्य कारणों से ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह रोग वृक्क स्थान पर सर्दी बैठ जाने से या अंशुघात का वृक्कों पर प्रभाव हो जाने से होता है। यह भी अनुमान किया जाता है कि क्योंकि कभी कभी यह रोग गलग्रंथी के बाद उत्पन्न होता है इसलिए गल रोग को उत्पन्न करने वाले जीवाणु (स्ट्रप्टोकोकस (*Streptococus*) ही वहा से वृक्कों तक उतर इनको रोगाक्रान्त कर शैल उत्पन्न कर देता है। तीव्र संक्रामक रोगों जैसे मसूरिका रोमान्तिका, कुक्कुर कास, उपदंश, विषमज्वर, पीत ज्वर आदि के बाद भी यह रोग देखा गया है। सभव है उनसे

[2] मूत्रवहेद्वे —सुश्रुत शारीर ६। १२
पार्श्व द्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ—सायण।

भी इस रोग का सम्बन्ध हो। तारपीन, अशुद्ध पारद, कार्बोलिक तथा फास्फोरस, गैरोजा आदि विषद्रव्यों के प्रभाव से सूक्ष्म नलिकाओं मे शैल तथा प्रवाह उत्पन्न हो यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

संप्राप्ति--

यह शोथ नली में स्थित शैलों या औपस्तम्भिक भाग मे होता है। परन्तु एक भाग का शोथ दूसरे भाग पर भी अपना थोड़ा या अधिक प्रभाव डालता ही है। चाहे अत्यल्प होने के कारण उसकी अपेक्षा ही क्यों न की गई हो। शोथ के कारण नलीस्थ शैल रक्त को छानते समय रक्त का कुछ अंश मूत्र के साथ आने देती हैं। फलतः एल्ब्यूमिन भी रक्तयुक्त मूत्र के साथ वाहर आने लगता है।

वृक्कों का बाह्य भाग शोथ युक्त होने के कारण रक्तमय होता है इससे रक्त वाहिनियों का समूह नलियों के प्रारम्भिक भाग के साथ शोथयुक्त हो जाता है तथा वहीं से थोड़ा थोड़ा रक्त मूत्र के साथ बाहर आने लगता है। कभी कभी यही रक्त नलियों के बीच मे रह कर जम जाता है। कुछ नालीस्थ शैल शोथ के कारण उखड़ कर नली के अन्दर आगिरती है-परिणाम यह होता है कि यही शैले (*Cast*) (फालतू अंश या किट्ट) के रूप में मार्ग द्वारा बाहिर आती हैं। यही *Cast* और एलब्यूमिन वृक्क शोथ की विशेष पहिचान हैं। कभी कभी नालीस्थ शैलों की विकृति हो जाने के कारण जब मूत्र मार्ग से ये अवयव वाहिर नहीं निकलते तब यूरिमीया मूत्र की मात्रा घट जाती है और तरल जमा होने के कारण शरीर में आर्द्र शोथ होने लगता है। यही कफज शोथ का एक लक्षण है।

इस रोग में सर्व प्रथम कटि प्रदेश में पीड़ा उत्पन्न होकर गुर्दे के ऊपरी भाग में शोथ हो जाता है। साथ ही मुख पर भी आर्द्र शोथ होता है और कालान्तर मे (शीघ्र ही) यह शोथ हाथ, पैर, अण्डकोष तथा संपूर्ण शरीर मे फैल जाता है। कभी कभी यह रोग गुप्त रूप में भी प्रारम्भ हो जाता है और वमन, उत्क्लेद, शिर.शूल, अतिसार, उदरशूल आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं परन्तु बाद में जब मूत्र मार्ग मे रक्तश्राव प्रारंभ होता है तब यह चिकित्सकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। कुछ श्वास का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है परन्तु शीघ्र ही यह लक्षण दूर हो जाता है प्रारम्भ में कुछ दिन ज्वर भी रहता है। रक्त वेग तथा रक्त भार अधिक होता है। मूत्र की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती जाती है तथा मूत्र गाढ़ा पड़ता जाता है। मूत्र परीक्षा मे रक्त अलब्यूमिन, प्रक्षिप्त पदार्थ तथा हरितनेत्र जनीय पदार्थ न्यून होते जाते हैं। कालान्तर मे वृक्क संन्यास के लक्षण उपस्थित होकर उचित चिकित्सा के अभाव में रोगी की मृत्यु तक हो जाती है। अधिकतर तीव्र वृक्क शोथ से जीर्ण वृक्क शोथ हो जाता है।

जीर्ण वृक्क शोथ दो प्रकार का होता है—

(१) जीर्ण नालीस्थ वृक्क शोथ तथा

(२) औपस्तम्भिक वृक्क शोथ।

जीर्ण नालीस्थ वृक्क शोथ--

प्रथम श्रेणी के वृक्क शोथ में सूक्ष्म नालियां सूज कर विकृत हो जाती हैं। जो कालान्तर में वृक्कों को भी प्रभावित करती हैं। वृक्क शोथयुक्त होने से स्थूल प्रतीत होने लगते हैं। नालियों की शैल भी शोथ युक्त तथा पीली हो जाती हैं। परन्तु इन सब लक्षणों के होने के पूर्व तीव्र वृक्क शोथ के लक्षण दब जाते हैं तथा रोगी अपने आपको रोगमुक्त समझने लगता है, परन्तु रोग गुप्त रूप से कायम रहता है। कभी कभी पूर्व स्पष्ट हुए बिना भी जीर्ण वृक्कशोथ हो जाता है। मूत्र परीक्षा में वे ही एलब्यूमिन रक्त तथा *Cast* रहते हैं। तथा अन्य सभी लक्षण पूर्वोक्त ही होते हैं। वृक्क का वर्ण श्वेत हो जाता है परन्तु कालान्तर में स्थूल श्वेत वृक्क शोषित होकर संकुचित हो जाता है। इस अवस्था मे जीर्ण वृक्क शोथ का परिणाम



सदा ही बुरा होता है। अधिक से अधिक दो साल तक यह अवस्था कायम रह सकती है।

जीर्ण औपस्तम्भिक वृक्क शोथ–

दूसरा प्रकार है जीर्ण औपस्तम्भिक वृक्क शोथ। इसमें वृक्क की मूत्र प्रणालियां और उनके प्रारम्भिक भाग क्षीण हो जाते है। इसमें रक्त वेग बढने के कारण धमनिया कठोर हो जाती है। मूत्र का घनत्व (आपेक्षित) कम हो जाता है और एलब्यूमिन अल्प मात्रा मे आती है। वात रक्त, मद्यपान, उपदश से पीडित रोगी तथा छापाखाने मे कार्य करने वाले या सिक्के के कारखानो मे काम करने वाले लोगो को यह रोग होता है। आंतो मे प्रोटीन जमा होकर सड़ने लगती लगती है इससे विष उत्पन्न होकर रक्त मे लीन हो जाता है। इस अवस्था मे धमनी काठिन्य तथा वृक्क शोथ दोनों का परस्पर कारणत्व सम्बन्ध रहता है। परन्तु यह रोग बालकों मे नहीं होता। अत. इसका अधिक विवेचन यहां नहीं कर रहे है।

चिकित्सा–

यह रोग एक घातक रोग है जिसकी चिकित्सा एलोपैथी में नहीं है। आयुर्वेदीय चिकित्सा से यह रोग कृच्छ्रसाध्य है। चिकित्सा की न्यूनतम अवधि ६ मास या इससे अधिक है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान इसमे पारद तथा भस्मों का प्रयोग एकदम निषिद्ध मानते हैं परन्तु आयुर्वेद की रस चिकित्सा लाभप्रद सिद्ध हुई है।

इसकी चिकित्सा को चार भागों मे विभक्त कर सकते हैं—

[अ] औषधि सेवन चिकित्सा, [ब] प्रसेक तथा अभ्यङ्ग चिकित्सा, [स] रक्तमोक्षण चिकित्सा, [द] आहार विहार चिकित्सा।

(अ) औषधि सेवन चिकित्सा—

आरोग्यवर्धनी वटी, पुनर्नवाक्षार, गोक्षुरु क्षार (आसव), पुनर्नवा क्षार या आसव, गोक्षुरादिगुग्गुल पंचतृण मूत्र कषाय, शिलाजतु, पुनर्नवादि मण्डूर, पुनर्नवादि गूगल, शोथादि लोह, पुनर्नवाष्टक क्वाथ, पथ्यादि क्वाथ, त्रिफला काथ।

इनमें से किसी का प्रयोग करे।

हमने इस रोग में आरोग्यवर्धनी, पुनर्नवादि योग, शिलाजतु का विशेष प्रयोग किया है।

(ब) प्रसेक तथा अभ्यग चिकित्सा—

इस रोग मे कफ नाशक द्रव्यों का स्वेदन करें।

[१] गोमूत्र स्वेदन, [२] तारपीन, का तेल तथा गर्म जल का स्वेदन। पुट स्वेद भी वृक्कशोथ मे लाभप्रद पाया गया है—

१— पुनर्नवादि पुट स्वेद—पुनर्नवा, नीम के पत्ते, निष्पव, परिभद्रत्वक को सयुक्त रूप से दर दराकर पोटली मे बाधकर पुटपक करे तथा वृक्कों को स्वेदित करे।

२—अपामार्गादि पुट स्वेद–अपामार्ग, तालमखाना, सभालू का पत्र, भाग—इन्हें पोटली मे बाधकर उपरोक्त विधि से स्वेदन करे।

३—मिट्टी सूखी को गरम कर सेक करे।

४—कुलथी तथा शुण्ठी द्वारा सिद्ध गोमूत्र का परिशेष करें। उपरोक्त स्वेदन करने के बाद वृक्को को साफ पोंछ कर ऊपर फलालेन या गर्म वस्त्र वांध दे जिससे ठंडी हवा का आघात न पहुंचे।

(स) रक्त मोक्षण चिकित्सा—

इस रोग मे रक्तमोक्षण चिकित्सा भी लाभप्रद सिद्ध हुई है। जलौका या शृङ्गी चिकित्सा करनी उपयुक्त है। वृक्क स्थान या उसके ठीक आसपास ही इसका प्रयोग किया जाना उचित है। तदनन्तर वृक्कों पर तेल लगवाना आवश्यक है। यों भी वृक्को पर तैल लगाना लाभदायक है।

आवश्यकता पड़ने पर कफहर प्रलेप तथा पुल्टिस भी इस पर बाधी जा सकती है। जिनमें हजरत वेर तथा अडे की सफेदी प्रमुख है। प्रलेपों मे दशाग प्रलेप, पुनर्नवादि लेप (पुनर्नवा, देवदारू, सौंठ, सहजना की छाल, श्वेत सरसों को काजी में पीस कर लेप करे) कृष्णादि प्रलेप (पिप्पली, बालू, पुराने तिल की खली, सहोजना की छाल, अलसी को

गो मूत्र में पीसकर लेप करें) तथा चौरपुष्पी और अगर का लेप करें। लाभप्रद है।

आहार विहार चिकित्सा—

रोगी को नत्र जातीय भोजन नहीं देना चाहिए। प्रोटीन यद्यपि जीवन के लिये प्रमुख है फिर भी अधिक मात्रा में उसका देना भी हानिकारक है। इसलिये केवल दुग्ध का ही सेवन इस रोग मे अधिक लाभ नहीं दे सकता। वमा का सेवन भी इस रोग में नहीं करना चाहिये। पथ्य मे रुक्ष पथ्य को प्रधानता देनी चाहिये। दशमूल द्वारा सिद्ध दुग्ध आदि भोजन तथा अल्प मात्रा में सरसों का तेल हितकारी है।

फलों में अखरोट, अंजीर, मुनक्का, साबूदाना, मक्खन, टोस्ट, शर्बत, यव आदि इस रोग में पथ्य हैं। इस रोग मे नमक का प्रयोग अल्प मात्रा में करना चाहिये। अधिक मूत्रल पदार्थों का सेवन भी निषिद्ध है। पिट्ठी तथा मैदा के भोज्य पदार्थ, उष्ण भोजन, शराब, मांस सेवन आदि पूर्णतया त्याज्य हैं। अति मात्रा में जल, गुड़, तैल तथा गुरु पदार्थ भी नहीं लेने चाहिये।

रोगी को पूर्णतः आराम करना चाहिए। तीव्र वृक्क रोग में विस्तर से भी उठना नहीं चाहिए। परन्तु रोगी एक करवट भी नहीं लेटा रहे। उसे करवट बदलते रहना चाहिये। कभी दांये, कभी बांये, कभी सीधे तथा कभी पेट के बल सोना उचित है जिससे वृक्क पर दबाव न पड़े।

रोगी की सर्वप्रथम चिकित्सा है 'निदानम् परिवर्जयेत्' अर्थात् जिस कारण से रोग उत्पन्न हुआ उसका परिवर्जन करना अर्थात् कारण का नाश करना। इस रोग की चिकित्सा जितनी शीघ्रता से की जाय उतना ही अच्छा है। अधिक वृक्क शोथ में अनेक वार वृक्कों में यह शक्ति नहीं रहती कि वे मूत्र को बाहिर फेंक सके। ऐसी परिस्थिति में मूत्र का तरल भाग अन्दर ही रह जाता है। यह आर्द्रता तथा मूत्र लवण अन्दर ही अन्दर रहकर वृक्क संन्यास रोग पैदा कर देते हैं। परन्तु जब यह शोथ कम होने लगता है (अर्थात् वृक्क जब कुछ काम करने लगता है) तब मूत्र अधिक बनना प्रारम्भ हो जाता है, ऐसी स्थिति में मूत्रल द्रव्यों का देना उचित है।

जीर्ण वृक्क शोथ का उपचार अन्य प्रकार से किया जाता है। उसमें वृक्कों को धीरे धीरे ताकत देनी पड़ती है। एक क्वाथ इसमें अधिक लाभप्रद पाया गया है जिसे यहां उल्लिखित किया जा रहा है। यह योग वंश परम्परागत तथा गुप्त है फिर भी पाठकों के लाभार्थ यहां उद्धरित किया है।

मयूरशिखा, मक्की की मूछें, खरबूजे के छिलके, गोखरु, पंचमूल, पुनर्नवा तथा कुटकी समभाग लेकर जवकुट करे। मात्रा १ तोला से २ तोला तक।

उपरोक्त द्रव्यों का उचित मात्रा में बलाबल देखकर चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर ४ रत्ती शिलाजीत का प्रक्षेप देकर पान करता रहे तो धीरे धीरे परन्तु स्थायी लाभ होता रहता है। आवश्यकता होने पर इसमें गोमूत्र का प्रक्षेप भी डाला जा सकता है।

इस रोग में दोष की प्रबलता तथा रोगी की अवस्था के अनुसार लंघन, पाचन, शिरोविरेचन, विरेचन, वमन आदि कराने चाहिये। आम दोषों में लंघन तथा पाचन क्रिया करानी उपयुक्त है। अति प्रवृद्ध दोष में वमन तथा विरेचन कराकर शोधन क्रिया करनी चाहिये। साधारणतया इस रोग में मल तथा मूत्र का शोधन भी आवश्यक है।

अन्त में हम यह कहना आवश्यक समझते हैं कि यह एक रोग है जिसमें एलोपैथी चिकित्सा पूर्णतया असफल रहती रही है परन्तु आयुर्वेद को इस पर विजय प्राप्त करने का श्रेय प्राप्त है। यह गर्व की बात है। आशा है वैद्य समय का लाभ उठाकर इस रोग की चिकित्सा करने में सफल होंगे।

—श्री अम्बालाल जोशी साहित्यरत्न आयुर्वेदरत्न
सम्पादक—आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका
मकराना मोहल्ला, जोधपुर

बाल पक्षाघात (पोलियो)

श्री के पी. वर्धन



पक्षाघात, पक्षवात का आक्रमण बालक और प्रौढ़ दोनो मे होता है। वर्गों के 'बाल पक्षाघात' (*Infantile paralysis*) को पोलियो के नाम से पुकारते हैं। आजकल यह संक्रामक व्याधि रूप भयङ्कर रूप धारण करके लाखों शिशुओं को ग्रसित कर रहा है। पब्लिक और सरकार दोनों की ओर से वैद्य गण इस मारक व्याधि की रोक थाम के लिये प्रयत्नशील हैं। देश, काल, जल, वायु दूषित होने के कारण उत्पन्न होने वाली संक्रामक (जनपदोध्वंसक) व्याधियों के अंतर्गत यह एक वात व्याधि है। इस विकट व्याधि के प्रधान लक्षण निम्न प्रकार हैं। पहले ज्वर होता है बाद मे वमन, सकट. शीत, शिरोभार, अंगमर्दन इत्यादि। पश्चात पैर हाथ क्रियाहीन हो जाते हैं। आधुनिक वैद्य मतानुसार इस व्याधि में एक सूक्ष्मक्रिमी सुषुम्नाकाड के अतर्गत नाड़ी कण उत्तर शृङ्ग मे प्रवेश पाकर उनको खाजाते हैं। उससे सूक्ष्म नाड़िया और मासपेशिया व्याघात पाते हैं। इसके परिणाम मे उसके आधीन शाखा क्रियाहीन हो जाती है। यह क्रिमी मस्तिष्क के भागों मे प्रवेश पाने पर उस यन्त्र के अन्तर्गत अवयवों को दूषित करने से इन्द्रियनाश और उनके संबधित नाडियों में विकृति संभव होती है। यही भयङ्कर रूप धारण करके प्राणघातक बन जाता है।

आयुर्वेद ग्रन्थों मे ज्वर पूर्वरूप होने वाले पक्षाघात का वर्णन नहीं पाया जाता परन्तु आयुर्वेदज्ञों को व्याधि के नाम की आवश्यकता नहीं परन्तु लक्षणों से निमित्त है। त्रिधातु ज्ञान की सहायता से समस्त व्याधियों की चिकित्सा करने मे समर्थ होता है ऐसा आप्तवाक्य है—

> विकार नामाकुशलो न जिह्रियात कदाचना।
> नहीं सर्व विकारणा नामतोऽस्ति ध्रुवास्थिती. ॥

आजकल प्रचुरता पाई हुई यह पोलियो एक नवीन व्याधि कहीं आसमान से टूट पड़ी है ऐसा समझना गलत है। 'बाल रोग' अध्यायों में पक्षाघात के नाम से हमको नहीं मिलता, कारण यह है कि शैशवावस्था में श्लेष्म ही प्रधान दोष होता है और यह बालकों में विरले ही होता है। इसलिये पक्षाघात वयो पुरुष अथवा उम्र वालों को अक्सर हुआ करता है।

इस व्याधि का बालकों को ही विशेषतः १ से ५ वर्ष के अन्तर्गत शिशुओं को ही संक्रमण हुआ करता है इसका कारण क्या है? विचार करने पर हमको बालक तीन प्रकार के मिलते हैं।

१—क्षीरदा, २—क्षीरान्नदा, ३—अन्नदा।

पहले क्षीरदा—यह माता का स्तन्य अथवा अन्य दूध पीने वाले. दूसरे दूध के साथ अन्न खाने वाले, तीसरे केवल अन्न खाने वाले। इनमें से दूध और अन्न खाने वालों में ही व्याधिग्रस्त की संख्या विशेष है। केवल स्तन्यपान करने वाले शिशुओं का धातु सत्व प्रधान होता है। अन्न खाने वालों मे अम्ल लवण कटु आदि के मिश्रण से रजो गुण प्रादुर्भाव होता है। यही कारण है कि १ और ५ वर्ष के मध्यम बालकों में ही यह सक्रमित होता है। केवल वयो अवस्था ही नहीं किंतु ऋतु काल का भी प्रभाव पड़ता है। यह व्याधि श्लेष्म चयावस्था जो हेमन्त और शिशिर ऋतु है इनमें नहीं पायी जाती। अथवा श्लेष्म चय को विलयन करने वाले अहिताहार विहार का सेवन, सूर्य की तीक्ष्ण ताप के सेवन से व्याधि प्राप्त हो सकती है। श्लेष्म विलयन पाकर स्रोत और नाड़ियों को अवरुद्ध करते हैं इससे वात के प्रसारण मे बाधा पड़ती है। इसके परिणाम मे वह शाखा, क्रियाहीन हो जाती है अथवा क्रमशः क्रिया लुप्त होती जाती है—इसी का नाम है पक्षाघात।

> आहारश्च विहारश्च यस्स्याद्दोष गुणैस्सम।
> धातुभिर्विगुणो यश्चस्रोतसा सप्रदूषक॥

यदि केवल क्षीरादा को संक्रमण हो तो माता अथवा धात्री के स्तन्य का दोष होना निश्चित है।



माता के दुग्ध में आम दोष न पाया जाये और शिशु को ज्वर हो तो उसे आगन्तुक स्कंदादि ग्रहावेश जाने।

रोग द्विविध है–१. निज और २.आगंतुक। 'द्वयोरतुखलु आगन्तुक निजयोः'। आगंतुक रोग मे पहले उसके सम्बन्धित बाधा होकर उससे वातपित्त श्लेष्म में वैषम्यता होजाने से विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं। निज व्याधि मे पहले ही वात पित्तादि दोष विकृत होकर धीरे धीरे बाधा उत्पन्न करते हैं।

बालको का शरीर और मनो तत्व अति कोमल और दुर्बल होने के कारण ग्रहादि का आवेश हो जाता है। अब हम बालकों का ग्रह विचार करेंगे।

बाल व्याधियों पर श्रेष्ठ और प्रमाणिक ग्रन्थ कश्यप संहिता है। उसमे बालग्रहों के स्वरूप, उनकी चिकित्सा, उनकी उत्पत्ति और कारण विवरणात्मक रूप से पाये जाते है।

स्कंद, शकुनी, रेवती, पूतना, अंध पूतना, शीतपूतना, मुख-मण्डिका, नैगमेय (पितृग्रह) ऐसे ६ ग्रह हैं। सबमें स्कंदग्रह बडा क्रूर और प्रधान है।

बाल ग्रह अदृष्ट होने के कारण—

बालग्रह मणिमादि अष्ट सिद्धि पाने के कारण, काम रूपी होने के कारण बालकों मे प्रवेश करते दिखाई नहीं पडते। फिर भी आप्तवाक्य रूप शब्द प्रमाण के आधार पर बालकों के शरीर मे प्रवेश पाने पर जो लक्षण दिखाई देते हैं वर्णन करता हूँ–

ग्रह बालकों में क्यों प्रवेश होते हैं—

धात्री मात्रो प्राक प्रदिष्टापचाराच्छै च,
अष्टानमंगलाचार ही वान।
त्रस्तान हृष्टाम स्तर्जितान ताडितान वा पूजा
हेतोर्हिंस्यु रेतेकुमारन्।

स्तन्यपान कराने वाली दाई, स्वयं जननी गर्भिणी नियमों को भङ्ग करने के अपचार से शुचित्वहीन, विधि विधान से पष्टि देवी पूजादि रूपक मंगलाचरण न किया हो, अत्यन्त मुदित हो, दूसरो से भय पाई हो, अधिक रोदन करने वाली हो ऐसे शिशुओं मे पूजार्ह बन कर बाल ग्रह आवेश पाकर पीड़ा देते हैं।

शास्त्रों में इन ग्रहों के आकार, उत्पत्ति का वर्णन बड़े विस्तारपूर्वक है किन्तु स्थानाभाव के वश प्रकृत पोलियो बाल पक्षाघात से सम्बन्धित स्कंदग्रह का ही संग्रह मे वर्णन करता हूं।

स्कंदादि बालग्रह दिव्य शरीर धारण करके स्त्री पुरुष रूप में रहते हैं। यह कृत्तिका, पार्वती, अग्निदेव, शिवजी इनसे शरदर्थ बन में कुमारा स्वामी के रक्षणार्थ सृजन किये गये हैं। स्कंद ग्रह को भगवान शिवजी ने सृजन किया, इसी को कुमारा ग्रह भी कहते हैं। स्कंद ग्रह लाल पुष्प, लाल वस्त्र, लाल चंदन इनसे विभूषित दिव्य रक्त वर्ण काय वाला सब ग्रहों मे अत्यन्त उग्र है। यह आवेश पाने से बालकों को अङ्ग वैकल्य अथवा मरण अनिवार्य है।

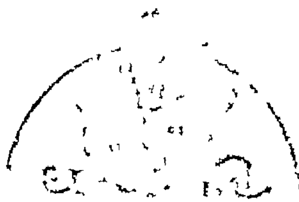
वैकल्यं मरणं चापि स्कन्दग्रहे मतम्॥

साधारण बालग्रह ग्रसित लक्षण—

बाल ग्रहाविष्ट बालक लक्षणों मे शिशु क्षण में चौक पड़ता है, क्षण में डरता है, बार बार रोदन करता रहता है नाखून से अपने आपको अथवा माता को खुरचता है, दात काटता है, कीलताजंभाई लेता है, होट काटता है और भौ चढ़ाता है, कफ निकलता है कृशित होकर रातों में जागता रहता है। शरीर मे शोथ रहता है। मछली रक्त जैसी गन्ध आती है। पहले के जैसा दूध नहीं पीता और खाता भ ीं। दुर्बल आहार मलिन शरीर वाला होकर स्मा... ीन पड़ा रहता है।

स्कन्द ग्रह ग्रहीत लक्षण—

स्कंद ग्रह आविष्ट होने पर (एक नयन स्रावी) एक आख में पानी झरना (शिरो विक्षिपते मुहु.) बार बार शिरोताड़न करना (हतैक पक्ष.) एक पार्श्व में शक्ति लुप्त होना (स्तब्धाग) अवयव स्तब्ध हो जाना, (सस्वेदो) स्वेद निकलना, (नत कदर.) गर्दन झुक जाना, (दंत खादी) दात काटना, (स्तन्य



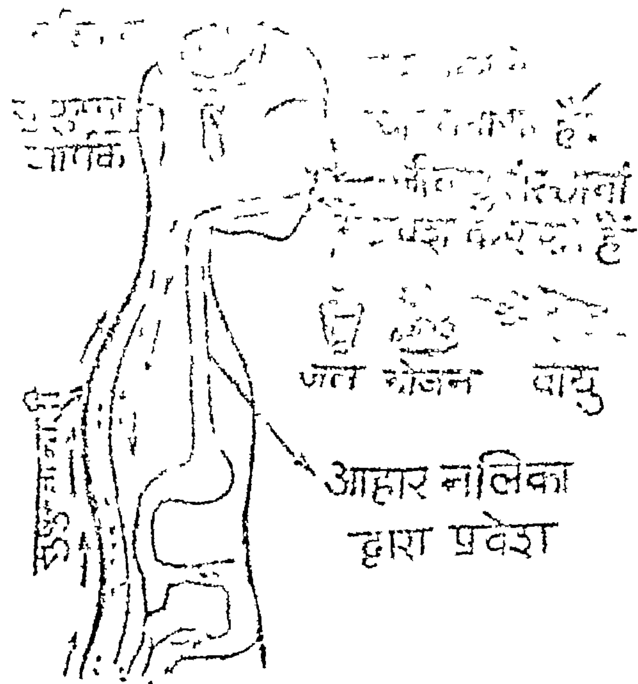
द्वेषी) स्तन्यपान करने में द्वेष (ग्रन्थन) अपस्मार चमक पड़ना (रोदतो विस्वर) विकार स्वर से रोदन करना (वक्रवक्त्रो) मुह टेढा हो जाना (वमत्यास्य) मुह से लार निकलना, (भृश मूर्ध्वं निरीक्षते) अत्यन्त ऊर्ध्वदृष्टि रखना, (वसागन्धि) चर्बी जैसा गंध रहता, (उद्विग्नो) कापना, (बद्धमुष्टि) मुट्ठी बांधना (शकृच्छ्रशु) मलबन्ध होना (चाक्षिणी चाक्षिगंड भ्रू) एक पार्श्व में आख कनपटी भौ का कंपन होना (सरक्तो भय लोचन) आंखें लाल पड़ना यह लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसे शिशु को अङ्ग वैकल्य अथवा मरण प्राप्त होना अनिवार्य है।

अब हम आधुनिक मत से इन्फ पोलियो व्याधि की सम्प्राप्ति पूर्वरूप रूप भेद का विचार करके आयुर्वेदोक्त लक्षण कहा तक मेल बैठते है प्रयत्न करेंगे।

यह रोग सुषुम्ना नाडी के अन्तर्गत जीव रस में [पुर श्रृङ्गो मे] सपन्न होने वाले क्षणाघात [Sinus] मुख्यकारण मानते हैं। शिराओं के द्वारा व्याप्त होनवाला अति सूक्ष्म कृमि पदार्थ मुख्य कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं। यह नासिका का मल, दूध, पानी, आहार, मक्खियों के द्वारा व्याप्त होता है। यह कहीं कहीं अलग अलग अथवा सांक्रामिक रूप [जनपदोध्वसक रूप] से भी हो सकता है। अधिकतर २-५ वर्ष के मध्यम बच्चों को होता है। युवक और मध्य वयस्कों को भी हो सकता है और विशेषत बालकों में शरद्, ग्रीष्म ऋतु में इसका प्राबल्य होता है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया देशों में यह रोग अधिक प्रचार में है।

सम्प्राप्ति—

यह सूक्ष्म कृमि नासिका अथवा मुख द्वारा शरीर में प्रवेश होकर कंठ कुहर अथवा क्षुद्रान्त्र में ठहर कर वृद्धि होकर उसकी दीवारों के पर्दों में स्थान बनाकर स्वतन्त्र श्लेष्मा नाडियों के द्वारा मस्तिष्क में पहुचते हैं। यह सुषुम्ना काड की ओर जाने वाली नाड़ियों द्वारा व्याप्त होकर पृष्ठ वंश के मूल से सुषुम्ना काड में प्रवेश होते हैं। यह कृमि सुषुम्ना



चित्र नं० १८३ — सम्प्राप्ति

द्रव में दिखाई नहीं देते परन्तु मल में पाये जाते हैं। मूत्र यकृत प्लीहा में गोचर नहीं होते। मस्तिष्क सुषुम्ना के नाड़ी कण गर्दन की शिराओं में, कटि के नाड़ी कण पुरश्रृङ्ग में पाये जाते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में श्वेत कण एक जगह जमकर सूजन पैदा करते हैं।

लक्षण, पूर्वरूप —

पक्षवात की पूर्वावस्था कह सकते हैं। शिरःशूल, अङ्गमर्दन, गर्दन तोड़, पृष्ठ भाग, पैर हाथ में बाधा, उदर में शूल, चक्कर, वमन, एकेक बार बालाक्षेप की तरह मूर्च्छा होती है। ज्वर १०३ F तक रहता है। कुछ कुछ एक वस्तु दो दिखाई पड़ना [द्वि दृष्टि], तीव्र शिरोबाधा हो जाती है। गर्दन जकड़ जाती है। दृष्टि का विभ्रम होना, उंगलिया कापना, सुषुम्ना निर्मल रहते दबाव (Pressure) अधिक होता है। श्वेत कण बढ जाते हैं। रक्त में श्वेत कण अत्यधिक बढ जाते हैं, रोग कृमि दिखाई नहीं पड़ते।

रूप–

ज्वर होने के २ अथवा ३ दिन के पश्चात् पक्ष-वात के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अक्सर पक्षवध लक्षण एकदम प्रकट होते हैं। इनमें हाथों से पैरों मे ही लक्षण अधिकतर प्रकट होते हैं। मास पेशियों मे शूल रहता है। कुछ पेशियां ढीली पड़ जाती हैं, कुछ मे हाथ से दबाने पर दर्द होता है। इस व्याधि से एक हाथ अथवा एक पाव (पक्षवध), एक पैर अथवा हाथ (एकाङ्ग वात), दोनों पाव (पंगुवात), दो हाथ दो पैर (सर्वाङ्ग वात) अथवा एक पार्श्व का हाथ और पैर अथवा एक भाग का हाथ दूसरे भाग का पैर हो गिर जाना सभव है। जिस शाखा मे वध हुआ, उसके चर्म पर पतले फफोले अथवा दाद निकलते हैं। ढीली पड़ी पेशियां आहिस्ता आहिस्ता दृढ़ होकर जकड़ जाती हैं।

भेद–

१. सुपुम्नज, २. तात्कालिक, ३. नाड़ी पाकरूप, ४. व्यापक, ५. मस्तिष्कज, ६. पश्चात् मस्तिष्कज, ७. पुरो मस्तिष्कज, ८. अधो मस्तिष्कज, ९. मिश्रण रूप।

(१)सुपुम्नज—यह अक्सर दिखाई देता है। इसमे उपरोक्त सब लक्षण पाये जाते है। इस व्याधि से सवन्धित कृमि सुपुम्ना नाडी में जहा जहां पहुचते है वहा वहा पर शिराओं से पोषित माशपेशिया क्षत हो जाती हैं। पृष्ठ वश मध्य भाग प्रान्त मे सुपुम्ना नाड़ी मे यह कृमि प्रवेश पाने से मासपेशियों के क्षत के साथ गुदावली का भी क्षत हो जाता है।

(२) तात्कालिक—इसमे व्याधि की सम्प्राप्ति सुपुम्ना के ऊपर के पर्दे से आगे नहीं वढती। अल्प मस्तिष्क लक्षणों से २, ३ दिन ज्वर आकर शमन होता है।

(३) नाड़ी पाक रूप—इसमे क्षत के लक्षण नहीं पाये जाते। हाथ पैरों मे वाधा अधिक होतीहै।

(४) व्यापक—इसमे क्षत का लक्षण एक शाखा मे प्रकट हो कर आरोहक अथवा अवरोहण मार्ग में सारे शरीर पर सत्वर व्याप्त हो जाता है। प्रधानत. फेफड़े ग्रस्त होने पर मरण निश्चित है।

(५) मस्तिष्कज—यह मुख्यत. तात्कालिक भेद लक्षण सहित होता है। किन्तु यही लक्षण तीव्र रूप होते है। रोग अधिक दिन तक रहता है। वध का लक्षण नहीं रहता।

(६) पश्चात् मस्तिष्कज—इसमे तीव्र शिरो-वेदना, भ्रम, वमन, अस्पष्ट वाक्, आंख की पुत-लियां अति चचल होना यह लक्षण ही दिखाई देते हैं।

(७) पुरोमस्तिष्कज—तीव्र मूर्च्छा, पक्षावात, अथवा पंगुवात, कंपन, मनो वैकल्य उपस्थित होना इसके लक्षण हैं।

(८) अधोमस्तिष्कज—इसमे उपरोक्त लक्षणों के साथ अर्दितवात, आहार निगलने मे असमर्थता, अस्पष्ट वाक्, स्वरहानि, श्वास वैकल्य, हृदय स्पंदन में विकृति प्राप्त होती है।

(९) मिश्रण रूप—इसमे मस्तिष्कज लक्षण सुपुम्नज लक्षण मिश्रित रहते है। इस व्याधि में क्षत शाखाओं मे एक शाखा कठिन दूसरी ढीली हो सकती है।

यह रोग होने के कुछ काल मे वध हुए भाग फिर से स्वस्थ हो सकते हैं। कुछ तो हमेशा के लिए क्षत होकर रह जाते है। कटि पेशियों के पास टेढ़ापन आने के कारण वनते हैं। क्षत हुई शाखाओं में हड्डियां बढ़ती नहीं, इसी कारण वह छोटी दिखाई देती हैं। क्रमश. मासपेशिया क्षीण हो जाती हैं। यह व्याधि पूर्णरूप से स्वस्थ होकर पूर्व स्थिति प्राप्ति होती है कहना कठिन है परन्तु एक वर्ष के काल मे जितनी स्वस्थता प्राप्त हो गयी हो उसीको परमावधि समझ सकते है।

साध्यासाध्य—यह व्याधि एकदम बहुत सख्या मे जनपदोध्वसक रूप धारण करके आने पर सौ मे १० से २० तक मरण प्राप्त करते है। सर्वाङ्गवात के रोगी भी स्वस्थ होते देखे जाते हैं। अधोमस्तिष्क

(मेडुला) में व्याधि व्याप्त होने पर मरण निश्चित है। अब हम आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार तुलनात्मक विचार करेंगे।

रोग सम्प्राप्ति—

यह छ अवस्थाओं मे विभाजित है। इनको क्रियाकाल कहते हैं—

१. प्रथम क्रियाकाल–संचय, २. द्वितीय क्रियाकाल–प्रकोप, ३. तृतीय क्रियाकाल–प्रसार, ४. चतुर्थ क्रियाकाल–स्थान संश्रय, ५. पचम क्रियाकाल—व्यक्तिभाव, ६. षष्टम क्रियाकाल—भेद।

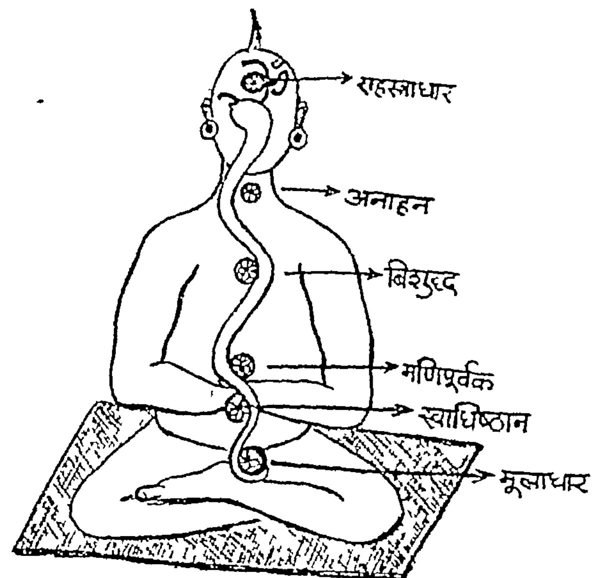
यह दोष सचय मे प्रारम्भ करके रोग प्राप्ति होकर निवृत्ति होने तक शरीर मे होने वाले रोग क्रिया कलाप को व्यक्त करता है।

[१] संचय—दोष दुष्ट होने के कारणभूत मिथ्याहार विहार का सेवन अथवा काल वैपरीत्य अथवा बाह्य कारण कृमि विषादि सम्बन्ध से हो दोष स्वस्थान मे वृद्धि पाते है। इस व्याधि मे आहार विहार में इसके काल में अथवा वात वृद्धि कर रूक्ष, लघ्वादि गुणों से ऊष्ण का सयोग होने से वात का सचय होता है। इसी कारण यह व्याधि शरद्, ग्रीष्मकाल मे अधिक व्याप्त होती है और वात का स्थान पक्वाशय, कटि, ऊर्व (जाघ) आदि वात थान ही दोष सचय को स्थान देते है। इसी तरह प्राणवात और उदान वात के मार्ग नासा द्वार, कण्ठ द्वार भी दोष सचय के आधारभूत होते हैं।

[२] प्रकोप—अपने अपने वात स्थान मे अथवा उनके मार्ग मे संचय हुआ वात, तत् स्वभाव रूक्ष, लघ्वादि गुणों के साथ शीतल गुण समावेश होने पर अर्थात् अपने पूरे गुण वृद्ध होने पर वात का प्रकोप होता है। कोई दोष यथावस्था मे ही मालूम करके तत्तद् दोष शामक रस गुणादि द्रव्य का सेवन करने पर वह दोष प्रकोप न होकर शमन हो जाता है। उसके विरुद्ध होने पर दोष प्रकट होना स्वभाव सिद्ध है। इसी अवस्था मे सभव होने वाले रोग के पूर्वरूप चिन्ह दिखाई पड़ते है। इसी कारण इस व्याधि के पूर्वरूप मे वात प्रधान लक्षण अंग मर्दन (गर्दन तोड़ने के जैसा दर्द) मांसपेशियों मे बाधायें प्रकट होती है।

[३] प्रसार—प्रकुपित दोष स्वस्थान छोड़कर अन्य स्थान मे प्रवेश पाना। वात प्रधान इस व्याधि मे प्रकुपित वातदोष वातवह्न नाड़ियों के मार्ग द्वारा व्याप्त होकर इन्द्रिय स्थान को प्राप्त करते हैं। इंद्रिय दो प्रकार की हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। शिर ज्ञानेन्द्रियों का स्थान है। सुषुम्ना नाड़ी कर्मेन्द्रियों का स्थान है। हृदय और मन व्यान वात का स्थान है। इस व्याधि मे प्रधानत व्यान और अपान वात दुष्ट होते हैं। इसी कारण कई रोगियो के पैर और कुछ के हाथ क्षत होते हैं। इसी कारण प्रधानतः इसको सुषुम्ना व्याधि मानते हैं। यह दोष प्रसार शिर के इन्द्रिय स्थान और नाड़ी मूलों में प्रवेश करने पर ज्ञानेन्द्रियों का वध हो जाता है। यह सामान्यत. कुछ ही रोगियों मे हो पाता है। ऐसा होना असाध्य लक्षण है।

[४] स्थान संश्रय—नाड़ियो द्वारा व्याप्त वात दोष नाड़ी मार्गों द्वारा मुख्यत सुषुम्ना काड में



चित्र न० १२४—षट्चक्र

रुक जाता है। वहां मूलांशों को दूषित करके उस स्थान के मूलांशों को शुष्क कर देते है। यह व्याधि नाड़ी मण्डलाश्रित होने के कारण षडचक्रों का पूर्ण ज्ञान के विना पूर्णरूप से अवगाहन नहीं हो पाता। योग ज्ञान से षडचक्र का ज्ञान होता है। योग ज्ञान षडचक्रदर्शन के विना नाड़ी मण्डल व्याधियों का मूल पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं कर सकते। इसी कारण योगदर्शन सूक्ष्मेन्द्रिय ज्ञान आयुर्वेद को पूर्ण रूप से समझने के लिये नितांत आवश्यक है। ऐसा ऋषियों का मत है—

आतुरस्य अन्तरात्मान यो नाविशती योगवित्।
ज्ञान बुद्धि प्रदीपेना न स रोगान चिकित्सति॥

—चरक

यह मुख्यतः मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्रों का आश्रय लेकर पैदा होता है कहना चाहिए। कभी कभी विशुद्ध आज्ञाचक्र, इनके अन्तर्गत नाड़ीसूत्र दूषित होकर शुष्क हो जाने पर उनके अधीन नाड़ियां उनकी सहायता से काम करने वाली पेशियां बलहीन होकर पक्षाघात को मार्ग निकालते है। कभी कभी विशुद्ध और आज्ञा चक्र भागों को बिगाड़ देना भी संभव है। तब वह ज्ञानेन्द्रियों का बंध करके असाध्य परिणत हो जाता है।

[५] व्यक्ति भाव—इस अवस्था में व्याधि संपूर्ण स्वरूप मे प्रकट होती है। पूर्वरूप मे उत्तर भाग भी व्याधि चिन्ह व्यक्त करता है। इस व्याधि के पूर्वरूप मे ज्वर आना मुख्य लक्षण बतलाया गया है। ज्वर आने का कारण पित्त प्रकोप होना है। 'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरोनास्ति ऊष्माविना'। वात नाड़ियों और सुषुम्ना में व्याप्त होने पर दुष्ट वायु को और शरीर के घात अंशों को घर्षण करता है। यह घर्षण (Friction) पक्व करने का ख्याल रखता है। अतः पित्त प्रकोप होकर ज्वर लक्षण पैदा करता है।

"एको दोष प्रकुपित' अन्यान दोषान् प्रकोपयेत्"

इस न्याय के अनुसार प्रकुपित वायु घर्षणादि क्रिया विशेष से पित्त प्रकोप को और उसके द्वारा ज्वर को उत्पन्न करता है। पाक शमन होने पर ज्वर कम होजाता है। किन्तु पाक प्राप्त हुये भाग अल्प हेतुक होने पर शोथ निर्वापण होकर स्वास्थ्य प्राप्त करता है अथवा धातुनाश अर्थात वहां के नाड़ी सूत्र नाश हो जाते हैं। इसके कारण कर्मेन्द्रियों का वध और उसमे प्रधानतः करचरणाङ्ग का बध हो जाता है। इसमें ज्वर विशिष्ट पूर्वरूप अथवा व्याधि लक्षण मानें तो पक्षवध को उपद्रव रूप से ले सकते हैं। 'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रसाम्यति' इसको उपद्रव रूप से ग्रहण करना समंजस दीख पड़ता है क्योकि इस रोग मे ज्वरावस्था मे की जाने वाली चिकित्सा और पक्षबध होने के पश्चात् किये जाने वाली चिकित्सा में कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(६) भेद—यह व्याधि स्वल्पहेतु जन्य होकर ज्वर से ही शमन हो जाने वाली हो तो वह साध्य व्याधि होकर किसी प्रकार के उपद्रव न होकर सुलभ से शमन हो जाता है।

यह छः प्रकार के क्रियाकाल आयुर्वेद त्रिदोष सिद्धात के सम्बन्ध मे विवरण किया गया। इन त्रिदोष के प्रकोप का कारण अहिताहार विहार अथवा काल आगंतुक कृमि विषादि से सम्बन्धित हो सकते हैं। आधुनिक मतानुसार वैरस (Virus) नाम का 'सूक्ष्म क्रिमि पदार्थ' कारण भूत समझा जाता है। यह कोई सूक्ष्म दर्शन [*Microscope*] यन्त्र की सहायता से दिखाई देने वाला नहीं है किंतु रोगियों के कफ, मल, नाड़ीगत द्रव इनका संसर्ग व्याधि संक्रमण का कारण होता है ऐसा विदित हुआ है। ऐसा कृमि का कारण वह बतलाते हैं। दोष ही कारण भूत प्रधान अंग है यह निरूपण करना आयुर्वेदज्ञों का कर्त्तव्य है। कृमि दोष के कारण होते हैं ऐसा आयुर्वेद मानता है परन्तु पक्षबध रोग कृमि के कारण उत्पन्न होता है ऐसा कहीं विवरण नहीं है और

न अब हम सिद्धांतीकरण कर सकते हैं। इस व्याधि के कारण भूत 'वैरस' जितना अदृश्य पदार्थ लक्षणैक वैद्य होता है उसी प्रकार दोष भी गुण कृत्य विकारों से ग्राह्य होते हैं।

रोग क्रियाकाल के सदृश्य रोग निवृत्ति मे कृमि भी अवस्यांतर पाते हैं। उनको निम्न प्रकार संकेत कर सकते हैं–

१—कृमि–शरीर 'वैरस' शरीर मे प्रवेश होना।

२—वह शरीर मे वृद्धि पाना। यह दोनों दोष संचय प्रकोप के तुल्य है।

३—बढ़े हुए कृमि रक्त मार्ग अथवा नाड़ी मार्ग अथवा अन्य मार्ग द्वारा व्याप्त होकर शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग मे प्रवेश करना–यह प्रसर रूप है।

४—प्रवेश पाये अङ्ग प्रत्यङ्गों में कृमि अपने अनुकूल स्थान मे स्थिर होना। यह स्थान संश्रय है।

५—वे स्थिर हुए अङ्ग प्रत्यङ्ग अथवा आशय अथवा धातु, मल इनको विकृत करके उनमें संबन्धित रोग लक्षण प्रकट करना यह व्यक्ति भाव रूप है।

६—उनके सबन्धित कृमि हर चिकित्सा से अथवा कृमि बल के ह्रास होने पर रोग का बल कम होकर रोग शमन होना। रोग शमन होने के बाद कुछ काल तक संबंधित कृमि मल द्वारा बाहर निकलते रहते हैं। कृमि बल अधिक रहकर रोग प्रबल हो जाये तो उपद्रवारिष्ट लक्षण उत्पन्न होकर अङ्ग वैकल्य सम्प्राप्त करके दीर्घ काल मे शमन होता है अथवा रोग असाध्य बनकर रोगी यमसदन को प्रयाण करता है। यह भेद रूप है।

इससे पहले कृमिसंसर्ग एक कारण बतलाया गया है। हो सकता है किन्तु आयुर्वेद मतानुसार उसको उपादान कारण ही ग्रहण करके दोषों को प्राधान्यता देनी होगी।

दोषेभ्य एवाति दुष्टेभ्योन्योन्य मूर्छनात् कोद्रवेभ्यो विषस्येव पदमस्तामस्य संभवम्।

अर्थात् दोषों के परस्पर सम्मूर्छन से उत्पन्न आम विष ही इस रोग को उत्पन्न करने मे समर्थ है। आहार की दुष्टि कृमि ससर्ग से हो अथवा आम विष से हो संप्राप्त व्यान वात दुष्टि, उससे घटित कर्मेन्द्रियादि का वध, इन्द्रियाश्रित होने से पूर्व विवरण किये अनुसार बालग्रह दोष इनमें पाया जाता है। परन्तु "ग्रहावेश, भूतावेश ऐसे शब्द अवैज्ञानिक हैं, मूढगणों का असंबद्ध प्रलाप है। और वास्तवमें न भूत है न प्रेत उनका अस्तित्व अंध-विश्वास भ्रम मूल जन्य है" ऐसा तिरस्कार करने वाले आधुनिक वैद्य कई है। यह प्रत्यक्षवादी सज्जन जीव, आत्मा, परमात्मा के अस्तित्व को निस्संकोच मानते हैं तो इन अशरीरियों (*Spirits*) के अस्तित्व को मानना चाहिये। इस भौतिक शरीर के पतन से ही हमारा अस्तित्व नहीं मिटता। आत्मा अजर, अमर है। इस शरीर पतन के पश्चात् भोग कर्म वासनाओं को साथ लेकर जीव सचार करता है और अपने कर्मा-नुसार योग्य शरीर लेकर जन्म लेता है। कोई कोई कुछ समय तक ग्रह भूत इत्यादि अशरीरि स्थिति में रहकर अपने रज और तामसिक स्वभाव के अनुसार इह लोक से सम्बन्ध रखकर प्रवृत्त होते हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति जिनका मनोबल (*will power*) दृढ़ न हो उनको अपने बस में लाकर उनके द्वारा अपनी कामवासना की तृप्ति पाते हैं। आयुर्वेद के अष्टांगों मे 'ग्रह चिकित्सा' भी एक अङ्ग है। सूक्ष्म अतीन्द्रिय दर्शी ऋषिगण ने इनके बारे में पर्याप्त रिसर्च (परिशोधन) करके उनकी उत्पत्ति, रूप, गुण, भेद संख्या, आविष्ट होने के कारण, उनको पहचानने के उपाय, निरोध और निवारण के मार्ग विस्तारपूर्वक अपने अपने (कश्यप, सुश्रुत, वाग्भट आदि) तन्त्रों मे विवरण किए हैं।

सुश्रुत उत्तर तंत्र ६० वे अध्याय मे अमानुषो-पसर्ग प्रतिषेधाध्याय में 'क्षतातुर नित्य निशाचरों से संरक्षित होना चाहिये' कहकर पूर्वोक्त वाक्य का विवरण करते हैं। पहले अमानुषग्रह क्या हैं इसका वर्णन प्रारम्भ करके आगे आने वाला जो गुह्य ज्ञान है उसको बतलाते हैं। अनवस्थित्व अर्थात् एक



स्थल मे न रहना,असहनशील चेष्टायें जिस पुरुष में पाई जाती है उसको ग्रहावेस्नित समझना चाहिये। ऐसी सूचना देते हैं। बधगात्र अथवा बधरहित अशुच, अयोग्य मर्यादा युक्त पुरुष (अमुज्य पदार्थ का भोजन, अभोग्य का सेवन इत्यादि) को सताने अथवा क्रीड़ा, विनोदार्थ अथवा सत्कार (भोज, पूजा, आराधन) पाने के उद्देश्य से हिंसा देते रहते हैं।

इन ग्रहो के परिचारकों की संख्या सहस्र कोटी, उसके दसगुना, और उसके दसगुना ऐसा असंख्येय होकर रक्त, वसा, मांस को भोजन करते हुये रात्रिकाल मे घूमने वाले मानवों को आवेश करते हैं—

तेषाम् ग्रहाणां परिचाकाये कोटि· सहस्रायुत पद्म सख्या.। असृग् वसा मांस भुज' सुभोमा निशा विहाराश्च-तमा विशंति ॥ —सु. उ ६०-२२

इससे अनुमान होता है कि हमारे लोग सूक्ष्म दर्शनी (*Microscope*), दूरदर्शनी (*Telescope*) इत्यादि की सहायता से दूर स्थित जिन सूक्ष्म कृमि पदार्थों को देख रहे हैं वे सब सहस्रायुत पद्म कोटि संख्या में उपस्थित ग्रहाधिपतियों के अनुचर भृत्य-दास-सेवक उपसेवक रूप मे रहने वालों में असंख्यक गणना मे रहने वाले यह कृमि ही है और यह साधारण दृष्टि (*with naked eye*) को गोचर न होके बाधा देते हैं। यह आगंतुक रूप मे वायु, जल, आहार पदार्थों द्वारा शरीर में प्रवेश पाकर प्राणि कोटि को व्याधि रूप में हिंसा देते हैं।

इसी कारण पोलियों रोग को उत्पन्न करने वाले जो सूक्ष्म क्रिमि (virus) हैं वे स्कन्द ग्रह के गणाधिपतियों के अनुचर, सहचर, सेवक, उपसेवक रूप मे रहने वाले कोटि सहस्रायुत पद्म संख्या में रहने वाले यह सूक्ष्म प्राणी ही हैं और यही भूत विद्या मे ग्रह, निशाचर, राक्षस, भूत आदि हैं।

भूत विद्या (Spirituality) के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों मे अधिक अभिरुचि उत्पन्न हुई है। परिशोधन कार्य भी जोरो से चल रहा है। मरे हुए प्रेतों को मीडिया (Media) अथवा प्लाछेट(planchet) पर बुलाकर वार्तालाप करते हैं। हमारे पूर्वज इस विद्या मे ऊहातीत प्रगति कर चुके थे। शास्त्र बहुत कुछ लुप्त हो गया है और जो कुछ अविशिष्ट है अभ्यासी न होने के कारण मंत्र आदि प्रक्रियायों का मर्म दुर्भेद्य हो गया है। आशा है भविष्य मे इसकी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से खोज करके अमूल्य सत्य रत्नों को शास्त्र गर्भ से उत्पाटन करेंगे।

चिकित्सा विधान—

इस रोग को समग्र रूप से चिकित्सा प्रदान करना है। अत: प्रणाली को पाच भागों मे विभाजित करते हैं (१) कृमि हर (२) ज्वर हर (३) वात हर, वल्य (४) मूर्च्छाहर, स्मृति कर (५) ग्रह हर।

(१) क्रिमि हर—व्याधि संक्रमण होने का संदेह होने के तुरन्त वाद कंठ कुहर मे स्थित होने के समय मे क्रिमी हर क्वाथ द्रव्यो से गंडूप करायें। इसके लिए त्रिफला, हल्दी, निम्ब पुष्प, चिरायता इनका क्वाथ बाह्य और आभ्यंतर प्रयोग के लिए हितकर है। क्रिमिहर गुण वाले रसायन तौर से काम करने वाले पारद के प्रयोग श्रेष्ठ हैं। रसकपूर, मकरध्वज, पूर्णचन्द्रोदय, श्वेतसिंदूर उपयोग कर सकते हैं। सक्रामक रोगों (Epidemics, contageous diseases) मे छूत से बचने के लिए जिन नियमों का पालन करना है अवलम्ब करें। रोगी को एकान्त स्थल (isolated place) मे रखना,मल मूत्र की स्वच्छता, कपड़ों की परिशुभ्रता इत्यादि। सुषुम्नाद्रव मे अधिक दबाव (pressure) होता है उसको घटाने के लिये आयुर्वेदोक्त तिक्त (Bitters) पित्त (Bile juice), गोरोचन, सूचिकाभरण आदि का प्रयोग करे।

(२) ज्वर हर—ज्वर हर द्रव्यों मे शुद्ध वत्सनाभ, टंकण, तालक, मणिशिल इनको मुस्ता, पर्पटक, चिरायता आदि द्रव्यों के क्वाथ अनुपान में



रखकर सेवन कराना हितकर है।

(३) वातहर, बल्य—वातहर द्रव्यों में स्नायु शिराओं को बल प्रदान करके बात को हरने वाले द्रव्यों में कुचला श्रेष्ठ है। रसकपूर, पाषाण आदि का भी युक्ति और कुशलता से प्रयोग करके विजय पाते है। दशमूल, अश्वगंध आदि के अरिष्ट, रास्नादि, देवदार्वादि क्वाथ, शतावरी, क्षीर बला इत्यादि घृत का सेवन, नारायण, माष, विषगर्भ आदि तैलों का बाह्य प्रयोग कराना श्रेष्ठ है। वात मे बस्ति का प्रयोग प्रधान है। साबुन, ग्लिसरिन, एरंड तैल, मधु तैल की बस्ति देना हितकर है।

(४) मूर्छाहर, स्मृतिकर—भैरवी, शीतांशु, लवग आदि को पानी मे घिस कर आखों मे लगाना, शिरीष के बीज, त्रिकटु, नकछिकनी, कड़वी तुंबी का रस, परमैंगनेट आदि का नस्य कराने से मूर्छा दूर होती है। धतूरे के बीज, स्वर्ण भस्म, अबर, कस्तूरी, शुद्ध मल्ल आदि को रोगी को होश मे लाने के लिए युक्ति से प्रयोग मे लाये।

(५) ग्रह हर—इससे पहले ही कहा गया है कि यह पोलियो व्याधि स्कन्द (कुमार) ग्रहजुष्ट आमय है। इस आगतुक रोग परिहरणार्थ धूप देना, घृताभ्यंग कराना, मंत्रोच्चारण कराना, जप हवन आदि कराना, बलि देना, रक्षा (तावीज) बांधना, घृतपान कराना हितकर है।

१. गोश्रृंगादि धूप—गाय का सींग, बाल, पुच्छ साप की खाल, बिल्ली की विष्टा, नीम का पत्ता, नीम का तैल, कुटकी, मदनफल, कटेली छोटी, बड़ा बिनौला, यव, मेंडी के बाल, देवदारु, राये, मोर का पख, श्रीवेष्ठ, मनुष्य के सिर के बाल, हींग-इन तमाम द्रव्यों को मिट्टी के पात्र मे डाल कर उसमे मेंडी का मूत्र डाल कर सुखाले। पश्चात् कूटकर चूर्ण बनालें यह सब प्रकार की ग्रह बाधाओ मे धूप देने के लिए प्रयोग करें।

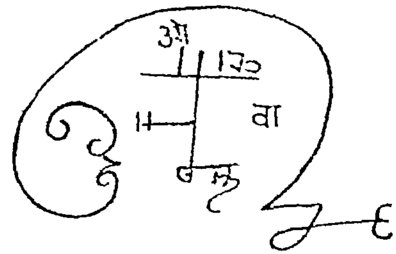
२. फल घृत, सारिवादिघृत, रास्नादिघृत का उपयोग हितकर है।

३. लाल फूल, लाल झंडे, लाल गंध, अनेक प्रकार के भक्ष्य, घंटि, लाल मुर्गे इनको कुमारस्वामी (सुब्रह्मण्य स्वामी) के मंदिर के पास लेजा कर निम्नोक्त मंत्र पठन करके बलि दें—

नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः।
शिरसात्वाभि वन्देऽहं प्रतिगृह्णीष्व मे बलिम्॥
नीरुजो निर्विकारश्च शिशुर्मे जायतां द्रुतम्॥

मंत्रार्थ—ग्रहाधिपति स्कंद देव को नमस्कार करते हैं। हे स्कंद देव तुमको शिर से बन्दन कर रहा हूँ। मेरे दिये बलि को ग्रहण करो। मेरे शिशु का रोग दूर कर निर्विकार रहने का अनुग्रह कीजिये।

४. रक्षा—निम्न यन्त्र को ताम्र पत्र पर लिख



चित्र नं० १२५—यन्त्र

कर लाल फूल, कुंकुम, अक्षत, गन्ध, ताम्बूल, दक्षिणा से पूजा करके नारेल अन्डे की बलि समर्पण कर रविवार अथवा गुरुवार के दिन लाल धागे से कपड़े [रेशमी] की थैली मे सींकर बच्चे के गले में डालें।

(५) बिल्व, शमी, कपिट, क्षीर वृक्षों के पट और पत्ते पानी में डालकर खूब उबाले। कवोष्ण रहते रात में ग्रहाविष्ट शिशुओं को स्नान करावें।

(६) सात कुओं के पानी से स्नान करावें।

अनुभूत चिकित्सा प्रयोग सारणी—

वात को अनुलोमन बनाने के लिये दशमूल क्वाथ, एरंड तैल मिश्रित की वस्ति बहुत उपयोगी है। धन्वन्तरि तैल, अर्क क्षीर तैल, कुचले का तैल इनमें से किसी एक से बध

भागों को अच्छी तरह विधि विधानपूर्वक मालिश करके निर्गुण्डी के पत्तों से, आक पत्रों से उपनाह दें। नमक, मैंगसलफ को तवे पर भून के सेकें। वात गजांकुश, महावातविध्वंसक रस, कनक सुन्दर रस, वातराक्षस, सूतिका भरण रस समभाग लेकर मकरध्वज, स्वर्णभस्म, कस्तूरी, अम्बर, पावजर, जाफ्रान, भीमसेनी कपूर १/७ अंश मे प्रत्येक मिलाकर निर्गुण्डी के रस मे मर्दन करके चने की दाल प्रमाण में मात्रा बनाकर अदरक के रस अथवा पान के रस मे मधु मिलाकर प्रयोग करें। ज्वर को कम करके वध के आक्रमण से रोकता है। पक्षघात होने पर ऊपर की औषधि के साथ लोह सत्त्वीर अथवा शख, गोरी, सत्त्वीर का मोम युक्ति से मिश्रण करके प्रयोग करने से आशाजनक लाभ होता है। मलबन्ध रहने पर आरग्वधादि क्वाथ सेवन करावे। मांसक्षय होकर अङ्ग सूख जाने पर निम्न तैलों का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है—

[१] कुचले का तैल—५ सेर कुचले के बीज, ६॥ सेर इमली के पेड का त्वक् (छिलका), १ सेर वच, १ सेर रास्ना—पाताल यन्त्र विधि से तैल निकाल कर प्रयोग मे लावें।

[२] मांस मिश्रित अर्क क्षीर तैल—अर्क मूल का रस, निर्गुण्डी रस, इमली पत्तो का रस, सरसों का (कटु) तैल, बकरी का दूध ग्रहण करे। कबूतर (जंगली हो तो श्रेष्ठ) का मांस पाव सेर, एक सेर पानी मे खूब औटा के पृष्ट भाग को निकालकर इसमे ऊपर कहे गये रसों को तैल सयुक्तकर इसमें मिलाकर पकावे। पश्चात् क्षीर मिलाकर तैल पक विधि से पकालें। कपोत के स्थान मे सफेद जंगली कौआ भी काम में आता है। आवश्यकतानुसार दशमूल, कस्तूरी, लशुन, निगुण्डी, मकरध्वज, सर्पगन्धा, अर्जुन, खुरासानी अजवायन आदि के सूचीवेध (Injections) भी सफलता से प्रयोग कर सकते हैं। काडलिवर आयल, मधु, गोघृत, बादाम तैल को मर्दन के कार्य मे प्रयोग करे।

व्यास-सग्रह

पोलियो वात प्रधान व्याधि है। सूक्ष्म कृमि अप्रधान निमित्त हैं। आयुर्वेदोक्त भूत [ग्रह] शाखांतर्गत वर्णित कुमार ग्रहाधिपति का परिवार ही यह अदृष्ट कृमि कोटी है। वे अशुच, अमङ्गल, भ्रष्टाचार, पुरुषो पर आक्रमण करके सताते हैं। इस व्याधि की चिकित्सा मे दोषशमनार्थ वस्ति, स्नेह स्वेदन, वात विध्वंशी, वात राक्षस, वातगजाकुश आदि का प्रयोग, ग्रहादि प्रकोप के दमनार्थ मन्त्रोच्छटन, जप, होम, रक्षा बन्धन, मङ्गल, पूजा, बली आदि कर्माचरण प्रधान हैं।

—श्री के० पी० वर्धन
श्रीरामकृष्ण आयुर्वेदाश्रम, गद्वाल (आन्ध्र प्रदेश)

शिशु पक्षाघात और उसका प्रतिकार

आचार्य डा० श्री श्यामदास "पीयूषपाणि"

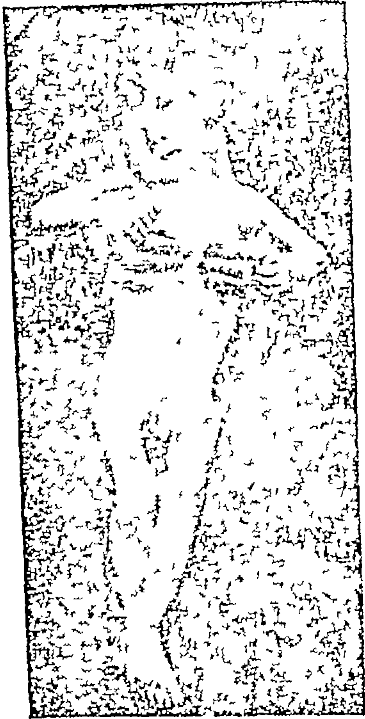
यह खास करके शिशुओं की मेरुमज्जा का विकार है। ६-७ माह की आयु से लेकर २-३ वर्ष वाले बच्चे ही इस रोग का शिकार हुआ करते हैं। इसमें मेरु मज्जा की सामने वाली शृङ्ग यानी 'एन्टीरियर कारनुआ' ही विशेष रूप से आक्रान्त हो जाती है।

सम्प्राप्ति—

इसकी उत्पत्ति का वास्तविक कारण आजतक अज्ञात सा ही है। ठण्ड लगना, सील व सर्दी वाले स्थान पर रहन सहन, मेरुदंड पर आघात लगना, दन्तोद्गमन काल मे विशेष विकार आदि कारण



जन्य, अथवा किसी आक्षेपोत्पादक उपसर्ग के कारण जन्य, आकस्मिक रूप से इतना कि चौबीस घन्टों मे शिशु पक्षाघात से ग्रसित हो सकता है। रोग के आक्रमण के साथ ही साथ ज्वर प्रायः ही १०० से १०२ या १०३ डिग्री तक हो जाता है। शरीर के किसी अङ्ग या प्रत्यङ्ग और कभी कभी शरीर के आधे हिस्से में या निम्नाग का सम्पूर्ण पक्षाघात उत्पन्न हो सकता है। पहिले पहल आक्रांत अङ्गपर कुछ न कुछ परिवर्तन दिखाई देता है परन्तु इस परिवर्तन के साथ ही साथ आक्रांत स्थान की मांस-पेशियां और तन्तु विधानों का अपचय घटने लगता है यानी यह कहिये सूख-सूख कर लकड़ी सी बन जाती है। इस दशा मे उस स्थान पर सूई या कांटा आदि से चुभाने पर भी रोगी को कोई पीड़ा नहीं होती है।



चित्र नं० १२६
बालक के दोनों पैर मारे गये हैं

आगे चलकर उस आक्रान्त स्थान की शीर्णता के कारण उसके आसपास के अवयवों पर भी बुरा प्रभाव पड़ने लगता है। आक्रान्त स्थान अगर खास करके हाथ पैर आदि होवे तो वह आकार में बक्रता व क्षुद्रता को प्राप्त होगा ही। इतना होने पर भी एक बात में हमें भरोसा नजर आता है कि यह जीवन घातक नही, जो दीर्घकाल पर्यन्त शिशु को विकलांग अवस्था में रहने के लिये मजबूर कर देता है।

पाश्चात्य विवेचन—अमेरिकी चिकित्सा-शास्त्री वर्ग के अथक चिन्तन व अनुसंधान के परिणाम से अब यह आशा बंधती सी नजर आ रही है कि शिशु पक्षाघात और उससे होने वाले विकृतांग जैसी विषम विभीषिका को उसकी रोग प्रतिरोधक क्षमता अर्थात 'इम्यूनिटी' बढ़ाकर रोका जा सकता है। इस आशय की आधारभूत यह खोज है जिससे पता चल गया कि शिशु पक्षाघात की आक्रमण स्थिति दो प्रकार की है। पहली स्थिति वह है जिसमे रोग का दूषित तत्व रक्तप्रवाह में वर्तमान रहता हुआ भी विशेष हानिकारक नहीं होता। परन्तु दूसरी स्थिति मे वह ज्ञान तन्तुओं मे सर्वत्र फैलकर भयानक रूप दे सकता है।

शिशु पक्षाघात की इन द्विविध स्थितियों के पता लगाने वाले जो दो व्यक्तियों को इसका श्रेय मिला है, उनमे से पहले व्यक्ति का नाम है डा० डोरोथी एम, होर्स्टमैन जो न्यूहेवट (कनेटिक) के. येल. मेडीकल कालिज के रोग निवारण विज्ञान के सहायक अध्यापक हैं। दूसरे डा० डेविड बोडियन हैं जो मेरीलैंड प्रान्त के बाल्टिमोर शहर मे जौन्स होफकिन्स विश्वविद्यालय के संक्रामक रोग विज्ञान के प्राध्यापक है।

इस रोग का संक्रमण खास करके नासामार्ग और मुखमार्ग द्वारा मानव व मानवेतर जीवधारियों मे हुआ करता है। यह एक प्रकार का अणु विष है। प्रारम्भिक परीक्षण के सिलसिले में उक्त अन्वेषकों ने चिम्पैंजी तथा अन्य समजातीय बन्दरों पर प्रयोग करके आखिर उसका परिणाम निर्णय किया। बन्दरो के भोजन पदार्थ मे पूर्वोक्त "अणु-विष" मिलाकर उसकी प्रतिक्रिया आदि पर विशेष गवेषणा करके उन्होने यह बताया कि रोग लक्षण या कोई भी विकृति तब तक दिखाई



नहीं देती है जब तक कि रक्तप्रवाह में "दूषिततत्व" मौजूद रहता हो। परीक्षण प्रमाण से उन्होंने यह सिद्ध करके दिखाया कि रक्तप्रवाह में 'अणुविष' के रहते हुए भी रोग लक्षण सामान्यतया प्रगटित नहीं हुये और अगर हुए भी तो बहुत ही कम परिमाण मे प्रतीत हुए। यह रोग की पहली स्थिति थी। तीन से सात दिन तक रक्तप्रवाह मे परिभ्रमण करने के पश्चात् ये सैलानी कुदरतजादी 'अणुविष' अपने मन माफिक मेरुदन्ड यानी पीठ के बांस नामक स्थान तथा चैतन्य विधायिनी स्नायु तथा तन्तु जालों मे प्रविष्ट हो, न जाने कैसे और क्या गुल खिलाती हैं जिसके परिणाम मे पक्षाघात रूपी पर्दा और ओढ़नी ओढ़कर बेचारे बच्चों को अपनी अंधेरी गोद मे समेट लेती है। यह है दूसरी स्थिति।

परीक्षण के सिलसिले मे एक उल्लेखनीय खोज यह हुई कि रोग की पहिली स्थिति मे जबकि अणु-विष रक्तप्रवाह मे मौजूद रहते हुए जब उन पर काबू पाने के लिये रोग प्रतिरोधक जीवाणुओं (प्रतिकायों) को जमाने की ताकत रक्त मे मौजूद थी तो रोगाणु चेतन तन्तु समूह मे प्रविष्ट नहीं हुए और किसी प्रकार की विकृति या अङ्ग-भङ्ग [विकलागता] नहीं आई।

चूंकि शिशु पक्षाघात की पहिली स्थिति मे मामूली से मामूली अथवा विशेष कोई भी लक्षण नहीं कहने मे आया है। इसलिये इससे पहले यह नहीं मालूम था कि ये अणु विष रक्तप्रवाह में भी प्रविष्ट हो सकते हैं। इस पर दोनों अन्वेषकों ने यह प्रमाणित किया कि प्रारभिक दशा मे ये अणुविष रक्त के अन्दर बहुतायत से रहते हैं और रक्त में उन रोगाणुओं को निष्क्रिय करने के लिये अपेक्षित प्रतिकार्योत्पादक प्रतिक्रिया नहीं आ जाती है तो जानवरों मे वैक्सीन (Vaccine) प्रविष्ट कराकर उन अणुविषों को ज्ञान तन्तु के अन्दर पहुंचने व फैलने से रोका जा सकता है। तथा कथित वैक्सिन बनाने के लिए कुछ अश मे उस रोगमुक्त शिशु के शोणित का होना अत्यावश्यक है, जो हाल ही में शिशु-पक्षाघात से आरोग्य प्राप्त कर चुका हो। फिर यह भी भलीभांति जांच कर लेना चाहिए कि उस रक्त के अन्दर प्रतिरोधक शक्ति पूर्णतया मौजूद है।

शिशु पक्षाघात और उसके परिणाम—

विकृताङ्ग का प्रतिकार—

पूर्वोक्त प्रयोग-परीक्षणो के आधार पर वैज्ञानिकों में यह विश्वास होने लगा है कि मानव-रक्त से बनाई गई यह वैक्सिन यदि सामान्य मान दंड मे सहन-शक्ति के अनुकूल प्रतिक्रिया से सम्पूर्ण स्वतन्त्र तरीके से बन सके तो आज के युग में 'पोलिओ' से ग्रसित शिशुओं को जीवन दान देना आसान हो जायगा।

उन दोनों अन्वेषको की रिपोर्ट मे कहा गया है, कि पक्षाघात के प्रारम्भ मे होनेवाला मेरु-मज्जा का प्रदाह यानी "पोलिओ न्यूराइटीस" को उस रोग-प्रतिरोधक प्रयोग द्वारा रोका जा सकता है।

अमेरिका में एक निष्काम सेवा के आधार पर बनी हुई राष्ट्रीय अनुसंधान संस्था है जिसका ध्येय केवल चिकित्सा सम्बन्धी शोध संस्कार पर सेवा करना है। यह संस्था दीर्घ समय से मानव रक्त मे उपलब्ध "गामा ग्लोव्यूलीन (*Gama globulin*) तत्व के बड़े पैमाने पर प्रयोग परीक्षण कार्य में सलग्न है। एक से छ वर्ष के बच्चों पर इसका सबसे पहला परीक्षण टेक्सास प्रान्त स्थित हौस्टन नगर मे जून सन् १६५२ ई० को किया गया था। ७५००० शिशुओं में से ३७५०० को "गामाग्लोव्यूलीन के टीके लगाये गये और शेष शिशुओं को गामाग्लोव्यूलीन से मिलती जुलती जिलेटीन से बने हुए इञ्जेक्शन दिये गये थे।

छ माह के बाद जांच पड़ताल से पता लगाया गया कि गामाग्लोव्यूलीन से बने टीके के लगाने से पोलिओ जनित उपसर्ग खासकर के विकलाङ्गता के नामोनिशान मिटाने मे कोई कमी तो नहीं रही। एक से छ. वर्ष की आयु वाले बच्चों को इसीलिए चुना



गया था क्योंकि पोलियों के ५० प्रतिशत रोगी इसी आयु के होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि पोलिओ के वाहन व विस्तारक इन अणु विषों के प्रभाव से उत्पन्न उपसर्ग जो ज्ञान तन्तु का अपचय कहलाता है का कोई महत्वपूर्ण खास प्रतिकार नहीं है।

इसलिए विषाणुओं को मेरुदण्ड व मस्तिष्क ज्ञान तन्तुओं तक पहुचाने से पहले ही रोक-थाम की जरूरत होती है। उन दोनों अन्वेषकों का कथन है कि ऐसे भयानक परिणाम के उत्पन्न करने वाले रोग के शिकार: खास करके छोटे छोटे बाल गोपालों को उसके काले करतूतों से स्वतन्त्र रखने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। क्योंकि बहुत से व्यक्ति उस समय जबकि यह बीमारी निरापद स्थिति मे रहती है प्रतिक्रिया शक्तियों के भंडार बन जाते हैं।

डाक्टर बोडियन की कुछ वर्ष से पहले यह भविष्यवाणी थी कि जहा तक सम्भव हो सकेगा एक ऐसे रोग प्रतिरोधक व आरोग्यदायक टीके का निर्माण किया जायगा जो किसी भी व्यक्ति के रक्त मे प्रविष्ट होकर रोग प्रतिकारात्मक शक्ति के उत्पन्न करते हुए पोलिओ और उससे होने वाले उपसर्गों का प्रतिकार सम्भव बना देगा।

पहले ही बताया गया है कि इस रोग का प्रमुख कारण अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुबिष है जो नासा मार्ग और मुख-मार्ग द्वारा शरीर के बाहर प्रसारित होता है।

मक्खियों द्वारा भी यह रोग तेज रफ्तार से फैल जाता है

लक्षण--

प्रारम्भिक स्थिति मे ज्वर के साथ सिर: पीडा, नाक का बहना तथा कभी कभी नाक में से खून आना और गर्दन मे पीड़ा यन्त्रणा होना देखने में आया है।

रोग का असर अच्छी तरह से हो जाने के बाद ये लक्षण दिखाई देते हैं। शरीर के किसी भी अवयव में खास करके टांगों में पक्षाघात हो जाना अवश्यम्भावी है। ऐसी हालत में बच्चे बहुत बेचैन रहते हैं। नींद कतई न आवे। इसी हालत मे अधिक समय व्यतीत होने पर बच्चे का जीवन खतरे में पड़ जाता है, अचानक मृत्यु भी हो सकती है।

प्रतिषेधक उपाय—

(१) बच्चों मे इस रोग का होना समझ मे आते ही इसकी सूचना सबसे समीप वाले राजकीय चिकित्सालय को भेजना अथवा निकटस्थ नगरपालिका के अधिकारी को किम्वा जन स्वास्थ्य विभाग से सीधा सम्पर्क करने की भरकस कोशिश करनी चाहिए।

(२) यदि रोगी को घर पर ही रखना अभिप्रेत हो तो उसे तीन सप्ताह पर्यन्त स्वच्छ हवादार कमरे में रखना जरूरी है। ऐसे रोग ग्रस्त बच्चे के सम्पर्क मे कोई भी बच्चा आ न सके इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। वयस्क व्यक्तियों को भी जहा तक हो सके उस रोगी के सम्पर्क से दूर रहना चाहिये।

(३) यदि सम्भव हो तो रोग का पता लगते ही फौरन ही किसी विद्वान चिकित्सक के आदेशानुसार चिकित्सा सम्बन्धी व्यवस्था करना अत्यावश्यक है।

(४) रोगी के मल-मूत्र, कफादि तथा जूठे बर्तनों और व्यवहृत वस्त्रादि पर फिनाईल, डी. डी. टी. अथवा ऐसी ही जीवाणुनाशक औषधि का घोल छिड़क देना जरूरी है ताकि मक्खियों और जन्तुओं द्वारा इसका पुन संक्रमण न हो जावे। पर्याप्त परिमाण मे इन औषधियों के घोल व बुर्की का प्रयोग रोगी के इर्द-गिर्द करना चाहिए।

(५) रोगी के काम मे आने वाली सारी वस्तुओं जैसे बर्तन, चम्मच, थाली, तश्तरी, लोटा आदि अच्छी तरह से साफ करके धो लेने के बाद १५-२०

मिनट खौलते पानी मे डूबो कर रखे ।

(६) रोगी की सुश्रुषा करने वाले तथा उसके घर वालों को इस रोग के संक्रमण से बचाव का अच्छा तरीका यह है कि पोटाशियम परमैंगनेट के दाने या नमक पानी मे डालकर उस पानी से दिन-रात में कई बार कुल्ली करें। या "डेटोल" अथवा "इलेक्ट्रोलाइटीक क्लोरीन" किम्वा ऐसी औषधियों के घोल से कुल्ली करनी चाहिए।

(७) रसोई घर वा भंडार की सारी चीजों को मक्खियों से अछूते वचाकर रखने की कोशिश करनी चाहिए । मिठाई आदि बाजारू चीजों का इस्तेमाल करना ऐसी हालत में मानो मौत को दावत देना है । क्योंकि बाजारू चीजों पर मक्खियों का छत्ता सा बन जाता हैं। और उसके ऊपर धूल-मिट्टी और गर्द भी इकट्ठी होती हैं।

(८) दुर्भाग्यबश किसी के घर पर इस रोग का हमला हुआ हो, तो समस्त परिवार को ही औटा हुआ पानी पीना लाजमी है ।

(९) बच्चों को नदी, तालाब, पोखर, झील और ऐसे ही जलाशय मे नहाने के लिए मना ही कर देना चाहिये।

(१०) ज्यादा भीड़-भाड़ व जमघट होने वाली जगह जैसे सिनेमा, क्लब, घुड़दौड़, तथा स्वांग-तमाशा आदि देखने से बच्चों को नियन्त्रण मे रक्खा जाय ।

(११) जहा तक सम्भव हो, अधिक से अधिक समय पर्यन्त प्रकाश व वायु युक्त स्थान ही बच्चों के लिए जुटाना चाहिये ।

(१२) ऐसा कोई भी कार्य क्यों न हो जिससे थकावट मालूम दे, करना छोड़ दीजिए ।

(२३) ज्यादा गर्मी से आकर तत्काल ही ठण्डा पानी पीना और नहाना ये दोनों ही गलत तरीके हैं।

शिशु पक्षाघात के प्रतिकारेच्छु प्रत्येक व्यक्ति को उपरोक्त बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए ।

—आचार्य डा० श्री श्यामदास पीयूषपाणि
सर्वोदय सेवाश्रम औषधालय,
दौगवा (बुलन्दशहर)



शिशु पक्षाघात पर सफल प्रयोग

१–काथ–सौंठ १ तोला, सम्भालू के पत्र १ तो० करंज की छाल १ तोला ।

इन तीनों को मिलाकर जौकुट कर ४८ तोले जल में काथ कर जल ६ तोला शेष रहने पर निथार कर शीशी मे भरलें।

मात्रा—३ माशे से १ तोला तक अवस्थानुसार

उपयोग–प्रतिदिन २-३ बार आवश्यकतानुसार सेवन कराने से बालकों को होने वाले आक्षेपक वात में बहुत लाभ करता है ।

२–रसौषधि—वात गजांकुश रस २ भाग, शीतांशु रस २ भाग, ताम्र भस्म १ भाग ।

इन तीनों को एकत्र पीस कर शीशी में रखलें ।

मात्रा—आधी रत्ती से १ रत्ती अवस्थानुसार शहद के साथ ।

सेवन विधि–आवश्यकतानुसार दिन में २-३ बार। उपरोक्त काथ के अनुपान से देने से शीघ्र और आशातीत लाभ होता है ।

–श्री टी. लक्ष्मय्या, श्री वैंक्टेश्वर आयुर्वेद
डिस्पैन्सरी, ईस्माइलखा पेट
(मेडक) आंध्र



बालकों की यूका और लिचा

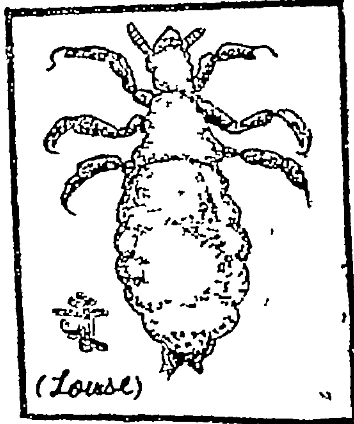
श्रीमती सावित्री देवी रावत शास्त्री आयुर्वेद रत्न



यूका व लिचा (जूं) व लीख से शायद ही कोई व्यक्ति अपरिचित हो, ये अत्यन्त क्षोभकारक, कष्ट-दायक एवं रोगोत्पादक सूक्ष्म जीव हैं। इनकी उत्पत्ति, प्रसार, जीवन चक्र, रोगोत्पादकत्व और चिकित्सा जिस प्रकार वयस्क व्यक्तियों में होती है उसी प्रकार शिशुओं मे भी जू व लीख की उत्पत्ति आदि होती है।

यूका व लिचा के लक्षण -

यूका (जूं) एक प्राणि शरीर जीवि सूक्ष्म कृमि है और लिचा (लीख) जूं के अण्डे होते हैं। इसकी ६ टांगें, और रोंदार दो स्पर्शिकायें आगे होती हैं जूं के पैरों के अन्तिम भाग पर पञ्जे व नाखून होते हैं जिनके सहारे यह: बालों को अच्छी तरह पकड़ लेती हैं। इसके मुख में रक्त चूषण नलिका होती है जिससे सूक्ष्म छिद्र बनाकर शरीर से रक्त चूस लेती है।



चित्र नं० १२७]

लिचा (जूं अण्डे)-

स्त्री यूका प्रतिदिन १०-१२ अण्डे देती है। इस प्रकार जूं अपने ६ सप्ताह के जीवन काल में लग-भग ३०० अण्डे देती हैं। ये अण्डे बालों में चिपके रहते हैं। ये ही अण्डे (लीखे) ८-१० दिन में बच्चे वन जाते हैं। और अपनी प्रकृति प्रदत्त रक्त चूषण क्रिया को सरलता से प्रारम्भ कर देते हैं। यही जूं और लीख का जीवन चक्र है। इसका सूक्ष्म एव तात्विक अध्ययन प्राणिशास्त्रज्ञों के लिये अधिक उपयोगीहै। पाठकों के लिये संक्षिप्त परिचय ही पर्याप्त है।

यूका के साधारण भेद—

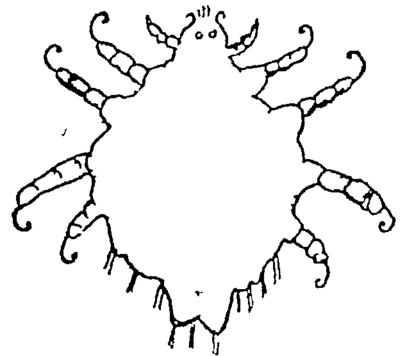
१—शिर की या केशों की जूएं।

२—शरीर की जूएं।

३—कपडे की जूएं।

शिर की जूएं तथा अन्य जूएं—

इनकी उत्पत्ति का प्रमुख कारण शारीरिक मलों की अभिवृद्धि है। स्वच्छता का अभाव, तथा किसी दूसरे के वस्त्र व शरीर के संसर्ग से भी यूकायें चढ़ जाती हैं और अपनी सन्तति को वढा देती हैं। इसके रंग भेद व आकृति भेद भी विभिन्न देशों व प्रान्तों मे मिलते हैं। आदमी के रग व अधिष्ठान भेद से भी जूं का रङ्ग बदल जाता है। अफ्रीका मे काली



चित्र नं० १२८—लिचा (लीख)

और चाइनीज में 'पीली जूं' प्राप्त होती हैं, भारत में काली भूरी व सफेद सभी प्रकार जूं पायी जाती हैं। काले बालों में काली तथा सफेद बालों में सफेद या भूरी जूं मिलती हैं। एक ही वस्त्र के निरन्तर पहनने, स्नान न करने, पसीना विशेष आने से और यूका युक्त दूसरे के पकड़े पहनने से एवं बाह्य मल की प्रधानता से यूकाओं की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि होती है। आयुर्वेद शास्त्र माधवनिदान तथा योग-रत्नाकर मे भी निम्न प्रकार से कृमियों का वर्णन मिलता है—

कृमयस्तु द्विधा प्रोक्ताः बाह्याभ्यन्तर भेदतः।

बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः तिल प्रमाण संस्थान वर्णाः केशाम्बराश्रया' बहु पादाश्च सूक्ष्माश्च ' काः लिक्षाश्च नामत.।

कृमियों के विषय में चरक संहिता के विमान स्थान में विशद वर्णन मिलता है—

तत्र बाह्ये मले जातान् मलजान् संचक्ष्महे, तेषांसमुत्थानं मृजावर्जनम् स्थानं केश श्मश्रुलोम पक्ष्म वासांसि, संस्थानम्–अणवस्तिलाकृतयो बहुपादाः वर्णः कृष्णः शुक्लश्च नामानि यूकाः पिपीलिकाश्च प्रभावः कण्डूजननं कोठ पिडकाभिनिर्वर्तनं च, चिकित्सितं त्वेषां अपकर्षणं मलोपघातो मलकराणाञ्च भावानामनुपसेवनम्, इति

—चरक विमान ७-१०

विंशति क्रिमिजातयः यूकाः पिपीलिकाश्च।

—चरकसंहिता सूत्र १९-१४

महर्षि ने कितने सुन्दर शब्दों में बाह्य कृमियों का वर्णन किया है और उनकी उत्पत्ति का प्रमुख कारण मलिनता (गन्दगी) को बताया है। इनका निवास स्थान केश, दाढ़ी, मूंछ, रोम, पलक और कपड़े बताये हैं। आकृति-तिल के बराबर, सूक्ष्म, बहुत पैर वाले काले व सफेद रंग के कृमि जूं (यूका) और पिपीलिका होते हैं। इनके काटने का प्रभाव खुजली, चकत्ते, फुंसी आदि की उत्पत्ति है और इनकी चिकित्सा बारीक कंघी आदि से निकालना या औषधि प्रयोग से निस्सारण, मलों का नाश और मल के उत्पादक तत्वों का परिवर्जन है। यही चिकित्सा आचार्य ने संक्षेप से प्रतिपादित की है। पिपीलिका शब्द पर पुन. प्रकाश डाला जायगा। आचार्यों व ऋषियों का उक्त वर्णन सामान्यतया सबके लिये है अतएव दाढ़ी मूंछ का भी उल्लेख है शिशुओं के ये नहीं होतीं। यहा शिशुओं के बाह्य कृमियों का ही ग्रहण करना चाहिये।

यूका व लिक्षाओं से रोग–

यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि लिक्षा (लीख) जूं के अण्डे हैं और उन्हीं से जूं की उत्पत्ति होती है, अतएव इसका पृथक वर्णन न करके केवल जानकारी के लिये नामनिर्देश कर दिया है। सभी आचार्यवर्यों ने भी यूका का ही विस्तृत वर्णन किया है। इसी के वर्णन व चिकित्सा में लिक्षा का भी अन्तर्भाव हो जाता है अतः निदान आदि का पृथक वर्णन नहीं किया जायगा।

योग रत्नाकर में लिखा है—

द्विधा ते कोठ पिटिका कण्डू गण्डान् प्रकुर्वते।

अर्थात् ये दोनों प्रकार के कृमि ददोरे, फुंसी खुजली और गलगण्ड आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं।

इनके अतिरिक्त दाद, छाजन, मोतीझरा, ज्वर, रक्त विकार आदि रोगों को जूएं उत्पन्न कर देती हैं तथा इन रोगों के प्रसार में सहायक भी होती हैं।

कपड़ों की व शरीर की जूएं शिर की जूंओं की अपेक्षा बड़ी व तेज भागने वाली होती हैं। इनका निवास कपड़ों की सिलाई व जोड़ों पर होता है। वहीं से उतर कर ये बालकों का रक्त चूस लेती हैं और पुनः उन्हीं स्थानों पर छिप जाती हैं। इनका आकार प्रकार व वर्ण मनुष्य के रंग रूप व वस्त्रों के अनुरूप होता है। इनसे भी रक्त रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

जूओं का रोगोत्पादन क्रम—

जूं जब काटती है तो रक्त चूसने के साथ साथ रोगी के दोष भी जूं के पेट में चले जाते हैं। जब वह दूसरे व्यक्ति को काटती है तो उसके पैर और पेट मे चिपके कीटाणु या दोष काटने के स्थान पर लग जाते हैं और अपना प्रभाव करते हैं।

कभी कभी कटि स्थान को खुजलाने से जूं मर जाती है और उसके पेट मे विद्यमान रोग के दोष दंश स्थान एवं घृष्ट स्थान पर प्रभावित हो जाते हैं या शरीर के भिन्न भागों में आश्लिष्ट कीटाणु रोगोत्पादन में समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार जूयें नाना प्रकार के रोगों को फैलाती हैं।

जूओं और लीखों की चिकित्सा–

शिर की जूं और लीखों के लिए—



[१] रीठा के छिलकों को पानी मे भिगो और उस पानी या झाग से शिर को धोयें। यह पानी आखो मे नहीं जाना चाहिये।

[२] शिकाकाई की पत्तियां, नीम की पत्तियां, इन्द्रायण के फल का गूदा, वन्दाल फल, त्रिफला, अकोल की छाल, आड़ की पत्तियां और अपसंतीन इनमे से किसी एक को लेकर पानी मे भिगो दे। १०-१२ घण्टे पानी मे भीगने पर मसल कर छान लें। इस पानी से बालो को रगड़कर धोने से जूं और लीख समाप्त हो जाती हैं। सर्दी के दिनों मे पानी गरम कर लेना चाहिये। आखों और मुह मे पानी न जाय नहीं तो हानि हो सकती है।

[३] कच्चा पारा (अशुद्ध) १ तोला, सुहागा ६ माशे इनको सरसों के तैल, बैसलीन या घृत मे मिलाकर बालों में मर्दन करे और ऊपर से कपड़ा बांधे। इससे सभी बाह्य कृमि मर जाते हैं या बेहोश हो जाते है।

[४] लिकिड पैराफीन का प्रयोग (लगाने के लिये] उत्तम है। तरे का तथा राई का तैल भी अन्य तैलों मे मिलाकर सावधानी से प्रयोग किया जा सकता है।

[५] छोटे बालकों के लिये सौम्य औषधियों का प्रयोग हितावह है। तीक्ष्ण दवाइया शिशुओं को सहन नहीं हो सकतीं। नीबू व संतरे के छिलकों का तैल भी अन्य तैलों में मिलाकर लगायें।

[६] पारद गन्धक की कज्जली घृत मे मिलाकर लगाने से भी जूयें मर जाती हैं।

[७] शुद्ध जल से स्नान—कार्बोलिक साबुन का प्रयोग, तैल कपूर मर्दन, शुद्ध वस्त्रों का परिधान आदि पुन जूओं को नहीं होने देते।

[८] शरीरज कृमियों पर भी उक्त दवाइयों का मर्दन करना चाहिये। इससे चर्म जूं, भैंसा जूं, किल्लिया आदि नष्ट हो जाती हैं।

[९] बालकों मे उत्पन्न जूओ और लीखों के लिये नीम, चूना, सोडा, कार्बोलिक एसिड, फिनैल, ब्लीचिंग पाउडर, डी. डी. टी. पाउडर, पोटेशियम परमैंग्नेट आदि दवाइया उचित मात्रा में पानी में उबालकर कपड़े भिगो दे। इनका प्रयोग किसी जानकार मनुष्य की सम्मति से करना चाहिये। कभी कभी उक्त चीजे घातक सिद्ध हुई हैं।

[१०] यूका नाशक शास्त्रीय प्रयोग—

पेपयेद्दारनालेन नाली घस्येन फलानि च।
यूकालिक्षा प्रशान्त्यथ दद्याल्लेपन्तु मस्तके ॥१॥
रसेन्द्रेण समायुक्तो रसोधुस्तूर पत्रजः।
ताम्बूलपत्रजोवापि, लेपाद् यूका विनाशन ॥२॥
स विडङ्ग गन्धक शिलासिन्ध
सुरभी जलेन कटु तैलम्।
आजन्म नयति नाश
लिक्षासहिता यूकाश्च ॥ ३ ॥
धुस्तूर पत्र कल्केन तद्रसेन च साधित तैलम्।
अभ्यङ्गमात्रेण यूका नाशयति ध्रुवम् ॥४॥

कूठ, कलिहारी, विडङ्ग, खस, राल, बिरोजा, अर्जुन इनका चूर्ण बनाकर धूप देने से यूका लिक्षा आदि नष्ट होते हैं।

पारे को धतूरे के पत्तो के रस मे घोटकर कपड़ा तर कर बाधने से जूं और लीख नष्ट होते हैं।

चित्रकमूल, दन्तीमूल, कडुई तोरई और कडुई तुम्बी को कड़ुए तैल मे पकाकर तैल को जूओं पर पर लगाने से जूये नष्ट हो जाते है।

कण्डे की राख मलने से तथा हवन (यज्ञ) की राख मलने से भी जूं और लीखे मर जाती हैं।

—श्रीमती सावित्री देवी रावत वैद्या
साहित्य शास्त्री, आयुर्वेदरत्न, विद्यावाचस्पति
इन्द्र औषधालय, नाई की मण्डी, आगरा।



शिर के जूं में सफल प्रयोग

बीज सीताफल १ तोला, कालीमिर्च ६ माशे, धतूरे के पत्तों का रस १ छटांक।

विधि—इन सबको कूट धतूरे के पत्तों के रस में मिलाकर लेप करने से जूं, लीख मर जाते हैं।

—श्रीमती शारदा देवी सलेथू
रायबरेली

न्यूमोनियां [Pneumonia]

श्री राजपाल सिंह M. I. M. S.

फेफड़े की शोथ को न्यूमोनियां (Pneumonia) कहते हैं। इसके कारण कई प्रकार के कृमि (जीवाणु) हो सकते हैं—

[१] न्यूमोकोक्स (Pneumococus)
[२] ट्यूबर्कुलस वैसीलस
[३] वैसीलस पेस्टिस
[४] टाईफाइड वैसीलस

न्यूमोकोकल न्यूमोनियां -

न्यूमोकोकस—यह कोकस श्रेणी का कृमि है। यह ग्राम पोजीटिव है और मुख तथा गले में निवास करता है तथा श्वास प्रणाली के ऊपर के भाग में रहता है। ये निर्बल शरीर को रोग का शिकार बनाते हैं। ये कृमि खांसने, थूकने व बोलने पर स्राव के साथ बाहर निकलते हैं और ज्यादा देर तक जिन्दा नहीं रहते। यह कृमि बोलने और खांसने पर शीघ्र ही दूसरे व्यक्ति में निम्न प्रकार से प्रसार करता है—

[१] बलगम की फवार द्वारा
[२] मक्खियां द्वारा
[३] कपड़ो के छूने से एक रोगी से अन्य में प्रसार होता है।

सम्प्राप्ति—

ये कृमि फुफ्फुस में पहुंचकर दोनों की शोथ या एक ही वायु प्रणाली (Bronchial) अथवा वायुकोप (Vesicle) में शोथ पैदा करते हैं।

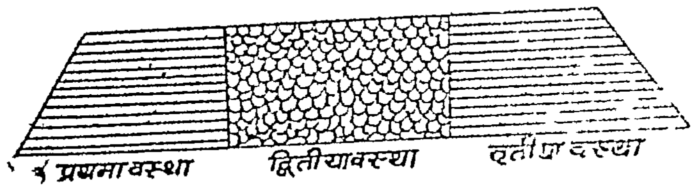
[१] वायुकोप की शोथ को लोवर न्यूमोनियां (Lobar pneumonia) कहते हैं।

[२] वायु प्रणाली शोथ को ब्रांको न्यूमोनिया (Broncho-pneumonia) कहते हैं।

लोवर न्यूमोनियां

इसकी तीन अवस्थायें होती है—

[१] प्रथमावस्था—इसमे शोथ पतला [अल्प] होता है इसे शोथावस्था कहते है। [Exudation or congestive stage]



चित्र नं० १२६

[२] द्वितीयावस्था—जब शोथ जम जाये इसे घनीभूत अवस्था [Stage of consolidation] कहते हैं।

[३] तृतीयावस्था—जब फिर पतला हो जाये तो इसे उपशमन द्रवावस्था [Stage of resolution] कहते हैं।

इस प्रकार सारे रोग की अवधि ८ या ६ दिन की है। प्रथमावस्था की अवधि १ से १॥ दिन, द्वितीयावस्था की अवधि ७ से ८ दिन, तृतीयावस्था की अवधि १ से १॥ दिन।

यह शोथ फुफ्फुसावरण [Pleura] में फैलकर शोथ [Pleurisy] पैदा कर देता है जिससे पार्श्व-शूल पैदा हो जाता है।

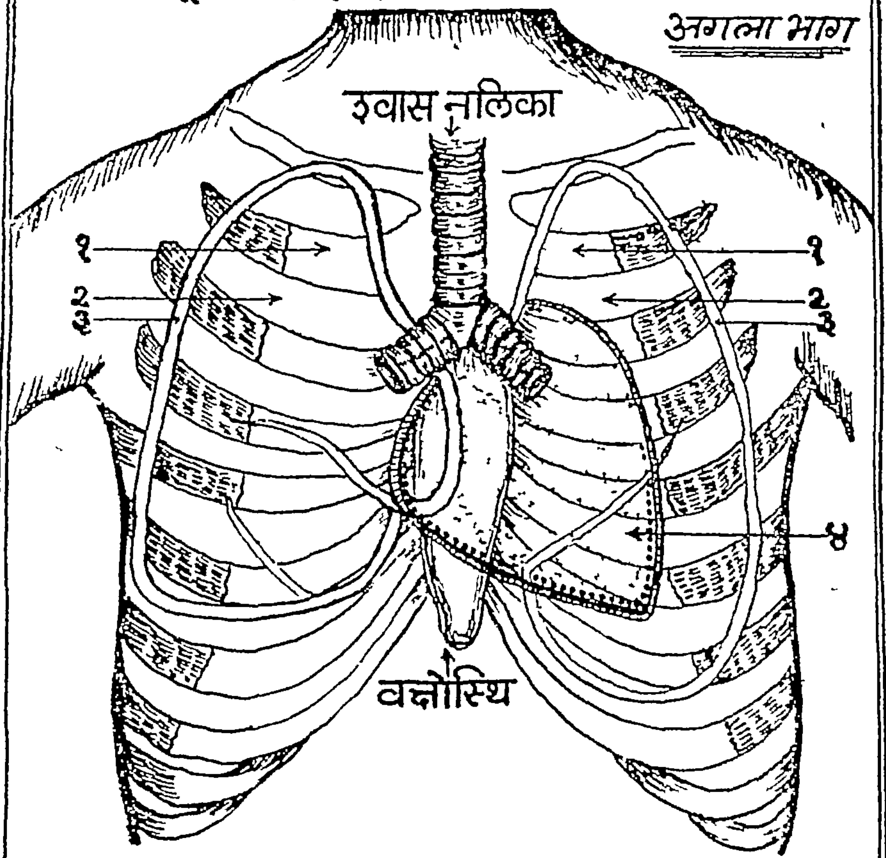
कभी कभी यह पूय के पड़ने से भयानक हो जाता है।

उपद्रव -

(१) द्वितीयावस्था में कभी कभी ठोस ही रह जाता है।

[२] तृतीयावस्था मे—जब शोथ स्राव बिलीन न हो तो उस अवस्था को चिरकालिक उपशमनावस्था [Delayed resolution] कहते हैं।

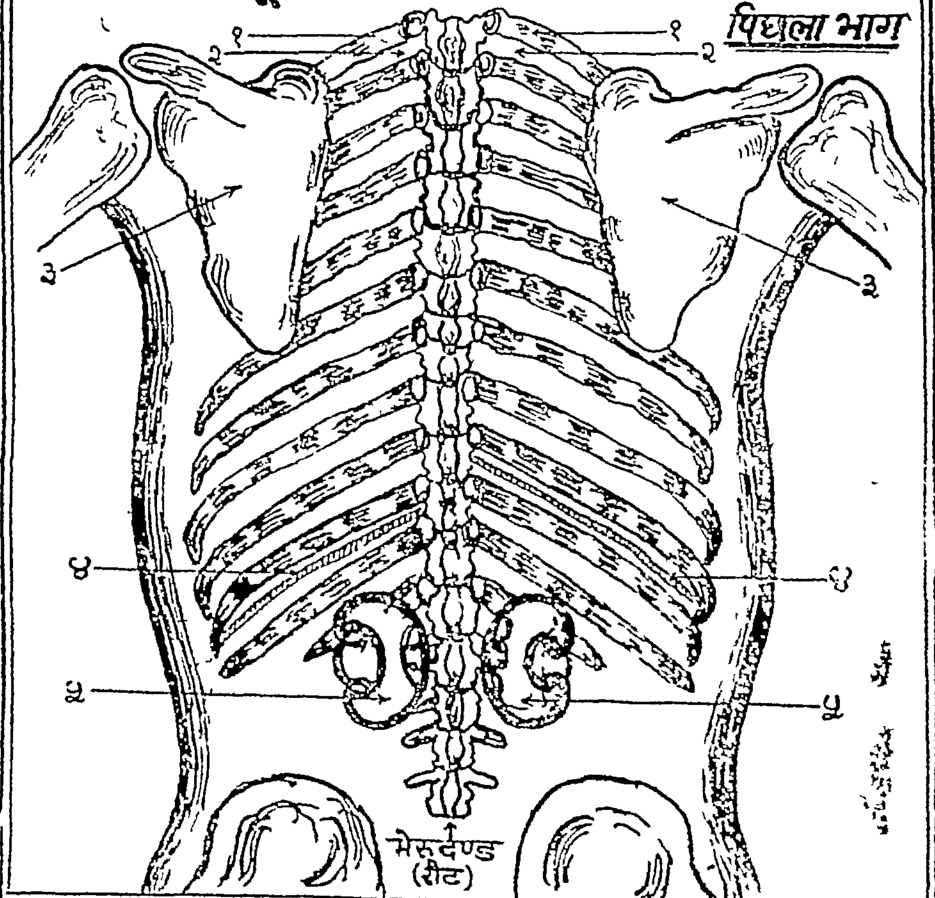
[३] कभी कभी फेफड़े के तन्तु नष्ट हो जाये तो इस अवस्था को फुफ्फुसीय कोथ [Pulmonary gangreen] कहते है।





चित्र नं. १३०

१-पहली पसली। २-खाली मास (दो पसलियों के बीच का स्थान)। ३-फुफ्फुस की सीमा । ४-हृदय की सीमा



चित्र नं. १३१

१-पहली पसली। २-खाली मास (दो पसलियों के बीच का स्थान)। ३-स्कन्धास्थि। ४-फुफ्फुस की सीमा। ५-वृक्क।

[४] कभी कभी स्राव मे पूयोत्पत्ति हो जाती है। इस अवस्था को फुफ्फुसीय विद्रधि [Pulmonary abscess] कहते हैं।

[५] न्यूमोकोकस विष पैदा करते हैं। इसका विष इन्डोटोक्सीन [Endotoxin] है। इससे विषसंचार [विषमयता] की अवस्था [Toxaemia] पैदा हो जाती है। यह विष मस्तिष्क तथा हृदय पर ज्यादा प्रभाव डालता है। अतः उन्माद अथवा हृदयावरोध [Dilirium or heart failure] की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

[६] रक्त मे कृमि चले जाये तो जीवाणु विषता [Septicaemia] की अवस्था पैदा हो जाती है।

आक्रमण —

वसन्त व शिशिर ऋतु में अधिक तथा बच्चों पर ज्यादातर होता है।

काल [Incubation period]—७ से १० दिन का प्रायः रहता है।

सहायक कारण—

(१) जहां घनी आबादी होती है।

(२) सहसा ऋतु परिवर्तन, खुली वायु, सर्दी आदि।

(३) पहले किसी रोग के कारण दुर्बल हुआ शरीर।

लक्षण —

[१] रोग का आरंभ शीघ्रता से होता है। कुछ ही घंटों मे न्यूमोनिया पूरा होजाता है। कभी कभी शुरू में कम्पन होता है।

[२] वक्ष मे तीव्र वेदना—इसका कारण pleurisy होता है। शुष्क खांसी या पतला कफ खांसी के साथ आता है। रोगी निर्बल हो जाता है।

[३] पहले शोथ [Congestion] होने की वजह से खांसी शुष्क आती है।

[४] बाद में तुरन्त या देर से स्राव [Exudation] होने से खांसी में कफ आने लगता है।

[५] ज्वर तथा इसके साथ साथ अन्य लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं यथा भूख मर जाना, निद्रा न आना, मूत्र गाढ़ा, राशि कम और त्वचा गर्म हो जाती है।

१—दर्शन परीक्षा—

शय्या पर रोगी निढ़ाल पड़ा रहता है। चेहरे का रंग फीका, गालों पर कृत्रिम लालिमा अक्सर उसी ओर जिस ओर का फेफड़ा [affected] संक्रमित होता है। विशेषतया बच्चो मे इस तरह के लक्षण मिलते हैं। नाक का सिरा नीला सा हो जाता, श्वास काठिन्य व नथुने हिलते हैं। पसली चलती हैं।

वक्षगति—श्वासगति तेज किन्तु उथली [Superficial and rapid], रोग ग्रस्त भाग की ओर शरीर अधिक झुका हुआ।

२—स्पर्शन परीक्षा—

१. श्वास उथला

२. वक्ष को दबाने पर कठोरता

३. वाचिक लहरियां [Vocul fermitus] अधिक [बोलने पर वक्ष की कम्पन को हाथ द्वारा मालूम करना]।

४. अगर फुफ्फुसावरण शोथ भी साथ हो तो Pleurisy प्लूरा का friction भी अनुभव होगा।

३-ठेपन (Percussion) परीक्षा—

प्रथम मन्द [Dull], यदि सघंनन (Consolidation) है तो सम्पूर्ण बन्द (Featy dull) होगा। यदि तृतीयावस्था में भी मन्दता (Dull) हो तो न्यूमोनिया प्रायः नीचे के भाग (Lobe) में होता है। अतः इसका नाम Lobar pneumonia है। इसमें "डलनेस" निरन्तर रहती है।

ब्रांको न्यूमोनियां (Broncho pneumonia) में विभाजित मन्दता (Patchy dullnes] होती है, निरन्तर नहीं होती, क्योंकि यह वायु प्रणाली के निचले सिरों पर होती है।

४–श्रवण परीक्षा (Auscultation)—

श्वसनीय [Bronchial] शब्द सुनाई देगा. सबसे अधिक दूसरी अवस्था मे। यदि dullness बहुत ज्यादा हो तो शब्द बिलकुल सुनाई नहीं देगा।

अवास्तविक शब्द पैदा हो जाते हैं

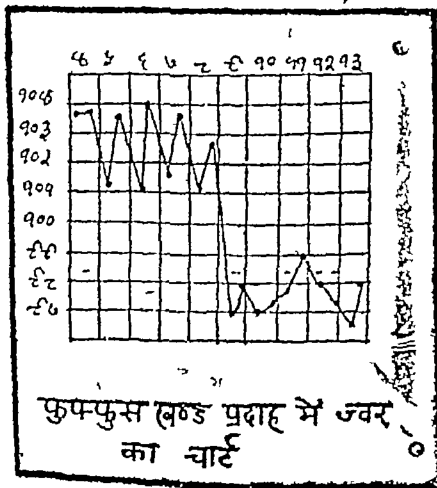
स्राव भरा रहने पर आवाज से द्रव मे बुलबुले पैदा हो जाते हैं जिन्हे स्निग्धध्वनि [Creptations] कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है– फाइन और कोर्स। न्यूमोनिया मे सूक्ष्मआर्द्र करकराहट [Fine criptation] होगी। जिसमें कोटर [Cavity] होती है वहां तीव्र करकराहट [criptation] होती है।

कर्कराहट प्रथम तथा तृतीयावस्था मे सुनाई देती है। द्वितीयावस्था मे नहीं, क्योंकि इसमे शोथ स्राव जम जाता है।

अगर रक्त परीक्षा करें तो श्वेताणु बढ़े हुये मिलेंगे।

रोगी की बलगम प्रथम तथा तृतीयावस्था मे पतली एवं द्वितीयावस्था मे इतनी गाढ़ी हो जाती हैं कि थूक नहीं सकता। कभी रक्तयुक्तष्ठीवन भी होता है।

रोगी को ज्वर रहता है।

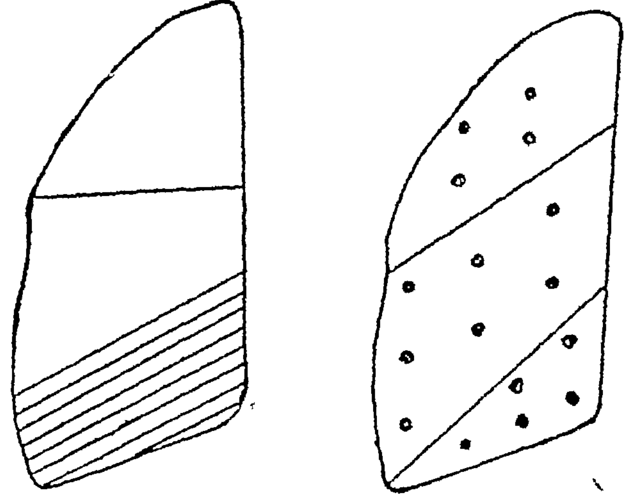


फुफ्फुस खण्ड प्रदाह में ज्वर का चार्ट

चित्र नं० १३२

अन्य लक्षण—

ज्वर सात दिन तक लगातार रहता है फिर आठवें रोज सहसा निम्न तथा निम्नतर होता जाता



चित्र नं० १३३

लोबर न्यूमोनियां रेखादार भाग में सघनन होगया है। | ब्रांको निमोनिया (बिन्दुदार भाग) संघनन रहित

है। कभी सात दिन के बीच सहसा उच्च हो जाता है। इसे तीव्र ज्वर (*Hyper pyrexia*) कहते हैं।

कभी कभी सात दिन के बीच मे गिर जाता है इसे शीताङ्गता (*Collaps*) कहते हैं।

कभी आठवे दिन सहसा ज्वर गिरने के बजाय धीरे धीरे कम तापक्रम पर आता है।

कभी कभी मस्तिष्क तथा हृदय सम्बन्धी लक्षण पैदा हो जाते हैं। रोगी ज्ञानरहित, मूर्च्छित तथा शिरः शूल युक्त हो जाता है। यह हृदय गति तीव्र, निर्बलता, नाड़ी काठिण्य कम, गति तीव्र तथा तापमान सहसा गिर जाता है। रोगी की मृत्यु प्रायः विषाक्तता (*Toxaemia*) से होती है।

ब्रांको न्यूमोनियां

कारण—

जो लोबर न्यूमोनियां के है। विशेषता यह है कि इसमे मिश्रित सक्रमण होता है। इसमे न्यूमो-

कोकस के अलावा स्ट्रेप्टोकोकस तथा स्टेफिइलोकोकस भी होते हैं। लोवर न्यूमोनियां प्राथमिक व्याधि है। ब्राङ्को न्यूमोनियां अनुगामी (*Secondary Disease*) है।

१—लोवर न्यूमोनियां में पास के वायु कोप सब संक्रमित होते हैं अतः पूरा भाग (*Lobe*) आक्रमित रहता है।

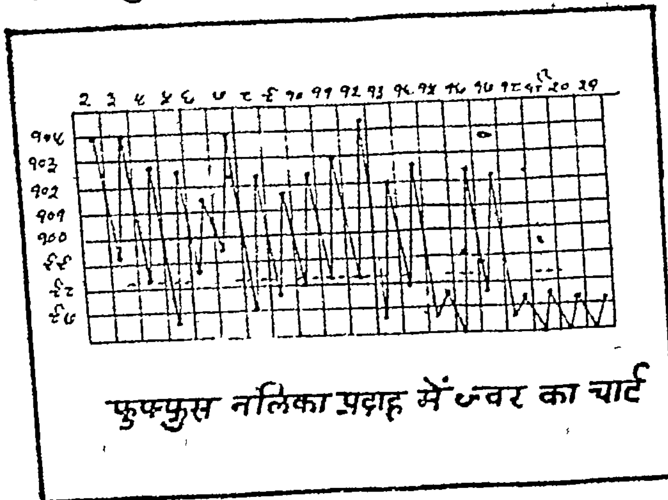
२—ब्राङ्को न्यूमोनियां में वायु प्रणालिया पृथक् २ आक्रात होती हैं अतः शोथ अलग अलग होती है। बीच बीच मे स्वस्थ स्थान होते हैं। बीच बीच में होने के कारण इसे खण्डीय (*Patchy*) न्यूमोनियां कहते हैं।

३—लोवर न्यूमोनियां मे शोथ स्राव-जम जाता है। किन्तु ब्राको न्यूमोनियां मे द्रव ही रहता है। क्योंकि शोथस्राव नहीं जमता। और खाली स्थान में थोड़ा शोथ रहता है।

लोवर न्यूमोनिया तीव्र है किन्तु उतना घातक नहीं जितना ब्राङ्को न्यूमोनियां, क्योंकि ब्राङ्को न्यूमोनिया मे पूरा फेफडा आक्रात रहता है।

लक्षण—

ब्राङ्को न्यूमोनियां के लक्षण लोवरन्यूमोनियां से मिलते जुलते हैं परन्तु भेद निम्नलिखित हैं—



फुफ्फुस नलिका प्रदाह में ज्वर का चार्ट

चित्र नं० १३४

लोवर में श्वास के अन्तःगमन वहिर्गमन दोनों में आर्द्र कर्कराहट बराबर होती है। ब्राङ्को न्यूमोनिया मे शब्द वायु कोपजन्य (*Vesicular*) होता है। तर्गमार्ग मे शोथ स्राव के कारण वायु गुजरती है तो शब्द होता है इसे ख (*Ronchi*) कहते है। यह वायु के आने जाने पर होता है। कर्कराहट की संख्या थोड़ी होती है।

ब्राङ्को न्यूमोनियां में कर्कराहट (*Criptations*) कभी भी लुप्त नहीं होती क्योंकि इसमें स्राव नहीं जमता। लोवर न्यूमोनियां की द्वितीयावस्था मे आर्द्र कर्कराहट लुप्त हो जाती है।

ब्राङ्को न्यूमोनियां में वाचिक लहरियां और वाचक प्रति स्वनन ज्यादा नहीं होती।

ठेपन करने से ब्राङ्को न्यूमोनियां मे थोड़े थोड़े स्थान पर मन्दता (*Dullness*) प्रतीत होती है।

ब्राङ्को न्यूमोनियां मे श्वास सम्बन्धी कठिनाई ज्यादा होती है लोवर में नहीं होती।

ब्राङ्को मे तापमान धीरे धीरे गिरता है।

लोवर में ज्वर निरन्तर रहने के बाद सहसा गिर जाता है।

लोवर तीव्र ज्यादा होता है किन्तु घातक नहीं होता। ब्रांको तीव्र नहीं किन्तु घातक होता है।

लोवर सहसा और कम्प (*Rigor*) युक्त होता है। ब्राको धीरे धीरे और खांसी से प्रारम्भ होता है।

आयुर्वेद मे न्यूमोनियां को कर्कटक सन्निपात के समान माना गया है जिसके लक्षण भावप्रकाश में निम्नलिखित हैं—

मध्यहीन प्रवृद्धै स्तु वातपित्त' कफश्च य'।
तेनरोगास्त एवोक्ता यथाद्दोषवलाश्रया ॥
अन्वर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तु' सशक्यते।
रक्तमालक्तकेनैव लक्ष्यते सुखमण्डलम् ॥
पित्तेनाकर्पित श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते।
इपुणेवाहत पार्श्वतुद्यते खन्यते हृदि ॥
प्रमीलक श्वास हिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने।
जिव्हा दग्धाखरस्पर्शा गल शूकैरिवावृत ॥
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत्।



अतीवश्लेष्मापूर्णाः शुष्कवक्त्रौष्ठ तालुक ॥
तन्द्रा निद्राऽतियोगार्त्तो हतवाङ निहतद्युति।
न रति लभते नित्य विपरीतानि चेच्छति ॥
आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः।
एष कर्कटको नाम्ना सन्निपात सुदारुणः ॥

अर्थात्—मध्यवात, हीन पित्त और प्रवृद्ध कफ इसके द्वारा जो सन्निपात होता है, उसमें दोषबलानुसार लक्षण तो प्रकट होते ही हैं साथ ही विशेष रूप से अन्तर्दाह होता है, बोलने में असमर्थता होती है, अलक्तक की भांति मुख रक्तवर्ण (*Flushed face*) हो जाता है। श्लेष्मा आसानी से नहीं निकलता, पसलियों में बाण के चुभने की भांति पीड़ा होती है। प्रलाप (*Delirium*) श्वास कष्ट, हिक्का बढ़ती जाती है। जिह्वा जली हुई के समान तथा स्पर्श में खुरदरी हो जाती है। गले में कांटे पड़जाते हैं। मल मूत्रादि के निकलने का ज्ञान नहीं रहता, कबूतर के समान अस्फुट शब्द गले से निकलने लगता है। कण्ठ कफ से भरा रहता है तथा मुख ओष्ठ तालु सूखने लगते हैं। तन्द्रा निद्रा के अति आने से दुखी रहता है, वाक्शक्ति और कांति नष्ट हो जाती है। किसी अवस्था में शान्ति नहीं मिलती, विपरीत चेष्टायें करता है, बार बार हाथ पैर को फैलाता है, थूक के साथ किञ्चिद् रक्तष्ठीवन होने लगता है। इन सब लक्षणों से युक्त इस भयंकर सन्निपात को कर्कटक कहते हैं। यह लक्षण रोग की तीव्रता की अवस्था के हैं।

चिकित्सा—

लोबर व ब्राको की शरीर रचना दृष्टि से विभिन्नता है। चिकित्सा की दृष्टि से दोनों समान हैं। अत. विभिन्नता का विशेष महत्व नहीं है।

रोगी को पूर्ण विश्राम दें। बच्चे को आराम से लिटा दें। भोजन का विशेष प्रबन्ध रक्खें। द्रव भोजन दें। हृदय को शांति देने के लिए द्राक्षा शर्करा दें। इसमें साथ ही बड़े बच्चों को थोड़ा नमक भी दे दें। जल पर्याप्त दें। पीने के लिये निम्न प्रयोग काम में लाया जाता है—

ग्लूकोज ४ ड्राम, सोडियमक्लोराइड ३० ग्रेन, उबाला हुआ जल २० औंस—इसे बोतल में भरकर रखलें तथा चम्मच से मुंह में डालते रहें। छोटे बच्चों को जिन्हें न्यूमोनिया के साथ अतिसार भी हो जाता है, अथवा उदर तनुत्व या अपचन हो तो १२ से २४ घण्टे तक बिना दुग्ध दिये उपरोक्त द्राक्षा लवण जल पर रक्खा जाये तो शीघ्र लाभ होता है।

विशेष चिकित्सा—

वक्ष को गर्म रक्खे जिससे शोथ न बढ़े और जमा शोथ स्राव पतला पड़ जाये। इसके लिये कैवलीन पुल्टिस लगायें जो बाजार में भिन्न नामों से मिलती है यथा-एन्टी कन्जेस्टीन, एन्टीफ्लाजेस्टिन, एन्टीफ्लेबिन आदि। छोटे बच्चों को सारी वक्ष पर एक ही कपड़ा न लगायें। प्लास्टर की तह बड़े बच्चों में मोटी और छोटे बच्चों में पतली तह लगावें। कपड़ा-लिंट, आयलकाथ, आयल सिल्क अथवा खद्दर का कपडा प्रयुक्त किया जा सकता है। यह प्रथम द्वितीय अवस्था में लाभदायक है। एक बार लगाया हुआ १२ घण्टे तक लाभ देता है। तृतीय अवस्था में तारपीन का तैल अच्छा है। यह उड़ जाता है अतः लिनिमेंट टेरिबिन्थ लगायें। इसे २-३ बार लगाये। इसके ऊपर सेक कर सकते हैं। यह छाले नहीं डालता। राई का प्लास्टर बच्चों में नहीं लगाना चाहिए।

औषधि चिकित्सा—

१—मुख्य चिकित्सा
२—लाक्षणिक चिकित्सा (*Symptomatic treatment*)।

मुख्य चिकित्सा—

[१] पेनिसिलीन-सोडियम और प्रोकेन पेनीसिलीन के रूप में प्राप्य है।

५ वर्ष की अवस्था के बच्चे में २ लाख यूनिट प्रोकेन पेनीसिलीन अथवा स्ट्रेप्टो पेनसिलीन इन्जे-

क्शन अवस्था और भार के अनुसार प्रयोग किया जा सकता है। पेनसिलीन के द्वारा सहिष्णु रोगियों को कोमाईसीन द्वारा लाभ पहुंचता है।

[२] सल्फा ट्रीटमेंट—पेनिसिलीन के साथ साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से रोग की तीव्रता को देखते हुए इस ग्रुप की औषधियों का प्रयोग रोग में कार्यकारी होता है। सल्फापाईराईडीन १ से २ गोली+सोडा-बाई कार्ब के साथ मिलाकर ५ वर्ष की अवस्था वाले शिशु को २४ घण्टे के अन्दर देना चाहिए। इसके अलावा सल्फाथायाजोल, सल्फा पाईराडीन, सल्फा-मेराजीन, थाईजामाईड इत्यादि में से कोई १ ग्राम की पूर्ण दिन मात्रा (*Initial dose*) के अनुसार ५ वर्ष के शिशुओं में प्रयोग किया जा सकता है।

पेनसिलीन और सल्फाग्रुप से फायदा न होने वाले जीवाणुसह्य (*resist*) रोग में जादुई जीवाणु नाशक (*Broad spectrum Antibiotics*) का प्रयोग किया जाता है। इन्हें तभी तक ही प्रयोग करें जब तक ज्वर रहता है और श्वेताणु की गिनती सामान्य नहीं हो जाती। ४८ से ७२ घण्टे के अन्दर ही ऐसी अवस्था आ जाती है। प्रमुख निम्न हैं—

(१) क्लोरटेट्रासाइक्लीन हाईड्रोक्लोराईड-आरियोमाइसीन (*Aureomycin*) के नाम से प्राप्त की जाती है।

(२) ओक्सीटेट्रासाईक्लीन हाईड्रोक्लोराईड-टेरामाईसीन (*Terramycin*) के नाम से प्राप्त की जाती है।

(३) टेट्रासाइक्लीन (*Tetracycline*)

(४) क्लोरमफेनीकोल(*Chloram-phenicol*) क्लोरोमाइसेटीन।

(५) इरिथ्रामाइसीन (इरिथ्रोसीन)

इन औषधियों को गोलिया कैप्सूल पाउडर तथा सीरप बने हुए आते है। ६-६ घण्टे उपरान्त अवस्था के अनुसार इनका प्रयोग विटामिन सी तथा ग्लूकोज के साथ किया जाता है। रोग की तीव्रता में ही इन औपधियों का प्रयोग करें।

युवक की मात्रा ०.२५ ग्राम प्रति ६ घंटे की साधारणतया होती है। बच्चों में अवस्था के अनुसार विभाजित कर सावधानीपूर्वक प्रयोग करनी चाहिए।

इन औषधियों को सल्फाडायजीन तथा सल्फा-ट्राईड के साथ मिक्चर बनाकर भी प्रयोग किया जा सकता है।

निद्रानाश और हृदय दुर्बलता में निम्न प्रयोग करें—

(१) पोटाश ब्रोमाईड १५ ग्रेन (युवा व्यक्ति के लिए), वाइनम इपीकाक १० बूंद, सोडा सेलिसिलास. १० ग्रेन, स्प्रिट एमोनिया एरोमेट २० बूंद, सीरप टोलू १ ड्राम, ब्रांडी १ ड्राम, लाईकर स्ट्रीक्नीन डाईहाईड्रोक्लोर ३ बूंद, जल १ औंस—इन्हें एकत्रित कर मिलाकर रक्खें। ५ वर्ष के बच्चे को इसमें से १ ड्राम मात्रा प्रतिचार घंटे उपरांत दें। साथ ही—

(२) सल्फाट्राइड १ गोली, विटामिन सी १ गोली, सोडाबाईकार्ब १० ग्रेन—इन्हें पाउडर कर ४ मात्राओं में विभक्त कर ४-४ घंटे उपरात दें।

(३) डाईक्रिस्टीसिन इञ्जेक्शन—अवस्थानुसार दें। इसके अतिरिक्त पल्मोट्रोन (सिपला), कोरो-सोल कीनाईन और कोरामीन के इञ्जेक्शन व्याधि को देखते हुए प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

मुख्य लक्षणों की चिकित्सा—

हृदय दुर्बलता—कोरामीन सर्वोत्तम है। ½ से १ c. c. इञ्जेक्शन मांसान्तर्गत २ या ३ बार दें। या लिकिड कोरामीन ४ बूंद जल में घोलकर ३-३ घंटे पीछे देते रहें। यदि सम्भव हो सके तो बड़े बच्चों में ग्लूकोज अथवा ग्लूसीविन [Glucose+Vita. C+Vita.B] का सिरागत इञ्जेक्शन लगा देना चाहिये। इसके साथ कोरामीन मिलाकर भी दे सकते हैं। हृदय बहुत निर्बल और शीताङ्ग की सम्भावना हो तो डिजीटेलिस स्ट्रीकनीन, कैम्फोर इन आयल, कैम्फोर इन ईथर, कैम्फोर इन मुस्क



के इञ्जेक्शन दें। जब तक कोई विकट अवस्था न आ जाये, किसी भी इञ्जेक्शन को ८ घंटे से पूर्व दोबारा न दें।

विषमयता [Toxaemia] की अवस्था मे आक्सीजन सुंघाने [Oxygen inhalation] की क्रिया कराई जाती है। शरीर से अच्छी तरह विष निकल जाये, इसके लिये बड़े बच्चो मे लवण द्रव शिरागत प्रयोग किया जाता है।

प्रलापावस्था—ज्वर की तीव्रता के साथ प्रलाप है तो बर्फ की थैली [Ice cap] सिर पर रखें।

पेरल्डीहाईड इञ्जेक्शन १ c. c. की मात्रा मे मासान्तर्गत दें। यदि लाभ न हो तो फिर दुबारा दें। अथवा—

बारबिट्यूरेट्स में फेनाबारबीटोन और सोडियम फेनाबारबीटोन ⅛ से ¼ ग्रेन तक प्रयुक्त करे। लारजेक्टिल का इञ्जेक्शन अथवा गोली अवस्थानुसार उपयोग मे लाये जा सकते हैं।

पार्श्वशूल [Pleuritic pain]—तीव्र वक्ष शूल में इथाईल क्लोराइड का छिड़काव १ से १० घण्टे तक वेदना से मुक्त रखता है।

अत्यन्त तीव्र शूल मे मारफीया एट्रोपीन अथवा पेथेडीन हाइड्रोक्लोराइड का इञ्जेक्शन अवस्थानुसार और देखरेख मे प्रयुक्त करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य वेदनाशामक औषधियों का प्रयोग अवस्थानुसार किया जा सकता है।

उच्चज्वर [Hyperpyrexia]—डायोफरेटिक मिक्चर के साथ हल्का सा विरेचन कैलोमल द्वारा दे। निम्नलिखित प्राय. प्रयोग किया जाता है—

पोटाश साइट्रास १५ ग्रेन, स्प्रिट ईथर लाईट्रास १५ बूंद, लाईकर अमोनियां एसिटास १ ड्राम, वाईनम एपिकाक १० बूंद, टिंचर सिल्ला १० बूंद, टिंचर डिजिटेलिस ५ बूंद, टिंचर नक्सवामिका ५ बूंद, जल १ औंस बनाकर रखें। युवक मात्रा।

इसे मधुर बनाने के लिये सीरप आरेञ्ज अथवा सीरप टोलू १ ड्राम की मात्रा में मिला देना चाहिये।

मात्रा—५ वर्ष की अवस्था वाले को १ ड्राम चम्मच से ३-३ घण्टे बाद दिन में ३ या ४ बार दें। तृतीयावस्था मे बलगम को पतला करने के लिये पोटाश आयाडाईड मिला दें। ब्रान्डी भी मिला सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य उपद्रव होने पर तदनुसार औषध देकर व्याधि शमन करना चाहिये।

रोगमुक्त हो जाने पर स्वास्थ्यवर्धक औषध दें। इस्टन सीरफ, मल्टी विटामिन ड्राप्स, काडलिवर आयल के योग तथा अन्य टॉनिक प्रयुक्त करने चाहिये। दुग्धपान करने वाले बच्चों की माताओं को स्निग्ध उष्ण खानपान करना चाहिये। स्वयं सर्दी से बचाव रखना चाहिये।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

बच्चो को इञ्जेक्शन तथा शक्तिशाली औषधियां देने के बजाय देशी चिकित्सा का प्रयोग श्रेष्ठतर होता है। इसमे बच्चा बार बार रोग की पुनरावृत्ति से छुटकारा पा जाता है। तथा दूषी विष (*Allergy*)से भी मुक्त रहता है। रोगी की गम्भीर अवस्था मे रोगी के प्राण बचाने के लिए तो ससार की किसी भी चिकित्सा पद्धति की समय पर प्राप्त औषध प्रयोग करने मे विलम्ब नहीं करना चाहिये।

(१) वक्ष पर पंचगुण तेल अथवा कटुतेल का अभ्यङ्ग करके हल्की सिकाई करनी चाहिये।

(२) तारपीन तैल+सरसों का तैल १-२ के अनुपात में मिलाकर भी वक्ष पर लगा सकते हैं।

(३) पार्श्व पीड़ा मे निम्न प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है—

मोम का तेल—स्प्रिट १ तोला, रोगनगुल १ तोला, मोम सफेद १ तोला, कपूर ६ माशा, अफीम ४ रत्ती—पहले मन्दी आंच पर मोम पिघला कर स्प्रिट और रोगनगुल को मिला दें। फिर

जरा गर्म करके कपूर और अफीम मिला दें। यह जम जाता है। जरा गरम करके छाती पर मलें तथा ऊपर से सेक कर दें।

(४) त्रिभुवन कीर्तिरस ½ रत्ती-मधु आर्द्रक के साथ दिन में चार बार दें।

(५) शृङ्ग भस्म १ रत्ती, अभ्रक ½ रत्ती. प्रवाल भस्म ½ रत्ती—४ बार पान के अर्क और मधु से दें।

(६) शृङ्गाराभ्रक ½ रत्ती मधु से चार बार दें।

(७) शृङ्गादि चूर्ण १ रत्ती, वांसाक्षार ½ रत्ती, टकंण ½ रत्ती- ४ मात्रा मधु से दें।

तथा—द्राक्षासव १० बूंद, पिप्पल्यासव १० बूंद, जल १ ड्राम-मिलाकर ३ बार पिलावें। इससे कास की तीव्रावस्था शान्त हो जाती है।

(८) हृदय दुर्बलता में-कस्तूरी भैरव ¼ से ½ रत्ती तक तथा चन्द्रोदय व हेमगर्भपोटली का प्रयोग इन्जेक्शन से कहीं अधिक कार्यकारी सिद्ध होता है।

(९) प्रलाप की अवस्था में—हिंगुकपूरादि वटी ½ गोली, जटामांसी क्वाथ से देना चाहिए। अथवा आर्द्रक स्वरस और मधु से दें।

गोघृत तथा सेंधानमक का वक्ष पर मर्दन करना शूलनाशक तथा कफ निस्सारक है।

(१०) शुद्ध हिङ्गुल, शुद्ध टङ्कण, जायफल, पीपल, शुद्ध मीठाविष, जावित्री, मरिच, कस्तूरी —प्रत्येक १-१ माशा सबको जल के साथ खरल कर १ रत्ती प्रमाण की गोलिया बनाले। मात्रा-¼ रत्ती से ½ रत्ती तक। आर्द्रक स्वरस व मधु से।

(११) लक्ष्मीविलास ¼ रत्ती, रस सिन्दूर ¼ रत्ती, विषाण १ रत्ती—दिन में ३ बार मधु से दें।

(१२) ज्वर की अधिकता में गोदन्ती, मृत्युञ्जय व संजीवनी का वालार्करस के साथ प्रयोग करें।

चिकित्सा सूत्र—

न्यूमोनिया त्रिदोषज (सन्निपात) ज्वर है, जिसका चिकित्सासूत्र निम्न है।

लघनं वालुका स्वेद नस्यं ष्ठीवनं तथा।
अवलेहोऽञ्जनं चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे॥
—भावप्रकाश ज्वराधिकार

यह चिकित्सा वात कफ दोनों का शमन करती है।

(१) लघंन-"यावदारोग्य दर्शनात्" जब तक आरोग्य दर्शक तापक्रम निम्न न हो लघंन कराना चाहिए। इस अवस्था में यदि आवश्यक हो तो चाय या अदरख मिश्रित दुग्ध दें, मौसम्बी का स्वरस भी प्रयोज्य है। क्षीराद बच्चों के लिए माता को भी हलका विरेचन दे दें। न्यूमोनियां में यथा सम्भव दूध न दिया जाये तो अच्छा रहता है।

(२) वालुकास्वेद-कफ निस्सारण के लिए रूक्ष स्वेद दें यह ब्रांको न्यूमोनिया में उत्तम है। नागर-पान को दिये पर गरम करके वक्ष पर स्वेद करना चाहिये। इसके लिए अन्य कई विधियां कफ की अवस्था देखकर प्रयोग की जाती हैं।

(३) नस्य—इस रोग में मोह-तन्द्रा की अवस्था प्रायः पायी जाती है, इसीलिए इसके निवारण के लिए नस्य का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक एमाईल नाइट्रास तथा अमोनिया फोर्ट का नस्य इसी के अन्तर्गत आता है।

(४) ष्ठीवन—कफ निस्सारण के लिए जो भी औषध दी जाती है वह ष्ठीवन का कार्य करती है, जो कफनिस्सारक (Expectorant) कहाती है। इसके लिए-'आर्द्रक स्वरसोपेतं सैन्धवं कटुकत्र्यम्" देना चाहिये। त्रिभुवनकीर्तिरस+आर्द्रक स्वरस के साथ दें। यह उत्तम कार्य करता है।

(५) अवलेह—श्वास, कास का नाश करता है, सितोपलादि चटनी, लहुकसपिस्तां, बासावलेह, अथवा अन्यलेह न्यूमोनिया तथा तदुपरान्त चलने वाली कास के लिये प्रयोज्य है ही।

(६) अञ्जन—"अञ्जनं स्याद् प्रबोधनम्" यह चेतना प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। प्राचीन काल में इसके अनेक प्रयोग प्रचलित थे। आजकल इसका प्रचार बहुत कम है।

उपद्रव —

न्यूमोनियां अथवा न्यूमोनियां के उपरान्त बहुत से बडे बच्चों मे फुफ्फुसावरण शोथ (pleurisy) शेष रह जाता है और समय पाने पर उत्कृष्ट हो जाता है। इसके लिए कच्चे शृंङ्ग और शुंठी का वक्ष पर लेप करना चाहिये।

सितोपलादि, भागोत्तर रस, स्वर्णवसन्त-मालती, माणिक्य रस-इनको अवस्थानुसार यथायोग्य मात्रा में देना चाहिये। युवकों के अन्दर इञ्जेक्शन चिकित्सा से ठीक न होने वाले रोगी इससे लाभ उठा चुके हैं। यदि द्रव (*fluid*) का शक हो तो इसके साथ दशमूल और पुनर्नवाष्टक क्काथ का प्रयोग करना चाहिये।

बच्चों और युवकों की चिकित्सा प्रायः एक सी होती है। परन्तु निम्न बातो का ध्यान रखना आवश्यक है-

(१) मात्रा-अवस्था और भार के अनुसार समझ कर देनी चाहिए।

(२) बच्चों की औषधियां तीक्ष्ण कटु और विष-प्रधान न हों। शिशु प्राश बनाने के लिये मधु शर्बत तथा दुग्ध का प्रयोग अथवा दुग्ध शर्बत द्राक्षाशर्करा का औषध में मिलान कर लेना चाहिए।

(३) छोटे बच्चे कफष्ठीवन नहीं कर पाते हैं-इसके लिए कभी कभी वमन कराना आवश्यक होता है जिसमें बलगम निकल जाता है। जो बच्चे थूक को निगल जाते हैं उन्हें मृदु विरेचन दिया जा सकता है। मुंह में आये थूक को अंगुलि से निकाल देना चाहिये।

श्री राजपाल सिंह बी. आई. एम. एस.,
पोष्ट ग्रेजुएट ट्रेनिङ्ग सेन्टर,
जामनगर।

उत्फुल्लिका (डब्बा रोग)

वैद्यभूषण श्री नटवरलाल माणेकराम जी शास्त्री

नाम -

उत्फुल्लिका (सं) वराध (गु.) सरुणी, शिशु-रोग, वरचें, उडतें, (मराठी) डब्बा, पसली उछलना, बदली (अन्यान्य प्रान्तिक)।

रोग कारण-

दुष्टस्तन्य, प्रायः कफदुष्ट दुग्ध, इसी प्रकार का स्तन्य, माता का कफकारक आहार-विहार, गाय और भैंस के दूध की चिकनाई और उसका न पचना, मलबद्धता, अजीर्ण, मंदाग्नि, ऋतुविपर्यास, वसंतऋतु, प्राय उसका पूर्वार्ध, अतिवर्षा, अति उष्णऋतुमान, अति ठंडा ऋतुमान या और तौर पर ठंडक पहुचना, ठडा और गरम ऋतु का सन्धिकाल।

सम्प्राप्ति-

उपरोक्त कारणों में से किसी एक अथवा संयुक्त कारणों से वृद्धिगत कफदोष यकृत् और आमाशय मे स्थान संश्रय करता है। यह सञ्चित कफ विशेष वृद्धिगत और घनीभूत हो कर समान और अपान वायु के गति-कार्य में अवरोध निर्माण करता है। अवस्था विशेष मे श्वास मार्ग मे भी अवरोध निर्माण करता है। परिणामत उत्फुल्लिका (डब्बा, पसली) रोग होता है।

लक्षण -

दीर्घश्वासोच्छ्वास का अभाव, अवस्था विशेष मे श्वासावरोध, जलद श्वासोच्छ्वास, बालक का कन्दारना, बेचैनी, मल का रुक जाना अथवा अपक्कमल



अल्प प्रमाण मे आना अथवा उसका बारबार आना, अरुचि, कास, विशिष्ट अवस्था मे प्रतिश्याय, ज्वर, ग्लानि, मूर्च्छा, मूत्राल्पता और विशिष्ट अवस्था मे उसका अवरोध।

विशेष विवरण—

श्वासोच्छ्वास की जलदगति यह एक प्रधान और विशिष्ट लक्षण इस व्याधि की पहचान एवं प्रथम दृष्टि मे प्रतीत होने योग्य लक्षण होता है। परन्तु वह ज्वरादिक में भी प्रतीत होता है तो उस ढ़व का नहीं होता। प्रत्येक श्वास और उच्छ्वास के संधिकाल मे दोनों तरफ की बखों में अर्थात् अखीरी पसलियों मे और उदर प्रदेश जिस जगह से आरंभ होता है (कहना चाहिये) उन संधिस्थलों मे लम्बाकृति गढ़ा (दोनों ओर) पड़ता है और तत्काल अदृश्य भी होजाता है—अदृश्य होता रहता हैं। यह इस रोग का स्वतंत्र एवं प्रधान लक्षण है, और प्राय. श्वास की यह सूरत प्रारंभ से ही इस व्याधि में निर्माण होती है और यदि लक्षण न पाया जाय तो अथवा जब तक न पाया जाय तब तक इस व्याधि का निश्चय न करना चाहिये। किंबहुना अन्यान्य व्याधि की कल्पना की जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त और भी एक लक्षण इस व्याधि की निश्चिति करने मे सहायता रूप हो सकता है और वह यह कि नासिका प्रदेश के दोनो द्वार अग्रभाग कुछ फूला-फूला सा अर्थात् तना हुआ और गोलाकृति धारण किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। तथापि यह लक्षण पूर्णतया पहिचान में न भी आ सका तो बाधा की बात नहीं मालूम होती। मात्र ऊपर निर्दिष्ट श्वासोच्छ्वास की विशिष्ट स्वतंत्र परिस्थिति का पूर्णतया एवं निश्चयपूर्वक लक्ष मे लाना आवश्यक एव विश्वासार्ह समझा गया है। यद्यपि प्रत्येक रोगी मे प्रारभ से तो उपरोक्त अन्यान्य लक्षण समूह रूपमें प्राय दिखाई नहीं देते। उपरोक्त श्वासेतर अन्यान्य लक्षणो मे से कुछ आरभ मे और कुछ मध्य मे एव कुछ बाद मे दिखाई दिया करते हैं। और प्रारंभ से ही चिकित्सा गुणवह हो जाय तो (श्वासेतर) अन्यान्य लक्षणों में से कितने ही लक्षण प्रकट भी नहीं हो सकते। कुछ लक्षण ऋतुमान पर भी आधारित होते है यथा ज्वर का कम अधिक होना, प्रतिश्याय, अतिसार इत्यादि।

भोग्य काल—प्राय: तीन दिनों का अनुभव में आया है। यदि तीन दिन व्यतीत होने के साथ निर्मित लक्षण-लक्षणों का स्वरूप भी मन्द होना पाया जाय तो इस व्याधि का रोगी सहसा मर नहीं सकता। इसके सिवाय ऐसा भी अनुभव मे आया है कि शिशु बालक मे प्रतिकार शक्ति अच्छी हो तो संबंधित रोग के उग्र लक्षणों पर भी योग्य चिकित्सा द्वारा विजय प्राप्त होती है और ऐसा रोगी अच्छा हो जाता है। किंबहुना ऐसा रोगी, इस रोग में जब जब महामारी का रूप निर्माण होता है उस संकट काल का भी मुकाबला करके अच्छा होकर वैद्य को यश दिलाता है।

साध्यासाध्य विचार—

(१) शिशु बालक सशक्त हो, सर्वदा किसी न किसी व्याधि से पीड़ित न रहता हो प्रारंभ से ही योग्य चिकित्सा हो, रोग लक्षण समूह रूप मे उपरोक्त मे से अनेक निर्माण होते हुये भी उनमे विशेष तीव्रता प्रतीत न होती हो, तो रोग प्राय: साध्य होता है अर्थात् पचानवे प्रतिशत रोगी अच्छे हो सकते हैं-रोगमुक्त होते हैं।

(२) ऋतुमान यदि साधारण विपरीत हो और उस हालत मे दोष ऊर्ध्वगामी भी हुये हों अर्थात् आक्षेपक अथवा मूर्च्छा हो, दोष का फुफ्फुसो मे स्थान सश्रय होकर तज्जन्य लक्षण प्रगट हुये हों, अथवा उसी प्रकार दोष अधोगामी होकर मूत्रावरोध अथवा अतिसार हो जाय, आध्मान बार बार होता रहे अथवा वह तीव्र रूप धारण करे, रोगी दुर्बल हुआ हो तो कष्टसाध्य समझना चाहिए।



(३) इस प्रान्त मे ऐसा अनुभव हुआ कि पांच या सात वर्षों मे किसी वर्ष वर्षाऋतु में वर्षा कम होने के साथ ऋतुमान मे उष्मा बढ़ जाय अर्थात् इस प्रकार के ऋतु विपर्यास मे यह व्याधि महामारी का रूप धारण कर सकती है। ऐसे वातावरण मे यदि दोष का बार बार फुफ्फुसों की ओर अथवा श्वासनलिका की ओर प्रसार होता रहे तथा परिणामतः उनमे किसी जगह स्थान संश्रय करले, हृदय क्षीण होना प्रतीत होता हो। ऐसे लक्षण समूह मे घिरा हुआ रोगी असाध्य होता है।

गत प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब कफ वात ज्वर (फ्ल्यु) विश्वव्यापी हुआ था उन छह सप्ताहों मे उत्फुल्लिका के रोगी प्रतिशत बीस मुश्किल से बच सके। उन दिनो देखते देखते सीधा साधा दोष ऊर्ध्व अथवा अधोगामी होकर असाध्यावस्था में पहुँच जाता था।

इस रोगमे रोग निदान और साध्यासाध्य विचार निश्चित हो जाने से चिकित्सा का मार्ग विशेष स्पष्ट प्रकाशयुक्त हो जाता है। पर्यायतः यह भी निश्चित हो जाता है कि यह रोग शीघ्रगामी और घातक होने के कारण इसकी चिकित्सा भी प्रभावी, आशुगुणावह ऐसे परिणामकारक द्रव्यों और प्रसङ्गोपान्त तदनुसङ्गी क्रियाओं द्वारा करने मे चिकित्सक को हिचकिचाना नहीं चाहिये। प्रसङ्गोपरान्त कटु, तिक्त, कषायादि रसप्रधान एव वामक और रेचक औषधियों को अवस्था और दोषानुसारेण प्रयुक्त करने में सकोच नहीं होना चाहिये ताकि योग्य क्रियाकाल व्यतीत न होने पाये जैसाकि सुश्रुताचार्य ने उपदेश किया है। यथा—

> शीते शीतप्रतीकार उष्णे चोष्ण निवारणम्।
> कृत्वा कुर्या क्रिया प्राप्ता क्रियाकालं न हापयेत्॥

चिकित्सा——

इस व्याधि मे निम्नाकित चिकित्साक्रम और औषधि प्रयोग हमारे अनुभव मे लाभदायक एव बहुत कम निष्फल सिद्ध हुए हैं जिसका प्रथमत सारांश यह है——

[१] आरम्भ से लेकर व्याधि मे उपशय निर्माण होने तक जब जब भी आवश्यकता प्रतीत होती रहे, वमन प्रयोग, वाति कराना (औषध द्रव्य द्वारा) अत्यन्त हितावह सिद्ध हुआ है। इस अनुभव के आधार पर मैं इस प्रयोग को इस व्याधि की चिकित्सा का प्रधान अङ्ग मानता हूँ। शास्त्राभिप्राय भी है कि 'वमनं कफ नाशाय' जब कि यह व्याधि प्रत्यक्ष कफरोग है।

[२] इसके अनन्तर दोष की गति लक्ष मे लेकर चलना चाहिये कि इस पर भी यदि दोष बलवान अथवा प्रसर होता हुआ अथवा ऊर्ध्वगामी होकर विशिष्ट प्रदेश में यथा श्वसन यन्त्र, श्वास नलिका, फुफ्फुस, कण्ठ, फुफ्फुसावरण, शिरोभाग, हृदय इनमें सेक हीं स्थान संश्रय करने की शंका निर्माण होती हो तो शीघ्र ही अवस्थानुसारेण विरेचन प्रयोग प्रयुक्त करने चाहिये और यदि मल ग्रह हो अथवा कुछ कुछ बल नि.सरण होते हुए भी उदर में भारीपन, मल का संग्रहीत होना प्रतीत होता हो तो अवश्य और शीघ्रकार्यकारिणी विरेचन और मल भेदन द्रव्य प्रयुक्त करना चाहिये और पेट साफ होने तक देना चाहिये और व्याधि मे उपशय निर्माण होने तक यह प्रयोग भी करते रहना चाहिए ताकि दोष संचित न होने पाये और साथ हीं साथ रोगहारक और दोष निवारणकारक औषधि प्रयोगों को समय पर (बारंबार यथादोष और अवस्था) योग्य प्रमाण मे देते रहना चाहिये तथा साथ ही उपद्रव एवं दोष का स्थान संश्रय अन्य प्रदेश मे होता हो या हो जाय तो उसकी चिकित्सा की जाय।

उत्फुल्लिका रोग निवारणार्थ उपरोक्त दोनों परिच्छेदों (अङ्क १–२) मे किया हुआ निर्देश चिकित्साक्रम की सारांशमात्र रूपरेखा है। अब (निम्न मे) उसी को विस्तारपूर्वक निवेदन किया जायगा जिसके पूर्व यहां पर उसके सम्बन्ध मे एक फलितार्थ का निर्देश कर दिया जाना विशेष उप-

योगी होगा कि इस प्रकारेण चिकित्सक ने जाग-रूकतापूर्वक इस रोग की चिकित्सा की जाने का पहिला परिणाम लाभ यह होगा कि प्रभु कृपा से रोगी (बालक) को शीघ्र आरोग्य प्राप्त होगा और दूसरा लाभ यह भी हो सकेगा कि यदि रोगी के परिवार ने बालक को प्राप्त हुए आरोग्य पर केवल अपनी दृष्टि से समाधान न मानते हुए वैद्य की तात्रिक दृष्टि से शेष दोषों का शोधन और परि-मार्जन होने तक और भी कुछ दिनों तक चिकित्सा क्रम चालू रखा तो विपरीत दशा में प्रायः संभ-वनीय यकृदुदर, यकृदाल्युदर (लिव्हर डिजीज) अथवा तत्सम व्याधि निर्माण की आशंका न रहेगी।

चिकित्सा क्रम—

१. वमन प्रयोग की दृष्टि से इस प्रांत के शरीरों व प्रकृति धर्मानुकूल जो द्रव्य अनुकूल पड़ना अनु-भव मे आया है उनमे मदनफल मज्जा, करेले का अथवा करेले के पत्ते का रस पिलाना पर्याप्त होता है। परन्तु दोष में तीव्रता अर्थात् अधिकता हो तब जल्दी वांति न होगी ऐसी अवस्था में एक घंटे तक की प्रतीक्षा के बाद पुन' उसी रस में (मात्रा १० बूद से ४० तक) फुलाया हुआ तेलिया सुहागा अथवा फुलाया हुआ सोनारी सुहागा ½ गुंजा से २ गुंजा तक एकत्र करके पिलाना चाहिये। इस पर भी यदि वाति न हो तो घबराना नहीं चाहिये, कुछ अन्तर से इसी योग से पचपचा कर दस्त होने की उम्मीद रखना अयोग्य न होगा और कफ दोष दस्त से निकलेगा, छूटेगा और यदि वामक, वमन-कारक प्रयोग पचन होकर दस्त होगा तो दोष गुदा द्वारा निकलने की अन्तस्थ प्रेरणा होने की बाबत कल्पना करना और कफ विरेचन द्रव्यों द्वारा रोग परिहार मे अर्थात् रोगोक्त औषधि प्रयोगों के साथ साथ आवश्यकतानुसारेण मदद लेते देते रहना अनुचित न होगा।

२. विरेचन—इस व्याधि मे "अभ्रकंचुकी रस" अच्छा काम देता है। कफ दोष को गुदद्वार द्वारा शरीर के बाहर निकालता है। यदि इस प्रयोग मे भी अर्थात् विरेचन द्रव्य या औषधि प्रयोग से दस्त योग्य कालावधि मे न हो तो योग्य मार्ग प्रतीक्षा के अनन्तर अर्थात् ४-६ घंटे बाद पुन' रेचक द्रव दिया जा सकता है। अवस्था और दोष तारतम्य के अनुसार, परन्तु इस प्रयोग मे भी बिलोमगति मालूम हो तो अर्थात् रेच दस्त होने के बजाय वांति हो तो दोष शोधन नि.सरण के लिये अन्तस्थ प्रेरणा ऊर्ध्वमार्ग की होने के विषय में कल्पना करते हुए दोष को शरीर से बाहर निकालने के लिये वातिकारक औषधि देते रहना उचित ही होगा।

(अ) वांतिकारक औषधि से रेच हों तो भी दूसरे दिन वांतिकारक औषधि देकर देखना चाहिये ताकि लोम-विलोम गति क्रिया से दोष के नि सरण के मार्ग निश्चित करने मे सुविधा रहे।

(ब) यही पद्धति विरेचन औषधि के बारे में भी समझनी चाहिये।

(स) इन दोनों प्रयोगों को यथावश्यक प्रयुक्त करने के पूर्व हर समय इसकी जांच करते रहना चाहिये कि पूर्व प्रयुक्त प्रयोग के परिणाम मे योग्य परिणाम किस हद तक हुआ है अर्थात् रोग स्थान यकृत्, आमाशय कुछ हलके से यानी नरमी लिये हुए हैं और उदर का उभार कम है या नहीं। उसके बाद इनमे से जिस प्रयोग की आवश्यकता प्रतीत हो वह प्रयोग किया जाय अर्थात् रोग स्थान हलका पड़ रहा है ऐसा मालूम हो रहा हो तो अथवा अपकमल गुदाद्वार से निकल रहा है ऐसा दृष्टिगोचर हो, तो उन अवस्थाओं मे इन प्रयोगों को बारह निदान ६ घंटा पूर्व न दिया जाय ताकि शिशु (बालक) की शक्ति का ह्रास न होने पाये। शक्ति को (रोगी की) यथा शक्य न टूटने देना और इसकी देखभाल करते रहना भी आवश्यक है और ६ से १२ घंटे का अन्तर देने से मल को पक होने



का अवसर भी मिल जाता है।

(द) वामक, वांतिकारक और रेचक औषधि के उपयोग पर ही केवल आधार नहीं रखना चाहिए किंतु अवस्थाभेदानुसारेण और रोग की उग्र और मध्यम या मन्दगति की दृष्टि से योग्य मात्रा मे २ से ६ बार बीच बीच में व्याधियुक्त औषधि प्रयोग भी देते रहना चाहिये एवं बाह्योपचार की दृष्टि से लेपन, स्नेहन, स्वेदन प्रयोगों में से जिसकी या जिनकी आवश्यकता प्रतीत होती रहे उन प्रयोगों को भी करते रहना चाहिये।

(यह सब प्रयोग आगे लिखे जाते हैं)

(इ) व्याधियुक्त को औषधि खिलाने पिलाने के एवं बाह्योपचार के प्रयोग चालू रहते हुए उसी मे वांति या रेच भी हों या वह ज्यादा प्रमाण मे न होते हुए भी यदि रोग कम हो रहा हो और साथ ही रोग का मूल स्थान उदर प्रदेश हलका और नरम मालूम होने लगे और अनुषांगिक चिह्न-रोग के साथ वाले चिह्न भी मन्द पड़ रहे हों या कम हो रहे हों उस अवस्था मे स्वतन्त्र वांतिकारक एवं रेचक औषधियों को न भी दिया जाय तो बाधा, चिंता का बात नहीं। तथापि बीच बीच के रूपान्तर इस तरह के भी अनुभव मे आते हैं कि रोग कम हो रहा है तथापि अवष्टभ मालूम होता है अथवा कफ का थोड़ा बहुत सचय प्रतीत होता है। अतः उन अवस्थाओं में वांतिकारक अथवा रेचक, इनमें से जिस प्रयोग की आवश्यकता मालूम हो अवश्य देना या दे रहना चाहिये

[३] रोगहारक (व्याध्युक्त) प्रयोग--

शुद्ध हींग-असली हींग को किंचित घृत लगाकर (यदि गौघृत हो तो विशेष उत्तम होगा) धीमी आग पर कुछ फूलने तक भून ली जाय—६ माशे कृष्ण लवण, विडङ्ग, बाल हरीतकी १२-१२ माशे, शुण्ठी ६ माशे, अजवायन, यवक्षार १२ माशे इनका सूक्ष्म चूर्ण बनाकर रख लिया जाय (१) यह चूर्ण ½ से २ गुंजा, (२) मृगशृङ्ग (बारहसिंगे का) भस्म ¼ से १ गुंजा, (३) श्वास कुठार रस ¼ से ½ गुंजा तक।

हर वक्त उपरोक्त प्रमाण में तीनों औषधियां मिलाकर स्तन्य (मां के दूध) मे अथवा गाय, बकरी या भैंस की छोटी चम्मच भर दूध में मिलाकर दिन के १२ घंटों मे २ से ६ बार (व्याधि की उग्रता या मन्दता देखते हुए मात्रा निश्चित की जाय) देना चाहिये। यह प्रयोग स्वाद में कटु (तीखा) है और कफ दोषों मे रसना कुछ बधिर हो जाती है तथापि बूंद बूंद करके धीरे धीरे शिशु, बालकों को औषधि पिलाना विशेष सुरक्षित मार्ग समझा जाता है।

(अ) इस प्रयोग से कफ का लेखन कार्य होते हुए भी वह प्रसर होने से अर्थात् स्थानान्तर करने से रोका जाता है और उसकी गति अधोमार्ग की ओर रहती है जिसके कारण मलमार्ग से दोष बाहर निकल जाता है।

(ब) इसी प्रयोग मे दस्त भी आसकता है और यथा समय अर्थात् कुछ कम ज्यादा अंतर से वांति भी सकती है। यदि इन दोनोमे से कोई मार्ग भी न खुला हो सका—चालू हो सका (किसी किसी रोगी में ऐसी परिस्थिति अनुभव मे आती रहती है) तथापि रोगपरिहरण कार्य इस प्रयोग से १ से ७ दिन मे अवश्य होता है। २-३ दिनों में ही रोग के चिह्न कम पड़ जाते हैं। रोग के चिह्न जैसे जैसे कम पड़ते जाय औषधि का मात्रा भी घटाते रहना चाहिये।

(क) इस या इस प्रकार के व्याधिकारक प्रयोग से यदि मल शुद्धि-दस्त अथवा वांति न हो तो अवस्था दोष की स्थिति के अनुसार दोनों या कोई रेचक या वांति कारक का प्रयोग व्याधि का परिहार तक करते रहना आवश्यक होता है-अर्थात् व्याधिहारक प्रयोग भी चालू रहे और वांतिकारक या रेचक औषधियां भी दी जाय।

श्वास कुठार रस के कई एक पाक और प्रक्रिया पायी जाती है परंतु "एकैक मरिचंदत्वा सूक्ष्मं चूर्णं



तुकारयेत्" इस प्रक्रिया से बना हुआ श्वास-कुठार रस इस प्रयोग में और व्याधि में विशेष लाभप्रद होगा ऐसा अनुभव में आया है।

[४] करेले का या उसके पत्ते का रस ५ से ५० बूंद तक, सदाफ (सर्पाक्षी) का रस ५ से ५० बूंद तक, मधु ३ से ७ बूंद तक, गोरोचन ½ से १ गुंजा तक, शुद्ध सुहागा ½ से २ गुंजा तक।

इन पाचों को एकत्र करके प्रतिदिन दो से चार बार धीरे धीरे पिलायें ताकि तुरंत वमन न होजाय।

विशेष सूचना—इस प्रयोग के चालू रहते हुए यथावश्यक, उपरोक्त नं. ३ पर निर्दिष्ट प्रयोगात परिच्छेद अ-ब-स- अनुसार वमन विरेचनादिक प्रयोगों की मदद ली जा सकती है।

[५] एलुआ, अरवी, सुहागा की खील, कंकुष्ठ (उसार-ए-रेवन्द) समभाग का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर शहद (मधु) में घोटकर मूंग प्रमाण गोली बनायें।

मात्रा—आधी गोली से दो गोली हर वक्त मे दी जाय। गुनगुना पानी अथवा दूध के साथ दिन मे २ या ३ वार यह गोली मध्यम या मंद आक्रमण वाली इस व्याधि में अच्छा काम देती हैं।

[६] काडी थूहर (स्नुही) का दूध ½ बूंद से २ बूंद तक गौदुग्ध में या किसी दुग्ध मे मिलाकर दिया जाय। प्रयोग तीव्र है। इससे किसी रोगी को वांति और दस्त बहुत हो जाते है अतः रोगी की शक्ति का अनुमान करके देना चाहिए। आवश्यकतानुसारेण प्रतिदिन १ से ३ बार तक यह प्रयोग दिया जा सकता है। इस व्याधि में लाभदायक अवश्य है परंतु तीव्र प्रक्रियाकारक होने के कारण हम छः मास से कम अवस्था वाले रोगी को नहीं देते।

विशेष सूचना—स्नुहीदुग्ध के अर्ध बिंदु का प्रमाण हस्तगत करने की रीति यह है कि उसके एक बिंदु को एक चम्मच भर गाय के दूध में घोलकर आधा भाग पिलाया जाय।

उपद्रव—

[१] इस व्याधि मे सम्भवनीय उपद्रवों में से यदि रोगी मे वायु का मूल कफ दोष के साथ अनुबंध प्रतीत हो तो अथवा प्रत्यक्ष आध्मान, उदर पीड़ा, अथवा दोष ऊर्ध्वगामी होने से आक्षेपक हो उस अवस्था मे व्याधियुक्त (अर्थात् उनको ऐसे प्रसङ्ग मे स्वतंत्र व्याधि कहना अनुचित न होगा) चिकित्सा की जानी चाहिए।

आध्मान, उदर पीड़ा मे अनुक्रमांक प्राथमिक १. मे निर्दिष्ट चूर्ण स्वतंत्र रीति से उस व्याधि की उग्रता कम होने तक औषधि का अवस्थानुसार कुछ प्रमाण बढ़ाकर भी देना उचित ही होगा अथवा शखवटी (निघण्टु रत्नाकर द्वितीय भागोक्त पाठानुसारेण बनाई हुई विशेष गुणावह होती है) योग्य मात्रा में दी जानी चाहिए। बाह्योपचार की दृष्टि से पेट पर सेक करना, नारायण तेल लगाने से उसी प्रकार नाग बेल के पानों पर एरण्ड तैल मे काला नमक खूब बारीक पिसा हुआ मिलाकर चुपड़ कर उनको जरा गरम करके उलटाकर पेट पर बाधने से बड़ा लाभ होता है। आवश्यकतानुसार योग्य प्रमाण में एरण्ड तैल किंचित उष्ण करके पिलाना अथवा उसमें योग्य प्रमाण में कोई वात कफ हारक चूर्ण मिलाकर देना भी परमोपकारक सिद्ध होता है। अथवा एरण्डतैल में योगराज गुग्गुल (लघु) योग्य मात्रा में देना विशेष तीव्रतापूर्वक अर्थात् त्वरित कार्य करता है और यही प्रयोग आक्षेपक की अवस्था मे युक्तिपूर्वक देने से (अर्थात् रोगी उस दशा मे विशेष पराधीन रहता है अत. धीरे धीरे चटाने से उगल नहीं देता) आक्षेपक वेग जल्दी कम होता है तथैव वेग उतर जाने पर देने से उसकी पुनरावृत्ति को भी रोकता है।

[२] आक्षेपक में उपरोक्त योगराज, एरण्ड तैल जैसे दोनों अवस्थाओं मे कार्यकारी सिद्ध होता है वैसे ही लक्ष्मीनारायण रस भी। परन्तु यह पुनरावृत्ति को विशेषतया रोकता है। अनुपान—एक या तीन विन्दु तक (शिशु की सहनशीलता के मान से) आर्द्रक रस में ४-१० विसारे घिसकर तीखापन

कम होने हेतु उसी मे १०-१५ बूंद दूध के मिलाकर एवं मधु के ३-४ बूंद मिलाकर देना बहुत ही गुणावह होता है।

(अ) आक्षेपक के वेग को शांत करने के लिये प्याज (पलाण्डु) फोड़कर दो तीन क्षणमात्र तक थोड़ा थोड़ा ५-१० क्षण अंतर देकर सुंघाना लाभकारक होता है। इसी युक्ति से महीन पिसा हुआ कायफल अथवा बच (वचा) सुंघाना या नासिकाग्र भाग मे थोड़ा सा लगा देना बहुत लाभ करता है। किंबहुना इस प्रयोग से गला- छाती स्थानों पर जमा हुआ कफ धक्का भी खाता है और भी अपने अनुभव के आधार पर व्याधि युक्त प्रयोग करना उचित ही होगा।

[३] श्वास नलिका दाह, फुफ्फुस दाह, शोफ, फुफ्फुसावरण दाह शोथ इत्यादि उपद्रवों की इस रोग (उत्फुल्लिका) मे दोष ऊर्ध्वगामी होने पर अथवा अन्य प्रकारेण निमित्त कारण मिलने मे भी ज्यादा संभावना होती है। अत. इन अवस्थाओं मे प्राय: औषधि प्रयोग मिलते जुलते ही होते हैं। किसी किसी विशिष्ट परिस्थिति में स्वतंत्र अथवा विभिन्न प्रयोग या क्रियायों रूप अपवाद छोड़ कर मिलेजुले प्रयोगो मे मृगशृङ्ग भस्म, श्वासकुठार रस, कफ कुठार आदि यथोचित मात्रा मे स्वतत्र एक, अथवा मिलाकर भी दिये जा सकते हैं। कफकुठार रस, यवक्षार (बाजारू नहीं), अपामार्गक्षार, वज्रक्षार इत्यादि भी अवस्था भेद में अच्छा काम देते है।

इन उपद्रवों—रोग वालों की और उत्फुल्लिका रोगी की भी शक्ति सम्हालने के लिये अवस्थाभेदानुसार शुद्ध विषमुष्टी, शौक्तिक भस्म, मृगशृङ्ग भस्म उचित मात्रा मे, रोगोक्त औषधियों में मिश्र करके अथवा भिन्न समय मे स्वतत्र देते रहने से मुख्य रोग के परिहार तक चिकित्सा करते रहने मे बड़ी हद तक निश्चिन्तता रहती और बड़ी मदद मिलती है। उसी प्रकार मामूली कम मात्रा में रस सिन्दूर देते रहने से भी इन रोगों और अधिक पुराने प्राय. सब प्रकार के रोगों में बड़ी हेतु पूर्ण होता है। रोगी की शक्ति बड़ी हद तक टूटने नहीं पाती। साथ इस (रस सिन्दूर के) प्रयोग में इतना दोष अवश्य पाया गया कि इससे लघवी का प्रभाव किसी किसी रोग में घट जाता है। यह रक्त कफ प्रधान किसी व्याधी में प्रसन्नता कारक नहीं समझी जाती। जबकि वह दोष मल, मूत्र, स्वेद, यानि द्वारा ही शरीर से बाहर निकाले जाते हैं, अतः ऐसी परिस्थिति प्रतीत होने से उसके साथ यवक्षार अथवा शौक्तिक संयोग किया जाना उचित पाया गया।

इस पर भी यदि अपेक्षित प्रमाण में मूत्र न बढ़ सका तो रोगी के बस्ति भाग पर और नाभि के चारों ओर चूहे (मूषक) की लेंडिया और कृष्ण लवण का लेपन करने से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है अथवा मूत्रोत्सर्ग क्रिया की संख्या बढ़ जाती है अथवा कभी कमर पर सेकने से भी (इन व्याधियों में) मूत्र का प्रमाण बढ सकता है।

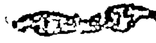
[४] मूर्च्छा—आक्षेपक में सुंघाई जाने वाली औषधियों के उपयोग से लाभ होता है। स्मृतिसागर रस, कस्तूरी भैरव इत्यादि अथवा तत्सम औषधियों के सेवन कराने से लाभ होता है।

[५] नाड़ी क्षीणता व्याधि का परिहार होने तक रोगी की नाड़ी की देखभाल नित्यशः होती रहनी चाहिए। नाड़ी की क्षीणावस्था मे हृदय को सम्हालने के प्रयोग काम मे लिए जांय सुतरा आवश्यक होता है। अत दोष और अवस्थाभेदानुसारेण अपने अपने अनुभूत प्रयोग प्रयुक्त करना और बीच से भी देते रहना चाहिए। इस हेतु हमारे अनुभव में लक्ष्मीविलास गुटी, लक्ष्मीविलासरस, महालक्ष्मीविलास रस यह औषधिया प्रयुक्त करना अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

—श्री नटवरलाल माणेकराम शास्त्री वैद्यभूषण,
औरंगाबाद।

बाल ज्वर

श्री गोखुलानन्द सिंह वैद्यशास्त्री आयुर्वेदाचार्य



बच्चों को ज्वर का होना कोई असली कारण नहीं है। क्योंकि माता के कुपथ्य से अथवा माता के ज्वर हो जाने से भी केवल स्तन-दुग्ध पान करने वाले बच्चे को भी ज्वर हो सकता है। फिर भी अधिक ठंड लगने से, अजीर्ण से या ठंडी तासीर के फलादिकों के अत्यधिक सेवन से, कृमि दोष से प्रायः ज्वर आ जाता है। अतएव ज्वर आने के कारण पर थोड़ा विचार कर बाद में औषधि का प्रयोग करना चाहिये। दूध पीने वाले बालक के हित के लिये उसकी माता को लंघन और पथ्य का पालन कराना चाहिए, क्योंकि बच्चे को लंघन (उपवास) कराना मना है।

चिकित्सा —

बालक को ज्वर होने पर निर्वात स्थान मे रखें। दूध पीने वाले बच्चे को मा का दूध किसी भी हालत मे मना नहीं है, जो बालक पानी पीता हो उसे चतुर्थांश शेष जल पिलाना चाहिये। यदि माता रोगिणी हो तो बकरी अथवा गाय का दूध अभाव में देवें और अन्न खाने वाले बालक को बार्ली, साबूदाना, अथवा मूंग की दाल और पुराने चावल की पतली खिचड़ी का पथ्य देना चाहिये। क्योंकि कहा है–'ये गुणा लंघने प्रोक्तास्ते गुणा लघु भोजने' अर्थात् जो गुण उपवास मे है वे ही गुण लघु भोजन मे हैं।

ज्वरनाशक साधारण प्रयोग

१. चिरायता पानी में पीसकर और हल्दी मिलाकर उसमे कपड़े रंगकर बालक को पहना दें।

२. मूर्वा, हल्दी, सरसों, चिरायता, हरड़, मंजीठ नेत्रवाला और कलौंजी इन सबको बकरी के दूध में पीसकर देह मे मालिश करें तो बालक का ज्वर दूर होवे अथवा कुटकी को ही जल में पीसकर बालक के शरीर पर लेप करे तो शीघ्र ही ज्वर शात होवे।

३. गूगल, नीम के पत्ते, वच, कूट, हरड़' यव, सरसों इन सबको समभाग लेकर गोघृत में मिलाकर धूपन करने से बालकों का ज्वर नष्ट हो।

४. अतीस का चूर्ण १ से ४ रत्ती मां के दूध या शहद मे चटावे तो बालक के ज्वर, पतले दस्त और वमन दूर होती है।

५. कुटकी का चूर्ण १ से ४ रत्ती मा के दूध या शहद मे चटावे तो बालक का ज्वर, मलबद्धता दूर होती है।

६. जंगी हरड़ को लेकर बारीक चूर्ण बनाले। इसकी मात्रा १ से ३ रत्ती तक चढ़े हुए ज्वर में ३-३ घण्टे के बाद दें शीघ्र उतर जाता है।

७. छोटी-बड़ी कटेरी के फल और पंचकोल (पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) इनका चूर्ण शहद के साथ लेपन करने से बालकों के वातज्वर एक दिन से, पित्तज्वर दो दिन मे और कफज्वर तीन दिन में नष्ट होते हैं।

८. नागरमोंथा, हरड़, नीम की छाल, पटोलपत्र और मुलैठी इन्हे एकत्र यवकुट कर ६ माशे लेकर १६ गुने जल में औटावे। जब चतुर्थांश शेष रहे तो इस क्वाथ को मन्दोष्ण ही पिलाने से सर्व प्रकार का ज्वर नष्ट हो जाता है।

९. चौहद्दी या चतुर्भद्रकादि चूर्ण (अतीस, नागरमोथा, पीपल और काकड़ासिंगी समभाग लेकर चूर्ण बनाले) मात्रा—नवजात शिशु को १ रत्ती से ४ रत्ती तक मा के दूध या शहद मे दें तो यह चूर्ण बालकों के ज्वर, दस्त, कफ, खासी, वमन आदि दूर करता है।

१०. बालज्वरघ्नी वटी—अतीस, मरिच और तुलसी के पत्र समभाग लेकर जल के संयोग से मूंग के बराबर वटी बनाले। मात्रा–१-१ वटी मा के दूध या शहद मे देवें तो बालकों के समस्त ज्वर



खांसी, सर्दी (पीनस) आदि दूर होते है।

११. बालज्वरांतक वटी—तुलसी बीज, छोटी इलायची के दाने, सत्व गिलोय तीनों समभाग पीस कर जल के संयोग से मूंग बराबर वटी बनाले। मात्रा—प्रात सायं १-१ वटी मा के दूध मे देवें तो बालक के ज्वर नष्ट होवे है।

१२. बाल लाक्षादि तैल—तिल तैल तथा लाक्षा का स्वरस या क्वाथ १-१ सेर, दही का पानी ४ सेर, कल्कार्थ रास्ना, लाल चन्दन, कूठ, नागरमोथा, असगन्ध, हरिद्रा, दारुहल्दी, सौंफ, देवदारु, मुलैठी, मूर्वा, कुटकी, रेणुका के कल्क से यथाविधि सिद्धकर अभ्यङ्ग करने से बालकों के समस्त ज्वरादि दूर होकर शरीर के बलवर्ण की वृद्धि होती है।

१३ काल मेघासव—यवतिक्ता (कल्पनाथ, काल मेघ) पंचाङ्ग को सुखाकर कूट ले, उसमे से १० तोला चूर्ण लेकर २ सेर जल मे सायंकाल के समय कढाई मे भिगो देवें। प्रात.काल उसे मन्दाग्नि से पकावें, जब १ पाव जल शेष रहे तब अग्नि से उतार कर ठंडा कर लें और साफ वस्त्र से छानकर चिकनी मटकी मे भर उसमे कुछ शहद ३० तोला मिलाकर १५ दिन तक सधान कर रखें फिर छान कर बोतल मे भर लेवें। मात्रा—५ से १५ बूंद तक जल से मिलाकर प्रात.सायं सेवन करावें। यह बालको के जीर्ण ज्वर तथा विषमज्वर, कालाज्वरादि को शीघ्र नष्ट करता है। यकृत्, प्लीहाविकार भी दूर होकर जठराग्नि दीप्त हो जाती है।

१४. रसपीपरी (आ. प्र.)—शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक की कज्जली कर फिर सोंठ, मिर्च, पीपल, अतीस, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, मोचरस, जायफल, जावित्री, सुहागा फूला हुआ और छोटी पीपल ये ११ दवाइया पारे के समान भाग लेकर महीन चूर्ण करके मिला दें। पारे से चतुर्थांश कस्तूरी मिलाकर जल के सयोग से मूंग बराबर गोलिया बनाले या यों ही खरल मे अच्छी तरह घोटकर रखले। उचित अनुपान के साथ सेवन करने से बालकों का ज्वर, सर्दी, जुकाम, पतले दस्त, कफ, खांसी, वमन, कमजोरी आदि समस्त रोग होते हैं।

१५. बालरोगान्तक रस (भै. र.)—शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक १-१ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म और काली मिर्च आध आध भाग—प्रथम पारा और गन्धक की कज्जली बनावें। फिर उसमे माक्षिक भस्म मिलाकर मर्दन करें। इसके बाद केशराज रस, सम्हालू का रस, मकोय का रस, ग्रीष्म सुन्दर (हरमल) का रस, हुलहुल का रस, शालिञ्चणक का रस, मण्डूकपर्णी का रस, श्वेत अपराजिता का रस भी क्रमशः पृथक् पृथक् भावना देकर कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर अच्छी तरह से मर्दन करके सरसों के दाने बराबर गोलिया बनाकर धूप मे सुखाकर शीशी मे रख ले। मात्रा—१ से २ गोली प्रातः साय मां के दूध मे या मधु मे मिलाकर सेवन करे तो यह बालकों के त्रिदोष तथा आमदोषजन्य ज्वर और पंचविधि कास तथा सर्व रोग को दूर करता है।

१६. कुमारकल्याण रस (भै. र.)—रससिंदूर, मुक्ता भस्म, अभ्रक भस्म, लौहभस्म, स्वर्णभस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म—प्रत्येक १-१ भाग लेकर घृतकुमारी के स्वरस मे अच्छी तरह खरल करके मूंग के बराबर वटिकायें बनालें। मात्रा—अनुपान—बच्चें के लिये आधी वटी मा के दूध अथवा बच तथा शहद के साथ दे। पूरी उम्र वालों के लिये १ वटी खाड मिले हुए दूध के साथ सेवन करानी चाहिये। इसके सेवन से बालको के ज्वर, श्वास, वमन, पारिगर्भिक रोग, सर्वग्रह दोष, दूध का न पीना, कामला, अतिसार, दौर्बल्य, और जठराग्नि के बिकार आदि रोग नि.सन्देह दूर होते हैं।

बाल निमोनियां (पसली या डब्बा रोग) पर स्वानुभव—

बंगला पान का रस निचोड़ कर गरम करके रस मे चावल बराबर कस्तूरी घोल कर पिलावे। इसी



प्रकार दिन रात मे ४ वार पिलाने से पसली रोग शान्त होता है। इस रोग की चिकित्सा स्वेद, लेप, और खिलाने की दवा से करनी चाहिये। देरी से इलाज करने पर बच्चे कष्ट में पड़ जाते हैं और आराम होना कठिन हो जाता है।

२. अनुभूत प्रयोग—रससिंदूर १ रत्ती, शृङ्ग भस्म २ रत्ती दोनों को खरल कर रखले और आठ पुड़िया बनाले। मां के दूध मे या मधु मे दिन रात मे ४ बार दे। फिर भी दूसरे दिन इसी प्रकार दें और निम्नलिखित लेप और स्वेद करे तो बीमारी शीघ्र दबकर बच्चे आरोग्य हो जाते है।

लेप—गेरू सरसों के तैल में पीसकर गरम करके दोनों पार्श्व (पसली चलने के स्थान) पर लेप कर दे और बैंगन (भटा) के पत्ते आग पर सेक कर उस पर रख कपड़े से बांध दे। इस प्रकार दिन रात में कई बार लेप करे और उपरोक्त दवा खिलावे तो बीमारी दूसरे ही दिन दब जाती है। यह दवा और लेप बीमारी के प्रबल रहने पर ही करना चाहिये। बाद मे अगर कुछ कुछ खांसी रहे तो शृङ्गादि चूर्ण (काकड़ासिंगी, पीपल, अतीस, नागरमोथा) मधु में मिलाकर सुबह शाम सेवन करावे और पुराने गाय के घी मे सेधानमक मिलाकर गरम करके सिर्फ छाती पर मलें अथवा पान के पत्ते पर गाय का घी लगाकर आग पर सेक कर, छाती पर रखे तो कफ पिघलकर शुष्क खासी आदि दूर होती है।

३. बंगलापान पक्का ३ माशा, पीपल २ माशे एक घूंट पानी मे पीसकर गरम करके बालक को पिलावे तो पसली ज्वर आदि दूर हो जाते हैं। लेप—धतूर के पत्तों के रस, सोंठ का चूर्ण, अफीम एक मे मिलाकर के गरम कर पसली चलने की जगह लेप करें और बालू की पोटली से सेके तो शीघ्र लाभ होगा।

—श्री ठा० गोखुलानन्दसिह वैद्यशास्त्री आयुर्वेदाचार्य,
माधोपुर सिंगाही, मुजफ्फरपुर (विहार)

डब्बानाशिनी वटी अनेकों बार की परीक्षित—

स्वर्णक्षीरी के बीज और सत रेबन्द चीनी दोनों समान भाग घोट पास रख लेवे। (स्वर्णक्षीरी, सत्यानाशी, भरभण्ड, करुवा पर्यायवाची शब्द हैं)। इसी के रस मे दवा घोटनी चाहिए। मात्रा—१-२ रत्ती माता के दूध या जल से देवें। इससे १-२ दस्त तथा उल्टी होकर संचित कफ निकल कर १ घंटे में ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। आवश्यकता हो तो २ घंटा बाद पुन. एक मात्रा दे देवें।

यह योग रसतन्त्रसार भाग एक का है। मैंने अनेकों बार काम मे लिया है।

—श्री रामफल मिश्र आयुर्वेद विशारद
जनपद आयुर्वेदिक औषधालय
खलारी-भीमखोज (रायपुर) म० प्र०

न्यूमोनिया नाशक सफल प्रयोग

नीला थोथा ३ माशे, शुद्ध जैपाल के बीज १२ माशे, जवाखार १८ माशे, शुण्ठी ३६ माशे—इन ४ औषधियों को बारीक पीस कपड़छन चूर्ण बनाके तुलसी के स्वरस में ३ घंटा पर्यन्त मर्दन करके ¼ रत्ती की गुटिका बनाकर शीशी मे सुरक्षित रखें। शीशी की एक गोली माता के दूध और मधु के साथ देने से १ घंटा पश्चात् बालक को उल्टी या दस्त होगा। उसके साथ ही बहुत सा कफ निकल जायगा। अगर एक दफा देने से उल्टी दस्त न हो तो १ गोली और भी दे सकते हैं। १ या २ गोली से अधिक नहीं देनी चाहिए। उल्टी और दस्त होने के बाद नम्बर दो की निम्न पुड़िया बनाकर दे—

गौदन्ती भस्म, श्वास कुठार रस, माणिक रस, (जो हड़ताल और अभ्रक के संयोग से बना हो), शख भस्म सब ¼-¼ रत्ती मिलाने पर १ मात्रा बनती है। ऐसी २-३ मात्रा तुलसी के रस के साथ देवे और हर १ मात्रा के बाद शीत सिश्री रस ½ रत्ती नागरवेल के पान के रस के साथ दे।

—श्री महन्त भगवानदास वैद्य
बहारपुरा दोहद (पंचमहाल) गुजरात

बालकों के नेत्र रोग

कविराज श्री विष्णुदत्त पुरोहित आयुर्वेदाचार्य

मानव शरीर का जिस तरह प्रत्येक अङ्ग व उसका अवयव उपयोगी है ठीक वैसे ही मानव शरीर की आखे अपना एक विशेष महत्व रखती हैं। बाल्यावस्था मानव शरीर की पहली स्थूलभूमि है एवं गर्भगत बालक की स्थिति सूक्ष्म भूमि। आयुर्वेदीय चिकित्साविज्ञो ने गर्भावस्था से ही बालक के प्रत्येक अङ्ग व उसके अवयवों की रक्षा सम्बन्धी एक ठोस योजना अपने शास्त्रों मे वर्णित की है। यो आयुर्वेद ने साधारण रीत्या यह उद्-घोषित किया है कि "यदि हम प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन न करे तो शरीर को किसी भी प्रकार के रोग का सामना नहीं करना पड़े।" किन्तु दुर्भाग्य से आज हमारे इस मौलिक महत्वपूर्ण नियम को पालन के स्थान पर प्रतिस्पर्धा से उल्लंघन ही किया जारहा है। और आये दिन बीमारियो की वृद्धि का भी चरमोत्कर्ष हमे भुगतना पड़ रहा है। जिससे सभी वैज्ञानिक एवं मानव मात्र भयकर रूप से उत्पीड़ित हैं। उनकी उत्पीड़ितावस्था मे हर एक वैद्य सोचता है—यदि आज भी सादा व पौष्टिक आहार का सेवन और खुलीहवा मे रहना, हम अपना नियम बनालें और पथ्यशील व्यक्ति दिनचर्या, रात्रिचर्या एव ऋतुचर्या का भलीभांति पालन करते रहे तो अपने शरीर को बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक निरोग रखने मे हम समर्थ हो सकते हैं एवं देश की अतुल संपत्ति को विदेशों में जाने से रोक सकते हैं। साथ साथ सुखी व समृद्ध रहते हुए विश्व के के सम्मुख एक अतुलनीनीय उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं।

सामान्य नेत्रो की रचना अति सूक्ष्म है। वह छोटे नींबू सा एक गोल अवयव है। यह वास्तव मे प्रकृति की एक अद्‌भुत रचना है जो कि अपने आप मे सर्वथा परिपूर्ण है, उसकी इस पूर्णता को स्थायित्व देने के लिये भी प्रकृति ने पूर्ण चेष्टा की है। बाल्यावस्था अथवा गर्भावस्था मे ही इसकी युक्त परिचर्या की जाय तो वृद्धावस्था तक इसे हम निरोग रख सकते हैं और किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। कारण प्रकृति ने स्वयं इसकी सुरक्षा में अत्यन्त ही सहयोग दिया है।

नेत्र मानव शरीर का ही एक अङ्ग होने के कारण जो नियम समस्त शरीर या उसके किसी अवयव के लिये लागू किये गये हैं वे ही आंख के लिये भी लागू होते हैं। यदि हम आखों का दुरुप-योग न करे, उनकी शक्ति से अधिक काम न लें और उन्हें भलीभाति स्वस्थ रखें तो पूर्णायु पर्यन्त वे हमारा साथ निभा सकती हैं। उन्हे न सुरमे की आवश्यकता है न काजल की और न त्रिफला जल के छींटों ही की, प्रत्युत उन्हे तो युक्ताहार व स्वच्छता की ही जरूरत है। कारण प्रकृति ने इसकी रचना ही ऐसे ढङ्ग से की है कि बाह्यदोषों से इनका कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं, हा आन्तरिक दोषो से इनमे सहज ही विकार पैदा होता रहता है, अतः प्राकृतिक नियमानुसार हिताहार विहार एवं स्वच्छता ही इनका स्थायित्व है। यहा थोड़ा इनकी रचना के बारे में लिखना अप्रासंगिक न होगा।

नेत्र के अङ्ग—१. नेत्र गोलक, २. नेत्र की धम-निया, शिराये, रसवाहिनिया तथा वात नाड़िया, ३. नेत्र गोलक को गति की शक्ति देने वाली मास-पेशिया एवं ४. नेत्र श्लेष्मावरण या नेत्र वर्त्म।

नेत्र के उपाङ्ग—१. पल नेत्रच्छद, २. भ्रू, ३. अश्र जनक पिण्ड-अश्रु ग्रंथियां [अश्रु वाहक प्रणा-लिका] अश्रु द्वार, अश्रु वाहक नलिका, अश्रु प्रपिका अश्वाशय, अश्रु कुम्भिका, [अश्रु वाहक नल-नासा सुरङ्ग गत अश्रु वाहिका सह] ४. नेत्र गृह-नेत्रगुहा।

नेत्र गोलक के भाग—१. शुक्लमंडल, २. नेत्र-बाह्य पटल ३. तारामण्डल, ४ तन्तु समूह, ५. नेत्र मध्य पटल, ६. नेत्रदर्पण, ७. जलमय रस का पूर्व

खंड, ८. जलमय रस का पश्चिम खण्ड, ९. दृष्टि मणि-यवकाच, १०. दृष्टिमणि आवरण, ११. कांच रूप रस, १२. दर्शन नाड़ी एव १३. दर्शन नाड़ी का सिरा, बिम्बांकुरिका।

नवजात शिशु का नेत्र गोलक बिल्कुल गोलाकार होता है, किन्तु जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है वैसे वैसे कुछ लम्बा गोलाकर बनता जाता है। नेत्रगृह मे नेत्र गोलक मासपेशियों और श्लेष्मावरण जैसे आच्छादनों से बधा हुआ रहता है। इस आच्छादन को आच्छादन नेत्रवर कला कोष कहते हैं। नेत्र गोलक का अनुलम्ब (पूर्वपश्चिम) व्यास बाह्य भाग में २४.१५ मिलीमीटर (१.०२३ इंच) और भीतर के भाग में २२.१२ मि. मी. है। नेत्र के दोनों के कोणों के बीच अनुप्रस्थ (वाम दक्षिण) २४.१३ मि. मी. और उत्तान (खड़ा) व्यास २३.४८ मि. मी. है। सामान्यतः स्थूल रूप मे नेत्र गोलक का व्यास सब ओर लगभग १ इञ्च है। सामान्यतः जन्म के समय सबल शिशु के नेत्र का अनुलम्ब व्यास लगभग १७.५ मि. मी. और युवावस्था मे प्रवेश होने पर २०.२१ मि. मी. होता है। पुरुषों के तीनों व्यास स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक होते हैं।

नेत्र गोलक का वजन औसत १०५ ग्रेन अर्थात् ६।।। माशे होता है। दोनों नेत्रों के अक्ष समानान्तर हैं, किन्तु दोनों नेत्रों के नेत्रगृहों के अक्ष समानान्तर नहीं होते। दर्शनतन्तु के अक्ष नेत्रगृह के अक्षों से मिलते जुलते होते हैं।

नेत्रगोलक के दो भाग हुए हों ऐसी अधिक सम्भावना है। आगे के हिस्से मे १/६ भाग जो घडी के काच के समान दीखता है उसे शुक्ल मण्डल कहते है जो कि पारदर्शक है। पश्चात् भाग ५/६ जो भाग है उसे अपारदर्शक कहते हैं उसे नेत्रबाह्य पटल भी कहते हैं। शुक्ल मण्डल और नेत्रबाह्यपटल जिस स्थान पर मिलते हैं, वहीं सहज दबा हुआ गोलाकार भाग बनता है उस भाग को स्वच्छ-शुक्ल संधि की सज्ञा दी है। शुक्ल मंडल का मध्य विन्दु और नेत्र बाह्य आच्छादन का पिछला मध्य विन्दु, इन दोनों विन्दुओ को जोड़ने वाली रेखा को 'नेत्राक्षरेखा' करते हैं। जो रेखा नेत्रदर्पण के मध्य मे पीत विन्दु से शुक्ल मण्डल के मध्य भाग की अपेक्षा कुछ भीतर के भाग मे होकर जाती है उसे 'दृश्याक्ष रेखा' कहते है। यह रेखा विशेष महत्व की है। ह्रस्व दृष्टि अथवा दीर्घ दृष्टि जैसी विकृति मे जहां नेत्र गोलक लम्बा या छोटा हो जाता है, वहां इस अक्ष रेखा मे भी अन्तर होता है।

नेत्रगोलक नेत्रगृह के भीतर आगे के हिस्से मे अवस्थित है। वह नेत्र गृह के ऊपर की ओर, बाहर की दीवार से कुछ अधिक समीप रहता है। किसी भी स्थान मे नेत्र गृह के किसी भी भाग के साथ नेत्र गोलक सीधा नहीं चिपका है। किन्तु नेत्रगृह की अस्थि और नेत्रगृह गोलक के बीच मे कुछ चर्बी का हिस्सा आया है। नेत्रगृह की बाहर की दीवार वहां तक पिछली ओर देखने मे आती है कि उस स्थल में नेत्र गोलक का कुछ भाग खुला होजाता है, ऐसा भास होता है। विशेषत: शुक्ल मण्डल का मध्यभाग इस तरह अवस्थित है कि नेत्रगृह के ऊपर और नीचे के भाग में लगी हुई एक पट्टी रखी जाय तो वह शुक्ल मण्डल के मध्यभाग को कुछ स्पर्श करती है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति मे इस तरह नहीं होता। कुछ मनुष्यों मे नेत्रगोलक किंचित आगे बढ़े हुए दीखते हैं और गहरे उतरे हुए दीखते हैं। दोनों पुतलियां (तारों) के मध्य भाग का अन्तर बहुधा ६० मि. मी अर्थात् लगभग २⅓ इञ्च होता है।

नेत्रगोलक मुख्यत: तीन पटलो से बना है [१] बाह्यपटल और शुक्ल मण्डल, [२] नेत्र धमनीमय मध्यपटल और [३] नेत्रान्तर पटल [नेत्रदर्पण]। नेत्रबाह्यपटल और शुक्ल मण्डल इन दो अवयवों से चक्षु का आवरण बना है। उसमें शुक्ल मण्डल १/६ भाग मे और बाह्यपटल ५/६ जितने हिस्से मे अवस्थित है।

उपरोक्त रीत्या नेत्रगोलक का परिचय सूक्ष्मतः दे देने के बाद अब बालकों के नेत्रों को प्रकृति माता किस तरह सतत सहायता करती है उसका निरूपण कर नेत्र रोगों के निदान व चिकित्सा पर प्रकाश डाला जायगा।

प्राकृतिक साहाय्य—

निसर्ग ने आंखों की रक्षा के लिये दो पलक बनाये हैं मानो स्वयं खुलने तथा बन्द होने वाले दरवाजे हैं। आख को किसी प्रकार की हानि पहुचने की सम्भावना होते ही वे तुरन्त बन्द हो जाते हैं। पलकों के किनारे पर बालों की एक पंक्ति रहती है मानों वे द्वारपाल हैं जो आख के भीतर जन्तु, धूलिकण आदि के प्रवेश को रोकते हैं। रात्रि के समय जब हम सो जाते हैं पलक बन्द रहता है जिससे बाहर की हवा पुतली को नहीं लग सकती। केवल यही नहीं बल्कि पलक के बालों के नीचे एक प्रकार का गाढा प्रवाही पदार्थ उत्पन्न करने वाली कुछ नलियां भी रहती हैं जिनमे से निकल कर यह प्रवाही पदार्थ दोनो पुतलियों के ऊपर आ जाता है जिससे पुतलिया इस तरह ढक जाती है कि आख के अन्दर की वाष्प बाहर नहीं निकल सकती और न बाहर की हवा भीतर जा सकती है अतएव पुतली सर्वथा शुष्क नहीं हो सकती। यदि वह बिल्कुल सूख जाय तो अत्यन्त अनिष्टकारक परिणाम उत्पन्न हो सकता है। इस अनिष्ट का प्रमाण हमको उस समय भलीभाति मिल सकता है कि जब कोई रोगी ज्वर अथवा किसी व्याधि के कारण कई दिन तक मौन पड़ा रहे। और उसकी आखें अर्ध निमीलितावस्था मे ही रहे। यह दशा उपस्थित होने पर हम बहुत शीघ्र देखेंगे कि आंखे खुली रहने के कारण पुतली का जो भाग खुला रहता है वह सूख गया है और उसमे घाव होगया है।

आंख में थोड़ा बहुत मैल चला भी जाता है तो उसे धोकर साफ करने के लिये आसू तैयार रहते हैं। जब आख मे मैल नहीं रहता तो केवल उतने ही आसू उत्पन्न होते हैं कि जिनसे केवल पुतली भीगी रहे, परन्तु जब मैल को धोकर बाहर निकालने की आवश्यकता होती है अथवा आख को हानि पहुचाने वाले धूम्र इत्यादि के प्रभाव को कम करना आवश्यक होता है तो आसू पर्याप्त प्रमाण में उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों ने आंसुओं के एक गुण का भी पता लगाया है। वह यह है कि हवा अथवा धूल इत्यादि के द्वारा आख मे जो जीवाणु पहुँच जाते हैं आंसू उन्हें विनष्ट कर देते हैं और उनसे आखों को स्वच्छ रखने के लिये पलक के बाल भी बड़ा काम करते हैं। यह बाल एक मिनिट में लगभग २० बार पुतली को साफ कर देते हैं। यह सब व्यवस्था केवल पुतली को स्वच्छ रखने के ही लिये है।

आंख के भीतर रहने वाले नेत्रदर्पण जैसे कोमल पर्दों को अधिक प्रकाश से बचाने लिये अक्षिगोलक के बीच में काला रङ्ग लगाया है। जिससे केवल कनीनिका के द्वारा ही प्रकाश आखों में जा सकता है और उसमें भी अत्यन्त सूक्ष्म और यथोचित व्यवस्था की गई है। जब प्रकाश थोड़ा हो तो वह बड़ी हो जाती है जिससे आख में अधिक प्रकाश जा सकता है। अधिक प्रकाश में वह संकुचित हो जाती है जिससे आख में बहुत थोड़ा प्रकाश प्रवेश कर सकता है।

इस विवेचन से हम भलीभाति जान सकते हैं कि आख को स्वस्थ रखने के लिये प्रकृति ने स्वयं समस्त व्यवस्था कर रक्खी है और हमारे लिये केवल यही काम शेष रह जाता है कि उसके निर्धारित नियमों का यथोचित पालन करते रहें। अवस्था भेद से आंखों की सभाल करने के लिये निम्नलिखित विभाग किये गए है—

१. गर्भावस्था, २. जन्मकाल, ३. बाल्यावस्था, ४. युवावस्था और ५. वृद्धावस्था।

गर्भावस्था में सावधानी—कुछ एक नेत्र रोग जैसे कि शुक्ल मण्डल का गर्भप्रदाह, उपदंश पीडित

माता पिता की संतति को ही होता है। उसे रोकने
के लिये सगर्भावस्था में ही माता पिता की योग्य
चिकित्सा कर उपदंश के विष को रक्त में से नष्ट
कर देना चाहिए। जन्म के पहले बच्चों को कितने ही
नेत्र रोगों की सम्प्राप्ति के कारणों में से एक कारण
यह है कि माता को योग्य पोषक तत्वयुक्त आहार
न मिलना। अतः सगर्भा को भावी सन्तान के
संरक्षणार्थ हितकर पौष्टिक पथ्य व आहार दें।

जन्मकाल में सावधानी—हम ऊपर बतला चुके
है कि जन्म देने वाली माता को सुजाक के कीटा-
णुओं से उत्पन्न प्रदर हो तो प्रसवकाल में शिशु के
नेत्रों के कीटाणुओं का संसर्ग हो जाता है। फिर
उसी हेतु से नेत्र श्लेष्मावरण का भयंकर प्रदाह हो
जाता है। अतः इस रोग से बचने के लिये तत्काल
योग्य परिचर्या न की जाय तो उस रोग से हजारों
बल्कि लाखों बालकों की आखें चली जाती हैं।
फिर मृत्युपर्यन्त कष्ट सहन करना पड़ता है।

जन्म के पश्चात् बालक को तुरन्त स्नान कर-
वाया जाता है और साथ ही उसकी आंखें भी
धोई जाती है। इसके पश्चात् भारत के अनेक
प्रान्तों मे काजल लगाने की प्रथा है। परंतु यह
प्रथा यूरोपिन देशों मे नहीं है। यदि हम दोनों
देशों के बालकों की आंखों का मुकाबिला करें तो
मालूम होगा कि यूरोपिन बालकों की आंखों मे
रोहे बहुत कम पाये जाते हैं। रोहे छूत का रोग
है और वह इस काजल द्वारा अज्ञानी माता या
धाय द्वारा अनेक निरपराधी बच्चों को प्राप्त हो
जाता है।

बालकों की आंखें धोने के बाद एक साफ
तौलिया या रूमाल से पौंछ देना चाहिये। यह
रूमाल या तौलिया हरेक बालक के लिये जुदा जुदा
होना चाहिये। किसी आख दुखने वाले का जिसे
कि रोहे का छूत का रोग हो तौलिया या रूमाल
काम में नहीं लिया जाना चाहिये। रोहों का रोग
कच्छ, काठियावाड़, गुजरात, राजस्थान और
पंजाब में अधिक पाया जाता है। यह रोग अत्यन्त
कष्टसाध्य है। इससे आंख के भीतर कितने ही
रोग पैदा हो जाया करते हैं। कितने ही बार इससे
आखे चली जाती है, या नजर को नुकसान पहुं-
चता है।

वर्तमान समय के आधुनिक नेत्र चिकित्सकों
ने अपने सूक्ष्मावलोकन एवं असंख्य प्रयोगों द्वारा
निश्चय किया है कि रोहों का कारण 'रोहों का चेप'
ही होता है। अगर रोहों वाली आंखों का लगाया
हुआ हाथ, कपड़ा या रूमाल अथवा धोती का छोर
तन्दुरुस्त आंख को लगता है तो उसमें भी रोहे
होने की संभावना रहती है। नेत्र वैद्यों को भी इस
चेप से सावधान रहने की अत्यन्त आवश्यकता है।
जिस किसी स्थान मे कभी हवा या रोशनी नहीं
पहुचती उनमे रोहों वाले बालक रोगी के साथ तन्दु-
रुस्त आखों वाले स्त्री, पुरुष या बालक सोयें तो
उन्हे भी इस रोग के होने की अधिकांश मे सम्भा-
वना रहती है। अतः ऐसे स्थान पर तन्दुरुस्तों को
नहीं सोना चाहिये। अगर कभी ऐसे रोगी की
आंखों मे हाथ लगाना पड़े तो पहले हाथों को
साबुन से धोकर फिर रस कपूर के पानी या कोलन
वाटर से धो लेना चाहिये।

बाल्यावस्था मे सावधानी—बाल्यावस्था में यदि
स्वास्थीय नियमों का पालन किया जाय तो फिर
युवावस्था व वृद्धावस्था मे अधिक आपत्ति नहीं
आती। कारण बाल्यावस्था मे नेत्र के अङ्ग कोमल
होते हैं, इस अवस्था मे शारीरिक विकास के साथ
साथ नेत्र के अङ्गों का भी विकास होता रहता है।
ऐसी अवस्था मे यदि आवश्यक पोषण मे न्यूनता
रही तो नेत्र के अङ्गों का यथोचित विकास नहीं
हो सकता। नियम भंग से रोगोत्पत्ति होती ही है
एवं पोषण मे भी बाधा पहुचती है तथा इसमें भी
हानि संभव है। अत. युवावस्था तथा वृद्धावस्था की
अपेक्षा नेत्रो की रक्षा के लिये बाल्यावस्था में
निम्नलिखित नियमो का पालन अत्यावश्यक है—



(१) बालक की आंख पर सीधा प्रकाश नहीं पड़ना चाहिये। लैम्प अथवा दीपक भी ऐसे स्थान पर रखना चाहिये कि उसका सीधा प्रकाश बालक पर न पड़े। बालक सुलाना भी ऐसे स्थान पर चाहिये कि सूर्य रश्मियां सीधी उसकी आंख पर न पड़ें। बिजली के लेम्प पर पर्दा लगा दें।

(२) बालक को संक्रामक रोगों से बचाये।

(३) बालक के खेलने के लिये छोटे खिलौने नहीं देने चाहिये। क्योकि छोटे खिलौने भली-भाति देखने के लिये बालक उन्हें अति निकट लेजा कर देखता है। इससे सभी वस्तुओं को निकट से देखने की आदत पड़ जाती है। परिणामत: बालक जब अध्ययन प्राप्त करता है तब पुस्तक भी आंख के नजदीक रखता है। यह आदत ह्रस्व दृष्टि की आधार शिला है।

बालक पांच वर्ष का हो जाय और पाठशाला पढ़ने जाने लगे तब उसकी आंखों की रक्षार्थ निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये—

उसके पढ़ने लिखने का कमरा ऐसा होना चाहिये जिसमे प्रकाश भलीभाति आता हो। यदि संभव हो तो उसके बैठने का आसन व कुर्सी उत्तर दिशा की खिड़की की ओर रखनी चाहिये जिससे उसे प्रकाश समान रूप से मिलता रहे। यदि कुर्सी मेज दी जाय तो मेज इतनी नीची न होनी चाहिये कि बालक को अपना सिर पुस्तक पर झुकाने की आवश्यकता पड़े। क्योंकि ऐसा करने पर आंख नीची रहती हैं और गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार उनमे अधिक रक्त भर जाता है जिससे नेत्र गोलक लम्बे होकर बालक की दृष्टि दूर देखने में असमर्थ हो जाती है जिसे ह्रस्व दृष्टि कहते हैं। इस कार्य के लिये ऊंची टेबिल अथवा ढालू डेस्क अधिक उपयुक्त रहता है। बालक पुस्तक को आंख के पास रखकर न पढ़े। क्योंकि ऐसा करने से स्वस्थ आंख मे भी ह्रस्व दृष्टि उत्पन्न होने लगती है और ह्रस्व दृष्टि एक ऐसा रोग है कि एक बार शुरू हो जाता है तो फिर उसे रोकना बड़ा ही कठिन हो जाता है।

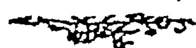
नेत्र रोगों की चिकित्सा—

मैं अपने चिकित्सालय मे नेत्र रोगों की चिकित्सा बड़े ही मनोयोग से किया करता हूँ। बालकों की आंखों के रोगों मे तो मैं माता के स्तन्य ही का प्रयोग करवाया करता हूँ। इससे नवजात का नेत्राभिष्यन्द आदि रोग बहुत आसानी से नष्ट हो जाते हैं। साथ साथ ३ माह से ऊपर वाले बालकों को 'सप्तामृत लौह' का भी घी व मधु के साथ सेवन करवाता हूँ। त्रिफला क्वाथ से आंखों की शुद्धि व स्वेदन भी करवाया करता हूँ। आंखों मे फूले आदि के लिये हमारे शहर के पास ही एक पचपदा नामक गांव है उसमे एक प्रकार का नमक काच के सदृश आकाशी आभा लिये निकलता है वह जल मे घिसकर लगवाया करता हूँ। शोथ में दाणां मेथी उबाल कर बंधवाता हूँ। चोट आदि लगने पर विशुद्ध मधु वा पुराना घी डाला करता हूँ और भी बालकों के नेत्र रोग में त्रिफला के विविध प्रयोगों को काम मे लाया करता हूँ। मैं मानता हूँ कि नेत्र रोग पेट की खराबी के बिना नहीं होते अत: पेट को साफ रखाने में ज्यादा श्रम किया करता हूँ। चन्द्रोदयावर्ती का भी प्रयोग करता हूँ। त्रिफला घृत का मुझे बहुत ही विश्वास है। इसमे बड़े बड़े आंख के रोग मैने स्वस्थ किए हैं, बतलाये भी हैं और किसी से भी उपालम्भ नहीं मिला है। मैं आंखों की प्राकृतिक संज्ञता का पक्षपाती हूँ। उसीका मैंने वर्णन किया है। चूने के पानी का भी मैंने इसमे आश्चर्यजनक लाभ पाया है। इससे बालकों के सारे रोग (आख रोग भी) मिटाये हैं। घी, खाड, त्रिफला रात में भिगो (कांसे के बर्तन मे) पानी पर तैरायें तब प्रात. चटवाने से भी अच्छा लाभ होता देखा गया है।

—कविराज श्री विष्णुदत्त पुरोहित
आयुर्वेदाचार्य, जोधपुर।

नेत्र रोगों की सामान्य चिकित्सा

आयुर्वेदाचार्य डा० सत्यनारायण खरे ए., एम. बी. एस.



नेत्र शरीर का एक प्रधान अङ्ग है। इसकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। नेत्रहीन प्राणी ससार मे अपनी उन्नति करने में असमर्थ है। संसार की सभी वस्तुयें, सभी मनोरंजन, सभी विषैले जानवर एवं सभी दैनिक कार्यों को नेत्रहीन व्यक्ति न देख सकता है और न सुचारु रूप से कार्य कर भी सकता है। वह अपने जीवन को पृथ्वी पर भारस्वरूप व वेकार समझता है। कुछ प्राणी जन्म से ही अन्धे होते हैं उनके लिये तो कोई चिकित्सा नहीं होती है, परन्तु कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने बच्चों के नेत्र रोगों पर ध्यान नहीं देते, बाद मे वह नादान बच्चे नेत्रहीन हो जाते हैं। बच्चों के जीवन को उन्नतमय बनाने के लिए उनके सरक्षकों का कर्त्तव्य है कि वह अपने बच्चों के नेत्रों की रक्षा करें। उनके नेत्रो की रक्षा उष्णता, शीतलता, अभिघात, धूम्र, यात्रिक अभिघात, रसायनिक तेजाब इत्यादि का अभिघात, कीटाणुजन्य अभिघात, आकस्मिक अभिघात एवं धूल इत्यादि से करें। इन्हीं कारणों से नेत्ररोग होते हैं। इनसे नेत्रों को बचाना ही नेत्रों की सामान्य चिकित्सा है। आहार एव विटामिन की कमी से भी नेत्ररोग उत्पन्न हो जाते हैं जैसे रतौंधी (Xerophthalmia) विटामिन ए की कमी से होती है।

शिशु के पैदा होते ही उसकी आंखों की रक्षा करनी चाहिये तभी भविष्य मे उसकी आखें स्वस्थ रहेंगी। पैदा होने के पश्चात् शिशु को स्नान कराया जाता है। उसी समय शुद्ध टकण (बोरिक एसिड) को गर्म पानी मे डालकर किंचित उष्णजल से आखों को साफ करना चाहिए। क्योंकि गर्भाशय के विकृत रक्त मे अनेक प्रकार के कीटाणु होते हैं। इन्हीं के उपसर्ग द्वारा नवजात शिशु को नेत्राभिष्यन्द रोग हो जाता है। इसी समय यदि ध्यान न दिया गया तो फूली एवं जाला पड़ने का डर रहता है। आखों को बोरिक एसिड के उष्ण जल से धोने के बाद आंखों का पीला लोशन (एक्रीफिलेविन ड्राप्स) डाल देना चाहिये। इससे कीटाणुओं के संक्रमण का कोई भय नहीं रहता है।

शिशु पूय मेह (Ophthalmia neonatorum)—इसके होने पर शिशु रोता रहता है, कानों को खींचता है। बालक के नेत्र जन्म से दूसरे-तीसरे दिन सूज जाते हैं। आंखो से पूय का स्राव होने लगता है। शिशु नेत्र नहीं खोल पाता है। शिशु को बुखार रहता है कान के नीचे की ग्रन्थियां सूज जाती हैं। आखों को छूने पर भी शिशु रोता है। यदि यह सूजन एक सप्ताह के अन्दर ठीक नहीं हुई तो कृष्णमण्डल पक जाता है। इस प्रकार पूरा नेत्र गोलक सड़कर निकल जाता है। आख मे गड्ढा हो जाता है और बालक अन्धा हो जाता है। इसलिये ऐसी अवस्था मे नेत्र की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए। इसकी चिकित्सा निम्न है—

(१) आंख को बोरिक एसिड के उष्ण जल से साफ करते रहना चाहिये जिससे कि आंख के अंदर पूय एकत्र न हो सके। आख साफ करने के बाद लोक्युला ड्राप, पेन्सिलीन ड्राप तथा पेन्सिलीन नेत्र मलहम का प्रयोग भी किया जा सकता है।

(२) यदि आख की सूजन और लालिमा ठीक न हो तो दूध (Milk protien) का सूचीवेध मांसान्तर्गत नितम्ब भाग मे १ से १॥ c. c. तक देना चाहिये। यह इञ्जेक्शन २ दिन के अन्तर से लगाना चाहिये। इस इञ्जेक्शन को सावधानी से लगायें क्योंकि फोड़ा बनने का डर रहता है। इसलिये इसे मास में गहराई से लगाना चाहिये।

आखों मे बार बार अभिष्यन्द होने से जीर्ण नेत्राभिष्यन्द हो जाता है। आख के पलकों के



श्लेष्मावरण में हमेशा लालिमा बनी रहती है और छोटी छोटी फुन्सियां पैदा हो जाती है। इनको रोहे (Trachoma) कहते हैं। यह कभी कभी फूल जाते है तो आंख के पलक सूजकर बन्द हो जाते हैं। इसका आक्रमण बच्चों को अधिकतर होता है। इस रोग से बच्चो की आखों की रक्षा निम्न प्रकार से करनी चाहिये—

(१) यह संसर्ग वाला रोग है इस कारण पीड़ित व्यक्ति की आख का स्राव स्वस्थ व्यक्ति की आंखों के संपर्क मे आकर रोग का उत्पादन करता है। इसलिये रोगी के हाथ, रूमाल या कपड़ों से स्वस्थ व्यक्ति को दूर रहना चाहिए क्योंकि रोगग्रस्त आखों को इनसे पोंछने के बाद स्वस्थ आख मे मे लगाने से रोहे हो जाते है। अनेक मूर्ख मातायें अपनी साड़ी से अपनी आखों को पोंछ देती हैं इससे भी रोहे हो जाते है।

(२) एक परिवार मे काजल की डिब्बी एक ही होती है। इसी डिब्बी से परिवार के सभी बच्चों को काजल लगाया जाता है। इसलिये रोगग्रस्त आखों का स्राव अंगुली द्वारा उस डिब्बी से पहुच जाता है फिर उस डिब्बी से काजल लगाते समय दूसरे बच्चे के स्वस्थ नेत्र पोथकी से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिये काजल की डिब्बी प्रत्येक व्यक्ति की अलग अलग होनी चाहिये जिससे संक्रमण एक आख से दूसरी आख मे न जावे।

(३) तेज वायु, धूप, धूल और धूम्रयुक्त वातावरण मे काम करने वाले व्यक्तियों और बच्चों को यह रोग हो जाता है। इन कारणों से नेत्ररोग बार बार हो जाते हैं। इसलिये इन कारणों से बचना चाहिये। पोथकी के लक्षण तथा चिन्ह निम्न है—

१. स्राविन्य—आखों से जल स्राव हमेशा होता रहता है जो विशेषत धूप, धूम और वायु के कारण आख पर जोर पड़ने से होता है।

२. प्रकाशासह्यता—रोगी प्रकाश की ओर देख नहीं सकता है। कई दिनो तक अंधेरे कमरे मे शिर को नीचा किए पड़ा रहता है।

३. वेदना—आंख मे पीड़ा हमेशा रहती है। आंख में किरकिरी पड़ी रहने के समान त्रास होता है।

४. आंख खोलने मे अक्षमता—आंख मे लाली आकर अश्रु स्राव होने लगता है। प्रात:काल में अभिष्यन्द के समान कीचड़ आकर आंख चिपक जाती हैं। रोगी की आंखे पूर्णतया नहीं खुलतीं।

५. आंखों के पलकों मे अधिक सूजन पैदा हो जाती है।

यदि इस रोग की उपयुक्त चिकित्सा नहीं की गई तो अनेक आंखो मे उपद्रव पैदा हो जाते हैं। यहां तक कि शिशु नेत्रहीन भी हो सकता है।

पोथकी की अनुभूत चिकित्सा—

(१) बोरिक एसिड पाउडर के उष्ण जल से आंखें प्रक्षालन एवं सेक करें, बाद मे सिलवर आयोडाइड की २-२ बूंद आंखों मे डालें।

(२) प्रत्येक रोग मे बोरिक एसिड पाउडर के जल से नेत्र प्रक्षालन करना लाभप्रद होता है। इसके बाद निम्न नेत्रबिन्दु एवं नेत्र मलहम लगाना चाहिये-

(अ) लोकुला ड्राप—इसकी २-२ बूंद दिन मे चार बार आखों में डालनी चाहिये जब तक कि आंखे पूर्णरूपेण स्वस्थ न हो जावे।

(आ) सल्फासिटामाइड ड्राप एवं मलहम—इसकी १०, २० प्रतिशत एव ३० प्रतिशत की शक्ति के नेत्रबिन्दु आते हैं। इसकी १० प्रतिशत की शक्ति की मलहम भी आती है। यह नेत्र रोग में अत्यन्त लाभदायक है।

(इ) पेनसिलीन नेत्र मलहम—इसकी २५००० यूनिट के शक्ति की नेत्र मलहम आती है और यह नेत्र रोगों में अत्यन्त लाभदायक होती है। ग्रामों मे यह मलहम ५००० यूनिट की शक्ति की मिलती है। इसको प्रयोग में न लाना चाहिये क्योंकि यह कम लाभदायक है।



(ई) कोई कोई चिकित्सक पेनसिलीन के इन्जेक्शन का पाउडर परिस्रुत जल में घोलकर उसका घोल आंखों मे डालते हैं। यह भी लाभप्रद है।

(उ) एक्रीफिलेविन को परिस्रुत जल या गुलाब जल मे घोलकर नेत्रबिन्दु बनाये जाते है। यह बिन्दु अधिक लाभदायक होते हैं। अधिकतर औषधालयों में पीले लोशन के नाम से यह मिलता है।

(ऊ) एक्रीफिलेविन की मलहम भी आती है जिसे वर्नाल कहते हैं। नेत्र रोग मे लाभदायक है।

(३) शिशुओं की आंखों पर माता के दुग्ध मे रूई भिगोकर बांधनी चाहिये।

(४) माता का दूध न मिले तो बकरी का दूध इस जगह प्रयोग में लावे। बकरी के दूध के फाहे प्रत्येक नेत्र रोग के लिए लाभदायक होते हैं।

(५) त्रिफला के चूर्ण को रात्रि में १ पाव पानी में भिगो देना चाहिये। प्रात: पानी को छानकर उससे आंखों को धोना चाहिये। जो व्यक्ति प्रतिदिन इस विधि को प्रयोग मे लावेगा उसके नेत्र कभी रोगग्रस्त नहीं होते हैं। आंखों की ज्योति बढ़ती है और प्रत्येक रोग नष्ट हो जाते हैं।

(६) अनार के पत्ते, अमरूद के पत्ते, गेंदा के पत्तों को पीसकर लुग्धी बनाकर आख पर बाधे।

(७) शहद एव चूने को मिलाकर आंख की बगल मे कनपुटी पर लगाने से नेत्र की लालिमा नष्ट हो जाती है।

(८) फिटकरी को गर्म करके उसके फूल को शुद्ध जल मे घोलकर आंख मे डालें।

(९) हरड़, आम्र हरिद्रा एवं अफीम को साथ साथ पीसकर जल मे मिलाकर गर्म करके किंचित उष्ण नेत्र के पलकों पर लगाने से आंखों की पीड़ा एव लालामी नष्ट हो जाती है।

(१०) आख की सूजन एवं लालामी के लिये आंख के ऊपर काली या पीली मिट्टी की लुगदी बनाकर बांधनी चाहिये इससे शीघ्र लाभ मिलता है।

(११) अभ्रक भस्म विशेषकर मधु और त्रिफला चूर्ण के साथ अन्त प्रयोग करे।

(१२) त्रिफला घृत का सेवन, नस्य तथा अंजनादि मे प्रयोग करने से विभिन्न दारुण नेत्र रोग अच्छे हो जाते हैं।

(१३) विटामिन ए के योग नेत्र के लिए लाभदायक होते है। इनसे रतौंधी नष्ट हो जाती है।

—श्री डा० सत्यनारायण खरे ए., एम. बी. एस.
सेवक औषधालय, ककवारा (झांसी) यू. पी.

बालकों को कुकूणक रोग —

त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आमला), पठानी लोध्र, साठी (पुनर्नवा की जड़), अदरख, बेंगन की जड़ और जीवन्ती की जड़ इन सब औषधियों को समभाग लेके बारीक पीस के एक गोला सा पिंड बनाकर तैयार रखें। जब उपरोक्त रोग वाला बालक आये तब थोड़े से पानी मे गोला घिसे और गुनगुना गरम करके बालक के कपाल पर लेप लगाने से कुकूणक रोगी बालक का रोग एक ही हफ्ता मे आराम हो जाता है।

—श्री महन्त भगवानदास वैद्य
बहारपुरा, दोहद (पंचमहाल) गुजरात

शिशु नेत्र काजल —

नैनी घी १०१ बार धुला हुआ ५ तोला, नीम के तैल से पारी हुई स्याही ६ माशा, एसिड बोरिक ६ माशा, जिंक आक्साइड ६ माशा।

बनाने की विधि और उपयोग—फूल की थाली मे नैनी घी डालकर उपरोक्त शेष तीनों वस्तुओं को मिलाकर फूल की कटोरी से ४८ घंटे घिसना चाहिये। प्रतिदिन जितने घटे काजल घिसा जाय लिखते रहे और रात्रि को थाली मे अर्क गुलाब जल डाल दिया करे। सुबह को अर्क गुलाब फैंककर फिर घिसना शुरू कर दे। तैयार होने पर किसी डिबिया मे रख लीजिये। प्रात सायं आंखों में लगाने से शिशु को कोई भी नेत्र रोग नहीं होता है।

—श्रीमती सुनीति देवी आर्या, आर्य विद्यालय,
सरायतरीन (मुरादाबाद)

कुकूणक (Ophthalmia Neonatorum)

श्री डा० इन्द्रपाल सिंह ए०, एम० बी० एस०

सुश्रुत ने ७६ प्रकार के नेत्र रोगों के नाम गिनाते समय इस नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उत्तर तंत्र के १९ वें अध्याय में, जो कि सुश्रुत के नेत्र रोग प्रकरण का अन्तिम अध्याय है, इस रोग का वर्णन किया है। इसका स्पष्टीकरण करते समय यह कहा गया है कि क्योंकि ७६ प्रकार के नेत्र रोग युवक एवं बालक किसी में भी मिल सकते हैं लेकिन यह कुकूणक नामक रोग केवल बालकों में ही मिलता है अतः इसी विशेषता के कारण इसका पृथक उल्लेख किया गया है।

आचार्य वाग्भट ने इस रोग का वर्णन उत्तर तंत्र के ९ वें अध्याय में किया है और इसे दन्तोत्पत्ति के समय होने वाला बाल रोग बतलाया है। यथा—

कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तज । —अ. हृ उ. ९

आधुनिक दृष्टिकोण से—आचार्य वाग्भट ने इस रोग का वर्णन वर्त्म रोगों के प्रकरण में किया है। वर्त्ममण्डल से *Eyelids* का और वर्त्मगत पटल से *Conjunctiva* का सहज ही बोध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य वाग्भट के वर्णन के प्रकरण को देखते हुए ऐसा मालुम होता है कि यह कोई *Conjunctival* रोग है। *Conjunctiva* के उन रोगों में, जिनका सम्बन्ध बालकों से है, प्रमुख रोग *Ophthalmia neonatorum* है। यदि हम इस रोग के लक्षणों से मिलान करें तो यह बात और भी निखर आती है कि आधुनिक *Ophthalmia neonatorum* ही अर्वाचीन कुकूणक है।

कारण—

आचार्य सुश्रुत ने इसका कारण दुग्धदोष माना है और इसके वात आदि दोषों के आधार पर चार भेद भी किये हैं। यथा—वातिक कुकूणक, पैत्तिक कुकूणक, श्लैष्मिक कुकूणक, एवं रक्तज कुकूणक। आचार्य वाग्भट ने इसे दन्तोत्पत्तिकाल में होने वाला रोग माना है। और आचार्य कश्यप ने भी इसका कारण दुष्टस्तन्यपान ही माना है। ऐसा ही वर्णन माधव निदान में भी मिलता है यथा—

कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि ।

लक्षण—

आचार्य सुश्रुत ने कुकूणक के लक्षणों का बहुत ही सुन्दर एवं महत्वपूर्ण वर्णन किया है। उनके मत के आधार पर हम कुकूणक के लक्षणों की निम्न तालिका बना रहे हैं—

१. रोगी बालक नेत्र या नेत्रों को बार बार मलता है।

२. रोगी बालक को नेत्र में अत्यधिक खुजली की अनुभूति होती है।

३. नासिका, ललाट आदि अन्य नेत्र के समीप के उपाङ्गों को बालक बार बार मलता रहता है।

४. रोगी बालक प्रकाश की तरफ नहीं देख पाता है। इसी कारण रुग्ण शिशु को जब चिकित्सक के पास लाया जाता है तब प्रायः यह देखने में मिलता है कि बालक अपने अभिभावक के बस्त्रों में अपना मुख छिपाये रखता है।

५. पीड़ित नेत्र से निरन्तर स्राव होता रहता है।

मृद्नाति नेत्रमपि कण्डूमथाक्षिकूटं,
नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम् ।
सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रवृद्धं ॥
—सुश्रुत उत्तर तंत्र अ० १९

साध्यासाध्यता—

यह एक साध्य रोग है परन्तु इसका कारण दुष्टस्तन्य होता है, इसलिए जब तक माता या धात्री के स्तन्य दुष्टि की तरफ भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जायगा इस रोग से मुक्ति पाना कठिन है।

चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में माता या धात्री के स्तन्य दुष्टि के प्रतिकार का और द्वितीय भाग में रोगग्रस्त शिशु की चिकित्सा का वर्णन अपेक्षित है।

(क) माता या धात्री के स्तन्य दुष्टि को दूर करने के लिए—

१. वमन एवं विरेचन द्वारा शुद्धि।

२. स्तन्य शुद्धि, ३. स्तन शुद्धि,

१. वमनार्थ योग—पिप्पली चूर्ण, मधुयष्टि चूर्ण, सरसों फल चूर्ण, सेंधव लवण का क्वाथ बनाकर वमन कराने के लिए देना चाहिये।

विरेचनार्थ योग—हरीतकी फल चूर्ण, पिप्पली फल चूर्ण, द्राक्षा फल का क्वाथ बनाकर विरेचन कराने के लिए देना चाहिये।

२. स्तन्य शुद्धि—पटोल पत्र, त्रिफला चूर्ण, मुस्तक, मृद्वीका, गुडूचि का क्वाथ बनाकर स्तन्य शुद्धि के लिये देना चाहिये।

३. स्तन शुद्धि के लिये—हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मुस्तक, पिप्पली का कल्क बना कर उसका स्थानीय प्रलेप लगाना चाहिये।

(ख) रोगग्रस्त शिशु की चिकित्सा—

१. वमन द्वारा शारीरिक शुद्धि

२. परिषेक द्वारा स्थानीय शुद्धि

३. मुख्य औषधि द्वारा रोग निवारण

१. वमन द्वारा शारीरिक शुद्धि—वचा चूर्ण को मधु के साथ सम्मिश्रण करके देना चाहिये।

२. परिषेक द्वारा स्थानीय शुद्धि—आमलकी एव जम्बु के फलचूर्ण का कषाय बनाकर उसके द्वारा नेत्र धोना चाहिए। इसके अतिरिक्त *Hydraigri per chlore lotion 1 in 10000* या *Acid boric lotion* ४% का भी प्रयोग कर सकते हैं।

३. मुख्य औषधि द्वारा रोग निवारण—आयुर्वैदिक आचार्यों ने इसकी चिकित्सा के लिये कई वर्तियों एवं अंजनों का वर्णन किया है। मैं उनमें से एक वर्ति एवं एक अंजन का वर्णन करता हूँ जो सद्यःलाभप्रद है।

वर्ति—लौहभस्म को शुद्ध मधु तथा गोघृत एवं गौ दुग्ध में मिलाकर वर्ति बना लेनी चाहिए और इस वर्ति का दिन में दो बार प्रयोग करना चाहिये।

अंजन—ताम्रभस्म, दारुहरिद्रा, मधुयष्टि चूर्ण, तथा लोध्र को समान मात्रा में लेकर मधु की सहायता से गुटिकांजन बना लेना चाहिये और इस अंजन का प्रयोग करना चाहिये।

आधुनिक चिकित्सा विधि के अनुसार *Penicilline drop* या *Penicilline ophthalmic ointment* का प्रयोग करना चाहिये। *Locula* या *Sanicula* या *Albucid Eye drops* का भी प्रयोग कर सकते है। ये तीनों दवायें *Sulphacetamide powder* की *Aqua* में बनी निर्मितियां है। इनका प्रयोग २० या ३०% की शक्ति में रोगानुसार करना चाहिये।

—श्री इन्द्रपाल सिंह *A., M. B. S.*
मरदह (गाजीपुर)



बाल-चातुर्भद्रिका

श्री पं० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी



घन कृष्णारुणा शृङ्गी चूर्णं क्षौद्रेण संयुतम् ।
शिशोर्ज्वरातिसारघ्नं श्वास कास वमीहरम् ॥
—भै. र. बालरोगाधिकार श्लोक १२

अर्थात्—मोथा, पिप्पली, अतीस, और काकड़ासिङ्गी इनके समभाग चूर्ण को एकत्र कर शहद के साथ (मात्रा ४ से ८ रत्ती तक) सेवन करने से शिशु का ज्वरातिसार, श्वास, कास और वमन दूर हो जाते हैं।

यह आयुर्वेद का प्राचीन प्रसिद्ध प्रयोगरत्न, आधुनिक काल की औषधियों के चाकचिक्य या तड़क-भड़क से वैद्यों के लिये धूमिल सा हो गया है। प्राचीन वैद्य इसका जितना सफल प्रयोग करते थे, उतना आजकल नहीं होता। वस्तुतः वैद्यों के लिये ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक गृहस्थ के लिये यह एक रामबाण प्रयोग है जिसके द्वारा वह अपने घर के बाल बच्चों को अनायास ही रोग मुक्त कर व्यर्थ के अनाप-शनाप खर्च एवं औषधियों के लिये इतस्ततः दौड़ धूप से अपने को बचा सकता है।

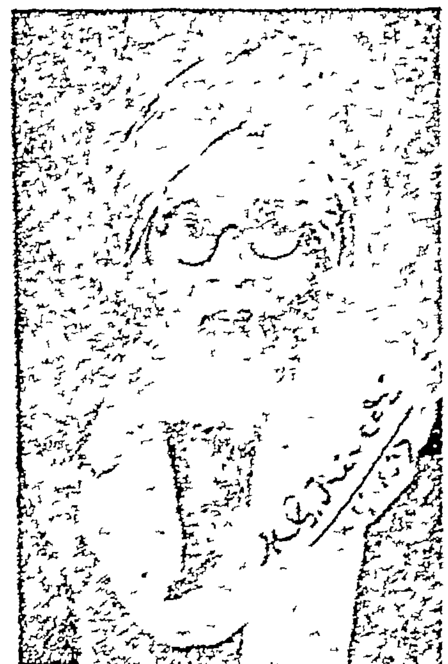
धन्यवाद है इस विशेषांक के कुशल सम्पादक को, जिन्होंने मुझे इस प्रयोग रत्न के विषय पर लिखने के लिये प्रेरित किया। मैं वनौषधि-विषयक सङ्कलन में संलग्न था। मेरी चित्त-वृत्ति (मूड) ऐसी नहीं थी कि मैं उसे छोड़ कर और कुछ लिखूं। किन्तु इसमें भी वनौषधियों का ही विशेष सम्बन्ध होने से लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा। अस्तु।

प्रस्तुत योग के चारों द्रव्य बालकों के लिए अत्यन्त लाभ एवं कल्याणदायक होने से ही इसे 'बाल चातुर्भद्रिका' यह सार्थक नाम दिया गया है। अब प्रथम इसके प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र गुणधर्म का एवं तद्विषयक अन्य विचारों का संक्षिप्त विवरण देकर तत्पश्चात् उसके समुदायक गुणों का तथा कुछ अनुभवात्मक विचारों का उल्लेख आवश्यक है।

अतीस

१—योग के चारों द्रव्य में वस्तुतः अतीस की गुणधर्म दृष्टि से विशेष प्रधानता है। यह अपने कटु रस के प्रभाव से आमाशयस्थ विकृत क्लेदक कफ का निर्हरण एवं पाचक पित्त का उदीरण करती है। फलतः छोटे बच्चों के कफजन्य विकारों पर यह अत्यन्त ही उपयुक्त है। तथा इसीलिये इसे 'शिशु भैषज्य' यह एक सार्थक नाम दिया गया है। केवल इसके ही चूर्ण को शहद के साथ चटाते रहने से बच्चों के कास, ज्वर एवं वमन की शान्ति होती है, ऐसा हमारा अनुभव है तथा वाग्भट उत्तरस्थान अ० २ में इसका प्रमाण है तथा इसके साथ काकड़ासिङ्गी और पीपल चूर्ण मिला दिया जाय तो भी वही लाभ होता है। कहा है—

मधुनाऽतिविषा शृङ्गी पिप्पलीर्लेहयेच्छिशुम् ।
एकां वाऽतिविषां कास ज्वरच्छर्दिरुपद्रुतम् ॥
—वाग्भट उ. अ. २ श्लोक ४०

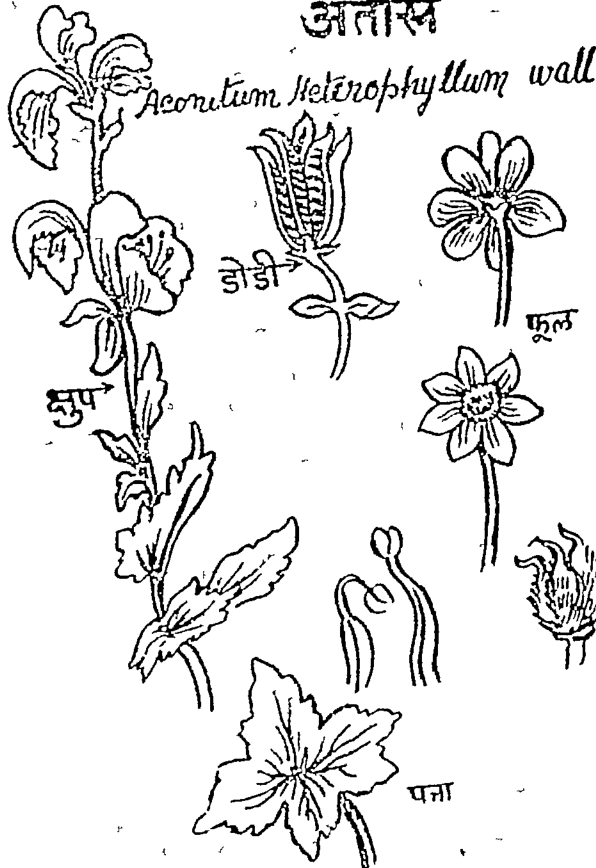


अर्थात्—ज्वर, कास, वमनादि रोग समुदाय के नाशार्थ काकड़ासिङ्गी व पिप्पली सहित अतीस, अथवा केवल एक मात्र अतीस ही पूर्ण समर्थ है।

ध्यान रहे ज्वर, कास, वमनादि विकार शिशु को आमाशय की दोषदुष्टि के कारण ही होते हैं। आमाशय स्थित क्लेदक-कफ (भोज्य पदार्थों का स्नेहन या क्लेदन करने वाला कफ) की वृद्धि से अग्निमांद्य तथा अग्निमांद्य से पुनः क्लेदककफोत्पत्ति यह दुष्चक्र प्रारम्भ हो जाता है। शिशु या बालक को श्वेतवर्ण की या नीलाभ मलमिश्रित पानी जैसी पतली मल प्रवृत्ति; दूध के पीते ही वमन होना या दुग्धपान की इच्छा न करना, ज्वरांश प्रातः काल में कुछ अधिक होना, निस्तेज होना, मूत्र प्रवृत्ति बार बार होना आदि लक्षण होने लगते हैं।

कारण—

कफ दूषित माता का स्तन पान, भैंस का दूध



चित्र न. १२५

या आधुनिक विदेशी दूध चूर्ण (पाउडर) का पान, कौतुकवश बालक को चाय या काफी बार बार पिलाना, अत्यधिक मीठा मिलाकर दूध पिलाना, बालक शीघ्र ही हृष्ट पुष्ट होजाने की दृष्टि से उसे आधुनिक कई प्रकार के व्हिटामिन युक्त टांनिको का सेवन कराना आदि आदि कारणों से उक्त क्लेदक कफजन्य दुष्चक्र शुरू होता है। फिर दंतोद्गम के समय उसकी जाठराग्नि को दीपन कराने का कुछ भी उपाय न करने से उक्त लक्षण चिरकारी होकर नित्य ही सूक्ष्म ज्वर स्थायी रूप से बना रहता है। वह कृश होने लग जाता है, एकदम निस्तेज एवं उत्साहहीन होकर चिड़चिड़ा हो जाता है।

कुछ बालकों में उक्त कारणों से कफ की अत्यधिक वृद्धि या प्रकोप होकर श्वास, कास का आक्रमण बार बार होने लगना है, उरफुल्लिका (डब्बा, पसली चलाना, *Bronchopneumonia infantile*) हो जाती है, या चीकट आमयुक्त मल प्रवृत्ति होती है।

किसी किसी को उक्त क्लेदक कफजन्य विकारों की अवस्था में मसूरिका माता आदि विस्फोटक उपद्रव होने पर तथा किसी प्रकार उसके उपशय हो जाने पर भी ज्वरांश तथा अग्निमांद्य की शिकायत सदैव बनी रहती है।

बालकों की एसी अवस्था में बाल चातुर्भद्रिका उत्तम कार्य करती है। इसे बालभद्र भी कहते हैं। अतीस, काकड़ासिंगी और पीपल इस बाल त्रिभद्र के साथ नागरमोथा मिलाकर देने से ही इस प्रयोग को बाल चतुर्थी य चातुर्भद्रिकार कहा जाता है। हम ऊपर कह आये हैं कि इस योग में अतीस विशेष कार्यकारी द्रव्य है यह विष (दूषित विष) को अतिक्रम करती है, उसके असर को दूर करती है, अत. अतिविष, अतिविषा; शीघ्र घुन जाती है (असली अतीस दो मास में ही घुन जाती है) अतः घुणप्रिया घुन जाने पर इसका असर उपविष (गर) जैसा होता है अतः उपविषा कहाती है।



असली अतीस छोटी, लम्बगोल, निम्नभाग का सिरा नुकीला तथा ऊपर की ओर पान की कलिका सी होती है जो सरलता से टूट जाती है; तथा तोड़ने पर भीतर से श्वेत तथा बीच में इधर-उधर ४ काले बिन्दु होते हैं। इसे घुन से रक्षा करने के लिये बालुका (रेत) के भीतर दबा कर रखें।

नक़ली अतीस शीघ्र नहीं बिगड़ती, मूल्य में भी सस्ती मिलती है किंतु यह औषधि के लिये बेकार है। एक दूसरी जाति की भी अतीस बाजार में मिलती है, जो कड़वी नहीं होती। इसे मीठी अतीस कहते हैं। इसमें भी ज्वर निवारक और बल्य गुण है। किंतु कटु रस युक्त असली अतीस के सर्वगुण किंचित उष्णवीर्य, दोषशामक, दीपन, आमदोष आमातिसार जीर्ण ज्वर, कास, वमन, यकृतविकार, कृमिरोग आदि नाशक गुण इसमें नहीं हैं। यह अपने प्रभाव से कफज्वर और पित्त-ज्वर के कारणीभूत कफ एवं पित्त दोषों को शमन कर देती है। इसका स्वभाव कुछ ग्राही (मलावरोध) होने से इसके साथ स्रंसन द्रव्यों की योजना करनी पड़ती है। छोटे बच्चों के विषम ज्वर पर इसके साथ नागरमोथा और भूरछरीला (पत्थर फूल) अथवा पीपल की योजना करने से ज्वर, अतिसार तथा अजीर्ण के विकारों का नाश होता है।

यह अपने प्रभाव से यकृत् को बल पहुंचाती है, पित्तस्राव ठीक होने लगता है; आहार का उत्तम पाचन होकर आमाजीर्ण एवं तज्जन्य अतिसार भी ठीक हो जाता है। इस प्रकार इसके प्रभाव से क्लेदक कफ, पाचक पित्त और कोष्ठस्थ समान वायु की विषमता दूर होकर नाना प्रकार की व्याधि दूर होती हैं।

बड़ों की अपेक्षा बालकों के रोगों में इसका उपयोग अधिक होता है। अग्निमांद्य की दशा में जब शिशु दूध कम पीता है या नहीं पीता, पतला दुर्गन्धयुक्त सफेद दस्त होता है, उदर से पीड़ा बनी रहती है शरीर में स्फूर्ति नहीं रहती तब इसका या इसके योग से बनी हुई बालचतुर्थी चूर्ण अथवा अतिविषादि वटी का सेवन कराना परम लाभदायक होता है। अतिविषादि वटी में बाल-चतुर्थी (चातुर्भद्रिका) के द्रव्यों (अतीस, मोथा, काकड़ासिंगी) के पिप्पली के स्थान में कटकरंज के भुने बीज समभाग लेकर चूर्ण बना कुड़ा छाल के क्वाथ में खरल कर आध आध रत्ती की गोलियां बना ली जाती हैं। मात्रा—दिन में दो बार १ से २ गोली दी जाती हैं।

अतीस में रूक्षता उत्पन्न करने का जो एक दोष है, वह नागरमोथा के योग से दूर हो जाता है। अथवा इसे गोबर को निचोड़ कर निकाले गये पानी में अथवा गोमूत्र में पका लेने से उसका दोष दूर हो जाता है। यह शुद्ध हो जाती है।

आयुर्वेदाचार्य प० गिरिजादत्त जी पाठक ने इसके गुणों को संक्षेप में दर्शाते हुए क्या ही उत्तम पद्य रचना की है—

अति उत्तम लेहु अतीस उसे,
करि चूर्ण अनेकन रोग में दीजै।
ज्वर ताप घटे, अतिसार हटे,
अरु लावे पसीना न शक्तिहु छीजै॥
कुइनाइन की समता इसमें,
बहुबार परीक्षित है यश लीजै।
शिशुरोगन को तुलसी मधु सों,
यह नाशति शीघ्र न संशय कीजै॥

नोट—ध्यान रहे औषधोपचार के लिये मोटी, राख के रंग की वजनदार अतीस लेनी चाहिए। छोटी तथा पतली अतीस में औषध सत्व न्यून रहता है।

क्वाथ की अपेक्षा इसके चूर्ण में ज्वर आदि रोग-नाशक शक्ति अधिक होती है। इसके विशेष गुणधर्म और प्रयोगों को विस्तार सहित देखिये धन्वन्तरि वनौषधि विशेषांक प्रथम खण्ड में पृष्ठ १२२ से १३० तक।

काकड़ासिंगी

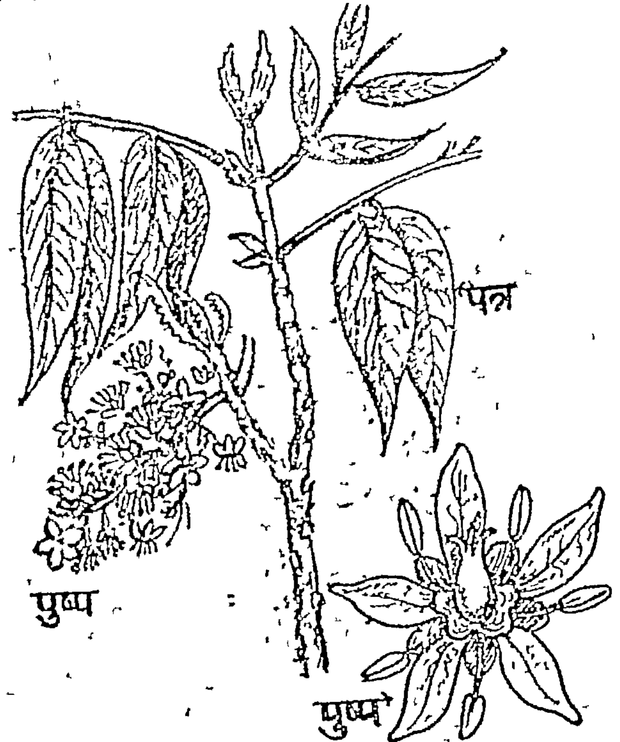
उक्त प्रयोग में दूसरे नम्बर का प्रभावशाली द्रव्य काकड़ासिंगी है।

काकड़ा नाम के वृक्ष होते हैं जिनके पत्र, पत्र-डंठल तथा टहनियों पर विशेष प्रकार के कृमियों के बनाए हुए लम्बे, आड़े टेढ़े सींग जैसे शृङ्गाकार कोष(Galls) पाये जाते हैं। ये एक प्रकार के कृमियों (Aphis) के घर हैं। इन्हीं कृमिग्रह या कोषों को काकड़ासिंगी कहते हैं। ये विभिन्न शृङ्गाकार ३ से ६ इञ्च लम्बे, १ इञ्च चौड़े एवं पोले होते हैं। इनका पृष्ठ भाग बादामी, धूसर रंग का पतला, झालरदार दिखाई देता है। भीतरी भाग लाल वर्ण का एवं सूक्ष्मरज कणों से आच्छादित या श्वेत जाले के समान होता है। इसका चूर्ण स्वाद में कुछ कडुवा, अधिक कसैला तथा तारपीन जैसा गन्ध-वाला होता है।

उक्त काकड़ नामक वृक्ष २५ से ४० फीट या इससे अधिक ऊंचे हिमालय के निम्न तटवर्ती उत्तर पश्चिम की पहाड़ियों पर तथा पंजाब, सीमा-प्रान्त, कुमायूं, नैपाल, आसाम और बंगाल में भी पाये जाते हैं।



चित्र नं. १३६



चित्र नं. १३७

इसका गुणधर्म—लघु, रूक्ष, कषाय, तिक्त, विपाक में कटु और उष्णवीर्य है। यह कफ वात-शामक, कटु पौष्टिक, ग्राही, कफघ्न, कफनि:सारक, हिक्का निवारक, वातानुलोमन, दीपन, रक्त शोधक, ऊर्ध्ववात, तृष्णा, अरुचि, वमननाशक है।

इसमें जो एक प्रकार का उड़नशील तैल होता है, उसके प्रभाव से यह तमक श्वास, कास, श्वास, नलिका शोथ एवं राजयक्ष्मा पर भी उत्तम कार्य करता है। तथा इसमें कषायाम्ल (टेनिन) की अधिकता (६० प्रतिशत) होने से यह आमाशय प्रकोप जन्य वमन, हिक्का, आमातिसार, जीर्णातिसार एवं उपजिह्विका वृद्धि से उत्पन्न कास आदि विकारों में



उत्तम लाभदायक है। यह श्वासनलिका की नवीन या पुरानी सूजन को एवं तज्जन्य खांसी को भी दूर करती है? इन सब अवस्थाओं में इसे तदनुरूप औषधियों के साथ दिया जाता है। बालकों के दन्तोद्भवजन्य उपद्रवों पर अत्यन्त हितकारी है।

उक्त प्रयोग (बालचातुर्भद्रिका) में इसका योग होने से वह सचित कफ को निकालने वाला एवं नूतन कफोत्पत्ति का निवारक हो गया है तथा क्षयजन्य ज्वर को दूर करता है। अरुचि तथा बार बार डकारों का आना इत्यादि ज्वर के लक्षण भी दूर होते हैं। श्लेष्मलकला को बल प्राप्त होता है।

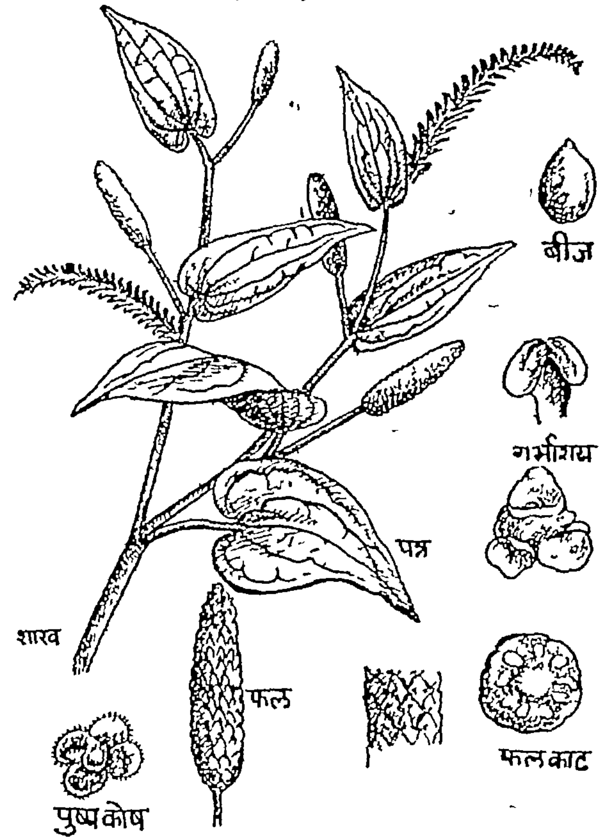
नोट—ध्यान रहे, काकड़ासिंगी का स्वतन्त्र रूप से अधिक मात्रा मे प्रयोग यकृत और आमाशय के लिये हानिप्रद होता है। अतीश, या बबूल का गोंद इसके हानि निवारक है। काकड़ासिंगी के अभाव में मुलेठी ली जाती है। किन्तु उक्त प्रयोग में जहा तक हो सके काकड़ासिंगी ही लेना ठीक होता है।

तिंतड़ीक (*Rhus*) जाति का, किन्तु उक्त काकड़ा वृक्ष के ही कुल (*Anacardiaceae*) का एक और वृक्ष होता है। इसके पत्र, टहनियों आदि पर भी शृङ्ग जैसे कृमिकोष पाये जाते है। इन्हें भी काकड़ासिंगी ही कहते हैं। ये वृक्ष काश्मीर से लेकर सिक्किम तक के समशीतोष्ण प्रान्तों मे, तथा भूटान और खासिया के पहाड़ों पर विशेष पाये जाते हैं। इस काकड़ासिङ्गी के गुणधर्म भी उक्त काकड़ासिङ्गी जैसे ही है। इसमे संकोचक धर्म की विशेषता है। बाजार मे ये दोनों प्रकार की काकड़ासिङ्गी मिश्रित रूप मे पायी जाती है।

पिप्पली

गुणधर्म एवं प्रभाव की दृष्टि से उक्त प्रयोग में तीसरा नम्बर पिप्पली [छोटी पीपल] का है। चरक और सुश्रुत के कासहर, हिक्का निग्रहण, शिरोविरेचन, वमन, दीपनीय, शूलप्रशमन, ऊर्द्ध्व भाग दोष हर, एवं पिप्पल्यादि गणों मे इसकी गणना है। यह स्वकुल—*Piperaceae* का एक प्रधान द्रव्य है।

इसकी लता गुल्म रूप मे भूमि पर फैली हुई या अन्य वृक्षों के सहारे ऊपर को उठी हुई होती है। अन्य लताओं की भाति इसका अधिक विस्तार नहीं होता। इसकी मूल मीठी और खड़ी सी होती है। उसीसे शाखायें निकल कर भूमि पर फैलती है। पत्र २-३ इञ्च के घेरे मे ताम्बूल पत्र जैसे, किंतु छोटे बहुत कोमल और चिकने होते हैं। पुष्प दण्ड १-३ इंच लम्बे जिसमे पुष्प एक लिङ्गी लगते हैं। फल—लम्बे, शुण्डाकार, पकने पर लाल तथा सूखने पर कृष्णाभ धूसर वर्ण के हो जाते है। इन्हे ही पिप्पली कहते है।



चित्र न. १३८

इसकी लतायें भारत के गरम प्रान्तों में, तथा मगध, बंगाल, सीलोन, सिंगापुर आदि प्रदेशों मे विशेष पायी जाती हैं।

एक वन पिप्पली और होती है, जो बंगाल की

और अधिक पायी जाती है। यह छोटी, पतली एवं कम तीक्ष्ण होती है। बाजार में बड़ी और छोटी भेद से दो प्रकार की पीपल मिलती है। सैंहली पिप्पली यह शास्त्रोक्त नाम शायद बड़ी पीपल को ही दिया गया है। इसे ही जहाजी पीपल भी कहते हैं। यह सिंहल देश, लंका, सिंगापुर तथा जंजिबार द्वीपों से यहां आती है। गज पीपल इनसे भिन्न हैं, इसके विषय में अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया है।

छोटी पीपल यह एक प्रकार की वन पिप्पली ही है तथा पिप्पली नाम से इसका ही ग्रहण किया जाता है। यह भारत के कई उष्ण प्रांतों में तथा पूर्वी बंगाल एवं दक्षिण बिहार (मगध देश) में अधिकता से पाई जाती है। यह कुछ हरित वर्ण की अति तीक्ष्ण होती है। यह अधिक गुणकारी होने से औषधि कार्य में इसे ही लेना उचित है।

गुणधर्म—यह लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, कटु, विपाक में मधुर तथा अनुष्णाशीत वीर्य होती है। कच्ची दशा में इसके आर्द्रफल गुरु, मधुर एवं शीत वीर्य होने से वातकफवर्धक और पित्तशामक होते हैं। किन्तु परिपक्वावस्था में शुष्क होने पर ये कटु-रस युक्त एवं तीक्ष्ण होने से कफ और वातशामक होते हैं। तथा दीपन, वातानुलोमन, शूल शमन, मृदुरेचन, यकृदुत्तेजक, प्लीहवृद्धिहर, कृमिघ्न, रक्त-वर्धक, रक्तशोधक, कास श्वासहर, मूत्रल, ज्वरघ्न, तथा विपाक में मधुर होने से रसायन और बल्य है। मात्रा-चूर्ण ५ से १० रत्ती तक। कास, श्वास और हिक्का में यह अत्यन्त उपयुक्त है। इससे कफ सरलता से निकल जाता है एवं उसकी उत्पत्ति कम हो जाती है। ज्वर, विशेषतः जीर्ण ज्वर और विषम ज्वर में यह प्रयुक्त होती है। जीर्णज्वर में इसके चूर्ण को गुड के साथ देते हैं। मधु के साथ इसका चूर्ण नये या पुराने कास, स्वरभंग और हिक्का में उपयोगी है। इसके चूर्ण को चौसठ प्रहर तक खरल कर उपयोग करने से जीर्ण ज्वर में विशेष लाभ होता है। रसायन कर्म के लिये वर्धमान पिप्पली का प्रयोग अधिक हितकारी है। गुड पिप्पली, पिप्पली खंड, पिप्पल्यासव आदि इसके विशिष्ट प्रसिद्ध प्रयोग हैं।

नोट—ध्यान रहे अतिमात्रा में, स्वतन्त्र रूप से, अतिकाल तक इसके सेवन से यह अपने स्निग्ध गुण से कफ का, तथा उष्ण गुण से पित्त का प्रकोप कर देती है। अतः इसका प्रयोग योगवाही रूप से अन्य उचित द्रव्यों के साथ ही जैसे कि बाल चातुर्भद्रिका में किया गया है, करना प्रशस्त होता है। अथवा रसायन रूप से इसकी शक्ति को बढ़ाकर इसका प्रयोग वर्धमान पिप्पली, चौंसठ प्रहरी आदि की तरह करना महान गुणकारी होता है।

पीपल का विशेष प्रयोग कफ वात प्रधान विकारों पर होता है। पित्त प्रधान व्याधियों में इसका व्यवहार उचित नहीं होता। मुंह में कड़वापन, नेत्र में लाली, पतले गरम दस्त आते हों, तृष्णाधिक्य, दाह, निद्रानाश, मुखपाक आदि लक्षण हों तो इसका उपयोग स्वतन्त्र रूप से कदापि नहीं करना चाहिए। अन्यथा पित्त का विशेष प्रकोप या रक्तप्रकोप होकर वमन, मुख पाक, रक्तचाप की वृद्धि, नासिका से रक्त-स्राव, शुष्क-कास आदि उपद्रव होने लगते हैं। ऐसी अवस्था में प्रवाल, मुक्ता, आंवले, भांगरा, त्रिफला, शंख पुष्पी, अनार, सितोपलादि चूर्ण, गिलोय सत्व आदि का सेवन कराना हितकर है।

नागरमोथा

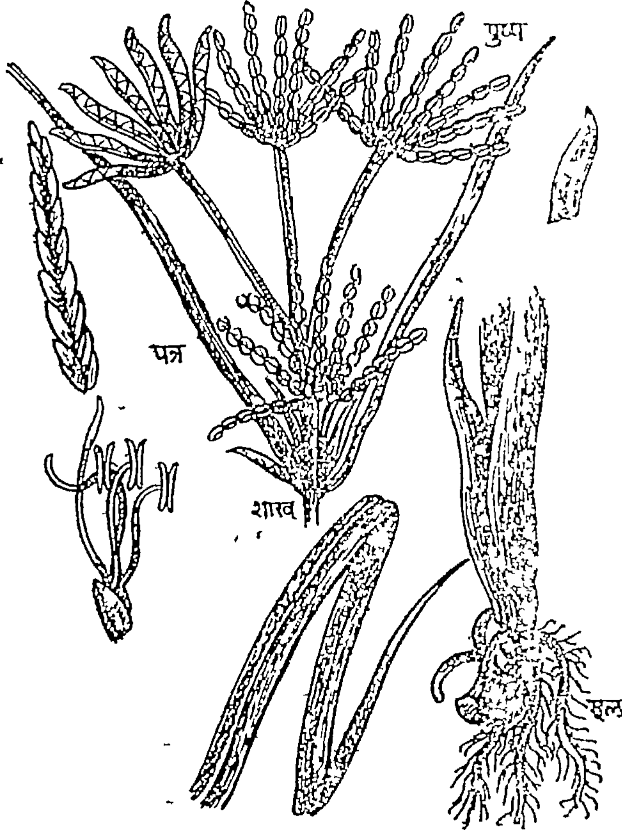
उक्त प्रयोग में चौथे नम्बर का यह प्रभावशाली द्रव्य है। चरक और सुश्रुत के तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण, लेखनीय, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधक, मुस्तादि तथा वचादि गणों में इसका उल्लेख है। यह स्वकुल मुस्तक कुल (*Cyperaceae*) का मुख्य द्रव्य है।

इसके तृणजातीय क्षुप प्रायः सर्वत्र बारहों मास आर्द्र या जलाशय समीपस्थ भूमि में १ से ३ फुट तक ऊंचे होते हैं। पत्ते—घास जैसे लम्बे तथा क्षुप के बीच से तिकोना पुष्पदण्ड २ से ४ फुट का ऊंचा निकलता है, जिस पर हरितवर्ण के छोटे छोटे पुष्प आते हैं। क्षुप की जड़ में कसेरू जैसा



काले रंग कन्द ½ से १ इञ्च मोटा, एवं सुगंधित होता है। इसी कन्द भाग को नागरमोथा या मोथा कहते हैं।

इसकी तीन जातियां हैं—



चित्र नं० १२९

[१] नागरमोथा (*Cyperus Scariosus*) है। जिसका सच्चिप्त वर्णन ऊपर दिया है। इसके कन्द कुछ लम्बे और टेढे से तथा १ इ च तक मोटे होते हैं

[२] भद्रमोथा (*C Rotundus*) इसका कन्द कुछ गोलाकर होता है। तथा—

[३] केवटी मोथा (कैवर्त्त मुस्तक *C. Lenuiflorus*) है। इसका कन्द बहुत छोटा ग्रन्थि सदृश होता है। यह प्राय जल ही मे पैदा होता है। इनके अतिरिक्त एक साधारण मोथा भी होता है।

सर्व प्रकार के मोथे के गुणधर्म प्राय समान ही हैं। तथापि उक्त प्रथम जाति का नागर मोथा ही ही सर्वोत्तम माना जाता है। औषधि कार्य में इसे ही—किन्तु ताजा और सुगन्धित लेना ठीक है।

गुणधर्म—यह लघु, रूक्ष, कटु, तिक्त, कषाय, विपाक मे कटु एव शीतवीर्य होता है। यह कफ पित्त का शामक, पाचन, ग्राही. तृष्णा निवारक, कृमिघ्न, रक्त प्रसादन, स्तन्यजनन, मूत्रल, गर्भाशय सकोचक, स्वेदजनक, त्वग्दोषहर, ज्वरघ्न और बल्य है।

अरुचि, वमन, अग्निमाद्य, अजीर्ण, संग्रहणी, तृष्णा, कृमिरोग (कृमि मे इसकी बड़ी मात्रा देनी पडती है), रक्तविकार, कास, श्वास, मूत्रकृच्छ्र, मस्तिष्क दौर्बल्य, अपस्मार, रजोरोध, सूतिकारोग स्तन्य विकार, कण्डू, पामा आदि चर्मरोग तथा ज्वर आदि विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

इसके क्वाथ मे शहद मिलाकर सेवन कराने से बढ़ा हुआ अतिसार भी दूर होता है। अपस्मार या मृगी रोग मे इसे जटामांसी के साथ देने से लाभ होता है। विसूचिका तथा मदात्यय मे तृषा शाति के लिये इसके शीतल क्वाथ को पिलाते हैं। इसके चूर्ण की मात्रा १ से ३ माशे तथा क्वाथ की मात्रा ५-१० तोले हैं। मुस्तकादि क्वाथ, मुस्तकारिष्ट, मुस्तादि लेह, षडंगपानीय आदि इसके शास्त्रीय विशिष्ट योग वैद्यों में प्रचलित हैं।

बालचतुर्थी [चारों द्रव्य मिश्रित] के गुण—

ये चारों द्रव्य प्रधान रूप से कफघ्न एवं पित्तघ्न है। तथा इनका कार्य क्षेत्र विशेषत' मुख से लेकर आमाशय तक है। इनमें से अतीस काकड़ासिंगी और नागरमोथा अपने सम्मिलित तिक्त और कषाय रस तथा रूक्ष गुण के प्रभाव से क्लेदक कफ एवं पाचक पित्तान्तर्गत परिवृद्ध दूषित द्रवांश का शोषण करते हैं तथा अपने सम्मिलित उष्ण वीर्य से दीपन पाचन कार्य का सम्पादन कर वमन, अतिसार एवं ज्वराश का नाश करते हैं।

उक्त ग्राही कार्य के सम्पन्न होते ही कफ संश्रय



स्थानान्तर्गत दूषित कफ की न्यूनता हो जाने से कास श्वास में लाभ होता है। यदि कास शुष्क हो कफ जम गया हो, सरलता से नहीं निकलता हो तो ऐसी दशा में अनुलोमन कार्यार्थ पिप्पली का योग इसमें दिया गया है। इसके योग से ही अतीस और काकड़ासिंगी का विशेषतः 'कफ वात क्षय ज्वरान् हन्ति' का कार्य सम्पन्न होता है अर्थात् कफ वात शमन के साथ ही साथ राजयक्ष्मा का कास और ज्वर भी शांत होता है तो फिर साधारण ज्वर तो टिक ही नहीं सकता।

नागरमोथा के योग से यह प्रयोग कफज वमन का निवारक हो गया है। साथ ही साथ पिप्पली के योग से यह दन्तोद्भव के समय होने वाले ज्वर, अतिसार, कास एवं पाचन सम्बन्धी विकारों को सहज ही में दूर कर देता है। ऐसी अवस्था में इस प्रयोग की मात्रा २ से ४ रत्ती तक शहद के साथ ३-३ घण्टे से चटाते रहने से विशेष लाभ होता है। इस प्रयोग से नागरमोथा न मिलाते हुए शेष तीनों का ही चूर्ण उक्त प्रकार से सेवन करने से भी बालकों के ज्वर, कास और वमन में यथेष्ठ लाभ होता है। यह बाल त्रिभद्रिका है। इसे बालभद्र भी कहते हैं।

बाल चतुर्भद्रिका का सफल प्रयोग बालकों का बार बार मुख से लालास्राव होना, मुखपाक, शय्यामूत्रत्व, रक्तक्षीणता या कफज पांडुता, दांतों का शीघ्र ही उद्गम न होना, यकृतोदर, प्लीहोदर आदि विकारों पर किया जाता है।

यदि कास अति कष्टदायक एवं शुष्क हो तो इसके साथ सुहागा की खील या मुलैठी या केवल वंशलोचन मिलाकर देना चाहिये। यदि अतिसार की विशेषता हो तो इसके साथ शंखभस्म की योजना एवं वमन की अधिकता हो तो मौक्तिक भस्म की योजना करने से यथेष्ट लाभ होता है।

यदि इस प्रयोग से अर्धभाग सितोपलादि चूर्ण मिला, मात्रा ८ रत्ती तक प्रातः सायं शहद या दूध के साथ शिशु को चटाया जाय तो शीघ्र ही दीपन कार्य होकर यह प्रयोग उसके लिये रोग प्रतिबन्धक होता है। दन्तोद्भव के समय कोई विकार नहीं होने पाते तथा वह सुदृढ़ एवं हृष्ट पुष्ट होता है। यह एक प्रकार का बालामृत हो जाता है।

यदि इसके साथ समभाग चूर्ण तथा चतुर्थ भाग शृङ्गभस्म (शृङ्गभस्म अर्धभाग तक मिलाया जा सकता है) मिला, प्रायः सायं ६-६ रत्ती की मात्रा में शहद के साथ दिया जाय तो अस्थिक्षीणता एवं अस्थि वैषम्य में उत्तम लाभ होता है।

—श्री कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेद-सूरि
धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

शिशु रोगों पर अनुभूत चिकित्सा

वैद्य श्री अम्बिकादत्त मिश्र जी. ए. एम. एस , एच. पी. ए.



१. आक्षेपक-

मुझे चिकित्सा क्षेत्र में एक मास का एक बालक देखने को मिला, जिसका अधोलिखित लक्षणों के आधार पर मैंने आक्षेपक'(स्कन्दग्रह) निदान कर निम्न औषधियों को प्रारम्भ किया-

लक्षण-

सर्व शरीर कम्प, मुष्ठिबद्धता, आनन रक्तवर्ण, आखे उपर की ओर (उर्ध्वदृष्टि), दांतों को कट कटाना, ये लक्षण आवेग काल मे प्राय १०-१५ मिनट चलते थे और प्रति १५-२० मिनट के बाद आते थे। तदनन्तर रोगी की दशा हताश और भयभीत पूर्ण हो जाती थी।

निदान का आधार—

यदातु धमनी सर्वा कुपितोऽभ्येति मारुत. ।
तदाऽऽक्षिपत्याशुमुहुर्मुहुर्देह मुहुश्चर ॥
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेप इतिस्मृत' ।
एक नेत्रस्य गात्रस्य स्राव' स्पन्दन कम्पनम् ॥
ऊर्ध्वदृष्ट्या निरीक्षेत् वक्रास्यो रक्त गन्धिक. ।
दन्तान खादति चित्रस्त' स्तन्यं नैवाभिनन्दनम् ॥
—माधव

चिकित्सा-

१—सिद्ध मकरध्वज ½ रत्ती, मुक्ता पिष्टी ¼ रत्ती, मधु से देकर ऊपर से जटामासी क्वाथ ½ तोला ३-३ घन्टे पर देना प्रारम्भ किया।

२. हिंगु कर्पूरादि वटी ½ रत्ती, मधु से ३ बार देना प्रारभ किया। रोगी को विबन्ध भी था अत: वातानुलोमन एवं संचित पुरीष को निकालने की दृष्टि ही से—

३. सेवती पाक ४ रत्ती मा के दुग्ध में घोल कर केवल २ मात्रा प्रथम दिन दिया गया ।

सिद्ध मकरध्वज और हिंगु कर्पूरादि वटी की ३-३ मात्रा देने के पश्चात् आक्षेप वेग १-२ घन्टे पर आने लगे। सेवतीपाक से पुरीष प्रवृत्ति कृष्ण-वर्ण भृश दुर्गन्धि दो बार के प्रयोग से २ बार हुई। लगातार ३ दिनो तक चिकित्सा करने पर रोग से बालक निर्मुक्त हो गया।

औषध चुनाव का आधार—

१. सिद्ध मकरध्वज—रसायन मेध्य, हृद्य, स्मृतिप्रद तथा वातशामक विशेष अनुपान भेद से सर्व रोगहारक ।

२. हिंगु—नाड़ी व्यूहों के लिए जोरदार उत्तेजक, संकोच विकास प्रतिबन्धक, संज्ञा स्थापन, वातशामक तथा उष्ण वीर्य।

३. कर्पूर—नाड्युत्तेजक, संकोच विकास प्रतिबन्धक, हृद्य,मेध्य तथा वातहर।

४. कस्तूरी—हृदय, ज्ञानेन्द्रिय तथा मस्तिष्क को बल प्रदान करने वाली। आक्षेपहर वात (चल-गुण) को शमन करने वाली, उष्ण वीर्य।

५. जटामांसी—संज्ञास्थापन, त्रिदोषहर, मेध्य, संकोच विकास प्रतिबन्धक, हृद्य-वल्य, रक्ताभिसरणोत्तेजक, वेदना स्थापन।

६. मुक्ता— हृद्य विशेषकर है।

२. फक्क रोग-

अशोक कुमार वय १½ वर्ष, पिता का नाम यमुनासिंह, डुमरी, छपरा, बिहार का रहने वाला था। डुमरी गांव में मुझे देखने को सर्व प्रथम यह रोगी मिला। मेरे औषधालय से वह ग्राम ३ मील पर पडता था। रोगी के पिता द्वारा यह ज्ञात हुआ कि यह बालक ७-८ मास की बय से ही सूखना प्रारम्भ हुआ। इसके १-२ मास पश्चात् ही से चिकित्सा चल रही है परन्तु किसी प्रकार का लाभ नहीं हो रहा है। डाक्टरों के कथनानुसार व्यवस्था में मैंने किसी प्रकार की कमी आज तक नहीं की।

बालक को देखने पर निम्न लक्षण प्राप्त हुये और उन्हीं के आधार पर मैंने फक्क रोग



निदान कर चिकित्सा आरम्भ की। एक बात अवश्य कह दूं जिस वक्त उस बालक को मेरे सामने लाया गया उस वक्त मेरी हिम्मत उसकी चिकित्सा करने से टूट गयी। मैं तर्क वितर्क करने लगा कि चिकित्सा काल में ही मर गया तो मुझे पुनः इस ग्राम में देखने को दूसरा रोगी नहीं मिलेगा। नामंजूर भी नहीं कर सकता था कारण सर्व प्रथम यह रोगी ही मेरी चिकित्सा में उस ग्राम का आया था और लाखों पति थे आप उस ग्राम के। वर्तमान समय की आमदनी और उनके चलते फिरते उस ग्राम से काफी रुपये कमाने की लालच ने मुझे हिम्मत प्रदान की और चिकित्सा प्रारम्भ की गयी। लक्षण इस प्रकार थे शरीर अस्थि पंजर मात्रावशेष, बाहु नितम्ब तथा उस पर झुर्रिया पड़ी हुई यहां तक कि त्वक् को उठाने से १ इञ्च तक आगे की ओर आ जाता था। उदर निकला हुआ, आखें धसी हुई, शिर बड़ा सा दिखायी पड़ता था, हस्त तथा सक्थि और जानु अस्थिया मृदु हो गयी थीं। सम्भवतः बारबार चिकित्सा चलते रहने के परिणामस्वरूप ही अस्थिया वक्र नहीं हुई थीं। कभी हरित और पीत पुरीष दिवस में ३-४ बार भृशगन्धि रहती थी। पुरीष का वर्ण प्रत्येक बार, में कुछ न कुछ अवश्य परिवर्तन हुआ करता था। बालक चिड़चिड़े स्वभाव का अल्पहारी हो गया था। २½ वर्ष का बालक एक पग भी नहीं चल पाता था।

> बाल. सवत्सरा (पन्नः) पादाभ्यां यो न गच्छति।
> स फक्क इति विज्ञेयः.... .... ॥
> ....क्षीण मांस बल द्युति।
> संशुष्क स्फिच बाहुच महोदर शिरोमुख ॥
> .. ..दृश्यमानास्थिपिञ्जर ।
> . .. . नित्य मूत्र पुरीषता ॥
> निश्चेष्टाधर कायोवा पाणिजानुगमोऽपि वा ।
> दौर्बल्यान्मन्द चेष्टश्च...... ... . ॥
> दुर्गन्धि मलिन. क्रोधी फक्क ॥
> —कश्यप संहिता

चिकित्सा—

इस रोगी की चिकित्सा में मैंने केवल आयुर्वेद की ही शरण नहीं ली। क्योंकि इस रोगी को ठीक कर उस ग्राम से अर्थ उपार्जन करना था। यह तो सर्व विदित है कि सभी रोग मिथ्याहार विहार से ही होते हैं और इनके द्वारा ही दोषों का प्रकोप होकर रोगोत्पत्ति होती है। इसके द्वारा सर्व अग्नि पर ही प्रभाव होता है अतः "रोगासर्वेऽपि-मन्देऽग्नौ" कहा गया है। आधुनिक दृष्टि से इस रोग को जीवतिक्ति डी और चूने की कमी के कारण से माना गया है।

१—अश्वगन्ध चूर्ण ४ रत्ती, ३ बार दुग्ध से बृंहणार्थ दिया गया।

२—अलबोसाङ्क (जी. एन्ड. जी. डिसेन) ४ रत्ती २ बार दुग्ध से—यह योग बृंहणार्थ देकर बहुत से बालकों में लाभ उठाया है अतः दिया है।

३—काड लीवर आयल १० बूंद ३ बार, एक हफ्ते बाद १५ बूंद ३ बार, तथा १५ दिन बाद २० बूंद २ बार कर दिया। काड लीवर आयल में जीवतिक्ति 'डी' प्रचुर प्रमाण में पाया जाता है। इससे रहे यकृत और प्लीहा सम्बन्धी दोष भी नष्ट हो जाते हैं। बृंहण भी है, अग्नि दीपन भी।

४—पुरीष सग्रहण और चूने की कमी को दूर करने के लिये चूर्णोदक ६० बूंद ३ बार प्रारम्भ किया।

५-एडेक्सोलीन (विटा. ए और डी का योग) प्रथम सप्ताह ३ बूंद ३ बार दुग्ध से, द्वितीय सप्ताह ५ बूंद ३ बार दुग्ध से। तृतीय सप्ताह १० बूंद ३ बार दुग्ध से।

६—चित्रक चूर्ण २ रत्ती ३ बार मधु से।

पथ्य—में अग्नि को प्रधान रूप में ध्यान रखते हुये पिप्पली साधित दुग्ध, बार्ली, पिप्पली चूर्ण १ रत्ती मिला कर चावल, रोटी, अण्डे का पीला भाग दुग्ध में मिला कर बराबर ३ माह तक चलने के पश्चात् रोगी बल वर्ण से युक्त तथा व्याधि से रहित हो गया।

कालमेघ—

विषम ज्वर—शिशुओं के विषम ज्वर में काल-



मेघपञ्चाङ्ग का क्वाथ २० बूंद, मरिच चूर्ण ¼ रत्ती मिलाकर दुग्ध या मधु से ३ बार देने से रोग मुक्ति मिल जाती है।

तीन वर्ष के बाद बालकों में १ तोला ३ बार मधु मिलाकर देने से अनेक बालकों को उस रोग से मुक्ति मिल गयी है।

जीर्ण ज्वर—जिस बालक को ज्वर के साथ ही साथ यकृत या प्लीहा या दोनों की वृद्धि हो गयी हो वैसी अवस्था में कालमेघ क्वाथ ½ तोला से १ तोले की मात्रा में नृसार चूर्ण १ रत्ती प्रक्षेप देकर ३ बार देने से रोग का शमन हो जाता है। मुख स्वाद मधुर बनाने के लिये ऊपर से मिश्री या या मधु देना चाहिये। क्वाथ अतिरिक्त होने के कारण बहुत से बालक लेना पसन्द नहीं करते अत. क्वाथ की रसक्रिया जिसमें ½ भाग मरीच मिलाकर १ रत्ती की वटी निर्माण कर तीन चार बार सेवन कराने से रोगोपशमन हो जाता है।

कालमेघ परिचय—इसका क्षुप ३ फुट तक ऊंचा हरे रंग का पत्र आमने सामने। पुष्प मच्छराकृति दूर से देखने पर। कली यवाकर तिक्त होने से यवतिक्ता भी कहा जाता है। यह सारक, दीपन, आम पाचन, ज्वर, यकृत्प्लीहा विबन्धनाशक।

मसूरिका, रोमान्तिका—

रोमान्तिका लक्षण—

सारे शरीर में छोटी-छोटी पिड़कायें रक्ताभ, ज्वर (१०२–१०४ फा० तक), सर्वाङ्गदाह, पिपासा, सर्वाङ्ग कण्डू, अरुचि, प्रसेक आदि होते हैं। यह पित्त और कफ से उत्पन्न होती है।

मसूरिका लक्षण—

मसूर दल के समान सारे शरीर में होने वाली पिडिकायें को मसूरिका कहते हैं। रोमान्तिका के समान ही इसके सारे लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

(१) दाने अल्प निकले हों और ज्वरादि अन्य लक्षण उपस्थित हों तो करेला पत्र स्वरस १ तोला, हरिद्रा चूर्ण १ रत्ती मिलाकर ३ बार देना चाहिये। इससे दाने निकल आते है तथा ज्वरादि का शमन हो जाता है।

(२) स्वर्णमाक्षिक भस्म ½ रत्ती मधु से ३ बार देने से दाने शीघ्र निकलते हैं और दोषों का पाक होकर रोगशमन हो जाता है।

(३) बासी जल में मधु मिलाकर पीने से दाह, ज्वर तथा पिडिकाओं का शमन हो जाता है।

(४) दानों पर तण्डुलोदक से दिन में ३ बार सेचन करने से दाह का शमन हो जाता है।

(५) कण्ठादि में पिडिकायें होने पर चमेली, मजिष्ठा, दारुहरिद्रा, सुपारी (क्रमुक), आमलकी, मुलहठी के क्वाथ में मधु मिलाकर दिवस में ३ बार गण्डूषार्थ दे।

(६) यदि व्रण मे पूय तथा गढे पड़ गये हों तो निम्ब क्वाथ मे रूई भिगोकर व्रण को साफ करलें तदनन्तर गोमय चूर्ण या पीपलत्वक् महीन पीसकर अवक्षेप करना चाहिये। व्रण रोपन करने के लिये आधुनिक औषधियां यथा बाह्य प्रयोग के लिये पेनसिलीन आयन्टमेंट और आभ्यन्तर प्रयोग के लिये अवस्थानुसार सल्फाग्रुप की औषधियां सिबाजोल आदि का प्रयोग लाभदायक होता है।

(७) यह रोग संक्रामक होता है यह सर्वविदित है। अत. अनागत मसूरिका से बचने के लिये निम्ब बीज, बहेड़ा (विभीतक) बीज या रुद्राक्ष, हल्दी को समभाग ले, चूर्ण बनाकर २-४ रत्ती की मात्रा में २-३ बार देने से मसूरिका या रोमान्तिका रोग की उत्पत्ति नहीं होती।

विशेष द्रष्टव्य—शरीरोष्मा की अधिक वृद्धि होने पर (ज्वर तथा सारे लक्षण मसूरिका या रोमान्तिका के विद्यमान होने पर), हस्त पादाक्षेपण, प्रलापादि लक्षण भी रोगी मे हो जाते हैं। वैसी परिस्थिति में शीत क्रिया द्वारा (शिर पर बर्फरहित) ही ज्वर की ऊष्मा को कम कर देने मात्र से ही लाभ हो जाता है।

पथ्य—दाख, मौसम्बी स्वरस, दाडिम स्वरस, मुद्गयूष-ज्वरावस्था में। अन्यावस्था में आवस्थिकी चिकित्सा करनी चाहिये।

सूत्र कृमि (Thread worms)—

प्राय. यह देखा जाता है कि सूत्र कृमि १॥ वर्ष से ६ वर्ष तक के वालकों में विशेषतः अपना निवास स्थान वना लेते हैं। प्रारम्भावस्था में ही इसकी चिकित्सा नहीं करने से ५-६ वर्षों तक चलता रहता है। इसका कारण यह होता है कि स्थूलान्त्र के अधः भाग मे इसकी विकृति होने पर कृमि का उपसर्ग हो जाता है और चिकित्सा न करने पर अन्डे वा उपसर्ग वरावर चलता रहता है जिससे वालकों को छुटकारा इससे शीघ्र नहीं मिलता।

लक्षण—उदर रुक्, पुरीष भेद, गुदकण्डू, रात्रि में दांतों को कटकटाना, मूत्र से शुक्लि का आना तथा गुदामार्ग से कृमियों का निकलना। कभीकभी वमन भी हो जाता है।

चिकित्सा—सूत्र कृमियों की चिकित्सा में मैंने अपने चिकित्सा क्षेत्र में एक गुरुपरम्परागत पारङ्गत वैद्य से यह योग लिखा था और वास्तव में काफी लाभ उठाया है। सेन्टोनीन या अन्य योगों से सूत्र कृमियों मे कितना लाभ होता है। यह तो सर्व वैद्यों को विदित ही है।

दाडिम अन्तस्त्वक् २ तोले लेकर १६ गुने जल में क्वाथ वनाकर चतुर्थांशावशेष रखकर (४ तोले) किंचिदुष्ण धीरे धीरे फनैल के द्वारा नितम्ब को कुछ ऊंचा उठाकर प्रति रात्रि को सात दिन तक देने से सूत्र कृमियो का नाश हो जाने पर बालक अगर अधिक कृश हो तो वृंहणार्थ अन्य औषधियों का प्रयोग वाञ्छनीय है।

कुकुर खांसी (Whooping cough)—

यह तो सर्व विदित है कि वालकों में विशेषत वालिकाओं मे यह रोग होता है। इसके मुहुर्मुहु आवेग द्वारा तथा खांसते खांसते वमन होना एवं मुख मंडल आरक्त होना मुख्य लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—मुख्यरूप से श्लेष्म निस्सारक औषधियां ही कार्यकर होती हैं, कारण कि फुफ्फुस में रौङ्काई मिलती है और इसी श्लेष्म को निकालने के लिये वार वार आवेग आते रहते हैं। अत. मैंने निम्नलिखित औषधियों को देकर लाभ उठाया है—

शृङ्ग भस्म ½ रत्ती, अभ्रक भस्म (शत या सहस्र पुटी) ¼ रत्ती, प्रवाल भस्म ½ रत्ती, तुलसी और यष्टिमधु समान भाग लेकर बनाया हुआ क्वाथ ½ तोला ३ बार मधु से।

मुखपाक में—

(क) शुद्ध टंकण+मधु का लेप लगाना चाहिये।

(ख) आध्मान मे—शुद्ध टंकण १ रत्ती, दूध या मधु से आवश्यकतानुसार।

(ग) विवन्ध मे—हरीतकी चूर्ण २ रत्ती+शुद्ध टङ्कण १ रत्ती प्रतिरात्रि विवन्ध शमन होने तक सुखोष्ण जल से।

(घ) कास तथा श्वास कष्ट में-शुद्ध टङ्कण १ रत्ती, नृसार आधी रत्ती मधु से २ वार।

(ङ) वमन में-मयूर पुच्छ भस्म ¼ रत्ती मधु से। अगर इसके प्रयोग से वमन आ जाये तो पुनः इसकी दूसरी मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। ३-४ मात्रा प्रयोग करने से वमन अवश्य निवृत्त हो जाती हैं।

—श्री वैद्य अम्बिकादत्त मिश्र
जी. ए. एम. एस. (पटना), एच. पी. ए. (जामनगर)
चिकित्सक-केन्द्रीय आयुर्वेदान्वेषण संस्था,
जामनगर।



बालकों के कतिपय रोग और उनकी चिकित्सा

प्रोफेसर श्री गङ्गाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य वैद्यमार्तण्ड

कुकूणक—

यह रोग बालकों को ही होता है। इस रोग में बालक के नेत्रवर्त्म में खराश होकर अर्थात् प्रदाह होकर नेत्रवर्त्म में कंडू होने लगती है जिसके फलस्वरूप नेत्र से बार बार जलस्राव होता है। इस रोग में बालक ललाट, अक्षिकूट और नासिका को अपने हाथों से या जैसे तैसे रगड़ा करता है। नेत्रों को खोलने और बन्द करने में कष्ट का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त सूर्य का प्रकाश तथा सामान्य प्रकाश भी असह्य हो जाता है इसलिये बालक अपने नेत्र बन्द ही रखता है।

चिकित्सा—क्योंकि यह रोग क्षीर दोष से बालक के उदर में बिकार होकर होता है अतः इस रोग में तिल मात्र उसारे रेवन्द हरीतकी के साथ घिसकर बालक को पिला देने से दो तीन दस्त होकर उदरस्थ मलदोष बाहर निकल जाने पर त्रिफला जल या गुलाब जल से नेत्र प्रक्षालन करने से ही रोग जाता रहता है।

पारिगर्भिक—

यह भी केवल बालकों को ही होने वाला रोग है। जब बालक गर्भवती माता का स्तनपान करता है तो उसे गर्भिणी के दूध के प्रभाव से अग्निमांद्य, वमन, कास, दुवलापन, तन्द्रा, अरुचि और भ्रमादि सहित उदर वृद्धि हो जाती है।

चिकित्सा—इसमें भी पूर्ववत् सर्वप्रथम कोष्ठशुद्धि करके बाद में अग्निदीपक क्रिया करनी चाहिये। कोष्ठ शुद्धि कर लेने पर और स्तनपान छुड़ा देने के बाद बाल चातुर्भद्रिका चूर्ण भी इसमें अच्छा कार्य करता है।। रसोतवटी १-१ रत्ती दिन भर में २ या ३ वार देने से या अभयारिष्ट थोड़ी थोड़ी मात्रा में थोड़ा जल मिलाकर देने से अच्छा लाभ होता है।

तालु कंटक—

तालु मांस में क्रुद्ध हुआ कफ वहां पर अर्थात् तालुस्थान में दाने से उत्पन्न कर देता है जो दाने बालक के गले में कांटों के सदृश चुभा करते हैं। इसलिये इस व्याधि को तालुकंटक नाम दिया है।

चिकित्सा—इस रोग में शोधित सौभाग्य में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना ही इस रोग की प्रधान चिकित्सा है।

तालुपात—

तालु कंटक रोग के कारण जब तालु नीचे की ओर झुक जाता है तब उसे ही तालुपात कहने लगते हैं। इस रोग में बालक स्तनपान करता है, मल पतला, तृषा, नेत्र, कंठ और मुख में पीड़ा और गर्दन को संभालने में आशक्त रहता है।

चिकित्सा—इस रोग में सौभाग्य मधु से प्रतिसारण करने के बाद जहरमोहरा (खताई) पिष्टी और प्रबाल पिष्टी मधु और माखन के साथ देना तथा खदिर वटी पीस कर तालु में लगाना लाभदायक चिकित्सा है।

महापद्म नाम विसर्प—

यह प्रायः शंख, हृदय और गुदा में होने वाला बालकों का विसर्प है जो महा भयानक, कष्टसाध्य और कभी कभी मारक भी होता है।

चिकित्सा—इस रोग में प्रबाल पिष्टी, रससिन्दूर या चन्द्रोदय मिलाकर देने से विसर्प विष की शांति होती है तथा बाह्य प्रयोगार्थ शुद्ध पारद गन्धक की कज्जली में समान भाग दशांग लेप मिलाकर जल से या शतधौत घृत में मिलाकर लेप करना चाहिये।

अजगल्लिका—

शरीर के वर्ण के समान छोटी छोटी चिकनी



चिकनी परस्पर गुथी हुई बालकों को पिडिकायें हो जाया करती हैं जो कफ वात के दोष से होती हैं तथा उनमें वेदना नहीं होती।

चिकित्सा—बालक को खूब साबुन लगाकर स्नान कराना और मोटे खद्दर के वस्त्र से शरीर को पोंछना चाहिये जिससे ये विलुप्त हो जाया करती हैं।

अहिपूतन—

बालक के मलमूत्र कर चुकने पर उसकी गुदा या मूत्रेन्द्रिय को धोया न जावे और यदि धोया जावे तो उचित रूप से शुद्धि न की जावे। इसके अतिरिक्त गुदा में जो स्वेद आता है उसे भी न धोया जाने के कारण या बालक को नित्य स्नान न कराने से उसके गुदा स्थान पर मल, मूत्र, स्वेद और रेत मिट्टी लगी रहने से वहां रक्त कफ के दोष से कण्डू उत्पन्न हो जाती है और वहां जब बालक खुजलाता है तो छोटे छोटे स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे स्राव होने लगता है। इस प्रकार पुनः पुन. खुजलाने से गुदा स्थान पर अनेक व्रण हो जाते हैं इसी को अहिपूतन कहते हैं। भोजन दुष्ट स्तनपान भी इसका कारण बताया है—

> दुष्ट स्तन्यस्य पानेन मलस्य प्रक्षालनेन च।
> कण्डूदाह रुजावृद्धिःपिडिकैश्च समाचिता.॥
> सम्भवन्ति तथा दोष दारुणाह्यहिपूतना॥

इसीलिए इस रोग में बालक का पेट साफ रखना अत्यावश्यक है इसके बाद बाह्योपचार करें।

शिशु का नाभि नाल शोथ—

बालक की नाभिनाल दो सप्ताह के बाद शुष्क होकर स्वयं झड़ जाती है। मगर कभी कभी इसमें किसी प्रकार के उपसर्ग के कारण प्रदाह होकर पूयोत्पत्ति हो जाया करती है।

चिकित्सा—दिन में दो तीन बार त्रिफला क्वाथ, न्यग्रोधादि गण क्वाथ, पञ्चवल्कल क्वाथ, या पोटाश परमेंगनेट के जल से या कार्बोलिक लोशन से धोकर साफ रखना चाहिए और ऊपर से मुर्दासङ्ग, रसौत और कबीला को बारीक पीसकर उद्धूलन करना या बोरिक एसिड का मरहम लगाना या घृत से गर्म करके लगाना और पट्टी बांधनी चाहिये। यदि मलावरोध भी साथ मे हो तो ऐरण्ड तैल दें।

शिशु का उरः शोथ—

बालक की छातियों को स्वच्छ न रखने या उन पर दबाव पड़ने से शोथ हो जाया करता है। छातियों का स्पर्श करने मात्र से बालक रोने लगता है तथा छातियों को दबाने से उनमें से श्वेत वर्ण का स्राव निकलता है।

चिकित्सा—सर्व प्रथम ऐरण्ड तैल से पेट साफ करें और गर्म जल या गर्म दशमूल क्वाथ में स्वेदन करें। तदनन्तर छातियों पर एरण्ड तैल, धोई तिल्ली का तैल, बादाम रोगन या चमेली का तैल लगावें। यदि गर्मी का समय हो तो शीतल जल में वस्त्र भिगोकर छातियों पर रक्खें। और यदि वेदना अधिक हो तो टिंचर बेलाडोना की फुरेरी लगावे अथवा छोटी हरड़ १ तोला, रसौत १ तोला, सेंधा नमक १ तोला और गेरू (स्वर्णगैरिक) १ तोला इन सबको कूटकर २० तोला स्प्रिट मेथीलेटेड में डाल १ सप्ताह में छान इसकी फरैरी लगावें।

शिशु का श्वेत मुखपाक—

वैसे तो श्वेत मुखपाक बालकों और पूर्ण वयस्कों दोनों को ही होता है अत. इस अधिकार में जहां केवल बालकों को ही होने वाले रोगों का वर्णन अभीष्ट है इस जगह इस रोग का वर्णन नहीं करना चाहिये। मगर यह रोग प्राय. बालकों को ही होता है वयस्कों में तो कदाचित ही देखा जाता है अत इस रोग का वर्णन भी इस स्थान पर उपयुक्त समझ कर किया जाता है।

यह एक औपसर्गिक व्याधि है। इस व्याधि में मुख के अन्दर छोटे छोटे व्रण हो जाते हैं जिनके ऊपर श्वेत रङ्ग की दही जैसी तह जमी रहती है जो वस्तुत एक प्रकार की फफूंदी या काई होती है जो वानस्पति प्रकृति कीटाणु *Odium Albicans* से बनती है और यही फफूंदी या औद्भिद प्रकृति



कीटाणु इसका कारण होता है।

यह रोग प्राय. दुग्धाशी बालकों को होता है और प्राय. ऐसे बालकों को जिन्हे माता के दूध के बदले में बाजारू दूध पीने को मिलता है। कभी-कभी दूध पिलाने वाली शीशी को भली भांति साफ न करने से उसमें दूध अम्ल हो जाता है जिससे रोगाणु उत्पन्न होकर बालक को रोगाक्रात कर देते है। कदाचित बहुत छोटे बालकों की पाचन क्रिया विकृति से भी यह रोग हो जाया करता है तथा कतिपय क्षीणता उत्पन्न करने वाले रोग जैसे क्षय की अन्तिम अवस्था एवं कतिपय अविसर्गी ज्वरों के कारण भी यह रोग प्रगट हो जाता है।

लक्षण--

प्रारम्भ मे तो मुख की अन्दर की कला मे रक्त वर्ण के धब्बे पड़ जाते हैं जिन पर श्वेत चिन्ह हो जाते हैं। तदनन्तर मे चिन्ह परस्पर मिलकर सफेद सफेद धब्बे या सफेद व्रण बन जाते है जिनके ऊपर दही के सदृश श्वेत पदार्थ चिपका रहता है। यदि उसे उतारा जावे तो वह श्वेत पदार्थ उतरता नहीं है और यदि उसे जोर से रगड़ कर छुड़ाया जावे तो नीचे के व्रण दृष्टिगोचर होकर रक्तस्राव होने लगता है। यह रोग प्राय' होठों के नीचे और कपोलों के अन्दर की ओर तथा जिह्वा के नीचे हुआ करता है। यहा तक तो यह रोग घातक नहीं होता मगर कभी कभी कंठ, भोजन की नली तथा आमाशय तक फैल जाया करता है। उस अवस्था में निगलने, बोलने और श्वासोच्छ्वास में भी कष्ट हो जाया करता है। अति दुर्बल बालकों में यह रोग फैलकर वहां की रचना को भी गला दिया करता है। चूंकि यह औपसर्गिक व्याधि है, अत दूध पिलाने वाली के स्तनों के अग्रभाग पर भी फफूंदी के लगने से स्तनों पर भी यह रोग हो जाया करता है।

चिकित्सा—

सर्व प्रथम बालक को और उसके मुख को शुद्ध तथा स्वच्छ रखना आवश्यक है तदनन्तर उसके भोजन पर उचित रूप से ध्यान देना चाहिये। बालक को दूध पिलाने के बाद प्रति औंस १० ग्रेन टङ्कणाम्ल मिले जल से उसके मुख को साफ करना और कोमल वस्त्र मे अन्दर से मुख पोंछ देना चाहिये। मुख को साफ करने और पोंछ देने के बाद बोरिक ग्लिसरीन या सौभाग्य मधु मुख में लगावें। यदि रोगी दुर्बल हो तो उसे पौष्टिक औषधि दें और यदि यह रोग गले तक फैल गया हो तो पोटाश क्लोरेट दे। इसके अतिरिक्त गोदंती की छाल, मौलश्री की छाल और चमेली के पत्ते समान भाग ले, क्वाथ कर उस क्वाथ मे बालक का मुख साफ करना और इसी प्रकार बड़ों को उपरोक्त क्वाथ मे कुल्ले कराना चाहिए।

कलमी शोरा, कत्था सफेद, छोटी इलायची और गुलाब के फूल प्रत्येक २ माशा, कपूर १ माशा, तूतिया भुना हुआ ६ रत्ती सबका अति सूक्ष्म चूर्ण कर छाती पर लगावें। यदि मलावरोध हो तो उसे दूर करें। यदि शरीर में गर्मी बढ़ी हुई हो तो उन्नाव ५ दाने, तुख्म खुरफा ६ माशे, बिहीदाना ३ माशा को आध घंटे जल मे भिगोकर तथा लुआब निकाल कर शर्बत नीलोफर २ तोला मिलाकर पिलावें। यह मात्रा पूर्ण वयस्क की है। बालक को उसकी अवस्था के अनुसार मात्रा दे अथवा अमीफल, धनियां, वृ० मंजिष्ठादि अर्क के साथ दें।

स्मरण रहे कि अमीफल, धनियां छोटा बालक नहीं खा सकता। अत: उसे केवल वृ० मंजिष्ठादि अर्क मधु मिलाकर पिलाना चाहिए तथा उपरोक्त योग जिसमें भुना नीला थोथा पड़ा है वह भी छोटे बालकों को न देकर छोटे बालकों पर नीला थोथा रहित औषधि का ही प्रयोग करे।

—श्री प्रोफेसर गगाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य
वैद्य मार्तण्ड, भिवानी (हिसार)

बालकों के लिये कुछ अनुभूत योग तथा मिश्रण

श्री वैद्य नन्दनलाल शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

बाल सम्भद्र

अतिविषा, पिप्पली, मोंथा, हरिद्रा, दालचीनी, और गोदन्ती भस्म समभाग लेकर सबका कपड़छन चूर्ण कर गोदन्ती भस्म मिलाकर ३ घंटे तक पीस कर रखें। मात्रा १ से ३ रत्ती मधु या चतुर्जाता- वलेह के साथ दिन मे ४-५ बार देना चाहिये।

ज्वर, अतिसार, उदरशूल, कास में उत्तम है।

लवंग चतुःसम

लवंग, जायफल, जीरा भुना श्वेत और सुहागा भुना समभाग कपड़छन चूर्ण को ३ घंटे पुनः शुष्क ही घोटकर रख लेवें। मात्रा—½ से २ रत्ती यथा आयु दें। बालातिसार और प्रवाहिका में उत्तम है।

विरेचन के लिये एरण्ड तैल आधी चम्मच से २ चम्मच तक देने से अच्छा रेचन होकर शरीर सुधर जाता है। कोष्टवद्ध में बिना किसी हिचकिचाहट से देना चाहिये। यदि प्रवाहिका होने पर अन्य औषधि देने से प्रथम एरण्ड तैल दिया जाय तो शीघ्र लाभ करता है। गर्म जल या थोड़े से गौदुग्ध में दिया जाता है।

बच्चों के पाण्डु या कामला में

नवायस लौह, सत्वगुडूची और प्रवाल पिष्टी मिश्रण दुग्धानुपान से लाभदायक है। साथ मे संश- मनी वटी (गुडूचीघन वटी) १-१ रत्ती की गोली दिन में तीन बार अर्क कासनी से देना चाहिए।

बालपक्षबध में

वृ० वातचिंतामणि ¼ रत्ती, जवाहर मोहरा ¼ रत्ती, अश्वगन्ध चूर्ण १ रत्ती, मधु से दिन मे ३ बार और अश्वगन्धारिष्ट यथायोग्य दिन मे ३ बार मालिश के लिये महानारायण तैल प्रातः सायं कभी कभी अश्वगन्धारिष्ट के साथ बलारिष्ट भी मिलाकर दिया जाता है। कभी नारायण तैल मे एरण्ड बीज पीसकर मलहम सी बना लेते हैं और उसकी मालिश करवाते हैं। बद्धकोष्ठ नहीं रहने देना चाहिए। एरण्ड का शुद्ध तैल थोड़ा प्रतिरात्रि दुग्ध से देना चाहिये।

इस प्रकार की चिकित्सा से बाल पक्षाघात (पोलियो) में अच्छा लाभ होते देखा गया है।

रक्तक्षीणता में

नवायस मण्डूर (नवायस लौह की अपेक्षा बालकों में विशेष है), सत्वगुडूची, प्रवाल पंचामृत मिश्रण या लघुमालती बसंत, अभ्रक भस्म, शृङ्ग भस्म और मण्डूर भस्म मिश्रण ये दोनों मिश्रण यथायोग्य मात्रा में विशेष लाभदायक हैं।

बच्चों के मूत्रकृच्छ्र में

संग यहूद पिष्टी तथा यवक्षार का मिश्रण १-१ रत्ती दिन में ३-४ बार देना चाहिये।

बृ० वातचिंतामणि रस, वात कुलान्तक, जवा- हर मोहरा प्रत्येक चौथाई रत्ती ऐसी तीन मात्रा दिन में मधु से, अश्वगन्धारिष्ट दिन में १ छोटा चम्मच ३ बार दौरे के समय कट्फलत्वक् तुलसी पत्र शुष्क, नकछिकनी और कर्पूरादि नस्य दें (और द्रव्य समभाग कपूर चौथाई भाग लेना चाहिये)।

बच्चों के उन्माद में चतुर्भुज रस ¼ रत्ती, बच चूर्ण १ रत्ती मधु से दिन मे ३ बार दें और जटा- मासी, अश्वगन्धा, बला तथा खुरासानी अजवायन का क्वाथ दें।

बच्चों के जीर्ण अतिसार मे

महागन्धक ४ रत्ती, कर्पूर रस १ रत्ती, कपर्द भस्म ३ रत्ती और जातिफलादि चूर्ण ४ रत्ती मिश्रण कर ४ पुड़िया बना चतुर्जातावलेह से दिन में चार दें।

सर्दी के लिये

पिपप्ली छोटी १ भाग, मिश्री कूजे की १ भाग ३ घंटे घोटकर भर कर रखलें। मात्रा—१-१ रत्ती चटा देवें। इस साधारण औषधि से बड़ा भारी

—शेषांश पृष्ठ ५०१ पर।

बाल रोगों की अनुभूत चिकित्सा

श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव



(१) कफज्वर, कास, श्वास, उदरशूल, आम, अतिसार—हर्र, पीपल, चीतामूल छाल, कटेली, तुलसी पांचों द्रव्यो को समभाग लेकर चूर्ण या क्वाथ करें। चूर्ण ४ रत्ती तक या क्वाथ ३ माशे तक मधु मिलाकर चटाये या उष्ण जल से दें।

(२) कायफल, काकड़ासिंगी, पीपल, तुलसी सं. एक की विधि से प्रयोग करें। गुण भी वैसे ही हैं चाहे तो कटेली भी मिला लेवें। मधु मिला मधुर बना शिशुओं को देना चाहिए। यहां ५ वर्ष के शिशु की मात्रा लिखी है।

(३) कास, श्वास, कफ—वासा या अडूसा, गिलोय, मुनक्का, हर्र, अतीस, पीपर, काकड़ासिंगी, मोथा, कटेली—सबको समान भाग लें। चूर्ण या क्वाथ बना मधु मिला पिलावें। चूर्ण की मात्रा ६ रत्ती तक, क्वाथ ३ माशे तक मधु ६ माशे तक।

(४) कफ ज्वर, उदरशूल, मल सञ्चय, यकृत विकार, पाण्डु, कास, श्वास, मृत्तिकाभक्षण—कुटकी का क्वाथ ३ माशे में १ रत्ती पीपल का चूर्ण मिला ६ मासे मधु मिला पिलावे। १-२ बताशे भी मिला सकते हैं क्वाथ कटु बनता है। मधुर बना कर देना चाहिए। कटुकी का चूर्ण २ रत्ती तक या भून कर दें। मोती ज्वर में कटुकी का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(५) पीपल, रसौत, आम की गुठली—तीनों को समभाग लेकर चूर्ण करें ६ रत्ती तक मधु ३ माशे मिला चटावे। इससे वमन अतिसार दूर होता है। यह श्यामादि चूर्ण है।

(६) वायविड़ग, अजवाइन, पीपल—तीनों को समभाग लेकर चूर्ण करें। मात्रा ३ रत्ती तक ३ माशे मधु या उष्ण जल से दें। इससे उदर कृमि, शूल, अतिसार, कफ श्वास, वमन दूर होता है। कृमिरोग मे गुड़ मे मिला खिलावें। बाद में दूसरे दिन १। तोला कास्ट्रायल दूध मे मिला कर दें।

(७) अतिसार, शूल, वायुरोध, प्रवाहिका—भुनी हींग, भुना जीरा सफेद, सेंधानमक, अतीस, कच्चे बेल की गिरी, आम की गुठली की गिरी, सब द्रव्य १-१ रत्ती लेकर पीस लें, ये ३-४ मात्रायें हैं। उष्ण जल से खिलाना ठीक रहता है।

(८) रक्तातिसार—मोच रस, मंजीठ, धाय के फूल, कमल केशर (कमल केशर न मिले तो कमल लें, या कत्था ले या नेत्र वाला लें। शूल हो तो सोंठ भी डालें) इनका मिलित ६ रत्ती चूर्ण दूध से सेवन करावें।

रक्तातिसार, शूल, प्रवाहिका—सौंठ, सौंफ, पीली हर गुलठी रहित, मिश्री। प्रथम तीनों कूट कपड़छन करें। बाद में मिश्री मिला पीस रखें। इसे शीतल जल या दूध से ४-६ रत्ती की मात्रा में दे।

(९) आमातिसार, अतिसार, प्रवाहिका शूल, कफ शूल—वच, नागरमोथा, देवदारु, सौंठ, अतीस, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, पिठवन, इन्द्र जौ। इन १० औषधियों को समभाग लेकर यवकुट चूर्ण करें। ३-३ माशे का क्वाथ बना मधु ६-६ माशे मिला शिशु को देवें। माता को २-२ तोले का क्वाथ बना कर दें। केवल माता को ही देने से स्तनपायी शिशु ठीक हो जाता है। इस क्वाथ से माता का दुग्ध शोधन होता है।

(१०) कास, मलसञ्चय, काली खांसी—गुलाब के फूल, बनफसा के फूल, उन्नाव, छोटी हरड़, अमलतास का गूदा, मुनक्का, मुलहठी—सब समभाग लें। यवकुट चूर्ण कर ६ माशे को ४ तोले पानी मे क्वाथ करें। २ तोले रहने पर ६-६ माशे बराबर मधु या बताशे मिलादें। चन्द्रामृत रस या कामदुधा रस १-१ रत्ती भी साथ मे दें।

(११) उदर शूल, अतिसार, कृमि, अनिद्रा—अजवायन को भूनकर चूर्ण १-३ रत्ती ३-४ रत्ती गुड़ मे मिला खिलाना चाहिये।

(१२) उदर शूल, अतिसार, अपचन, वमन—३ माशे सौंठ के चूर्ण को १ छटांक अरण्डी के तेल में पका कर छान लेना चाहिये। इसे १ बार मे १०-१५ बूंद उष्ण जल या दुग्ध में बच्चे को पिलायें।

(१३) उदरशूल, ज्वर, अतिसार, वमन— अमृतधारा १ बूंद बताशे पर डालकर उसे १ या २ बार मे खिलाना चाहिए। १ बूंद अमृतधारा उष्ण जल में डाल उसकी २ मात्रायें बना पिलायें।

(१४) काला नमक सोडाबाई कार्ब, गेरु तीनों समभाग लेकर चूर्ण करें। दूध से देना चाहिये। इसके भी गुण उपर लिखे अनुसार हैं।

(१५) अजवायन, वायविडंग, नागौरी अश्वगन्धा, सोया के बीज सबको १-१ तोला लें। यवकुट चूर्ण करें। १२ छटांक पानी में पका ३ छटांक शेष रहने पर उतारें। १ तोला अनबुझा खाने वाला चूना उसीमें डाल दें। और कई बार डंडे से चलाकर २४ घन्टे के बाद केवल उपर का पानी उतार लें। चूना न आवे। इसमें १ छटांक शक्कर डालकर शर्वत बनालें। रोगानुसार ३ माशा की मात्रा में शिशुओं को पिलाना चाहिए। कृमि, अरुचि, अपचन उदरशूल वमन, अतिसार, ज्वर आदि रोग निवारक मधुर पानक है।

(१६) उत्फुल्लिका, डब्बारोग, पसली रोग, आंको निमोनियां, कफ कास, श्वास, मृगी आक्षेप—कमेड़ा फुलाया हुआ सुहागा की खील अति लाभकारी है देकर गुण देखिये।

(१७) शिर के फोड़े में रसौत, और मेंहदी की पत्ती पीस कर फोड़ों पर लेप कर दीजिये। नीम की कोंपल और गेरू भी मिला सकते हैं। अति लाभकारी है।

(१८) दस्त, मरोड़, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, वमन, हैजा—जायफल १॥ तोला, तज ६ माशा, लौंग फूलदार ६ माशा, छोटी इलायची के बीज ६ माशा, खड़िया ३ तोला, चीनी ६ तोला पीस छान चूर्ण करें। मात्रा ५-१० रत्ती उष्ण जल से देनी चाहिये।

—श्री जगदम्बा प्रसाद जी, महदेवा
पो० अरौल (कानपुर)

:: पृष्ठ ४६६ का शेषांश ::

लाभ होता है। वायु का अनुलोमन होता है। सर्दी जुकाम तथा पेट के शूल एवं अरुचि मे प्रयोग करना, माता का दुग्ध न पचता हो तो भी अच्छा लाभ करती है।

सिंहास्यादि वटी (भै० र० व०)

यह रक्तातिसार, रक्तस्राव, कफज कास, कफ में रक्त आना आदि में विशेष लाभप्रद है। अच्छी निद्रा लाकर बालक को शांतिरहित कर देती है। मात्रा $\frac{1}{2}$ रत्ती दिन में ३ बार सौंफ के अर्क या मधु से दें।

काली खांसी (Whooping cough)

शृङ्गभस्म, मधुयष्टी, प्रबाल पिष्टी, सत्वगुडूची, इलायची छोटी, वंशलोचन समभाग, बांसाक्षार $\frac{1}{2}$ भाग, मिश्री २ भाग मिलाकर रख ले। मात्रा २ से ३ रत्ती बांसा शर्वत से दिन मे कई बार दें।

नोट—ये योग अथवा मिश्रण अपने चिकित्साकाल में अनुभव किये गए हैं। अत बिना किसी संदेह के प्रयुक्त करने चाहिये। लिखने का प्रयोजन मात्र अनुभव पर सबका अधिकार है, यह सिद्धान्त है।

—श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
२/५ सिंध सेवा समिति नगर,
कोलबाड़ा, बम्बई—२२

शिशु रोगों पर शास्त्रीय योग

श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव



बालजीवन वटी—

विधि—गौरोचन ३ माशे, एलुवा ६ माशे, उसारे रेवन्द, केशर, कटेली का जीरा या मूल छाल, जवाखार, सत्यानाशी के बीज प्रत्येक १-१ तोला लीजिये। सबको कूटपीस छानकर अदरख स्वरस में ५ घंटे लगातार खरल कर मूंग सी गोलिया बना रखें। छाया मे सुखा शीशियों मे रखें।

मात्रादि—१ गोली मां के दूध, मधु, गौमूत्र, कुमारकल्याण घुटी १०-१५ बूंद या कुमार्यासव, द्राक्षारिष्ट ३-३ माशे के अनुपान से देवे। १ मात्रा ही रोग को दूर कर देती है। आवश्यकता पर दूसरी मात्रा दे।

उपयोग—इस वटी के सेवन से शिशुओं का पसली चलना (बाल निमोनियां, उत्फुल्लिका, डब्बा रोग), मलावरोध, आध्मान, श्वास कासादि, मूत्ररोध, उदर विकार आदि रोग अवश्य दूर हो जाते हैं। इससे १-२ टट्टियां आती हैं। कभी कभी १-२ वमन भी होते हैं। गले मे घरघर करता हुआ कफ निकल जाता है। यदि माता का दूध दूषित हो तो उसे न पिलाना चाहिए। इसको १-२ मात्राओं से अधिक न देना चाहिये। प्राय: आवश्यकता ही नहीं पड़ती। रोग शमन के बाद कुमारकल्याण १-२ चावल मधु या द्राक्षारिष्ट १५ बूंद देने से शक्ति का सरक्षण होता है और शेष विकार भी शमन हो जाते हैं। प्रयोग करें। अनुपम योग है।

लशुनादि वटी —

विधि—लशुन, जीरा, भुनी हींग, सोंठ चूर्ण छना हुआ, मिर्च, पीपल, शुद्ध गन्धक, सैंधानमक इन द्रव्यों को समभाग मिला नीबू के रस मे ३ दिन खरल कर १-१ रत्ती की वटियां बना रखें।

मात्रादि—शिशुओं को चौथाई या आधी गाली मट्ठा, मधु, गौमूत्र, मां का दूध, प्याज का रस आदि से दे। विषूचिका में आध आध घंटे पर देते जावें।

उपयोग—इस वटी के सेवन से कृमि, अजीर्ण, उदरशूल, अफरा, विषूचिका, चर्मविकार, वमन, अतिसार, वात, कफरोग, कास श्वास दूर होते हैं। माताओं को इसे बनाकर घर में रखना चाहिये। बड़ों को १-२ वटियों की १ मात्रा दें।

मधुरान्तक वटी—

तुलसी पत्र २ तोले, गिलोय सत्व १ तोला, लौंग, बंशलोचन, धनियां, कासनी के बीज, इलायची छोटी के दाने ६-६ माशे सबको कूट कपड़छन कर तुलसी के स्वरस मे १२ घटे खरल कर उड़द सी बटियां आध आध रत्ती की बना रखे।

मात्रादि—२-४ बटिया जल से अथवा अमृतारिष्ट ६ माशे सजल से देवें। ज्वर अधिक हो तो प्रवाल भस्म आरम्भिक दिनो में और अन्तिम दिनों में प्रवाल पिष्टी १-२ रत्ती मिलाकर देना चाहिए। अतिसार होने पर लक्ष्मीनारायण रस आधी आधी रत्ती साथ में देना चाहिए।

उपयोग—यह वटी मोती ज्वर के विष को बाहर निकालने के लिए अति उपयोगी है।

विशेष—मधुरा में रोगी को अन्न कभी भी नहीं देना चाहिये। दूध अधिक देने से अतिसार होने लगते हैं तब ज्वर शीघ्र शमन नहीं होता। अधिक ज्वर के कारण मल के पिंड बन जाते हैं। यदि अतिसार न हो तो १ पाव दूध मे १ मुनक्का देना चाहिये। अन्यथा मौसम्बी और संतरे का रस देना चाहिए। अतिसार में संजीवनी वटी (शा. सं.) और लक्ष्मीनारायण रस, आनन्द भैरवी वटी या

आनन्द भैरव रस न भूलें। इस चिकित्सा से शत प्रतिशत रोगी ठीक होंगे। बाजी लगाकर रोगी का ठेका लिया गया असाध्य अवस्था में मधुरान्तक वटी मौक्तिक युक्त (र. त. सार) का प्रयोग करें। सैंकड़ों रोगियों की चिकित्सा के बाद जो अनुभव है वह यहां दिया गया है। विश्वास रखकर प्रयोग करें। तापमापक लगाकर सुबह शाम ज्वर देखें। यदि ज्वर बिलकुल नहीं उतरता तो इन योगों का प्रयोग करें। आपको यश प्राप्त होगा।

मृदुरेचन रस –

विधि—छोटी इलायची के दाने १ तोले, शुद्ध गंधक २ तोले, शुद्ध मुर्दासंग २ तोले, सौंफ ३ तोले लें। सबका महीन कपड़छन चूर्ण करें। (र. चं.)

मात्रादि—बालकों को आध आध रत्ती दिन में ३ बार दूध, गौमूत्र या द्राक्षारिष्ट से देवें। मृत्तिकाभक्षण करने वाली बड़ी स्त्रियों को ४-४ रत्ती दिन में तीन बार देवें।

उपयोग—इस रस के सेवन करने से मृत्तिका भक्षणजन्य पांडु रोग, कृमिरोग आदि शमन हो जाते हैं। यह रस मिट्टी को टट्टी में निकालकर रोगी को ठीक कर देता है। इससे जुलाब लगते हैं, टट्टियां आती हैं। मिट्टी निकल जाने पर इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिये।

कृमिरोग में १-१ रत्ती सेन्टोनीन ६-६ रत्ती शक्कर या गुड़ मिलाकर दिन में २-३ बार देना चाहिये। फिर दूसरे दिन प्रातः निशोथ मिश्रित नाराच रस आदि का विरेचन देना चाहिये। एरण्ड तैल २॥ तोले भी दे सकते हैं। बड़ों को बड़ी मात्रा देनी चाहिए।

कृमिहर चूर्ण—कपिला, वायविडंग, भीकामाली, कालानमक सबको समभाग ले मिला चूर्ण कर २-४ रत्ती भोजन के पूर्व देने से कृमि मूर्च्छित हो कर गिर जाते हैं। रोग पुराना होने पर मृदुविरेचन रस १ दिन के अन्तर से देना चाहिये प्रतिदिन नहीं। इस तरह पाण्डु या कृमिरोग २०-३०-४० दिनों में दूर हो जाता है।

कंडू, चर्मरोग, विषूचिका में यह रस लाभकारी है। निर्बल रोगी में इसका प्रयोग करने के पूर्व कुमारकल्याण रस १-२ चावल दे देना चाहिए। इससे शक्ति का संरक्षण होता है। पुनर्नवा मंडूर, लोहासव, मण्डूर वटी, कुमार्यासव को विवेचनानुसार सहायक रूप से प्रयोग करना चाहिए। यहां मृत्तिका भक्षणजन्य रोग और कृमिरोग की पूर्ण चिकित्सा है।

कृमिघ्न चूर्ण (१)-

विधि—करंज की गिरी, पलास के बीज, किरमाणी अजवाइन, कबीला, वायविडंग सबको मिलाकर कपड़छन चूर्ण करें।

मात्रा—२-३ माशे चूर्ण ३ माशे गुड़ में मिला दिन में ३ बार देवें ऊपर से उष्ण जल पिलावें। यह एक मात्रा है। दूसरे दिन २॥-५ तोले एरण्ड तैल पिलाने से ढेर के ढेर कृमि निकल पड़ते हैं। उक्त चूर्ण विषम ज्वर आने के पूर्व देने से (उष्णजल से बिना गुड के) ज्वर रुक जाता है।

कृमिघ्न चूर्ण (२)-

विधि—सोंठ, मिरच, पीपल, अजवाइन, हर्र, बहेड़ा, आमला तीनों गुठलीरहित प्रत्येक १-१ तोले ले। कपड़छन चूर्ण कर रखें।

मात्रा—३-३ माशे गुड़ में मिला खिलावें। ऐसी १ दिन में ३ मात्रायें देवें। दूसरे दिन टट्टी करादें। धन्वन्तरि सरल भेदी वटी की १ गोली से १ टट्टी निश्चय आती है। शिशु को देने से २-३ टट्टियां आजाती हैं। कृमि गुदा मार्ग से निकल पड़ते हैं। यदि यह चूर्ण शीघ्र लाभ न करे तो विडङ्गारिष्ट ६-६ माशे सजल अनुपान से दीजिए।

हिंग्वाष्टक चूर्ण-

विधि—सोंठ का छना हुआ चूर्ण, काली मिर्च, पीपल, अजवाइन, सेंधा नमक, जीरा, काला जीरा, और भुनी हींग इन ८ द्रव्यों को समभाग मिला महीन चूर्ण करें।



मात्रा—२-३ माशे भोजन के समय प्रथक कवल मे दें। तक्र या उष्ण जल से देवे। कुमार्यासव ३ माशे मे जल मिला उसके अनुपान से देवे। शिशुओं को २-४ रत्ती से अधिक न देवे। यह चूर्ण पित्तवर्द्धक है।

उपयोग-अजीर्ण, अपचन, हैजा, दस्त, ग्रहणी, वात कफज सर्व रोग कृमि में लाभकारी हुआ है। पित्त विकार में, शरद ऋतु मे न दें।

भागोत्तर वटी-

विधि—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, पीपल ३ तोला, हर्र गुठली रहित ४ तोला, बहेड़ा ५ तोला, अडूसा पत्र या मूल छाल ६ तोला, भारंगीमूल ७ तोले लेवें। सबको यथाविधि बबूल की अन्तर्छाल के क्वाथ की २१ भावनाये देकर २-२ रत्ती की बटियां बना रखे।

मात्रा—३-४ बटियां दिन में देनी चाहिये। आवश्यकतानुसार पान का रस या अदरख का रस दिया जा सकता है। सूखी खांसी मे भारङ्गी मूल के बिना जिसे 'अग्नि रस' कहते है (र. र. स.) देना चाहिए। भारङ्गी कफ को निकाल देती है।

उपयोग—यह रस कास श्वास, उर क्षत, फुफ्फुस क्षय मे सहायक रूप से अति लाभकारी सौम्य औषधि है। अधिक भार उठाने से उर में चीरा चला जाता है या चोट लग जाने से फेफड़ों से रक्त जाने लगता है। थूक मे खासने से रक्त बिन्दु आते है इसे १-२ दिनों मे ही ठीक कर देती है। श्वास वाहिनियों से कफस्राव कराती है। कंठ और जिह्वा के छाले आदि मे लाभकारी है। यह रस कास श्वास के वेग को शमन करता है। रक्त स्राव होने पर अदरख का रस नहीं देना चाहिए। यह बिलकुल निर्भय योग है। फुंफ्फुस सन्निपात मे रक्त जाने पर सहायक रूप से इसे देना चाहिये।

हिंगुलादि गुटिका द्वितीय-

विधि-शुद्ध सिंगरफ, जायफल, जावित्री, सोंठ का चूर्ण छना हुआ, तुलसी पञ्चाग, पीपल ये ६ द्रव्य १-१ तोला शुद्ध जमालगोटा ६ तोला लें। न ी के रस मे ३ दिन खरल कर मूंग के बराबर की गोलियां बना रखे।

मात्रा—१ गोली जल से देवें।

उपयोगिता—इसके प्रयोग से कफ शमन हो जाता है, १-२ टट्टियां आजाती हैं। डब्बा रोग, कफ श्वास, कास, कफ ज्वर, मलेरिया आदि रोग दूर हो जाते हैं। टट्टियां हो जाने के बाद फिर इसे नहीं देना चाहिए। उक्त रोगों में युवकों को २-२ गोलियां देनी चाहिए। गर्भवती को भी नहीं देनी चाहिए। सि० भै० म० माला में सोंठ, पीपल तुलसी नहीं है इनके स्थान पर १ भाग गोरोचन है।

डब्बा नाशक गुटिका (१)-

विधि—करंजा की गिरी, सोंठ का छना हुआ चूर्ण, शुद्ध जयपाल-तीनों द्रव्यों को समभाग लें। जल, तुलसी स्वरस, करंज, पत्र रस, पान स्वरस या अदरख स्वरस में रगड़कर मूंग जैसी गोली बना रखे।

मात्रा—१ गोली उष्ण जल मे घोलकर पिलादें। यदि आवश्यकता समझें तो दूसरी गोली दें। २ से ज्यादा देना ठीक नहीं।

उपयोग-इस गोली से १ टट्टी और कभी कभी १ वमन भी हो जाती है। गले में फंसा हुआ कफ निकल जाता है। ज्वर कफ कास श्वास आनाह उदर-शूल वायुरोध मल सञ्चय आदि विकार दूर हो जाते हैं। उत्फुल्लिका, डब्बा, पसली चलना, बाल निमोनियां इससे दूर हो जाते हैं। इस रोग मे कफ को सुखाने वाली दवा नहीं देनी चाहिए।

डब्बा नाशक गुटिका (२)-

विधि—सुहागा चौकिया भुना हुआ २ रत्ती, लौंग फूलदार भुनी हुई १ रत्ती दोनों को घृतकुमारी के रस में घोट कर मूंग जैसी गोलियां बना रखें।

मात्रा और उपयोग आदि ऊपर लिखे अनुसार है इससे प्राय टट्टी नहीं आती। दिन में ४-५ बार तक देना चाहिये।

उब्बा नाशक गुटिका (३)-

विधि—सुहागा भुना हुआ, शुद्ध बच्छनाग दोनों समभाग ले। अदरख स्वरस में ७ दिन घोटकर सरसों के समान गोलिया बना रखे।

मात्रा—१ गोली उक्त अनुपान में से किसी से देवे या उष्ण जल मे घोलकर दें। मा के दूध से देवे, दिन मे दो गोलियों से अधिक न दे।

उपयोग—इसके प्रयोग से कफ ज्वर तथा पार्श्व चालन दूर हो जाता है। अधिक मात्रा देने से शीतांग हो सकता है। इसमें बच्छनाग की मात्रा अधिक है। सुहागा २-३ भाग रखें तो अच्छा रहेगा। इसके प्रयोग करने के वाद कुमारकल्याण रस २-४ चावल देकर शक्ति का संरक्षण करना चाहिए। पार्श्वशूल में कपूर मिश्रित तारपीन का तैल लगाना लाभकर है।

उब्बा नाशक गुटिका (४)-

विधि—गोरोचन, रेवन्दसार, सुहागा का फूला क्रमश. १,२,३ भाग लेकर चूर्ण करे। तुलसी स्वरस की ३ भावनायें दे। फिर २ भाग हल्दी और २ भाग सेंधा नमक मिलाकर गोमूत्र की ७ भावनाये देकर मूंग जैसी गोलियां बनाकर छाया मे सुखा शीशी में रखे।

मात्रा—१ गोली पान का रस, तुलसी का रस, गोमूत्र, अदरख का रस, मधु, उष्ण जल १०-२० बूंद मे पीसकर मिलाकर पिलादें। यदि जरूरत हो तो दूसरी गोली दें।

उपयोग—इसके सेवन से १ वमन और १ दस्त हो सकता है। अफरा, कास, श्वास, हिक्का, कफ, सन्निपात, पार्श्वशूल, उदरशूल, बाल निमोनियां, मल सञ्चय, वायुरोध, आदि विकार अवश्य दूर हो जाते हैं। आन्त्रिक ज्वर, अतिसार में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। पूरे रोग भर में २-३ गोलियां से अधिक (एक बार में) नहीं देना चाहिए।

बाल कासारि चूर्ण—

बनावट—काकडासिंगी २ तोले, पीपल छोटी १ तोला, कालीमिरच ३ माशे, लौंग १ तोला, यवक्षार १ तोला, मुलहठी २ तोला, फिटकरी का फूला ३ माशे। सबको रगड़कर पान के रस और अदरख और तुलसी स्वरस की ३-३ भावनायें देकर आधा आधा रत्ती की वटी बना रखे।

मात्रा—१-१ वटी उष्ण जल से घोल कर पिला देवे दिन भर में ५-७ दे सकते हैं।

उपयोग—इसके प्रयोग से बालक के वात कफज ज्वर, कास, श्वास, हिक्का दूर होते हैं। मूत्र साफ उतरता है। किसी रोग मे कास होने पर इसका प्रयोग सहायक रूप से करना चाहिए। अहानिकारी योग है।

हिंग्वादि गुटिका (१)—

विधि—हींग, सोंठ, मिर्च, पीपल, यवक्षार, एरण्ड मूल छाल, सेंधानमक सब समभाग लेकर चूर्ण करें। नींबू स्वरस की ३ भावनाये देकर आध-आध रत्ती की वटियां बना रखे।

मात्रा—उष्ण जल मे आधी वटी घोलकर पिलावें। पूर्व लिखित अन्य अनुपानों से देवें। या १-२ रत्ती एरण्ड मूल छाल स्वरस या अपामार्ग स्वरस ३ माशे में घोल नाभि पर लेप करें।

उपयोग—इसके सेवन से उदर शूल, वातज कफज शूल, मूत्ररोध, विशूचिका, अजीर्ण, वायुरोध, कास, श्वास, हिक्का, प्लीहाशूल, अफरा, कफ विकार दूर होते हैं। युवकों को २-३ वटियों की १ मात्रा है।

हिंग्वादि गुटिका (२) —

विधि—हींग, अम्लवेत, सोंठ, मिर्च, पीपल, अजवाइन, सेधा नमक, काला नमक, नौसादर, यवक्षार, पोदीना सत्व—सब समभाग लेकर चूर्ण करे। नीबू स्वरस से ३ दिन खरल करे। फिर आध रत्ती की वटियां बना रखे। हींग भूनकर डालनी चाहिए।

मात्रा—आध-आध वटी उष्ण जल मे घोलकर दे। अन्य अनुपान पूर्व योगों के साथ लिखे हैं। युवकों को २ रत्ती की मात्रा है।



उपयोग—इस योग के सेवन से वातज शूल अजीर्ण, अफरा, विपूचिका, वायुरोध, मूत्ररोध, उदर कृमि विकार दूर होते हैं। अधिक खाए हुए भोजन को गला देता है। मात्रा अधिक न देवें। च० द० मे नौसादर, यवक्षार, पुदीना सत्व नहीं है बिड् नमक और काला नमक है।

कुमारकल्याण रस—

> सिन्दूर मौक्तिकं हेम व्योमायो हेममाक्षिकम्।
> कन्यातोयेन सम्मर्द्य कुर्यान्मुद्गमिता वटी॥
> वटिका वटिकार्द्धं वा वयोऽवस्था विविच्य च।
> क्षीरेण सितया सार्द्धं बालेषु विनियोजयेत्॥
> कुमाराणां ज्वर श्वास वमनं पारिगर्भिकम्।
> ग्रहदोषांश्च निखिलान् स्तन्यस्याग्रहणम् तथा।
> कामलामतिसारञ्च कृशत्वं वह्निवैकृतम्।
> रस कुमारकल्याणो नाशयेन्नात्र सशय॥
>
> —भै र.

षडगुण गन्धक जारित रससिन्दूर, मुक्तापिष्टी, स्वर्ण भस्म (र० त० सा० चतुर्थ विधि), शतपुटी अभ्रक भस्म, लोह भस्म हिंगुल जारित शतपुटी, स्वर्ण माक्षिक भस्म इन्हे समभाग ले घृतकुमारी के स्वरस से १ दिन (१२ घंटे) मर्दन कर आध-आध रत्ती की टिकिया बना रखे।

मात्रा—बालकों को आधी से एक वटी, बड़ो को २-३ वटी रोगानुसार अनुपान से सेवन करावें। बालको को दूध मिश्री या कुमारकल्याण घुटी, कासारि (धन्व० का०) से सेवन करायें।

उपयोग—इस वटी के सेवन से बालकों और बड़ो के ज्वर, सन्निपात, श्वास वमन, आक्षेपक, पारिगर्भिक रोग, ग्रह दोष, मातृदुग्ध को न पीना, कामला, पाण्डु, हलीमक, रक्तातिसार, शोष, कृशता यकृत्लीहा के विकार, रक्त क्षय, अग्निविकृति आदि रोग नष्ट होते है। यह ओज वर्द्धक है। डब्बा रोग मे ३ चावल तुत्थ भस्म खिला १ वमन होने पर १ मात्रा इसकी दें।

—श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव, महदेवा
पो० अरौल (कानपुर)

नीम द्वारा बाल रोगों का उपचार

१. बालक के आम निकलने पर कच्ची फिटकरी के पानी से धोकर नीम तेल का फाया लगाने से आम निकलना बंद होता है।

२. नीम तेल सिर में लगाने से जूं और लीक का नाश होता है।

३. नीम तेल की पट्टी बुखार मे सिर पर रखने से शांति मिलती है।

४. असाध्य चर्म रोग पर नीम तेल लगाने से पूर्ण फायदा होता है।

५. नीम तेल कान में किंचित उष्ण करके डालने से फायदा होता है।

६. चेचक के दानों पर नीम तेल लगाने से व्रण वा दानों के दाह में शान्ति मिलती है।

७. नीम तेल एक तोला, एरंड तेल आधा तोला और मत्स्य तेल आधा तोला तीनों को शामिल कर नासूर पर लगाने से नासूर बन्द हो जाता है।

८. बायबिडंग, नीम की गिरी, अजवायन तीनों समभाग गुड़ में गोली बनाकर ६ गोली देने के बाद विशुद्ध एरंड तेल उम्र अनुसार देने से अन्तर्कृमि का नाश होता है।

९. बाह्य कृमि पर नीम तेल लगावें।

१०. आंख खटकने पर नीम की लुगदी बना कर कपड़े के भीतर लेकर आंख पर बांधने से शूल व लाली मे फायदा होता है।

११. नीम के पत्तों को ढ़ककर उबाल लें। साधारण उष्ण रहने पर धोने से तीव्र कीटाणुओं का नाश होता है।

सभी प्रयोग स्वानुभूत और पूर्ण परीक्षित हैं।

— डा० जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य
एल. एम. एस. एम. डी
बोलिया (मध्य प्रदेश)

शिशु रोगों पर हमारे सुपरीक्षित अनुभव

न्यायायुर्वेदाचार्य वैद्य श्री पं० चन्द्रशेखर जैन शास्त्री



तालुकण्टक रोग का प्रधान कारण—

पांच माह के बाद जो व्यक्ति गर्भिणी से प्रसङ्ग करता है, वह शिशु इस रोग से ग्रस्त होता है। मैथुन में लिंगघर्षण के कारण गर्भस्थ शिशु के तालु पर आघात होता है। इस कमजोरी के कारण वह तभी से रोगग्रस्त रहने लगता है। अतः गर्भिणी बहुत सतर्क रहे और पिता अपने पूर्ण उत्तरदायित्व को निबाहे।

दिन में पैदा हुये बच्चे अधिक सुन्दर होते हैं—

रात में पैदा होने वाले शिशुओं की अपेक्षा दिन में पैदा हुये शिशु सुन्दर और बलिष्ठ होते हैं। अनुभव और ज्योतिष दोनों ही इस विषय में प्रमाण हैं।

पैदा होने पर जो बच्चा रोता नहीं या उस दिन सोता नहीं

वह बच्चा प्राय. जीवित नहीं रहता है। ९९ प्रतिशत ऐसे बच्चे १-२ दिन से अधिक जीवित नहीं रह पाते। ये सर्वाङ्ग पूर्ण सुन्दर और स्वस्थ दीखते हुए भी देखते देखते कूच कर जाते हैं।

यदि बच्चों का मूत्र जम जाता हो तो—

कई बच्चों का मूत्र चूना जैसा जम जाता है। माता पिता घबड़ा कर इधर उधर भागा दौड़ी करते हैं। ऐसे समय में निम्नलिखित उपचार फौरन ही काम करते हैं—

१. बच्चा २ वर्ष का हो तो थोड़ा थोड़ा (१ १ रत्ती) लवणभास्कर या १-१ रत्ती भास्कर-लवण या हिंग्वाष्टकचूर्ण दिन में ४-५ बार चटावें।

२. एक वर्ष से छोटा बच्चा हो तो पाव से आधी रत्ती तक उक्त चूर्ण दिन मे ४-५ बार ३-३ घन्टे में चटावें। या पानी में घोल कर दे। एक ही दिन मे पेशाब जमना ठीक हो जायगा। जादू जैसा काम करने वाला अनुभव है।

बच्चों के सिर में जूं या लीकें हो जांय तो—

बच्चों के सिर मे प्राय. सफाई न होने के कारण और उनके कपड़े प्रतिदिन न बदलने के कारण यह स्थिति होती है। तब निम्न उपचार करते हैं—

डी. डी. टी. पाउडर को सरसों के या करंज (कंजी) के तेल मे मिलाकर (१॥ माशा पाउडर १ तोले तेल में मिलाओ) बालों की जड़ो में लगा दो और १५ मिनट बाद एक कपड़े से पोंछ कर फिर साबुन मिले पानी से धो दो। ऊपर से नारियल का तेल बालों को सुखाकर लगाओ।

तीसरे दिन पुन दुबारा यह कार्य करो। उक्त शिकायत मिट जायगी।

बच्चों के पेट के कीड़े या चुनूनों पर—

कंपिल्ल कबीला (असली) २ रत्ती की मात्रा मे लेकर उसमें ४ रत्ती वायविडंग डालकर पीसलो और ४ से ६ मात्रायें बनाले मधु या गुड़ की चाशनी से इसे चटाओ। बच्चा मा का दूध पीता हो और दवा चाटने में आना कानी करे तो मधु में औषध मिलाकर मा के दूध पर लगादो। बच्चे के दूध पीने के साथ ही औषध पेट में पहुच जायगी। दिन में २-३ बार दो। यदि कब्ज हो अंडी का तेल योग्य मात्रा में देकर पेट साफ कर दो।

—न्यायायुर्वेदाचार्य वैद्य श्री पं० चन्द्रशेखर जैन शास्त्री, जबलपुर



शिशु स्वभाव क्यों नहीं बदलता

श्री वैद्य गोपाल प्रसाद 'विज्ञानभिज्ञ'

कुछ लोगों का ख्याल है कि माता पिता के शारीरिक गुण धर्म संतति में प्रगट होते हैं उस तरह जीव के मानसिक गुणधर्म भी आनुवंशिक ही हैं। इसी विचार के आधार पर "सुप्रजा निर्माण शास्त्र" का प्रवर्तन विदेशों में प्रचलित है किन्तु यह ख्याल गलत है। वैद्यकीय दृष्टी से—

कर्मणानोदितोयेन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ता पूर्व देहे यै तानेव भजते गुणान्॥

—निघंटु रत्नाकर शरीर

अर्थात् पूर्व जन्मार्जित कर्म से प्रेरित हुये जीव को पूर्व देह में जिस गुण का (शारीर या मानसिक) अभ्यास संस्कार होता है उसी गुण को वर्तमान देह में भी पाकर धारण करता है। तात्पर्य यह कि पूर्व जन्म के गुणकर्मानुसार जीव को इस जन्म में गुणधर्म प्राप्त होते हैं। यद्वत् वृक्ष जमीन में से अपने पोषक अनुकूल गुण तत्वों का ही आकर्षण करते हैं उसी प्रकार अपने को अनुकूल रहने वाला ही शरीर, आनुवंशिक देह प्राप्ति के नियमों के अनुरूप जीव धारण कर लेता है। पूर्व देह में जिन स्वभाव गुणों का अभ्यास जीव करता है उसके संस्कार स्वभाव बीज के रूप में उसके साथ देहान्तर में जाते हैं। मृत्यु के बारे में समझाते हुये श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को कहते हैं कि—

देहिनोस्मिन् यथा देहे कौमार यौवन जरा।
तथा देहान्तर प्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति॥

—गीता अ० २

अर्थात् चार आश्रम हैं, गर्भाश्रम, बाल्याश्रम, यौवनाश्रम और चौथा है जराश्रम। जराश्रम और बाल्याश्रम की सन्धि में जो प्रकृति के अन्तरालय में वासना का (जीव के स्वभाव बीज का) देहान्तर प्राप्ति के लिये कुछ काल निवास होता है उसे ही गर्भाश्रम यह संज्ञा है न कि माता के गर्भवास को ही। कारण कि "अन्नाद्भवंति भूतानि" के प्राणी उत्पत्ति शास्त्र के नियमानुसार जीव का स्वभाव बीज (वासना) पुरुष जो अन्न खाते हैं उस अन्न के परमाणुओं के साथ प्रथम पुरुष देह में प्रवेश करता है। कहने का अर्थ है कि जीव के गर्भ की धारणा सत्यतः अन्न सेवन द्वारा प्रथम पुरुष में होती है अनंतर स्त्री पुरुष का संयोग होने पर स्त्री में शुक्र शोणित के मिश्रीकरण से स्त्री में उसका स्थलांतर (*Transplant*) होता है। वीर्य में जीव के संस्कार रहने से ही वीर्य जीववान है। जीव की नीचे की श्रेणियों में (*Lower stages*) यद्यपि बीज एक ही देह में निर्माण होता है तथापि ऊंची श्रेणियों में उस क्रिया के लिये स्त्री पुरुषों के संयोग की आवश्यकता रहती है। इस क्रिया में जीव के प्रधान गुणों को पोषक कुछ शरीर गुणधर्म पुरुषों से मिलते हैं तो जो उससे नहीं होते वे स्त्री गर्भ में मिल जाते है। गर्भ की पूर्णावस्था के हेतु इस तरह जीव पुरुष देह में से स्त्री देह में स्थलान्तर पाता है। यह सब क्रियाये प्रकृति के गर्भ में होने से गर्भाश्रम संज्ञा यथार्थ है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन अवस्था में जीव जिस प्रकार अन्न में से वही गुण ग्रहण करते हैं जिनसे कि उनका शरीर बना हुआ रहता है उसी प्रकार स्त्री पुरुष सत्यतः वासना बीज का सिर्फ शारीर क्रियाओं को रक्षक पोषक वर्द्धक इत्यादि रूप से अनुकूल रहने वाला अन्न ही है इससे अधिक कीमत या महत्व आनुवंशिकता को नहीं है। जिस तरह किसी बीज और खेत या जमीन का संबंध रहता है उसी तरह यह भी जानना चाहिये। जीव को प्राप्त हुआ अनुवंश (भूमि देह) यदि अच्छा एवं अनुकूल न हो तो सिर्फ गर्भ का देह ही जमीन के अनुसार होता है। कई आनुवंशिक रोगों का प्रादुर्भाव इसी तरह होता है किन्तु जीव के स्वभाव गुणों पर उसका कोई असर नहीं होता। जीव के अपने निजी स्वभाव गुण बदल सकने का समर्थ्य माता पिता के किसी भी क्रिया व साधन में प्राप्त होना असंभाव्य है। 'स्वभावो

—शेषांश पृष्ठ ५१५ पर

बाल रोगों पर चिकित्सानुभव

श्री सुन्दरलाल जैन वैद्यभूषण

उदर रोग डब्बारोग प्रतिबन्धक—यदि नाल छेदन के समय बालक की नाभि से असली कस्तूरी जरा सी लगा दी जाय तो बालक सदैव ही उदर रोग व डब्बारोग से बचा रहेगा। प्रसङ्गवश दूसरे रोगों का प्रतिबन्धक योग भी यहीं लिख देना चाहता हूँ।

मथरज्वर, माता व सूखारोग प्रतिबन्धक—यदि बच्चे के जन्म लेने के ४० दिन के भीतर १ अनविंधामोती उसे निगलवा दिया जाय तो बच्चा माता शीतला, सूखारोग, मोतीझला आदि से सुरक्षित रहेगा, यदि आक्रमण होगा तो हल्का। इसे वैद्य समाज अनुभव करके देखें।

विस्फोटक, शीतला (चेचक) से सुरक्षा—जब बालक गर्भ में हो, तब उसकी माता को २१ दिन तक प्रतिदिन ४-४ माशा शुद्ध रसौत जल में घोल पिलाने से गर्भस्थ बालक को कभी शीतला (चेचक) नहीं निकलती तथा विस्फोटक या विसर्प जैसे फोड़ों से बच्चे की सुरक्षा रहती है। इस योग का उल्लेख पं० विश्वेश्वर दयालु जी वैद्यराज ने अपनी "स्त्री रोग चिकित्सा" में किया है।

नाभि शोथहर योग—यदि नाल छेदन के समय असावधानी से बालक की नाभि में शोथ हो जाय तो मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर उस पर दूध छिड़कें। ऐसा करने से जो वाष्प निकले वह वाष्प बालक की नाभि में दिलावें। इससे सूजन मिट जाती है। अथवा—

नाभिशोथ हर लेप—कुलथी को पानी में पीस गरम कर नाभि की सूजन पर लेप करें। ऊपर से गरम कर एरण्ड पत्र बांध दें।

नाभि पाकहर—यदि पक जाय तो जस्ता का फूल नाभि पर चिपकायें या घी में मिला कर लगादें। अथवा—

नाभि पाक—बकरी की लेंडी दूध में घोल गरम कर लेप करें, अथवा माजूफल पानी में घिसकर लेप करें अथवा बड़, पीपल या गूलर किसी एक वृक्ष की छाल पीसकर घी में मिलाकर लगावें।

आयुवर्द्धक योग—जिनके बच्चे बहुत छोटी उम्र में ही मर जाते हों उनके लिये यह योग अमृत ही है। इस प्रयोग से आप अपने बच्चे दीर्घ जीवी बना सकते हैं। प्रयोग—असली उत्तम मधु लेकर थोड़ा थोड़ा करके बच्चे के प्रत्येक अङ्ग को पैदा होने के दिन ही अर्थात् नाल छेदन के बाद शीघ्र ही बगैर स्नान के मालिश कीजिये। फिर घंटे आध घण्टे बाद रुई से पोंछ डालें। कुछ समय बाद गुनगुने जल से अङ्ग अंगोछ दे। बस यदि ईश्वर की मर्जी हुई तो फिर बच्चे अल्पकाल (अकाल) मृत्यु से सुरक्षित रहेंगे। यह योग वैद्य घनश्याम दास वर्मा ने ग्राम बड़ागांव जिला झांसी ने पिछले बालरोगांक में प्रकाशित किया है।

बिजली तावीज—तांबे और जस्ते के तारों को सुनार से परस्पर एकत्रित करवाकर रेशम के या मखमली वस्त्र से लपेट कर सावधानी से तावीज बनालें अर्थात् आगे से सीलें। इसे बच्चों के गले में पहनाने से बच्चों का नजराया जाना, डरना, चौंकना, दांत निकलते समय के रोग, गृहबाधा आदि सब दूर होते हैं। बहुतों ने इसे बना कर पेटेन्ट करके काफी पैसा कमाया है।

दूध न पीने पर—शिलाजीत शुद्ध २ रत्ती, जावित्री ४ रत्ती दोनों एकत्र पीस शहद में घोट जीभ पर लगा दे। यदि मृत्युवश ही दूध छोड़ दिया हो तो ईश्वर की मर्जी अन्यथा बच्चा तत्काल दूध पीने लगता है। बहुत बार का परीक्षित योग है।

बदहजमी, पेट दर्द, दूध डालना—यह शिकायत आमतौर से बच्चों को देखी जाती है। प्रयोग—



हर्रा की छाल १ तोला, भुना सुहागा १ तोला, सेधा नमक १ तोला, हींग उत्तम घी की भुनी ६ माशा सब यथाविधि पीस कर सहजने के रस मे घोट चना प्रमाण गोली बनावे। समय पर उष्ण जल से प्रयोग करे। उत्तम लाभप्रद है।

मुंह फूलने के लिये—अक्सर बच्चों को मुहां की बीमारी हो जाती है जिससे जीभ मे छोटी छोटी फुंसियां सफेद रंग की होती है। जीभ ओष्ठ वगैरह लाल हो जाते है लार गिरती है इसके लिए हमारा सहस्त्रशः अनुभूत पेटेन्ट योग—पीपल वृक्ष की छाल का कपड़छन चूर्ण बनाकर रखे। इसे जीभ पर बुरकावे शीघ्र लाभ होता है। २ दिन मे ही छाले व फुंसिया मिट जाती हैं। कृपया इससे कोई भी वैद्य द्रव्योपार्जन न करें।

बच्चों का रोना—कभी कभी बच्चे अकस्मात् जोर से रोते हैं दूध भी नहीं पीते। इसका कारण एक यह भी है कि अत्यन्त छोटे बच्चों को उठाने व खिलाने की असावधानी से उनकी हंसली टल जाती है। इसकी भी कुछ स्त्रियां विशेषज्ञ होती हैं उनसे इसे ठीक करवा लेना चाहिए तुरंत ही बच्चे चुप हो जाते हैं।

बाल चतुर्भद्रादि चूर्ण—उत्तम श्वेत अतीस, पीपल, काकड़ाश्रृङ्गी, नागरमोथा चारों का समभाग कपड़छन चूर्ण बच्चों को सदैव देते रहें। इससे उनके स्वास्थ्य में विघ्न डालने वाले तमाम रोग दूर होते है जैसे खांसी, ज्वर सरदी, अतिसार आदि पर यह प्रयोग लाभप्रद है ही। मात्रा अवस्थानुसार अनुपान मा का दूध और शहद।

बाल न्यूमोनियां—बच्चों को अक्सर तेज बुखार के साथ पसली चलने की (डब्बा) की शिकायत हो जाती है। इसके लिए निम्न प्रयोग उत्तम हैं—

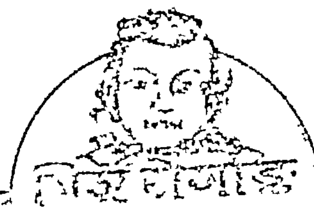
(क) उत्तम श्रृङ्ग भस्म १ रत्ती, मकरध्वज आधी रत्ती दोनों को घोट कर तुलसी रस व शहद से आवश्यकतानुसार ३-३ घण्टे पर दें। पसलियों पर कोई लेप भी लगायें। इससे पेनिसिलीन के प्रयोग की जरूरत नहीं पड़ती।

(ख) घोड़े के अगले पैरों के भीतरी भाग में जो सफेदमैली सी चिटे रहती हैं याने उनपर चमड़ा नहीं रहता ऐसा रुपया से कम कुछ लम्बा स्थान होता है उसे तेज चाकू से ऊपरी भाग निकाल लें। ६ माह के बच्चे को राई बराबर मां के दूध से घोट कर दे। अधिक उम्र में मात्रा उड़द बराबर भी दें। यह कस्तूरी से भी अधिक गरम है डब्बा रोग आधा घंटे मे दूर हो जाता है। यह गुप्त योग भी प्रगट कर दिया है कृपया इससे द्रव्योपार्जन न करे धर्मार्थ ही बाटें।

(ग) उक्त औषधियो से लाभ की आशा न हो तो पेनिसिलीन इञ्जेक्सन २ लाख यूनिट का लगादें पर २४ घण्टे के बाद दूसरा भी जरूर लगाइये इससे संतोषजनक लाभ निश्चित हो जाता है।

बाल आनन्द भैरव—शुद्ध हिंगुल, काली मिर्च, पीपल, शुद्ध विष, फूला सुहागा प्रत्येक ६-६ माशा, उत्तम श्रृङ्ग भस्म ५ तोला सबको यथाविधि खरल करके पान के स्वरस में ३ दिन घोट कर १-१ रत्ती की गोली बनालें। इसे बच्चों के ज्वर, कफ विकार, सर्दी जुखाम, दूध डालना आदि अनेक विकारों मे बुद्धि पूर्वक प्रयोग करें।

बाल संजीवनी वटी—सौंठ, मिरच, पीपल, हर्र, बहेड़ा, चित्रक, बायविडङ्ग, बच, गिलोय, शुद्ध भिलावा, शुद्ध विष। यह समस्त वस्तुये ६-६ माशा उत्तम और नवीन लें। सबको यथाविधि कपड़छन चूर्ण बना शुद्ध गौमूत्र में १ दिन घोटे। फिर उत्तम मण्डूर भस्म ३ तोला और शुद्ध पारद गन्धक की कज्जली १ तोला (समभाग वाली) मिला कर घोटें गौ मूत्र में ३ दिन घुट जाने पर ३ दिन भृङ्गराज के स्वरस में घोटे फिर १-१ रत्ती की गोली बनाले, छाया मे सुखा शीशी में रक्खें। मात्रा—अवस्थानुसार ½ गोली से १ गोली तक बच्चों के ज्वर, खांसी, सरदी, अजीर्ण, अपचन, वायुविकार और पेट के तमाम रोग यकृत् वृद्धि, सीहा, उदर शोथ आदि में प्रयोग करे। यह अल्प मात्रा में बच्चों को निरन्तर सेवनीय है।



नोट-यदि इसका नियमित प्रयोग कराया जाय तो बच्चों को यकृत सम्बन्धी कोई विकार उत्पन्न न हो ऐसा हमारा विश्वास जमता है। आगे पूर्ण निर्णय परीक्षण ही बनायेगा। यह मेरी निजी कल्पना है, और बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुई है।

बालरोगारि—उत्तम गोदंती हरताल भस्म १० तोला, शुद्ध आवला सार गंधक २ तोला (दुग्ध द्वारा शुद्ध किया हुआ गंधक ही लीजिये) दोनों को अत्यन्त सूक्ष्म घोट लें। मात्रा—१ रत्ती से २ रत्ती तक अनुपान-मां का दूध अथवा शहद दिन में ३ बार दें। गुण—ज्वर, अतिसार, मन्दाग्नि, अरुचि, उल्टी, वायुरोग, कृशता आदि सर्व रोग (बच्चों के) नष्ट करता है। यह योग वैद्य गोपाल जी कुंवर जी ठक्कुर का है और उन्हीं के द्वारा धन्वन्तरि "परीक्षित प्रयोगांक" में प्रकाशित हुआ था। उपयोगी समझ कर यहां दिया है।

कासहर—मीठी वच, अतीस, अडूसे की छाल, पीपल, काकडासिंगी समभाग का चूर्ण १ से ३ रत्ती शहद से दें। बच्चों की सभी प्रकार की खांसी इसके प्रयोग से दूर हो जाती है।

लवंग चतुःसमचूर्ण—लवंग, जायफल, जीरा भुना हुआ, सुहागा भुना, चारों समभाग घोट लें। मात्रा-१ से ३ रत्ती तक मा के दूध या शहद के साथ। बच्चों के अपचन जनित रोग, दूध डालना, दस्त, आमातिसार, आम ग्रहणी की प्रथम अवस्था में पेट दर्द दूर करने के लिते अद्वितीय है।

नोट—विशेष शक्तिशाली बनाना हो तो समस्त चूर्ण से चौथाई शंख भस्म और आठवा भाग मकरध्वज मिलाकर घोट लें अति उत्तम रसायन बनेगा।

अतिसारहर अन्य योग—महागन्धक रस पाचन यंत्र की विकृति को दूर कर दस्त बन्द कर देता है। यह बहुत ही उत्तम लाभप्रद योग है। लेख अधिक बढ़ने के भय से प्रयोग लिखा नहीं इसी तरह रक्तातिसार व पक्वातिसार में तुरन्त दस्त रोकने के लिये कर्पूर रस अचूक औषधि है। रोग की अवस्थानुसार समय समय यह दोनों योग अतिसार में सद्यफलप्रद है।

बाल संजीवन रस—महागन्धक रस और इस योग मे प्रायः समानता है जरा सा ही फर्क है। इसे यहीं अङ्कित कर देना ज्यादा उपयुक्त होगा-

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक १-१ तोला दोनों घोट कर पर्पटी विधि से ढालकर पर्पटी बनालें। जायफल, जावित्री, लौंग, निम्बपत्र, सम्भालूपत्र, इलायची प्रत्येक १-१ तोला महीन पीस पर्पटी मे घोट लें। पुनः सबको भृङ्गराज के रस मे ३ दिन घोट लें। फिर २ मोती की सीपों में बन्द करके केले के पत्तों मे लपेटकर एक हल्की कपड़ मिट्टी करके मृदुपाक में पकालें। शीतल होने पर निकाल घोटकर शीशी में रखलें। मात्रा-½ रत्ती से २ रत्ती तक अवस्थानुसार दें।

अनुपान-मधु। बालकों के समस्त अतिसार, ज्वर, मन्दाग्नि, ग्रहणी, प्रवाहिका, रक्तातिसार, दांत निकलते समय के रोग दूर होते हैं। यह बालकों की रक्षा के लिये उत्तम औषधि है, बल वर्ण को बढाती है। बालकों के ग्रह बाधाजन्य रोग, पिशाच दानव दैत्य इससे दूर भागते हैं। जब कब्ज न हो और अफरा न हो तभी इसका प्रयोग करना चाहिए। यकृत की खराबी मे भृङ्गराज के रस व मधु से यह योग उत्तम कार्यकारी है। बालकों के सिवाय यह स्त्री रोगों पर भी उत्तम लाभ करता है।

सर्वौषधि स्नान—बालकों के अनेक रोगों मे यह बहुत उपयुक्त होता है-जटामासी, बच, कूठ, शिलाजीत, हल्दी, दारुहल्दी, कचूर, चम्पा के फूल या छाल, नागरमोथा, सिरस की छाल सबको कुचलकर जल मे पकाकर इस जल से स्नान कराइये। बालकों के सूखारोग, निर्बलता, सर्वरोग, ग्रह राक्षस बाधा आदि इससे दूर होते हैं। बालक तन्दुरुस्त हो जाता है।

अष्टादशाग धूप-बाल रोगों के लिये प्राचीन ग्रन्थों मे अंजन, धूनी आदि का बहुत प्रयोग मिलता है। प्राचीन वैद्य परम्परा मे इसका बहुत ही प्रयोग होता था। हमारे नाना प० दयाचन्द्र आयुर्वेदाचार्य



इनका सफलतापूर्वक प्रयोग कराया करते थे उन्होंने इसे कविता रूप में इस प्रकार लिखा है। निःसंदेह यह योग उपयुक्त है—

बालक तरुण क्या वृद्ध सबन को
धूनी अंजन देय कराय।
खोज अनेकों ग्रन्थ यतन सब
लिखा यहां पर छंद बनाय॥
कनक बीज बच सुगन्धवाला,
जटामासन्सी लाय मगावें।
बीज कपास मोर की मारक,
गूगल सरसों लहसुन लावें॥
मूल कटेली बीट माखी की,
हाथी दांत हींग मंजीठ।
सांप कांचली लाल मिर्च अरु
ईसबंद लीजे समपीस॥
पीस दवा सब की मिला-
कर देय आग पर धूनी डार।
सन्नपात तेरा आठों ज्वर
चित्तभ्रम उन्माद विटार॥
भूत प्रेत राक्षस बैताला,
शाकन डाकन बाधा देय।
अष्टादशांग धूप नव दीजे,
'राम विनोद' ग्रन्थ का लेख॥

अपराजित धूप—

बच गूगल रोमा चारा ले
रार नीम के पत्ता।
अगर आक देवदारु काष्ठ
का चूर्ण कर एकत्रा॥
सब प्रकार ज्वर नष्ट होत
जो याकी धूनी देवे।
अपराजित धूनी यह देकर
रोग जीत यश लेवे॥

ज्वरारि धूप—

नीम छाल बच इन्द्रयव
कूठ लाय मंगवाय॥
श्वेत सरसों आंवला
समकर लेय पिसाय।
घृत मिलाय ज्वर कारने
याकी धूनी देय॥
बाल वृद्ध सब ज्वरन
को यह उपाय कर देय॥

बाल सखा तैल—

बमरा, सकोय, ग्वारपाठा, छोटी दुद्धी (नागार्जुनी), बंगलापान, तालमखाने, (ताल मखाना पचांग) इन सबके २०-२० तोला रस निकाल कर ४० तोला तैल में मन्द अग्नि से पकावें। तैल मात्र रहने पर छान लें। उष्ण अवस्था में ही दालचीनी का तैल १ तोला, कपूर १ तोला मिलाकर शीशी में रखें। बालकों के सर्वाङ्ग में मालिश करें, कानों में डालें। सूखा रोग, ज्वर, अतिसार, शिरःशूल, दुर्बलता, अस्थिशोथ आदि समस्त बालरोग दूर होते हैं, रक्त संचार बढ़ता है। यह बच्चों के लिये अतिशय लाभप्रद तैल है।

बालसखा अवलेह—

पुष्करमूल काकड़ासिंगी पीपल
और अतीस मंगावें।
लेप जवासा कूट कपड़छन,
शहद संग चूर्ण चटवावें॥
ज्वर सरदी खांसी की बाधा,
दस्त बन्द कर देवे।
बाल सखा अवलेह नाम,
यह सकल रोग पर देवे॥

बाल रोगान्तक चूर्ण—अतीस, लाल फिटकिरी भुनी, गेरू, काली मिर्च, नौसादर, कलमी शोरा सब समान भाग चूर्ण करें। मात्रा १ से ४ रत्ती तक उम्र के अनुसार योग्य अनुपान से दें। गुण—बच्चों का ज्वर, मलेरिया, अतिसार, वमन, मूत्रावरोध, यकृत् सम्बन्धी रोग, दांत निकलते समय के रोग, हिचकी, खांसी, श्वास, अफरा आदि सब दूर होते हैं। इसके अलावा दांत दर्द में



मञ्जन करे। हिस्टीरिया, विच्छू दंश मे चूना मिलाकर नस्य भी देते हैं।

वालपुष्ट वटिका-मुलहठी, चिरौंजी, धान की खील, मिश्री समभाग लेकर पीसकर शहद मे मिला गोली बनाले। इससे बालक नीरोग होकर पुष्टि को प्राप्त होते हैं, पौष्टिक है।

कृमिघ्न रस-बच्चों के पेट मे कृमि बढ़ने पर ज्वर, अरुचि, पेट दर्द, मुंह से लार गिरना, पेट में ऐंठन, वमन, मलद्वार मे खुजली, अग्निमाद्य आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। पतले दस्त आते हैं, कृमि रोगो को नष्ट करने के लिये यह बालक, वृद्ध, गर्भिणी सबको लाभप्रद है। यह योग स्वर्गीय कविराज गंगाधर सेन महाशय का है और इसे पिछले बालरोगाक मे प्रकाशित देखा गया था।

योग-वायविडग, पलास बीज, नीम के पत्ते, रससिंदूर चारों समभाग जल मे घोट १-१ रत्ती की गोली बनाये। बच्चो को १ से २ गोली तक दूध के साथ मधु मिलाकर खाली पेट दें। बड़ों को मोथे के रस व शहद से दें। मात्रा-बड़ो को ४ से ६ गोली तक देनी चाहिये।

कनक सुन्दर रस—शु० हिंगुल, शु० गंधक, भुनासुहागा, शु० विष, शु० कनकबीज, कालीमिर्च छोटी पीपल सब समान भाग लें। यथाविधि घोंट कर भाग के क्वाथ की ७ भावनायें दे। १ रत्ती की गोली बना लें ½ से १ गोली तक दें यह छोटे बच्चों के लिए उत्कृष्ट औषधि है, दात निकलते समय के कष्टों में इससे तुरन्त लाभ होता है, वात विकृति के लक्षणों मे जैसे-रोने से पाचन क्रिया का बिगड़ना, चिड़चिड़ापन, पेट मे वायु प्रकोप, दस्त होना, हरे पीले फटे दूध के समान दस्त होना दूध डालना मुट्ठे बांधना दांतो से काटना निद्रानाश होना आख पर, तनाव, आदि सभी हालतो मे यह उत्तम लाभप्रद औषधि है। धतुग होने से ज्वर वात प्रकोप आदि तुरन्त दूर होते हैं। ज्वरातिसार पर बड़ो को भी लाभप्रद है। अनुपान—मां का दूध या दही का ऊपरी गाढ़ा भाग मिलाकर दे। मात्रा का अवस्थानुसार ध्यान रखे। यह योग बालरोगांक मे पं. सूर्य मणि पाण्डेय वैद्य विशारद कानपुर द्वारा प्रकाशित किया गया था। योगशास्त्रीय है पर उपरोक्त लक्षणों मे लेखानुकूल बराबर फलप्रद योग है।

बाल जीवन वटी—गौरोचन ३ माशा एलुवा, ६ माशा, उशारे रेवन्द, केशर असली, कटेली का पीला जीरा, यवक्षार उत्तम, सत्यानाशी के बीज प्रत्येक १-१ तोला सबको यथाविधि अदरख के रस मे घोट मूंग प्रमाण गोली बनालें। अनुपान मां का दूध और शहद। इसके सेवन से बच्चो की पसली चलना अर्थात् डब्बारोग (जूड़ा) न्यूमोनिया, मल मूत्रावरोध, अफरा, श्वास-कास आदि दूर हो कर बालक स्वस्थ हो जाता है।

चन्द्रशेखर रस-रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, कांत-लौह भस्म, मुंड लौह भस्म, मण्डूर भस्म, गौरोचन, फूलासुहागा सब समाभाग लें। घोट कर गौकर्णी अर्थात् कोयल के रस में ३ दिन घोट कर उड़द प्रमाण गोली बनाले। मात्रा-आधी से १ गोली तक मा के दूध से बालकों के सर्व रोग, स्तनदोष से उत्पन्न सन्निपात, शूल, जुखाम, धनुर्वात, डब्बा, न्यूमोनियां आदि समस्त रोग दूर होते हैं। कफ विकार को वमन द्वारा निकाल देता है। यह शतशः परीक्षित योग है। गौकर्णी को विष्णुक्रांता या अपराजिता भी कहते हैं।

बालार्क वटी— शु० खर्पर, प्रवालभस्म, शु० हिंगुल, शु० सुहागा, मिर्च, कचूर, केशर समभाग पान के रस में घोट कर मूंग प्रमाण गोली बनालें। अनुपान मा का दूध और शहद। बच्चों के वातकफ के समस्त विकार, ज्वर, अस्थिमार्दव रोग, खासी, श्वांस, कृमि, जुखाम, मंदाग्नि, वमन, अतिसार आदि सबको दूर करके बालक को प्रसन्न करती है। यह तीनों प्रयोग रस तन्त्रसार से संग्रहीत सद्य. फलप्रद हैं।

मधुर ज्वरान्तक वटी—रससिन्दूर, अभ्रकभस्म, प्रवाल भस्म, मुक्ताभस्म, उत्तमकेशर, जायफल, जावित्री, लवंग, प्रत्येक ४-४ माशा असली



कस्तूरी १ माशा सबको यथा विधि घोट ले। तुलसी रस मे ३ दिन निरन्तर घोट कर मूंग प्रमाण गोली बनाये। मात्रा—१ से २ गोली तुलसी रस या पान का रस और शहद दिन रात मे ३ बार अवश्य दे। यह मोतीझरा में सब अवस्थाओं मे लाभप्रद है। ज्वर, खांसी, श्वास, अतिसार, वमन, दाह, ज्वर का तीव्र वेग, नाड़ी की क्षीणता, प्रलाप आदि सबको दूर कर दाने शीघ्र बाहर कर देती है। बल वर्ण की रक्षा करती है परम अनुभूत है।

यकृत प्लीहान्तक वटी—बालकों की यकृत वृद्धि में यह योग अत्यन्त उपयुक्त है। शु० फिटकरी, अर्थात् फूली फिटकरी, फूला सुहागा, सतगिलोय, लौहभस्म, शंखभस्म प्रत्येक १-१ तोला, शु० एलुवा और शु० गन्धक २-२ तोला घृतकुमारी के रस में ३ दिन घोट कर २-२ रत्ती की गोली बनालें। अवस्थानुसार आधी से १ गोली दिन में २ या ३ बार गरम जल से दें। गुण—यह वटी प्लीहा वृद्धि मे अति प्रभावशाली है। एवं यकृत वृद्धि, उदर शूल, कामला, प्लीहा वृद्धि से होने वाला ज्वर, मलावरोध आदि को दूर करती है। बालक वृद्ध सबको लाभदायक है। इससे हमारा अनुभव है कि यकृत में निश्चित लाभ होता है। ऐसा ही प० ठाकुरदत्त जी शर्मा देहरादून ने अनुभूत योगमाला के "यकृदंक" मे भी प्रकाशित किया था। हम इस वटी के साथ निम्नलिखित कुमारी आसव देकर कई बालकों पर पर उत्तम लाभ देख चुके हैं—

कुमारी आसव स्पेशल—घृत कुमारी का रस ४ सेर, पुराना गुड आध सेर, मण्डूर भस्म, भुना सुहागा, यवक्षार, काला नमक, साभर नमक, सेंधा नमक, समुद्र नमक, विढनमक, सज्जीक्षार, नौसादर प्रत्येक ४-४ तोला सब एकत्र कर चीनी मिट्टी के पात्र मे रख मुह बन्द कर धान्यराशि मे १५ दिन रखें पश्चात् छान लें। मात्रा—बच्चों को ३ माशा समभाग जल मिला दिनरात मे २ बार दें। गुल्म, यकृत वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, उदर शूल, कब्ज आदि में अत्युत्तम है। यह आसव और उक्त वटी दोनों चालू रखे जांय तो हमारा अनुभव है कि बच्चों के यकृत् विकार मे निश्चित लाभ होता है।

यकृत् वृद्धिहर सरल योग—भृङ्गराज का रस और शहद प्रातः सायं दे। यह सरल योग निश्चित लाभप्रद है यह प्रयोग अनेक रोगियों पर प्रयोग कर लाभप्रद पाया है। इसी तरह अमर वेल का रस भी शहद मिलाकर यकृत् वृद्धि अर्थात् लीवर के बढ़ने पर उत्तम लाभ करता है।

माता के दुग्ध की शुद्धिकारक योग—आयुर्वेद के सिद्धांत के अनुसार बालकों के समस्त रोगों मे मुख्य कारण स्तन्यदोष ही है अतः इस पर ध्यान देना ज्यादा जरूरी है अतः दोषानुसार लक्षण व चिकित्सा लिखकर लेख समाप्त करता हूँ—

(क) वातविकार—माता का ताजा दूध कांच के ग्लास में रख कर देखे—रङ्ग कुछ सावला या लाली की झलक लिये, झागों की अधिकता, स्वाद मे कसैलापन, पानी में जल्दी न घुलने वाला बल्कि ऊपर रहने वाला हो तो वायु दोष से दूषित दूध समझना चाहिये। ऐसा दूध पीने से बालक का पेट नहीं भरता। मुंह और गले का सूखना, गला बैठ जाना, स्वर का मन्द होना, नींद न आना, पेशाब रुकना, दस्त खुश्क होना, शरीर सूखना आदि वायु रोग उत्पन्न होते हैं। इसमे माता को दशमूल क्वाथ २१ दिन पिलाना सर्वोत्तम है, कब्ज न रहने पाये।

(ख) पित्तविकार—दूध का रङ्ग पीला नीला या तावे के रङ्ग के समान हो, पानी पर डालने से पीले रंग की लकीर सी दिखाई दे, स्वाद मे कुछ खटास, कडुवाहट, या चरपरापन हो सूंघने में मुर्दे जैसी अथवा खून जैसी गन्ध आती हो कुछ गरम प्रतीत हो तो उसे पित्त दोष से दूषित समझना चाहिए। ऐसा दूध पीने से पतले पीले दस्त आते हैं, दस्तों मे खून आता है, प्यास ज्यादा लगती है, बच्चा बेचैन रहता है, पाण्डु पीलिया आदि गर्मी के रोग उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा—गिलोय, सतावर, पटोल पत्र, नीम की छाल, और गौरीसर का क्वाथ



माता को २१ दिन पिलाने से दूध पित्त दोष से मुक्त हो जाता है।

(ग) कफ विकार—दूध बहुत सफेद, बहुत मीठा, ज्यादा गाढ़ा हो अथवा चिपचिपा हो, उसमें तार भी छूटते हों पानी में डालने से नीचे बैठ जाय उसमें घी तैल चर्बी जैसी गंध हो तो कफ का विकार समझना चाहिये। ऐसा दूध पीने से बच्चों को खांसी जुकाम, आम (पेचिस), बदहजमी, दूध डालना, लार बहना, अधिक नींद आना, आदि कफ के रोग उत्पन्न होते हैं। यह कोई जरूरी नहीं है कि ऊपर के तमाम दोषों के लक्षण सबमें पूरे ही पाये जांय बल्कि दोषों की जितनी न्यूनाधिकता होगी उतने ही कम या ज्यादा लक्षण पाये जांयगे।

(घ) द्विदोषज—अगर मिले जुले दो दोषों के लक्षण पाये जाय तो द्विदोषज दुग्ध दोष समझना चाहिए। इसके लिए उपाय भी बुद्धिपूर्वक करलें।

कफ दोष का इलाज—हर्र, बहेड़ा, आंवला, मोथा, चिरायता, कुटकी इनका क्वाथ माता को पिलावें तो कफ दोष से दूध मुक्त हो जाता है।

दुग्ध शुद्धिकारक योग—पाढ़ल, कुटकी, सौंठ, देवदारु चन्दन, मूर्वा, मोथा, गिलोय, इन्द्रजव, चिरायता, गौरीसर इनमें जितनी चीजें मिलें उनका ही क्वाथ बनाकर सुबह शाम पिलाना चाहिये। पथ्य मे मूंग की दाल, चावल, खिचड़ी, गेहूँ, यव, दूध, दलिया आदि हल्का भोजन देना चाहिए।

बच्चों के सूखा रोग नाशक—शिवजटा अथवा सहस्त्र मूर की जड़ का रस १०-१५ बूंद रोज प्रातः सायं मा के दूध और शहद से देना चाहिये। दवा ७ या १५ दिन में सूखारोग को नष्ट कर देती है।

लोकनाथ रस—शास्त्रीय प्रयोग है—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, अभ्रक १ तोला, ताम्र भस्म २ तोला, लौह भस्म २ तोला, कौड़ी भस्म ६ तोला, घीकुमार के रस में खरल करें। फिर मकोय के रस में खरल करें। गोला बनाकर शराब सम्पुट में रख मध्यम अग्नि दें। शीतल होने पर पीस शीशी में रखें। मात्रा—आधी रत्ती मधु से दें। यकृत् वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, काला आजार व सूखा रोग दूर होते है।

नोट—उपरोक्त सभी प्रयोग अनुभव के आधार पर सफलतापूर्वक प्रयोग करके लाभप्रद सिद्ध हो चुके हैं।

—श्री सुन्दरलाल जैन वैद्यभूषण
महाकौशल आयुर्वेद फार्मेसी
मु० पो० कुइई (दमोह)



:: पृष्ठ ५०८ का शेषांश ::

निष्प्रति क्रिया' का सिद्धान्त अटल है इसी दृष्टि से यदि "उग्रसेन के कंस" पैदा हो जाता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नाड़ी स्वस्थावस्था में एक गुण को प्रधानतया धारण करके ही रहती है वह उसकी प्रकृति कहलाती है और उस प्रकृति स्वभाव (वर्ण) के अनुसार ही उसके गुण धर्म प्रगट होते हैं। वे किसी क्रिया से इसी जन्म के बदले नहीं जा सकते यह निश्चित है। शिशु रोगाङ्क में इस विषय को लेकर लेख प्रस्तुत करने का हमारा अभिप्राय यह है कि आनुवंशिकता सबंध में जो अतिशयोक्ति प्रचलित हैं उनकी व्यर्थता मालूम हो और मातापिता के स्वभाव से प्रतिकूल स्वभाव के होने में आश्चर्यपूर्ण खिन्नता महसूस न हो। इति।

देह की अवस्थाओं को लेख मे "आश्रम" संज्ञा देने का मेरा अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम ईश्वर सृष्टि न होकर कल्पना निमित्त है और अनित्य हैं। किन्तु उपर्युक्त आश्रम ईश्वर कृत नित्य हैं यह भेद ध्यान में रखना चाहिए।

लेख की सामग्री विज्ञान नोरा ग्वालियर से प्रकाशित गीतोपनिषद से ली गयी है।

—वैद्य श्री गोपालप्रसाद "विज्ञानभिक्षु"
आयुर्वेदाचार्य कूदन (सीकर)

एक अभूतपूर्व रोगी बालक

कुमारी इन्दु एम० ए०



अभी थोड़े दिनों पहले की ताजा बात है एक बालक जिसकी उम्र लगभग तीन वर्ष की थी अचानक ही दीवारों से सर फोड़ने लगा। बच्चे का तड़फना देखा नहीं जाता था किसी तरह के दर्द से परेशान था। खाना पीना बिल्कुल बंद। आंखें सूजकर कुप्पा हो गई थीं साथ ही पेट भी फूल कर ढोल और बहुत सख्त हो गया था। रोने व चिल्लाने के कारण जरा भी शान्त न होता था। रोग परीक्षा करना ही दुश्वार हो रहा था। विभिन्न परामर्शियों ने तरह तरह के परामर्श दिये। तरह तरह की चिकित्सा भी चालू हुई पर परिणाम शून्य ही रहा। घर वाले तंग हो गये। चिकित्सकों की राय शीघ्र से शीघ्र बाहिर लेजा कर चिकित्सा कराने की हुई। बालक चिकित्सा के लिए हमारे शोध सस्थान मे भी लाया गया। रोगी परीक्षा करने पर हमारी सम्मति में, इसे तेज सिर. शूल या इसी कारण से भयंकर नेत्र शोथ हो गया था। आंखे किसी तरह खुलती न थीं। बालक की नाक से लगातार पानी बह रहा था। श्राव का परिणाम दैनिक करीब आधा सेर था। पेट की बारीकी से परीक्षा की गई तो सिवा मल के जमाव के और कुछ अनुमान न लग सका।

सबसे पहले बच्चे को अर्क दुग्ध मिश्रित नस्य दी गई पर कोई खास असर न हुआ। नाक अंदर से बन्द थी। अत. बच्चे को सुलाकर गर्दन नीची कर दवा नाक मे फूंकी गई तो केवल श्राव की मात्रा बढ़ी। छींकें न आयीं जोकि हमें अभीष्ट थीं। इस उपचार के साथ ही बच्चे के पैर के दोनों अंगूठों नखों पर अर्क दुग्ध के फाहे बन्धवाये (सिर्फ रात को) कानों में नीम के पत्तों का गर्म रस टपकवाया। साथ ही शूलरिन् एक खुराक कूल्हे में इजैक्शन भी किया। पर उस रात बच्चे को पैसे भर भी शान्ति न मिली। दूसरे दिन नस्य मे थोड़ा परमेंगनेट बारीक पीस कर मिलवाया और उपचार ठीक उसी भांति चालू रखा। छींके आई व स्राव लगभग सेर भर हुआ आखों पर खूब सेंक करवाया। फलतः सूजन कुछ ढीली पड़ी। तीसरे रोज एकाएक स्राव बंद हो गया इसलिये शुद्ध गोघृत गर्म गर्म सुंघवाया ताकि मस्तष्क की उत्तेजना शान्त हो जाय। दर्द बहुत कम हो गया शोथ भी उतर गया। आंखें अन्दर से गहरी रक्त वर्ण हो रही थीं। उसमे दारु-हल्दी, कलमी शोरा, फिटकरी, मिश्री का लोशन डलवाया (एक दिन में २० दफे) 'वही नस्य सुंघवाई' वही अर्क दुग्ध फोहे बधवाये व कानो मे गर्म निम्ब रस पूरा गया। इसके साथ ही पेट का तनाव अपने आप कम पड़ता पड़ता शान्त हो गया जो हमारे विचार मे अधिक रोने से हो गया था।

इसके बाद श्वेत खशखश के दानों का पतला हलुआ छोटी इलायची डालकर खिलाया गया एवं खिलाया जा रहा है। बच्चा रुपये में साढ़े पन्द्रह आने ठीक है। दो पैसे भर रोग भी १-२ दिन दिन मे शान्त हो जावेगा। भगवान ने दया की और बच्चा साधारण से उपचार से ठीक हो गया। धन्वन्तरि के पाठकों के ज्ञान वर्द्धनार्थ यह इतिवृत्त छपने भेजा जा रहा है।

बाल-वमन—

बच्चों की बीमारियों मे वमन एक खास बीमारी है। इसके कारण बच्चे के पेट में कुछ ठहरता नहीं फलतः बालक की वृद्धि रुक जाती है, वह दिन दिन कमजोर होता जाता है। अत मे बिल्कुल सूख-जाता है और अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। क्योंकि दूध या अन्न जो कुछ वह खाता है वही वमन कर देता है। अब वृद्धि कैसे हो ? इसे ही आयुर्वेद में क्षीरालसक कहते हैं। इससे बच्चे को फिर दूसरी व्याधियां भी खड़ी हो जाती हैं, यथा

—शेषांश पृष्ठ ५१८

मृत्यु से युद्ध

श्री डा० ताराचन्द लोढ़ा

ठीक बारह वर्ष पहले की बात है। एक दम्पत्ति के पिता की या माता की या दोनों की विकृति से सन्तान जीवित न रहती थी। गर्भकाल में कोई तकलीफ न होती थी। बच्चे भी स्वस्थ होते थे। पर ईश्वर की विचित्र लीला है कि ठीक आठवां मास लगते ही बच्चे को हरे, पीले, सफेद अतिसार होते, ज्वर आता, बच्चा सूख सूख कर मां बाप को रुलाता, औषधियों पर विजय पाता, चिकित्सकों के प्रयत्नों को व्यर्थ करता हुआ अपनी लीला समेट लेना। यन्त्र, मन्त्र, औषधि, टोटके, कोई भी कामयाब न होते। इस प्रकार ६-१० सन्तानें काल की भेंट चढ़ गयीं। पर यह पैशाचिक लीला जारी रही।

जब अगली संतान हुई तो संयोगवश ही एक भेंट के फलस्वरूप यह वृतान्त मेरे सामने भी आया। मैंने उसे आश्वासन दिया कि जब बच्चे की तबियत बिगड़ने लगे तभी तुम मेरे पास आ जाना। मैं पूर्ण प्रयत्न करूंगा कि यह संतान तो जीवित रह जाय। दम्पत्ति को सन्तोष कहां था? बच्चे के जन्म से ही अनेक टोंटके, झाड़फूंक, मन्त्र-यन्त्र, दवाइयां आदि आदि अनेक उपाय होने लगे। बच्चा आठ माह तक तन्दुरुस्त रहा। फिर वही अतिसार शुरू हुए। ज्वर भी रहने लगा और क्रमश: बच्चा क्षीण होने लगा। हमने व अन्य परामर्शदाताओं ने खूब ही सर मारा, अनेकों देशी विदेशी दवाइया दीं पर काल पर कोई बश न चला और बच्चा पूर्वानुसार ही सूखता चला गया। अन्त में ३-४ माह मे बच्चे ने जीवन लीला समाप्त कर ली। अब और तो कोई चारा न था पर मैंने दम्पत्ति को यह निश्चित आश्वासन दे दिया कि इस बार तो जीत काल की ही हुई पर अगली संतान निश्चित ही जीवित रह जावेगी बशर्ते कि मुझे गर्भ स्थिति का ज्ञान होते ही सूचना देदी जावे। इस प्रकार बड़ी कठिनता से धैर्य बंधवाया गया। अगली गर्भ स्थिति की सूचना तो दूसरे माह मे ही मिल गई (गर्भस्थिति के)। पर हमने १-२ माह सोच बिचार ही में गुजार दिये कि कौन सा निश्चित उपाय किया जावे कि काल की इस पाशविक लीला को रोका जावे। गर्भ के पांचवे माह से हमने ब्राह्मी व ताजे असगन्ध युक्त क्षीर-पाक किया दुग्ध (गौ का) दोनों वक्त स्त्री को पिलाने लगे जो बराबर प्रसव तक जारी रहा। बीच में कभी दुग्ध के साथ फलघृत भी खिलाया तथा आठवे माह से नोवे माह तक दोनों वक्त उत्तम सितोपलादि चूर्ण शहद में चटाते रहे।

ठीक समय पर स्वस्थ प्रसव (पूर्वानुसार ही) हुआ। पर ज्यों ज्यों दिन बीतते गये हमारा और दम्पत्ति का तथा जो लोग उत्सुकतापूर्वक नतीजे की प्रतीक्षा में थे या किसी प्रकार पहले चिकित्सा संलग्न थे उन सबका हृदय धड़कने लगा। आठ माह तक बच्चा तन्दुरुस्त रहा पर बाद मे वही अतिसार, ज्वर, क्षय, नेत्राभिष्यन्द शुरू हुए। हमने भी उपचार पर मजबूती से कमर कसी। सबसे अधिक मारक व्याधि अतिसार (कभी श्वेत, कभी हरे, कभी लाल) थी। अत, हमने प्रथम दो माह में इसके लिये निम्न दवा बनवा कर सेवन कराई—

खशखश, सफेद कत्था, हल्दी, अजवायन, कुड़े की छाल, कंजा की मींग, मोचरस, सूखा पोदीना, छुहारा, लौंग, बेलगिरि, सौंफ अधभुनी, छोटी पीपल, इन्द्र जौ, जायफल, सोंठ, अतीस, छोटी इलायची दाना प्रत्येक १–१ तोला, हींग उम्दा भुनी ४ माशे, शुद्ध अफीम ८ माशा।

इन सबको कूट कपड़छन कर ४-४ रत्ती दिन में कई बार (६ से ८ दफे तक) ठण्डे पानी या मातृ दुग्ध से दी जाने लगी। जब दवा देते, २-२ दिन



मे अतिसार कुछ कम होता, पर ज्यों ही दवा बन्द करते कि फिर अतिसार शुरू हो जाते। ऐसा कई बार हुआ। इसलिये हमने दवा लगानार जारी रखी। साथ मे शास्त्रीय लाक्षादि तैल की रोज मालिश कराई जाती थी तथा दिन मे ४ बार सितोपलादि चूर्ण भी असली चन्दन के शर्बत में चटाते रहे। कभी कभी अर्क कपूर की एक बूंद भी जल में देते थे। पहले दो माह मे अर्थात् दश माह तक तो बालक को कोई लाभ नजर न आया पर बाद में धीरे धीरे लाभ हुआ। यही चिकित्सा लगातार ६ माह तक जारी रही। बालक का मृत्युकाल टल गया। जब बच्चा १४ माह का हो गया तब चिकित्सा बन्द कर दी गई। भगवान की कृपा से बच्चा ठीक हो गया पर थोड़ा दुर्बल ही रहा। सितोपलादि चूर्ण बालक की मां को भी चटाया जाता रहा व बच्चे को मातृ दुग्ध बराबर पिलाया गया। वह बच्चा अब तक हृष्ट पुष्ट है। अभी लेख के लिए सम्पादक जी के आग्रहपूर्णपत्र आ रहे थे तभी उस बच्चे का पिता एक दिन संयोगवश आ निकला तथा यह घटना फिर से स्मृति पट पर आ गई। सम्पादक जी के आग्रह की रक्षा करना आवश्यक था अत. शिशुरोगांक के पृष्ठ सजाने के लिये भेज दी गई।

इसी सितोपलादि चूर्ण से हमने एक ५० वर्ष के आदमी का एक बार का १७ पौंड वजन बढ़ाया था। हम इस चूर्ण को यों बनाते हैं—

मिश्री २० तोला, बंशलोचन १० तोला, छोटी पीपर ५ तोला, छोटी इलायची के बीज २॥ तोला, दालचीनी १। तोला, बुरादा श्वेत चन्दन २ तोला, गुर्च सत्व १ तोला, प्रवाल भस्म या पिष्टी, स्वर्ण बसंत, मुक्ता शुक्ति पिष्टी, अकीक भस्म, कहरवा पिष्टी प्रत्येक ६-६ माशे।

काष्ठादिक को कूट कपड़छन कर पिष्टियां व भस्म व बसंत भली प्रकार घोटकर मिला दें। बस तैयार है। इस बच्चे को हमने यह चूर्ण चन्दन व अनार के समभाग शर्बत मे चटाया।

इतना सब कुछ सब कुछ होने पर भी लड़के की स्मरणशक्ति मे कुछ निर्बलता रह गई जो अब तक है। एक दूसरा लड़का भी इसी प्रकार मृत्यु से जूझ रहा था। हमने उसे भी लगातार ४ माह तक यही उपरोक्त चूर्ण शर्बत ब्राह्मी के साथ व कभी शर्बत चन्दन के साथ चटाया। फलस्वरूप वह बिलकुल हृष्टपुष्ट हो गया।

—श्री डा० ताराचन्द लोढ़ा
किशनगढ़ (राजस्थान)

:: एक अभूत पूर्व रोगी बालक ::

ज्वर, कम्प, मलावरोध, भ्रम, अफरा, मूर्च्छा, अजीर्ण आदि।

वे जवान शिशुओं के इस रोग के लिये हम शतप्रतिशत कार्यकारी एक प्रयोग देते हैं जिससे निश्चयपूर्वक यह व्याधि मिटती है अगर रोगोत्पादक कारण और दोष को भी दूर किया जाय। प्रयोग यह है—

भभके द्वारा खिंचा अजवायन का अर्क ४ बूंद, एलुआ उत्तम १ बूंद, नीम्बू सत्व १ बूंद, तेजाब गंधक २ बूंद सबको बोतल या कांचपात्र में गला

:: शेषांश पृष्ठ ५१६ का ::

कर एक दिन धूप में रख कर वस्त्रपूत कर लेवें। दवा में चौगुना पानी मिलाकर एक-एक छोटा चम्मच हर आध आध घण्टे पर बच्चे को पिलायें। यदि वमन तेज हो तो १०-१० मिनट में भी दे सकते हैं। निश्चय ही लाभ होगा। एक दिन दो दिन तीन दिन बराबर पिलाये ही जायें। हजारों बच्चों की कय बंद कर चुका है।

—कुमारी इन्दु एम० ए,
इन्दु शोध संस्थान, किशनगढ़ (राज०)

बालरोगनाशक कुछ अनुभूत प्रयोग

श्री हकीम गुरुचरन लाल कुशवाहा

१. जिह्वामृत रसायन-

यह दवा तुरन्त असर दिखाने वाली है। मुखपाक कैसा भी हो या मुख मे छाले हों, शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं।

तूतिया भुना २ माशा, कलमी शोरा १ तोला, दाना इलायची छोटी १ तोला, कत्था सफेद १ तोला, गुलाब के फूल १ तोला, कपूर ६ माशा सबको बारीक पीस कर चूर्ण बना लेवें। इसको मुख मे लगाने से कला (मुहां), मुखपाक, छाले आदि शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

२. शिशुपाल-

एक्वा एनीसाई १ पौंड, एक्वा एनीथाई १ पौंड, स्प्रिट क्लोरोफार्म आध पौंड, ग्लेसरीन २ पौंड, शक्कर १० पौंड, एक्वा केरोआई आध पौंड, सोडा वैन्जुयेट ४ औंस, पोटासियम कार्वोनेट आध पौंड, लायमवाटर (चूने का पानी) ५ पौंड।

लाइम वाटर (चूने के पानी) में शक्कर मिला कर शर्बत तैयार कर लो। फिर इस शर्बत में अंग्रेजी दवाओं को मिलाकर बोतल में रख लेवे। एक चाय वाला चम्मच दिन में दो बार बच्चे को पिलावें। गुण—बच्चे का दूध न हजम होना, उबकाई, हर प्रकार के दस्त, पेट मे कीड़े पड़ना, काली खांसी, डब्बा रोग, सूखा रोग, दौड़ा पेट फूलना, आखें आना, दुर्बलता आदि रोग दूर कर बच्चों को तन्दुरुस्त रखता है। अच्छे बच्चे को दूसरे दिन से कोई रोग होने का भय नहीं रहता है।

३. अकसीर मृगी-

ऊदसलीब यह एक पहाड़ी जड़ी है। इसको यूनानी हिकमत मे अधिकतर प्रयोग करते है। और यह पंसारियों के यहां मिल जाते है। इसका एक छोटा टुकड़ा एक नये तागे या महीन सफेद कपड़े मे बच्चे के गले मे इतवार या मंगल के दिन बांध देवे। और उसी जड़ी को मां के दूध मे घिसकर सुबह और सायंकाल को बच्चे को पिला देवे। इससे बच्चे की मृगी और हर प्रकार का दौरा शात हो जाता है।

४. सूखानाशक योग -

मुक्ता शुक्ती भस्म १ तोला, जहर मोहरा खताई १ तोला, वेर पत्थर १ तोला, दरियाई नारियल १ तोला, बंसलोचन असली १ तोला, दाना इलायची छोटी १ तोला, सब दवाओं को बारीक कूट पीसकर दिन भर सौफ के अर्क मे खरल कर चने के प्रमाण गोलिया बना लेवें। एक गोली प्रातः एव सायकाल मा के दूध अथवा गधी के दूध में पिलावें। बच्चों का सूखा, हरे दस्त, पसली चलना, बराबर ज्वर बना रहना, मुहा हो जाना आदि रोग दूर होकर के बच्चा स्वस्थ एव तन्दुरुस्त हो जाता है। और इसके साथ ही चन्दनादि बला तेल मालिश करे। और इतवार या मंगल के दिन मृतपेपी (मछेछी) पत्ती उबालकर कपड़ा भिगोकर बच्चे का बदन पोंछ दें।

५. अकसीर सूखा —

केशर असली १ तोला लेकर काली गाय के मूत्र आध पाव को एक शीशी में मजबूत डाट लगाकर २१ दिन तेज धूप मे रख देवें। मात्रा—२ से ५ बूंद तक बच्चों को मां के दूध में देने से सूखा रोग अवश्य अच्छा हो जाता है। यह अनुभत योग है।

६. सूखानाशक तेल -

कंघी बूटी जिसे अतिबला भी कहते हैं की पत्ती का स्वरस आध सेर, काले तिल का तेल आध सेर, आग पर मन्दाग्नि से पका कर तेल मात्र रहने पर छान लेवे। इसकी बच्चे के सारे शरीर में मालिश करवावें।



७. सुगन्धित लाल पाल तेल-

जंगली प्याज जिसे लोग ताल कांदा कहते हैं। जिसका स्वरस आध सेर, हल्दी देशी ६ माशा, नागरमोथा ६ माशा, देवदारु ६ माशा, रेणुका ६ माशा, मोरवा ६ माशा, छडीला ६ माशा, सौंफ ६ माशा, बालछड़ ६ माशा सबका बारीक चूर्ण सिल पर पानी से पीस कर पिट्ठी बना लेवे। कांदा का स्वरस और पिट्ठी और आधा सेर तिल का तेल आग पर मन्दाग्नि से पका कर तेल मात्र रहने पर छान लेवें। इसमें ६ माशा कपूर डाल देवें। इस तेल की मालिश करने से बच्चे का सूखा रोग दूर होता है। और शरीर पुष्ट होता है तथा दांत आसानी से निकल आते हैं।

८. कर्णस्राव पर अनुभूत योग-

(क) बहुधा मातायें छोटे बच्चों को पड़े पड़े ही दूध पिला देती हैं। इससे दूध का असर कान के पर्दे में जाकर कान को खराब कर देता है और बहने लगता है अतएव माता को चाहिए कि बच्चे को कभी पड़े हुए दूध न पिलावे। यदि कान बहने लगे तो नीम की पत्ती औटाकर छान कर इसमें थोड़ा शहद डालकर बच्चे के कान में भर दें। फिर कान उड़ेल कर रुई से पोंछ दे। क्लोरो माईसिटिन कैपशूल २ अदद तोड़ कर उसकी दवा निकाल कर २ ड्राम ग्लेसरीन में घोल ले। इसकी दो-दो बूंद प्रात साय डालने से स्राव शीघ्र ही ठीक हो जाता है।

(ख) शराब ब्राण्डी १० तोला, कागजी नीबू का स्वरस १० तोला, नीम की पत्ती का रस ५ तोला, बाबूना का तेल ५ तोला, तिल का तेल ५ तोला, रीछ की चर्बी २॥ तोला, पवार के फूल (चक्र मदन या चकैदा के फूल) १ तोला सबको आग पर मन्दाग्नि से पकावें। तेल मात्र रहने पर छान ले। फिर इस तेल में अफीम २ माशा, शुद्ध सुहागा ६ माशा, कौड़ी भस्म ६ माशा को खूब बारीक पीसकर तेल में मिला दो। आवश्यकता पड़ने पर दो-चार बूंद डाल दो। इस तेल के डालने से कान का दर्द, कान का बहना, बहरापन आदि कान के रोग दूर होते हैं।

—हकीम श्री गुरुचरन लाल वैद्य
श्री कुशवाहा औषधालय, सफीपुर (उन्नाव)

बाल संजीवनी शिवा मोदक

हरड़, भूमीआमला, मूर्वामूल, सोयादाना, हल्दी, दारुहल्दी, कौंच बीज, बलामूल, बेलगिरी, लौंग, शतावरी, मूरामासी, सौंफ, जटामांसी, बिदारीकन्द, सोंठ, सारिवा, आमला, श्यामलता, भारंगी, गजपीपल, पीपल, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, इलायची, मैथी, चांदसुर, कलौंजी, अजवायन, चन्दन, लाल चन्दन, काली मूसली, असगध, गोखरू, सर्व समान द्राक्षा, द्राक्षा समान शक्कर।

उपरोक्त जड़ी बूटी कपड़छन चूर्ण करके द्राक्षा मिलाके पीस लें, फिर शक्कर की चासनी बनाके मोदक विधि से शहद मिला के १-१ माशे की गोली बांधे या शहद से अवलेह बना लें।

सेवन विधि—दिन में एक बार सुबह गो दुग्ध या मातृदुग्ध से सेवन करावे।

यह शरीर पुष्ट रखता है। आयुबर्द्धक, बल बर्द्धक, अग्निप्रदीपक है सर्वरोगनाशक एवं ग्रहदोष-नाशक है।

नोट—इस दवा को बहुत दिन पर्यन्त बना बनाया रखने से कीड़े पड़ जाते हैं इसलिये शहद के साथ अवलेह रूप में बनाके रखें और उचित मात्रा में सेवन करावें। इस "शिवामोदक" का भगवान शिवशंकर ने लोक मंगल के लिये आविष्कार किया है।

—कविराज श्री लालामेहर जी,
श्रीगोपाल आयुर्वेद औषधि भण्डार,
सम्बलपुर (उड़ीसा)

केवल रजिस्टर्ड चिकित्सकों के लिए

धन्वन्तरि कार्यालय

विजयगढ़ (अलीगढ़)

का

सूचीपत्र

हम गत ६४ वर्षो से शास्त्रोक्त विधि से अत्युत्तम द्रव्यों द्वारा पूर्ण प्रभावशाली आयुर्वेदीय औषधियों का निर्माण कर भारत के प्रतिष्ठित चिकित्सको को उचित मूल्य पर सप्लाई कर रहे है। आपसे साग्रह निवेदन है कि आप भी हमारी औषधियों का व्यवहार करे।

संस्थापित १८६८

—नियम—

१. कमीशन—

अ. १०.०० से कम मूल्य की दवा मगाने पर कोई कमीशन नही दिया जायगा।

आ. २५.०० तक की दवा मंगाने पर १२॥ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

इ. २५.०० से अधिक मूल्य की दवा मगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

ई. १०० ०० से अधिक मूल्य की दवा मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा तथा मालगाड़ी का किराया कार्यालय देगा।

उ ५० ००से अधिक नैट-मूल्य (कमीशन कम करके) के रस-रसायन मूल्यवान् औषधिया मगाने पर पोस्ट व्यय कार्यालय देगा।

२. आर्डर देते समय—

अ. आदेशपत्र मे औषधियों का नाम, उनका नम्बर, तोल, पैकिङ्ग की तोल तथा मूल्य सभी बातें स्पष्ट लिखें। नीचे मूल्य का जोड़ लगावें तथा उपर्युक्त नियमानुसार जो कमीशन बनता हो उसको भी लिखें। यदि आप एजेंट हैं तो एजेंसी नम्बर भी लिखें।

आ हर पत्र मे अपना पूरा पता तथा पास के रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

इ. पार्सल पोस्ट से भेजी जाय या रेल से, सवारीगाडी से भेजी जाय या मालगाडी से यह विवरण अवश्य लिखना चाहिए।

ई आर्डर देते समय चौथाई मूल्य अथवा कम से कम ५०० एडवास मनियार्डर से अवश्य भेजें तथा आदेश-पत्र में मनियार्डर का नम्बर व तारीख दें।

३—दवा भेजते समय पैकिङ्ग करने में पूर्ण सावधानी रखी जाती है और प्राय: टूट फूट नहीं होती। किन्तु अगर किसी कारण कोई टूट-फूट हो जाती है तो उसका जिम्मेदार कार्यालय नहीं है।

४—पार्सल मगाकर वी पी लौटाना अनुचित है। एक बार वी पी. वापस आने पर कार्यालय पुनः उस ग्राहक को वी पी नही भेजेगा तथा खर्चा लेने का हकदार होगा। यदि बिल में कोई भूल है तो वी. पी. छुडाकर पत्र डाल कर उसका सुधार करालें।

५—हमारे यहां उधार का लेना कतई नहीं है। बीजक का रुपया बैंक या वी. पी. से लिया जाता है।

६—हमारे यहां ८० तोले का सेर, ४० सेर का एक मन माना जाता है। द्रव [पतली] औषधि २ औंस की शीशी में एक छटाक मानी जाती है।

७—उत्तर प्रदेश से बाहर के ग्राहकों को अन्तर्प्रान्तीय बिक्री कर ७ प्रतिशत देना होगा। सी-फार्म आर्डर के साथ [बाद में नही] मिलने पर यह टैक्स नहीं लगाया जायगा।

८—ग्राहकों को पार्सल का बारदाना, पैकिग व्यय, पोस्ट-व्यय, स्टेशन पहुचाई आदि सभी खर्च पृथक देने होते हैं।

९—धन्वन्तरि कार्यालय के किसी विभाग का कोई भी झगडा अलीगढ की अदालत में तय होगा।

१०—नियमों में अथवा औषधियों के भावों में किसी भी समय सूचना दिये बिना परिवर्तन करने कार्यालय को पूरा अधिकार है।

अन्तर्प्रान्तीय बिक्रीकर

उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रातो के ग्राहकों को अन्तर्प्रान्तीय बिक्रीकर ७ प्रतिशत होगा। यदि इससे आप छुटकारा पाना चाहे तो अपने क्षेत्र के बिक्रीकर कार्यालय मे अपने फर्म की रजिस्ट्री करावें और वहा से सी-फार्म की कापी प्राप्त करलें। आर्डर देते समय उस कापी से एक फार्म भर कर आर्डर के साथ भेज दिया करें। आर्डर के साथ [बाद मे नहीं] सी फार्म मिलने पर हम सैलटैक्स नहीं लेगे। सी- फार्म आर्डर के साथ न मिलने पर ७% सैलटैक्स अवश्य लगाया जायगा।

धन्वन्तरि कूपीपक्व रसायन

हमने कूपीपक्व रसायन बनाने में एक लम्बे समय में जो अनुभव किया है तथा इसकी बारीकियों को जितना हमने जाना है वह अन्य अनेकों नवीन फार्मेसी वाले कदापि नहीं जान सकते । हम उस विशेष अनुभव के आधार पर सर्वोत्तम रसायन निर्माण करते हैं और इसी कारण उनकी उत्तमता का दावा कर सकते हैं । अधिक न लिखते हुए आपसे परीक्षा करने का आग्रह करते हैं ।

	१ माशा	३ माशा	१ तोला
सिद्ध मकरध्वज नं. १	४.३१	१२.५०	४८.००
सिद्ध मकरध्वज नं. १ खूब बारीक पीसकर १-१ रत्ती की ८ पुड़ियां १ शीशी में ५.००			
सिद्ध मकरध्वज न. २	२.८१	८.३१	३३.००
सिद्ध मकरध्वज नं. ३	२.२५	६.५०	२५.००
सिद्ध मकरध्वज न. ४	२.२५	६.५०	२५.००
सिद्ध मकरध्वज नं. ५	१.८१	५.३१	२१.००
सिद्ध मकरध्वज नं. ६	१.७५	३.६२	१४.००
सिद्ध चन्द्रोदय नं. १	६.८१	२०.०६	८०.००
अनुपान मकरध्वज	×	१.८१	७.००
रससिंदूर नं. १	१.२५	३.५०	१३.००
रससिंदूर नं. २	०.८१	२.३१	६.००
रससिंदूर नं. ३	०.७५	२.०६	८.००

	१ माशा	३ माशा	१ तोला
मल्ल चन्द्रोदय	४.३१	१२.५०	४८.००
मल्ल सिंदूर	०.८१	२.३१	६.००
ताल सिंदूर	०.८१	२.३१	६.००
ताम्र सिंदूर	०.८१	२.३१	६.००
शिला सिंदूर	०.८१	२.३१	६.००
स्वर्णबङ्ग भस्म	०.३७	१.००	३.५०
मृतसजीवनी रस	०.४४	१.१२	४.२५
रसकपूर (कर्पूर भाडेश्वर)	०.६४	२.५६	१०.००
रस माणिक्य	०.३७	१.००	३.५०
समीरपन्नग रस नं० १	२.५६	७.५६	३०.००
समीरपन्नग रस नं० २	०.८१	२.३१	६.००
पञ्चसूत रस	०.८१	२.३१	६.००
स्वर्ण भूपति रस	२.५६	७.५६	३०.००
व्याधिहरण रस	१.२५	३.५६	१४.००

भस्में

धातु उपधातु की भस्में वही उत्तम होती हैं जो अच्छी प्रकार शोधन करने के पश्चात् भस्म की गई हों तथा जो निरुत्थ हों। आयुर्वेद शास्त्र में ऐसी भस्म जो पारद, हिंगुल, हरताल, मनसिल द्वारा की गई हों और जो पुनः जीवित न हों, सर्वोत्तम मानी गई है तथा जड़ी बूटियों से की गई भस्में मध्यम ।

भस्में आयुर्वेदीय शास्त्र के अनुसार (शोधन करने के बाद) किंतु अपनी विशेष क्रिया द्वारा बनाई जाती हैं। इसीलिए जिन्हें हम निर्माण कार्य में अधिक समय व्यतीत हो चुका है वही उत्तम भस्में बना सकते हैं। इसी प्रकार भस्मों में जितने अधिक पुट लगाये जाते हैं वह उतनी ही अधिक उपयोगी होती हैं। अन्य नवीन फार्मेसी वाले केवल वनौषधि द्वारा बहुत ही कम पुट देकर साधारण भस्में बना लेते हैं। इसीलिये हमारी भस्मों के समान लाभप्रद सिद्ध नहीं होती है।

	३ माशा	१ तोला	५ तोला
अभ्रक भस्म न. १	१०.०६	४०.००	×
अभ्रक भस्म नं. २	०.८१	३.०६	१५.००
अभ्रक भस्म नं. ३	०.४४	१.५६	७.५०
अकीक भस्म	१.०६	४.००	१६.००
कपर्द (कौड़ी) भस्म	०.१९	०.३७	१.७५

	३ माशा	१ तोला	५ तोला
कान्तलौह भस्म	०.५६	२.०६	१०.००
गोदन्ती हरताल भस्म	०.१९	०.३७	१.७५
जहरमोहरा भस्म	०.८१	३.०६	१५.००
तबकी हरताल भस्म	२.३१	६.००	४०.००
ताम्रभस्म न. १	१.५६	६.००	२८.००

	३ माशा	१ तोला	५ तोला
ताम्रभस्म नं. २	०.८१	३.०६	१५.००
ताम्रभस्म नं. ३	०.४४	१.५६	७.५०
नागभस्म नं. १	०.८१	३.०६	१५.००
नागभस्म नं. २	०.३७	१.२५	६.००
प्रवालभस्म नं. १	१.५६	६.०६	३०.००
प्रवालभस्म नं. २	०.५६	२.०६	१०.००
प्रबालभस्म नं. ३	०.५६	२.०६	१०.००
प्रवालभस्म नं ४	०.५०	१.८७	८.००
प्रबालभस्म चन्द्रपुटी	०.५०	१.८७	८.००
वंगभस्म नं. १	०.६२	२.२५	१०.००
बङ्गभस्म नं. २	०.३१	१.००	४.५०
वैक्रान्त भस्म	२.००	७.५०	३५.००
मल्ल (संखिया) भस्म	१.५६	६.००	२८.००
मृगश्रृङ्ग भस्म (श्वेत)	०.१९	०.६२	२.७५
माणिक्य भस्म	४.००	१५.००	×
माण्डूर (कीट) भस्म नं. १ रक्तवर्ण	०.२५	०.७५	३.७५
मांडूर (कीट) भस्म नं. २ कृष्णवर्ण	०.१९	०.६२	२.७५
मुक्ताभस्म नं. १	२५.०६	१००.००	×
मुक्ताभस्म नं. २	२१.०६	८४.००	×
यशदभस्म	०.५०	१.७५	८.००
रौप्यभस्म नं. १	३.०६	१२.००	५५.००
रौप्यभस्म नं. २	२.३१	९.००	४०.००

	३ माशा	१ तोला	५ तोला
लौहभस्म नं. १	२.०६	८.००	३७.५०
लौहभस्म नं. २	०.५०	१.७५	८.००
लौहभस्म नं. ३	०.२५	०.८१	४.००
स्वर्णभस्म	५१.००	२००.००	×
स्वर्णमाक्षिक भस्म	०.५०	१.७५	८.००
शङ्खभस्म	०.१३	०.३८	१.७५
शङ्कर लौहभस्म	२.०६	८.००	३७.५०
(मोतीसीप) शुक्तिभस्म	०.१९	०.५६	२.५०
संगजराहत भस्म	०.२५	०.८१	४.००
त्रिवङ्गभस्म नं० १	१.२५	४.५०	२२.५०
त्रिबङ्गभस्म नं० २	०.३१	१.००	४.५०



	३ माशे	१ तोला
प्रबाल पिष्टी	०.५६	२.००
मुक्तापिष्टी नं० १	२५.०६	१००.००
मुक्तापिष्टी नं० २	२०.०६	८०.००
अकीक पिष्टी	०.६२	२.२५
जहरमोहरा पिष्टी	०.६२	२.२५
कहरवा पिष्टी	२.७५	१०.००
मुक्ताशुक्ति पिष्टी	०.१९	०.६९
माणिक्य पिष्टी	१.५६	६.००
वैक्रान्त पिष्टी	१.५६	६.००

शोधित द्रव्य

ये द्रव्य शास्त्रोक्त विधि से शोधित हैं औषध निर्माण में नि संकोच व्यवहार कीजियेगा। इनके द्वारा निर्माण की गई औषधियां पूर्ण प्रभावशाली प्रमाणित होंगी।

	१ तोला	१० तोला	१ सेर
कज्जली नं० १	२.१२	२०.००	×
शु० गंधक आंमलासार	०.५०	४.००	२४.००
शु० वच्छनाग	०.६२	६.००	×
शु० विषबीज	०.७५	७.००	×
शु० ताल (हरताल)	१.२५	१२.००	×
शु० जयपाल	०.७५	७.००	×
शु० भल्लातक	०.६२	६.००	×
शु० ताम्र चूर्ण	×	२.००	१५.००
शु० लौह (फौलाद) चूर्ण	×	०.८१	६.००

	१ तोला	१० तोला	१ सेर
शु० शिला	१.२५	१२.००	×
धान्याभ्रक (शुद्ध वज्राभ्रक)	×	०.८१	६.००
शु० हिंगुल	२.०६	२०.००	×
शु० पारद हिंगुलोत्थ	३.५०	३४.००	×
पारद विशेष शुद्ध	७.००	×	×
शु० माण्डूर	×	०.३१	२.००
शु० धतूरा बीज	०.५०	४.००	२४.००
शु० गूगल	×	०.५६	१२.००

पर्पटी

आयुर्वेद की औषधियो मे पर्पटी का स्थान बहुत ऊंचा है किंतु इनको जितने उत्तम पारद मे तैयार किया जायगा, ये उतना ही अधिक गुणप्रद होंगी। हम विशेष रीति से पारद को तैयार करके फिर पर्पटी तैयार करते हैं। इसलिये ये बहुत गुण करती हैं। एक बार नं० १ की पर्पटी व्यवहार करके उनके चमत्कारिक प्रभाव को देखें। सभी के सुभीते के लिए दोनों प्रकार की पर्पटी तैयार कराते हैं।

	१ माशा	१ तोला	५ तोला
ताम्र पर्पटी नं० १	०.६६	८.००	३५.००
ताम्र पर्पटी नं० २	०.४०	४.००	१७.५०
पचामृत पर्पटी नं० १	०.६६	८.००	३५.००
पंचामृत पर्पटी नं० २	०.४०	४.००	१७.५०
त्रिजय पर्पटी [स्वर्ण मुक्ता घटित]	३ ००	३५.००	×
बोल पर्पटी नं० १	०.६६	८.००	३५.००
बोल पर्पटी नं० २	०.४०	४.००	५२.००
रस पर्पटी नं० १	०.६२	७ ००	×
रस पर्पटी नं० २	०.३४	३.५०	१५ ००

	१ माशा	१ तोला	५ तोला
लोह पर्पटी नं० १	० ६६	८.००	३५.००
लोह पर्पटी नं० २	० ४०	४ ००	१७ ५०
श्वेत पर्पटी	० १४	०.४४	२ ००
स्वर्ण पर्पटी नं० १	३ ००	३२.००	×
स्वर्ण पर्पटी नं० २	२.००	२१.००	×

नोट—नं० १ पर्पटी विशेष शुद्ध पारद मे निर्मित है तथा नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित हैं। नं० १ की पर्पटी की मात्रा कम और गुण अधिक होने से वैद्य अधिक व्यवहार में लेते हैं।

बहुमूल्य रस-रसायन गुटिका

ये औषधियां स्वय अपनी देखरेख में सर्वोत्तम स्वर्ण वर्क, मुक्ता कस्तूरी आदि बहुमूल्य द्रव्य डालकर बनाई जाती हैं। इनकी प्रामाणिकता एव गुणों मे किसी प्रकार की शका न करें।

	१ माशा	१ तोला
आमवातेश्वर रस	१.५०	१६.००
वृ० कस्तूरी भैरव रस	२.००	२२.००
कस्तूरी भैरव रस	१.५०	१६.००
कस्तूरी भूषण रस	१.७५	२०.००
वृ० काम चूरामणि रस	१.३७	१५ ००
कामदुधा रस (मौक्तिक-युक्त)	१.०६	१२ ००
कामिनी विद्रावण रस	०.८१	६.००
कुमारकल्याण रस	३.५०	४०.००
कृष्ण चतुर्मुख रस	१ ५०	१७.००
चतुर्मुख चिन्तामणि रस	२.००	२२.५०
जयमङ्गल रस (स्वर्णयुक्त)	३.०६	३६.००
प्रवाल पचामृत रस	१.२५	१४ ००
पुटपक्व विषमज्वरांतक लोह	१.५०	१७.००
वृ० पूर्णचन्द्र रस	२.०६	२४.००
वसत कुसुमाकर रस	३.००	३३.००
वृ० वात चिन्तामणि रस	३.००	३३.००
ब्राह्मी वटी (स्वर्ण मुक्तायुक्त)	३.५०	४० ००
मृगाक पोटली रस	८.०६	६६.००

मधुमेहान्तक रस	१० गोली	२.१६
	१ माशा	१ तोला
मधुरान्तक वटी (मौक्तिक वटी)	०.८१	६ ००
मन्मथाभ्र रस	१.२५	१४.००
महाराज नृपतिवल्लभ रस	० ८७	१०.००
महालक्ष्मी विलासरस	०.८७	१०.००
महाराज वङ्गभस्म	०.८१	६.००
योगेन्द्र रस	४.०६	४८ ००
रसराज रस	२.५६	३०.००
राज मृगांक रस	३ ००	३३.००
वृ० लोकनाथ रस	० ५०	५.००
श्वास चिन्तामणि रस	१.७५	२० ००
स्वर्ण वसंत मालती नं० १	३ ००	३३.००
स्वर्ण बसंत मालती नं० २	१.८१	२१.००
सर्वाङ्ग सुन्दर रस	२ ०६	२४.००
सग्रहणी कपाट रस नं० १	३ ५०	४०.००
सूतशेखर रस (स्वर्णयुक्त)	१.५०	१७.००
हिरण्य गर्भ पोटली रस	३.००	३३.००
हेमगर्भ रस	३.०६	३६.००

धन्वन्तरि रसायन-गुटिका

	१ तोला	५ तोला
अग्निकुमार रस	०.६२	३.००
अजीर्ण कंटक रस	०.८१	३.७५
अर्शान्तक वटी	१.२५	६.००
अग्नितुण्डी वटी	०.८१	३.७५
आनन्द भैरव रस	१.०६	५.००
आनन्दोदय रस	१.८१	९.००
आदित्य रस	१.३१	६.२५
आमलकी रसायन	१.०६	५.००
आरोग्यवर्धिनी वटी	०.८१	३.७५
इच्छाभेदी रस	०.८१	३.७५
इच्छाभेदी वटी (गोली)	०.८७	४.००
उपदंश कुठार रस	०.८१	३.७५
उष्ण वातघ्न वटी	२.०६	१०.००
एकांगवीर रस	५.००	२४.००
एलादि वटी	०.४४	२.००
एलुआदि वटी	०.४४	२.००
कर्पूर रस	५.००	२४.००
कनकसुन्दर रस	०.८१	३.७५
कफ कुठार रस	१.२५	६.००
कफकेतु रस	०.८१	३.७५
करंजादि वटी	५० गोली	१.००
कासधेनु रस	२.५०	१२.००
कामदुघा रस नं० २	२.०६	१०.००
काकायन गुटिका	०.४४	२.००
कीटमर्द रस	०.५६	२.५०
क्रव्यादि रस	४.५०	२०.००
कृमिकुठार रस	०.९४	४.५०
खैरसार वटी	०.४४	२.००
गंगाधर रस	२.०६	१०.००
गन्धक वटी	०.४४	२.००
गन्धक रसायन	१.७५	८.००
गर्भविनोद रस	०.८१	३.७५
गर्भपाल रस	१.७५	८.००
गर्भचिन्तामणि रस	३.५०	१६.००
गुल्म कुठार रस	१.२५	६.००
गुल्मकालानल रस	१.२५	६.००

	१ तोला	५ तोला
गुड़ पिप्पली	०.५०	२.२५
गुडमार वटी	०.४४	२.००
ग्रहणी गजेन्द्र रस	३.००	१४.००
ग्रहणी कपाट रस नं० २	१.२५	६.००
ग्रहणी कपाट रस लाल	२.५०	१२.००
घोड़ाचोली (अश्वकंचुकी) रस	०.६६	३.००
चन्द्रप्रभा वटी	०.७५	३.५०
चन्द्रोदय वर्ती	०.७५	३.५०
चन्द्रकला रस	१.२५	६.००
चन्द्रांशु रस	१.००	४.५०
चन्द्रामृत रस	१.००	४.५०
चित्रकादि वटी	०.४४	२.००
ज्वराकुश रस	०.७५	३.५०
जयवटी	१.७५	८.००
जलोदरारि वटी	१.००	४.५०
जातीफलादि रस	१.०६	४.७५
तक्रवटी	१.००	४.५०
दुर्जलजेता रस	०.७५	३.५०
दुग्धवटी नं० १	६.००	२८.००
दुग्धवटी नं० २	०.७५	३.५०
नवज्वरहर वटी	०.७५	३.५०
नष्टपुष्पांतक रस	३.५०	१७.००
नृपतिवल्लभ रस	१.५०	७.००
नाराच रस	०.७५	३.५०
नित्यानन्द रस	१.०६	५.००
प्रताप लंकेश्वर रस	०.७५	३.५०
प्रदरारि रस	०.७५	३.५०
प्रदरांतक रस	१.५६	७.५०
प्लीहारि रस	०.७५	३.५०
प्राणेश्वर रस	३.००	१४.००
प्राणदा गुटिका	०.६९	३.२५
पंचामृत रस नं० १ (नासारोग)	०.७५	३.५०
पंचामृत रस नं० २ (शोथ रोग)	१.००	४.५०
पाशुपत रस	१.०६	५.००
पीपल ६४ पहरा	३.५०	१७.००
वृ० शंख वटी	०.७५	३.५०
वृद्धि वाधिका वटी	२.०६	१०.००

	१ तो.	५ तो
बृ. नायकादि रस	०.५०	२.३७
बहुमूत्रान्तक रस	३.५६	१७.५०
बहुशाल गुड़	०.५६	२.५०
बालामृत रस	४.५०	२२.००
ब्राह्मीवटी (स्वर्णरहित)	२.०६	१०.००
वातगजांकुश रस	१.८१	८.७५
विषमुष्टिका वटी	०.८१	३.७५
वेताल रस	३.००	१४.००
व्योषादि वटी	०.४४	२.१२
महामृत्युञ्जय रस (रक्त)	१.०६	५.००
मृत्युञ्जय रस (कृष्ण)	१.०६	५.००
मकरध्वज वटी	५०० गोली	३०.००
महागन्धक रस	०.८१	४.००
मरिच्यादि वटी	०.४४	२.१२
महाशूलहर रस	१.२५	६.००
महावात विध्वंस रस	३.०६	१५.००
मार्कण्डेय रस	०.८१	४.००
मूत्रकृच्छ्रान्तक रस	३.०६	१५.००
मेहमुद्गर रस	०.८१	४.००
रक्तपित्तान्तक रस	१.०६	५.००
रसपीपरी	३.०६	१५.००
रामबाण रस	०.८७	४.२५
लशुनादि वटी	०.५०	२.२५
लघुमालती वसन्त	३.०६	१५.००
लक्ष्मीविलास रस	१.७५	८.००
लक्ष्मीनारायण रस	२.५०	१२.००

	१ तोला	५ तोला
लाई [रस] चूर्ण	०.८१	४.००
लीलावती गुटिका	०.७५	३.५०
लीलाविलास रस	१.५०	७.००
लोकनाथ रस	१.५६	७.५०
श्वासकुठार रस	०.८१	४.००
शङ्खवटी	०.५०	२.२५
शशमनी वटी	१.२५	६.००
शिरोवज्र रस	१.००	४.५०
[illegible]	१.७५	८.००
शिलाजीत वटी	१.००	४.५०
शूलवज्रिणी वटी	०.८१	४.००
शूलगजकेशरी रस	२.०६	१०.००
शृङ्गाराभ्रक रस	१.७५	८.००
स्मृतिसागर रस	३.५०	१७.००
सन्निपात भैरव रस	१.२५	६.००
संजीवनी वटी	०.६२	३.००
सर्पगन्धा वटी	१.००	४.५०
समीरगज केशरी	४.५०	२२.००
सिद्धप्राणेश्वर रस	१.००	४.५०
सूतशेखर रस	३.०६	१५.००
सूरण मोदक चू०	०.४४	२.१२
सौभाग्य वटी	०.८१	४.००
हिंग्वादि वटी	०.४४	२.१२
हृदयार्णव रस	२.०६	१०.००
त्रिपुर भैरव रस	१.००	४.५०
त्रिभुवनकीर्ति रस	०.८७	४.२५
त्रिविक्रम रस	३.०६	१५.००

धन्वन्तरि लोह मण्डूर

	१ तोला	५ तोला
अम्लपित्तांतक लोह	१.२५	६.००
चन्दनादि लोह (ज्वर)	१.५०	७.००
चन्दनादि लोह (प्रमेह)	१.८१	८.७५
ताप्यादि लोह	३.५६	१७.५०
धात्री लोह	१.२५	६.००
नवायस लोह	०.८१	४.००
प्रदरारि लोह	१.५६	७.५०
प्रदरान्तक लोह	१.८७	९.००

	१ तोला	५ तोला
पुनर्नवादि माण्डूर	०.६२	३.००
विषम ज्वरान्तक लोह	१.५६	७.५०
यकृत् हर लोह	१.२५	६.००
शोथोदरारि लोह	१.८७	९.००
सर्वज्वरहर लोह	१.२५	६.००
सप्तामृत लोह	१.२५	६.००
त्र्यूषणादि लोह	१.२५	६.००

	१ तो.	५ तो.	१० तो.
अमृतादि गुग्गुल	०.४४	२.००	३.५०
काचनार गुग्गुल	०.३७	१.५०	२.५०
किशोर गुग्गुल	०.३७	१.५०	२.५०
गोक्षुरादि गुग्गुल	०.३७	१.५०	२.५०
पुनर्नवादि गुग्गुल	०.३७	१.५०	२.५०
बृ. योगराज गुग्गुल	१.२५	६.००	१२.००

	१ तो.	५ तो.	१० तो.
योगराज गुग्गुल	०.३७	१.५०	२.५०
[illegible] गुग्गुल	१.२५	६.००	१२.००
[illegible] गुग्गुल	०.३७	१.५०	२.५०
सिंहनाद गुग्गुल	०.५०	२.२५	८.००
[illegible] गुग्गुल	०.४०	२.२५	८.००
त्रिफलादि गुग्गुल	०.३७	१.५०	२.५०

अरिष्ट-आसव

	१ बो	१ पौं	१ अद्धा	८ औं
अमृतारिष्ट	२.६२	२.३८	१.४४	१.२५
अर्जुनारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
अरविन्दासव	३.००	२.७६	१.६२	१.३१
अशोकारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
अभयारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
अश्वगन्धारिष्ट	२.७५	२.४४	१.५०	१.३०
उसीरासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
कनकासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
कुमारी आसव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
कुटजारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
खदिरारिष्ट	२.६२	२.३८	१.४४	१.२५
चन्दनासव	२.२५	२.००	१.२५	१.०६
दशमूलारिष्ट नं.१	५.५०	४.८८	२.८८	२.५०
दशमूलारिष्ट नं. २	२.६२	२.३८	१.४४	१.२५
द्राक्षासव [बिना खिंचा]	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२

	१ बो.	१ पौं.	१ अद्धा	८ औं.
द्राक्षारिष्ट	२.८५	२.६२	१.५०	१.३५
देवदार्वारिष्ट	२.६२	२.३८	१.४४	१.२५
पत्रांगासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
पिप्पल्यासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
पुनर्नवासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
[illegible]रिष्ट	३.५०	३.१२	१.८८	१.६२
बबूलारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
वासारिष्ट	६.००	५.२५	३.१२	२.७५
बालरोगान्तकारिष्ट	३.००	२.७०	१.६२	१.४०
रक्तशोधिकारिष्ट	२.७५	२.५०	१.५०	१.३१
रोहितकारिष्ट	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
लोहासव	२.२५	२.००	१.२५	१.०६
सारस्वतारिष्ट नं १	×	×	×	६.५०
सारस्वतारिष्ट नं. २	३.५०	३.१२	१.८८	१.६२
सारिवाद्यासव	३.००	२.७०	१.६२	१.४०

अर्क

	१ बो	१ पौं	१ अद्धा	८ औं
अर्क उसबा	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
दशमूल अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
द्राक्षादि अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
महामंजिष्ठादि अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
रास्नादि अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६

	१ बो.	१ पौं	१ अद्धा	८ औं.
सुदर्शन अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
अर्क सौंफ	१.७५	१.५६	१.००	०.८१
अर्क अजवाइन	२.२५	२.००	१.२५	१.०६
अर्क पोदीना	२.७५	२.५०	१.५०	१.३१

क्वाथ

दशमूल क्वाथ १ मन ६०.०० १ सेर १.५६
२ तो. की १०० पुड़िया ६.००
दार्व्यादि क्वाथ १ सेर २.८७
१० तोले की पुड़िया ०.३७
देवदार्व्यादि क्वाथ १ सेर २.०० ,, ०.३१

द्राक्षादि क्वाथ १ सेर २.०० १० तो. की पु. ०.३१
बलादि क्वाथ १ सेर २.०० ,, ०.३१
महामंजिष्ठादि क्वाथ १ सेर २.८७ ,, ०.३७
महारास्नादि क्वाथ १ सेर २.८७ ,, ०.३७
त्रिफलादि क्वाथ १ सेर २.०० ,, ०.३१

चूर्ण

	१ सेर	५ तोला
अग्निमुख चूर्ण	१२.००	०.८७
अविपत्तिकर चूर्ण	१२.००	०.८७
अजीर्णपानक चूर्ण	१४.००	१.००
अग्निवल्लभ क्षार चूर्ण	१७.००	१.१६
उदरभास्कर चूर्ण	१२.००	०.८७
एलादि चूर्ण	१४.००	१.००
कपित्थाष्टक चूर्ण	१०.००	०.७५
कामदेव चूर्ण	१२ ००	०.८७
गंगाधर चूर्ण	६.००	०.६६
चन्दनादि चूर्ण	६.००	०.६६
ज्वर भैरव चूर्ण	६.००	०.६६
जातीफलादि चूर्ण	२० ००	१.३१
तालीसादि चूर्ण	१४.००	१.००
दशनसस्कार चूर्ण	१२.००	० ८७
धातुस्रावहर चूर्ण	१६.००	१.१२
नारायण चूर्ण	६.००	०.६६

	१ सेर	५ तोला
निम्बादि चूर्ण	६.००	०.६६
प्रदरान्तक चूर्ण	६.००	०.६६
पंचसकार चूर्ण	८.००	० ६२
प्रदरारि चूर्ण	६.००	०.६६
पुष्यानुग चूर्ण	६.००	०.६६
यवानी खाडव चूर्ण	१० ००	०.७५
लवंगादि चूर्ण	१६ ००	१.०६
लवणभास्कर चूर्ण	८.००	०.६२
स्वप्नप्रमेहहर चूर्ण	१६.००	१.१२
सारस्वत चूर्ण	६.००	०.६६
सामुद्रादि चूर्ण	१०.००	०.७५
शृंग्यादि चूर्ण	१२.००	०.८७
सितोपलादि चूर्ण [असली-वंशलोचन से बना]	२०.००	१.३७
महा सुदर्शन चूर्ण	८.००	०.६२
हिंग्वाष्टक चूर्ण	१४.००	१ ००
त्रिफलादि चूर्ण	७.००	०.५६

तैलादि

	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
आंवला तैल	६.००	१ ५६	०.८१
इरमेदादि तैल	८.००	२.०६	१.०६
कर्पूरादि तैल	१२.००	३.५६	१ ६०
कट्फलादि तैल	८.००	२.०६	१ ०६
कन्दर्प सुन्दर तैल	१०.००	२.५६	१.३१
काशीसादि तैल	८ ००	२.१२	१.१२
किरातादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
कुमारी तैल	८ ००	२ १२	१.१२
ग्रहणी मिहिर तैल	८.००	२ ००	१ १२

	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
गुडूच्यादि तैल	८.००	२.१२	१ १२
महाचन्दनादि तैल	८ ५०	२.१८	१.१५
चन्दनबलालाक्षादि तैल	८.५०	२ १८	१.१५
जात्यादि तैल	६ ००	२.३०	१.१८
दशमूल तैल	८ ५०	२ १८	१.१५
दार्व्यादि तैल	८.५०	२ १८	१.१५
महानारायण तैल	८.५०	२ १८	१ १५
पिपल्यादि तैल	८ ५०	२.१८	१ १५
पिण्ड तैल	६.००	२.३०	१ १८

	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
पुनर्नवादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
ब्राह्मी तैल	८.००	२.०६	१.०६
बिल्व तैल	९.००	२.३०	१.१८
विषगर्भ तैल	८.००	२.१२	१.१२
भृङ्गराज तैल	९.००	२.३०	१.१८
महाविषगर्भ तैल	८.५०	२.१८	१.१५
बैरोजा का तैल	१०.००	२.५६	१.३५
महामरिच्यादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
महामाष तैल	८.००	२.१२	१.१२

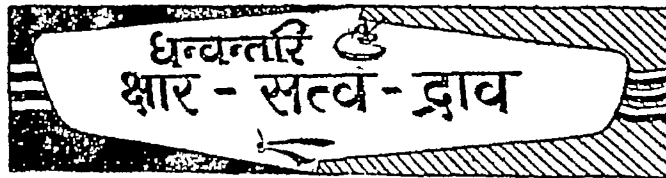
	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
मोम का तैल	१५.००	३.८०	१.९६
राल का तैल	१२.००	३.०६	१.५६
लाक्षादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
शुष्क मूलादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
षट्बिन्दु तैल	८.००	२.१२	१.१२
हिमसागर तैल	८.००	२.१२	१.१२
क्षार तैल	१२.००	३.०६	१.५६

नोट—सभी शीशियां पिल्फर कैप से सुन्दर पैक की जाती हैं।



	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
अर्जुन घृत	८.००	२.०६	१.०६
अशोक घृत	८.००	२.०६	१.०६
अग्नि घृत	८.००	२.०६	१.०६
कदली घृत	१०.००	२.५६	१.३१
कामदेव घृत	१०.००	२.५६	१.३१
दूर्वादि घृत	८.००	२.०६	१.०६
धात्री घृत	८.००	२.०६	१.०६

	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
पञ्चतिक्त घृत	८.००	२.०६	१.०६
फल घृत	८.००	२.०६	१.०६
ब्राह्मी घृत	८.००	२.०६	१.०६
बिन्दु घृत	१०.००	२.५६	१.३१
महात्रिफलादि घृत	९.००	२.३१	१.१९
शृङ्गोगुण घृत	८.००	२.०६	१.०६
सारस्वत घृत	८.००	२.०६	१.०६



	१ सेर	१० तोला	१ तोला
वज्र क्षार	२०.००	३.००	०.३१
अपामार्ग क्षार	२०.००	३.००	०.३१
बांसा क्षार	३०.००	४.००	०.४४
कटेरी क्षार	३०.००	४.००	०.४४
कदली क्षार	२५.००	३.५०	०.३८
इमली क्षार	२०.००	३.००	०.३१
तिलक्षार	३०.००	४.००	०.४४
मूली क्षार	३०.००	४.००	०.४४
ढाक क्षार	२०.००	३.००	०.३१

	१ सेर	१० तोला	१ तोला
आक क्षार	२०.००	३.००	०.३१
केतकी क्षार	२०.००	३.००	०.३१
चना (चणक) क्षार	३०.००	४.००	०.४४
यवक्षार	१४.००	२.००	०.२५
गिलोय सत्व	२८.००	४.००	०.४४
भीमसैनी कपूर	×	×	४.००

नेत्र बिन्दु ८ औंस १०.००, आधा औंस ०.८७

शंख द्राव ८ औंस १६.००, आधा औंस १.०६



च्यवनप्राश अवलेह १ सेर ६.०० १ पाव शी. मे १.५६ २ ,, ३.०६

	१ सेर	१ पाव शीशी में
कुटजावलेह	८.००	२.१२
कण्टकारी अवलेह	८.००	२.१२
कुशावलेह	८.००	२.१२
वांसावलेह	८.००	२.१२
द्राक्षारसायन	१०.५०	२.७५
आर्द्रक खण्ड	८.००	२.१२

विषमुष्टिकावलेह (वातरोगनाशक) ५ तोला ६.००

	१ सेर	१० तोला
कन्दर्प सुन्दर पाक	१०.००	१.५०
बादाम पाक	१४.००	२.००
मूसली पाक	१४.००	२.००
सुपारी पाक	१०.००	१.५०
सौभाग्यसुंठी पाक	१०.००	१.५०

मधुकाद्यवलेह (स्त्रियों को उपयोगी) १५ तो० ३.५०

मलहम

	१ पौंड	१० तोला
जात्यादि मलहम	८.००	२.१२
पारदादि मलहम	६.००	२.३७
निम्बादि मलहम	१०.००	२.६२
दशांग लेप	६.००	१.६२
अग्निदग्धव्रणाहर मलहम	६.००	१.६२

बहुमूल्य-द्रव्य

कस्तूरी काश्मीरी उत्तम	१ तोला	६०.००
केशर काश्मीरी मोंगरा	१ तोला	१८.००
केशर चूरा	१ तोला	८.००
अम्बर	१ तोला	३६.००
गौलोचन	१ तोला	४०.००
चांदी के वर्क	१ तोला	६.००
स्वर्ण वर्क—		बाजार भाव

भस्म निर्माणार्थ

अकीकदाना	५ तोला	२.००
अकीक खड़	५ तोला	१.००
कहरवा	१ तोला	५.५०
जहर मोहरा खताई	१ तोला	१.००
खर्पर(खपरिया)	१ तोला	२.००
वैक्रान्त खड़	१ तोला	२.००
माणिक्य (याकूत)	१ तोला	२.००
नीलम खड़	१ तोला	३.००
पुखराज खड़	१ तोला	३.००
पिरोजा खड़	१ तोला	२.००

नोट—बहुमूल्य द्रव्य एवं भस्म निर्माणार्थ शीर्षक के अन्तर्गत दिए द्रव्यों के भाव नैट हैं। इन पर किसी प्रकार का कमीशनादि नहीं दिया जायगा। इन भावों में घट-बढ़ होना भी सम्भव है। आर्डर सप्लाई के समय जो भाव होगा वह लगाया जायगा।



धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा निर्मित

अनुभूत एवं सफल पेटेण्ट दवायें

हमारी ये पेन्टेन्ट औषधियां ६४ वर्ष से भारत भर के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वैद्यराजों और धर्मार्थ औषधालयों द्वारा व्यवहार की जा रही हैं अत. इनकी उत्तमता के विषय मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

मकरध्वज वटी

(अर्थात् निराशवन्धु)

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में सबसे अधिक प्रसिद्ध एव आशुलाभप्रद महौषधि मकरध्वज नं० १ अर्थात् चन्द्रोदय है। इसी अनुपम रसायन द्वारा इन गोलियों का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त अन्य मूल्यवान एवं प्रभावशाली द्रव्यों को इसमें डाला जाता है। ये गोलियां भोजन को पचाकर रस रक्त आदि सप्त धातुयें क्रमश: सुधारती हुई वीर्य का निर्माण करती और शरीर में नव-जीवन व स्फूर्ति भर देती हैं। जो व्यक्ति चन्द्रोदय के गुणों को जानते हैं वे इसके प्रभाव में सदेह नहीं कर सकते। वीर्य विकार के साथ होने वाली खांसी जुकाम सर्दी, कमर का दर्द, मन्दाग्नि, स्मरणशक्ति का नाश आदि व्याधियां भी दूर होती हैं। क्षुधा बढ़ती है, शरीर हृष्ट-पुष्ट और निरोग बनता है। जो व्यक्ति अनेक औषधियां सेवन कर निराश हो गये हैं उन निराश पुरुषों को यह औषधि वन्धुतुल्य सुख देती है इसलिए इसका दूसरा नाम "निराश वन्धु" है।

४० वर्ष की आयु के बाद मनुष्य को अपने में एक प्रकार की कमी व शिथिलता का अनुभव होता है। यह रोग प्रतिरोधक शक्ति (जो हरेक मनुष्य में स्वाभाविक रूप से होती है।) मे कमी आ जाने के फलस्वरूप होती है। मकरध्वज वटी इस शक्ति को पुन: उत्तेजित करती है और मनुष्य को सवल व स्वस्थ वनाये रखती है। मूल्य—१ शीशी (४१ गोलियों की) २.६२ छोटी शीशी २१ गोलियों की १.४४. १२ शीशी या अधिक एक साथ मंगाने पर रियायती थोक भाव १२ शीशी (४१ गोलिया वाली) का २१.५० नैट।

कुमारकल्याण घुटी

(बालकों के लिये सर्वोत्तम व मीठी घुटी)

हमने बड़े परिश्रम से आयुर्वेद में वर्णित और वालकों की रक्षा करने वाली दिव्य औषधियों से घुटी तैयार की है। इसके सेवन करने वाले वालक कभी बीमार नहीं होते किंतु पुष्ट हो जाते हैं। यह वालकों को वलवान बनाने वाली वड़ी उत्तम औषधि है। रोगी वालक के लिए सजीवनी है। इसके सेवन से बालकों के समस्त रोग जैसे ज्वर, हरे पीले दस्त, अजीर्ण, पेट का दर्द, अफरा, दस्त में कीड़े पड़ जाना, दस्त साफ न होना, सर्दी, कफ, खासी, पसली चलना, दूध पलटना, सोते मे चौक पड़ना, दात निकलते समय के रोग आदि सव दूर हो जाते हैं। शरीर मोटा ताजा और वलवान हो जाता है। पीने में मीठी होने से वच्चे आसानी से पी लेते है। मूल्य एक शीशी (आध औंस) ०.३१, ४ औंस की शीशी २.००।

कुमार रक्षक तैल—इस तैल को वच्चे के सम्पूर्ण शरीर पर धीरे-धीरे रोजाना मालिश करें। आध घन्टे वाद स्नान करायें। वच्चे में स्फूर्ति बढ़ेगी, मांसपेशियां सुदृढ़ हो जायगी, हड्डियों को ताकत पहुंचेगी। यह तैल इसी अभिप्राय से सर्वोत्तम निर्माण किया गया है। मूल्य—१ शीशा (४ औंस) १.५०, छोटी शीशी (२ औंस) ०.८८।

ज्वरारि—कुनीनरहित विशुद्ध आयुर्वेदिक, ज्वर-जूड़ी को शीघ्र नष्ट करने वाली सस्ती एव सर्वोत्तम महौषधि है। जूड़ी और उसके उपद्रवों को नष्ट करती है। मूल्य—१० मात्रा की शीशी १.००, २० मात्रा वड़ी शीशी १.७५, ५० मात्रा की पूरी वोतल ३.२५।

कासारि—हर प्रकार की खासी को दूर करने वाली सर्वत्र प्रशंसित अद्वितीय औषधि। वांसा पत्र क्वाथ एव पिप्पली आदि कासनाशक आयुर्वेदिक द्रव्यों से निर्मित शर्वत है। अन्य औषधियों के साथ इसको अनुपान रूप मे देना भी उपयोगी है। सूखी व तर दोनों प्रकार की खासी को नष्ट करने वाली सस्ती दवा है। मूल्य—२० मात्रा की शीशी १.००, ५ मात्रा की शीशी ०.३७, १ पौंड २.५०।

कामिनीगर्भ रक्षक—वार वार गर्भस्राव हो जाना, वच्चों का छोटी आयु में मर जाना, इन भयङ्कर व्याधियों से अनेक सुकुमार स्त्रिया आजकल पीड़ित है। यदि आप कामिनीगर्भ रक्षक को गर्भ के प्रथम माह से नवम् माह तक सेवन करावें तो न गर्भपात होगा और न गर्भस्राव। वच्चा स्वस्थ, सुन्दर और सुडौल उत्पन्न होगा। मूल्य २ औंस की शीशी २.००

शिरोविरेचनीय सुरमा—जिनको वार वार जुखाम हो जाता है या पुराना शिर दर्द हो, जुखाम रुकने से उत्पन्न शिर दर्द में इस सुरमा को सलाई से हल्का हल्का नेत्र में आजे। थोड़ी देर में आंख व नाक से वलगम

निकलना प्रारम्भ हो जायगा और सभी कष्ट दूर होंगे। पुराने शिर दर्द में पथ्यादि क्वाथ व शिरोवज्ररस भी साथ में सेवन करावें। मूल्य १ माशे की शीशी ०.३१

वातारि वटी—वातरोग नाशक सफल और सस्ती दवा है। १-१ गोली प्रातः सायं गरम जल और रास्नादि क्वाथ के साथ लेने से सभी प्रकार की वातव्याधियां नष्ट होती हैं। मूल्य १ शीशी (२१ गोली) २.०० मात्र।

करंजादि वटी—'करंज' मलेरिया के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके संयोग से बनी ये गोलियां प्राकृतिक ज्वर (मलेरिया) के लिए उत्तम प्रमाणित हुई हैं। सस्ती भी हैं। १ शीशी (५० गोली) १.००

कासहर वटी—हर प्रकार की खांसी के लिए सस्ती व उत्तम गोलियां हैं। दिन में ५-७ बार अथवा जिस समय खांसी अधिक आ रही हो १-१ गोली मुंह में डाल रस चूसें, गला व श्वास नली साफ होती है। कफ बन्द हो जाता है। १ शीशी (१ तोला) ०.३१

निम्बादि मलहम—नीम रक्तशोधक व चर्मरोग नाशक है। इसी के प्रयोग से बनी यह मलहम फोड़ा व घावों के लिये अत्युत्तम है। निम्बक्वाथ से घाव या फोड़ों को साफकर इस मलहम को लगाने से वे शीघ्र ही भरते हैं। नासूर तक को भरने की इसमें शक्ति है। मूल्य एक शीशी आध औंस ०.३१, २० तोले का एक पैक ५.००

वल्लभ रसायन—किसी भी रोग से किसी भी प्रकार का रक्तस्राव होता हो यह विशेष लाभ करता है। रक्त को बन्द करने के लिए अव्यर्थ औषधि है। मूल्य १ शीशी [२ औंस] १ ००

रक्तवल्लभ रसायन—इससे ज्वर के साथ होने वाला रक्तस्राव बन्द होता है ज्वर को दूर करने और रक्त बन्द करने को उत्तम है। १ शीशी [आध औंस] १ ००

सरलभेदी वटी—कब्जरोग तो आजकल इतना फैला हुआ है कि प्रत्येक घर में छोटे बच्चों, जवानों, बूढ़ों सभी को शिकायत बनी रहती है कि दस्त साफ नहीं होता, जिसके कारण भूख भी नहीं लगती, तबियत भी उदास रहती है। कब्ज रहते रहते फिर अनेक रोग आदमी को आ घेरते हैं। वास्तव में रोगों का घर पेट नित्य साफ न होना ही है। जिस मनुष्य को नित्य प्रातः दस्त साफ हो जाता है उसे कोई रोग नहीं हो पाता। हमने यह दवा उन लोगों के लिये बनाई हैं जिनको नित्य ही कब्ज की शिकायत रहती हो और कई कई बार दस्त जाना पड़ता हो। इसका रात्रि में सेवन करने से नित्य प्रातः दस्त साफ होता है। तबियत साफ हो जाती है तथा कार्य करने में उत्साह बढ़ता है। १ शीशी [३१ गोली] १ ००

गोपाल चूर्ण—जिनकी प्रकृति पित्तकी हो उन्हें इसके सेवन से दस्त साफ आता है। जिनको मलावरोध हो उन्हें इनमें से तीन माशे रात को सोते समय गुनगुने जल के साथ या गर्म दूध के साथ फंका देने से सुबह दस्त हो जाता है। १ शीशी [२ औंस] ०.६२

मृदुविरेचन चूर्ण—यह मृदु विरेचक है। जिन्हें मलावरोध रहता हो और अनेक औषधियों से न गया हो उन्हें भोजनोपरांत ३-३ माशे गुनगुने पानी से फंकायें। यदि पेट में मरोड़ मालूम पड़े तो थोड़ी सौंफ चबावें। इसके १५ दिन सेवन से मलावरोध नष्ट होजाता है। १शीशी ० ६२

आवनिस्सारक वटी—प्रातःकाल गुनगुने जल के साथ १ से २ गोली सेवन कराने से गुदा के द्वारा आव निकलने लगती है। जिन रोगियों को आव का विकार हो या आमवात का रोग हो उन्हें इसके सेवन से विशेष लाभ होता है, आव निकालने के लिए यह एक ही वस्तु है। यदि पेट में दर्द [ऐंठन] करे तब चिंता न करें क्योंकि आव निकलते समय प्रायः ऐसा हो जाता है। मूल्य १ शीशी (१ तोला) १ ००

मुंह के छालों की दवा—गर्मी, मलावरोध अथवा किसी भी कारण से मुंह में छाले हो जांय, इसको छालों पर बुरक कर मुंह नीचे करदें, लार गिरने लगेगी। दिन रात में छाले नष्ट हो जायेंगे। १ शीशी (आध औंस) ० ६२

कर्णामृत तैल—कान में सांय-सांय का शब्द होना, दर्द होना, कान से मवाद बहना आदि कर्ण रोगों के लिये उत्तम तैल है। कान को पिचकारी से स्वच्छ करने के बाद २-३ बूंद दिन में ३ बार डालें। १ शी. (आध औंस) ०.६२

बालापस्मारहर वटी—बालक बेहोश हो जाता है, हाथ पैर एंठ जाते हैं, मुख से झाग (फाग) देने लगता है, दांती बन्द हो जाती है। बालक की ऐसी हालत में यह दवा अक्सीर प्रमाणित होती है। १ शी. २.०१

मधुमेहान्तक रस—मधुमेह की यह प्रभावशाली उत्तम महौषधि है, बहुमूत्र व सोमरोग में भी विशेष लाभप्रद है। वैद्यों एवं मधुमेह रोगियों से अनुरोध है कि वे इसका व्यवहार अवश्य करें। १० गोली २ १६

पायरिया मंजन—पायरिया रोग बहुत प्रचलित है, अन्य अनेक रोगों को भी पैदा करता है। अतएव हरेक व्यक्ति को चाहिए कि इस रोग की थोड़ी भी उपेक्षा न करें। इस मंजन के नित्य व्यवहार करने से दांत चमकीले होते हैं और दांतों से खून जाना, मवाद जाना टीस मारना, जल लगना आदि दूर होते हैं। १ शीशी ० ५०

नयनामृत सुरमा—नेत्र रोगों के लिये उपयोगी सुरमा है चांदी या कांच की सलाई से दिन में एक बार लगाने से धुंधला दीखना, पानी निकलना, खुजली चलना आदि शीघ्र नष्ट होते हैं। मूल्य ३ माशे की १ शीशी २ ५०

अग्निसंदीपन चूर्ण—अग्नि को उत्तेजित करने वाला, मीठा व स्वादिष्ट चूर्ण है। भोजन के बाद ३-३ माशे लीजिये कब्ज दूर होगा तथा रुचि बढ़ेगी। १ शीशी [२ औंस] ०.५०।

मनोरम चूर्ण—स्वादिष्ट, शीतल व पाचक चूर्ण। एक वार चख लेने पर शीशी समाप्त होने तक आप खाते ही रहेंगे। गुण और स्वाद दोनों में लाजवाब है। १ शीशी (२ औंस) ०.५०, छोटी शीशी (१ औंस) ०.३१।

अग्निवल्लभक्षार—सम्पूर्ण चिकित्सा सार यही है कि जठराग्नि की रक्षा की जाय, चाहे सैकड़ों दोष कुपित क्यों न हों, हजारों रोग शरीर में क्यों न भरे पड़े हों, परन्तु उनकी चिन्ता न करके एक जठराग्नि की रक्षा करे। जब जठराग्नि द्वारा आहार पच जाता है तब ही रस-रक्तादि शारीरिक धातु बनकर शरीर को बलवान बनाते हैं। लेकिन आज जिधर देखिये उधर यही शिकायत सुनने में आती है कि हमारी अग्नि कमजोर है, खाना हजम नहीं होता, दस्त साफ नही उतरता, भूख नहीं लगती इत्यादि। अग्निवल्लभ क्षार के सेवन से अग्नि-प्रज्वलित होती है। खाया हुआ खाना हजम होता है, भूख न लगना, दस्त साफ न होना, खट्टी डकारों का आना पेट में दर्द तथा भारीपन होना, तबियत मचलाना, अपान वायु का बिगड़ना इत्यादि सामयिक शिकायतें दूर होती हैं। परदेश में रहकर सेवन करने वालों को जल दोष नहीं सताता, गृहस्थों के लिए संग्रह करने योग्य महौषधि है क्योंकि जब किसी तरह की शिकायत देखो चट अग्निवल्लभ क्षार सेवन करने से उसी समय तबियत साफ हो जाता है। १ शीशी (२ औंस) का मूल्य १.००

ग्रहणी रिपु—हमने इसे बड़े परिश्रम से बनाया है। यह ग्रहणी रोग के लिए अव्यर्थ है। हजारों रोगियों पर परीक्षा कर देखी है। पुराने दस्तों के लिए चुनी हुई एक ही औषधि है। पाचन-शक्ति को बढ़ाने के लिये इसके समान दूसरी औषधि नहीं है। १ शीशी आध औंस २.५०

खाजरिपु—खाज बहुत ही परेशान करने वाला तथा घृणित रोग है। अनेक रोगियों पर भली प्रकार परीक्षा करने के बाद 'खाजरिपु' नामक तैल को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। अब तो इसे व्यवहार करने वाले इसकी भूरि भूरि प्रशसा करते हैं। गीली तथा सूखी दोनों प्रकार की खाज के लिये यह अक्सीर है। मूल्य १ शीशी १.००, छोटी शीशी ०.५६।

दाद की दवा—यह दाद की अक्सीर दवा है। दाद को साफ करके किसी मोटे वस्त्र से खुजला कर दवा की मालिश करें। स्नान करने के बाद रोजाना वस्त्र से अच्छी प्रकार पोंछ लिया करें। १ शीशी ०.५०।

रज प्रवर्तक वटी—१ शीशी १.००

अण्डवृद्धिहर लेप—इतना बड़ा कपड़ा लें जो बढ़े हुये फोते को ढक सके और उस पर यह लेप लगाकर आग पर सेंक कर सुहाता-सुहाता फोते पर चिपकावें। दिन-रात में एक बार लगावें, २-१ बार रूई के फाहे से सेंक लिया करें। इस लेप के कुछ दिनों के व्यवहार से फोते ठीक होते हैं। एक शीशी आध औंस १.००।

स्वादिष्ट चटनी—अति स्वादिष्ट और पाचक चटनी है। यह सड़े-गले द्रव्यों से निर्मित बाजारू सस्ते गीले चूर्णों के समान नहीं सर्वोत्तम और शीघ्र प्रभावकारी द्रव्यों से निर्मित है। एक बार परीक्षा करने पर ही इसके गुणों से आप परिचित हो सकेंगे। मूल्य १ शीशी (१ औंस की) ०.७५।

नेत्रबिन्दु—दुखती आंखों के लिए अत्युपयोगी प्रसिद्ध महौषधि १/२ औंस ०.८७, १/४ औंस ०.५०।

हमारे सफल सैट

स्त्रीरोगहर सैट—१ स्त्री सुधा-स्त्रियों के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध लाभकारी औषधि मूल्य १ बोतल ३.५०, १ शीशी १.५०। २ मधुकायवलेह—स्त्री सुधा के साथ इसे भी व्यवहार करने से शीघ्र लाभ होता है-१ शीशी ३.५०

हिस्टेरियाहर सैट—१५ दिन की तीनों दवाओं का मूल्य ७.००

निर्बलतानाशक सैट—मकरध्वज वटी, तैल व पोटली तीनों दवायें २० दिन व्यवहार करने योग्य मूल्य ६.००

धन्वन्तरि तैल—मुरदार नसों पर मालिश के लिये १ शीशी २.५०

धन्वन्तरि पोटली—सिकाई करने के लिए १ डिब्बा २.५०

श्वेतकुष्ठहर सैट—इसमें श्वेतकुष्ठ हर अवलेह, वटी व घृत तीनों औषधिया हैं। इन तीनों औषधियों के विधिवत् अधिक दिन सेवन करने से श्वेत कुष्ठ अवश्य नष्ट होता है। मूल्य १५ दिन की तीनों औषधियों का ५.००

रक्तदोषहर सैट—इसमें धन्वन्तरि आयुर्वेदीय सालसा परेला, तालकेश्वर रस, इन्द्रवारुणादि क्वाथ—ये तीन औषधिया हैं। इनके सेवन से सभी प्रकार के रक्त-विकार जनित विकार तथा चर्मरोग नष्ट होकर शरीर सुडौल बनता है। मू० १५ दिन की तीनों दवाओं का ६.००, पोस्ट व्यय ४.५०

अर्शान्तक सैट—इसमें वटी, मलहम तथा चूर्ण तीन औषधियां हैं। इनके प्रयोग से दोनों प्रकार के अर्श नष्ट होते हैं अर्श से आने वाला रक्त २-१ दिन में बन्द हो जाता है। मू० १५ दिन की तीनों दवाओं का ३.००

वातरोगहर सैट—इसमें वातरोगहर तैल रस एवं अवलेह- ये तीनों औषधियां हैं। इन तीन औषधियों के व्यवहार से जोड़ों का दर्द, सूजन, अङ्ग विशेष की पीडा, पक्षाघात आदि समस्त वात-व्याधियों में लाभ होता है। १५ दिन सेवन योग्य तीनों औषधियों का मू० १०.०० रु०

शारीरिक चित्र

ये चित्र अनेक रङ्गों में आफसैट प्रेस से बहुत ही आकर्षक तैयार कराये गये हैं। इन चित्रों का साइज एक समान २० इन्च चौडाई तथा ३० इन्च लम्बाई है। ऊपर नीचे लकडी लगी है, कपडे पर मढ़े हैं तथा चिकित्सालय में टांगने पर उसकी शोभा बढ़ाने वाले है। सभी विवरण हिन्दी में लिखा गया है—

नं० १—अस्थि पञ्जर—इस चित्र मे सिर से लेकर पैर तक की सभी अस्थियों को बड़े सुन्दर ढङ्ग से दर्शाया गया है। हाथ, अंगुली, रीढ़, छाती की सभी अस्थियां स्पष्ट समझ सकते हैं। मू० ५.००

नं० २-रक्त परिभ्रमण—इस चित्र में शुद्ध-अशुद्ध रक्त की धमनी एवं शिरायें अपने प्राकृतिक रङ्गों में दर्शाई हैं। भ्रूण मे रक्तभ्रमण का पृथक् चित्रण किया गया है। एक हाथ और एक पैर में शिरायें दर्शाई गई हैं। मूल्य ५.००

न० ३—वात नाड़ी संस्थान–इस चित्र में सम्पूर्ण वातनाड़ी मंडल (Nervous System) का सुन्दर व स्पष्ट चित्रण किया गया है। ऊर्ध्वर्ग-वात नाडी तथा सुषुम्ना और मस्तिष्क सम्बन्ध का चित्रण पृथक् किया गया है। चित्र अपने ढङ्ग का निराला है। मूल्य ५.००

नं० ४—नेत्र रचना एवं विकृति—इसमे पृथक्-पृथक् ६ चित्र हैं। १—दक्षिण चक्षु-इसमे चक्षु के बाह्य अवयव दर्शाये गये है। २—पटलो और कोष्ठों को दिखाने के लिये चक्षु का क्षितिज काट ३-चक्षु से सम्बन्धित नाड़ी ४-नेत्र चालनी पेशिया ५-दृष्टिभेद (दर्शन-सामर्थ्य) ६-साधारण स्वस्थ नेत्र एवं दृष्टि विकृति। इन चित्रों से नेत्र विषयक सम्पूर्ण विवरण स्पष्ट समझ मे आएगा। मूल्य ४.००

चारो चित्र एक साथ मंगाने पर मूल्य केवल १६.००

नोट—सादा विना कपड़ा-लकड़ी लगे चित्र शीशा में मढ़ने के लिये १ चित्र ४.००, चारों मंगाने पर १२.००

वैद्यों के लिये आवश्यक

रोगी रजिष्टर—हर वैद्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने रोगियों का विवरण नियमित रूप से लिखे यह चिकित्सक की अपनी सुविधा तथा कानूनी दृष्टि दोनों प्रकार से आवश्यक है। २०० पृष्ठों के ग्लेज कागज के सजिल्द 'रोगीरजिष्टर' हमने तैयार किए हैं जिनमे आवश्यक कालम दिये हैं। मू ३.५०

रोगी प्रमाणपत्र पुस्तिका—रोगियों को अवकाश प्राप्ति के लिये प्रमाणपत्र देने के फार्म ग्लेज कागज पर दो रङ्गों मे तैयार किये हैं। प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मू० १.०० मात्र। अंग्रेजी अथवा हिन्दी मे वढ़िया कागज पर बड़े साइज मे दो रङ्गों में छपे ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.२५

स्वस्थ प्रमाणपत्र पुस्तिका—सरकारी कर्मचारी बीमार होने के कारण अवकाश लेते हैं। स्वस्थ होने पर कार्य पर पहुंचने पर उन्हे वे स्वस्थ हैं, इस विषय का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करना होता है। वैद्य इस पुस्तिका को मंगाकर स्वस्थ-प्रमाणपत्र आसानी से दे सकेंगे। ५० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मू० १.००, अंग्रेजी अथवा हिन्दी मे वढ़िया कागज पर बड़े साइज मे छपे ४० प्रमाणपत्रो की पुस्तिका का मूल्य १.२५

रोगी व्यवस्थापत्र—रोगी के लक्षण, तारीख, औषधि आदि इन फार्मो पर लिखकर रोगी को दे दीजिये। वे रोगी रोजाना या जब औषधि लेने आयेगे आपका यह फार्म दिखा देंगे। इससे उनका पहिला पूरा हाल आपके सामने आ जायगा। साइज २०×३०=३२ पेजी। मूल्य ०.३७ प्रति सैकड़ा।

आघात प्रमाणपत्र—चोट लग जाने पर चिकित्सक को प्रमाणपत्र देना होता है। इस फार्म पर आप यह प्रमाणपत्र सुगमता से दे सकेंगे। फुलस्केप साइज के २४ प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मूल्य १.००

तापमान चार्ट-टेम्परेचर चार्ट—इससे रोगियों का तापमान अंकित करने मे बड़ी सुविधा रहती है। इस चार्ट पर दिन मे समय का तापमान १२ दिन तक अंकित किया जा सकेगा। अन्य निदान विषयक आंकड़े भी लिखे जा सकते हैं। मूल्य २५ चार्ट का १.०० मात्र।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

धन्वन्तरि

के

पुराने उपयोगी विशेषांक

वनौषधि विशेषांक [प्रथम भाग]—इस विशेषांक का सफल सम्पादन श्री पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य ने किया है। इस विशेषांक में 'अ से औ' वर्ण तक की सभी वनस्पतियों का विशद विवेचन किया गया है। अनेक वनस्पतियों के चित्र दिये गये हैं। पृष्ठ संख्या ५६०, मूल्य ८.५०

कायचिकित्सांक—आचार्य श्री पं० रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी के सफल सम्पादकत्व में प्रकाशित यह अनमोल विशेषांक है। ५४४ पृष्ठों में १२५ चित्रों सहित विभिन्न रोगों की सफल चिकित्सा विधि, उनके विषय में आयुर्वेद के सिद्धांत एवं चिकित्सा सूत्र बड़ी सुन्दरता से वर्णित है। राज-संस्करण की थोड़ी प्रति शेष है। मूल्य ८.५०।

माधव निदानांक—इसमें संपूर्ण माधव निदान सरल हिन्दी टीका सहित प्रकाशित है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में तत्-सम्बन्धित एलोपैथिक समन्वयात्मक विवेचन दिया है। अनेक विशेष वक्तव्य एवं चित्र दिये हैं। पृष्ठ संख्या ६६४, चित्र १५५। मूल्य केवल ८.५०।

पुरुष रोगांक (द्वितीय संस्करण)—इस विशेषांक में पुरुषों के लिये विशेष रोगों पर अनुभवपूर्ण लेख, सफल चिकित्सा एवं प्रयोगादि वर्णित है। नपुंसकता, प्रमेह, मधुमेह, स्वप्नदोष, अण्डवृद्धि आदि रोगों पर विस्तृत विवेचन प्रकाशित किया है। मूल्य ६.००।

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय संस्करण) प्रथम भाग—इसमें अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त २१६ चिकित्सकों के ५०० सफल एवं सरल प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह प्रकाशित किया गया है। प्रयोगों को रोगों की किस अवस्था में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पूज्यपाद आचार्य यादव जी त्रिक्रम जी, स्वामी जयरामदास जी, श्री पं० मस्तराम जी, पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी, पं० रघुवरदयाल जी भट्ट आदि अनुभवी विद्वानों के उत्तमोत्तम प्रयोगरत्न इसमें प्रकाशित हैं। हरेक छोटे बड़े रोग पर २-४ सफल प्रयोग इसमें प्राप्त कर सकेंगे। मूल्य ६.००।

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय भाग)—मूल्य २.००

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (तृतीय भाग)—समाप्त

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (चतुर्थ भाग)—इसमें २५१ अनुभवी वैद्यराजों के १२०८ उत्तमोत्तम, सरल, पूर्ण परीक्षित प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह है। प्रयोगों की अन्य पुस्तकों तथा इन विशेषांकों में एक मौलिक अन्तर है। जहां पुस्तकें एक लेखक द्वारा ही इधर उधर के प्रयोगों को संग्रह कर तैयार की जाती हैं वहां इसमें भारत के प्रसिद्ध एवं सफल २५१ चिकित्सकों के हृदय में छिपे हुए प्रयोगरत्न बड़े आग्रह से प्राप्त कर प्रकाशित किये गये हैं। मूल्य ८.५०।

भैषज्य कल्पनांक—१७२ परिभाषायें, १८ मूषायें, १० पुट, ३६ यन्त्र, ७०० कषाय, १८० चूर्ण, २८ गुग्गुल, १२ पाक्यावलेह, ३४ पानक, ११६ आसवारिष्ट, ७६ घृत, ३४ तैल के योगों की निर्माण विधि गुण आदि वर्णित है। इस विशेषांक में १३ प्रकरण, ४६ लेखों का शृंखलाबद्ध एवं वैज्ञानिकरूपेण समावेश किया गया है। ६८ चित्रों द्वारा विषय को सुबोध बनाया गया है। यह विशेषांक वैद्य, निर्माणशालाओं के व्यवस्थापकों के लिये अवश्य संग्रहणीय है। मूल्य ४.००।

भैषज्य कल्पनांक परिशिष्टांक—इसमें धातुशोधन, मारण, भस्मीकरण, परीक्षा आदि भलीभांति समझाई गई है। मूल्य १.०० मात्र।

संक्रामक रोगांक—चिकित्सकों को संक्रामक रोगों से बचने के उपाय, रोगी की सफल चिकित्सा विधि, शास्त्रीय विवेचन सभी कुछ है। मूल्य ४.००

संक्रामक रोगांक परिशिष्टांक—मूल्य १.००

कल्प एवं पंचकर्म चिकित्सांक—इस विशेषांक में अनुभवी व्यक्तियों द्वारा कल्प तथा पंचकर्म विधियों

का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। श्री पंडित कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य का ६० पृष्ठ का 'पंचकर्म' शीर्षक लेख अत्यधिक उपयोगी एवं मननीय है। २०० पृष्ठों में विविध कल्पों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य ४.०० मात्र।

यकृत् प्लीहा रोगांक—मूल्य २.००

चिकित्सा समन्वयांक (प्रथम भाग)—पृष्ठ संख्या ३६४ अनेकों रंगीन एवं सादे चित्र मूल्य ४.००।

चिकित्सा समन्वयांक [द्वितीय भाग]—२.००

प्रसूति विज्ञानांक—प्रसूति तन्त्र पर यह सर्वाङ्ग-पूर्ण साहित्य है। सम्पादक श्री पंडित रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस० हैं। इसमें ४०५ पृष्ठ तथा १२५ चित्र हैं। प्रसूति एवं प्रसूता को होने वाली सम्पूर्ण व्याधियों के विषय में क्रमबद्ध सुन्दर सुविस्तृत विवरण दिया है। मूल्य ८.५०।

नारी रोगांक—५०० से अधिक पृष्ठों, २६१ चित्र तथा १३७ विद्वान लेखकों के लेख युक्त यह विशेषांक सम्पूर्ण नारी रोगों का क्रमबद्ध विवेचन, सफल चिकित्सा विधि एवं अनुभूत प्रयोगों का उपयोगी भंडार है। मूल्य ८.५०।

भगन्दर अंक	१.००
माता अंक	१.००
मधुमेह अंक	१.००
श्वास अंक	१.००
श्वास अंक (थीसिस)	१.५०
ग्रहणी रोगांक	१.००
सूखा अंक	१.००

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा प्रकाशित

आयुर्वेदिक पुस्तकें

बृ० पाक संग्रह—लेखक श्री पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य। श्री त्रिवेदी जी की संकलन योग्यता से जो पाठक परिचित हैं वे इस पुस्तक की उपयोगिता भली प्रकार समझ सकते हैं। इस पुस्तक में ४०० से अधिक पाकों का संग्रह प्रकाशित है। हर पाक की निर्माण विधि मात्रा, सेवन विधि, गुण आदि दिये हैं। प्रयोग कहां से प्राप्त किया यह भी सप्रमाण दिया है। रोगी रोग मुक्ति के पश्चात् रोगजन्य निर्बलता निवारणार्थ कोई ऐसी वस्तु पाने का अभिलाषी होता है जो औषधि होते हुए भी रुचिकर हो तथा निर्बलता एवं रोग निवारण कर सके। ऐसे समय में चिकित्सकों को उस रोग में उपयोगी पाक-निर्माण कर उसे देना चाहिए। प्राय. सभी रोगों पर २-४ प्रयोग इस पुस्तक में आपको मिलेंगे। गृहस्थ स्वयं पाक निर्माण कर स्वादिष्ट भोजन के साथ रोग निवारण कर सकते हैं। पुस्तक हर प्रकार से उपयोगी है। मूल्य सजिल्द का ३.५०

सूर्यरश्मि-चिकित्सा (नवीन संस्करण)—सूर्यरश्मि-चिकित्सा को अंग्रेजी में क्रोमोपैथी (Chromopathy) कहते हैं। अंग्रेज इस चिकित्सा के आविष्कर्त्ता अमेरिका के डाक्टरों को मानते हैं। पर वास्तव में यह चिकित्सा अति प्राचीन और हमारे शास्त्रों में यहां तक कि वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इस चिकित्सा में सूर्य की किरणों से ही समस्त रोग दूर करने का विधान है। पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी गई है। इसको पढ़कर पाठक देखेंगे कि सूर्य कितना शक्तिशाली है। उसकी किरणें हमारे शरीर को कितनी लाभदायक हैं और इसके द्वारा रोग किस प्रकार बात की बात में दूर किये जा सकते हैं। पुस्तक अपने विषय की पहिली ही है। अनेक रंगीन चित्र हैं। मूल्य ०.७५।

उपदंश विज्ञान [द्वितीय संस्करण]—लेखक—श्री कविराज पं० बालकराम जी शुक्ल आयुर्वेदाचार्य। इस पुस्तक में उपदंश (गरमी-चांदी) रोग के वैज्ञानिक कारण, निदान लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन किया है। पुस्तक के कुछ शीर्षक ये हैं—उपदंश परिचय, प्राच्य पाश्चात्य का साम्यवाद, संक्रमण निदान, सिफलिस के भेद, उपदंश प्राथमिक कील, लिंगार्श, औपसर्गिक सकल रोग, उपदंशज विकृतिया, मस्तिष्क विकार, फिरंग चिकित्सा में पारद प्रयोग, पथ्यापथ्य आदि उपदंश सम्बन्धी सभी विषय इसमें वर्णित हैं। कोई भी आवश्यक विषय छूटने नहीं पाया है। मूल्य १.००

प्रयोग पुष्पावली—संक्षिप्त रूपेण अनेकों सामान्य एवं आश्चर्यजनक वस्तुयें निर्माण करने की विधियां इस पुस्तक में प्रकाशित हैं। आरम्भ में प्रकाशित सफल प्रयोग संग्रह के १-१ प्रयोग से पाठक इस पुस्तक का मूल्य वसूल समझें। ये प्रयोग बहुत समय से परीक्षित है और सफल प्रमाणित हो चुके है। अनेक उद्योग धंधों का संकेत इसमें मिलेगा जिससे पाठक बहुत लाभ उठा सकते हैं। समष्टि रूप में पुस्तक बेकार मनुष्यों को व्यवसाय की ओर झुकाने वाली है। गृहस्थियों के लिये नवीन और उपयोगी बातों का भंडार है जिससे वे अपने दैनिक कार्यों में पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। पहिले दो संस्करण शीघ्र समाप्त हो जाना इसकी उत्तमता का प्रमाण है। पृष्ठ संख्या ११२ मूल्य १.२५

रसायन संहिता [भाषा टीका सहित]—आयुर्वेद साहित्य के अनमोल रत्न अपनी अलौकिक प्रतिमा के साथ साथ अन्धकार से ढके हुए हैं। अमूल्य पुस्तकें यत्रतत्र पड़ी हुई हैं जिनके प्रकाशन की आवश्यकता है। यह पुस्तक भी एक ऐसा ही रत्न है। अनुभवी और विचारशील लेखक महोदय ने हिमालय पर्यटन के परिश्रम से इसकी खोज की है। उन्हीं के प्रशंसनीय प्रयत्न से वैद्य समुदाय की सेवा में उपस्थित कर सके है। इसके अनेक अव्यर्थ प्रयोग, सत्व प्रस्तुत विधि, उपधातु का शोधन मारण प्रभृति अनेक विषय दिये गए हैं। मूल्य १.००

कुचिमार तन्त्र [भाषा टीका]—श्रीमद् कुचिमार मुनि प्रणीत पुस्तक पुरानी और अत्यन्त गोपनीय है। इसमें इन्द्रिय वृद्धि, स्थूलीकरण, कामोद्दीपन लेप, वाजीकरण, द्रावण, स्तम्भन, संकोचन व केशपात, गर्भाधान, सहज प्रसव आदि पर अनेक योग भलीभांति बताये गये हैं। इस नवीन संकरण में प्रमेह, नपुंसकता, मधुमेह आदि रोगों पर स्वानुभूत प्रयोगों का एक छोटा सा संग्रह भी दिया है। ०.५०

दशमूल [सचित्र]—लेखक—लाला रूपलाल जी वैश्य बूटी विशेषज्ञ। दशमूल किसे कहते हैं? किन किन औषधियों से बना है? इन औषधियों की आकृति कैसी है? यह विरले ही जानते हैं। इस पुस्तक में दशमूल की दशों औषधियों का सचित्र वर्णन है। साथ ही उनके पर्याय नाम गुण और [illegible] भी बतलाये गये हैं तथा दशमूल पचमूल से बनने वाले अनेक योगों की विधियां भी दी गई हैं। चित्र इतने स्पष्ट हैं कि देखने ही मात्र पहिचान सकते हैं। मू० ०.५०

दन्त-विज्ञान [द्वितीय संस्करण]—यह भिषग् रत्न स्वर्गीय श्री गोपीनाथ जी गुप्त की सारपूर्ण रचना है। इसमें दांतों की रचना, आन्तरिक दशा, रक्षा के उपाय, अनेक दन्तरोगों के भेद, वर्णन और सरल चमत्कारिक उपचार दिये गए हैं। चार चित्र युक्त। मू० ०.३७

न्यूमोनिया प्रकाश [द्वितीय संस्करण]—आयुर्वेद मनीषी स्वर्गीय पंडित देवकरण जी वाजपेयी की यह बड़ी उत्तम रचना है, जिस पर धन्वन्तरि पदक मिला था और जो निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन से सम्मान और पदक प्राप्त कर चुकी है। न्यूमोनियां की शास्त्रीय व्युत्पत्ति, कारण निदान, परिणाम, चिकित्सा आदि सभी बातें एक ही पुस्तक में भलीभांति वर्णित हैं। मू० ०.३७

प्राकृतिक ज्वर—लेखक—स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जी वैद्यराज। मलेरिया (फसली बुखार) का पूर्ण विवेचन है। आयुर्वेदीय मत से मलेरिया कैसा होता है। उसके दूर करने के आयुर्वेदीय प्रयोग, क्विनाइन से हानियां आदि विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। पुस्तक स्वानुभव के आधार पर लिखी होने के कारण महत्वपूर्ण है। मू० ०.२५

वैद्यराज जी की जीवनी—स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जी की जीवनी बड़ी ओजस्वनी भाषा में लिखी है। इसके पढ़ने से आलसी पुरुष भी उद्योगी और परिश्रमी बनने की इच्छा करता है। मू० ०.१६

वेदों में वैद्यक ज्ञान—लेखक—स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जी वैद्यराज। वेद के मन्त्र जिनमें आयुर्वेदीय विषयों का वर्णन है तथा जिनसे आयुर्वेद की प्राचीनता प्रमाणित होती है, शब्दार्थ सहित दिये है। मू० ०.१६

कूपीपक्व रसायन—लेखक—वैद्य देवीशरण जी गर्ग, प्र० सम्पादक धन्वन्तरि। धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाले कूपीपक्व रसायनों के गुण, मात्रा, अनुपान, सेवन विधि आदि विस्तृत रूप से वर्णित है। मू० प्रचारार्थ केवल ०.०६

चन्द्रोदय मकरध्वज [तृतीय संस्करण]—लेखक—स्व० लाला राधावल्लभ जी वैद्यराज। इस पुस्तक

में पारद शुद्धि, गन्धक शुद्धि, पारद के संस्कार, मकरध्वज बनाने की विधि, अष्टी बनाने की विधि, मकरध्वज के गुण तथा भिन्न भिन्न रोगों में अनुभव सभी बातें स्वानुभव के आधार पर वर्णित हैं। मूल्य ० २५

भस्म पर्पटी—लेखक—वैद्य देवीशरण जी गर्ग प्र० सम्पादक धन्वन्तरि-इसमें धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाली सम्पूर्ण भस्मों और पर्पटियों का विस्तृत रूप से वर्णन है। रोग के लक्षणानुसार औषधियों को किस प्रकार सफलता के साथ व्यवहार किया जा सकता है यह आप इस पुस्तक से जान सकेंगे। मूल्य ६ न० पै०

रस रसायन गुटिका-गूगल--धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक एवं अनुभवी चिकित्सक वैद्य देवीशरण जी गर्ग ने इस पुस्तक में धन्वन्तरि कार्यालय में निर्मित रस-रसायन गुटिका गूगल के गुण, मात्रा, अनुपान, व्यवहार विधि बडे ही उपयोगी ढङ्ग से लिखी हैं। चिकित्सकों के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी बन गई है। क्योंकि लेखक ने अपने २० वर्ष के चिकित्सानुभव को निचोड़ इसमें रख दिया है। मूल्य ७५ न० पै० मात्र।

रक्त (Blood)—इसमें धन्वन्तरि कार्यालय के संस्थापक श्री वैद्यराज राधावल्लभ जी ने रक्त की बनावट, उपयोगिता एवं रक्त सम्बन्धित सभी मोटी मोटी बाते आयुर्वेद एवं एलोपैथी उभय-पद्धतियों से सरल हिन्दी भाषा में समझाकर लिखी हैं। नवीन संस्करण मू० २५ न० पै०

इन्फ्युएन्जा (फ्लु)--लेखक—श्री पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य। इसमें इन्फलुएन्जा रोग का विस्तृत विवेचन तथा सफल चिकित्सा विधि वर्णित है। फ्लु और इसके सभी उपद्रवों की आयुर्वेदीय चिकित्सा है। मूल्य ५० न० पै०

अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें

आयुर्वेदीय ग्रन्थ रत्न

अष्टांगहृदय (सम्पूर्ण)—विद्योतनी भाषा टीका, वक्तव्य, परिशिष्ट एवं विस्तृत भूमिका सहित टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त मूल्य १६.००, कृष्णलाल भारतीय २०.००, पं० शिव शर्मा १५.००

अष्टांग-संग्रह (सूत्रस्थान)—हिन्दी टीका, व्याख्याकार गोवर्धन शर्मा छांगाणी। मू० ८.००

काश्यप संहिता—टीकाकार श्री सत्यपाल भिषगाचार्य, विद्योतनी भाषा टीका विस्तृत संस्कृत हिन्दी उपोद्घात सहित। ग्रन्थ का मुख्य विषय 'कौमारभृत्य' अष्टाङ्गायुर्वेद का अपरिहार्य अङ्ग है। यह विषय पूर्ण विस्तृत और प्रामाणिक रूप से इस पुस्तक में वर्णित है। मू० १६.००

कौमारभृत्य (नव्य बालरोग सहित)—बाल रोगों पर प्राच्य एवं पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के आधार पर श्री पं० रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी *A. M. S.* द्वारा लिखित विशाल ग्रन्थ। मूल्य ६.००

गंगयति निदान—लेखक जैन यति गंगाराम जी. अनुवादकर्त्ता आयुर्वेदाचार्य श्री नरेन्द्रनाथ जी शास्त्री। मूल्य ६.००

चरक संहिता (जामनगर प्रकाशित)—हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती अनुवाद के साथ ६ भाग—मू. ७५.००

चरक संहिता (सम्पूर्ण)—श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा सरल सुविस्तृत भाषा टीका युक्त, दो जिल्दों में, (षष्ठ संस्करण) मूल्य ३०.००

चरक संहिता (सम्पूर्ण)—तीन भागों में टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त। मूल्य २४.००

चक्रदत्त—भावार्थ संदीपनी विस्तृत भाषा टीका तथा विषद टिप्पणी सहित। परिशिष्ट में पंचलक्षणी निदान, डाक्टरी मूत्र परीक्षा, पथ्यापथ्य सहित। मूल्य १०.००

द्रव्य गुण विज्ञान-(पूर्वार्ध)-छात्रोपयोगी संस्करण। लेखक आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य। द्रव्य, गुण, रस वीर्य, विपाक, प्रभाव, कर्म का विज्ञानात्मक विवेचन। मूल्य ४.५०, प्रियव्रत शर्मा लिखित प्रथम भाग ५.५०, द्वितीय तृतीय भाग १२.५०

भावप्रकाश (सम्पूर्ण)—भाषा टीका सहित। दो

जिल्दो मे शारीरिक भाग पर प्राच्य पाश्चात्य मतों का समन्वयात्मक वर्णन, निघण्टु भाग पर विशिष्ट विवरण तथा चिकित्सा प्रकरण मे प्रत्येक रोग पर प्राच्य- पाश्चात्य मतों का (समन्वयात्मक) विशेष टिप्पणी से सुशोभित है। मूल्य २६.००, श्री लालचन्द्र कृत २०.००, कान्तिनारायण मिश्र २०.००

भावप्रकाश निघण्टु—भाषा टीका एवं बृहद् परिशिष्ट सहित। लेखक–पं० गंगासहाय मू० ६.००, हरीतक्यादि वर्ग लेखक विश्वनाथ द्विवेदी ७.००

माधवनिदान (भाषा टीका युक्त)–पूर्वार्द्ध-मधुकोष-संस्कृत टीका विद्योतनी भाषा टीका तथा वैज्ञानिक विमर्श टिप्पणीयुक्त यह माधव निदान बड़ा उपयोगी बन गया है। दो भाग मूल्य १३.००

माधव निदान–मूलपाठ, मूलपाठ की सरल हिन्दी व्याख्या, मधुकोष संस्कृत व्याख्या और उसका सरल अनुवाद। वक्तव्य एवं टिप्पणीयुक्त यह ग्रन्थ विद्यार्थियों तथा चिकित्सकों के लिये अवश्य पठनीय है। पं० पूर्णानन्द शास्त्रीकृत टीका पृष्ठ १०१८, दो भागों मे मूल्य १२.०० आयुर्वेदाचार्य सुदर्शन शास्त्री कृत टीका १४.००

माधव निदान–सर्वाङ्ग सुन्दरी भाषा टीका ४.५०

माधव निदान–टीकाकार ब्रह्मशंकर शास्त्री, मधुकोष, संस्कृत व्याख्या तथा मनोरमा हिन्दी टीका सहित। पृष्ठ सख्या ४१२ मू० ६.००

रसायनसार—श्री प० श्यामसुन्दराचार्य के बीसियो वर्षो के परिश्रम से प्राप्त प्रत्यक्षानुभव के आधार पर लिखित अपूर्व रसग्रन्थ मू० ८.००

रसेन्द्रसार सग्रह—वैज्ञानिक रस चन्द्रिका भाषा टीका परिशिष्ट मे नवीन रोगों पर रसों का प्रभाव, मानपरिभाषा, मूषा तथा पुट प्रकरण, अनुपान विधि तथा औषधि बनाने के नियमादि। मूल्य ६.००

रसेन्द्रसार सग्रह (तीन भागों में)—आयुर्वेद बृहस्पति प० घनानन्द जी पन्त द्वारा संस्कृत टीका और हिन्दी भाषा सहित वैद्यों, विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। पृष्ठ सख्या ११५०। मूल्य ११.००

रसरत्न समुच्चय—नवीन सुरत्नोज्वला विस्तृत भाषा टीका एवं परिशिष्ट सहित मू० १०.००

रसतरंगिणी–चतुर्थ सस्करण–भाषाटीका सहित। रस निर्माण धातु उपधातुओं का शोधन मारणयुक्त यह अनुपम ग्रन्थ है। मू० १०.००

रसराज महोदधि (पांच भाग)–वस्तुत: यह आयुर्वेदीय रसों का सागर ही है। प्राचीन ग्रन्थ है तथा सरल भाषा मे लिखा, उपयोगी रस ग्रन्थ है। नवीन सजिल्द संस्करण। मू० १०.००

योगरत्नाकर—कायचिकित्सा विषयक उपलब्ध ग्रन्थो मे यह सर्वोत्कृष्ट रचना है। चिकित्सक के लिए ज्ञातव्य सभी आवश्यक विषयों को संग्रह किया गया है। माधवोक्त क्रम से सभी रोगो का निदान व चिकित्सा का वर्णन है। मू० १८.००

सौश्रुती—लेखक रमानाथ द्विवेदी। अष्टांग आयुर्वेद के शल्यतन्त्र पर लिखित प्राच्यपाश्चात्य समन्वय से युक्त। मू० ८.५०

शार्ङ्गधर संहिता—वैज्ञानिक विमर्शोपेत सुबोधिनी हिन्दी टीका, लक्ष्मी नामक टिप्पणी, पथ्यापथ्य एवं विविध परिशिष्ट सहित मू० ६.००

सुश्रुत संहिता (सम्पूर्ण)—सरल हिन्दी टीका सहित टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त विद्यार्थियो के लिये पठनीय है। पक्के कपड़े की जिल्द मूल्य १५.००, कवि० अम्बिकादत्त कृत सम्पूर्ण २४.००

सुश्रुत संहिता-सूत्र स्थान–टीकाकार श्रीयुत घाणेकर। अब तक की सभी टीकाओ मे उत्कृष्ट टीका मू० ६.००, शारीर स्थान मू० ८.००, डा. जे डी. शर्मा (शारीर स्थान) ५.००

हारीत संहिता—ऋषि प्रणीत प्राचीन संहिता। भाषा टीका सहित, टीकाकार शिवसहाय जी सूद। पृष्ठ ५१२ मूल्य ८.००

हरिहर संहिता—वैद्यराज हरिनाथ सांख्याचार्य नवीन औषधियों का भी समावेश है। सरल भाषा टीका सहित मूल्य ८.००

वैद्य सहचर—लेखक पं. विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य। चतुर्थ संस्करण। इसे वैद्यों का सहचर ही समझें। इसमे लेखक ने अपने जीवन का संपूर्ण चिकित्सानुभव रख दिया है। मूल्य ३.००

चिकित्सा रत्न—रामरतन गंगेले-एक चिकित्सक के लिये सब प्रकार की सक्षिप्त उपयोगी सामग्री से युक्त सजिल्द मूल्य ५.७५.

चिकित्सा तत्व प्रदीप—एक चिकित्सक के लिये अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ प्रथम भाग ६.००, द्वितीय भाग ८.००

वनौषधि चन्द्रोदय (१० भाग)–प्रत्येक वनस्पति के पर्याय, परिचय, गुण कर्मादि विवेचनयुक्त श्री चन्द्रराज भंडारी कृत। मू० ४०.०० एक भाग ५.००

बृहदासवारिष्ट ग्रह—कविराज श्री देवसिंह जी विट्ठल। इस पुस्तक में अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों से आसवारिष्टों का संग्रह किया गया है। उनके गुणधर्म लिखे गये हैं। सजिल्द मूल्य ३.५०

चिकित्सा चन्द्रोदय (सात भाग)

हिन्दी ससार मे अपूर्व और पहला ग्रन्थ विना गुरु के वैद्यक सिखाने वाला, जो संस्कृत जरा भी नहीं जानते वे भी इस ग्रन्थ को बिना गुरु के पढ़ कर वैद्य वन सकते हैं। जिन्हें शक हो वे केवल चौथा भाग मंगाकर दिल का वहम मिटाले।

चिकित्सा चन्द्रोदय	१ ला भाग	४.५०
,, ,,	२ रा भाग	७.५०
,, ,,	३ रा भाग	५.५०
चिकित्सा चन्द्रोदय	४ था भाग	८.००
,, ,,	५ वां भाग	८ ००
,, ,,	६ ठा भाग	५.००
,, ,,	७ वा भाग	१३.००
		५१.५०

नोट—एक साथ ७ भाग खरीदने वाले को किताव रेल पार्सल से मंगानी चाहिए। एक पूरा सैट लेने वालों को ४७.०० रु० देने पडते हैं।

स्वास्थ्य रक्षा–गृहस्थो के घर की यह रामायण है। हर घर में इसका रहना जरूरी है। इसका नाम ही स्वास्थ्य रक्षा उर्फ तन्दुरुस्ती का बीमा है। तन्दुरुस्ती नहीं तो दुनियां मे रहा क्या? मू. ५.००

अभिनव शवच्छेद विज्ञान–ले० हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ-नवीन मतानुसार शवच्छेदन (*Dissection*) विषयक विशाल ग्रन्थ है। विषय का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए अनेक चित्र साथ दिये गए है। मूल्य १५.००

एलोपैथिक पुस्तकें हिन्दी में

अभिनव विकृति विज्ञान—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी *A. M. S.*–विकृति विज्ञान (*pathology*) विषय का हिन्दी भाषा में विशाल ग्रन्थ। अनेक चित्र साथ में दिये गए है। प्रत्येक रोग का विकास किस प्रकार होता है एवं उस समय शरीर के किस किस अंग में क्या क्या रवर्तन होते हैं स्पष्ट रूप से समझाया गया है। अन्त में हिन्दी एवं इङ्गलिश शब्दों की विशाल सूची दी गई है। विद्यार्थियों के लिए उपादेय है। मूल्य २२.००

एलोपैथिक पेटेन्ट चिकित्सा—लेखक डा० अयोध्यानाथ पांडेय। अकारादि क्रमानुसार प्रत्येक रोग पर प्रयोग की जाने वाली पेटेन्ट औषधिया दी हैं। तथा प्रत्येक पेटेन्ट औषधि किस किस रोग पर प्रयुक्त हो सकती है यह भी दिया है। मूल्य २.००

अभिनव नेत्र चिकित्सा विज्ञान—लेखक पं० विश्वनाथ द्विवेदी शास्त्री *B. A.*, आयुर्वेदाचार्य। प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों का समन्वय करते हुए नेत्र चिकित्सा पर हिन्दी मे विशाल ग्रन्थ। मूल्य १०.००

शल्य प्रदीपिका—लेखक डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा। शल्य (सर्जरी) विषयक हिन्दी मे लिखी हुई है। प्रत्येक प्रकार के शल्य कर्म को विस्तार से लिखा है। अनेक चित्र दिये हैं। मूल्य १२.५०

बाल रोग चिकित्सा—लेखक डा० रमानाथ द्विवेदी एम० ए०, ए० एम० एस०। प्राच्य एव पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान का विस्तार से समन्वय करते हुये विशद वर्णन युक्त मूल्य ५.०० रु०

अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान—लेखक प्रियव्रत शर्मा–यह पुस्तक हिन्दी में अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। मूल्य ७.५०

धात्री विज्ञान—डा० शिवदयाल गुप्त *A. M. S.* प्रारम्भ मे नारी जननेन्द्रिय रचना एव क्रिया शारीर, गर्भिणी परिचर्या, नवजात शिशु परिचर्या एवं बाल्यकालीन रोगों का संक्षेप मे वर्णन किया है। अनेक सम्बन्धित चित्र दिये हैं। मूल्य ·.५०

गर्भस्थ शिशु की कहानी—लेखक डा० लक्ष्मीशङ्कर गुरू। प्रसूति विषयक हिन्दी मे उत्तम एवं संक्षिप्त पुस्तक। सम्बन्धित चित्र हैं। मूल्य २ ००

जन्म निरोध—लेखक ए० ए० खा *M. Sc.*। पुस्तक में जन्म निरोध के लिये अनेक प्रकार की भौतिक, रासायनिक, यान्त्रिक एव शस्त्र कर्मीय

विधियां दी गई हैं। पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। मूल्य ६.००

सामान्य शल्य विज्ञान (सचित्र)—लेखक डा० शिवदयाल गुप्ता *A. M. S.*। शल्य (सर्जरी) विषयक हिन्दी भाषा मे विशाल ग्रन्थ। प्रत्येक विषय को आवश्यकीय चित्रों द्वारा समझाया गया है। पुस्तक अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं चिकित्सकों के लिये अत्यन्त उपादेय है। मूल्य १२.००

आदर्श एलोपैथी मेटेरिया मैडिका—एलोपैथी विज्ञान के अनुसार प्रत्येक औषधि प्रकृति, गुण-धर्म, उपयोग, मात्रा, रोग निदान के अनुसार इसमे वर्णित है। मूल्य ११.००

हिन्दी माडर्न मैडिकल ट्रीटमैंट—(आधुनि-चिकित्सा) लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री एम. एल. गुजराल *M. B., M. R. C. P.* (लन्दन) द्वारा लिखित एलोपैथी चिकित्सा के लिये अत्युपयोगी है। मूल्य २०.००

पेटेन्ट प्रेस्क्राइबर या पेटेन्ट चिकित्सा—प्रत्येक रोग पर व्यवहार होने वाली एलोपैथिक पेटेन्ट औषधियों का तथा इन्जेक्शनों का विवरण सुन्दर ढंग से दिया है। मूल्य ७.००

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान—(दो भाग) श्री डा. आशानन्द पंचरत्न *M. B. B. S.* आयुर्वेदाचार्य। यह चिकित्सा विज्ञान की सुन्दर रचना है। इसमे १६ अध्यायों मे रोगों का वर्णन तथा उनकी सफल एलोपैथी एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा बड़ी खूबी के साथ दी हैं। इसकी वर्णन शैली तुलनात्मक दृष्टि से ही महत्व की नहीं वरन् सफल चिकित्सा दृष्टि से भी यह ग्रन्थ चिकित्सकों को उपादेय है। कपडे की सुन्दर जिल्द—मूल्य प्रत्येक भाग का १०.००

आयुर्वेद एण्ड एलोपैथिक गाइड—लेखक आयुर्वेदाचार्य प. रामकुमार द्विवेदी। हिन्दी मे प्राच्य पाश्चात्य विज्ञान का विस्तृत ज्ञान देने वाली बेजोड़ पुस्तक है। मूल्य १०.००

वर्मा एलोपैथिक निघण्टु—डा० वर्मा जी की द्वितीय कृति। इसमें २००० से अधिक पेटेन्ट तथा साधारण औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त सैकड़ो नुस्खे तथा अन्य उपयोगी बातें दी हैं। मूल्य १२.००

एलोपैथिक गाइड—लेखक डा रामनाथ वर्मा एलोपैथी की ज्ञातव्य बाते सरल हिन्दी मे बताने वाली सुप्रसिद्ध पुस्तक, छठा संस्करण मूल्य १२.००

एलोपैथिक योगरत्नाकर—श्री वर्मा जी कि उपयोगी पुस्तक। इसमे एलोपैथिक मिक्चर तथा प्रयोगों का विशाल संग्रह है पृष्ठ ७४१ मूल्य १३·००

एलोपैथिक चिकित्सा (तृतीय संस्करण)—लेखक डा० सुरेशप्रसाद शर्मा। इसमें प्रायः सभी रोगों का वर्णन, लक्षण निदान आदि संक्षेप मे वर्णन करके उन रोगों की चिकित्सा विस्तृत रूप से दी है। योग आधुनिकतम अनुसन्धानों को मथकर और अनुभव सिद्ध लिखे गए हैं। ८२५ पृष्ठों के विशालकाय सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य १८·००

एलोपैथिक पाकेट गाइड—एलोपैथिक चिकित्सा का सूक्ष्म रूप यह पाकेट गाइड है। इसे आप जेब मे रखकर चिकित्सार्थ जा सकते हैं जो आपका हर समय साथी का काम देती है। मूल्य ३·००

एलोपैथिक पेटेन्ट मेडिसन—लेखक डा० अयोध्यानाथ पाडेय। कौन पेटेन्ट औषधि किस कम्पनी की तथा किन २ द्रव्यों से निर्मित हुई है किस रोग में प्रयुक्त होती है, लिखा गया है। दूसरे अध्याय में रोगानुसार औषधियों का चुनाव किया है। मू० ४·२५

एलोपैथिक मैटेरिया मैडिका—(पाश्चात्य द्रव्य गुण विज्ञान) लेखक-कविराज रामसुशीलसिंह शास्त्री *A.M.S.*। यह पुस्तक अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। लेखक ने विषय को आयुर्वेद चिकित्सकों तथा विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। मूल्य सजिल्द का प्रथम भाग १२.००, द्वितीय भाग ३०.००

एलोपैथिक मैटेरिया मैडिका—लेखक-डाक्टर शिवदयाल जी गुप्ता ए० एम० एस०। इस पुस्तक मे अब तक की सम्पूर्ण औषधिया जो एलोपैथी मे समाविष्ट हो चुकी हैं, सभी दी है। सफल सुबोध भाषा, वैज्ञानिक क्रम से विषय का स्पष्टीकरण, औषधियों के सम्बन्ध मे आधुनिकतम सूचना, भिन्न भिन्न औषधियो से सम्बन्धित तथा चिकित्सा में प्रयुक्त योगों का निर्देश पुस्तक की विशेषता है। हिन्दी में सबसे महान और विशाल अद्वितीय पुस्तक जिसमें १३०० पृष्ठ है का मूल्य १२.००

एलोपैथिक सफल औषधियां—एलोपैथी की नवीनतम अत्यन्त प्रसिद्ध खास खास औषधियों का

गुण धर्म विवेचन जो आजकल बाजार में वरदान सिद्ध हो रही हैं। सभी सल्फाग्रुप आदि औषधियों के वर्णन सहित। मूल्य ४.००

नेत्र रोग विज्ञान—कृष्णगोपाल धर्मार्थ औष. द्वारा प्रकाशित अपने विषय की हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। सैकड़ों चित्रों सहित मूल्य १५.००

सचित्र नेत्र विज्ञान—लेखक डा. शिवदयाल गुप्त, पृष्ठ संख्या ५६४, चित्र संख्या १३। मूल्य ८.००

मल मत्र रक्तादि परीक्षा—लेखक डा. शिवदयाल गुप्त, अपने विषय की सर्वाङ्गपूर्ण सचित्र और वैद्यों के बड़े काम की पुस्तक है। मूल्य ३.००

मिक्चर (छठा संस्करण)—प्रथम २६ पृष्ठों में मिक्चर बनाने के नियम, औषधियों की तोल नाप व्यवस्थापत्रों में लिखे जाने वाले सकेतों की व्याख्या आदि ज्ञातव्य बातें दी हैं। बाद में उपयोगी इञ्जेक्शनों का भी संकेत किया है। अन्त में देशी दवाओं के अंगेरेजी नाम दिये हैं। २१७ पृष्ठ की यह पुस्तक चिकित्सकों के लिये अत्युपयोगी है। मूल्य २.५०

एनीमा और कैथीटर	०.३७
एनीमा टीचर	०.२५
कम्पाउन्डरी शिक्षा	२.५०
कपिङ्ग ग्लास मैन्युअल	०.१६
मलेरिया (एलोपैथिक)	२.२५
कैथीटर गाइड	०.२५
तापमान (थर्मामीटर)	०.२५
थर्मामीटर मास्टर	०.२५
स्टेथिस्कोप तथा नाड़ी परीक्षा	०.७५
स्टेथिस्कोप शिक्षक	१.००
स्टेथिस्कोप	१.००
एलोपैथिक मिक्चर	२.००
एलोपैथिक सार संग्रह	७.००
एनाटोमी (शरीर ज्ञान संग्रह)	५.००
मलेरिया कालाजार	१.७५
मेडीसन (चिकित्सा ज्ञान संग्रह)	५.००

इञ्जेक्शन विषयक पुस्तकें

इञ्जेक्शन—लेखक—डा० सुरेशप्रसाद शर्मा—अपने विषय की हिन्दी में सचित्र सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। थोड़े समय में ही ६ संस्करण हो जाना ही इसकी उत्कृष्टता का प्रमाण है। इसके आरम्भ में सिरिंज के प्रकार, इञ्जेक्शन लगाने के प्रकार तथा उनके लगाने की विधि, रंगीन एवं सादे चित्रों सहित पूरी तरह समझाई गई है। बाद में प्रत्येक इञ्जेक्शन का वर्णन, उसकी मात्रा, उसके गुण, प्रयोग करने में क्या सावधानी बरतनी चाहिये आदि सभी बातें विस्तार से लिखी गई हैं। अन्त में अकारादि क्रम से समस्त इञ्जेक्शनों की सूची तथा पृष्ठ संख्या दी गई है। चिकित्सकों के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। सजिल्द मूल्य १०.००

सचित्र इञ्जेक्शन—डा० शिवनाथ खन्ना—प्रस्तुत पुस्तक इञ्जेक्शन अर्थात् सूचीवेधन नामक विषय पर विस्तारपूर्वक, सरल, जनप्रचलित भाषा में समझाकर लिखी गई है। चार खण्ड हैं जिसमें प्रथम खण्ड में इञ्जेक्शन की विधियां तथा इञ्जेक्शन के भेद, द्वितीय खण्ड में विभिन्न इञ्जेक्शनों के गुण कर्मादि, तृतीय खण्ड में प्रधान रोगों में लक्षण तथा उनमें दिये जाने वाले इञ्जेक्शन और चतुर्थ खण्ड में अन्य आवश्यक जानकारी दी है। पुस्तक अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। मूल्य १०.००

इञ्जेक्शन तत्व प्रदीप—लेखक डा० गणपति सिंह वर्मा। सभी इञ्जेक्शनों का वर्णन है तथा उनके भेद और लगाने की विधि सरलतया दी है। मू० ५.००

सूचीवेध विज्ञान—लेखक डा० रमेश चन्द्र वर्मा डी० आई० एम० एस०। यह पुस्तक भी एलोपैथी इञ्जेक्शनों की उपयोगी विस्तृत सामिग्री से पूर्ण है। पैनसिलीन, विटामिन आदि का भी विस्तृत वर्णन है। पक्के कपड़े की जिल्द मूल्य ७.५०

सूचीवेध विज्ञान—लेखक श्री राजकुमार द्विवेदी। इस छोटी पुस्तिका में आपको बहुत कुछ सामग्री मिलेगी। गागर में सागर भर दिया है। मूल्य १.५०

होमियो इञ्जेक्शन चिकित्सा—आरम्भ में इञ्जेक्शनों के भेद तथा उनके लगाने की विधि आदि का सचित्र वर्णन किया है। तत्पश्चात् होमियोपैथिक औषधियों के गुणादि का वर्णन किया है। मू. १.७५

आयुर्वेदिक इन्जेक्शन चिकित्सा—ले० डा० श्यामसुन्दर शर्मा। पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में इञ्जेक्शन लगाने की विधि आदि का सामान्य वर्णन किया है। द्वितीय खण्ड में औषधियों का वर्णन किया गया है। मूल्य २.५०

इन्जेक्शन गाइड—लेखिका सुनीति रानी प्रस्तुत पुस्तक मे इस विशद विषय को सन्क्षेप मे समझाया गया है। आरम्भ मे इन्जेक्शन विषयक साधारण जानकारी देने के पश्चात् हरेक रोग पर किन इन्जेक्शनों का व्यवहार किया जाता है यह भली-प्रकार दिया गया है। सजिल्द मूल्य ५.००

आयुर्वेदिक सफल सूचीवेध(इन्जेक्शन)—ले० वैद्य प्रकाशचन्द्र जैन। इस पुस्तक मे आयुर्वेदिक द्रव्यों एवं जड़ी बूटियों के इन्जेक्शनों का विस्तृत वर्णन किया है। स्वानुभव के आधार पर लिखी अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। मूल्य ५.००

यूनानी पुस्तकें

जर्राही प्रकाश [चारों भाग]—इसमें घाव और व्रण से सम्बन्धित जर्राहों के लिये उर्दू, संस्कृत व डाक्टरी आदि अनेकों ग्रन्थों का सार भाग संग्रह किया गया है। पृष्ठ संख्या २२८ मूल्य ३.५०

यूनानी चिकित्सा सार—इसमें यूनानी मत से सब रोगों का निदान व चिकित्सादि दी गई है। वैद्यराज दलजीतसिंह जी ने यह ग्रन्थ वैद्यो के लिये हिन्दी भाषा मे लिखा है जिसमें यूनानी चिकित्सा पद्धति का सभी कुछ दे दिया गया है। यह ग्रन्थ अनेक अरबी फारसी ग्रन्थों का साररूप है छपाई सुन्दर है। मूल्य ४.५०

यूनानी चिकित्सा विधि—इसके लेखक श्री मंसाराम जी शुक्ल हकीम वाइस प्रिन्सीपल यूनानी तिबिया कालेज दिल्ली हैं। इसमे देहली के प्रसिद्ध यूनानी खानदानी हकीमों के अनुभूत प्रयोगों का निचोड़ है जिसके कारण यूनानी हकीमों की चिकित्सा देहली मे खूब चमकी और आज तक नाम है। कपड़े की जिल्द मूल्य ५.००

यूनानी चिकित्सा सागर—श्री मसाराम जी शुक्ल द्वारा लिखा हुआ हिन्दी भाषा मे यूनानी का विशाल ग्रन्थ है जो 'रसतन्त्रसार' के ढङ्ग पर लिखा गया है। इसमे पुराने व आधुनिक सभी हकीमों के १००० अनुभूत प्रयोग हैं, औषधियों के नाम हिन्दी में अनुवाद करके दिये गए हैं। जिनके नाम नहीं मिले हैं ऐसी ७५० औषधियों का वर्णन परिशिष्ट मे दिया है। ५१६ पृष्ठ पक्की सुन्दर कपड़े की जिल्द मूल्य १०.००

यूनानी चिकित्सा विज्ञान—यूनानी चिकित्सा विज्ञान का हिन्दी में अनुपम ग्रन्थ। इस पुस्तक के दो भाग किये गए हैं। प्रस्तुत भाग मे यूनानी चिकित्सा और निदान के मूलभूत सिद्धान्तों का विशद विवेचन है। इसमे रोग के लक्षण निदान भेद तथा परीक्षा की सामान्य विधियां हैं। ६६६ पृष्ठो के इस ग्रन्थ का मूल्य ८.५०

यूनानी सिद्धयोग सग्रह—यह यूनानी सिद्ध योगों का संग्रह है। सभी योग सफल परीक्षित और सहज मे बनने वाले हैं, हरेक वैद्य के काम की चीज है। इसके सग्रहकार हैं वैद्यराज दलजीतसिंह जी आयुर्वेद वृहस्पति। मूल्य २.५०

यूनानी वैद्यक के आधारभूत सिद्धांत—(कुल्लियात) श्री बाबू दलजीतसिंह जी व उनके भाई रामसुशीलसिंह जी ने इस छोटे से ग्रन्थ में इस बात को दिखाने का प्रयत्न किया है कि आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में कितना सादृश्य तथा कितना असादृश्य है। इसका निर्माण दोनो का समन्वय हो सकता है इस आधार पर किया है। मूल्य १.२५

मखजनउल मुफरदात—(निघण्टु विज्ञान)—ले० पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा। मूल्य ७.००

करावादीन सिफाई—यूनानी प्रयोग संग्रह–लेखक पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा मूल्य २.००

करावादीन कादरी—लेखक जगन्नाथप्रसाद हैड मुदर्रिस—चार भाग मूल्य ८ ००

यूनानी द्रव्य गुण विज्ञान—हकीम ठा० दलजीतसिंह-पूर्वार्ध मे द्रव्य गुण कर्म आदि का विवेचन किया है। उत्तरार्ध में ५३० यूनानी द्रव्यों के पर्याय उत्पत्ति स्थान, वर्णन, रासायनिक सगठन प्रकृति और गुण के पूर्ण विवेचन दिया है। मूल्य २२ ००

यूनानी शब्द कोष—यूनानी दवाओं के हिन्दी पर्याय इसमें मिलेंगे। इससे दवा लेने मे बड़ी सहूलियत होगी। मूल्य ० ३७

सरल सिद्ध प्रयोगों की पुस्तकें

अनुभूत योग प्रकाश—डा० गणपति सिंह वर्मा द्वारा १५ वर्ष के परिश्रम से प्राप्त अनुभूत प्रयोगों का संग्रह है। प्राय: सभी रोगो पर आपको सफल प्रयोग इस पुस्तक मे मिलेंगे पृष्ट ४४५। मू० ६.२५

अनुभूति–इसमें आयुर्वेदिक सफल प्रयोग तथा लेखक के स्वानुभवपूर्ण १८६ प्रयोगों का अति उपयोगी संग्रह है। मूल्य २.००

गुप्तयोग रत्नावली—डा० नरेन्द्रसिंह नेगी द्वारा लिखित—इसमे भिन्न भिन्न रोगों पर अनुभूत योगो का वर्णन है। मूल्य २.५०

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (प्रथम भाग)—द्वितीय संस्करण–यह वह विशेषाक है जिसके प्रकाशन से धन्वन्तरि की ग्राहक संख्या उसी वर्ष दूनी हो गई थी। इसमे २१६ वैद्यो के ५०० अनुभवी प्रयोग हैं। इसमे हर छोटे वड़े रोगों पर २-४ प्रयोग आपको अवश्य मिलेंगे। मूल्य ६.००

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय भाग)—यह धन्वन्तरि का छोटा बिशेषाक है। २५० प्रयोगो का उत्तम संग्रह है। मूल्य २.००

गुप्तसिद्ध प्रयोगाक (तृतीय भाग)—द्वितीय भाग के समान ही इसमे भी उत्तमोत्तम योगों का संग्रह किया गया है। समाप्त

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (चतुर्थ भाग)—सन् ५८ का धन्वन्तरि का विशेपांक है। १३२८ प्रयोगो का संग्रह है। उत्तम ग्लेज कागज पर जिल्द बधा हुआ। ८.५०

पैसे पैसे के चुटकले–सस्ते तथा सफल प्रयोगों का संग्रह। मू० ३.००

राजकीय औषधि योग संग्रह—उत्तर प्रदेश के सरकारी आयुर्वेदिक औषधालयों मे व्यवहार आने वाली ४०० से ऊपर औषधियों के प्रयोग, निर्माण विधि, गुण, सेवन विधि आदि श्री रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी द्वारा लिखित उपयोगी ग्रन्थ। पुस्तक विद्यार्थियों तथा विद्वानों सभी के लिए पठनीय है। मू० ८.००

सिद्ध मृत्युञ्जय योग—इस पुस्तक मे ५३ सफल प्रयोगो का वर्णन है। प्रयोग, मात्रा, सेवन विधि, गुण आदि देकर यह स्पष्ट लिख दिया है कि प्रयोग किस प्रकार प्राप्त हुआ तथा कहां सफलता के साथ व्यवहृत हुआ है। मू० १.००

औषध स्वावलम्बन—कवि विद्यानारायण शास्त्री तुलसी, पान आद्र क आदि सुगमता से प्राप्य औषधियो का प्रारम्भ मे संक्षिप्त वर्णन देते हुए बाद में यह समझाया गया है कि वह औषधि किन किन रोगों पर किस प्रकार कार्य कर सकती है। मू. २.००

सिद्ध प्रयोग (दो भाग)—पं. विश्वेश्वर दयाल वैद्यराज। इस पुस्तक मे अनेक सिद्ध योगो का रोगानुसार वर्गीकरण करते हुए संग्रह किया है। मू० प्रथम भाग १.००, द्वितीय भाग ०.५०

वैद्य जीवनम्–श्री लोलम्बराज कृत संस्कृत में प्रयोगों का संग्रह है। सरल हिन्दी टीका की गई है। टीकाकार पं. किशोरीदत्तशास्त्री मू.० ७५, पं कालीचरण पांडेय एम.ए. कृत १.२५, केशवदास जी १.००

वैद्य बाबा का बस्ता–जैसा कि नाम से ही प्रगट है, श्री बशरीलालजी साहनी द्वारा रोगानुसार वर्गीकरण करते हुए लगभग ६५० प्रयोगो का संग्रह है। पुस्तक का आकार डायरी के समान है। इससे पुस्तक की उपादेयता और बढ़ गई है। सजिल्द १.२५

नित्योपयोगी चूर्ण संग्रह—नित्य उपयोग में आने वाले १३१ चूर्णों का संग्रह विभिन्न ग्रन्थों से किया गया है। उसके बनाने की विधि, मात्रा, अनुपान एवं गुणों का वर्णन किया है मू० १.२५

नित्योपयोगी क्वाथ संग्रह–क्वाथ चिकित्सा आयुर्वेद की प्राचीन, अल्प व्यय साध्य एवं आशुफलप्रद चिकित्सा है। इस पुस्तक मे १६६ क्वाथो का संग्रह प्रकाशित किया गया है। मू० १.२५

नित्योपयोगी गुटिका संग्रह–३२३ वूटियों (गुटिकाओं) का उपयोगी संग्रह। मू० २.००

अनुभूत योग चिन्तामणि—डा गणपतिसिंह वर्मा राजवैद्य। वर्गानुसार रोगों का वर्णन कर तत्पश्चात् उपयोगी नुस्खे दिये गये हैं जो कि सस्ते सुलभ एवं आशुफलप्रद हैं अल्प काल में पाच संस्करण हो जाना ही इसकी उत्तमता का प्रमाण है। मू. प्रथम भाग ४.७५ द्वितीय भाग ४.००

सिद्ध भैषज्य संग्रह—चूर्ण, वटी, तैल, अवलेह आदि वर्गानुसार अनेक सिद्ध औषधियों का विवेचन किया गया है। अन्त में ज्वर अतिसार आदि रोगों पर प्रयुक्त की जाने वाली औषधियों की सूची विस्तृत रूप से दी है। सजिल्द मू. ८.००

देहाती अनुभूत योग संग्रह-(दो भाग)-अनुवादक अमोलकचन्द्र शुक्ल-देहाती वस्तुओं से उत्तमोत्तम प्रयोगों को बनाने की विधिया वर्णन की गई है। दोनो भागो को मिलाकर लगभग ६५० प्रयोग दिये है। सजिल्द मूल्य प्रथम भाग ६.००, द्वितीय भाग ७.००

डाक्टरी नुस्खे-डा. राधावल्लभ पाठक-अनेक अचूक डाक्टरी नुसखों का संग्रह इस छोटी सी पुस्तक मे किया गया है। सजिल्द मू. ५.००

अनुभूत योग चर्चा—लेखक बंसरीलाल साहणी—प्रथम भाग मे २०८ प्रयोगो, तथा द्वितीय भाग मे ४३३ प्रयोगों का संग्रह है। इस पुस्तक मे अति सरल प्रयोगों का कष्टसाध्य रोगों पर सफल प्रयोग वर्णित है। पुस्तक हर चिकित्सक के लिए अवश्य पठनीय बड़े काम की बन गई है। सभी को अवश्य मंगाना चाहिए। मू. प्रथम भाग २.५०, द्वितीय भाग ३.५०

अनुभूत योग-दो भाग मे लगभग १५० प्रयोगों की निर्माणविधि, मात्रा, अनुपान एवं उनके गुणों का विस्तृत विवेचन किया है। मू० प्रत्येक भाग का १.००

सिद्ध योग संग्रह—आयुर्वेद मार्तण्ड श्री यादव त्रिकम जी आचार्य के द्वारा अनुभूत सफल प्रयोगों का संग्रह हर चिकित्सक के लिए उपयोगी पुस्तक है। इसके सभी प्रयोग पूर्ण परीचित और सद्यः लाभदायक है। मूल्य २.७५

रसतत्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह—संशोधित अष्टम संस्करण। इस ग्रंथ मे रस रसायन, गुटिका, आसव, अरिष्ट, पाक, अवलेह, लेप-सेक, मलहम अजंनादि सभी प्रकार की आयुर्वेदिक औषधियों के सहस्रशः अनुभूत एवं शास्त्रीय प्रयोग तथा विस्तृत गुणधर्म विवेचन है। प्रथम भाग ६.०० सजिल्द ११.००, द्वितीय भाग ६.०० सजिल्द ७.५०

होमियो-बायोकैमिक पुस्तकें

आर्गेनन-यह होमियोपैथी की मूल पुस्तक है जिसमे इस पैथी के मूल प्रवर्तक महात्मा सैमुएल हैनिमैन के २६१ सूत्र है। इस पुस्तक मे इन्हीं पर डा० सुरेशप्रसाद शर्मा ने व्याख्या की है। व्याख्या इतनी सुन्दर और सरल है कि हिन्दी जानने वाले इन सूत्रो का मन्तव्य भलीभांति समझ सकते हैं। बिना इस पुस्तक के होम्योपैथी को जानना दुराशा मात्र है। ३८८ पृष्ठ सजिल्द मूल्य ४.००

इन्जेक्शन चिकित्सा होमियो—लेखक डा. सुरेशप्रसाद शर्मा। इसमे होम्योपैथी इन्जेक्शनों का वर्णन है। साथ ही होम्योपैथी औषधियों से इन्जेक्शन बनाना आदि भलीभाति बताया है। १.७५

ज्वर चिकित्सा—नाम से ही विदित है। इस पुस्तक पर उत्तर प्रदेशीय सरकार से लेखक पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। इसमें सभी प्रकार के ज्वरों की एलोपैथिक आयुर्वेदिक एव यूनानी मत से चिकित्सा वर्णित है। मूल्य ७ ००

पशु चिकित्सा होमियो—यह आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक दोनों से सम्बन्धित पशु चिकित्सा पर बहुत उपयोगी साहित्य है। सभी पशुओं के रोगो पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है मूल्य ३.१३

प्रिंस मेटेरिया मैडिका [कम्परेटिव]-डा. सुरेशप्रसाद शर्मा-प्रिंस होम्योपैथिक कालेज के प्रिंसिपल द्वारा प्रणीत यह होम्योपैथिक मेटेरिया मैडिका है। औरों से इसमे बहुत कुछ विशेषता है। थेराप्युटिक ही नहीं इसमे फार्माकोपिया भी सम्मिलित की गई है। प्रत्येक प्रमुख औषधियो के मूल द्रव्य, प्रस्तुत विधि, वृद्धि, उपशय, प्रमुख एव साधारण लक्षणों आदि सभी विषयो का वर्णन किया गया है। चिकित्सकों तथा प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिये यह बहुत ही उपादेय है। साधारण हिन्दी ज्ञाता भी इसको समझ सकते हैं। १३७२ पृष्ठों वाले इस विशाल ग्रंथ का मूल्य केवल ६ ००

भैषज्यसार—होम्योपैथी का पाकेट गुटिका इसमे सभी रोगों मे दवाओं के प्रयोग व मात्राऐं दी गई हैं। मूल्य २.००

भारतीय औषधावली तथा होमियो पेटेन्ट मेडीशन—डा० सुरेशप्रसाद ने इस पुस्तक मे उन औषधियों

को लिया है जो भारतीय औषधियों से तैयार होती है। साथ ही बाद में कुछ होम्योपैथिक पेटेन्ट औषधियों को वह किसी रोग में दी जाती है दिया है। मूल्य १.५०

रिलेशन शिप—इस छोटी सी पुस्तक में डा० श्यामसुन्दर शर्मा ने औषधियों का पारस्परिक-सम्बन्ध दर्शाया है। नित्य व्यवहारिक औषधियों का सहायक अनुसरणीय प्रतिषेधक तथा विपरीत औषधियों का संग्रह किया गया है। मूल्य २.००

सरल होमियो चिकित्सा—इसमें सभी स्त्री-पुरुष के स्वास्थ्य नियमों को बताया है तथा उनसे विपरीत होने वाले सभी रोगों की होम्योपैथी चिकित्सा दी गई है। रोग वर्णन तथा चिकित्सा दोनों ही अत्यन्त सरल और समझाकर लिखे गये हैं। ४.५०

रोग निदान चिकित्सा—इस छोटी पुस्तक में १०० पृष्ठों में रोगी की परीक्षा विधि तथा ५० पृष्ठों में होम्योपैथी एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा है। मू. २.००

स्त्री रोग चिकित्सा—डा० सुरेशप्रसाद शर्मा लिखित। स्त्री-जननेन्द्रिय के समस्त रोग, गर्भाधान, प्रसव के रोग तथा स्त्रियों को होने वाले अन्य सभी रोगों का निदान व चिकित्सा दी है। मूल्य ४.५०

लेडी डाक्टर—गर्भाधान व प्रसव सम्बन्धी ज्ञान तथा उससे सम्बन्धी होमियोपैथिक चिकित्सा वर्णित है। मूल्य १.२५

होमियोपैथिक मेटेरिया मेडिका—जिन्हें मोटे मोटे ग्रन्थ पढ़ने का समय नहीं है उनके लिये यह मेटेरिया मैडिका बहुत उपयुक्त है। सभी आवश्यक विषयों का वर्णन है। गागर में सागर वाली कहावत चरितार्थ है। सजिल्द ४०० पृष्ठ मू० ३.७५

होमियो मेटेरिया मेडिका—डा. श्योसहाय भार्गव द्वारा रचित। लेखक ने वर्णन करने में व्यर्थ के शब्दों को बढाया नहीं है। सभी आवश्यक विषय हैं कोई छूटने नहीं पाया है। किसी मेटेरिया मैडिका से कम महत्व की नहीं है। ५६१ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक मूल्य ५.००

होमियो चिकित्सा विज्ञान (Practice of medicines)—ले० डा० श्यामसुन्दर शर्मा। होमियोपैथी पर लिखी गई चिकित्सा पुस्तकों में यह पुस्तक सर्वोपरि है। प्रत्येक रोग का खंड-खंड रूप में परिचय, कारण, शारीरिक विकृति, उपद्रव, परिणाम और आनुषङ्गिक चिकित्सा के साथ आरोग्य चिकित्सा का वर्णन है। डाक्टर तथा साधारण गृहस्थों सभी को उपयोगी है। सजिल्द मूल्य ३.५०

कालरा या हैजा—इस भयङ्कर महाव्याधि पर सुन्दर सामग्री प्रस्तुत है। प्रत्येक अवस्था पर औषधियों का सुन्दर विवेचन है। मूल्य २.००

बायोकैमिक चिकित्सा—बायोकैमिक चिकित्सा सिद्धान्त के सम्बन्ध में आवश्यक बातें तथा बारहों औषधियों के वृहद् मुख्य लक्षण और किन किन रोगों में उनका व्यवहार होता है सरल ढङ्ग से समझाया गया है। पृष्ठ ४३६ मूल्य ४.००

बायोकैमिक रहस्य—(नवम संस्करण) बायोकैमिक क्या है इस विषय पर पुस्तक सभी आवश्यक अङ्गों की जानकारी देती हैं तथा बारहों दवाओं का भिन्न भिन्न रोगों पर सफल वर्णन किया गया है। सजिल्द मूल्य ३.००, कैलाशभूषण लिखित १.५०

बायोकैमिक मिक्चर—बारहों क्षारों का विभिन्न रोगों में मिक्श्चर रूप व्यवहार करना यह पुस्तक बताती है। मूल्य ०.७५

होमियो पारिवारिक चिकित्सा—लेखक डा. सुरेश प्रसाद शर्मा। प्रत्येक रोग के लक्षण एवं उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा विस्तृत रूप से दी है। आधुनिक वैज्ञानिक विवेचन भी साथ में दिया गया है। पृष्ठ लगभग १६०० मूल्य ६.००

घाव की चिकित्सा	श्यामसुन्दर शर्मा	१.००
निमोनियां चिकित्सा	डा० बी० एन० टंडन	०.७५
,, ,,	डा० सुरेशप्रसाद	०.७५
होमियो थाइसिस चिकित्सा	,,	०.७५
होमियोपैथिक नुस्खे	डा० श्यामसुन्दर	१.२५
होमियो टाइफायड चिकित्सा	डा० सुरेशप्रसाद	०.७५
होमियो पाकेट गाइड	,, ,,	१.००
मह चिकित्सा	,, ,,	२.२५
,, ,,	डा० बी० एन० टण्डन	१.५०
भैषज्य रहस्य	,, ,,	४.००
सरल होमियो पारिवारिक चिकित्सा	डा० श्योसहाय भार्गव	५.००
होमियो फार्मेकोपिया	डा० बी० एन० टण्डन	२.००

प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तकें

रोगों की सरल चिकित्सा—(तीसरा परिवर्धित संस्करण)-लेखक श्री विट्ठलदास मोदी। १०,००० से अधिक रोगियों पर किये गए अनुभव के आधार पर लिखी गई हिन्दी की यह प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी श्रेष्ठ पुस्तक है अब तक इसकी पन्द्रह हजार प्रतिया बिक चुकी हैं। पृष्ठ संख्या ३५०, बढ़िया पक्की जिल्द मूल्य ४ ००

बच्चों का स्वास्थ्य और उनके रोग—बच्चों के पालन पोषण की विधि के साथ साथ उसके रोगी होने पर उन्हे रोगमुक्त करने की विधि इस पुस्तक में विस्तार से दी गई है। मूल्य केवल ३.००

रोगों की नई चिकित्सा—लेखक लूईकूने। यद्यपि प्राकृतिक चिकित्सा का बहुत पहले आविर्भाव हो चुका था पर हिन्दुस्थान में प्राकृतिक चिकित्सा कूने की पुस्तक 'न्यू साइंस आफ हीलिंग' के साथ ही आई। कूने की इस पुस्तक का ही 'रोगों की नई चिकित्सा' भावात्मक अनुवाद है। पृष्ठ २६०, बढ़िया छपाई, दुरङ्गा कवर मूल्य २.००

प्राकृतिक जीवन की ओर—मिट्टी, पानी, धूप, हवा और भोजन की सहायता से नये पुराने सब रोगों को दूर करने तथा स्वास्थ्य बढ़िया बनाने की विधि सिखाने वाली जर्मन पुस्तिका का अनुवाद मू. २.५०

जीने की कला—यह पुस्तक आपका मानसिक बल बढ़ायेगी, चिंताओं से मुक्त करेगी तथा आपके सामने वे सारे रहस्य खोलकर रख देगी जिसके कारण मनुष्य बनता है। मूल्य १.२५

स्वास्थ्य कैसे पाया?—इस पुस्तक में स्वास्थ्य को उन्नत बनाने और लोगों को रोगों से मुक्ति पाने की आत्मकथायें पढ़कर स्वस्थ रहने का सही तरीका जानें। मूल्य १.५०

उपवास के लाभ—उपवास की महिमा, उपवास करने की विधि और रोगों के निवारण में उपवास का स्थान बताने वाली पुस्तक मूल्य १ ५०

उठो!—इस पुस्तक को पढ़ें और दु ख, परेशानी और मुसीबतों से छुटकारा पाकर जीवन को सरल बनायें। मूल्य १ ००

आदर्श आहार—भोजन से स्वास्थ्य का क्या सम्बन्ध है और भोजन द्वारा रोग का निवारण कैसे किया जा सकता है बताने वाला एक ज्ञानकोष मूल्य १.००

सर्दी-जुकाम खांसी—इन रोगों के कारण, उनको दूर करने की सरल घरेलू विधि और उनसे बचने का रास्ता बताने वाली एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक। मूल्य ०.७५

योगासन—लेखक आत्मानन्द। योगासन हिन्दुस्तान के ऋषियों द्वारा सस्कृत प्राचीनतम प्रणाली है। योगासन की विधिया और योगासन इस सचित्र 'योगासन' द्वारा सीखिये और योगासनो द्वारा रोग निवारण की कला की जानकारी प्राप्त कीजिये। मूल्य केवल २.००

दुग्ध कल्प—दूध शरीर को निर्मल तो करता ही है रग-रग, नस-नस को धोकर शरीर को पुष्ट बना देता है और रोग इसके कल्प से चले जाते हैं। इसकी विधि इस पुस्तक मे पढ़ें। मूल्य १.००

दूध चिकित्सा—दूध मे क्या गुण हैं। इससे इलाज किस प्रकार किया जाता है। दूध से बनी विभिन्न वस्तुओं का हमारे स्वास्थ्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है आदि वर्णन इस पुस्तक मे पढ़िये। ४.००

स्वास्थ्य के लिए शाक तरकारियां [चतुर्थ सस्करण]—शाक तरकारियां जो हम रोजाना खाते हैं इनका मनुष्य के स्वास्थ्य और सौन्दर्य से क्या सम्बन्ध है, कौन कौन सी शाक तरकारियां कब और कैसे खानी चाहिये आदि सभी बाते इस छोटी सी पुस्तक मे दी हैं। मूल्य २.००

स्वास्थ्य और जल चिकित्सा [छठा संस्करण]—लेखक केदारनाथ गुप्त एम० ए०। इस में जल चिकित्सा के सारे सिद्धान्तों का बड़ी सरल भाषा में प्रतिपादन किया गया है। पानी के द्वारा समस्त रोगों की चिकित्सा कैसे करनी चाहिये। यह इस पुस्तक में पढ़िये। मूल्य २.००

दैनन्दिनी रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा—लेखक कुलरंजन मुखर्जी। इस पुस्तक में ज्वर, प्रतिश्याय, अतिसार, प्रवाहिका, फोड़ा, फुन्सी, घाव, सिर दर्द, हैजा, चेचक आदि रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा दी गई है। मूल्य ४.०० मात्र।

पुराने रोगों की गृह चिकित्सा—लेखक डा० कुलरंजन मुखर्जी। इस पुस्तक मे अजीर्ण, सग्रहणी, श्वास, यक्ष्मा, कैंसर, मधुमेह, दाद, उन्माद, रक्तचाप, अश्मरी, नपुंसकता, अण्डवृद्धि आदि सभी जीर्ण रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा दी गई है। १.००

प्राकृतिक शिशु चिकित्सा—लेखक डा० सुरेशप्रसाद शर्मा। शिशुओं के विभिन्न रोग किस कारण से होते हैं। तथा इसका नाम मात्र व्यय में किस प्रकार उपचार किया जाय। बच्चों को निरोग रखने के उपाय एवं विविध प्रकार के स्नान इस पुस्तक मे दिये हैं। मूल्य २.००

देहाती प्राकृतिक चिकित्सा—इस पुस्तक में नेत्र, कर्ण, नासिका, दन्तरोग, मुख तथा कण्ठरोग, श्वास कास, अजीर्ण, विशूचिका, प्रवाहिका, अतिसार, संग्रहणी, वृक्कशूल, मूत्रावरोध, दाद, श्वित्र, नपुंसकता आदि रोगों में उपयोगी प्रयोग दिये गए है। मू० सजिल्द ५.००

आरोग्य साधन—महात्मा गांधी द्वारा गुजराती भाषा में लिखित पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है। आरोग्य का सच्चा अर्थ बताने वाली ऐसी दूसरी पुस्तक शायद ही मिले। इसमें अटकलपच्चू बाते नहीं हैं बल्कि महात्मा जी के बीसों वर्ष के अनुभव संचित है। मू० केवल ०.८१

आकृति निदान—आकृति निदान का मूल रूप जर्मनी भाषा की एक पुस्तक है जिसका कि अनुवाद किया गया है। अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। अन्त में ५२ फोटो चित्रों द्वारा विभिन्न आकृतियों का ज्ञान कराया गया है। बादीपन का इलाज बहुत विस्तृत रूप से दिया गया है। सजिल्द मू० २.५०

जल चिकित्सा—श्री राखालचन्द्र चट्टोपाध्याय बी० एल०। अनुवादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा। इस पुस्तक के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में मिट्टी, जल, उत्ताप (आग या धूप), वायु, आकाश की सहायता से मामूली बुखार से लेकर दुस्साध्य क्षय कास, कैंसर, न्यूमोनियां, डिफ्थीरिया, टाइफाइड इत्यादि बीमारियों की आश्चर्यप्रद फल देने वाली दवा और बिना चीड़फाड़ के ही स्वाभाविक चिकित्सा दी है। दूसरे भाग मे सब तरह के घावों का बिना नस्तर या दवा के इलाज दिया गया है। तृतीय भाग मे सब तरह के स्त्री रोगों का इलाज दिया गया है। मू० प्रथम भाग २.७५, द्वितीय भाग १.७५, तृतीय भाग १.५०

स्वास्थ्य साधन	श्री रामदास गौड़-सजिल्द	४.००
दमा-श्वास का इलाज	डा. युगलकिशोर चौधरी	०.५०
नवीन चिकित्सा पद्धति	,, ,,	१.२५
सूर्योदय	,, ,,	१.००
व्यायाम वा कल्प	,, ,,	२.००
चिकित्सा सागर	,, ,,	०.७५
मैं नीरोग हूँ या रोगी	,, ,,	०.६२
कपड़ा तथा तंदुरुस्ती	,, ,,	०.५६
घरेलू कुदरती इलाज	केदारनाथ गुप्त	१.००
जल चिकित्सा (पानी का इलाज)	डा. युगलकिशोर चौधरी	१.००
दमा श्वास खांसी	,, ,,	०.३७
दुग्धकल्प व दुग्ध चिकित्सा	,, ,,	१.२५
नेत्र रक्षा व नेत्ररोगों की प्राकृतिक चिकित्सा	,, ,,	०.७५
प्राकृतिक चिकित्सा पथप्रदर्शक	,, ,,	०.३७
,, ,, प्रश्नोत्तरी	,, ,,	०.५०
,, ,, सागर	,, ,,	०.७५
प्राकृतिक चिकित्सा	पं० चन्द्रशेखर	१.००
बच्चों का पालन और चिकित्सा	युगलकिशोर चौधरी	०.७५
मलेरिया मोतीझरा न्यमोनियां	,, ,,	०.७५
भिन्न भिन्न रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा	,, ,,	०.५०
स्नान चिकित्सा	,, ,,	०.५०
स्त्री रोग चिकित्सा	,, ,,	०.७५
सूर्य रश्मि चिकित्सा	वैद्य बांकेलाल गुप्त	०.७५

मिलने का पता—

धन्वन्तरि कार्यालय [पुस्तक विभाग] विजयगढ़ (अलीगढ़)

कतिपय उपयोगी पुस्तकें

भैषज्य सार संग्रह—लेखक कविराज हरस्वरूप शर्मा–इसमे सभी प्रचलित आयुर्वेदिक औषधियों की निर्माण विधि, मात्रा, अनुपान, गुण एवं विशेष विवेचन दिया गया है। उत्तम ग्लेज कागज पर सुन्दर सजिल्द ८८६ पृष्ठ की पुस्तक चिकित्सकों, औषधि निर्माताओं के लिये अत्युपयोगी है। मूल्य १५.००

बृ० रसराज सुन्दर—श्रीदत्तराम चौबे द्वारा संकलित अत्युपयोगी रसग्रन्थ भाषाटीका सहित। सजिल्द मूल्य १२.००

शार्ङ्गधर संहिता—भाषाटीका सहित। टीकाकार पं० केशवदेव शास्त्री साहित्याचार्य। सजिल्द ८.००

निदान चिकित्सा हस्तामलक—लेखक वैद्य रणजिराय देसाई, विद्वान चिकित्सकों के लिये पठनीय उत्तम पुस्तक। सजिल्द लगभग ७०० पृष्ठ ५.५०

व्याधि मूल विज्ञान-(पूर्वार्ध)ले. स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य। पुस्तक अपने ढङ्ग की उत्तम है तथा पठनीय है। १२.००

हरिहरि संहिता—वैद्यराज हरिहरिनाथ सांख्याचार्य द्वारा रचित एवं पं० ओमप्रकाश सारस्वत आयुर्वेदाचार्य B. A. द्वारा भाषाटीका। सभी रोगों के लक्षण चिकित्सादि इसमें वर्णित हैं। ८.००

औषधि निर्माण विवेचन—कालेड़ा-बोगला से प्रकाशित अपने विषय की उत्तम पुस्तक पृष्ठ ३०६ मूल्य ३.०० मात्र

जीवनिक्ती विमर्श या विटामिन तत्व—ले० पद्मदेव नारायण सिंह M. B. B. S.–विटामिन विषयक अत्युपयोगी सचित्र पुस्तक ५.००

सचित्र वनस्पति गुणादर्श—प्रथमभाग-लेखक वैद्य हिरामण मोतीराम जंगले। इसमें अश्वगंधा, सारिवा शिवलिंगी, दन्ती, भृंगराज, पुनर्नवा, वाकुची, धत्तूर, विष, वत्सनाभ, दारुहरिद्रा, ऊंटकटारा, गिलोय, १२ वनस्पतियों का विस्तृत वर्णन, रंगीन सुन्दर चित्र दिये हैं। मूल्य २.००

आयुर्वेद का सर्वोत्तम मासिक पत्र

धन्वन्तरि हिन्दी में प्रकाशित सर्वोत्तम मासिक पत्र है इसे सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। इसके प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाले विशेषांक अपने विषय के सर्वोत्तम एवं सर्वाङ्गपूर्ण होते हैं। सभी वैद्यों को इसका ग्राहक अवश्य बनना चाहिये।

ग्राहक बनने के नियम

१—धन्वन्तरि का वार्षिक मूल्य ५.५०-अग्रिम है। एक वर्ष से कम के लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते।

२—धन्वन्तरि का वर्ष जनवरी से प्रारम्भ होता है तथा दिसम्बर में समाप्त होता है।

३—धन्वन्तरि के ग्राहक वर्ष के प्रारम्भ अर्थात् जनवरी से बनाये जाते हैं। वर्ष में जब भी चाहें ग्राहक बन सकते हैं, लेकिन जनवरी से उस समय तक के प्रकाशित अङ्क भेज कर नवीन ग्राहक को भी जनवरी से ही ग्राहक बना लिया जाता है।

४—प्रतिवर्ष एक विशाल सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जाता है। यह विशेषांक ग्राहक को उक्त वार्षिक मूल्य ५.५० के अन्तर्गत ही मिलता है।

५—धन्वन्तरि के प्रकाशन में हमको बहुत घाटा रहता है। अतः इसके वार्षिक मूल्य में हम किसी को किसी प्रकार की रियायत नहीं कर सकते। अतएव रियायत के लिये लिखना व्यर्थ होगा।

६—वार्षिक मूल्य पहले ही मनियार्डर से भेजना चाहिये, या जनवरी से उस समय तक के प्रकाशित अङ्क और विशेषांक वार्षिक मूल्य ५.५० की वी. पी. से भेजने की आज्ञा देनी चाहिये।

७—विशेषांक का राजसंस्करण प्राप्त करने के लिये १.५० अधिक अर्थात् ७.०० भेजने चाहिये।

एजेंसी

★

यदि आपके स्थान पर हमारी एजेंसी नहीं है तो आज ही पत्र डालकर एजेंसी नियमादि विवरण मंगावे और एजेन्सी लेकर थोड़ी लागत से अच्छा लाभ देने वाला कार्य प्रारम्भ करें। धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ की औषधियां विधिवत् निर्मित, पूर्ण प्रभावशाली होती हैं, मूल्य भी उचित होने के कारण उनका शीघ्र प्रचार होता है। अतएव आप थोड़े परिश्रम से ही इसकी एजेंसी मे अवश्य सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

- एजेंसी के उदार एवं व्यवहारिक नियम
- पूर्ण प्रभावशाली औषधियां
- सुन्दर पैकिङ्ग
- साइनबोर्ड, कलैन्डर आदि प्रचार सामिग्री
- सरल तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार

इन सभी कारणों से आपकी एजेंसी कभी हानिप्रद नहीं हो सकती है। हमारे वे ग्राहक जो स्वय एजेंसी किसी कारण न ले सकें, अन्य स्थानीय औषधि व्यवसाइयों को हमारी एजेसी लेने के लिये उत्साहित करें।

पत्र डालकर आज ही नियम मंगावें।

पता—

धन्वन्तरि कार्यालय [एजेंसी विभाग]

विजयगढ़ [अलीगढ़]

क्या आप रोगी हैं!

यदि आप या आपके मित्र रोगी हैं और चिकित्सा कराते कराते परेशान हो गये हैं तो अपने रोग का पूरा हाल लिखकर पत्र द्वारा भेजियेगा। धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक श्री वैद्य देवीशरण गर्ग वैद्योपाध्याय अनुभवी और सफल चिकित्सक हैं। आपके पत्र को ध्यान से पढ़ेंगे और विचार कर औषधि-व्यवस्था मुफ्त करा देंगे। यदि आप चाहेंगे तो आपके रोगानुकूल औषधियां भी भेज दी जायगी और आप शीघ्र अपने रोग से छुटकारा पा जायगे। इस प्रकार पत्र द्वारा औषधियां प्राप्त कर सैंकड़ों हजारों रोगियों ने लाभ उठाया है, आप भी वैद्य जी के अनुभव से लाभ उठाइये।

१.०० फायल बनाने का शुल्क

भेजने पर आपके नाम की पृथक् फायल बनाकर आपका पत्र व्यवहार पृथक् रखा जायगा, जिससे कि पुनः दवा मंगाने पर आपके पूर्व पत्रादि वैद्य जी के समक्ष रखने में तथा आपके पत्र का उत्तर देने में आसानी और शीघ्रता हो सकेगी। अपने रोग की दशा लिखकर भेजते समय ही १.०० मनियार्डर से भेजना चाहिए। फायल नम्बर लिख दिया करें तो बड़ी सुबिधा रहेगी।

नोट—रोग लक्षण संक्षिप्त लिखते हुए पत्र लिखे, अधिक गाथा लिख कर पत्र लम्बा न करें। समयाभाव से लम्बा पत्र पढ़ने तथा उत्तर देने में असमर्थ रहेंगे।

पता— व्यवस्थापक–चिकित्सा विभाग

धन्वन्तरि कार्यालय बिजयगढ़ (अलीगढ़)

चिकित्सोपयोगी उपकरण

एक सफल चिकित्सक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह रोगी का सही निदान करे तथा उसकी चिकित्सा मे औषधि प्रयोग के साथ साथ आधुनिकतम यन्त्र शस्त्रों का प्रयोग आवश्यकतानुसार करें। इन आधुनिक यन्त्र शस्त्रों के प्रयोग से आपको तो अपनी चिकित्सा में सफलता मिलती ही है साथ ही रोगी पर भी आपके प्रति बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है। हमने अपने स्टोर्स में नवीन नवीन यन्त्र शस्त्रों का विक्रियार्थ विशाल संग्रह किया है। चिकित्सकों को चाहिये कि वे आवश्यकतानुसार इन वस्तुओं को मंगा कर रखें तथा अपने चिकित्सा कार्य मे सफलता एवं यश प्राप्त करें।

डाइग्नोस्टिक सैट—इस सैट द्वारा नाक कान तथा गले को अन्दर से देखते हैं। इसमें एक टार्च होती है जिसमें २ सैल डाले जाते हैं। उस टार्च के ऊपर कान देखने का आला, नासिका प्रेक्षण यन्त्र तथा गले व जबान देखने की जीबी तीनों मे से कोई सा एक फिट हो जाता है। इसमें प्रकाश की व्यवस्था होने से बहुत सुविधा रहती है, साथ ही रोगी पर प्रभाव भी पड़ता है। इसका प्रत्येक चिकित्सक के पास होना अत्यन्त आवश्यक है। पूरे सैट का मूल्य केवल ३२.००

कान में से दाना निकालने का यन्त्र—कान में यदि कोई अनाज का दाना आदि पड़ गया है तो उसे किसी साधारण चीमटी से निकालने का प्रयत्न कदापि न करें नहीं तो वह आगे सरक जायगा। यह यन्त्र दाने आदि को सुगमता से खींचकर लाता है। मूल्य २.००

नासिका प्रेक्षण यन्त्र—नाक में सूजन है, फुंसी है या किसी और कारण से कष्ट है तो उसे ठीक प्रकार से देखा नहीं जा सकता। यह यन्त्र नाक में डालकर चौड़ा किया जाता है जिससे नाक चौड़ जाती है और फिर आप नाक के अन्दर के सभी अवयव स्पष्टत देख सकते हैं। मूल्य ४.००

चिपकने वाली पट्टी (Adhesive plaster)—पीठ, पेट, छाती या किसी अन्य गुप्त स्थान पर घाव हो जहां पर पट्टी बांधने में असुविधा हो तो आप इसका उपयोग करें। यह उसी स्थान पर काट कर चिपका दी जाती है। मूल्य (१ इन्च × ५ गज) २.००

तीन मार्ग वाला यन्त्र (Three way canula)—किसी रोगी के द्रव पदार्थ अधिक मात्रा में चढ़ाना है तथा आपके पास सिरिंज उससे छोटी है तो आप इसका प्रयोग करें। अथवा जो चिकित्सक बड़ी सिरिंज द्वारा ठीक प्रकार से इन्जेक्शन नहीं लगा पाते वे इसका प्रयोग करें। प्रत्येक इन्जेक्शन लगाने वाले के लिये आवश्यक यन्त्र है। मूल्य केवल ७.७५

आमाशय में दूध चढ़ाने की नली—जब रोगी की अवस्था इस प्रकार की हो कि वह मुंह द्वारा अपना आहार ग्रहण न कर सके यथा बेहोशी में, पक्षाघात, किसी दौरे आदि में तो आप इस नली द्वारा दूध या अन्य कोई पोष्य द्रव पदार्थ आमाशय में पहुंचा सकते हैं। मू० ३.००

आमाशय प्रक्षालनी नलिका (Stomach washtube)—यह प्रत्येक चिकित्सक के लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। किसी विष के खा लेने पर तुरन्त ही आमाशय प्रक्षालन की आवश्यकता होती है जो कि इसी नलिका की सहायता से ही किया जा सकता है। मू. ७.००

नमक का पानी चढ़ाने का यन्त्र (Saline

apparatus)---हैजा से नमक का पानी चढ़ाना चिकित्सक के लिए अत्यन्त आवश्यक है जो कि इसी यन्त्र की सहायता से चढ़ाया जाता है। मूल्य १२.५०

जलोदर में उदर से पानी निकालने का यन्त्र--जलोदर रोग में उदर गह्वर से पानी निकालने के लिये इस यन्त्र का प्रयोग होता है। जलोदर में पेट से पानी निकाल देने से रोगी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करता है तथा उस पर प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। मूल्य २ ७५

गुदापरीक्षण यन्त्र (Proctoscope)- गुदा की अन्दर से परीक्षा करने के लिये यह एक आवश्यक यन्त्र है। अर्श अथवा अन्य गुद रोगों के शल्य कर्म, क्षार कर्म, अग्निकर्म में इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे गुदा के अन्दर की स्थिति देखी जाती है। मूल्य १२ ००

गर्भाशय प्रक्षालन यन्त्र--यह रबर तथा प्लास्टिक का बना होता है। योनि की रुकावटों तथा गन्दगी को साफ करने के लिये यह यन्त्र उपयोगी है। यदि रक्त प्रदर और श्वेत प्रदर काफी चिकित्सा कराने के पश्चात् भी ठीक न होते हों तो उपयुक्त औषधियों के क्वाथ द्वारा गर्भाशय प्रक्षालन कराने से आशातीत लाभ होता है। सन्ततिनिरोध (Birth control) के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग करना भी आसान है तथा कोई भी व्यक्ति इसका प्रयोग कर सकता है। १२ ००

शर्करा मापक यन्त्र -मधुमेह रोग में चिकित्सक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे मूत्र में जाने वाली शर्करा की प्रतिशत मात्रा ज्ञात हो। बिना प्रतिशत मात्रा ज्ञात हुए अनुमान द्वारा Insuline का प्रयोग कभी कभी रोगी को घातक सिद्ध होता है। रोगी स्वास्थ्य लाभ कर रहा है या नहीं यह भी आप इसी यन्त्र द्वारा निश्चयपूर्वक कह सकते हैं। ५ ००

रक्तचापमापक यन्त्र—अनेक रोगों में रोगी का रक्तचाप (Bloo l pressure) जानना आवश्यक है। शल्य कर्म के पश्चात् तो इसका प्रयोग रोगी की स्थिति ज्ञात रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के आधुनिक यन्त्रों का प्रभाव बहुत अच्छा होता है तथा इससे चिकित्सकों को अपनी चिकित्सा में सुविधा भी रहती है। प्रत्येक वैद्य को यह यन्त्र अवश्य मगाकर रखना चाहिये। मूल्य केवल ६८.००

आंत उतरने पर कमर में बांधने की पेटी (Truss)—आन्त्र वृद्धि (Hernia) रोग में इस पेटी को कमर में बांधे रहना आवश्यक है। आंत ऊपर चढ़ाने के बाद यह पेटी बांध दी जाती है तथा रोगी इसको हर समय पहने रहता है। बढ़िया चमड़े से बनी १४'००

आपेक्षिक घनत्व मापक यन्त्र (Urinometer) मूत्र अथवा किसी अन्य द्रव का आपेक्षिक घनत्व इस यन्त्र द्वारा मालूम किया जाता है। इसको मूत्र में डाल देते हैं तथा यह मूत्र में तैरता रहता है। स्थिर होने पर जिस नम्बर पर रुकता है वही मूत्र का आपेक्षिक घनत्व समझना चाहिये। मूल्य १.५०, बड़ा (1000 से 2000 तक नम्बर वाला) २ ००

योनि परीक्षक यन्त्र (Vaginal speculum)—इससे योनि को विस्तृत करके निरीक्षण किया जाता है। योनि में कोई व्रण इत्यादि हो तो उस पर दवा भी इसी यन्त्र की सहायता से लगाई जाती है। मूल्य ८ ००

घाव में डालने की सलाई (Probe)—आयुर्वेद में यह एषणी शलाका के नाम से प्रसिद्ध है। घाव की गहराई, उसकी दशा जानने तथा किसी नाड़ी व्रण में अन्दर गौज भरने के लिये इसका चिकित्सक के पास में होना अत्यन्त आवश्यक है। मूल्य ०.३७

आंख धोने का ग्लास—किसी वस्तु का कण या उड़ता हुआ कोई छोटा सा कीड़ा आंख में पड़ जाने पर निकालना कठिन हो जाता है और यह बड़ा कष्ट देता है। इस ग्लास में पानी भर कर आंख में लगा देने पर आसानी से निकल जाता है। मूल्य १.००

गले व जबान देखने जीवी—(Tongue depressure) गला देखने के लिये जब रोगी मुंह खोलता है तब जीभ (जिह्वा) का उठाव गले को ढक लेता है और गले में क्या बाधा है चिकित्सक नहीं देख पाता है। इस यन्त्र से जीभ दबाकर गला तथा अन्दर की जीभ स्पष्ट दीखती है। मूल्य साधारण १ २५, फोल्डिङ्ग १.७५

स्तनों से दूध निकालने का यन्त्र—स्त्री के स्तन में पकाव या फोड़ा हो जाने पर अथवा नवजात शिशु की मृत्यु हो जाने पर स्तनों में भरा हुआ दूध बड़ा परेशान करता है। इस यन्त्र द्वारा यह आसानी से निकाला जा सकता है। मूल्य २.२५

डूस—इससे फोड़ा आदि धोने में बड़ी सुविधा रहती है। इससे एनीमा लगाया जाता है। मूल्य रबड़ की नली व टोंटनी आदि से पूर्ण २ पिंट का ५.००, ४ पिंट का ७.५०

कान धोने की पिचकारी—धातु की १ औंस की ५ ००, २ औंस की ६ ००, ४ औंस की ७.५०

कान देखने का आला--कान में फुंसी है, सूजन है या किसी अनाज का दाना पड़ गया है और वह फूल कर कष्ट दे रहा है यह देखना कठिन हो जाता है। इस यन्त्र (आले) से कान के अन्दर का दृश्य साफ दीख पड़ता है। मूल्य १२ ००

इन्जेक्शन सिरिंज (कम्पलीट)—सम्पूर्ण कांच की २ c. c. की २ ७५, ५ c c की ४ ००, १० c c की ६ ००,

मंगाने का पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

२० c. c. की ८.००, रेकार्ड सिरिंज २ c. c की ४.५०, ५ c. c की ८.००

इन्जेक्शन की सुई (नीडिल) १ नग ०.५०

थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र) जापानी २.५०

एनीमा सिरिंज (वस्ति यन्त्र)—इस यन्त्र में पानी या औषधि द्रव्य गुदा में आसानी से चढ़ाया जा सकता है। मूल्य रबड का जर्मनी ११ ००, भारतीय ५.००

रबड के दस्ताने—चीड फाड करते समय संक्रमण से रोगी को और अपने को बचाने के लिये चिकित्सक इन दस्तानों को हाथ मे पहनते हैं। मूल्य १ जोड़ी ३ ५०

गरम पानी की थैली—ज्वर, पीड़ा, शोथ या अन्य आवश्यक स्थानों पर इस थैली में गर्म पानी भर कर सुगमता से सिकाई की जा सकती है। मूल्य ५ ००

बरफ की थैली—तेज बुखार, प्रलापावस्था, सिर की पीड़ा या अन्य व्याधियों मे चिकित्सक सिर पर वर्फ रखवाते है। इस थैली में वर्फ भर कर रखने से सुविधा रहती हैं, रोगी को इसकी ठंडक पहुंचती हैं किंतु उससे वह भीगता नहीं है। मूल्य २.५०

दवा नापने का ग्लास (Measuring glass)—कम्पाउण्डर अनुमान से दवा देकर कभी कभी बड़ा अनर्थ कर डालते है। अतएव हर चिकित्सक को इन ग्लासों को अवश्य मंगाकर रखना चाहिये। गलती कभी न होगी तथा सुविधा भी रहेगी। मूल्य २ ड्राम का (बूंद नापने के काम में आता है) ०.६६, १ औंस का ० ८७, २ औंस का १.००, ४ औंस का १ २५

स्टेथिस्कोप (वक्ष परीक्षा यन्त्र)—चिकित्सक टेपन (अंगुली ताडन) से वक्ष परीक्षा करते हैं किंतु वह अधिक अभ्यास से समझ मे आ सकती है, इस यन्त्र से सुविधा रहती है। साथ ही आजकल के जमाने में चिकित्सक का सम्मान भी इसी में है कि वे इस प्रकार के यन्त्रों को व्यवहार में लाते हुए रोगियों पर अपनी धाक जमायें। मूल्य ८.००, चीन का बना (डीन चैस्ट पीस वाला) २०.००, जर्मनी का सर्वोत्तम केवल २२.००

केवल चैस्ट पीस [भारतीय] ४.५०

स्टेथिस्कोप की प्लास्टिक की नली—एक स्टेथिस्कोप के लिये २ ००

खरल चीनी का गोल—ये खरल दवा मिलाने के लिये उपयोगी हैं। मूल्ल २ इञ्च १ ७५, २॥ इञ्च २.००, ३ इञ्च २.५०, ४ इञ्च ३.०० तथा ५ इञ्ची ४ ००

सुजाक की पिचकारी—सुजाक में जो मवाद निकलता है वह मूत्र नली में अन्दर चिपक कर व्रण पैदा कर देता है। जब तक वह अन्दर से साफ नहीं होता, रोग का नष्ट होना कठिन हो जाता है। इस पिचकारी से अन्दर दवा पहुँचा कर आसानी से सफाई कर सकते हैं। मूल्य पुरुष के लिये ० ५०, जनानी ० ७५

मूत्र कराने की नली (कैथीटर)—मूत्र रुकने से रोगी को महान कष्ट होता है। कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है। इस नली की सहायता से मूत्र आसानी से निकाला जा सकता है। मूल्य रबड का ० ७५, धातु का स्त्रियों के लिए १.२५, पुरुषों के लिए धातु का २.७५

मोतीझला देखने का शीशा—मोतीझला (Typhoid) के दाने बहुत सूक्ष्म होने के कारण देखने में नहीं आते। इस शीशा के द्वारा वे दाने बड़े बडे दीख पड़ते हैं। तथा आप आसानी से पहिचान सकते हैं। हर चिकित्सक को अपने पास १ शीशा अवश्य रखना चाहिये। मूल्य छोटा शीशा २.००, बीच का २.७५, बढ़िया बड़ा ३.००, धातु का हैंडिल सर्वोत्तम ४ २५

स्प्रिट लैम्प—थोड़ी दवा गरम करनी हो अथवा सूखी दवा से इन्जेक्शन के लिये दवा तैयार करनी हो तब इस लैम्प की सहायता लेनी पडती है। मूल्य कांच की २.००, धातु की २ औंस की ३ ५०, ४ औंस की ४.००

आंख मे दवा डालने की पिचकारी—१ दर्जन ०.६२

कांटे (Scales)—अंग्रेजी वैलेंस की तरह के कीमती दवाओं को सही व आसानी से तोलने के लिए व्यवहार में लाने चाहिए। निकिल पौलिश, लकड़ी के बक्स के अन्दर रखे हैं। मूल्य बाटों सहित ८.००

सिरिंज केस निकिल के—सिरिंज सुरक्षित रखने के लिए—१ केस २ c c की सिरिंज के लिए २.००, ५ c c. के लिये ३ ००, १० सी. सी के लिये ४.७५

ग्लेसरीन की पिचकारी (प्लास्टिक की)—गुदा में ग्लेसरीन चढाने के लिए प्लास्टिक की उत्तम क्वालिटी की पिचकारी। मूल्य १ औंस २.५०, ४ औंस ४ ००

दांत निकालने का जमूड़ा (Tooth forceps universal)—इससे दांत मजबूती से पकड़ कर उखाड़ा जा सकता है। मूल्य ६ ००

मलहम मिलाने की छुरी—स्पेचुला (Spetula) लकडी का हैंडिल १.२५, धातु का हैंडिल १.७५

मलहम मिलाने की प्लेट—साइज ६×६ इन्च १.२५, ८×८ इन्च ३.००

थर्मामीटर केस—धातु की निकिल किए क्लिप सहित मूल्य केवल १ ५०

सन्तति निरोध (Birth control) के लिए—चैक पैसरी (Check passary) जापानी ०.८७ (एक दर्जन

८ ५०)डाइफ्राम पैसरी २.५०(एक दर्जन २५ ००),फ्रैंच लैदर (पुरुषों के लिए) साधारण ० ५० (एक दर्जन ५.००), बढ़िया ० ७५ (एक दर्जन ७.५०), क्रोकोडायल फ्रैंच लैदर (सर्वोत्तम) १ ०० (एक दर्जन १०.००)

नोट—उपर्युक्त कोई भी सामान एक दर्जन से कम मंगाने पर एक नग की जो कीमत लिखी है वही लगाई जायगी। डाइफ्राम (डच) पैसरी ६ नग मगाने पर १२.५० लगाये जायगे।

रिंग पैसरी (रबड़ की) १ पैसरी का मूल्य ०.७५, हौज पैसरी (Hodge passery) ० ८७

चीमटी चाकू—चीमटी ५ इञ्ची १.००, ४ इञ्ची ० ८७, दांतों में दवा लगाने की चीमटी २ ००, चाकू सीधा ५ इञ्ची १ २५, फोल्डिङ्ग १ ५०

कैंची—५ इञ्ची साधारण २.००, कैंची मुड़ी हुई ५ इञ्ची २.२५, कैंची एक ओर को मुड़ी हुई ४ इञ्ची २.५०, ५ इञ्ची ३ ००, कैंची सीधी ४ इञ्ची बढ़िया २ ००

किडनी ट्रे (Kidney tray)—कान धोने के समय कान के नीचे लगाने के लिए ६ इञ्ची २.२५, ८ इञ्ची २ ७५, १० इञ्ची की ३ २५, नायलोन की सुन्दर व हल्की न टूटने वाली ८ इञ्ची ३ २५

स्टेथिस्कोप रखने का थैला—स्टेथिस्कोप की रबड़ नमी आदि से गल जाती है। हमने बढ़िया चमड़े के स्टेथिस्कोप रखने बहुत सुन्दर बेग बनवाए हैं। इसमें एक ओर आप स्टेथिस्कोप रख सकते हैं तथा दूसरी ओर और एक जेब में अन्य आवश्यक सामान। अपने नाम का कार्ड लगाने का स्थान है, हाथ में लटकाया जा सकता है। ३ ५०, केवल एक जेब बढ़िया जंजीर लगा ४ ५०

नपुंसकता निवारण यन्त्र—यह यन्त्र अति उपयोगी एवं निरापद है। किसी प्रकार की हानि न करते हुए सुरदार नसों में नवीन रक्त का सचार करता और शीघ्र मनुष्य को पुंसत्व प्रदान करता है। एक यन्त्र अनेक रोगियों पर प्रयोग कर सकते हैं। चिकित्सकों को चाहिए कि वे इस यन्त्र को अपने चिकित्सालय में अवश्य मगायें तथा अपने रोगियों को औषधि सेवन कराने के साथ साथ इसका प्रयोग भी करावें। मूल्य केवल १८ ००

आपरेशन कराने का चाकू—इसमें हैन्डिल पृथक होता है तथा काटने वाला ब्लेड पृथक होता है जो कि खराब होने पर बदला जा सकता है। मूल्य १ ब्लेड सहित ३.००, ६ ब्लेडों सहित ४.७५

मसूढ़े चीरने का चाकू—कीमत सीधा १ ३७, फोल्डिङ्ग २.२५

टूर्नीकेट—नस का इन्जेक्शन लगाने के लिए आवश्यक—कीमत ०.७५

हीमोग्लोबिन स्केल बुक (Haemoglobin scale book)—बिना किसी यन्त्र की सहायता के हीमोग्लोबिन की प्रतिशत मात्रा ज्ञात करें। मूल्य—२.६०

पैन टार्च—यह टार्च जेब में पेन की तरह लगाई जाती है। इसमें बहुत पतले दो सैल पड़ते हैं। चिकित्सकों के लिये गले नाक आदि की परीक्षा करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह टार्च मोटे पैन के बराबर बड़ी होती है। मूल्य दो सैल सहित केवल ६.००

इसी टार्च पर गले व जबान देखने, कान तथा नाक देखने की ठोस नली फिट हो जाती हैं जिनसे इन अङ्गों को आसानी से देखा जा सकता है। कपड़ा मढ़े एक बक्स में रखे पूरे सैट का मूल्य केवल २४ ००

तोलने की मशीन—हमारे यहां स्टाक में तोलने की बढ़िया जर्मनी मशीन आ गई है। इनसे आप पौंड तथा किलोग्राम में दोनों प्रकार से वजन ज्ञात कर सकते हैं। रोगी को मशीन पर खड़ा कीजिये और वजन ज्ञात हो जायगा। इनसे आप २८० पौंड तक का वजन ज्ञात कर सकते हैं। मूल्य केवल ६५ ०० (यह रेल से ही भेजी जा सकेगी अत आर्डर के साथ रेलवे स्टेशन लिखें)।

मंगाने का पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

टिकिया बनाने की मशीन

इस मशीन से आप स्वयं टिकिया (टेबलेट) बड़ी आसानी से बना सकेंगे। इस मशीन की सहायता से आप २ रत्ती, ४ रत्ती, ६ रत्ती, के लगभग की टेबलेट बनाई जा सकती हैं। इसके लिए तीन डाई हैं जिस पर टेबलेट की गोलाई निर्भर करती है। टेबलेट की मोटाई आप प्रत्येक साईज में इच्छानुसार कम या अधिक कर सकते हैं। उन चिकित्सकों के लिए जो थोड़ी तादाद में लेकिन एक नाप की टेबलेट बनाना चाहते हैं, यह अत्युपयोगी मशीन है। निकिल की हुई। यह मशीन सस्ती होते हुए भी बड़े काम की है। एक एक घण्टे में २०० टिकिया आसानी से बन सकती हैं। रियायती मू० ११.०० रु. रु, पैकिंग एवं डाक खर्च १.२५ पृथक्।

पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

पत्थर के खरल



अब तक हम कसौटी पत्थर के खरलों का प्रचार करते रहे हैं, लेकिन अपने प्रतिनिधि को पत्थरों की खदानों पर जहा इन खरलों का निर्माण होता है, भेजने और छान-बीन करने से पता लगता है कि कसौटी पत्थर से मोतिया पत्थर अधिक कड़ा तथा उत्तम रहता है। मूल्य मे अधिक अन्तर नहीं होता। ऐसी दशा मे हमने मोतिया पत्थर के खरलों को भी बिक्रियार्थ अपने यहां रखने का विचार किया है। मोतिया पत्थर के खरल अवश्य ही कड़े तथा दवा घोटने के लिये सर्वथा उपयोगी हैं, किसी प्रकार की शंका न करते हुये इनका आर्डर दीजियेगा।

मोतिया पत्थर से अधिक कड़ा तथा कम घिसने वाला पत्थर तामड़ा होता है उनको भी हमने विक्रियार्थ संग्रह किया है। विविध पिष्टी घोटने के लिये इनका उपयोग किया जाना चाहिये।

तामड़ा पत्थर से भी अधिक उत्तम व न घिसने वाला हंसराज पत्थर सर्वोत्तम है। इस पत्थर के खरल मूल्यवान हैं तथा छोटे साइज के ही स्टाक में रखते हैं, बड़े साइज के खरल आर्डर मिलने पर १॥-२ माह मे तैयार करा कर सप्लाई किये जा सकते हैं।

—मूल्य तथा साइज का विवरण—

	हंसराज	तामड़ा	मोतिया	कसौटी
३ इंची	×	×	×	१.००
४ इंची	१२.००	८.००	×	१.२५
५ इंची	१४.००	९.००	×	२.२५
६ इंची	१६.००	११.५०	४.००	३.२५
७ इंची	२३.००	१४.००	५.००	४.५०
८ इंची	२९.००	१७.००	६.५०	६.२५
९ इंची	३३.००	२०.००	८.५०	७.७५
१० इंची	३८.००	२४.००	११.००	१०.००
११ इंची	४४.००	२८.००	१५.००	१४.००
१२ इंची	५०.००	३२.००	१६.००	१८.००
१३ इंची	५६.००	३६.००	२४.५०	२४.००
१४ इंची	६४.००	४२.००	२८.५०	२८.००
१५ इंची	७६.००	४९.००	३५.५०	३५.००

हंसराज पत्थर के खरल १२ इच तक के बनाकर तैयार रखे जाते हैं। बड़े खरल का आर्डर आने पर तैयार किया जाता है। १५ इंची से बड़े किसी पत्थर के खरल के मूल्य पत्र डालकर कर मालूम करलें।

खरलों का आर्डर देते समय अपने पास के रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखे तथा चौथाई रकम मनियार्डर से पेशगी भेजे।

मंगाने का पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

—विद्रमी, विद्रुमी, विद्रमी।

पु. [सं] १ वह कार्य जो शत्रु को हानि पहुचाने के उद्देश्य
या जाता है।

-वसू प्रचंड दंडतें प्रचड दडतें वहैं, वितंड षड दड दै अदड
वहैं। विमोह मोह मोह में विद्रोह द्रोहि पै वढ़ै, कृतांत भात
में सुकोह कोहि कौ कढ़ै। —ऊ का.

: आचरण या व्यवहार, जो राज्य या शासन के प्रति अवि-
या दुर्भाव उत्पन्न होने पर उनकी आज्ञा, विधान आदि के
किया जाता है।

क्रान्ति करने हेतु किया जाने वाला उपद्रव।

भे —विदरोह।

—वि —१ विद्रोह से सम्बन्धित।

विद्रोह करने वाला।

रू भे —विदरोही।

ा—स स्त्री [स.] १ विद्वान या पडित होने का भाव।

२ जानकारी, ज्ञान।

रू. भे.—विदवता, विद्वत्ता।

ा—देखो 'विद्युत' (रू. भे.)

उ०—तनि ओप करण कवि वरण तासु, प्रति नवळ
प्रकास। अति चलति गुणति द्रुति अमित जिद्ध, पदमणिय
गुरु प्रसिद्ध।

ा—देखो 'विद्वता' (रू. भे)

—वि [स विद्वस] १ पडित, वि

२ कवि।

३ चतुर, होशियार।

र, विद्वांस—स पु. [स विद्वान,
जानने वाला।

२ बहुत अधिक विद्या पढा हुआ,

उ०—... 'छपन लिपि तणी
रणा सुभासित भणइ, स्वदरसनं
व्यागरण ज्योतिस सकुनसास्त्र
स्वेदायुरवेदादि सास्त्ररत्नम
सिद्ध, प्रत्यक्ष वाचस्पति, इसउ

३ पडित।

उ०—टावर आगै नी तो मोट्यार
नीं किणी चकवा राजा री

समझ के अकल ई काम देवै। अवू
ताकत जीत नी सकै अर जै कोई

थोथो गुमान ई करै तो हारणिया नै आपरी
वेरी नी व्है।

रू. भे.—विदमान, विदमान, विदवान।

विद्विस—स. पु [स. विद्विष, विद्विष] शत्रु, रिपु।

विद्वेस—स. पु [स विद्वेष] शत्रुता, दुश्मनी, वैर।

रू. भे —विदवेस।

विद्वेसक—स पु [स. विद्वेषक] शत्रुता करने वाला, शत्रु

रू. भे —विदवेसक।

विद्वेसणी, विद्वेसिणी—स. स्त्री [स. विद्वेषिणी] दु:सह
...ष्टि के गर्भ से ... अन्तिम क
...णक)
...द्वेस करने
—विदवेस
[स ...
—वि